[illegible] एण्ड संस
प्रका[illegible] विक्रेता
काश्मीरी गेट दिल्ली-6

सांस्कृतिक मानवशास्त्र

लेखक
मैलविल जे० हर्सकोवित्स

अनुवादक
रघुराज गुप्त



१९६०
भारती भवन, देहरादून
दिल्ली : लखनऊ

"मानव की इस अनन्त खोज में कि उसे कैसा होना चाहिए, प्रत्येक नया क़दम मानव जैसा कि वह है, उसके सम्बन्ध में प्राप्त नये तथ्यों के प्रति सिद्धान्त का प्रत्युत्तर है।. . .इस बीच में एक के बाद दूसरे विचारकों के वह स्वप्न और उड़ानें—वह स्वप्न और उड़ानें भी जिन्होंने कि राष्ट्रों को आन्दोलित किया और क्रांतियों का सूत्रपात किया—जब उनके ज्ञान से संगति खो बैठीं, मनुष्यों की बुद्धि ने उनका त्याग कर दिया।"

सर जॉन मायर, "राजनीतिविज्ञान की धारा पर मानवशास्त्र का प्रभाव", इतिहास में कलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रकाशन, जिल्द ४, (१९१६), संख्या १, पृ० ७५–७६

प्रथम संक्षिप्त और संशोधित संस्करण मार्च १९५५
दिसम्बर १९५५ से १९६० तक तीन बार पुनः मुद्रित

हिन्दी-संस्करण, नवम्बर, १९६०

प्रकाशक : भारती भवन, पुराना नाला, देहरादून
भारती बुक सोसाइटी, ११, रतलज रोड, लखनऊ

मुद्रक : न्यू इंडिया प्रेस, नई दिल्ली
ब्लाक : स्टेट्समैन, नई दिल्ली
जिल्दसाज : अब्दुल रऊफ़, दिल्ली

अनुवादक का वक्तव्य

मानवशास्त्र विषय हिन्दी के पाठकों के लिए बिल्कुल नया ही-सा है। ऐसी बात नहीं है कि भारत में मानवशास्त्र का अध्ययन और अध्यापन अभी तक न हुआ हो, वस्तुतः जब से यहाँ पर विदेशियों का आगमन हुआ, उनमें से अनेक ऐसे व्यक्ति थे जोकि भारतीय कबीलों और जनजीवन की ओर आकृष्ट हुए और उनमें से अनेकों ने अपनी योग्यता तथा तत्कालीन वैज्ञानिक प्रविधियों के अनुसार उनके चित्ताकर्षक और सुन्दर विवरण प्रस्तुत किये। प्राचीन काल में चीनी और अरब यात्रियों, बाद में पुर्तगाली और फ्रांसीसी और अन्य ईसाई पादरियों और फिर अंग्रेज शासकों ने समकालीन जीवन के सुन्दर विवरण प्रस्तुत किये हैं। हम इन सभी अग्रणियों के चिर-ऋणी हैं। भारत में विदेशी विजेताओं के प्रति कटुता को कम करने में इन प्रबुद्ध विदेशियों का बड़ा हाथ है। अंग्रेज़ों में रिज़ले, कुक, थर्स्टन, हट्टन, मिल्स, ग्रिगसन, एल्विन, रिवर्स और कुछ हाल में बेली के नाम कृतज्ञतापूर्वक ले सकते हैं। जर्मनों में कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और हाल में एहरनफिल्स ओर हैमनडॉर्फ के नाम स्मरणीय हैं। भारतीय मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में अमरीका के विद्वानों का प्रवेश मुख्यतः स्वाधीनोत्तर घटना है। इस प्रसंग में हठात् हमें मैंडलबॉम, रेडफील्ड, वाइज़र, ओपलर, आस्कर ल्यूइस, गार्डनर मरफी, मिरियट, हैरल्ड गूल्ड प्रभृति विद्वानों तथा अनेक युवा अन्वेषकों का स्मरण हो आता है।

इस दिशा में भारतीयों में शरच्चन्द्र राय, डी० एन० मजूमदार, श्रीनिवास, बी० एस० गुहा का कार्य भी उत्कृष्ट है। फिर भी मानवशास्त्र में भारतीयों का विवेचन मुख्यतः जनवृत्त (Ethnography) तक ही सीमित रहा है। अभी तक हमारे यहां सिद्धांतों का विकास अपनी शैशवावस्था में ही है। यह भी सत्य है कि श्रेष्ठ जनवृत्त और सांस्कृतिक अध्ययन के लिए एक स्वस्थ सिद्धांत का विकास अपरिहार्य है। सिद्धांत के क्षेत्र में आधुनिक अंग्रेज़ीभाषी लेखकों में क्रोबर, हर्सकोवित्स, क्लकहॉन, मैलिनोवस्की, रैंडक्लिफ-ब्राउन, रेमंड फर्थ, इवांस-प्रिचर्ड का मूर्धन्य स्थान है। भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक ज़ीवन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम मानवशास्त्र समाजशास्त्र के सिद्धांतों से भी भली-भांति अवगत हों। अतः राष्ट्रभाषा में मानवशास्त्र की समृद्धि और श्रीवृद्धि के लिए इन विद्वानों की प्रमुख रचनाओं का हिन्दी में उपलब्ध होना जरूरी है। यही हर्सकोवित्स के अनुवाद की कैफ़ियत है। और शीघ्र ही हम क्रोबर, क्लाइड क्लकहॉन, रेमंड फर्थ और इवांस-प्रिचर्ड की रचनायें भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानवशास्त्र जैसे वैज्ञानिक और नये विषय के अनुवाद की सबसे बड़ी कठिनाई उपयुक्त और उपलब्ध पारिभाषिक पर्यायों का अभाव है। ऐसी स्थिति में अनुवादक को स्वयं ही अपनी बुद्धि और अपने मित्रों का सहयोग लेना पड़ा है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र अत्यंत व्यापक विषय है : प्राग् इतिहास, प्रजातिशास्त्र, भाषाशास्त्र, लोकवार्ता, लोककला, सामाजिक मानवशास्त्र इसके प्रमुख अंग हैं। इसके व्यापकता को देखते हुए कोई भी एक व्यक्ति इन सब पर समान अधिकार का दावा

नहीं कर सकता। स्वयं अनुवादक अपनी अक्षमताओं से भलीभांति अवगत है। फिर भी अपने मित्रों के सहयोग से उसने इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने का प्रयास किया है और हिन्दी पाठकों और विद्वानों और समालोचकों के सामने पहली बार एक विस्तृत और आरज़ी पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत की है। इस आरज़ी रूप को स्वीकार करते हुए ही सर्वत्र जहां पहली बार पारिभाषिक शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां उसका मूल रूप भी रोमन अक्षरों में दे दिया है। पुस्तक के अंत में पुन: उसकी एक संक्षिप्त सूची विचारार्थ संलग्न है।

पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय देने में हमने जिन सिद्धांतों का अनुसरण किया है, वह हैं:

१. यदि लोकभाषा में उसका हूबहू पर्याय मिल जाये तो उसे प्राथमिकता दी जाये। यह बात आदिम औज़ारों और उनके हिस्सों के बारे में विशेष रूप से लाग होती है। उदाहरण के लिए पाषाण-युग के Core, Flint, Flake, Blade, Tool, Fossil के लिए हमने क्रमश: खड़, चकमक, कतरन, फलक, औज़ार, निखातक का, और Canoe के लिए पालदार डोंगी का प्रयोग किया है। हमें प्रसन्नता है कि प्रतिष्ठित हिन्दी विद्वान् वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी इन्हीं को अपनाया है।

२. संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध और भारत की सभी भाषाओं में सुपरिचित शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणार्थ तर्कशास्त्र की शब्दावली में प्रयुक्त Assumption, Premise, Postulate, Hypothesis, Syllogism के लिए हमने भारतीय दर्शन के अभ्युपगम, पूर्वावयव, स्थापना, पूर्वकल्प, अवयवक्रम का तथा Abstraction के लिये भर्तृहरि से प्रविवेक को लिया गया है। हिन्दी प्रयोग की रूढ़ता को देखते हुए Induction, और Deduction के लिए आगमन और निगमन अपनाया गया है, हालांकि यह बिल्कुल सही नहीं है।

इसीलिए भाषाशास्त्र में संस्कृत-हिन्दी व्याकरण और छन्दशास्त्र में प्रयुक्त अथवा नई अवधारणाओं के लिए बाबूराम सक्सेना और मंगलदेव शास्त्री की शब्दावली अपनाई गई है। संगीत की विवेचना में जहां भारतीय संगीतशास्त्र—हिन्दुस्तानी और कर्नाटक—में शब्द उपलब्ध हैं वहां उन्हें एलेन देनिलो, पोप्ले, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी और ठाकुर जयदेवसिंह से ग्रहण किया गया है। कुछ विशिष्ट पाश्चात्य संगीत के पारिभाषिक शब्दों के लिए स्वयं ऐसे शब्द बनाये हैं जो यथासंभव उसके मूल भाव के निकट हों। चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला और वेष-विन्यास की चर्चा में राय कृष्णदास, आनन्द कुमारस्वामी और मोतीचन्द्र द्वारा प्रयुक्त प्रामाणिक शब्दावली को लिया गया है।

३. सामाजिक मानवशास्त्र की शब्दावली के अधिकांश शब्द समाजशास्त्र में समान होने के कारण मैंने उन्हें अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र के सिद्धांत' से लिया है। इनकी रचना का मुख्य श्रेय गुरुकुल विश्वविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर हरिदत्त तथा राष्ट्रभाषा के मूर्धन्य लेखक, शासन शब्दकोष के संपादक और युवा लेखकों के प्रबल प्रोत्साहनदाता महापंडित राहुल सांकृत्यायन को था। मुझे खेद है कि मैं डा० रघुवीर की समस्त भारतीय भाषाओं के लिये प्रस्तावित प्रख्यात

पारिभाषिक "विशुद्धतावादी" शब्दावली का विशेष उपयोग नहीं कर सका। मेरे मत से उसमें पृथक् शास्त्र की शब्दावली में अपेक्षित स्पष्टता, निश्चितता और सूक्ष्मता का पर्याप्त अभाव है। लोकभाषा के सजीव, सार्थक और बहुप्रचलित शब्दों का तो प्रायः पूर्ण बहिष्कार किया गया है। मानवशास्त्र का एक अकिंचन विद्यार्थी और साथ ही बौद्धिक मानववादी होने के नाते मैं ऐसी शुचिता का समर्थक नहीं हूं जोकि जन-साधारण के शब्द-संपर्क से ही अपवित्र हो जाती है। फिर भी इससे डा० रघुवीर के अग्रणी महत् प्रयास का महत्व नहीं घटता।

४. हमारी शब्दावली का अंतिम और महत्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्धांत है, जहां प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द की कल्पना या धारणा का पर्याय बोलचाल या संस्कृत दोनों में उस अर्थ में उपलब्ध नहीं है वहां स्वयं शब्दों को गढ़ा जाय। इन शब्दों को बनाने में सार्थकता, उच्चारण-सुलभता, बोधगम्यता और पारिभाषिकता का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए Adaptation, Adjustment, Accommodation, Assimilation, Acculturation, Enculturation, Symbiosis जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं को लीजिये। यह अवधारणाएं हमारे लिए नई हैं। मैंने आज से आठ वर्ष पहले हिन्दी में समाजशास्त्र की सर्वप्रथम अपनी रचना 'समाजशास्त्र के सिद्धांत' में इनके लिए क्रमशः समायोजन, अनुकूलन, समवस्थापन, सात्मीकरण, परसंस्कृतीकरण, संस्कृतीकरण, सहजीविता शब्दों का प्रयोग किया जिन्हें कि प्रायः बाद के सभी लेखकों ने स्वीकार करके रूढ़ कर दिया है।

स्थानाभाव के कारण यह संभव नहीं है कि यहां पर मानवशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या और समाधान का विशद निरूपण किया जा सके। अनुवादक द्वारा संपादित मानवशास्त्र-समाजशास्त्र पारिभाषिक पर्याय-कोष की भूमिका में इसकी सम्यक् चर्चा की गई है। फिर भी विद्वान् पाठक इस संबंध में जो आलोचना और सुझाव भेजेंगे उनका मैं आदर करूंगा और उन पर विचार करके यदि उनमें कहीं भी कोई विशेषता या अधिक स्पष्टता नज़र आयेगी, अवश्य स्वीकार करूंगा और अगले संस्करण में उसका परिमार्जन कर दूंगा।

अंग्रेजी ज्ञाता मानवशास्त्र के विद्यार्थियों को यह अविदित नहीं है कि हर्सकोवित्स की १९४८ में प्रथम प्रकाशित 'मैन एण्ड हिज़ वर्क्स' और १९५५ में रूपांतरित और परिष्कृत तथा नई गवेषणाओं से युक्त उनकी 'कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी' अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध अपने विषय की अपने वर्ग में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। किसी भी विद्यार्थी के लिए यह आनन्द का विषय है कि वह ऐसी पुस्तक को हिन्दी में उपलब्ध करा सके। जब मैंने प्रोफेसर हर्सकोवित्स को इसके लिए लिखा तो तत्काल उन्होंने अपनी स्वीकृति भेजकर मुझे अनुगृहीत किया तथा अपने प्रकाशक एल्फ्रेड नौप को भी परामर्श दिया कि वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। मैं प्रोफेसर हर्सकोवित्स का हिन्दी दुभाषिया बनने में अपना परम गौरव समझता हूँ। उनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है, और भारतीय पाठकों के लिए विशेष अनुकूल है। स्नातकोत्तर विद्यार्थियों और गंभीर पाठकों के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी है। प्रोफेसर

हर्सकोवित्स का स्थान संसार के महानतम मानवशास्त्रियों में है। उन्होंने अफ्रीका, ब्राज़ील, हैटी, ट्रिन्डाड, डच गायना और नीग्रो गवेषणाओं में अपने जीवन के लगभग पैंतालीस वर्ष बिताये हैं। प्रो० हर्सकोवित्स की पत्नी श्रीमती फ्रांसिस शैपिरो स्वयं बहुत अच्छी मानवशास्त्री हैं और उन्होंने उनके साथ कई पुस्तकें मिलकर लिखी हैं। प्रो० हर्सकोवित्स मानवशास्त्र के क्षेत्र में अफ्रीका के सबसे बड़े विशेषज्ञ माने जाते हैं। उन्होंने १६२५ में सर्वप्रथम अफ्रीका के सांस्कृतिक क्षेत्रों का चित्रण किया और अफ्रीका की स्वाधीनता का समर्थन किया और वर्तमान अफ्रीकी पुनर्जागरण में उनकी अफ्रीकी रचनाओं का महत्त्व विशेष रूप से बढ़ गया है। यह एक सुसंयोग है कि प्रो० हर्सकोवित्स के 'सांस्कृतिक मानवशास्त्र' का हिन्दी संस्करण नाइजीरिया के स्वाधीनता दिवस पर प्रकाशित हो रहा है।

अंत में मैं उन अन्य सभी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन और रचना को संभव बनाया है। एल्फ्रेड नौप के डायरेक्टर विलियम कौशलैंड मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने केवल अनुवाद की सहमति ही नहीं दी बल्कि अन्य प्रकार से भी अपना सहयोग दिया।

इस अनुवाद को करने की मूल प्रेरणा मुझे पूज्य प्रोफेसर डी० एन० मजूमदार ने दी थी, जिनके शिष्य होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है। मेरी प्रस्तुत हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली को समग्र रूप से उनका आशीर्वाद प्राप्त था। मानवशास्त्र में दीक्षा देने के लिए और लिखने के लिए सदैव प्रोत्साहित करने के लिए मैं उनका चिर ऋणी हूँ। मेरा दुर्भाग्य है कि वह इसे अपने जीवनकाल में प्रकाशित न देख सके और ३१ मई १६६० को उनका अकस्मात् देहावसान हो गया। इसके अतिरिक्त डॉ० टी० एन० मदन ने इस अनुवाद के लिए मुझे प्रोत्साहित किया तथा प्रोफेसर हुमायूं कबीर तथा डा० मनमोहनदास ने इसमें विशेष दिलचस्पी दिखाई। ये सब सज्जन मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

इस अनुवाद का संपादन और संशोधन मेरे पिता और भारतीय संस्कृति के गंभीर विद्वान् प्रोफेसर धनराज विद्यालंकार ने किया है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि इस अनुवाद में जो विशेषताएँ हैं, उसका मुख्य श्रेय उन्हें ही प्राप्त है और जो कुछ त्रुटियां हैं उसका दायित्व मुझ अकेले पर है।

'सांस्कृतिक मानवशास्त्र' के अनुवाद का डिक्टेशन लेने के लिए मैं श्री गिरीशचन्द्र तथा टाइप कापी तैयार करने के लिए श्री बालकृष्ण अग्निहोत्री और श्री नईमखां, मुद्रण की समुचित व्यवस्था तथा प्रूफ संशोधन की अमूल्य सेवा के लिए मैं क्रमश: प्रोफेसर वेदव्रत और पंडित शांतिस्वरूप वेदालंकार का तथा अध्ययन की सुविधा जुटाने के लिए श्री दीनदयालु शास्त्री का हृदय से आभारी हूं।

६, त्रिलोकनाथ रोड,
लखनऊ, १.१०.६० —रघुराज गुप्त

भारतीय संस्करण १९६० की भूमिका

प्रायः पढ़े-लिखे जनसाधारण के मन में "मानवशास्त्र" शब्द से दो प्रकार के चित्र बनते हैं। एक उस व्यक्ति का चित्र है जो एक कैलीपर लेकर इधर-उधर जाकर लोगों के सिर नाप रहा है, या यह जानने के लिए कि वह किस नस्ल के हैं, प्रयोगशाला में सूखी हड्डियों का अध्ययन कर रहा है। दूसरा चित्र उस अन्वेषक का है, जो कि सुदूर प्रदेशों में बसने वाले लोगों को ढूंढ कर "आदिकालीन" लोगों की आदतों और प्रथाओं का विवरण दे रहा है।

यह पुस्तक इन दोनों ही अवधारणाओं को मिथ्या सिद्ध करती है। शारीरिक मानवशास्त्र, जिसे कि अब मानव-प्राणिशास्त्र की संज्ञा दी जाने लगी है, उसका विद्यार्थी सर्वथा भिन्न विषयों पर विचार करता है। वह **मेधावी मानव जाति** की रचना करने वाली विकासवादी प्रक्रियाओं, आनुवंशिकता की यन्त्ररचना, जोकि मनुष्य को जैसा वह है, वैसा बनाती है, मानव-शरीर की रचना पर वातावरण के कारकों के प्रभाव और विभिन्न परिवेशों में शैशव से प्रौढ़ता प्राप्त करते हुए बच्चों के विकास के प्रतिमानों से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है। एक समस्या के रूप में "नस्ल" या प्रजाति मानवशास्त्र में बहुत पीछे पड़ गई है और मानवशास्त्रीय पत्रिकाओं में बहुत कम ही नस्ली भिन्नताओं की चर्चा दिखाई देती है। मानवशास्त्रियों द्वारा यह अच्छी तरह अनुभव किया जा चुका है कि प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के मापों के आधार पर जनसमूहों का वर्गीकरण मानव शारीरिक रूप को समझने में हमारी खोज का प्रारम्भ ही है, अंत नहीं।

सामान्य प्रयोगों में नस्ल की अवधारणा विज्ञान की किसी भी अध-समझी अवधारणा की भांति खतरनाक है। इसे समझने के लिए हमें केवल द्वितीय महायुद्ध को जन्म देने वाली या अनेक वर्षों तक औपनिवेशिक शासन प्रणाली का समर्थन करने वाली नस्ली विचारधाराओं पर विचार करने की जरूरत है। यह द्रष्टव्य है कि अपने द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं के खतरों तथा साथ ही इन अवधारणाओं से प्राप्त वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टियों से अवगत मानवशास्त्री ही वैज्ञानिकों की हैसियत से उन सब के अगुआ थे, जिन्होंने इन अपूर्णताओं को स्वीकार किया तथा विज्ञान के क्षेत्र से बाहर के तरीकों में उनके प्रयोग पर आपत्ति की।

मानवशास्त्री की दूसरी तस्वीर भी उतनी ही मिथ्या है। जैसा कि इस पुस्तक से स्पष्ट हो जायेगा, संस्कृति का विद्यार्थी अपना जाल खूब चौड़ा फैलाता है। उसकी अभिरुचि केवल 'आदिवासियों' (Primitives) में ही नहीं होती; वस्तुतः यह शब्द ही अब अप्रतिष्ठित होता जा रहा है। जैसा कि अगले पृष्ठों में बताया गया है, इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती और इसलिए यह

न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से ही अस्वीकार्य नहीं है, बल्कि मानवीय प्रथाओं के अध्ययन में भी इसकी प्रत्यक्ष अनुपयोगिता है। वास्तव में मानवशास्त्र समस्त कालों और समस्त स्थानों में मानव का अध्ययन है। इस पुस्तक में प्रयुक्त "अनक्षर" (Non-literate) श्रेणी उचित है, चूंकि जिन समाजों में लेखन-कला नहीं है, उनके कार्यों का क्षेत्र, जिनमें कि वह है, उनसे वस्तुतः भिन्न है। फिर भी इसमें ऐसा कोई अर्थ निहित नहीं है कि साक्षर समूहों की अपेक्षा अनक्षर लोगों की संस्कृतियों का मूल्य किसी भी प्रकार कम है, या वे मानव के सांस्कृतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को दर्शाती हैं। वह भिन्न हैं, किन्तु इन भिन्नताओं की क़ीमत को तोलने के लिए किसी जानी हुई तराज़ू पर नहीं रखा जा सकता।

इस दृष्टि से मानवशास्त्र हमारे युग का सर्वोच्च मानववादी शास्त्र है। यह जानना चाहता है कि समाजों की संरचना कैसे होती है, किन्तु यह उनमें व्यक्ति के स्थान पर भी विचार करना चाहता है। यह विश्वास की प्रणालियों और कर्मकांड में उनकी अभिव्यक्तियों पर विचार करता है, किन्तु साथ ही यह इस पर भी विचार करता है कि मनुष्य अपने-आपको जिस संसार और ब्रह्मांड में रहता हुआ कल्पित करता है, यह विश्वास उसे उससे सामंजस्य स्थापित करने में क्या कर सकता है। किसी एक जीवन-रीति को देखते हुए, यह उसकी स्थिरता और वह किस प्रकार बदलती है, इन दोनों पर विचार करता है। इसकी उन कारणों में अभिरुचि है, जिनसे व्यक्ति अपने समूह के मानों का पालन करते हैं, किन्तु यह अभिरुचि उसे मनुष्य में सृजनात्मक प्रेरणा और सांस्कृतिक परिवर्तन की सर्वोच्च यंत्र-रचना के रूप में इसके महत्त्व पर विचार करने से नहीं रोकती।

सांस्कृतिक मानवशास्त्र ने मानव के विद्यार्थियों को समस्त विश्व के समाजों की प्रथा, विश्वास और व्यवहार में भिन्नता के विस्तार को देखने और समझने की पद्धति प्रदान की है। कोई समूह न इतना छोटा और अकिंचन है और न कोई इतना बड़ा और शक्तिशाली, जोकि इसके क्षेत्र से बाहर रह सके। और इस कार्य को करने के लिए इसने अन्तःसांस्कृतिक दृष्टिकोण को विकसित किया है, जो मानवता के अध्ययन में इसकी महान् देन है। वैज्ञानिक की हैसियत से मानवशास्त्री अपने द्वारा अध्ययन किये गये लोगों की रीतियों पर कोई निर्णय नहीं देते। वह यथासंभव इन रीतियों को वस्तुगत रीति से अध्ययन करने का प्रयास करते हैं तथा निर्दिष्ट जनसमूह द्वारा स्थापित मूल्यों के अनुसार अपनी जानकारी को प्रस्तुत करते हैं। इससे उस सांस्कृतिक सापेक्ष-वाद के सिद्धान्त का जन्म हुआ है, जोकि उस दर्शन को, जिसमें कि प्रत्येक जन-समूह की अपनी जीवन-रीति के प्रति निष्ठा को आधारभूत सिद्धान्त माना गया है, एक मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक तर्क प्रदान करता है।

जैसा कि कहा गया है, यदि मानव के अध्ययन के लिए संस्कृति की अवधारणा का उतना ही महत्त्व है, जितना कि भौतिकशास्त्र के लिए गुरुत्वाकर्षण का, तो विभिन्न संस्कृतियों के लोगों से बसे राष्ट्रों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर

उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए सापेक्षवादी स्थिति का महत्त्व कम बड़ा नहीं है। सारांश में इसे सांस्कृतिक-स्थानान्तरकरण के समवस्थापन के प्रसंग में खोजना चाहिए। इसमें सांस्कृतिक बहुसत्तावाद की, इस तथ्य की कि कोई समूह अन्य किसी समूह की अपेक्षा अधिक परिपक्व और बुद्धिमान नहीं है, स्वीकृति अन्तर्निहित है, तथा इस समायोजन को क्रियान्वित करते समय प्रत्येक जनसमूह की भावनाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व उसके विशुद्ध वैज्ञानिक लक्ष्य को पार कर जाता है। यह केवल मानव की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को समृद्ध करने तक ही सीमित नहीं है। इसका मूल्य उन शिक्षाओं में भी है, जो यह बताती हैं कि किस प्रकार एक बृहत् आकार के राष्ट्र का निर्माण करने वाले विभिन्न जनसमूहों का न्यायपूर्वक एक साथ रहना संभव है। यह हमें इस ज्ञान की ओर ले जाता है कि हम किस प्रकार उस संसार में सहिष्णुता स्थापित करें, जहां निरंतर बढ़ते हुए संचार के साधनों का विकास एक विश्व-समुदाय के विकास को अवश्यंभावी बनाता है, जिसकी एकताओं का निर्माण भिन्नताओं को मान्यता और स्वीकृति देकर करना होगा। इस भावना से यह पुस्तक उन स्रोतों को दिखाने का प्रयास करती है, जिनसे ये सांस्कृतिक समताएं और भिन्नताएं उत्पन्न हुई हैं, वे किस सीमा तक क़ायम हैं, उनके विद्यमान होने के क्या कारण हैं, और किस प्रकार यह ज्ञान मानव के अतीत और वर्तमान के अनुभव के प्रभाव को उसके भविष्य पर अधिक गहरा बना सकता है।

नार्थवैस्टर्न विश्वविद्यालय,
इवांसटन, इलिनौय।
२२ अप्रैल, १९६०

—मैलविल जे० हर्सकोवित्स

विषय-सूची

पाठ्य सामग्री के रेखाचित्र

प्लेट-सूची

खण्ड एक

संस्कृति
की
पृष्ठभूमि

अध्याय एक

मानवशास्त्र : मानव का विज्ञान

मानवशास्त्र (Anthropology) का विज्ञान दो विस्तृत क्षेत्रों—**शारीरिक** और **सांस्कृतिक** मानवशास्त्र में बंटा हुआ है। शारीरिक मानवशास्त्री ऐसे मामलों, जैसे कि नस्ली भिन्नताओं के स्वरूप, शारीरिक गुणों के संक्रमण, वृद्धि, विकास और मानव शरीर के विनाश तथा मनुष्य पर प्राकृतिक वातावरण के प्रभावों का अध्ययन करता है। सांस्कृतिक मानवशास्त्री उन विधियों का, जोकि मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्थाओं और सामाजिक संसार का सामना करने के लिए बनायी हैं तथा किस प्रकार रिवाज सीखे जाते, कायम रहते और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं, अध्ययन करता है।

मानव के शारीरिक स्वरूप और उसके सांस्कृतिक व्यवहार के अलावा मानवशास्त्र में **प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व** (Prehistoric archaeology) और सांस्कृतिक मानवशास्त्र के विशेषीकृत उप-विभाजन **तुलनात्मक भाषाशास्त्र** भी इसमें शामिल हैं। प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वशास्त्री पांच लाख वर्ष या उससे भी अधिक अवधि में, लेखन-कला के आविष्कार से पहले मानव के अध्ययन के उन पहलुओं का अन्वेषण और विश्लेषण करता है जोकि मानव नस्ल के प्रारम्भिक विकास पर प्रकाश डालते हैं, जबकि भाषाविद् मानवशास्त्री उस अद्वितीय मानव-गुण अर्थात् बोली के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करता है।

जब हम इसकी विषय-वस्तु की विविधता पर विचार करते हैं, हम पूछ सकते हैं : मानवशास्त्र की क्या एकता है ? इसका उत्तर इस तथ्य में निहित है कि मानव-शास्त्र मनुष्य के अस्तित्व के प्राणिक और सांस्कृतिक, अतीत और वर्तमान सब पहलुओं को ध्यान में रखकर, इनसे मिली विविध सामग्रियों से मनुष्य की अनुभव की समस्याओं का, उन शास्त्रों से भिन्न जोकि मानव-जीवन के अधिक सीमित पहलुओं से सम्बन्धित हैं, एकीकृत रूप से अध्ययन करता है। मानवशास्त्र इस सिद्धान्त पर जोर देता है कि जीवन श्रेणियों में नहीं गुजारा जाता, बल्कि यह एक निरन्तर बहने वाली धारा है। व्यवहार में आज कोई भी मानवशास्त्री अपने विषय के समस्त विभागों का अध्ययन नहीं करता, पर वह उनके अन्तःसंबंधों से परिचित होता है। उदाहरण के लिए, शारीरिक मानवशास्त्री विवाह में साथियों के चुनाव पर सामाजिक परम्पराओं के प्रभाव को किसी जनसमूह के शारीरिक प्ररूप के निर्णय में एक कारक के रूप में स्वीकार करता है। भाषा-मानवशास्त्री बोलियों के रूपों के सामाजिक महत्त्व के प्रति सजग है। प्रागितिहासविद् इस बात को समझने में अपनी देन देता है कि मनुष्य को अपने सामाजिक जीवन को चलाने के लिए कौन-सी बुनियादी प्रौद्योगिक विधियां प्रयोग में लानी पड़ीं और वह कैसे

विकसित हुई और किस प्रकार मानव जाति की वर्तमान नस्लों का विकास हुआ। सांस्कृतिक मानवशास्त्री निरन्तर इस तथ्य के प्रति सजग है कि मानव परम्पराएं और जीवन-विधियां सीखने की प्रक्रिया पर आधारित व्यवहार की अभिव्यक्तियां हैं और इस प्रकार विस्तृततम अर्थों में मानव की प्राणिक-मनोवैज्ञानिक रचना से उद्भूत हैं।

ऐसा कहा गया है कि जब हम मानवशास्त्र के समस्त उपविभागों पर समग्र रूप से विचार करते हैं, तब उसे अत्यन्त अधिक विशेषीकृत और साथ ही विस्तृततम विज्ञान समझा जायगा। शारीरिक मानवशास्त्र सर्वाधिक विशेषीकृत शाखा है, सांस्कृतिक मानवशास्त्र का खासा विस्तार है।

एक प्राणीशास्त्रीय विज्ञान की हैसियत से मानवशास्त्र में मानवशास्त्री एक मानव-प्राणीशास्त्री की हैसियत से केवल **मेधावी मानव** (Homo sapiens) में दिलचस्पी रखता है। वह उन समस्त जीवों के विपुल विस्तार में से जोकि सामान्य प्राणीशास्त्री के ध्यान को आकर्षित करते हैं, केवल एक स्वरूप का ही अध्ययन करता है।

दूसरी ओर सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अन्य सम्बन्धित सामाजिक विज्ञानों और मानव विज्ञानों की तुलना में अभिरुचि का विस्तार कहीं अधिक है, जिनमें से प्रत्येक किसी एक विभाग से सम्बन्धित मानवक्रिया का अध्ययन करता है। सामान्यत: सांस्कृतिक मानवशास्त्री उन जनसमूहों का अध्ययन करता है जोकि यूरोपीय सांस्कृतिक इतिहास धारा से बाहर हैं, और वह यथासम्भव किसी विशेष रिवाज-समुदाय का समग्र रूप में अध्ययन करने का प्रयत्न करता है। या, यदि वह संस्कृति के किसी एक पहलू पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो उसका प्रमुख लक्ष्य उस पहलू के, जोकि जनता के जीवन के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित है, अन्य पहलुओं के साथ अन्तःसम्बन्धों का विश्लेषण होता है। वह इन पहलुओं का विश्लेषण केवल इसलिए नहीं करता कि उसे औरों से पृथक् दिखाया जाये, बल्कि चूंकि वह सब मिलकर एक कृत्यात्मक पद्धति (Functioning system) बनाते हैं, जोकि जनता को अपने वातावरण के अनुकूल बनाती है। इसमें मानवशास्त्री अर्थशास्त्री, राजनीति-शास्त्री, समाजशास्त्री, एवं तुलनात्मक धर्म या कला या साहित्य के विद्यार्थी से पृथक् है।

मानवशास्त्रीय भाषाशास्त्री के क्षेत्र में समस्त भाषाएं आती हैं, हालांकि व्यवहार में वह अलिखित बोलियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और एक सांस्कृतिक और साथ ही विशुद्ध भाषागत घटना या तथ्य के रूप में उनका अध्ययन करता है।

प्रागितिहासशास्त्री लेखन-कला विकसित होने से पूर्व के मनुष्यों के शारीरिक प्ररूप और सांस्कृतिक सफलताओं से सम्बन्धित साक्षियां संकलित करता है। वह उक्त विभिन्न सामग्री को केवल एकीकृत ही नहीं करता, प्रत्युत भूगर्भशास्त्री और पुराभूगर्भ-शास्त्री (Paleontologist) की विशिष्ट समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त कौशल का प्रयोग करता है।

इस प्रकार मानवशास्त्र की विस्तृत व्याख्या कि यह "मानव और उसके कार्यों का अध्ययन है" ठीक ठहरती है, चूंकि मानवशास्त्र का लक्ष्य-विन्दु, चाहे वह विस्तृत हो या संकीर्ण, मानव है। मानवशास्त्र की विषय-वस्तु के विपुल विस्तार ने उसके लिए

विशेष टेक्नीकों और लक्ष्यों का विकास आवश्यक बना दिया है ताकि वह अपने आदर्शों और पद्धतियों में एकता स्थापित कर सके। इसके साथ-साथ, यह विस्तार ही मानवशास्त्र को अन्य विषयों के समीप लाता है। मानवशास्त्रीय विज्ञान की प्रकृति को समझने के लिए उसका अन्य शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है, यह जानना हमारे लिए सहायक सिद्ध होगा।

२

हम विज्ञान के विकास के बारे में कुछ सम्बन्धित तथ्यों को स्मरण करा इस विवेचना को शुरू कर सकते हैं। दान की भांति, विज्ञान की शुरुआत भी घर से होती है। विशेष रूप से सामाजिक विज्ञानों में तात्कालिक प्रकार की समस्याएं जिनके समाधान की आवश्यकता थी, स्वतः स्पष्ट अध्ययन का विषय थीं। परिणामतः समाज-वैज्ञानिकों के पक्ष में व्यावहारिक मामलों की ही प्रधानता रही। उनके द्वारा प्रस्तुत सामान्य सिद्धान्त मुख्यतः एक देश या, अधिक-से-अधिक समान ऐतिहासिक परम्परावाले देशों से संकलित सामग्री के अध्ययन पर आधारित रहे हैं।

खोजों के महान् काल तथा निकट और सुदूरपूर्व अमरीका और अफ्रीका में यूरोपीय विस्तार के बाद ही यह स्पष्ट हुआ कि हमें ज्ञात व्यवहारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यवहार, अन्य प्रकार की भाषा की अभिव्यक्तियां, एवं अन्य प्रकार के देवताओं को पूजने की पद्धतियां संसार के इन नव परिचित क्षेत्रों में रहने वाली जातियों में प्रचलित थीं। इस ज्ञान के प्रभाव के सुदूरगामी परिणाम हुए। उदाहरण के लिए इसे हम रूसो के राजनीतिक दर्शन में देख सकते हैं, जिसकी सामाजिक संविदा (**Social contract**) की कल्पना के परिणाम आज भी प्रभावशाली हैं। ये प्रारम्भिक कल्पनाएं और सिद्धान्त प्रायः तथ्यों पर आधारित न होकर भ्रांतियों पर आधारित थे, चूंकि सिलसिलेवार प्रशिक्षण के बिना अपनी पृष्ठभूमि से बाहर निकलना और अन्य जनसमूहों की प्रेरणाओं, लक्ष्यों और मान्यताओं को समझना कठिन है। यह कौशल जोकि मानवशास्त्रीय पद्धति की जान है, काफी बाद में विकसित हुआ। चूंकि यद्यपि तबतक अन्य समाज-विज्ञानों की प्रविधि (**Techniques**) स्थिर हो चुकी थी किन्तु वे अधिक विस्तृत और अन्तःसांस्कृतिक विषयों के अध्ययन के लिए पर्याप्त न थीं।

यद्यपि इस पुस्तक में हमारा मुख्य विषय सांस्कृतिक मानवशास्त्र है, परन्तु फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है कि हम यह अच्छी तरह समझ लें कि किस प्रकार मानव-प्राणिशास्त्री, भाषा-मानवशास्त्री, प्रागितिहासविद् (**Prehistorian**) और रिवाजों के विद्यार्थी को पद्धतियों के विशेषीकरण के कारण अन्य सम्बन्धित विज्ञानों से पृथक् किया जाय।

अपने न्यासों पर प्राप्त नियंत्रण की क्षमता शारीरिक मानवशास्त्री को सामान्य प्राणिशास्त्री से जोकि प्रयोगशाला की प्रविधि का प्रयोग कर सकता है पृथक् करती है, वह मानव प्राणिशास्त्र के विद्यार्थी के लिए निषिद्ध है। सामान्य प्रजननशास्त्र (**Genetics**) का विद्यार्थी फलों पर बैठने वाली मक्खी की अनेक नयी संततियों को प्रत्येक नौ दिन बाद गिन सकता है। मानव प्रजननशास्त्र का अध्ययन करने के लिए किसी को एक

जीव का अध्ययन करने के लिए उतने ही दिन कार्य करना होगा जितने दिन वह स्वयं जीवित रहता है। चूंकि मानव प्रत्येक संभोग से बहुत ही थोड़े बच्चे जनता है और सामान्यतः एक समय में केवल एक ही व्यक्ति को जन्म देता है। मानव-वृद्धि का विद्यार्थी यह देखता है कि एक व्यक्ति के विकास को जानने के लिए सालों लग जाते हैं जबकि निम्न प्रकार के जीवों को बढ़ने में अपेक्षया बहुत कम समय लगता है। समस्त प्राणि-शास्त्रियों की एक और बड़ी बाधा यह सरल तथ्य है कि अकेला मानवशास्त्री ही एक ऐसे जीव का अध्ययन करता है जिसे इस बात के निर्णय का अधिकार है कि उसका अध्ययन किया जाय या नहीं।

मानव प्रागितिहास का विद्यार्थी पुराभूगर्भशास्त्र और भूगर्भशास्त्र से घनिष्ठ-तया सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करता है, लेकिन इसके अलावा उसके पास अपनी विशिष्ट अध्ययन पद्धतियां होती हैं। एक पुराभूगर्भशास्त्री अपने ज्ञान को एक पूर्णतया विलुप्त जाति की अकेली हड्डी, या एक अद्वितीय निखातक (Fossil) तक सीमित कर सकता है, किन्तु एक मानव-विकासवाद (Evolution) के विद्यार्थी के लिए, जिसके लिए एक समग्र कपाल (Skull) ही, सम्पूर्ण कंकालों (Skeletons) की एक श्रेणी-का तो कहना ही क्या, सर्वथा असाधारण घटना है, यह एक साधारण-सी बात है। भू-विज्ञानों के विद्यार्थी के लिए भूगर्भशास्त्रीय स्तरों के अध्ययन द्वारा उनका कालक्रम-निर्णय एक मान्य व्यवहार है। प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वशास्त्री को भूगर्भ से प्राप्त उपकरणों के (Artifacts) टुकड़ों से सम्पूर्ण सभ्यता का अनुमान लगाना पड़ता है। यदि कंकालीय सामग्री सांस्कृतिक अवशेषों से सम्बन्धित है, तो उसे उन्हें पैदा करने वाले प्रारम्भिक मानवों के शारीरिक प्ररूप के साथ तथा उस स्थान पर निर्दिष्ट वनस्पति और जीव-जन्तुओं तथा उन तथ्यों से जोकि न केवल यह बतलाते हैं कि ये लोग कब रहते थे, वरन् यह भी बताते हैं कि उन्हें किन वातावरणीय परिस्थितियों के अनुकूल अपने जीवन को ढालना पड़ा, सह-सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

इसी प्रकार मानवशास्त्रीय भाषाशास्त्री को, उन प्रश्नों को सफलतापूर्वक सुलझाने के लिए जिन पर कि भाषाशास्त्री विचार करते हैं, पद्धति (Method) सम्बन्धी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अन्य भाषाशास्त्रियों की भांति उसकी भी बोली के रूपों, ध्वनि-प्रतिमानों और उनके प्रयोग की संगति, बोलियों की भिन्नताओं, एक भाषा का अन्य भाषाओं से सम्बन्ध तथा भाषाओं में प्रतीकवाद (Symbolism) में दिलचस्पी होती है। लेकिन मानवशास्त्रीय भाषाशास्त्री को सुनी हुई बोली को सर्वप्रथम सिलसिले-वार ध्वनि (Phonemic) रूपों में वर्गीकृत करना होगा तथा बुशमैन और हौटेंटाट लोगों की "क्लिक" जैसी ध्वनियों का आलेखन (Transcription) करना होगा या विभिन्न स्वर-स्तर (Pitch) पर बोली जाने वाली विभिन्न ध्वनियों को अपनी व्याकरण प्रणाली में स्थान देना होगा। उसे ऐसे लिंग-भेदों के लिए जोकि लिंग-भेद पर नहीं, बल्कि गति पर आधारित हैं या ऐसे कालों के लिए जोकि समय की स्थिति के सूचक नहीं, बल्कि समय की अवधि के सूचक हों, तैयार रहना होगा। कभी-कभी उसे इस बात तक का भी निर्णय करना होगा कि वह जिस भाषा का अध्ययन कर रहा है उसमें शब्द

का क्या अभिप्राय है। यह स्पष्ट है कि ऐसे कार्यों के लिए हमें लिखित भाषाओं में प्रयुक्त पद्धतियों से बहुत भिन्न पद्धतियां आवश्यक होंगी।

३

हमने अब तक देखा कि अभिरुचि की विविधता के बावजूद, मानवशास्त्रीय विज्ञान की एकता मानव के समग्र और संश्लिष्ट अध्ययन की व्यग्रता के रूप में व्यक्त होती है। मनुष्य की प्रकृति और उसके कार्यों के बुनियादी प्रश्न के एकनिष्ठ अध्ययन द्वारा मानवशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान बन गया है जिसे हमें स्वीकार करना चाहिए। यह हमें पुनः इस प्रश्न पर विचार करने की ओर प्रेरित करता है कि हम ज्ञान के उन अन्य क्षेत्रों से जिनसे इसकी अन्य समस्याओं की समानता है या जिनसे इसने अपनी विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन के लिए कुछ पद्धतियां ली हैं, इसके सम्बन्धों को जानें।

अधिकांश विषय-वस्तु जिनमें कि ज्ञान बंटा हुआ है, तीन या चार प्रमुख वर्गों में आती हैं : निश्चित (Exact) और प्राकृतिक विज्ञान, मानव-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान। मानवशास्त्र ऐसा नहीं है, क्योंकि मनुष्य के स्पष्टतया कई पहलू हैं, और जो उसे समझना चाहते हैं उन्हें अपनी समस्याओं के समाधान के लिए, परम्परागत सीमाओं का अतिक्रमण करना पड़ेगा, चाहे वे उन्हें किसी भी क्षेत्रों में क्यों न ले जाती हों।

उदाहरण के लिए, हम यह मान लें कि एक मानवशास्त्री दक्षिण सागरों के एक द्वीप में रहने वाली एक जाति या एक रेड इण्डियन कबीले या अफ्रीकी समुदाय में रहने वाले लोगों का अध्ययन करना चाहता है। जिस सीमा तक उसका सम्बन्ध उनके शारीरिक रूप और नस्ली सम्बद्धता से है, वह एक प्राणिशास्त्रीय समस्या का अध्ययन कर रहा है। लेकिन यदि वह जीवन-साथी के चुनाव के प्रकारों, या विशेष प्रकार की खूराक के प्रभावों का विश्लेषण कर रहा है, तो उसे परम्परा के उन कारकों को जोकि जननिक और शरीरक्रिया की देन को अत्यन्त प्रभावित करते हैं, ध्यान में रखना होगा। उसे उनकी आवास के प्रति प्रतिक्रिया को भी समझना होगा, इस तरह यहां पर मानवशास्त्री इस किस्म की समस्या का सामना करता है जिस पर कि मानव-भूगोल-शास्त्री विचार करते हैं। जबकि हमारा विद्यार्थी भाषा की खोज करता है, उसकी गवेषणा का क्षेत्र मानव-विज्ञान हैं, जैसे कि जब वह उनकी पुराणों और कथाओं का संग्रह करता है या संगीत का रिकार्ड तैयार करता है, या उनकी कला का विश्लेषण करता है, या उनके नृत्यों की फिल्में बनाता है, या उनके दर्शन को जानने का प्रयास करता है, तब होता है। पर जब उसी विद्यार्थी की समस्या उनकी रिश्तेदारीप्रणाली (Kinship system) या उनकी अर्थ-व्यवस्था होती है, या जब वह इस बात की खोज करता है कि उनके शासक किस प्रकार हुकूमत करते हैं, या जब वह उनके धार्मिक जीवन के रूपों का विवरण देता है, तो वह एक समाज-वैज्ञानिक कहलायेगा।

अन्य किसी मानवशास्त्रीय विज्ञान की तुलना में सांस्कृतिक मानवशास्त्र की अन्य विज्ञानों से कहीं अधिक विस्तृत सम्बद्धतायें हैं, चूंकि वह मानव के कार्यों को उनकी समस्त विविधता में अध्ययन करता है और उसे अन्य किन्हीं विज्ञानों की तुलना में अपनी

पारिभाषिक शब्दावली को एकरूपता देने में कहीं अधिक कठिनाई उठानी पड़ी है। यूरोप के महाद्वीप में तो इसे "मानवशास्त्र" माना ही नहीं जाता। वहां "मानवशास्त्र" का क्षेत्र केवल शारीरिक प्ररूप के अध्ययन तक ही सुरक्षित है। संयुक्त राज्य अमरीका में सांस्कृतिक मानवशास्त्र को जातिशास्त्र (**Ethnology**) और जनवृत्तशास्त्र (**Ethnography**) में बांटने का रिवाज है। पहले में, संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन और मानवप्रथाओं के विश्लेषण से उद्भूत सद्धांतिक समस्याओं का अन्वेषण और दूसरे में पृथक् संस्कृतियों का विवरण शामिल है। इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ विद्वान् इसे "सामाजिक मानवशास्त्र" का नाम देते हैं। इस दशा में "जातिशास्त्र"-(**Ethnology**) पृथक् संस्कृतियों का विवरण बन जाता है, जिसे कि हम "जनवृत्त शास्त्र" (**Ethnography**) कहते हैं, जबकि "सामाजिक मानवशास्त्र" को हम कुछ "जातिशास्त्र" जैसा कार्य सुपुर्द कर देते हैं।

सामाजिक विज्ञानों में मानवशास्त्र को बहुधा समाजशास्त्र से मिला दिया जाता है। मानव के अध्ययन में स्पष्ट ही सामाजिक संस्थाओं और समाज में व्यक्ति के एकीकरण की समस्या का अत्यन्त महत्त्व है। इन दो विज्ञानों के सम्बन्ध का मूल्यांकन करते हुए हमें यह याद रखना आवश्यक है कि यूरोप, इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका में, यदि हम केवल इन दो क्षेत्रों का ही वर्णन करें, समाजशास्त्र की परिभाषा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार अफ्रीका की देशीय राजनीतिक संस्थाओं का अंग्रेजी अध्ययन, जिसे कि 'अफ्रीकी समाजशास्त्र की प्रमुख समस्याओं को सामने लाने का प्रयास' कहा जाता है, अमरीकियों को सुनने में बड़ा अटपटा लगता है। दूसरी ओर अमरीका में समाजशास्त्रियों की अपने ही समाज में समूहों के समायोजन (**Adjustment**) और एकीकरणकी समस्या में दिलचस्पी और उनके द्वारा सांख्यकीय (**Statistical**) टेक्नीकों का प्रयोग अंग्रेजी या यूरोप की परम्परा से, जोकि सामाजिक दर्शन पर बल देती है, मेल नहीं खाता। पर जबकि संस्थाओं के विकास व कार्यों, मानव-समूह के व्यवहार के सामान्य सिद्धान्त और सामाजिक सिद्धान्त की समस्याएं पेश होती हैं, समाजशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र एक-दूसरे को कुछ ठोस वस्तु ले-देकर आपस में सहायक सिद्ध हुए हैं।

मानवशास्त्रियों से कहीं अधिक भूगोलशास्त्री जोकि प्राकृतिक स्थिति के प्रभाव को पहले से ही स्वत:सिद्ध मान लेते हैं, निवास-स्थान और संस्कृति की अंत:क्रिया पर जोर देते हैं। जो भी हो, आवास के प्रभाव को कम नहीं मानना चाहिए। चूंकि जिस प्रकार मनुष्य प्राणिशास्त्रीय श्रेणी (**Biological series**) का सदस्य है, उसी प्रकार वह एक ऐसे परिवेश में रहता है जोकि उससे स्वतंत्र है और जिससे वह उन भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करता है जिनका कि वह जीविका प्राप्ति में प्रयोग करता है; दोनों ही परिस्थितियों को निरन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है।

अभी तक मानवशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों, जैसे कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की सामान्य समस्याओं की सक्रिय स्वीकृति सापेक्षतया अल्प रही है। मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के बीच सम्पर्क धीरे-धीरे बढ़ रहा है, विशेषतया

जबसे कि मानवशास्त्री अपने द्वारा अध्ययन किये जाने वाले समाजों के आर्थिक कार्य-कलापों को यथासम्भव पूर्णतः लिखने की आवश्यकता के प्रति सजग हुए हैं। दूसरी ओर अर्थशास्त्री, विशेषतया जिनकी आर्थिक संस्थाओं में दिलचस्पी है, यह जान रहे हैं, कि वे विभिन्न रीतियां जिनसे कि मनुष्य अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाते हैं, उनका तुलनात्मक विश्लेषण अभीतक उपेक्षित सम्बन्धों और कार्य-प्रणालियों को दर्शाता है।

यह बात राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर भी लागू होती है। यद्यपि यहां उसकी व्याख्या करना और अधिक कठिन है। गैर-यूरोपीय लोगों ने प्रायः ऐसे नियंत्रणों को अपनाया है जोकि यूरोपीय, अमरीकी और अन्य ऐतिहासिक समाजों की राजनीतिक संस्थाओं से इतने भिन्न हैं कि उन्हें पहचानना भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, मैदान में रहने वाले कुछ रेड इंडियन कबीलों (Tribes) में आचार के नियंत्रण की एक ऐसी पद्धति पायी जाती है जिसमें कि स्वीकृत प्रथा (Custom) का उल्लंघन करने वाले ऐसे व्यक्ति का, जोकि कुछ अंशों में चचेरे या मौसेरे या फुफेरे भाई या बहन (Cousin) की श्रेणी में आता है, सार्वजनिक रूप से मजाक बनाया जा सकता है। इसे अस्पष्ट व दुर्बल रूप में ही राजनीतिक कहा जा सकता है। किन्तु राजनीतिक संस्थाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र की जानकारी जिसमें कि अफ्रीका और पालीनेशिया जैसी जटिल प्रणालियां भी शामिल हैं, सर्वत्र मानव-समूहों में शासन के स्वरूपों के स्वभाव, अर्थ और कृत्यों की गंभीरतर जानकारी के मार्ग की ओर निर्देश करती हैं।

सांस्कृतिक मानवशास्त्र और मानवीय विज्ञानों के बहुत-से समान तत्त्वों की पूर्ण खोज अभी बाकी है। अंशतः इसका कारण सांस्कृतिक मानवशास्त्र से सम्बद्ध मानवविज्ञानों में प्रयुक्त वे प्रविधियां हैं जिनपर अधिकार प्राप्त करने के लिए, विशेष तैयारी की जरूरत पड़ती है जैसी कि भाषाशास्त्र या संगीतशास्त्र में होती है। इसका एक कारण वह दीर्घ परम्परा भी है जिसके अन्तर्गत संस्कृति के अन्य पहलुओं के मुकाबिले में सांस्कृतिक संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी कारण मानवीय सामाजिक जीवन की व्याख्या के विस्तृत व गंभीर आधार-स्वरूप संस्कृति के समस्त पहलुओं के समग्र व संतुलित अध्ययन की उपेक्षा हुई है।

इसे स्पष्ट करने के लिए हम केवल मानवीय विज्ञानों में, मानवशास्त्रीय भाषाशास्त्र और विशेषतः हिन्दी-यूरोपीय स्कंध (Stock) की लिखित भाषाओं के सम्बन्ध का जिक्र कर सकते हैं। कला के क्षेत्र में, हाल के सालों में विद्यार्थियों ने पृथ्वी पर रहने वाले समस्त लोगों की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति (Aesthetic expression) के विस्तृततम विस्तार क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया है। सृजनात्मक कलाकार उद्दीपन और अध्ययन के लिए अनेक गैर-यूरोपीय समाजों में गये हैं। हमारे कला-संग्रहालयों में फ्रेंच आधुनिकवादी (Modernist) चित्रों और मूर्तियों के साथ अफ्रीकी लकड़ी के नक्काशी के काम (Carving), जिनकी शैली का उन पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है, रखे मिलेंगे। शिल्प और कला के विद्यार्थी उसी प्रकार नवाहो कबीले के रेत के चित्रों या पेरू के मिट्टी के बर्तनों और कपड़े के नमूनों का विश्लेषण करते हैं जिस प्रकार वे अपने अतीत के शास्त्रीय (Classical) रूपों का अध्ययन करते हैं।

अनक्षर संस्कृतियों के विद्यार्थियों ने कला की सामाजिक भूमिका (Role) के क्षेत्र को जोकि कला और समाजशास्त्र के बीच एक प्रकार की विजन-भूमि है, हमारे सामने ला दिया है। उन्होंने केवल विदेशी-कला के रूपों को ही पुनरुज्जीवित नहीं किया और उनके प्रतीकवाद (Symbolism) को ही नहीं समझाया बल्कि उन्हें जन्म देने वाली संस्कृति की समस्त अभिव्यक्तियों को एकीकृत कर जनता के लिए उस कला के अर्थों, कलाकार को प्रेरित करने वाली प्रेरणाओं और उस समाज में कला के कृत्यों को स्पष्ट किया है।

मानवशास्त्री द्वारा किये गये साहित्यिक रूपों का विश्लेषण बहुत-कुछ किसी साहित्य के अध्ययन की तरह ही किया जाता है। वे समस्त लोग, जो कि लिखित साहित्य का अध्ययन करते हैं, शैली की समस्याओं, विवरण-क्रम, कौतूहल (Suspense) को बढ़ाने या चरम सीमा तक पहुंचाने की विधियों, किसी कहानी के एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह तक पहुंचने में होने वाले परिवर्तन और वह तरीका जिससे कि यह साहित्यिक प्रतिमानों के परिवर्तनों को प्रभावित करता है एवं कथाओं के उद्गम और विस्तार की समस्याओं से भलीभांति अवगत हैं। यहां हम नाटक के क्षेत्र में भी प्रवेश करते हैं जोकि अभीतक मानवशास्त्र और नाट्यशास्त्र के विद्यार्थियों द्वारा भी अत्यन्त उपेक्षित रहा है, तथापि मानव अनुभवों में नाटक एक सार्वभौम (Universal) वस्तु है और किसी समाज में किसी सार्वभौम तथ्य के अध्ययन का अभाव समुचित दृष्टिक्रम (Perspective) में बाधक है।

तुलनात्मक संगीतशास्त्र एक अन्य क्षेत्र है, जोकि यद्यपि संगीत के परम्परागत अध्ययन से सम्बन्धित है, किन्तु उसे पूर्ण मान्यता देना अभी बाकी है। सभी लोग संगीत का सृजन करते हैं, और वे उन प्रतिमानों के अनुसार संगीत की सृष्टि करते हैं जिन पर वे बोधपूर्वक विचार नहीं करते, जिस प्रकार कि जब वे भाषा बोलते हैं, तब वे व्याकरण या ध्वनि प्रणालियों का कोई विशेष ध्यान नहीं रखते। संसार के समस्त भागों के लोगों के रागों, तानों और तालों के बनाये गये रिकार्ड हमें वह सही साधन जुटाते हैं जिनसे कि सांस्कृतिक स्थिरता, व्यक्तिगत भिन्नता, और नयी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पुराने रागों में पुनः परिवर्तन की समस्याओं की परीक्षा होती है। इसके अतिरिक्त ये गाने संगीत रचने वालों को ताजे विषय और लययुक्त सामग्री प्रदान करते हैं।

चूंकि मानव-प्राणिशास्त्र मूलतः सामान्य प्राणिशास्त्र का एक विशेषीकृत रूप है अतः शारीरिक मानवशास्त्र तथा अन्य जीवित प्राणियों के अध्ययन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है। मानव विकासवाद के विश्लेषण में पुरा-भूगर्भशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करता है, जबकि शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) और शारीरिक-मानवशास्त्र (Physical-anthropology) का अन्तर इतना सूक्ष्म है कि दोनों ही विज्ञानों ने परम्परा से अनेक समस्याओं की परीक्षा में हाथ बटाया है। मानव-रूप के परम्परागत अध्ययनों, विशेषतः नस्ली (Racial) भिन्नताओं के विश्लेषण के लिए शरीर-रचना-शास्त्र अनिवार्य है, इसीलिए शारीरिक मानवशास्त्र प्रायः शरीर-रचना-शास्त्र के विभागों में अध्ययन किया और पढ़ाया जाता है। ऐसा कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति शरीर-

रचना-शास्त्र का पूर्वप्रशिक्षण प्राप्त किये बिना शारीरिक मानवशास्त्र में दक्षता प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें कुछ लोगों ने चिकित्साशास्त्रीय प्रशिक्षण को भी जोड़ दिया है।

शारीरिक मानवशास्त्र की अन्य शाखा मानव प्रजननशास्त्र (Genetics) के अध्ययन के लिए सामान्यतः प्रजननशास्त्रियों की खोजों का ज्ञान जरूरी है। शारीरिक मानवशास्त्री के लिए गणित के साधनों के प्रयोग का जानना भी जरूरी है, क्योंकि प्राणि-मिति द्वारा (Biometrics), जीवित प्राणियों के न्यासों (Data) का सांख्यकीय विश्लेषण विशेष महत्त्वपूर्ण है। फिर भी, मानव प्राणिशास्त्री उक्त अन्य विज्ञानों की सहायता लेकर भी मानवशास्त्री ही रहता है, किन्तु वह मानव जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में सामान्य समस्याओं का विवेचन करता है।

प्रागैतिहासिक पुरातत्व (Archaeology) का पृथ्वी के विज्ञानों से निकटतम सम्बन्ध है। केवल भूगर्भशास्त्र द्वारा ही किसी अवशेष का अन्य अवशेषों के काल से उसके सम्बन्ध के जटिल प्रश्न का उत्तर मिलता है। उदाहरण के लिए न्यू मैक्सिको के फोल्सम स्थान में प्राप्त पत्थर के नुकीले औजारों के (Points) जोकि बिसन नामक एक लुप्त जाति के पृष्ठवंश (Vertebrae) के साथ जुड़े हुए मिले हैं, कालक्रम के निर्धारण (Dating) के लिए, वह भूगर्भ की जिन सतहों में मिले हैं, उनकी सूचना आवश्यक है। पुरातत्वशास्त्री हमें यह बता सकता है कि यह नुकीले औजार पहले प्राप्त हुए नुकीले औजारों से भिन्न हैं। पुराभूगर्भशास्त्री बिसन-कंकाल को किसी लुप्त प्रकार का बता सकता है। किन्तु इन प्रश्नों का उत्तर केवल भूगर्भशास्त्री ही दे सकता है—कि यह रूप कब लुप्त हुए और यह नुकीले औज़ार कब बनाये गये ?

४

हमने देखा कि विशेषीकृत प्राणिशास्त्र के रूप में मानवशास्त्र ने निश्चित और प्राकृतिक विज्ञानों से यथार्थ में महत्त्वपूर्ण चीजें ली हैं और उन्हें विकसित किया है। जहांतक मानवशास्त्र का अन्य मानवीय विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध है, वह मूलतः एक दाता, एक समन्वयकर्त्ता है। यह पद्धति के बारे में भी उतना ही सत्य है जितना कि लक्ष्यों के बारे में। उदाहरण के लिए मानव शारीरिक प्रकारों के अध्ययन में प्रयुक्त मानवशास्त्र की पद्धतियां उन पुराने शरीर-रचना-शास्त्र और संख्याशास्त्र की टेक्नीकों का संशोधन हैं, जिन्हें कि शारीरिक मानवशास्त्र के विशिष्ट और संकीर्ण क्षेत्र के अनुरूप ढाल लिया गया है। यही सिद्धान्त प्रागितिहास पर भी लागू होता है जबकि हम इसमें प्रयुक्त होने वाली उन पद्धतियों पर विचार करते हैं, जोकि सम्बन्धित क्षेत्रों से आती हैं। समाज विज्ञानों और मानवीय विज्ञानों के मानवशास्त्र से सम्बन्धों में, पुराने शास्त्र अपने क्षेत्र में अधिक सीमित हैं और उनकी अध्ययन पद्धतियां अधिक विशिष्ट हैं। इस प्रकार मानवशास्त्र उन्हें एक विस्तृत प्रसंग प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत उन पद्धतियों के द्वारा जोकि पहली टेक्नीकों से बिल्कुल अलग हैं, अधिक निश्चित सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इस प्रकार हम उन तीन विषयों तक, जोकि विशेष रूप से मानवशास्त्र के समीप हैं, आ जाते हैं। अनुसंधान के एक गतिशील क्षेत्र के रूप में, जोकि मनुष्य के

सम्पूर्ण विकास को समझ सके और संस्कृतियों की उन अनेक किस्मों का जोकि लम्बी अवधियों में परिवर्तन का परिणाम हैं, अध्ययन कर सके, मानवशास्त्र **ऐतिहासिक** है। सामाजिक व्यवहार के मूल-स्रोतों और मानव समायोजन (**Adjustment**) में संस्कृति की भूमिका को समझने के रूप में वह **मनोवैज्ञानिक** है। और अन्ततः एक ऐसे शास्त्र के रूप में जोकि उन मूल्य-प्रणालियों (**Value systems**) की प्रकृति और विस्तार पर विचार करता है जिनके आधार पर मनुष्य रहते हैं, और जो ब्रह्माण्ड के विषय में उनकी व्याख्याओं और संस्थाओं, और उनके अनुसार रहने वालों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, वह **दार्शनिक** है।

मानवशास्त्र और उक्त तीनों विज्ञानों के बीच विद्यमान सम्बन्धों पर विचार करने का यह स्थान नहीं है, जैसाकि अन्य विज्ञानों के सम्बन्ध में हमने किया है। वे अत्यन्त बुनियादी हैं, और विशेषतः इनके दार्शनिक अर्थों की बहुत कम जांच हुई है। एक मायने में इस पुस्तक का एक बड़ा अंश इससे सम्बन्धित होगा, चूंकि मानव द्वारा विकसित की गयी संस्कृतियों के समझने में हमारा दृष्टिकोण उक्त शास्त्रों की अनेक अवधारणाओं और खोजों के प्रसंग में होगा। मानवशास्त्र की भांति, वे मानव अनुभव के विस्तृत क्षेत्रों के समन्वय से सम्बन्धित हैं। सभी के समान पृथक् करने वाले बिन्दु और समान लक्ष्य हैं, जोकि उनके बीच अन्तःशास्त्रीय सहयोग के परिणामों को विशेष अर्थ प्रदान करते हैं।

इस प्रकार हम एक बार और मानवशास्त्रीय विज्ञान की बुनियादी एकता और ज्ञान के क्षेत्र में उसकी मुख्य देन को व्यक्त करते हैं। मानव के अध्ययन में मानवशास्त्र का विस्तृत दृष्टिकोण जोकि उसकी सामग्री की विविधता और उसकी विशिष्ट पद्धतियों से विकसित विश्लेषण द्वारा प्राप्त होता है, सदैव ध्यान में रखना चाहिए। मनुष्य को सम्पूर्ण रूप में चित्रित करने में मानवशास्त्र केवल काल का ही दृष्टिक्रम नहीं, बल्कि मानव व्यवहार के संभावित विस्तार का भी दृष्टिक्रम प्रदान करता है। वह उस विश्व-मंच को जिस पर मानव ने अनेक भूमिकायें खेली हैं, विस्तृत करता है, वह हमारी दृष्टि को लिखित इतिहास के दायरे के बाहर, व उन समाजों में जिनमें कि वे परम्परायें, जिनकी कि हम अपनी संस्कृति में स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते, प्रचलित हैं व व्यवहार को नियमित करती और अर्थ प्रदान करती हैं, ले जाता है। हमारे दृष्टिक्रम के विस्तार को सम्भव बनाकर, हमें अपनी संस्कृति के घेरे के बाहर देखने और पुनः अपनी जीवन-रीति पर तटस्थ हो देखने का अवसर मिलता है, जोकि अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकता।

अध्याय दो

मानव जाति का उद्विकास

मनुष्य सर्वप्रथम कहां प्रकट हुआ और कब, यह अभी भी खोज का विषय बना हुआ है। कुछ अधिकारी विद्वानों का मत है कि वह उत्तरी भारत में, कुछ के मत में अफ्रीका में, कुछ के मत में अन्य प्रदेशों में उसका उद्गम हुआ। अधिकांश विद्वानों का विश्वास है कि मानव के सबसे प्रारम्भिक रूप वे हैं जोकि पेकिंग के समीप सुदूरपूर्व में जावा से चाऊकतीन तक फैले हुए स्थानों में प्राप्त हुए हैं। पुरा-मानवशास्त्र के पहले विद्यार्थियों में से यूजीन दुबाय को प्रख्यात **शीर्ष-वानर-मानव** (**Pithecanthropus erectus**) या जावा मानव, जिसे कि मानव और वानर के बीच की 'खोई हुई कड़ी' (**Missing link**) समझा जाता था, मिला था। परन्तु समय बीतने पर, हमें अन्य खोजों ने यह बताया कि कोई ऐसा सरल सूत्र हमें मानव विकास की जटिलतायें नहीं समझा सकता, जैसा कि दक्षिणी अफ्रीका से प्राप्त होने वाले बहुसंख्यक प्रारम्भिक अवशेषों से यह देखा जा सकता है। इनमें से सर्वाधिक नाटकीय समस्या तब खड़ी हुई, जबकि हांगकांग के कुछ पंसारियों की दुकानों में कुछ विशाल दांत पाये गये, जोकि चीनी प्रथा के अनुसार पीस कर औषध के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले थे। वे दांत क्या हो सकते थे, जिनकी रचना मानव दाढ़ों की तरह थी, और जोकि जीवित व निखातक मनुष्यों (**Fossil men**) की बड़ी-से-बड़ी दाढ़ों से भी कई गुना बड़े थे। क्या इसका यह अर्थ है कि प्रारम्भिक दिनों में मनुष्य का आकार दानवीय था ? या वह आज के मानव प्राणियों के समान मानवों में बड़े आकार के जबड़ों में उगे और यदि ऐसा हुआ, तो ऐसे दांतों वाले प्राणियों की कैसी शक्ल होगी ?

जो भी हो, वे हमारे सामने हैं और वे पुरातत्त्व-गवेषणा की कठिनाइयों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं और उसको सबसे बड़ी चुनौती और आकर्षण प्रदान करते हैं। मानवशास्त्र की किसी भी शाखा में इससे अधिक वैज्ञानिक कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक पूर्वकल्पना (**Hypothesis**) चाहे कितनी ही तर्कसंगत क्यों न दिखाई दे, किसी अछूती भूमि में से मिला एक नमूना उसे खंडित कर सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अभीतक अज्ञात मानव या पुरा-मानव (**Protohuman**) प्रकार की उपस्थिति केवल उक्त बड़े दांतों जैसे अवशेषों के आधार पर ही मानी जा सकती है।

मानव के शारीरिक टाइप के प्रागैतिहासिक पुनर्निर्माण में सर्वाधिक सहायता मानव रचनाशास्त्र (**Morphology**) से मिलती है। इसमें अन्य प्राकृतिक घटनाओं की भांति ऐसी एक नियमितता पायी जाती है जिस पर भरोसा किया जा सकता है। एक दी हुई हड्डी या कंकालीय तत्त्वों का एक मिश्रण विभिन्न जीवों की जातियों में पृथक् पृथक् होगा। एक निश्चित जीव-जाति (**Species**) में भिन्नता की सीमाएं अपेक्षया

अल्प होती हैं। रूप (Form) और कृत्य (Function) का सम्बन्ध ऐसा है कि विभिन्न जीव-जातियों में भी, वह रीति जिससे कि एक तत्त्व सम्पूर्ण से जुड़ा होता है, इतना युक्तिसंगत है कि एक हड्डी के एक हिस्से से भी पर्याप्त सूचनाएं पायी जा सकती हैं। इस प्रकार हम ऐसे रूप को, जिसकी जांघ की हड्डियां छोटी हों, लम्बा नहीं ठहराते, जबकि उसका मुड़ा होना हमें यह बताता है कि उसका स्वामी झुककर, न कि खड़ा होकर चलता था।

प्राणिक विकासवाद की प्रक्रिया की नियमितता भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है। पुरा-भूगर्भशास्त्रियों (Paleontologists) द्वारा, जिन्होंने कि पुरा-मानव-शास्त्रियों (Paleo-anthropologists) की भांति अनेक पशु रूपों के विकास का विवरण दिया है, इस नियमितता की पुष्टि होती है। उनकी सबसे मार्के की सफलता उस प्रक्रिया का पुनर्निर्माण है, जिससे कि एक छोटे तीन पंजेवाले चौपाये घोड़े का जोकि हमें आज बड़े खुरवाले जीव के रूप में ज्ञात है, विकास हुआ।

संरचना और विकासवादी विकास की तर्क-प्रणाली के उपयोग से यह सम्भव हुआ है, जोकि प्रायः एक चमत्कार-सा लगता है कि हम मानव जाति के प्रारम्भिक लुप्त रूपों के गुणों और लक्षणों का पुनर्निर्माण कर सकें। कोई भी इन पुनर्निर्माणों की, जोकि अधिक निश्चित न्यासों की खोज पर सदा संशोधित होते रहते हैं, पूर्णता का दावा नहीं करता। फिर भी हम कह सकते हैं कि नीन्डरथल मानव के पूर्ण कपाल द्वारा मांसपेशियों की मिट्टी की अनुकृतियां बनाना सम्भव है; संरचना तर्कशास्त्र के अन्तर्गत जिनकी एक विशिष्ट लम्बाई और मोटाई निश्चित होनी चाहिए और फिर मांसपेशियों के इस पुनर्निमित पिंड पर खाल को दिखाने के लिए एक और परत चढ़ाई जा सकती है। अधिक आंशिक अवशेषों, जैसे कि जबड़े की हड्डी से, दोनों तर्क-प्रणालियों को प्रयोग में लाकर और केवल हड्डी को ही ध्यान में न रखकर, बल्कि उक्त प्राणी के जीवित रहने के काल को भी ध्यान में रखकर वही परिणाम प्राप्त करना सम्भव है। हालांकि ऐसी दशाओं में कपाल का पहले 'पुनरुद्धार' किया जाना आवश्यक है।

ऐसे पुनरुद्धारों को देखते समय हमें कुछ सावधानियां ध्यान में रखनी जरूरी हैं। हमारे द्वारा उद्धृत उदाहरणों में से पहले उदाहरण में अधिक सही अनुमान होने की संभावना है। आंशिक सामग्रियों द्वारा पुनरुद्धार में भी, प्राप्त हड्डियों के अत्यन्त समीपवर्ती कंकाल के भाग काल्पनिक कंकालीय आधार पर बनाये गये भागों से अधिक निश्चित होंगे। नाक और कानों की भांति मांसल उभरे हुए मुलायम भाग सदा ही कल्पना पर आश्रित होंगे। छिन्न-भिन्न हो जाने पर, उनकी क्या शक्ल थी, इसका कोई सूत्र नहीं मिलता। बालों के बारे में भी यही सही है। कुछ प्रारम्भिक पुनरुद्धारों में केवल पूर्ण-मानव टाइप दिखाये गये हैं, जिनके सिर मुंडे हुए या बाल काढ़े हुए थे। प्रारम्भिक पुरामानवों के बिखरे हुए बालों से इनका विरोध उनके बनाने वालों के एक पारदर्शक यद्यपि प्रसुप्त जाति-अहंकार—इस प्रसंग में—मानव-अहंकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव व्यक्त करते हैं। फिर भी यह पुनरुद्धार उन लोगों के लिए जोकि कपालों को देखने या कंकालों की भिन्नताओं के मूल्यांकन में अनभ्यस्त हैं, विस्तृत रूप में मेधावी मानवों की

उस जाति के जिसकी कि वर्तमान मानव जाति वंशज है—विकास को समझना संभव बनाते हैं।

२

डार्विन से एक शताब्दी पहले यह अनुभव किया गया कि मानव और कुछ अन्य पशु-रूपों की सदृशतायें इतनी अधिक हैं कि पशु-समूहों के वर्गीकरण में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए लिनेयस ने मानव, बड़े लंगूरों और बन्दरों को एक वर्ग में रखा जिसे **प्रधानक वर्ग** (Primates) कहा जाता है। इस वर्ग के अन्दर नयी और पुरानी दुनिया के रूपों के भेद को जानना चाहिए। नयी दुनिया में विकासवाद (Evolution) कुछ छोटे वानर रूपों से आगे नहीं गया। इसीलिए नयी दुनिया में मानव के उद्गम का प्रश्न नहीं उठता, चूंकि नयी दुनियां में कोई ऐसी चीज न थी जिससे कि वह उद्विकसित हो पाता। और फिर मानव के समीपतम सम्बन्धी मानवसम वानर (Anthropoid apes) आज उन क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहां मानव सबसे अधिक समय रहा है। गोरिल्ला और शिम्पाजी अफ्रीका में औरंगुटान और गिबन मैलेशिया में पाये जाते हैं।

मानव, परिवर्तन की प्रक्रिया की अन्तिम कृति का, जोकि समस्त जीवों की विशेषता है, प्रतिनिधि है, यह आज निर्विवाद है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया का वही अर्थ है जोकि 'विकासवाद' शब्द के प्रयोग से समझा जाता है। यह प्रत्येक जीवित रूप द्वारा प्रदर्शित परिवर्तनों का परिणाम है। डार्विन के समय से ही परिवर्तनशीलता (Variability) के कारक के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक रूप के परिवर्तित रूप, परिवर्तन की सम्भावना को बताते हैं, और ये वे साधन हैं जिनके द्वारा समस्त जीवित रूपों और अनेक लुप्त रूपों के लिए पृथ्वी पर, जबसे उस पर जीवन विद्यमान है, आना सम्भव हुआ।

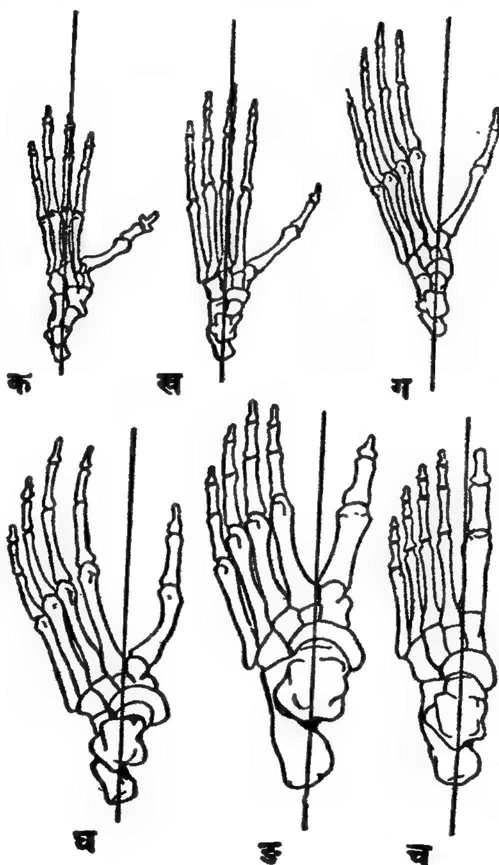
जहां तक मानव और अन्य रूपों का परस्पर सम्बन्ध है, हम केवल पुराभूगर्भ साक्षियों का ही नहीं, बल्कि सम्बन्धित प्ररूपों के जीवित प्रतिनिधियों की संरचना और कृत्यों के सादृश्य का भी अध्ययन करते हैं। ग्रेगरी ने[१] चेहरे की हड्डियों के मूल को खोजते हुए, एक-एक मद को लेकर, मछली से माध्यमिक रूपों और मानव तक यह दिखाया है कि ये सदृशताएं कितनी अधिक विस्तृत हैं। मानव और उसके घनिष्ठतम प्रधान सम्बन्धी, बड़े बन्दरों के बीच अनेक समानताओं का विवरण दिया गया है।[२] इनमें से किसी रूप के पास पूंछ नहीं है, अकेले इन्हीं के पास कृमिरूप आंत्र-पुच्छ (Vermiform appedix) है, उनके रक्त प्रकार (Blood types) समान हैं, उनके गर्भाशय और नाभि की संरचना लगभग एक समान है, वे सर्वभक्षी हैं, उनके पास ऐसे दांत हैं जिनसे वे मांस या वनस्पति भोजन चबा सकते हैं, वे चारों ओर देख सकते हैं, उनका अंगूठा मोड़ा जा सकता है, ये सब बातें यह निर्देश करतीं हैं कि इनमें कितना अधिक सादृश्य है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि केवल मानव और मानवसम वानरों

---

१. डब्ल्यू० के० ग्रेगरी, १९२९।

२. इनमें से एक अत्यन्त विस्तृत विवरण है, ए० शुल्ट्ज, १९३६।

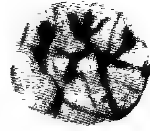
की ही सीधा खड़े होने और दो पैरों से चलने की प्रवृत्ति है। यद्यपि केवल मानव ही एक सच्चा दोपाया है, और वानर चलने में अपने हाथों से मदद लेते हैं पर केवल मानव और बड़े वानरों के पास ही वह पिछले पैर हैं जिनका इसमें प्रयोग किया जा सकता है। सीधे खड़े होने में सफलता उन परिवर्तनों को लाने वाली एक बुनियादी चीज थी जिसने मनुष्य को सीधा खड़े होने, बोलने, औजार इस्तेमाल करने और संस्कृति निर्माण करने वाला जीव बनाया। हम यहां इस प्रश्न पर विवाद नहीं कर सकते कि क्या मनुष्य से पहले आने वाले प्राणी पेड़ों से उतर कर जमीन पर जीवन बिताने के लिए सीधे खड़े होने

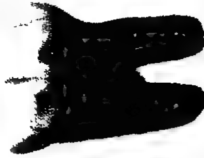


रेखाचित्र १ : मानव पैर का विकास, (क) लेमूरायड और (ख) सीमियन (मकेक) प्रकार के पैरों से, (ग) गिबन, (घ) शिम्पाजी और (ङ) गोरिल्ला से, (च) मानव तक। पूर्वापर गोरिल्ला और मानव के पैरों के अनुकूलन को एड़ी के अधिक सुदृढ़ विकास और पैरों के अन्दरूनी किनारों के अधिक विकास तथा पंजों के छोटे होने में देखा जाता है। (मौर्टन के आधार पर, १९२७ रेखाचित्र ३)

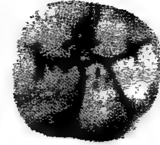


ख



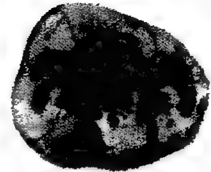


ग





घ





क



प्लेट १ख (क) दानवाकार मानव ब्लैंकी की तीसरी निचली दाढ़ की (ख) नर गोरिल्ला की उसी दाढ़ से तुलना (ग) पेकनीय चीनीमानव की पहली निचली दाढ़ और (घ) आधुनिक मानव की वही दाढ़। उच्च, पार्श्व और निम्न रुद्ध दिशाएं। देखिये पृ० १९–२० (फोटोग्राफ एफ० वीडनराइख और अमेरिकन म्युज़ियम ऑफ नैचुरल हिस्टरी, न्यूयार्क के सौजन्य से; एफ० वीडनराइख, १९४६, चित्र ५७–५८ भी मिलाइए)।



क



ख



ग



घ

प्लेट १क ऊर्ध्व **वानरमानव** के पुनरुद्धार की अवस्थाएं, जे० एच० मैकग्रीगर द्वारा (क) अर्ध-कपाल और मस्तिष्क; (ख) कपाल जिसके एक ओर मांस बनाया गया है; (ग) अर्ध-कपाल जिस पर मांस बनाया गया है; (घ) पूर्ण पुनरुद्धार। देखिये पृ० १४ (फोटोग्राफ अमेरिकन म्युज़ियम ऑफ नेचुरल हिस्टरी, न्यूयार्क के सौजन्य से)

की ओर अग्रसर हुए कि नहीं। यहां पर कार्य-कारण का सम्बन्ध अत्यन्त अस्पष्ट और इतना जटिल है जिससे कि कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता। यह बहुत सम्भव है कि वृक्ष जीवन की अवधि ने शरीर को सहारा देने वाली धुरी को बड़े पंजे और बाकी पैर के बीच की लाइन में लाकर, सीधे खड़े होने के विकास को बढ़ावा दिया। यहां महत्त्वपूर्ण बात उन परिणामों की खोज है जो कि मानव के अगले पंजों के एकान्ततः पकड़ने वाले अंगों के रूप में कार्य करने और उसकी टांगों और पैरों के उसे सहारा देने और चलने का एकमात्र साधन बनने से उत्पन्न हुए।

मार्टन ने एक रेखा-चित्र द्वारा यह दर्शाया है कि किस प्रकार मनुष्य का पैर, उससे घनिष्ठतया सम्बन्धित दो जीवों, शिम्पांजी और गोरिल्ला से भिन्न है।[3] मनुष्य का बड़ा पंजा दृढ़ और स्थिर है और उसके उल्टा मुड़ने का गुण, जैसा कि अन्य प्रधानकों में होता है और जैसे कि हम और वह अंगूठे का प्रयोग करते हैं, प्रायः नष्ट हो गया है। सीधा खड़ा होने के लिए यह कठोरता अनिवार्य है। किसी दुर्घटना या अन्य कारण से जिनका यह अंग नष्ट हो गया है, उनके व्यवहार से इसकी पुष्टि हो जाती है। गोरिल्ला और शिम्पांजी के बड़े पंजे उन्हें प्रायः सीधा खड़ा होने की क्षमता प्रदान करते हैं। पर उनके बड़े पंजे कठोर न होने के कारण वे जल्दी ही थक जाते हैं और पुनः अपनी वही विशिष्ट स्थिति जिसमें कि वे अपने हाथों के बल अपने को सहारा देते हैं, अख्तियार कर लेते हैं।

सीधा खड़ा होने की स्थिति की प्राप्ति के साथ शरीर के अन्य भागों में भी तदनुरूप परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन जोकि मानव और उसके निकटतम जीवों की प्रमुख भिन्नतायें बताते हैं, भौतिकशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, जिनका उल्लंघन सीधे खड़ा होना असम्भव बना देता है।

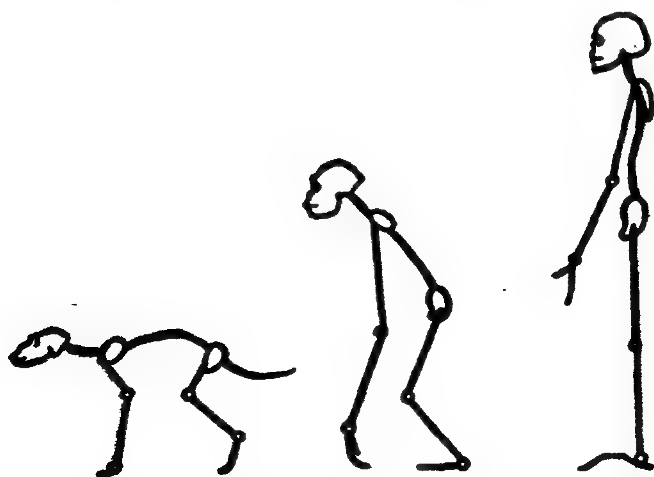
अगर हम एक रेखा-चित्र द्वारा जैसा कि चित्र-संख्या २ में दिखाया गया है, एक बिल्कुल सीधे खड़े हुए, एक भुजाओं के साथ झुके हुए और एक चौपाये की बुनियादी कंकालीय संरचना को दिखायें तो हम इस संरचना को निम्न तत्त्वों में बांट सकते हैं। सिर, रीढ़ की हड्डी, बाहर निकली हुई शाखाएं (Extremities) और दो मेखलाएं, एक कंधे पर और दूसरी कूल्हों पर, जिनसे यह शाखायें या छोर जुड़े हुए हैं और जोकि रीढ़ की हड्डी से जुड़ी हुई है। चौपायों और अर्ध-ऊर्ध्व (Semi-upright) रूपों में ऊर्ध्व-रूप की तुलना में जहां कि कपाल को सीधा अपने नीचे सहारा मिल जाता है और इसलिए अपेक्षया हल्की मांसपेशियों द्वारा संतुलित किया जा सकता है, सिर को बाकी शरीर के साथ जोड़ने के लिए कहीं अधिक मजबूत मांसपेशियों की जरूरत पड़ती है। इसके विपरीत चौपायों में बाहरी मेखला, श्रोणि (Pelvis) उतनी ही बड़ी होती है जिससे कि पिछले पैर जुड़ भर जायें, जबकि सीधे खड़े होने वाले पशु में उसके लिए धड़ के अंगों को सहारा देना आवश्यक है। इस सबमें अर्ध-ऊर्ध्व रूप बीच की स्थिति में होंगे। इससे पहले कि हम इन सरल सिद्धान्तों के अर्थों को खोजें, एक बात कहना जरूरी है।

---

३. डी० एच० मार्टन, १९२७, पृ० १७९, रेखाचित्र ३।

हमने "मांसपेशी संस्थान" (Musculature) और शरीर के निर्दिष्ट क्षेत्रों में सिर या अन्य अंगों को संभालने और स्थान देने के लिए भारी और हल्की मांसपेशी शब्द का प्रयोग किया है। अधिकांश मांसपेशियां हड्डियों के साथ कठोर स्थानों पर मिलती हैं। मांसपेशी को जितना अधिक कठोर काम करना पड़ता है, उसके मिलने का स्थान उतना ही कठोर और हड्डी उतनी ही भारी होती है।

जब मानव अपने पैरों पर उठ खड़ा हुआ, उसकी जांघ की हड्डी (Femur) अधिक सीधी और लम्बी हो गयी और टांगों और पैर की हड्डियों के बीच के जोड़ घुटने और टखनों पर बदल गये और इस प्रकार सीधा खड़ा होने के अधिक अनुकूल हो गये। मनुष्य की जांघ की हड्डी के पीछे का उभरा हुआ छोर या शिखर अधिक उभर गया, जिससे कि अधिक मजबूत मांसपेशियों की रचना हो सके, जोकि चलने और झुकने के लिए आवश्यक था। श्रोणि (Plevis) चौड़ी और चपटी हो गयी, और इस प्रकार केवल उन आन्तरिक अंगों के लिए ही जोकि उसके ऊपर थे सहारा देने के लिए एक प्रकार का आधार-पात्र सा नहीं बना, बल्कि ऊपरी मेखला, बाहुओं और सिर का भी जोकि उस पर भार डालते हैं, सहारा बना। रीढ़ की हड्डी के तीन झुकावों ने, पृष्ठवंश (Vertebral column) को एक प्रकार की कमानीदार संरचना दी जोकि चलते समय समस्त शरीर द्वारा अनुभव होने वाले धक्के से सिर की रक्षा करती है। यद्यपि अग्र (Anterior) मेखला में अल्प परिवर्तन दीखता है किन्तु यह भी मानवीय स्कंधास्थि (Scapula) में चौड़ी और चपटी हो गयी। अग्रबाहु शरीर की कुल लम्बाई के अनुपात में लम्बी हो गयी और अंगूठे और अंगलियां पकड़ने वाले अंगों के रूप में विशेषता पा गये।



रेखाचित्र २ : चतुष्पद, ऊर्ध्व बाहुवाला (Brachiating) प्रकार और ऊर्ध्व रूप की बुनियादी कंकालीय संचरना; मानव में सिर का सन्तुलन परम्परागत शैली द्वारा दिखाया गया है।

सिर और चेहरे में गम्भीर परिवर्तन हुए। जबड़ा कहीं अधिक हल्का हो गया और दांत, विशेषतः श्वदन्त (Canines) छोटे हो गये। जबड़े की निचली हड्डी (Mandible) कपाल से मांसपेशियों द्वारा जुड़ी हुई है जोकि उसे चलाती है और उसके हल्केपन का अर्थ हुआ कि उसे हल्की मांसपेशियों द्वारा संचालित किया जा सकता हैं। हल्की मांसपेशियों के परिणामस्वरूप जबड़े के अन्दर जीभ को अधिक जगह मिली और कपाल की हड्डियां कम कठोर हो सकीं, क्योंकि उनके लिए भारी मांसपेशियों को जोड़ने के लिए सतह देने की जरूरत न रही। इसका महत्त्व स्पष्ट है जबकि हम मानव कपाल के चिकने मेहराब की, गोरिल्ला के कपाल से तुलना करते हैं, जिसके खुरदरे शिखर से जबड़े को चलाने वाली मांसपेशियां जुड़ी रहती हैं। अन्त में उस आकार का मस्तिष्क जो कि मानव की ही विशेषता है, विकसित हो सका।

यहां इस बात पर पुनः जोर देना जरूरी है कि जिस प्रक्रिया की रूप-रेखा हमने दी है उसमें इस समस्या को छोड़ दिया गया है कि वह परिवर्तन क्यों हुए, जिनकी परिणति **मेधावी मानव** में हुई। एक विद्वान् तर्क देगा कि यह आवश्यकताओं से हुए, दूसरा कहेगा कि संयोग से, कोई कहेगा कि अन्तर्हित भौतिक शक्तियों से, कोई कहेगा कि चुनाव से। न्यास कारणों पर प्रकाश नहीं डालते, किन्तु वे इस बात पर जोर देते हैं कि अन्य अनेक परिवर्तन जिन्हें यहां ब्यौरेवार नहीं बताया गया है, युगों तक एक संगति प्रदर्शित करते हैं, जोकि मानव और अन्य जीवधारियों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। हम इस संगति को प्रारम्भिक मानवीय रूपों के विकास की प्रक्रिया में ढूंढ कर, जिसमें कि उन्होंने अन्य किन्हीं जीवों की तुलना में अपने प्रवानक सम्बन्धियों की भांति क्रमशः वर्तमान मानव के लक्षण प्राप्त किये, भलीभांति देख सकते हैं।

३

यहां हम पहले सुदूर पूर्व से प्राप्त रूपों और फिर अफ्रीका और यूरोप से मिले मानव रूपों पर विचार करेंगे। यद्यपि हम उन्हें निश्चितता से उनके भूगर्भ-क्रम में नहीं रख सकते, परन्तु यह स्पष्ट है कि सुदूरपूर्व की खुदाई के स्थानों से मिले अधिकांश नमूने यूरोप और अफ्रीका में प्राप्त नमूनों की तुलना में मानव-सम (Anthropoid) रूपों के अधिक समीप हैं। भूगर्भ-शास्त्रीय कालक्रम की दृष्टि से ये सब रूप प्रतिनूतन (Pleistocene) युग में आये, इस प्रकार नवीन-जंतुक-युग (Cenozoic era) के प्रतिनूतन काल के प्रारम्भ से लेकर आजतक पृथ्वी पर निरन्तर पुरामानव या मानव जनसंख्या चली आ रही है। अल्पाधिक कुछ लाख सालों से ही मानव पृथ्वी पर रहा है। यह सदा समझा गया है कि इस प्रकार की तिथियां, जबकि हम उन्हें भूगर्भीय कालावधि पर लागू करते हैं, काल्पनिक होती हैं।

यहां दिया हुआ यह क्रम, जोकि वीडनराइख के अनुसार है, काल्पनिक समझना चाहिए। विशेषतः जहांतक कि तीन प्रारम्भिक रूपों का सम्बन्ध है, उनके सही महत्त्व के बारे में पर्याप्त विवाद हैं। अन्य विद्वानों द्वारा उनके सम्बन्ध में की गयी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए वे यहां दिये जा रहे हैं।

(१) **दानवाकार-वानर-मानव या दानवाकार-मानव** (Gigantopithecus

Blackie या Gigantanthropus) :[४] केवल हांगकांग में चीनी पंसारी की दुकान में मिली बड़ी दाढ़ें ही इस रूप को दर्शाती हैं। इनमें से पहला दांत १६३५ में एक डच औपनिवेशिक अधिकारी, कोनिक्सवाल्ड द्वारा हस्तगत किया गया। बाद में दो अन्य दांत इसी नगर की एक अन्य पंसारी की दुकान से प्राप्त किये गये। चूंकि शुरू में ये दांत एक दानवाकार मानवसम जीव के समझे गये, अतः इस रूप को पूर्वोक्त नाम दिया गया। बाद में सूक्ष्म परीक्षा से यह पता लगा कि वे वानर-मानव वर्ग के न होकर मानवसम वर्ग के थे। वीडनराइख ने दूसरे नाम की पैरवी की और उसे अधिक उपयुक्त बताया, बशर्ते कि वैज्ञानिक नामकरण का लौह नियम "इस परिवर्तन की अनुमति दे।"

(२) **बृहत्‌मानव पुराजावानी** (Meganthropus palaeojavanicus)—एक प्रारम्भिक दानव रूप की एक या शायद दो जबड़े की हड्डियां १६३६ और १६४१ में वान कोनिग्सवाल्ड ने केन्द्रीय जावा के संगीरन जिले से प्राप्त की थीं।

(३) **वानर-मानव विशाल** (Pithecanthropus robustus)—इस रूप को भी वान कोनिग्सवाल्ड ने १६३८ में जावा के त्रिनील स्थान में, जहांकि मूल वानर-मानव मिला था, पाया था, जिसके कपाल की टोपी और ऊपर का जबड़ा पहले मिल चुके थे, पर जिसे पहले बड़ा पुरुष वानर-मानव समझा गया था। लेकिन दानव वानर के दांतों की खोज के बाद वीडनराइख ने उसे उक्त नाम दिया जोकि विकासवादी क्रम में उसके स्थान को बेहतर रूप से व्यक्त करता है।

अब हम अधिक निश्चित क्षेत्र की ओर बढ़ते हैं और उन प्ररूपों पर विचार करते हैं जिनके विवरण अधिक पर्याप्त हैं और जिनके बारे में अधिक एकमतता है।

(४) **ऊर्ध्व वानर-मानव** (Pithecanthropus erectus)—यह जावा से प्राप्त सर्वप्रथम मानवसम रूप था और तीन दशकों तक सुदूर पूर्व से प्राप्त अकेला प्रारम्भिक रूप था तथा प्रारम्भिक मानव के विद्यार्थियों के लिए एक निरन्तर चुनौती था। डा० यूजीन दुबाय नाम के एक डच चिकित्सक ने १८६१–६२ में इसकी खोज की और इसे जावा के ऊर्ध्व वानर-मानव का नाम मिला, क्योंकि इसके खोजकर्ता का विचार था कि इसके लक्षण इसे वानर और जीवित मानव के बीच का ठहराते हैं और यह बहुत-कुछ उनके बीच की "खोई हुई कड़ी" की तरह है। चूंकि वान कोनिग्सवाल्ड द्वारा वानर-मानव के अवशेषों की दो श्रेणियां (Series) १६३८–३६ में खोजी गयीं, अतः तुलनात्मक रचनाशास्त्र के अन्तर्गत निर्धारित इसकी स्थिति इसे मानव विकासवाद की श्रेणी में उक्त दानव प्रकारों की तुलना में बाद का स्थान देने के लिए संशोधित की जा चुकी है। तीन कपालीय अंशों के अतिरिक्त, छः जांघ की हड्डियां एक निचले

---

४. वह सामग्री जिससे यह वर्गीकरण लिया गया है, इस पर जी० एच० आर० वान कोनिग्सवाल्ड, १९५२ में विस्तार से विचार किया गया है। वान कोनिग्सवाल्ड इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि दानवाकार मानव को "संकोच के साथ मानव-समूह का एक दानवाकार सदस्य माना जा सकता है", किन्तु मानव वंश की एक विशेष शाखा के रूप में ही, न कि "मानव के पूर्वज के रूप में", पृ० ३२३।

जबड़े की हड्डी और विवादास्पद वर्ग के दो दांतों के अवशेष अब हमारे हाथों में हैं।

(५) होमो मोदजोकरटेनो मानव (Homo modjokertensis)—१९३६ में पाये गये एक किशोर के कपाल को पुरा मानव-शास्त्रीय क्रम में सही स्थान देना कठिन है, क्योंकि व्यक्ति जितनी ही कम आयु का होता है, उसके लक्षण उतने ही अधिक सामान्य और उसकी पहिचान उतनी ही कठिन होती है। वीडनराइख का विश्वास है कि "बिना पूरी जांच के विकासवादी क्रम में इसका स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता, किन्तु इस मामले में नमूने के अविकसित किशोर लक्षणों के कारण हमारा उत्तर शायद संदेहास्पद ही रहेगा।"[५]

(६) पेकिनीय चीनी-मानव (Sinanthropus pekinensis)—१९२९ में डब्ल्यू० सी० पाई द्वारा प्राप्त इस रूप ने सुदूर पूर्व में प्रारम्भिक मानव की सम्पूर्ण समस्या पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य किया। जैसे साल गुजरते गये, इस रूप की नयी खोजें हुईं और इन खोजों के अच्छे विवरण मानव विकास को समझने में वानर-मानव के समान महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। चाऊकूतीन की एक गुफा में से चौदह व्यक्तियों के कपालों के भाग, जिनमें सम्पूर्ण मस्तिष्क के खोल भी सम्मिलित थे, छः व्यक्तियों के चेहरे की हड्डियां और लम्बी हड्डियां और दांत, जोकि हमें लगभग चालीस और व्यक्तियों के हिस्सों को प्रदान करते हैं, मिले। शुरू से ही वानर-मानव से इसके सम्बन्ध का निर्देश किया गया। और यह बहुत सम्भव है कि यह दोनों ही रूप प्रतिनूतन युग की लगभग एक ही अवधि में विद्यमान थे।

(७) सोलोनी मानव (Homo soloensis)—१९४१ में सोलो नदी के समीप नानदोंग गांव में पाये गये कपालों की श्रेणी इस स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। इस अवशेष और वानर-मानव और चीनी मानव की सामग्रियों में अनेक सदृशताएं हैं, जोकि इसे उनसे पृथक् करने में कठिनाई उत्पन्न करती हैं, फिर भी इनमें पर्याप्न भिन्नताएं भी हैं जोकि उन्हें एक वर्ग में रखने की इजाजत नहीं देतीं। वीडरनराइख ने इसे "एक विकसित रूप के मार्ग की ओर अग्रसर, वर्धमान वानर-मानव प्ररूप में वर्गीकृत किया है।" वह लिखता है कि "यह तथ्य कि भूगर्भ की वह सतह जिसमें कि नानदोंग कपाल मिले त्रिनील नमूनों की सतह से ऊंची पायी गयी है, इस रचनाशास्त्रीय चित्र में ठीक बैठता है।"[६]

(८) वादजाक मानव (Homo wadjakensis)—इस रूप के दो कपाल १८९१ में वानर-मानव के खोजकर्त्ता दुबाय को मिले, किन्तु १९२० तक इस खोज का विवरण नहीं छापा गया। प्रारम्भिक प्ररूपों की तुलना में उनका कपालीय आयतन (Cranial capacity) अधिक है और आधुनिक आस्ट्रेलियन आदिवासियों के, कपालों से समानता के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्हें आधुनिक आस्ट्रेलियन आदिवासियों का

---

५. एफ० वीडरनाइख, १९४५, पृ० ३८८।

६. एफ० वीडरनाइख, १९४३, पृ० २७४।

पूर्वज समझा जाता है, हालांकि यह विवाद का विषय है। इन कपालों को सही स्थान देने की कठिनाई इसलिए भी बढ़ जाती है कि वह बहुत ही बुरी तरह से दबी हुई व कुचली हुई स्थिति में मिले और उनकी खोज उनके पाये जाने के इतनी देर के बाद घोषित की गयी कि प्राप्ति-स्थान पर और अनुसंधान करना असंभव था।

अब हम पश्चिम की ओर मुड़ते हैं। यहां सबसे पहले हम उस रूप की स्थिति, प्रकृति और सत्यता पर विचार करेंगे जिसपर कि कभी समझौता न हो सका, जब तक कि हतप्रभ कर देने वाली इस खोज ने कि यह "एक अत्यन्त सूक्ष्मता और सावधानी से तैयार किया गया जाल था," इस वादविवाद को समाप्त नहीं कर दिया।[७] १९२४ में मैकर्डी ने कहा, "प्रागैतिहासिक पुरातत्वशास्त्री को कभी-कभी विचित्र शयन-साथी टकराते हैं, इस मायने में कोई भी खोज इतनी मार्के की नहीं जितनी कि पिल्टडाउन का जखीरा। प्रकृति ने वैज्ञानिक के लिए अनेक जाल बिछाये हैं, किन्तु यहां पिल्टडाउन में उसने अपने पहले सब जालों को मात कर दिया।"[८] परन्तु उसने यह अनुभव नहीं किया कि यह जाल प्रकृति द्वारा नहीं, मनुष्य द्वारा बिछाया गया था।

यह रूप जिसे **ऊषा मानव** या पिल्टडाउन मानव (Eoanthropus dawsoni) के नाम से पुकारा गया, सुसैक्स,इंग्लैंड में १९११-१२ में चार्ल्स डाउन द्वारा खोजा गया था। बाद की खोजों से, जो १९१५ में पिल्टडाउन स्थान से लगभग दो मील की दूरी पर की गईं, मूल अवशेषों की सत्यता सिद्ध की गयी। इसमें बड़ी कठिनाई यह थी कि जो कपालीय टुकड़े यहां मिले, यदि वे अकेले मिलते तो उन्हें आधुनिक मानव के जोकि अब पचास हजार साल पुराना माना जाता है, कहे जाते, परन्तु वह एक निचले जबड़े के आधे हिस्से के समीप जोकि वस्तुतः मानवसम था, मिले; फ्लूरसकोपिक विश्लेषण से यह पता चला कि वह एक आधुनिक शिम्पांजी के थे, जिन्हें कुशलतापूर्वक रंग और घिस कर प्राचीनता का रूप दे दिया गया था। यह जबड़ा और कपाल एक ही व्यक्ति के थे, इस मत को मिलाने की कठिनाई ने, जैसा कि ऊषा मानव नाम के समर्थकों का आग्रह था, इसे वादविवाद का आधार बना दिया। इस जाल का पर्दाफाश होने पर वीडनराइख द्वारा १९४३ में ली गयी स्थिति की सत्यता, जिसके लिए उस पर कठोर आक्रमण किये गए थे, पूर्णतः स्थापित हो गई, चूंकि उसने सम्पूर्ण प्राप्ति को "आधुनिक मानव के मस्तिष्क के खोल के टुकड़ों के साथ ओरंगुटान के समान जबड़े की हड्डी और दांतों का एक कृत्रिम मिश्रण" कहकर मानव फासिल के रूप में अग्राह्य कर दिया था और उसे एक काल्पनिक भूत की संज्ञा दी थी।[९] वास्तव में, जैसा कि वीनर और उसके सहयोगियों ने कहा है "पिल्ट डाउन जबड़े और दांतों पर विचार समाप्त कर देने से मानव विकास की समस्या बहुत अधिक स्पष्ट हो गयी है" क्योंकि अब ऐसा दीखता है कि मानव विकास

---

७. जे० एस० वीनर, के० पी० ओक्ले और डब्ल्यू० ई० लेग्रोस क्लार्क, १९५३

८. जी० जी० मैकर्डी, १९२४, जिल्द १, पृ० ३३३

९. वीडनराइख, १९४३, पृ० २२०

की रेखा असली मानव के[१०] दक्षिण अफ्रीकी पूर्वज दोपाये ऑस्ट्रेलीय वानर-मानव से प्रारम्भ होकर वानर-मानव और अन्य सुदूर पूर्वीय रूपों से होती हुई बाद के निम्नलिखित प्ररूपों तक चली गयी।

पिल्टडाउन मानव के इस क्रम से निकल जाने के बाद हम पश्चिम में मानव की प्रगति पर विचार करेंगे, जोकि वहां पर मानव विकास की कहानी को बताता है।

(९) **अफ्रीकी मानव नजारस** (Africanthropus njarasensis)—पाश्चात्य रूपों में से पहला रूप भी विवादास्पद है, यद्यपि यहां झगड़ा उसकी सत्यता का नहीं, बल्कि विकासवादी क्रम में उसके स्थान का है। यह १९३५ में पूर्वी अफ्रीका के टैंगानिका स्थान में एक प्रतिनूतन प्रक्षेप (Deposit) से नार्वेवासी कोहललार्सन को मिला। इस प्राप्ति में कई कपालों के टुकड़े थे। वीनर्ट ने इनका पुनर्निर्माण किया और इस पुनर्निमित रूप को चीनी वानर-मानव वर्ग से सम्बन्धित बताया। यह कहने की जरूरत नहीं कि यदि यह सत्य होता तो यह प्राथमिक महत्त्व का तथ्य होता। यदि हम इस पुनर्निर्माण की सत्यता को स्वीकार भी कर लें, जैसाकि सभी विद्वान् नहीं करते, तब भी अधिक-से-अधिक इतना कह सकते हैं कि रचनाशास्त्रीय दृष्टि से यह एक प्रारम्भिक प्ररूप था जोकि प्रतिनूतन युग में रहता था और जो इस अर्थ में संक्रमणकालीन है कि उसके कुछ गुण सुदूरपूर्वीय प्रारम्भिक समूह से, किन्तु उससे भी अधिक बाद के नीन्डरथल लोगों से, मिलते हैं।

(१०) **हीडलबर्गी मानव** (Homo-heidelbergensis)—यद्यपि यह सन् १९०७ में पाया गया पर समय बीतने के साथ-साथ इस रूप को विशेष महत्त्व मिला। इसमें केवल एक बहुत भारी और बड़ी जबड़े की हड्डी मिली जो इतनी भारी थी कि यदि उसके दांत सुरक्षित न मिलते तो बहुत सम्भव था कि उसे लंगूर की मान लिया जाता। किन्तु जिस तरीके से यह जबड़े में जड़े हुए हैं, वह निश्चित रूप से मानवीय हैं, इसलिए मानवों में इसका वर्गीकरण अनिवार्य था। इसे नींडरथल मानव का पूर्वज माना जाय कि नहीं, इस बारे में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस जबड़े की हड्डी और दांतों के कुछ लक्षणों के आधार पर इस दावे की युक्तिसंगत पैरवी की गयी है। दांत और जबड़े की विषमता और इस हड्डी का भारीपन हमें तत्काल सुदूरपूर्वीय प्ररूपों की याद दिलाती है। अन्य प्राप्तियों के साथ जिनमें रचनाशास्त्रीय दृष्टि से प्रारम्भिक और परवर्ती लक्षण सम्मिलित हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि हीडलबर्ग और सुदूरपूर्वीय समूह जैसे पुरामानव प्ररूपों के प्रतिनिधि बहुत प्रदेशों में फैले हुए हो सकते हैं।

---

१०. मानव के प्रारम्भिक विकास में अफ्रीका की भूमिका के महत्त्व पर डार्ट, ब्रूम और अन्य विद्वानों के कार्य ने काफी प्रकाश डाला है। यह कार्य १९२४ में शुरू हुआ। जबकि डार्ट ने ऑस्ट्रेलिया वानर-मानव का पुनरुद्धार किया और उसी के नाम पर उसे एक ऑस्ट्रेलीय वानर-मानव अफ्रीकी डार्ट कहा गया। दक्षिण अफ्रीका के पुरामानवशास्त्र के लिए, गैलोवे, १९३७ और बाद की खोजों के लिए बारबूर, १९४९. देखिये।

(११) **नीडरथल मानव** (Homo neanderthalensis)—अब हम आधुनिक मानव के तात्कालिक पूर्वज नीडरथल मानव के पास पहुंच जाते हैं। इस प्ररूप के कई प्रकार थे, जिन्हें अनेक विद्वानों का अनुसरण करते हुए, हम नीडरथल नाम से पुकार सकते हैं। ऐसा इसलिए है कि किसी एक ही प्राप्ति को अनेक प्रतिनिधियों का, जोकि केवल यूरोप में ही बिखरे हुए नहीं, बल्कि उत्तरी अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका, फिलस्तीन और मध्य-एशिया तक फैले हुए हैं, विशिष्ट रूप नहीं माना जा सकता। ये संख्या में इतने अधिक हैं कि प्रत्येक का पृथक् वर्णन करना कठिन है। फिर भी वीडनराइख का अनुसरण करते हुए हम उन्हें मानवसम रूपों या आधुनिक मानव से उनकी सदृशता की सीमा के आधार पर, अल्पाधिक चार उपसमूहों में बांट सकते हैं।

(क) **"रोडेशियन समूह"** (Rhodesian group) दक्षिण-पूर्वीय अफ्रीका के उत्तरी रोडेशिया के ब्रोकन हिल स्थान की प्राप्ति इसका प्रतिनिधित्व करती है। समस्त नीडरथलों में यह मानव-समरूप के सर्वाधिक निकट है। अन्य रूपों की भांति, यह भी विवाद का विषय रही है, किन्तु चूंकि अधिकांश विद्वानों ने कुछ अंशों में नीडरथल समूहों से इसके सम्बन्ध को स्वीकार किया है, अतः इसे संक्रमण-कालीन रूप माना जा सकता है, जोकि अन्य किसी प्ररूप की तुलना में नीडरथल से अधिक घनिष्ठतया सम्बन्धित है।

(ख) **"मुस्तरियन"** (Mousterian) वह रूप जिन्हें मोरान्ट ने मूस्तरियन या वीडनराइख ने "स्पाई समूह" कहा है, जिनमें कि ला लैपिल, ला क्वीना, स्पाई, नीडरथल, जिब्राल्टर, क्रापिना और ले मूस्तियर में पाये गये कपाल प्रमुख उदाहरण हैं।

(ग) **"एहरिंग्सडोर्फ समूह"** (Ehringsdorf group) जिसमें कि एहरिंग्सडोर्फ कपाल के अतिरिक्त ताबून, स्टीन्हाइन और अन्य स्थानों में प्राप्त कपाल भी सम्मिलित हैं।

(घ) **"आधुनिक मानव के सबसे निकट समूह"** जिसमें कि टी० डी० मैकाउन और सर आर्थर कीथ द्वारा खोजे गये स्खूल माउंट कार्मेल की प्राप्तियां और गेलिली का कपाल सम्मिलित हैं। १९२० के दशक के अन्त की खोजों ने इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर बाध्य किया कि नीडरथल मानव से **मेधावी मानव** तक संक्रमण क्रमिक था और वह दो जीव-जातियों के संघर्ष का, जिसमें कि उनमें से अल्पउन्नत लुप्त हो गये, परिणाम न था। जैसा कि मैकग्रीगर ने लिखा है : "पश्चिमी यूरोप के नीडरथलों से पहले के मानव प्ररूपों में पुरामानवीय लक्षणों के साथ निश्चित नव-मानवीय अर्थात् आधुनिक लक्षणों का मिश्रण **नीडरथल-मानव** की व्याख्या, दोनों प्ररूपों के सम्बन्ध और नव-मानव प्ररूप के उद्गम के बारे में पेचीदा प्रश्न पैदा करते हैं।"[११]

नीडरथल अवशेष सर्वप्रथम १८४८ में जिब्राल्टर में मिले। बहुत बाद तक उनका वास्तविक महत्त्व नहीं समझा जा सका और उक्त नमूने का ब्यौरेवार विस्तृत अध्ययन १९३६ तक न हो सका। वह प्राप्ति जिससे कि इस प्ररूप को यह नाम मिला, १८५६ में डुसेनडार्फ के निकट जर्मनी की नीडरथल घाटी की एक गुफा में मिली। इसे

---

११. जे० एच० मेकग्रीगर, १९३८, पृ० ६८

एक नयी जीव-जाति स्वीकार किया गया और १८६४ में इसका नामकरण हुआ। यद्यपि इस पर बराबर बहुत सालों तक विवाद होता रहा कि क्या यह आधुनिक मानव का एक विकृत उदाहरण था या एक प्रारम्भिक मानव रूप। आज सौ से अधिक व्यक्तियों के अंग, लम्बी हड्डियां और कपाल हमारे पास मौजूद होने के कारण यह प्ररूप हमें इतनी अच्छी तरह ज्ञात है कि केवल इसके सिर का ही नहीं, अपितु समस्त शरीर का पुर्निर्माण किया जा चुका है और नींडरथल स्त्री और पुरुष की मूर्तियां गढ़ी जा चुकी हैं।

इस पृथ्वी पर इस मानव रूप का जीवन लम्बा था। नींडरथल अवशेषों के प्रारम्भिक उदाहरणों को, जिन भूगर्भीय स्तरों से वह प्राप्त हुए हैं, उनके अनुसार एक लाख वर्ष पुरानी तथा बाद वालों को २५ हजार वर्ष पुरानी तिथि दी जा सकती है। इस प्रकार जिस काल में नींडरथल प्ररूप जीवित रहे, वह कालावधि गत हाल के नमूनों की मृत्यु के बाद के समय की अवधि की तुलना में कहीं अधिक लम्बी थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि नींडरथलों और उनके उत्तराधिकरियों, क्रो-मैंग्नन मानवों के बीच की विभाजक रेखा अस्पष्ट हो खींचनी होगी। श्रेष्ठ सम्मति के अनुसार इन दोनों प्ररूपों में मिश्रण (Crossing) केवल सम्भव ही न था प्रत्युत सम्भवतः वह बहुत हद तक घटित भी हुआ। यह पूर्वकल्पना (Hypothesis) इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि संग्रहालयों और प्रयोगशालाओं के कपाल संग्रहों में आज के व्यक्तियों के नमूनों में स्पष्ट नींडरथली गुण प्रकट होते हैं, जोकि उन व्यक्तियों द्वारा ही ले जाये गये हैं, जिनकी शारीरिक विशेषतायें जीवित रहते समय, जिनके साथ वह रहते थे, उनसे स्पष्टतया इतनी भिन्न न थी कि उन्हें मापा जा सके। यह अब निर्विवाद है कि प्रथम प्रकट होने वाले **मेधावी** प्ररूप क्रो-मैंग्नन मानव अनेक पीढ़ियों तक उन नींडरथल प्ररूपों के समकालीन रहे हैं जोकि तुलनात्मक रचनाशास्त्र के आधार पर उनके तात्कालिक पूर्वज हैं।

यह नींडरथल किस प्रकार के जीव थे? इस प्ररूप के अनेक नमूनों में भिन्नताओं के बावजूद पर्याप्त एकतत्त्वीयता है, और जीवित नस्लों की भांति इनका औसत मूल्यों में विवरण दिया जा सकता है। नींडरथल मानव छोटे कदवाला, लगभग ५ फुट ३ इंच ऊंचा था। वह कुछ झुका हुआ था और घुटनों को कुछ मोड़ कर चलता था, जिसका अर्थ है कि वह पूर्णतया सीधा नहीं खड़ा हो पाया था। उसकी बनावट भारी थी, गर्दन छोटी और मोटी थी। उसके बाल जैसाकि उसके पुनरुद्धारों में दिखाया जाता है, थे कि नहीं, यह ठीक नहीं कहा जा सकता, चूंकि बाल मुलायम भागों की भांति समय के साथ पूर्णतः विलुप्त हो जाते हैं। उसका सिर बड़ा था, कपाल खुरदरा था, माथा नीचा, भौंहें उभरी हुई और बिना ठोड़ी का भारी जबड़ा था। उसकी नाक चौड़ी और आंखों के गढ़े बड़े और कपाल की गहराई में जुड़े हुए थे। पहली नजर में उसके पीछे को हटे हुए माथे को छोटे मस्तिष्क के आकार से मिलाने का प्रलोभन होता है, किन्तु तथ्य उसका समर्थन नहीं करते। उसके कपाल (Cranium) का आयतन १२२० से लेकर १६१० घन सेंटीमीटर तक है, जोकि अपने विस्तार और औसत दोनों में आधुनिक मानव से सामान्यतया बढ़ा हुआ है।

(१२) **क्रो-मैग्नन** (Cro-Magnon)—हमारा अन्तिम प्रागैतिहासिक प्ररूप हर मायने में जीवित मानव के समान है। इसे अपना नाम उस चट्टानी गुफा से जोकि दक्षिणी फ्रांस के ले ईजी ग्राम में जहां इस प्ररूप की पहली खोज हुई थी, मिला। इस बारे में कभी संदेह नहीं उठा कि यह **मेधावी मानव** की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति थी। १६३५ में स्वांसकोम्ब (इंग्लैण्ड) में मध्य प्रतिनूतन प्रक्षेप (Deposit) में मिले कपाल के कुछ भागों की खोज के बाद से यह माना जाने लगा कि पृथ्वी पर उसका जीवन इस प्ररूप से अधिक पुराना था। स्वांसकोम्ब यदि **मेधावी मानव** नहीं तो कम-से-कम नींडरथल रूपों की तुलना में आधुनिक मानव के अधिक निकट था।[१२] क्रो-मैग्नन की पहली खोज के बाद से इस प्ररूप की कहीं अधिक कंकालीय सामग्रियां और कपाल खोदे जा चुके हैं, जिससे हमें उसकी शारीरिक विशेषताओं का पर्याप्त पूर्ण ज्ञान है। पुरुष लम्बे थे, उनमें से कुछ छः फुट तक थे। आधुनिक मानव-प्राणियों में लिंग-भेद सुलभ कद की भिन्नता की तुलना में भी क्रो-मैग्नन स्त्रियों की तुलना में वह कहीं अधिक लम्बे थे। आधुनिक मानव की तुलना में उनका औसत कपालीय आयतन अधिक था। उनका माथा ऊंचा, ठोड़ी निकली हुई और चेहरे का कोण सीधा था जोकि प्रारम्भिक बाहर निकले हुए जबड़ों वाले रूपों से बिल्कुल भिन्न था।

उक्त प्रारम्भिक रूपों के किन परिवर्तनों ने वर्तमान नस्लों को जन्म दिया, हम नहीं जानते। कुछ विद्वान् क्रो-मैग्नन को काकेसायड (यूरोपियन) प्रकार से जिससे कि सचमुच वह बहुत मिलता है, सम्बन्धित करते हैं। नीग्रायड नस्ल को कभी-कभी १८७४–७५ में मोनाको के समीप खुदाई में मिले ग्रीमाल्डी कंकालों के पूर्वजों का रूप माना जाता है। वस्तुतः यह और चेकोस्लोवाकिया में ब्रुन और प्रेडमोस्ट स्थानों की खुदाई में मिले नींडरथल-क्रो-मैग्नन अवशेष यह दर्शाते हैं कि आज से पच्चीस हजार साल पहले रहने वाले मानवों के शारीरिक प्ररूपों में भी स्पष्ट भिन्नतायें थीं। वीडनराइख का मत है कि मानव जाति के नस्ली विभाजनों को प्रतिनूतन युगों के मध्यनक देखा जा सकता है। वह "वानर-मानव से लेकर सोलोनी मानव और निखातक आस्ट्रेलियन प्ररूपों से गुजरते हुए आधुनिक आदिवासी आस्ट्रेलियन नस्लों में एक निरन्तरता" का जिक्र करता है। "ऐसा लगता है कि रोडेशियन मानव फ्लोरिस्बाद मानव के प्ररूपों द्वारा आज की कुछ दक्षिण अफ्रीकी नस्लों से जुड़ा हुआ है"।[१३] नस्ली भिन्नताओं के महत्त्व में इस युक्ति के निष्कर्ष अत्यन्त गम्भीर हैं, किन्तु यह निष्कर्ष अभी काल्पनिक ही हैं। इस प्रकार जब डोबजांस्की[१४] इन खोजों के आधार पर यह युक्ति देता है कि विद्यमान मानव की सब नस्लें एक ही जाति से निकली हैं, तो रगल्स गेट्स[१५] इन्हीं न्यासों के आधार पर कहता है कि वर्तमान नस्लें भिन्न जातियों को दर्शाती हैं।

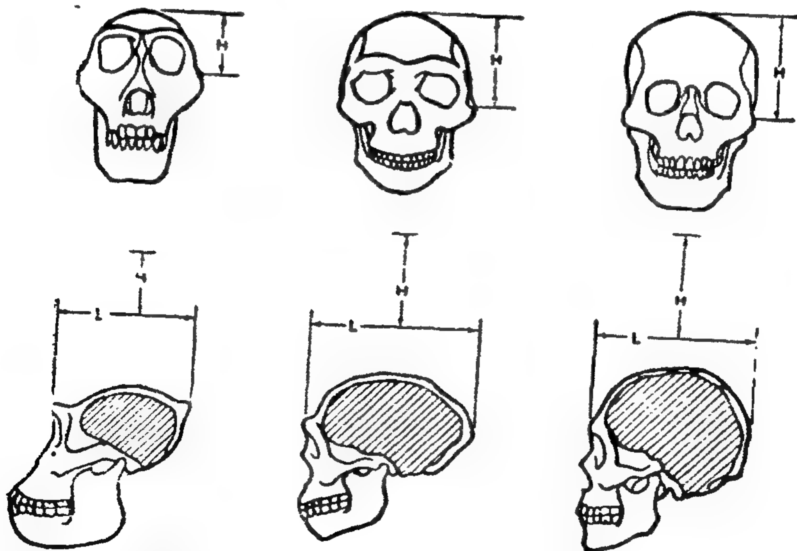
---

१२. जी० एम० मोरांट और अन्य, १९३८
१३. एफ० वीडनराइख, १९४३, पृ० २७६
१४. टी० डोबजांस्की, १९४४
१५. टी० डोबजांस्की, १९४४

४

इससे पहले कि हम प्रागैतिहासिक काल में संस्कृति पर विचार करें, इस संक्षिप्त चर्चा के कुछ निष्कर्षों की ओर निर्देश आवश्यक है। सबसे पहले हम मानव विकास की प्रक्रिया की जटिलता का जोकि हम जब भी मोटी रूप-रेखा से आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं, अनेक कठिनाइयां उपस्थित करती है, पुनः पुष्टि करते हैं। यह स्पष्ट है कि अल्पाधिक मानवसम-रूपों से यह विकास की प्रक्रिया शुरू हुई। वर्तमान मानवसम और मानव रूपों के तुलनात्मक विश्लेषण तथा मानवसम पूर्वजों के अध्ययन के आधार पर समान रूप से मानव प्राणिशास्त्रीय क्रम का एक सम्पूर्ण विकसित सदस्य सिद्ध होता है।

जब हम कपालीय आयतन जैसे महत्त्वपूर्ण मानवीय लक्षणों की तुलनात्मक संख्याओं पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है। यह स्मरण रहे कि दीर्घतर मस्तिष्क का विकास जोकि मस्तिष्क के खोल के आकार से व्यक्त होता है, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है जो कि मानव को अन्य रूपों से पृथक् करता है। तुलनात्मक प्रयोजनों के लिए कपालीय आयतन विशेषकर उपयोगी है, चूंकि कपाल का ऊपरी हिस्सा चेहरे की कंकालीय संरचना और उन अन्य भंगुर कोमल हड्डियों की तुलना में जो शरीर के ढांचे, व हाथ पैरों को बनाती हैं, प्रायः अधिक सुरक्षित स्थिति में पाया गया है।



रेखाचित्र ३—गोरिल्ला, चीनी मानव और मेधावी मानव (चीनी) के कपाल; कपाल की ऊंचाई और लम्बाई के अन्तरों को दिखाते हुए, (वीडनराइख के आधार पर, १९४६ रेखाचित्र ९ व ३२), इस रेखा चित्र में H से ऊंचाई व L से लम्बाई का निर्देश है।

अब हम पुनः वीडनराइख द्वारा संकलित विभिन्न मानव और मानवीय प्ररूपों के कपालीय आयतन पर विचार करेंगे।

	अल्पतम-अधिकतम मूल्य	औसत
मानवसम	३००– ५८५ सें०	४१४ सें०
वानर मानव	७७५– ९००	८६०
चीनी मानव	९१५–१,२२५	१,०४३
सोलोनी मानव	१,०३५–१,२२५	१,१००
नीन्डरथल	१,२२०–१,६१०	१,४००
आधुनिक मानव	१,२२५–१,५४०	१,३००[१६]

या, इस परिवर्तन की नियमितता (Consistency) के अन्य उदाहरण के रूप में कपाल की ऊंचाई और उसकी लम्बाई के देशनांक को उद्धृत किया जा सकता है। यहां पर सिर की अधिक ऊंचाई अधिक बड़े चित्र द्वारा दिखाई गयी है। छोटा कपाल जोकि प्राय: बिना माथे के है, मानव के विरुद्ध मानवसम जीवों की प्रमुख विशेषता है।

	अल्पतम-अधिकतम मूल्य	औसत
मानवसम	५०.६–५६.२	५४.०
वानर मानव	—	६४.२
चीनी मानव	६७.७–७१.६	६९.४
सोलोनी मानव	६५.५–७४.६	६९.०
नीन्डरथल	६४.४–९२.०	७७.७
आधुनिक मानव	८४.३–९८.४	९१.०[१७]

कुछ गुण आधुनिक मानव की विशेषताओं को दूसरों की अपेक्षा पहले व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, दांतों को जबड़े से बहुत पहले मानवीय रूप मिला। किन्तु अन्य गुण, जैसे कि चेहरे का कोण, या भौहों का उभार, या टांगों की हड्डियों से निर्दिष्ट अधिकाधिक सीधा खड़े होने की स्थिति पुराने नमूनों की तुलना में नये नमूनों में आधुनिक मानव के क्रमशः अधिक समीप हैं।

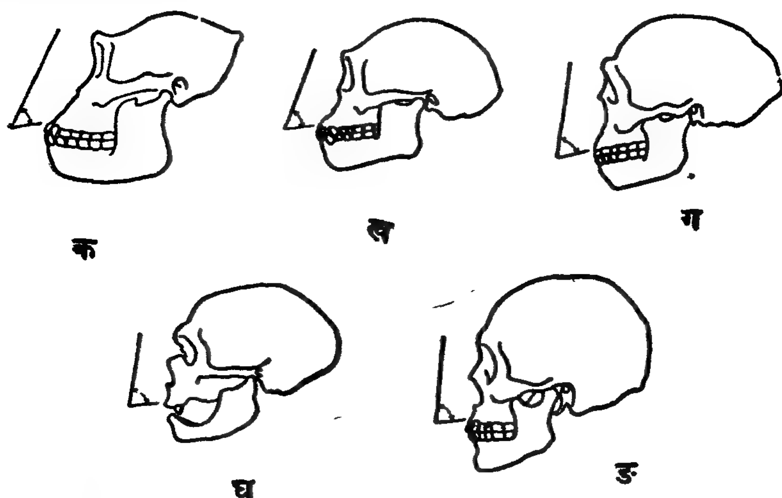
तथापि हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि हम विकास की प्रक्रिया को "निम्नतर" से "उच्चतर" के रूप में न सोचें, या इस प्रकार के मूल्य निर्दिष्ट करने वाली अवधारणाओं का उपयोग न करें। यह ध्यान देने योग्य है कि हमने अपनी चर्चा में आदि-

---

१६. एफ० वीडरनाइख, १९४३, पृ० १२०। वीडनराइख ने यह नहीं बताया कि उसने अंतिम औसत कैसे निकाली है। आर० मार्टिन ने, जिसकी पुस्तक शारीरिक मानव-शास्त्र पर प्रामाणिक रचना मानी जाती है (पृ० ७४६) इससे बढ़े हुए अधिकतम और अल्पतम दिये हैं तथा यूरोपियन पुरुषों के लिए १४५० तथा स्त्रियों के लिए १३०० सी० सी० की औसत दी है। वीडनराइख ने स्वयं (१९४६ पृ० ९४) आधुनिक मानव के लिए १५०० सी० सी० की संख्या को देते हुए इस बढ़े हुए औसत को स्वीकार किया है, लेकिन वह अनुभव करता है कि समस्त नस्लों के पुरुषों की सम्मिलित औसत १३०० सी० सी० से कहीं अधिक है।

१७. वहीं, पृ० १२१

कालीन जैसे शब्द का प्रयोग भी जोकि बाद के प्राणिक रूपों की तुलना में प्रारम्भिक प्राणिक रूपों को बताने के लिए उचित शब्द है, नहीं किया है।



रेखाचित्र ४––मानवसमों (Anthropoids) से होमीनिड (Hominid) द्वारा मानव तक चेहरे के कोण की वृद्धि। (क) मादा गुरिल्ला, (ख) ऊर्ध्ववानर-मानव, (ग) पेकिनोय चीनी मानव, (घ) नींडरथल मानव, (ला शैंपिल आ सेंत), (ङ) मेधावी मानव (आधुनिक चीनी)।

इससे भी बढ़कर, मानव उद्विकास की इस लम्बी और दिलचस्प कहानी का संस्कृति के उन क्रमिक परिवर्तनों से सहसम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता जिनपर कि हम अगले अध्याय में विचार करेंगे। जब हम इस सम्बन्ध पर मोटे तौर से विचार करते हैं, तब भी यह सम्बन्ध सहसम्बन्ध का केवल एक अनुमानमात्र है और इसकी विद्यमानता भी संदिग्ध है। मोवियस जब इस तथ्य पर जोर देता है कि पुरातत्त्वशास्त्र का क्षेत्र, यद्यपि वह प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों का उपयोग और समन्वय करता है, समाज विज्ञानों से सीधा सम्बन्धित है तो उसका यही अभिप्राय है।[१८] वानर-मानव जैसे प्रारम्भिक रूप ने भी पत्थर के औजार बनाने की टैक्नीक विकसित की, जबकि चीनी मानव को आग के प्रयोग का पता था। यूरोप में जबकि उच्च पुरा-पाषाणकाल में चित्र-कला का निरन्तर विकास हुआ, नवपाषाण काल के प्रारम्भ में यह विलुप्त हो गई और इसका स्थान अत्यन्त भोंडे प्रकार की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति ने ले लिया। शारीरिक और सांस्कृतिक परिवर्तन एक-दूसरे से इतने स्वतंत्र थे कि कुछ विद्वानों ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि अनेक पत्थर के औजार बनाने वाले विभिन्न मानव रूपों

---

१८. एल० एस० मोवियस, जू०, १९४४, पृ० ८

की तुलना में उन औजारों में अभिव्यक्त संस्कृतियां अपेक्षया स्थिर थीं, परन्तु मेधावी मानव के अवतरण के बाद अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्पकाल में ही संस्कृति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि वर्तमान जीवन-रीतियां मानव नियंत्रण की शक्ति के बाहर जा सकती हैं।

दोनों मतों की सत्यता के विवाद में पड़े बिना यह कहा जा सकता है कि मानव के विकास की कहानी उन्हें बहुत थोड़ी सामग्री देती है जो शारीरिक प्ररूप और संस्कृति के बीच सहसम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को संस्कृति के सृजन और उपयोग के लिए मस्तिष्क, जीभ और हाथों की जरूरत थी। परन्तु एकबार शुरू होने पर संस्कृति निर्माण का कार्य सीखने के आधार पर, जारी रहा, न कि मूल-प्रवृत्ति से। और इसका यह अर्थ है कि किसी निर्दिष्ट क्षण में, प्रारम्भिक रूपों की संस्कृतियों में भी व्यवहार की स्वीकृत रीतियां थीं, जोकि उनके परम्परागत आधारों से विकसित हुईं और जिन्होंने उनके अनुसार जीवन बिताने वाले मानव समूहों को अपने प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण की आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बनाया।

अध्याय तीन

संस्कृति का प्रागैतिहासिक विकास

मानव के शारीरिक विकास के पुनर्निर्माण के कठिन कार्य में विद्यार्थी संरचना के तर्कशास्त्र और विकासवादी प्रक्रिया की नियमितता से सहायता ले सकता है। परन्तु प्रागैतिहासिक संस्कृति के विकास के अध्ययन में हमें ऐसी कोई सहायता सुलभ नहीं है। जबकि पृथ्वी में, एक चकमक (Flint) पत्थर की कतरन का नोकीला औजार मिलता है, इसका इससे अधिक कोई अर्थ नहीं निकलता कि कोई मानव प्राणी इसे बनाने या प्रयोग में लाने के लिए विद्यमान था। पर यह किसलिए व कैसे इस्तेमाल किया जाता था इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। हो सकता है कि इसे एक लम्बी पतली छड़ी के अग्रभाग में लगाकर तीर की तरह इस्तेमाल किया जाता हो, या हो सकता है कि उसे हाथ से फेंका जा सकता हो या आग जलाने के काम में लाया जाता हो, या यह किसी धार्मिक कृत्य में प्रयोग की वस्तु रही हो।

मानव निर्मित वस्तुओं के, या जिन्हें पुरातत्वशास्त्र में उपकरण (Aartifacts) कहा जाता है, प्रयोग में भिन्नता की सीमायें प्रागितिहासकार के सम्मुख संस्कृति के उद्गम और विकास को समझने के अभियान में उसकी समस्याओं की केवल शुरूआत है। इसलिए यह समझना अनिवार्य है कि निष्कर्ष कब तथ्यों पर और कब वह तथ्यों के अनुमान पर आधारित पूर्वकल्पनाओं पर आधारित है।

एक उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। दक्षिणी फ्रांस के दार्दोन प्रदेश में त्रो फ्रेयर की गुफा की गहराई में मैग्डेलेनियन काल का एक प्रसिद्ध भित्तिचित्र है जोकि शायद बीस हजार वर्ष पुराना है। यहां दी गयी अनुकृति में यह देखा जा सकता है कि यह आकृति (Figure) जिसके हिरण जैसे, सींग, सिर और शरीर हैं, मानवीय पैरों पर सीधी खड़ी हुई है। इस गैलरी की दूरी, यह तथ्य कि यह दीवार की बहुत ऊंचाई पर अंकित है और इस गैलरी में लोगों के न रहने ने पुरातत्वशास्त्रियों को यह कल्पना करने के लिए बाध्य किया कि क्या यह अलौकिक शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए एक प्रतीक तो न था। यह इतना तर्कसंगत लगता है कि यह आकृति एक जादूगर के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है और इसे त्रो फ्रेयर के जादूगर का नाम दिया गया है।

इसके क्या तथ्य हैं? यह चित्र विद्यमान है और इसकी दूरी एक तथ्य है। यह गुफा मनुष्यों के रहने के काम न आती थी यह भी निश्चयात्मक तथ्यों से अनुमान किया जा सकता है। चूंकि इस गुफा में रिहायश की साक्षियां, जैसे कि आग और चबाई हुई हड्डियों के अवशेष अनुपस्थित हैं। बाकी सब अनुमान आज विद्यमान आदि-वासी लोगों के रिवाजों पर आधारित हैं फिर भी हम प्रागितिहास की लोकप्रिय रचनाओं में पढ़ते हैं कि त्रो फ्रेयर की गुफा में रहने वाले मेगडेलनीय लोग जादू का प्रयोग करते थे।

अपनी सीमाओं में अनुमान एक कारगर और उपयोगी साधन है। इस प्रकार मूस्तरियन काल की उन गुफाओं में जिनमें मनुष्य रहते थे, बहुत गहराई तक आग के



रेखाचित्र ५ : त्रो फ्रेयर की गुफा का "जादूगर", आरीज, फ्रांस। (मैकार्डी के आधार पर, १९२४ रेखाचित्र १५१, काउंट बेगाऊं के फोटोग्राफ से)

अवशेष मिले हैं। इनमें से कुछ गुफाओं में मानव कंकाल भी विद्यमान हैं। कुछ हड्डियों पर गेरू के धब्बे हैं, और एक कंकाल के साथ एक घोड़े की जांघ की हड्डी और सुन्दर कामदार चकमक पत्थर का औजार भी मिला है। राख की गहराई केवल यह सिद्ध करती है कि यह गुफा दीर्घकाल तक निरन्तर रहने के काम में आती रही है। अगला अनुमान भी उतना ही बलवान् है कि राख को इतनी गहराई तक छोड़ने के लिए उसके रहने वालों ने एक सामाजिक समूह का निर्माण किया और वह भी दीर्घकाल तक निरन्तर कायम रहा। कंकाल की स्थिति इसका संकेत करती है कि वह उसी जगह दफनाया गया था जहां वह मिला है। स्पष्ट है कि मांस के नष्ट हो जाने के बाद गेरू हड्डियों पर जम

गया होगा। इसका अर्थ हुआ कि दफनाये जाने से पहले शरीर को सजाया जाता था और घोड़े की जांघ और पत्थर का उपकरण भी उसके साथ दफनाये जाते थे। तब हम यह भी मान सकते हैं, जैसा कि बहुत-से जीवित जनसमूहों में अब भी रिवाज़ है कि इन वस्तुओं के रखने का उद्देश्य मृतक व्यक्ति को भोजन और सुरक्षा प्रदान करना था। चूंकि अधिकांश संसार में मृतकों की पूजा (Cult of the dead) धर्म का एक अभिन्न अंग है, परिणामतः यह माना जा सकता है कि यह बहुत पुरानी है। और हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि मृत्यु के बाद जीवन में किसी प्रकार का विश्वास और इस प्रकार किसी प्रकार की धार्मिक अवधारणा इस प्रारम्भिक समय में भी विद्यमान थी।

फिर भी इस बात पर जोर देना जरूरी है कि जब हम यह मानते हैं कि उक्त गुफा में कई पीढ़ियों तक एक सामाजिक समूह का निवास रहा, इस बात का कोई दावा नहीं किया गया कि यहां एक पुरुष के पास एक पत्नी थी या अनेक, या एक स्त्री के पास एक पति था या अनेक; या वहां किसी प्रकार का पारिवारिक जीवन भी था या नहीं, और या वहां समस्त समूह कामाचार (Promiscuity) का जीवन बिताता था। इसी प्रकार इस समाज में उस व्यक्ति की, जिसकी समाधि का हमने जिक्र किया है, क्या स्थिति थी, यह भी हम कभी नहीं जान सकते। हम सफलतापूर्वक यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि क्या वह एक लौकिक मुखिया था या एक धार्मिक नेता था। न ही हम इन लोगों के विश्वासों की प्रकृति के बारे में कोई अनुमान कर सकते हैं। वहां केवल गुफा, राख के ढेर, हड्डियां और उपकरण हैं। वह केवल एक सामाजिक जीवन और कम-से-कम उस व्यक्ति के, जिसके अवशेष मिले हैं, मृत शरीर की औपचारिक अन्त्येष्टि को सिद्ध करते हैं।

सारांश में, हम देखते हैं कि अनुमान को छोड़, प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व हमें मानव शारीरिक प्ररूप के विकास की कहानी और उसकी भौतिक संस्कृति के कुछ पहलुओं के अतिरिक्त, और अधिक कुछ नहीं बताता। मानव सभ्यता के अदृश्य तत्त्व इतने अधिक हैं कि उनका पुनरुद्धार कभी संभव नहीं। भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में भी, प्रारम्भिक कालों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान निर्जीव जड़ पदार्थों से बनी चीजों तक ही सीमित है। आदिमानव प्रायः गुफाओं में बसता था, पर वह खुले प्रदेश में भी रहता था। क्या उसके पास खालों के तम्बू थे? क्या वह खालों का प्रयोग भी करता था? क्या वह लकड़ी के बर्तन बनाता था? जब तक कि हमें अकस्मात् जीवित सामग्री से बना कोई निखातक उपकरण नहीं मिलता, जोकि इन प्रश्नों का उत्तर दे, हम कल्पना के अलावा अधिक कुछ नहीं कर सकते।

यह और भी मार्के की बात है कि ऐसे आंशिक न्यासों से और इतने थोड़े समय में पुरातत्त्वशास्त्री, मानव और उसकी संस्कृति के विकास का चित्र दे सके। इस चित्र में, विशेषतः जहां कि विशिष्ट क्षेत्रों में संस्कृति के विकास का प्रश्न है, खाली स्थान मौजूद हैं, किन्तु ये इस सफलता के महत्व को कम नहीं करते। मानव के प्रागैतिहासिक अतीत के विषय में हमें पर्याप्त मालूम है जो इस विश्वास को पुष्ट करता है कि इस कहानी में

जो-कुछ अब तक लिखा जा चुका है उसकी मुख्य रूप-रेखा में किसी गंभीर संशोधन की आशंका नहीं है। संसार के अन्य भागों की तुलना में यूरोप में अधिक विस्तार से प्रागैतिहासिक स्थानों की छानबीन की जा चुकी है, और यह इस बात को व्यक्त करता है कि पुरातत्त्वशास्त्रियों को, जिनके अध्ययन यूरोपीय-अमरीकी वैज्ञानिक विचारधारा की विस्तृत धारा का एक अंश मात्र हैं, बाहर की अपेक्षा अपने देश में कार्य करना सुगम प्रतीत हुआ। यही कारण है कि पुरापाषाण कालों की अत्यधिक पुरातत्त्व सामग्री फ्रांस से प्राप्त हुई है, चूंकि यहीं पर वैज्ञानिक प्रागितिहास विकसित हुआ और यहां अध्ययन के लिए प्राप्त समृद्ध स्थानों में गहन गवेषणा का खूब विकास हुआ और इन्हीं कारणों से अफ्रीका की अपेक्षा अमरीका का पुरातत्त्व अत्यन्त बेहतर स्थिति में है।

२

समस्त प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के लिए वर्गीकरण का एक क्रम तैयार करना संभव नहीं हुआ है। जैसाकि प्रागैतिहासिक घटनाओं के समस्त अध्ययनों में होता है, अपनी सामग्री के अध्ययन के लिए हम भूगर्भीय कालों के अनुसार एक विश्वसनीय समय-सारिणी ठीक कर लेते हैं। यूरोप में विभिन्न हिमीकरणों ने वह अवशेष छोड़े हैं जिनका काल-निर्धारण सरल है। किन्तु संसार के अनेक अन्य भागों, विशेषतः उष्णकटिबन्ध के क्षेत्रों के लिए, ऐसी समय-सारिणी विद्यमान नहीं है। और फिर, जैसाकि हम मानव के शारीरिक विकास की कहानी की चर्चा करते हुए देख चुके हैं, अधिक खोजें अधिक जटिलतायें उत्पन्न करती हैं। परिणामतः, यूरोपीय प्राग्-इतिहास पर आधारित पहला कालक्रम जो कि बहुत समय तक सर्वत्र लागू समझा जाता था, अफ्रीका या एशिया में वह सही नहीं पाया गया, नयी दुनिया का तो कुछ कहना ही नहीं, जहां कि मानव की रिहायश अपेक्षया बहुत हाल की है।

अखिल विश्व कालक्रम (Sequence) की कठिनाइयों का मोवियस ने बहुत अच्छी तरह से उल्लेख किया है, वह कहता है :

"पिछले दस सालों में एशिया में प्रकाश में लायी गयी सामग्री ने पुरापाषाण पुरातत्त्व की समस्या के लिए एक नया दृष्टिकोण दिया है—चूंकि सुदूरपूर्व में पश्चिमी यूरोपीय शास्त्रीय कालक्रम अनुपस्थित है, अतः यह स्पष्ट है कि निम्न पुरापाषाणकाल की ऊषा वेला में हमें संस्कृतियों के उन स्वतंत्र समूहों पर जिन्होंने विकास के भिन्न प्रतिमानों का अनुसरण किया, विचार करना पड़ता है। प्रत्येक में पत्थर के औजार जोकि शायद पांच हजार साल तक प्रयुक्त होते रहे, उन के बनाने व घड़ने की प्रविधि व उनके स्वरूप के आधार पर निर्णीत परिवर्तन की दर अत्यन्त भिन्न है।"[1]

परिणामतः निम्न पुरापाषाण काल में, जिन्हें कि उसने पश्चिम की "हाथ कुल्हाड़ी की संस्कृतियां" और पूर्व की "खुरचने वाले यंत्रों" (Chopping tools) की संस्कृतियां कहा है, यह पूर्व और पाश्चात्य का भेद बताती हैं। उसने इन दो विस्तृत

---

१. एच० एल० मोवियस, जूनियर, १९४४, पृ० १०४–५

क्षेत्रों के प्रारम्भिक लोगों की समग्र सांस्कृतिक सज्जा में से केवल उन अनष्ट औजारों के आधार पर जोकि सुरक्षित रहे हैं, यह वर्गीकरण किया है।

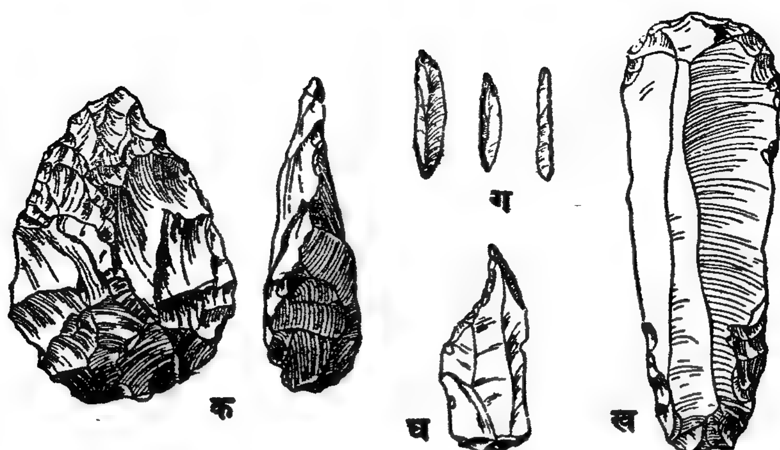
बहुत सालों तक प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का स्वीकृत वर्गीकरण इस प्रकार था : पुरापाषाण (Paleolithic), मध्यपाषाण (Mesolithic) या संक्रमणकालीन, नवपाषाण (Neolithic) युग और कांस्य और लौह-युग। पुरापाषाण निम्न मध्य और उच्च इन तीन भागों में विभक्त था। परन्तु १९२५ के बाद हुए शोध कार्य से यह पता चला कि परम्परागत अर्थ में यह वर्गीकरण यूरोप तक के लिए भी, ठीक नहीं है। गैरड कहता है :

"पुरानी व्यवस्था में पुरापाषाण संस्कृतियां समानान्तर विभागों में सीधे अनुक्रम में ठीक उसी तरह प्रकट हुई जैसा कि भूगर्भीय छेदन (Section) के चित्र में होता है। प्रागैतिहासिक अश्रणियों के अनुसार यह संस्कृतियां एक में से एक सिलसिलेवार ऊपर उठती रहीं, और यह मान लिया गया कि वह समस्त विश्व में मानव प्रगति के इतिहास की मंजिलों को दर्शाती हैं। आज प्राग्-इतिहास को भी उन्नीसवीं शताब्दी के व्यवस्थित ब्रह्मांड के अनेक अंगों के दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा है। नये ज्ञान ने हमारी दृष्टि को एक नया मोड़ दिया है और हमारी चकित आंखों के सामने अभी भी पुराना चित्र टूट रहा है। और नये प्रतिमान की मुख्य रूप-रेखा प्रकट होती दिखाई दे रही है। हम पुरापाषाण युग में प्रमुख महत्त्व के तीन सांस्कृतिक तत्त्वों को पृथक् कर सकते हैं। यह तथाकथित हाथ की कुल्हाड़ी के उद्योगों, कतरन (Flake) उद्योगों और फलक (Blade) उद्योगों में व्यक्त हुए हैं और हम जानते हैं कि इनमें से कम-से-कम प्रथम दो, जहां तक हम देख सकते हैं साथ-साथ चलते हैं। और हम यह अनुभव करने लगे हैं कि तीसरे के उद्गम को भी जितना हम समझ रहे थे उससे कहीं पीछे, खोजना होगा। केवल क्षणिक चिन्तन यह देखने के लिए पर्याप्त है कि यहां भी पुरापाषाण काल के निम्न, मध्य और उच्च यह तीनों पुराने विभाजन मौजूद हैं, किन्तु इसकी धुरी नयी है। हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि हम इन विभागों को अति कठोर न बना दें। वस्तुतः यह संस्कृति-धारायें न तो समानान्तर और न स्वतंत्र चलती हैं। मानव इतिहास का ऐसा दृष्टिकोण एक बेहूदा कृत्रिमता होगी। वह निरन्तर एक-दूसरे से मिलती और एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं और कभी-कभी वह एक नयी परत चढ़ाने के लिए साथ हो जाती हैं।"[२]

इस प्रकार हम पश्चिमी यूरोप में मानव संस्कृति के प्रागैतिहासिक विकास को उस प्रक्रिया का, जिसके द्वारा मानव जीवन की उस अवस्था में पहुंचा जिसमें कि उसे इतिहास का पर्दा ऊपर उठने पर पाया गया है, एक उदाहरण मान सकते हैं। हजारों पीढ़ियों तक वह पालतू पशु या पहिये या कृषि या मिट्टी के बर्तनों के बिना रहा है, धातु के औजारों का तो कहना ही क्या है। फिर मनुष्य को चकमक के चाकू पर अच्छी धार देना सीखने में ही सैकड़ों पीढ़ियां लग गयी। उसकी भोंड़ी से भोंड़ी सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति को स्थायी रूप देने में हजारों वर्ष बीत गये।

---

२. डोरथी ए० ई० गैरड, १९३८, पृ० १



रेखाचित्र ६—खड़, कतरन और फलक के औजार। (क) अशुलियन हाथ की कुल्हाड़ी, (ख) परवर्तीकालीन रांपी, (ग) परवर्तीकालीन पीठवाले फलक, (घ) नक्काशी का औजार (Graver) (बरकिट १९३३ और लीकी १९३४ के आधार पर)

पृष्ठ ३८ पर दी गयी प्रागैतिहासिक सहसम्बन्धों की तालिका को इस चर्चा के बीच बारम्बार देखना जरूरी है। इसमें पुरानी और बाद की गवेषणाओं के परिणाम-स्वरूप संशोधित दोनों शब्दावलियों को दिया गया है। जैसा कि हमारी तालिका से स्पष्ट है, पुरापाषाण काल की अवधियों को बताने वाली शब्दावली में सबसे बुनियादी संशोधन हुए हैं। इसका यही कारण नहीं है, जैसाकि गैरड के उद्धरण से संकेत मिलता है, अपितु समस्त वैज्ञानिक गवेषणा में एक समस्या के समाधान के लिए निरन्तर अनु-संधान उस समस्या के नये पहलुओं को प्रकाश में ला देता है और बहुसंख्यक नये न्यासों के प्रकाश में पहले समाधानों को अपूर्ण सिद्ध कर देता है। इसके अलावा यूरोपीय प्राग्-इतिहास के मामले में एक और विशिष्ट तथ्य कार्य करता रहा है; वह है यह अनुभति कि प्रागितिहास-शास्त्री संस्कृतियों का नहीं, बल्कि उद्योगों का अध्ययन करता है। प्राप्त न्यासों की प्रकृति ने इसके लिए मजबूर किया, क्योंकि मानव के प्रारम्भिक जीवन के अदृश्य तत्त्वों का पुनरुद्धार नहीं किया जा सकता, इसलिए केवल अनाशवान् सामग्रियां ही जो हमें उपलब्ध हैं उनका अध्ययन करना चाहिए।

पुरापाषाण खुदाई के स्थानों में मिले मुख्य प्रकार के औजारों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। इस काल के प्रारम्भिक और दीर्घतम भाग में खड़ (Core, chopping) और कतरन (Flake) प्रकार विद्यमान हैं। बाद के अंश का विशिष्ट औजार पत्थर का फलक (Blade) है। यह नया नामकरण, इनमें से अन्य प्रकारों की तुलना में, किसी एक प्रकार के औजार की प्रभुता के आधार पर—चूंकि किसी भी अवधि में कोई अकेला विद्यमान नहीं है—किया गया है। इस साधन के द्वारा प्रागैतिहासिक न्यासों के लिए एक सम्पूर्ण नामों का क्रम बन चुका है, जिस के अन्तर्गत विशिष्ट खुदाई स्थानों के

नाम पर स्थानीय भिन्नताओं को पहचाना जा सकता है या भविष्य में बाद की प्राप्तियों के अनुसार उनका नामकरण किया जा सकता है।

चाइल्ड ने इन बुनियादी रूपों को उत्पन्न करने वाले चकमक को प्रयोग में लाने की टैक्नीकों का अति स्पष्ट संक्षिप्त विवरण दिया है। वह कहता है "खड़ के औजार किसी चट्टान के बड़े टुकड़े या खड़ को ऐसे तोड़ कर कि वह प्रमाणित चार-पांच शक्लों में से किसी एक शक्ल का हो जाय, बनाये गये हैं। इन वस्तुओं को खड़ औजारों या नये नामकरण के अनुसार हाथ की कुल्हाड़ियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।" कतरन के औजारों के बारे में वह कहता है, "ऐसा लगता है कि इसके बनाने वालों ने इस बात की अधिक परवाह नहीं की कि अन्ततः मुख्य टुकड़े या खड़ की क्या शक्ल बनेगी। उनकी मुख्य दिलचस्पी उससे छूटे चिप्पड़ों में थी, जिन्हें वह हाथ कुल्हाड़ियों की अपेक्षा अल्प-एकसमान औजारों में घड़ते थे।" समय बीतने के साथ कुशलता बढ़ी और गांठ (Nodule) जिससे कि टुकड़े अलग करके औज़ार बनाये जाते थे, उसे इस प्रकार से घड़ा जाने लगा कि उससे अधिक सूक्ष्म और कार्यक्षम औजार बनाये गये। उच्च पुरापाषाण युग में मनुष्य ने "चकमक और ओब्सीडियन का इस प्रकार एक खंड बनाना सीखा जिससे एक बार लम्बी प्रारम्भिक तैयारी के बाद एक खड़ से लम्बे और संकरे चिप्पड़ों की, जिन्हें कि फलक कहा जाता है, एक पूरी कतार निकाली जा सके।" इस काल की एक विशेषता नक्काशी के औज़ार (Burin) थी, "एक फलक जिसकी नोक एक छोर की एक कन्नी को अलग कर इस प्रकार से नोकीली की जाती थी कि सिर्फ एक अन्य कन्नी को हटा कर उसे बारम्बार नोकीला किया जा सकता था।"[३]

३

मानव संस्कृति का प्रारंभ एक बड़े विवाद का विषय है। यूरोपीय महाद्वीप और इंग्लैंड में पाये गये और १८८० में नाम दिये गये ऊषा पाषाणों को, प्रारम्भिक मानव द्वारा बनाये व इस्तेमाल में लाये गये औजार-जैसी स्वीकृति कभी नहीं मिली, जैसी कि बाद की प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के उपकरणों को मिली है। प्रश्न यह है कि क्या यह वस्तुतः मनुष्य द्वारा बनाये और प्रयोग किये गये थे या केवल प्राकृतिक तत्त्वों ने ही इन्हें भोंड़े औजारों की तरह दीखने वाली शक्ल दे दी थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बाद के पुरातत्त्वीय स्थानों में मिले औजार मानव-प्राणियों द्वारा बनाये गये थे। सबसे प्रारम्भिक उपकरण वस्तुतः भोंडे थे। इनमें से कुछ हाथ की कुल्हाड़ियां और **चिप्पड़** स्वतः टूटे हुए पत्थरों से मिलते-जुलते हैं। हाथ की कुल्हाड़ी बड़ी हैं और आसानी से संभाली नहीं जा सकतीं, उनकी धारें और नोकें कहने भर को हैं लेकिन कारामद नजर नहीं आतीं। जैसे-जैसे हम निम्न पुरापाषाण युग की बाद की मंजिलों की तरफ बढ़ते हैं, हाथ की कुल्हाड़ियां छोटी और अधिक संतुलित होती जाती हैं, वह हाथ में चौकस बैठती हैं और उनकी धार व नोक खुरचने और काटने के लिए उपयोगी लगती हैं। प्रारम्भिक चिप्पड़ या कतरन उतारने वाले औजारों का

---

३. वी० जी० चाइल्ड, १९४६, पृ० २४, २९–३०

नामकरण की परम्परागत पद्धति		संशोधित शब्दावली (वर्तमान से पहली आनुमानिक तिथियाँ)
		लौह (२,५००-ऐतिहासिक काल)
		कांस्य (३,५००-२,५००)
		नव पाषाण (७,५००-३,५००)
		मध्य पाषाण (एज़ीलियन, टार्डेनोशियन, कैप्सियन,) (२०,०००-७,५००)
उत्तर पुरा पाषाण	मैग्डेलेनियन	फलक उद्योग मैग्डेलेनियन (३५,०००-२०,०००)
	सोल्यूट्रियन	सोल्यूट्रियन (४०,०००-३५,०००) ग्रेवेटियन (५०,०००-४०,०००)
	आरिग्नेशियन	आरिग्नेशियन (६०,०००-५०,०००) चैटलपैरोनियन (७०,०००-६०,०००) (लगभग ७०,००० वर्ष पूर्व) खड़ उद्योग
मध्य पुरा पाषाण	मूस्तरियन	खड़ उद्योग → कतरन उद्योग
निम्न पुरा पाषाण	ऐशुलियन	ऐशुलियन (४३०,०००-१३०,०००) --→ मूस्तरियन (१४०,०००-७०,०००) लैवेलोशियन (२५०.०००-७०,०००)
	क्लेलियन	↑ ↑
	पूर्व-क्लेलियन	ऐबेविलियन (५४०,०००-४८०,०००) क्लैक्टोनियन (५४०,०००-२४०,०००)
		उषापाषाण (?)

रेखाचित्र ७—पश्चिमी यूरोप का प्राग्-इतिहास (गैरड, जोयनर, ब्रैडवुड व अन्यों के आधार पर)

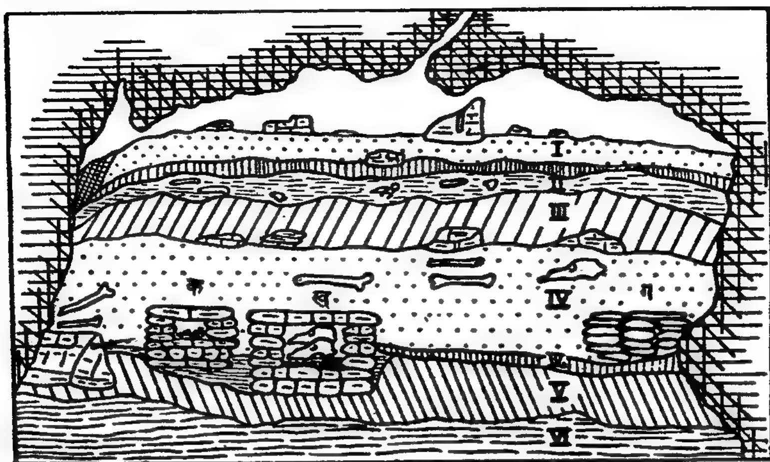
भोंडापन भी प्रारम्भिक खड़ के औजारों के समान है। यह स्पष्ट है कि कतरनें पत्थरों की गांठों (Nodules) से निकलनी चाहिए किन्तु यह किसी भी प्रकार निश्चित नहीं है कि पहली कतरनें खड़ उद्योग की आनुषंगिक उपज थीं। क्लैकटोनियन औजार मुख्यतः कतरन के और एबीविलयन औजार प्रधानतः खड़ के थे। किन्तु क्लैंटोक्नियावासी चिप्पड़ बनाने वालों की, उन खड़ों में जिनसे कि कतरनें निकलती थीं, जाहिरा कोई दिलचस्पी नहीं थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, खड़ की भांति कतरनें बनाने और तैयार करने की टेक्नीकों में भी अधिक कुशलता परिलक्षित होती है।

वह मंजिलें, जिन्हें यूरोप के लिए **पूर्व-शेलियन** और **शेलियन** या **ऐबिविलियन, अश्युलियन** और **क्लैक्टोनियन** और **लेवालोसियन** नाम दिये गये, विभिन्न अनुमानों के अनुसार ढाई लाख से पांच लाख सालों तक कायम रहीं। उस समय में हिमखंडों के आगे बढ़ने व पीछे हटने से सर्दी और गर्मी के परिवर्तनों में जीवन कैसा था, हमें ज्ञात नहीं। इन औजारों को बनाने वाले प्रारम्भिक प्राणियों में सीखने की योग्यता थी, वह किसी भी संग्रहालय में निम्न-पुरापाषाण युग के उपकरणों के क्रम को देख कर जाना जा सकता है। किन्तु संस्कृति के विस्तृत खजाने की ओर, जैसा कि हम उसे जानते हैं, हम केवल विरल रूप से और वह भी निषेधात्मक शब्दों के अलावा, संकेत मात्र भी नहीं कर सकते जैसा कि हम बुनियादी आर्थिक जीवन के विषय में करते हैं। हम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि प्रारम्भिक यूरोपीय निम्न-पुरापाषाण काल के जीवों को आग का पता न था, अन्यथा जहां वह रहते थे वहां राख के चिन्ह अवश्य मिलते। उनके पास कोई पालतू पशु या पौधे न थे, चूंकि उनके पास केवल जंगली रूपों के अवशेष मिले हैं। अन्य उत्तर-पुरापाषाण युग में रहने वाले लोगों की भांति वह शिकारी थे और फल, गिरियों, कन्द-मूलों और रसभरियों को चुनने वाले थे।

मूस्तरियन युग में, जिसे परम्परा से **मध्य-पुरापाषाण** भी कहा जाता था, अब अनेक विशिष्ट उद्योगों को भी सम्मिलित किया जाता है। विशिष्ट मूस्तरियन नाम दक्षिणी फ्रांस के ड्रोदोन प्रदेश की पहाड़ी गुफाओं से, लिया गया है, जिनमें यूरोप के प्राग् इतिहास पर प्रकाश डालने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। यह स्मरणीय है कि मूस्तरियन, जैसाकि पहले भी कल्पना की गयी थी, नींडरथल मानव की संस्कृति थी, जोकि इस रूप से इतना घनिष्ठतया सम्बन्धित है कि उसके लिए मूस्तरियन मानव नाम भी सुझाया गया है। पत्थर की गांठों को तोड़ने के लिए पत्थरों से बनी वेदी के प्रयोग से छोटी और सुन्दर शक्ल की कुल्हाड़ियों का, जोकि उनका अन्तिम रूप थीं, बनाना सम्भव हुआ। इसके बाद पूर्णतया भिन्न औजारों ने, जिनमें से कुछ भिन्न सामग्रियों से बने थे, उनका स्थान लिया।

खुदाई के स्थानों की संख्या, उनमें रहने की अवधि, पशुओं के अवशेष, और कंकालीय सामग्री की अवस्थिति के प्रकार हमें उस समय के जीवन के अन्य पहलुओं का अनुमान करने की अनुमति देते हैं। यह स्पष्ट है कि ये लोग शिकारी थे और आग का प्रयोग करने के कारण, उनका जीवन आग न होने की दशा की अपेक्षा अधिक सुरक्षित था। इस युग के कुछ कंकालीय और सांस्कृतिक अवशेषों में से जोकि साथ-साथ पाये गये हैं, कुछ कंकालीय और सांस्कृतिक अवशेषों की स्थिति और स्थान द्वारा यह अनुमान संभव है कि ये लोग मृत्यु के पश्चात् जीवन में विश्वास रखते थे। ड्रेखनलोख की गुफाओं में, जोकि स्विस आल्पस हिमरेखा से ऊंचे स्थित हैं, मिले गुफावासी रीछ कपालों के अवशेष भी जोकि बहुत-कुछ एक वेदी की भांति सजाये गये हैं, इतने ही महत्त्व के हैं। इस गुफा में ही हमें सबसे पहले हड्डी के कुछ यूरोपीय औजार मिलते हैं। गुफावासी रीछ के पैर की हड्डी इसके लिए पसन्द की जाती थी। वह दो हिस्सों में तोड़ ली जाती थी, टूटी सतह पर पालिश कर ली जाती थी और जोड़ को दस्ते की तरह इस्तेमाल किया

जाता था। और अन्य हड्डियां जिन पर इस्तेमाल करने से निशान पड़ गये हैं, और जो बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं, द्रव पदार्थों के रखने के लिए बर्तनों की तरह प्रयुक्त होती रही होंगी, जबकि हड्डी की खपच्चियां नोकीले अस्त्र का काम देती होंगी।



रेखा चित्र ८—ड्रेखनलोख की गुफा। (क) कोयले के साथ चूल्हा, (ख) वेदी, गुफावासी रीछों के कपालों के साथ, (ग) चपटे पत्थर। रोमन संख्याओं द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न स्तर अनुमानतः रिहाइश की विभिन्न अवधियों के अवशेषों को दिखाते हैं। I और VI में कोई उपकरण नहीं। (मैकर्डी और मैकलर के आधार पर)

४

जैसे हम **उच्च-पुरापाषाण** काल पर पहुंचते हैं, फलक के उपयोग से पत्थर तराशने की टैक्नीक सुधर जाती है और खड़ के औजार प्रायः समाप्त हो जाते हैं। फलकों का उत्पादन अधिकाधिक सूक्ष्म और सही होता जाता है और अन्त में हमें चकमक के छोटे टुकड़े, जिनमें से कुछ आधा इंच से भी कम लम्बे और एक इंच के आठवें भाग से भी कम चौड़े हैं, और जिन्हें बाद में कतर कर (Flaking) और संवार कर पुनः एक तेज धार और तेज नोक दी जाती है, मिलते हैं जोकि निम्न-पुरापाषाण के भोंडेपन से बहुत दूर हैं। हारपून जैसे विशिष्ट औजारों के लिए हड्डी और हाथी दांत का प्रयोग होता था, जबकि यह माना जा सकता है कि छोटे चकमक के नोकीले औजार शायद लकड़ी या हड्डी के दस्तों या डंडों में लगाकर मिश्रित अस्त्रों व औजारों के बनाने के काम आते रहे हों।

यह काल मानव साधनों के विस्तार और गहराई को दर्शाता है, जोकि पत्थर के प्रयोग और हड्डी तथा हाथी दांत के औजारों के इस्तेमाल से आगे बढ़ जाता है। जिस वातावरण में इस काल का क्रो-मैग्नन मानव रहता था, वह क्रूर था। यह अन्तिम हिमीकरण के उत्कर्ष का समय था और इन लोगों को बड़े हाथी (Mammoth), ऊनी खाल वाले गैंडों, गुफावासी रीछों, गुफावासी शेर, गुफावासी चीते, जंगली सूअर और अन्य बड़े जंगली

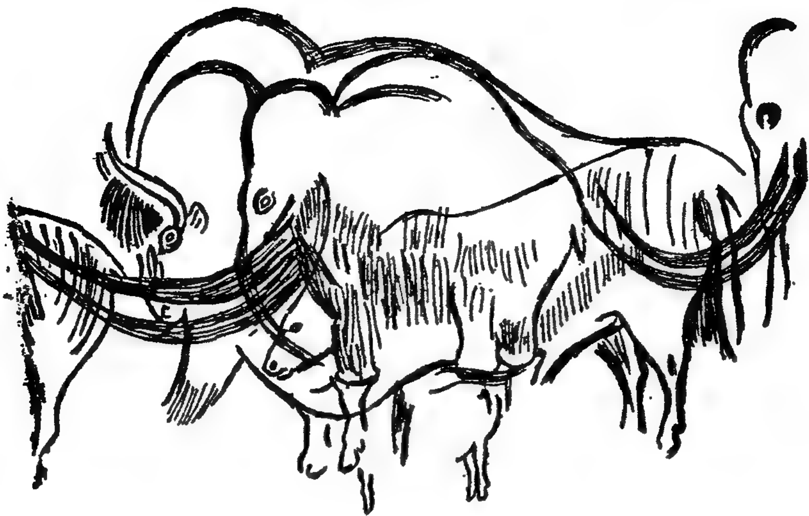
जानवरों का मुकाबिला करना पड़ता था। भाले फेंकने वाले औजारों के समान दीखने वाले औजार मिले हैं, जोकि सम्भवतः कांटेदार हारपूनों को फेंकने के काम आते थे। बसी हुई गुफाओं में बजरी और राख की गहरी ढेरियां यह प्रकट करतीं हैं कि ये गुफायें हिंसक पशुओं और मौसमी परिस्थितियों से सुरक्षा प्रदान करती थीं। सम्भवतः ये लोग मारे हुए जानवरों की खाल के कपड़े पहनते थे और उनके वस्त्र शायद सिये हुए भी होते थे, क्योंकि मैग्डलेनियन खुदाई के स्थानों से बटन और मोचना (Toggle) मिले हैं; जबकि सूवे (Awls) और हड्डी की सुइयां भी विद्यमान हैं। उच्च पुरापाषाण में यह समस्त चीजें नहीं मिलतीं। और इसका प्रत्येक काल अपने पत्थर के उद्योगों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण पृथक् है। **परवर्ती काल** (Aurignacian) के औजारों में (Chatelperronian और Gravettian) किनारा काटने की रांपी (Scraper) और बगल के छीलने की रांपी की प्रभुता है, **सोलूट्रियन** लोगों ने सुन्दर और नाजुक "विजयपत्र" वाले दोनों ओर से कतरे हुए चकमक बनाये, **मैग्डलेनियन** काल के अनेक विशिष्ट औजार और उसका हड्डियों और हाथी दांत का काम महत्त्वपूर्ण है।

यूरोप में उच्च पुरापाषाण की सबसे बड़ी सफलता उसकी कला थी। इस समय से पहले उपकरणों का कोई अलंकरण नहीं मिलता, किसी गुफाओं की दीवारों पर किसी वस्तु को आंकने, व किसी अपक्व डिजाइन को बनाने के लिए रेखाओं को उभारने का प्रयास नहीं मिलता। उच्च पुरापाषाण कलाकारों की श्रेष्ठ सफलतायें किस प्रकार प्रारम्भ हुईं, और कहां उनका उद्गम था, यह अज्ञात है। परवर्ती युग की तीन ओर से दीखने वाली आकृतियां जो कि सबसे प्रारम्भिक नमूनों में से हैं, आकृति के संभालने और सामग्री के संगठन में उस निश्चितता को दिखाती हैं जिसे कुछ ही आधुनिक मूर्तिकार अतिक्रमण कर सकते हैं। इस काल के साथ ये मूर्तियां अन्तर्ध्यान हो जाती हैं और उनके विकास का कोई क्रम निर्धारित नहीं हो सका है। इसके विपरीत, चित्रकला अपक्व रेखाचित्रों या कुशल रेखांकन से क्रमशः विकसित हो बिसन, रेंडियर और बड़े हाथी (Mammoth) के रंगीन प्रभावशाली और यथार्थवादी गुफाचित्रों में विकसित हुई। परवर्ती कामायनियां (Venuses) विशेष रूप से दिलचस्प आकृतियां हैं। इनमें सदा स्त्रीरूप का चित्रण किया गया है। गौण यौन लक्षणों को बढ़ा कर दिखाया गया है, कभी घुंघरीले बाल दिखाये गये हैं, परन्तु चेहरा कभी भी यथार्थतः नहीं चित्रित किया गया है।

रेखांकन और चित्रकला, मूर्तिकला की तुलना में दीर्घ और व्यवस्थित विकास को दर्शाते हैं, पर यह भी अपने चरमोत्कर्ष पर लुप्त हो जाते हैं। जैसे ही मैग्डेलिनियन काल समाप्त होता है, उसकी कला भी समाप्त हो जाती है और मध्यपाषाण युग के खरोंचे गये और भोंडे रंगीन चित्र उसका स्थान ले लेते हैं।[४] इस कला का अनुसरण करते हुए हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रारम्भिक प्रयत्नों द्वारा दृष्टिक्रम (Perspective) की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया गया, पर उसमें विशेष सफलता नहीं

---

४. इस कला के विकास के अन्य पक्षों और इसके द्वारा उत्पन्न कला की कुछ समस्याओं पर अध्याय १३ में विचार किया गया है।



रेखाचित्र ९—मेग्डेलनियन काल के गुफा-चित्रों की एक-दूसरे के ऊपर उतारी हुई रेखानुकृति। इस चित्र में विशन, मैमथ घोड़ा और रेंडियर दिखाई दे रहे हैं। (मैकर्डी के आधार पर १९२४, रेखाचित्र १३०)

मिली।[५] मैग्डेलियन बहुरंगी चित्रों में, बावजूद इसके कि रेखाचित्रों की भांति अनेक समय उन्हें एक-दूसरे के ऊपर बना दिया जाता था, उनमें चित्रांकन की सच्ची अनुभूति है। रेंडियर की हड्डी पर खोद कर बनाये गये चित्रों में पशु का सिर पीछे मुड़ा हुआ दिखाया गया है, जिस डिजाइन को बनाने में कुशलता प्राप्त करना कठिन है और कुछ यष्टिकाओं (Wands) पर पूरा चेहरा और विभिन्न पशुओं की सिर उठाये हुए नक्काशी मिलती है। बारहसिंगों या जंगली घोड़ों के सम्पूर्ण रेवड़ को दिखाने के लिए अभिव्यंजनात्मक टैक्नीक भी प्रयोग में लाई गई हैं।

चूंकि इन चित्रों की विषय-वस्तु प्रायः एकान्ततः पशु हैं, अतः इन अभिव्यक्तियों को सहानुभूतिपूर्ण जादू की कल्पनाओं की सहायता से जो कि आज विद्यमान अनेक जीवित लोगों में पायी जाती हैं, समझाया गया है। इस प्रकार इन चित्रों के बारे में ऐसा सोचा जाता है कि वह तदनुरूप अवधारणा के अनुसार चित्रित पशुओं के "सार" (Essence) से युक्त हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उनकी उपस्थिति में किये गये जादू के संस्कार बाद में शिकार में सफलता सुनिश्चित बना देते हैं। यह एक आकर्षक सिद्धान्त है, किन्तु सैकड़ों पीढ़ियों से प्रचलित और इन चित्रों के निर्माण-स्थान से हजारों मील दूर रहने वाले लोगों के रिवाजों को छोड़ कर इसकी पुष्टि के लिए हमारे पास और कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। कला कला के लिए या पशुओं को चित्रित करने की मनाही के

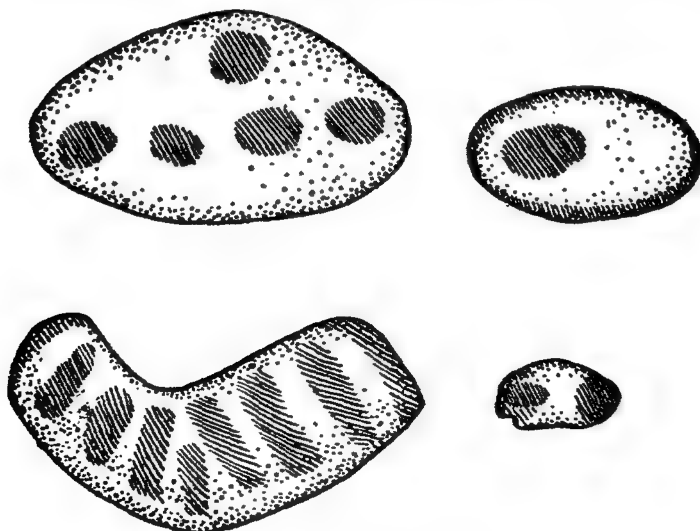
---

५. देखिये : प्लेट ११ और रेखाचित्र २७–३३, ३५–३९

सिद्धान्त, जिन्होंने इन कलाकारों को गोपनीय रूप से इन गहरी गुफाओं में काम करने के लिए मजबूर किया, ये भी ऐसे विकल्प हैं जो शायद अधिक स्वीकार्य नहीं हैं। यद्यपि ये विकल्प भी उसी मात्रा में वस्तुगत साक्षी द्वारा जोकि सर्वथा विद्यमान नहीं है—पुष्ट होते हैं, जैसे कि जादूवाली व्याख्या।

प्रारम्भिक पुरातत्त्वशास्त्रियों की भाषा में पुरा पाषाण काल जिसमें पत्थर तोड़ जाते थे और नवपाषाण जिसमें कि पत्थरों पर पालिश की जाती थी, के बीच का संक्रमण काल **मध्यपाषाण** कहलाता है। परन्तु मैग्डलेनियन निक्षेपों में प्राप्त पालिश किये हुए औजारों ने उस वर्गीकरण को छिन्न-भिन्न कर दिया, जबकि नवपाषाण काल में स्कैंडीनेविया में भी शायद सर्वोत्कृष्ट कतरनवाले उपकरण तैयार किये जाते थे। और फिर मध्यपाषाण को न तो पालिश किये गये और न ही तोड़ कर या छील कर बनाये गये औजारों से पहचाना जा सकता है, यद्यपि ये दोनों ही उस काल में मिलते हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण कृति छोटे पत्थर की कतरन है जिसे घिस कर हड्डी या शायद लकड़ी के भालों में बैठाकर तीर की तरह या अन्य कामों में प्रयोग में लाया जाता था। हड्डी उद्योग जारी रहता है, यद्यपि उसका महत्त्व घट जाता है, और विशालकाय हाथी के, जोकि हिमयुग में यूरोप में रहते थे, समाप्त होने के साथ, हाथी दांत का उद्योग भी उसके स्रोत के साथ समाप्त हो जाता है। हिमखंड पीछे हट रहे थे और रेंडियर की भांति यह विशालकाय पशु भी उनके पीछे चलते थे, जबकि रेंडियर तो उत्तरी यूरोप और एशिया में जीवित रहा पर बड़ा हाथी उत्तर-पूर्व में भटकता हुआ लुप्त हो गया।

इस "संक्रमण" काल में भी जैसाकि हम देखते हैं, कला के रूप पतित और



रेखाचित्र १०—एजीलियन मध्यपाषाण युग के रंगे हुए ठीकरे (शिकागो, नेचुरल हिस्ट्री म्यूजियम के नमूनों से उतारे गये)

नष्ट हो जाते हैं। चित्रकला कुछ ज्यामितिक आकृतियों और पथरियों पर अंकित डिजाइनों तक सीमित हो गयी। कुछ लोगों का कहना है चित्रित पथरियां अक्षरों के प्रारम्भिक चिह्न हैं, अन्यों ने पुनः धर्म का हवाला देते हुए शकुन शास्त्र (Devining) द्वारा उनकी व्याख्या की है, और कुछ अन्य विद्वानों ने उन्हें संयोग का खेल बताया है। दक्षिणी फ्रांस में अजीलियन, केन्द्रीय फ्रांस में तार्देनोसियन, डेनमार्क के जीलैंड द्वीप पर मेग्लेमोसियन जोकि मध्यपाषाण का प्रतिनिधित्व करते हैं शायद किसी दिन उच्च पुरापाषाण के स्थानीय विकासों के क्रम का विस्तार समझे जा सकते हैं। जैसा कि मोवियस ने लिखा है :

"वैज्ञानिक अर्थों में मध्यपाषाण उच्च पुरापाषाण की अर्थ व्यवस्था पर बुनियादी तौर से आधारित सांस्कृतिक विकास की एक मंजिल की व्याख्या है, परन्तु जोकि हिमयुग की समाप्ति काल पर हिम खंडों के पीछे हट जाने से वातावरण में हुए परिवर्तनों से पूर्णतया परिवर्तित हो गई है। नयी खाद्य उत्पादक नवपाषाण सभ्यता के आगमन से जिसके साथ इससे सम्बद्ध तत्त्व—मिट्टी के बर्तन, पशुपालन, कृषि और घुटे हुए पत्थर भी मिले हैं, क्रम में एक व्याघात आ गया है। प्रारम्भिक अवस्था के कुछ तत्वों का प्रयोग अवश्य जारी रहा चूंकि नये रूपों ने उनका स्थान नहीं लिया, किन्तु इन्हें विकासवादी नहीं कहा जा सकता। इसके बजाय उन्हें इस प्रकार के औजारों का जीवित रहना कहा जायेगा, जिनकी कि अभी भी जरूरत थी और जिनके स्थान पर नयी संस्कृति ने कोई नयी वस्तु ईजाद नहीं की।"[६]

नवपाषाण के साथ पुरातत्त्व अभिलेखों की समृद्धि उसकी भौतिक संस्कृति के अधिक पूर्ण चित्र के पुनर्निर्माण को और उसके अभौतिक जीवन के पहलुओं के बारे में पहले कालों की तुलना में कहीं अधिक अनुमान को सम्भव बनाती है। आज के यूरोप में रहने वाले बहुत-से लोगों को नवपाषाण संस्कृति बहुत विचित्र नहीं लगेगी, और यहां तक कहा गया है कि पूर्वीय और केन्द्रीय यूरोप का किसान आधुनिक औद्योगिक नगर की अपेक्षा एक नवपाषाण बस्ती में अधिक घरेलूपन अनुभव करेगा। खाने के लिए उगाये गये पौधे और उन्हें उगाने का तरीका उसका जाना-पहिचाना होगा। खेतों पर रहने वाले पशु लगभग मिलते-जुलते उद्देश्यों के लिए प्राप्त होंगे। कातना-बुनना, घरों का निर्माण और मिट्टी के बर्तन बनाना जारी रहेगा। चकमक निकालने की टैक्नीक उसे अवश्य अज्ञात होगी किन्तु कुछ ऐसे धातु के औजार जिनके प्रयोग का वह अभ्यस्त रहा है, जैसे कि चाकू, कुल्हाड़ी, छैनी, दराती के फलक आदि और छुरे और भाले आदि हथियार उसे पत्थर या हड्डी के बने मिलेंगे। उसे चकमक उत्पादन में लगा खनन उद्योग मिलेगा, जहां मजदूर जमीन के नीचे सुरंगों में एण्टलर के सींग की गेंती से पत्थर की ऐसी गांठें अलग करते हुए मिलेंगे जिन्हें बाद में घड़कर ठीक बनाया जायेगा। वह सुस्थापित व्यापारिक मार्गों का प्रयोग कर सकेगा। उदाहरण के लिए, प्रेसिग्नी जहां कि मधु-मक्खी के मोम के नाम का चकमक पत्थर निकाला जाता था, एक व्यापारिक केन्द्र था और जो इस

---

६. **एच० एल० मोवियस, जू०, १९४२, पृ० २३**

विशिष्ट प्रकार के चकमक पत्थर को समस्त उस क्षेत्र में जिसे आजकल फ्रांस और पूर्व में स्विटजरलैंड कहा जाता है, भेजता था। उसे धार्मिक पूजा के कुछ विचित्र रूपों का भी सामना करना पड़ेगा यद्यपि मृतपूजा का धर्म एक अन्य समानता जुटायेगा। "डालमन" या "मेन्हिर" नाम के विशाल पत्थरों के स्मारक जैसे इंग्लैंड में स्टोनहेंज या फ्रांस में कार्नाक में मिले हैं, उसे प्रभावित किये बिना न रहेंगे।

कांस्य और **लौह** युगों में सांस्कृतिक विकास की जटिलता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। जैसाकि लेखन-कला के शुरू होने के बारे में है जिससे कि ऐतिहासिक काल शुरू हुआ, हम देखते हैं कि यूरोप और निकटपूर्व के विभिन्न भागों में धातुओं का प्रयोग भिन्न समयों में शुरू हुआ। धातु के प्रयोग की खोज, मानव इतिहास के मुख्य विकासों में से एक थी। इस टेक्नीक की निरन्तर दक्षता ने प्राकृतिक वातावरण पर मानव की निर्भरता को पर्याप्त कम कर दिया और अपने वातावरण के साथ नयी अनुकूलता स्थापित करने में सफल बनाया। पर धातुओं के प्रयोग की उत्पादकता ने मानव समाजों को केवल अपने निवास के तात्कालिक दवाब से ही छुटकारा नहीं दिलाया, बल्कि इससे और भी अधिक कार्य किया। सिंचाई जैसी अन्य टैक्नीकों ने पहले की तुलना में वस्तुओं के अत्यधिक उत्पादन को सम्भव बनाया और इस प्रकार जिसे हम आज "आर्थिक बचत" कहते हैं, उसके उत्पादन के मार्ग को प्रशस्त किया। इस प्रकार वर्ग-संरचना में सर्वत्र प्राप्त सम्पत्ति के नियंत्रण में भिन्नता की आधारशिला रखी गयी। संक्षेप में जैसे ही इतिहास का पर्दा उठता है, हम देखते हैं कि कांस्य और लौह युगों ने संस्कृति के रंगमंच को तैयार किया।

५

हमने पूर्ववर्ती अध्याय-खंडों में पाश्चात्य यूरोप की प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के विकास को बताया है। इसका कारण एक के बाद एक उद्योगों और उनसे सम्बन्धित संस्कृतियों की सुदीर्घ शृंखला का अध्ययन के लिए उपलब्ध होना था। जो भी हो, इस क्रम को समस्त विश्व पर लागू नहीं करना चाहिए। जैसाकि मोवियस कहता है :

"प्रागैतिहासिक पुरातत्व—अपने आप में संचयों के एक दिये क्रम में प्राप्त औजारों के वर्गीकरण के आधार पर प्रतिनूतन कालक्रम की विश्वसनीय व्यवस्था स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ है, अतः प्राकृतिक विज्ञानों के अधिक कठोर नियमों को इस पर लागू नहीं किया जा सकता—मानव संस्कृति, स्थिरता से कहीं दूर, एक अत्यन्त परिवर्तनशील कारक है; मानव को बारम्बार नयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और वह निरन्तर अपने जीवन को उन वातावरण के कारकों से, जिनका उसे मुकाबिला करना पड़ा, अनुकूलता स्थापित करने के लिए नयी विधियों की परीक्षा करता रहा है।"[७]

जब हम यूरोपीय रंगमंच से अपना ध्यान हटाकर अन्य महाद्वीपों की ओर ले जाते हैं, तो हम देखते हैं कि यह मर्यादायें कितनी उचित व आवश्यक हैं। हम संकेत कर चुके हैं कि सुदूरपूर्व में खड़ (Core) और कतरनों के औजारों को इस्तेमाल किया गया

---

७. वही, पृ० १०६–७

है। पाये जाने वाले औजारों के क्रम और इन क्रमों के लिए प्रयुक्त स्थानीय नामों, दोनों में यूरोपीय पुरातत्त्व के विशेषज्ञों को पुनः दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। नीग्रो अफ्रीका में धातुकर्म के संक्रमण द्वारा पाषाण, कांस्य और लौह युगों की तीन मंजिलों का क्रम बिगड़ जाता है। मिस्र को छोड़ यहां ऐसा कोई काल नहीं जिसमें कांसे का प्रयोग हुआ हो। पुनः अफ्रीका की चित्र-संकेत कला (Pictographic art) जोकि उद्योगों के क्रम की समस्या के दायरे से बाहर है और अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करती है। आधुनिक बुश-मैन चट्टानों पर बने चित्रों और स्पेन और फ्रांस की कुछ गुफाओं में बने चित्रों की सदृशता पर प्रायः ध्यान दिया गया है। चित्र-संकेत कला की एक शृंखला जिसमें अनेक समान लक्षण हैं, सारे अफ्रीकी महाद्वीप में फैली हुई है। चूंकि यूरोप में प्राप्त इस प्रकार के चित्र उच्च पुरापाषाण काल के हैं, तो क्या हम आधुनिक अफ्रीकी बुशमैनों की संस्कृति को भी इस काल का कहेंगे? या यदि दूसरी ओर मुड़ें, तो आस्ट्रेलिया और न्यू गिनी की समकालीन "पाषाण युग" संस्कृतियों को क्या हम उनके पत्थर के औजारों के आधार पर हजार पीढ़ियों पहली यूरोपीय समरूप संस्कृतियों के साथ वर्गीकृत करेंगे? एक पुरातत्त्व-शास्त्री डब्ल्यू० जे० सोलास ने गंभीरतापूर्वक उक्त सदृशताओं का उल्लेख कर, इन्हीं आधारों पर ऐस्कीमो को मैग्डलेनियन के समान ठहराया है।

अमरीकियों का पुरातत्त्व शायद इस बात की सबसे अच्छी मिसाल है, जो यह बताती है कि किस प्रकार भिन्न क्षेत्र, भिन्न समस्यायों को उपस्थित करते हैं और उनके लिए भिन्न नामकरणों की आवश्यकता होती है। जब यूरोपियन लोग सर्वप्रथम आदिवासी रैड इंडियनों के सम्पर्क में आये तब रैड इंडियन पूर्णतया पाषाण युग के लोग थे। इनमें से कुछ को, उदाहरण के लिए पेयूट को पुरापाषाण में और ईराक्वी के समान कुछ को नव-पाषाण में वर्गीकृत किया जा सकता था। पुराने साहित्य में कभी-कभी ऐसे नामों का सामना करना पड़ता है। फिर भी समस्त रैड इंडियन कबीलों के पास, चाहे उनका पत्थर का काम कितना ही अपरिपक्व या सुगढ़ क्यों न हो, घरेलू पौधे थे और वह कृषि जानते थे, जो कि यूरोपियन नवपाषाण काल का गुण है। दूसरी ओर, कुत्ते, टर्की, लामा (अमेरिकन ऊंट) और विक्यूना को छोड़, रैड इंडियनों के पास बावजूद इस तथ्य के कि यूरोप में पौधों और पशुओं का पालन लगभग इसी समय हुआ, कोई अन्य पालतू जानवर न था।

उन हजारों सालों में जिनमें कि पुरानी दुनिया के प्रागैतिहासिक शारीरिक प्ररूप और संस्कृतियां विकसित हो रहे थे, नयी दुनिया में मानव या उसके पूर्वज या किन्हीं प्रधानकों (Primates) की आबादी न थी सिर्फ कुछ वानर इसके अपवाद थे। प्रतिनूतन पशु के लुप्त रूपों के साथ कुछ मानव अवशेषो का पाया जाना अमरीकाओं में मानव के आगमन की पूर्वस्वीकृत तिथि पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करता है। मूलतः यह तिथि दस हजार साल पूर्व रखी गयी थी। अब यह तर्कना की जाती है कि प्रतिनूतन के अन्तिम चरण के अन्तिम हिमायन (Glaciation) के बीच यह प्रवास शायद पन्द्रह-बीस हजार वर्ष पूर्व हुआ होगा। किन्तु इस प्रारम्भिक काल तक पहुंचने वाला कोई भी रूप प्राग्-मानव (Prehuman) नहीं है, वस्तुतः उनमें से कोई भी आज के रैंड इंडियनों से विशेष भिन्न नहीं है।

सामान्यतः इस पर सहमति है कि अमेरिकन इंडियनों के पूर्वज बेरिंग जलडमरूमध्य और एल्यूटियन द्वीपों से अपने नये निवासस्थान पर पहुंचे, यद्यपि कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिनका यह दावा है कि वह प्रशान्त महासागर की ओर से गये। प्रशान्त महासागर के द्वीपों की अमरीकाओं को बसाने में निश्चित रूप से अल्प ही देन होगी और वह अपेक्षया बाद में हुई होगी तथा एशिया से आने वाले प्रवासियों के शारीरिक प्ररूपों और संस्कृतियों के स्थापित हो जाने पर ही ऐसा हुआ होगा। यदि अन्तिम हिमायन के बीच मानव अमरीकाओं में आया, तब रौकी पर्वतों के पूर्व में जो एक गलियारा था, उसने बरफ के बावजूद एशिया महाद्वीप के प्रवासियों को दक्षिण की ओर बढ़ने का अवसर दिया। यह यही प्रतिनूतन प्रवास रहा होगा जिसने नेवादा की जिप्सम गुफा या मिनेसाटा की ब्राउंस घाटी में प्राप्त उन कंकालीय अवशेषों या फाल्सम पाइंट्स जैसे प्रसिद्ध उपकरणों को छोड़ा होगा जिनकी प्राप्तियों ने अमरीका में मानव की प्राचीनता के सम्पूर्ण प्रश्न को दुबारा उठाया है।

हर हालत में, चकमक पत्थर को काम में लाने या आग का प्रयोग जैसे बुनियादी आविष्कार रैड इंडियनों की दो महाद्वीपों की यात्रा से कहीं पहले हो चुके थे। यह प्रवासी इन विधियों से लैस होकर आये थे और वह अपने साथ कुत्ते को भी लाये थे। यह सिद्ध हो चुका है कि इनके कुत्ते नयी दुनिया के किसी कुत्ते के रूप से सम्बन्धित न थे, बल्कि वह यूरोप, एशिया और अफ्रीका के कुत्तों की जाति के थे। यह नये आवासी मूलतः शिकारी थे और शिकार में इतने दक्ष थे कि यह विश्वास किया जाता है कि उनके आने से प्रतिनूतन काल के अनेक पशु, जो हाल तक जीवित रहते, उनका बिल्कुल सफाया हो गया है। नयी दुनिया के पुरातत्त्व की समस्यायें पुरानी दुनिया के प्राग्-इतिहास से बहुत भिन्न हैं। रैड इंडियनों ने ऐसी संस्कृतियों का विकास किया जोकि अपने रूप की विविधता, विभिन्न पहलुओं की जटिलता की भिन्नता और आवास के समायोजन के प्रकारों में किसी अन्य विशाल प्रदेश की संस्कृतियों से मुकाबला करती हैं। जो यूरोपीय अन्वेषक सर्वप्रथम उनके सम्पर्क में आये, उनके द्वारा पाये गये अनेक प्रकार के पौधों को उन्होंने अपनाया। उन्होंने केन्द्रीय और दक्षिणी अमरीका में मिट्टी के बर्तन बनाने की विधि को इतना विकसित किया जिसका कि कोई भी अन्य देश मुकाबला नहीं कर सकता। जिसे आज न्यू मैक्सिको कहते हैं, वहां से लेकर दक्षिण में पेरू तक बृहत् जनसमूहों की राजनीतिक इकाइयों का निर्माण किया और उस जीवन-स्तर को प्राप्त किया जिससे सभी यूरोपीय प्रभावित हुए।

नयी दुनिया के पुरातत्त्व की समस्यायें इतनी विशेषीकृत हैं कि उनके अन्वेषण के लिए नयी विधियां खोजनी पड़ीं। पुरानी दुनिया के पुरातत्त्वशास्त्री को जिस सुदीर्घ विस्तृत काल का अध्ययन करना पड़ता है, उसमें इन विधियों का प्रयोग यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। स्वभावतः खुदाई की बुनियादी पद्धतियां, जिनके द्वारा भूगर्भीय परिवेश को समझा जाता है, स्तरों को सावधानी से नोट किया जाता है और प्राप्तियों को सापेक्ष गहराई के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है, अवश्य प्रयोग में लायी जानी चाहिएं। किन्तु एक छोटे पट के लिए बारीक तूलिका की जरूरत पड़ती है।

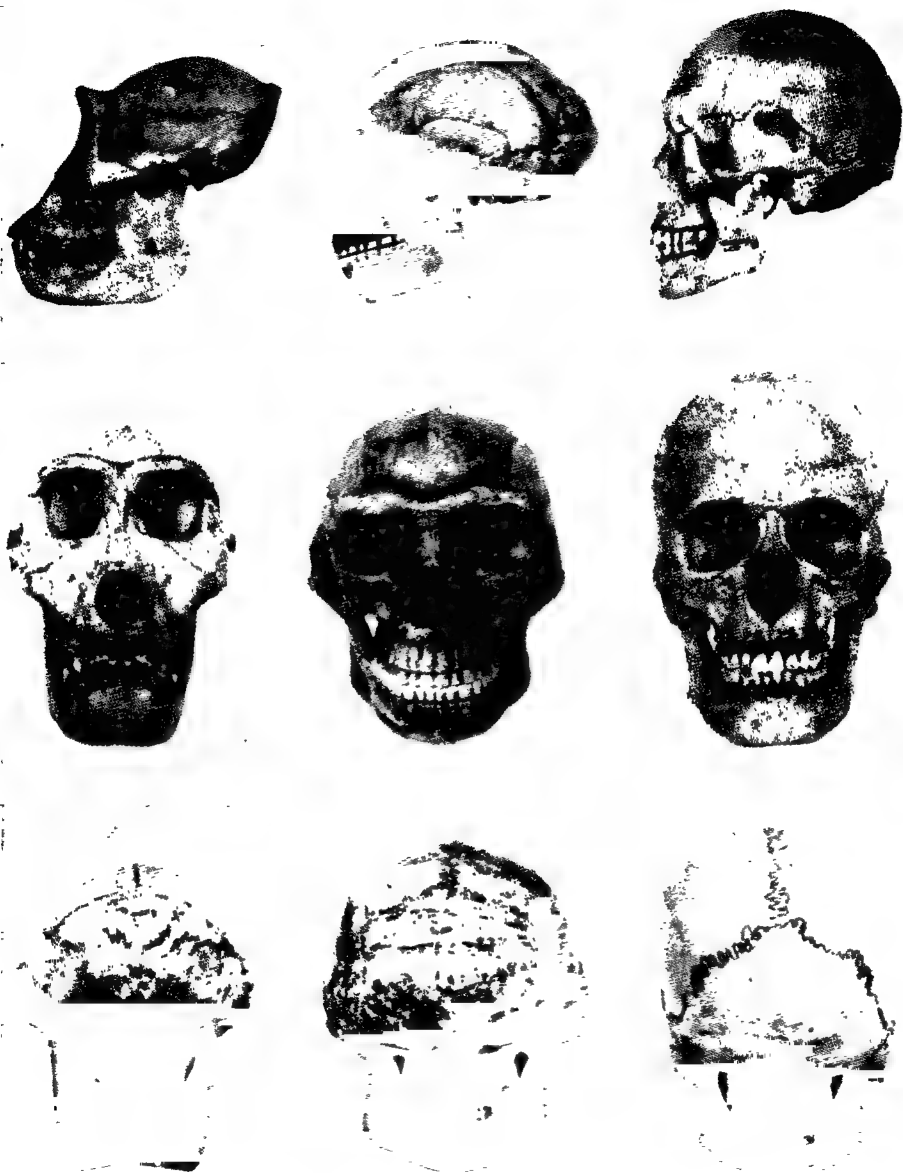
नयी दुनिया के परिवेश ने पुरातत्त्व गवेषणा को इतिहास और प्राग्-इतिहास के मिलन का एक विशेष दृष्टिकोण दिया है। लुप्त लोगों या ऐसे लोगों की, जोकि पहले जिस स्थान में रहते थे अब वहां नहीं रहते, सूचनाओं के लिए अभिलेख सामग्रियों का अध्ययन एक नया विकास है। परिणामस्वरूप मिट्टी से खुदी सामग्रियों ने अनेक बार उनकी पुष्टि की है या किसी विशिष्ट खुदाई स्थान पर रहने वाले लोगों से सम्बन्धित अभिलेखों के पुनरन्वेषण की आवश्यकता पैदा हुई है। इस पद्धति को बहुत सालों तक मैक्सिको और केंद्रीय तथा दक्षिणी अमरीका में, जहां एज्टेक, टोल्टेक, माया और इंका के राज्य समृद्ध हुए, खोज कार्य करने वालों ने प्रयुक्त किया। गार्सिलासो, सहागुन और प्रारम्भ में आने वाले अन्य स्पेनियार्ड लेखकों द्वारा लिपिबद्ध किये गये अपने अनुभवों एवं प्रथम अभियानों द्वारा विजित मूलवासियों के जीवन विवरणों का पुरातत्त्वशास्त्रियों ने निरन्तर प्रयोग किया है। इस प्रकार उन्हें लेखन काल से पहले के अतीत के विकासों को निर्मित करने का अधिक निश्चित आधार मिला। वह कौशल जिससे उन्होंने इन स्रोतों का उपयोग किया, उससे उन्हें नयी दुनिया में अपेक्षया इस अल्पकाल में जोकि प्रवासी एशियावासियों की मूल खोज और पन्द्रह-बीस हजार वर्ष बाद एटलांटिक से आने वाले यात्रियों की पुनःखोज के बीच बीता है, उत्पन्न होने वाली अनेक संस्कृतियों के विकास के पुनःनिर्माण में बहुत सहायता मिली है।

६

प्रागैतिहासिक मानव के प्रति हमारा बड़ा प्रभावशाली ऋण है। व्यवहारतः आज के जीवन में प्रयुक्त होने वाली और अब साधारण-सी लगने वाली समस्त बुनियादी विधियों की खोजें—केवल धातुकर्म, शक्तिचालित मशीनों और बिजली को छोड़ कर—उस समय हुई थीं जबकि मानव अर्थ-व्यवस्था में पत्थर के औजारों का प्रयोग होता था। इन सफलताओं को पुनःस्मरण करने के लिए हम मैकर्डी द्वारा दिये संक्षेप का, जिसे कि उसने "पाषाण-युग संस्कृति-संकुल" (Culture complex) कहा है, अनुसरण कर सकते हैं।[८] "मानव जीवन के प्रारम्भिक काल में आग को काबू में लाया गया और तभी शिकार करने और मछली पकड़ने की विधियों को पूर्णता प्रदान की गई। मानव ने यातायात के साधन के रूप में नदियों तथा अन्य जलमार्गों के प्रयोग को सीखा; बाद में उसने पहिया बनाया, जिसे कि मानव की सामाजिक सत्ता के लिए आग और धातुओं के प्रयोग के समान आधारभूत वस्तु माना जाता है। उसने मिट्टी के बर्तन बनाने की तरकीब भी सीखी। पौधों और पशुओं के पालन में आज अधिकांश ज्ञात जातियां सम्मिलित थीं। जहां तक पशुओं का सम्बन्ध है, यह बहुत सम्भव है कि प्रायः वह समस्त जीव जोकि पालतू हो सकते थे, नवपाषाण काल में मानव के नियंत्रण में ला दिये गये। बाद में इन्होंने ही हल और पशु-पालन द्वारा कृषि को सम्भव बनाया। व्यापार, जिसका अर्थ व्यापारिक मार्गों की स्थापना थी, शुरू हो चुका था और बहुत-सी बस्तियां कायम हुईं, जो बहुत बाद में आज के कस्बों और शहरों में विकसित हो गयीं। चिकित्सा

---

८. जी० जी० मैकर्डी, १९२४, जिल्द, २, पृ० १३३–६९



प्लेट २क कपाल में विकासवादी परिवर्तन। बायें से दाहिने, मादा गोरिल्ला, पेकिनीय स्त्री चीनी-मानव, उत्तरी चीन में प्राप्त आधुनिक मानव (पुरुष), पार्श्व दृश्य। देखिये पृ० २२। **प्लेट २ख** उसी कपाल का, जो प्लेट २क में है, सम्मुख दृश्य। देखिये पृ० २२। **प्लेट २ग** वही कपाल जो प्लेट २क में है, उसकी गुद्दी का दृश्य। देखिये पृ० २२। (फोटोग्राफ एफ० वीडनराइख और अमेरिकन म्युजियम ऑफ नेशनल हिस्टरी, न्यूयार्क के सौजन्य से; एफ० वीडनराइख, १९४६, चित्र ९, ३२ और ३३ भी मिलाइये।

प्लेट ३क संरचनात्मक दृष्टि से फिलस्तीन प्राप्तियों और आधुनिक मानव के बीच के उच्च पुरापाषाण कपाल। (क) नर, प्रेडमोस्ट में; (ख) नर, बेनीसेजुग्रल (एल्जियर्स) में; और (ग) नर, ग्रोबर-कैमल में। देखिये पृ० २६।

प्लेट ३ख (क) गोरिल्ला; (ख) चीनी-मानव और (ग) आधुनिक कपालों का पार्श्व दृश्य, समान स्तर पर वृत्तों के साथ, मानव कपाल की गोलाकार आकृति ग्रहण करने की प्रवृत्ति को दर्शाते हुए। देखिये पृ० २६। (फोटोग्राफ एफ० वीडनराइख और अमेरिकन म्यूज़ियम ऑफ नेचुरल हिस्टरी, न्यूयार्क के सौजन्य से; मिलाइये एफ० वीडनराइख, १६४६, चित्र ३६ और ४२ भी मिलाइये।



क



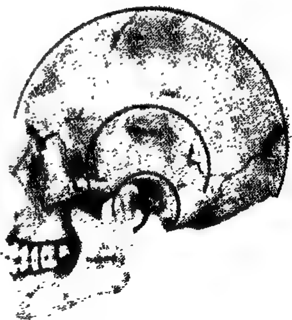
ख



ग







की कलाओं की शुरूआत हुई और कुछ धार्मिक अवधारणायें विकसित हुईं। अन्ततः प्रागैतिहासिक मानव की सर्वोत्कृष्ट सफलतायें उसकी संस्कृति की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्तियां थीं, जिनमें चित्रकला और मूर्तिकला दोनों शामिल थीं। इन विकासों को मानव की उन अनेक क्रान्तियों में से, जिन्होंने उसके अनुभव के मार्ग को प्रशस्त किया है, प्रथम महान् क्रान्ति कहा जा सकता है। चाइल्ड ने[९] दर्शाया है कि किस प्रकार मानव-संस्कृति के प्रारम्भिकतम काल में, जबकि मानव शिकार और खाद्य संचय की अर्थ-व्यवस्था पर रहता था, "नवपाषाण क्रान्ति" ने उन आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को, जोकि पौधों और पशुओं के पालन के परिणामस्वरूप सुनिश्चित और प्रचुर खाद्य प्राप्ति पर निर्भर थी, सम्भव बनाया। फिर धातु-कर्म की खोज और पहियेदार यातायात के और अधिक विकास, पानी के जहाजों, सिंचाई, खेती की श्रेष्ठ विधियों और पालतू पशुओं के कुशल उपयोग से दूसरी या "नगर-क्रान्ति" आयी। नगरों की वृद्धि, निरन्तर विदेशी व्यापार, राजवंश और साम्राज्य, सामाजिक स्तरीकरण जिसमें गुलामी का समावेश था और औद्योगिक विशेषीकरण की अत्यधिक विस्तृत व्यवस्था, इसके मुख्य लक्षण थे। तीसरी क्रान्ति से, जोकि ऐतिहासिक लेखे का विषय है, हमारा इस समय वास्ता नहीं, यह शक्ति चालित मशीन के आविष्कार के साथ आयी और यह प्रायः औद्योगिक क्रान्ति के नाम से ज्ञात है। क्या मानव की अन्तिम औद्योगिक सफलता, एटम की विजय, चौथी या परमाणु क्रान्ति की सूचक है, यह केवल भविष्य का विद्यार्थी बता सकता है। फिर भी इस शक्ति की शक्यताओं को संस्कृति की वृद्धि की सम्पूर्ण कहानी के साथ जोड़ देने की सम्भावना पर विचार करना अत्यन्त आकर्षक है।

---

९. वी० जी० चाइल्ड, १९४६

अध्याय चार

मनुष्य की नस्लें

प्रजाति या नस्ल (Race) क्या है ? वैज्ञानिक मानवशास्त्र इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता है : नस्ल मानव जाति का प्रमुख विभाजन है, जोकि जन्मजात शारीरिक लक्षणों से पहचाना जा सकता है। इस अर्थ में यह शब्द एक प्राणिशास्त्रीय परिभाषा है, जोकि मानव प्राणियों के एक समूह को दूसरे समूह से उनके शारीरिक लक्षणों द्वारा पृथक् करती है। अपने आप में यह अवधारणा मानव व्यवहार के सीखे हुए पहलुओं के मुकाबले में जन्मजात पहलू पर अधिक जोर देती है।

संयुक्त-राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) द्वारा १९५१ जुलाई में नस्ल की समस्याओं और नस्ली भिन्नताओं पर विचार करने के लिए शारीरिक मानवशास्त्रियों और प्रजननशास्त्रियों का एक सम्मेलन पेरिस में बुलाया गया। उन्होंने अपने निष्कर्षों को इस प्रकार व्यक्त किया है, "मानवशास्त्रीय अर्थ में नस्ल शब्द को, मानव जाति के उन समूहों के लिए सीमित कर देना चाहिए, जिनकी पर्याप्त विकसित और प्रमुखतः संक्रमित होने वाली ऐसी शारीरिक भिन्नताएं हैं, जो कि उन्हें अन्य समूहों से पृथक् करती हैं।" मानव समूहों के समुच्चयों में भिन्नताओं के विश्लेषण में इस अवधारणा की उपयोगिता पर जोर देते हुए उन्होंने कहा है कि यह "सर्वसम्मति से मानव-शास्त्रियों द्वारा वर्गीकरण की एक प्रणाली मानी जाती रही है जोकि एक ऐसा प्राणिशास्त्रीय ढांचा प्रदान करती है, जिसके अन्तर्गत मानव जाति के विभिन्न समूहों को सिलसिलेवार तरीके से रखा जाता है।" फिर भी इस में एक चेतावनी, जिसके महत्त्व पर जितना भी बल दिया जाय, कम है, सम्मिलित है। यह देखते हुए कि इस परिभाषा के अर्थों में "बहुत-सी जनसंख्याएं इस प्रकार वर्गीकृत की जा सकती हैं", यह चेतावनी भी स्पष्टतः सम्मिलित है कि "मानव इतिहास की जटिलता के कारण ऐसी भी अनेक जनसंख्याएं हैं जिन्हें आसानी से एक नस्ली वर्गीकरण में नहीं रखा जा सकता।"[1]

केवल कठोर प्राणिशास्त्रीय अर्थों में भी नस्ल शब्द का प्रयोग कुछ सीमितताओं के साथ किया जाता है। सभी मानवशास्त्री इस बात पर सहमत नहीं हैं कि जिस जन-समूह पर इसे लागू किया जाय, उनका क्या आकार होना चाहिए। परम्परागत अर्थों में, मानव की तीन या चार नस्लें हैं, जिस संख्या को यूनेस्को की समिति ने स्वीकार किया है—काकेशायड, मंगोलायड, नीग्रायड, और कुछों के लिए आस्ट्रेलायड भी। फिर भी

---

१. यूनेस्को, १९५२, पृ० ११ यह अभिलेख पढ़ने में बड़ा दिलचस्प है, इसके पीछे संसार के समस्त भागों के मानव-शास्त्रियों और प्रजननशास्त्रियों के आलोचनात्मक और प्रशंसात्मक दोनों तरह के विचार दिये गये हैं।

इनके अन्तर्गत उपविभागों को जैसे काकेशायड नस्ल के अल्पाइन, नार्डिक, मैडिटरेनियन और दीनारी विभागों को, पृथक् किया जा सकता है। इन्हें भी प्रायः "नस्ल" ही कहा जाता है, यद्यपि इन्हें "उपनस्ली प्रकार" या "उप-नस्लें" कहना बेहतर होगा। यूनेस्को वक्तव्य इस विषय में कुछ परिवर्तन करता है। इसमें पहले कहा है कि मानवशास्त्रीय सह-मति से "वर्तमान मानव जाति कम-से-कम तीन बड़ी इकाइयों में, जिन्हें कि प्रधान समूह कहा जाता है, बांटी जा सकती है।" इन "प्रधान समूहों में" तब "नस्लें" कम बड़े समूहों को कहा जाता है, जो सब मिलकर इन अधिक फैले हुए समूहों का निर्माण करते हैं। नस्लों को एक-दूसरे से पृथक् उनकी "वंशानुगत शारीरिक भिन्नताओं' के लक्षणों से पहचाना जाता है, किन्तु किसी एक नस्ल के ही वह एक मात्र लक्षण नहीं होते। "एक ही नस्ल के विभिन्न व्यक्तियों के अन्तर एक ही प्रधान समूह की दो या तीन नस्लों के अन्दर पाये गये औसतों के अन्तरों से कहीं अधिक होते हैं"—इसकी चर्चा हम शीघ्र ही करेंगे। फिर भी चूंकि एक लम्बे समय से अधिक बड़े समूहों को दर्शाने के लिए नस्ल शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः हम भी परम्परागत रीति से मानव जाति के प्रमुख प्रकारों को **नस्लों** और गौण समूहों को **उपनस्ल** शब्द से पुकारेंगे।

कुछ गुणों का, जिन्हें सही तौर पर नहीं मापा जा सकता या बिल्कुल ही नहीं मापा जा सकता, महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि वह किसी भी दर्शक के सामने बहुत ही स्पष्ट होते हैं। इनमें से एक रंग है जिसने कि नस्ली नामकरण में प्रमुख भूमिका अदा की है। बहुत सालों तक इस उद्देश्य के लिए केवल इसी का उपयोग होता रहा है। श्वेत, काली, पीली, भूरी और लाल नस्लों की पंचमुखी योजना बहुज्ञात है। फिर भी कभी किसी ने किसी ऐसे मानव प्राणी को जोकि वस्तुतः श्वेत या काला या लाल हो, नहीं देखा है। "श्वेत" लोग वस्तुतः गुलाबी, और काले या लाल लोग भूरे होते हैं। तथाकथित पीली, भूरी और लाल "नस्लें" सभी मंगोलायड हैं, और इन्हें कभी भी पृथक् नहीं किया जाना चाहिए था।

जो भी हो, यह सिद्धान्त अधिक महत्त्व का है कि नस्ली श्रेणी को स्थापित करने में किसी एक गुण पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यदि खाल के रंग की मिसाल ली जाय, तो हम देखेंगे कि उत्तरी भारत के काकेशायड लोगों में बहुत-से व्यक्ति नीग्रायड नस्ल के लोगों की भांति ही काले या उनसे भी अधिक काले हैं। आस्ट्रेलायड भी नीग्रायड रंग की सीमा में आ जायेंगे। इस प्रकार की गल्ती की दूसरी मिसाल प्रायः प्रयुक्त की जाने वाली सिर की बनावट का गुण है जिसे कि चिरकाल तक नस्ली मापदण्ड की कसौटी माना जाता रहा है, जैसा कि "लम्बे सिर वाले नार्डिक" इस विवरण में पाया जाता है। फिर भी यदि सिर की बनावट को नस्ली भिन्नता का निर्णायक गुण मान लिया जाय, तो केवल नार्डिक और काकेशायड नस्ल के भूमध्यसागरीय उपसमूहों को ही नहीं, बल्कि अधिकांश नीग्रायडों को भी एक वर्ग में रखना होगा, चूंकि कांगो बेसिन में रहने वाली कुछ जनसंख्याओं को छोड़ कर अफ्रीका में रहने वाली अधिकांश नीग्रो नस्ल भी लम्बे सिरवाली है।

हम संक्षेप मे नस्ली प्ररूपों को पृथक् करने के लिए प्रयुक्त होने वाले कुछ गुणों पर

विचार कर सकते हैं। हम उनमें से कुछ ही का जिक्र करेंगे, जिनको प्रयोग में लाया जा सकता है, चूंकि वस्तुतः मानव शरीर और सिर पर कई ऐसे स्थान हैं जोकि मानवशास्त्रीय मापों के लिए सीमा चिह्न का कार्य करते हैं। इनके अलावा, विद्यमान जनसंख्याओं का अध्ययन करने वाले मानवशास्त्रियों द्वारा नोट किये गये रूप या रचना, रंग और सामान्य संरचना, बालों के प्रकार, आंखों की बनावट या कानों में विद्यमान तथाकथित डार्विनियन प्रदेश की मात्रा आदि गुणों का अवलोकन है। इन गुणों का परिमाणात्मक (Quantitative) विश्लेषण सम्भव नहीं है, और इसीलिए इनका निरीक्षण या अवलोकन (Observation) किया जाता है। अन्ततः, रक्त-प्ररूप जैसे शरीर-क्रिया-शास्त्रीय गुण हैं, जिनकी कि विभिन्न जनसंख्याओं में एक-दूसरे से महत्त्वपूर्ण भिन्नतायें हैं। मानवशास्त्री कंकाल का माप लेता है और उसका अवलोकन करता है जोकि विद्यमान लोगों की पूर्वज जनसंख्याओं से घनिष्ठता को ढूंढने तथा प्रकारों के वर्गीकरण और हड्डी के ढांचे और उनको ढकने वाले मुलायम भागों के परस्पर सम्बन्ध का मूल्यांकन करने में विशेष महत्त्वपूर्ण है। बाल-विकास के अनुसंधान में यह विशेषतः उपयोगी है। जीवित प्राणियों की तुलना में अस्थि-संरचना के माप अधिक सही होते हैं।

अध्ययन किये जाने वाले संभावित क्षेत्र के बृहत् विस्तार में से मानवशास्त्री निर्दिष्ट समस्या के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को चुन लेता है। इस प्रकार जब भौगोलिक दृष्टि से एक ऐसी जनसंख्या का अध्ययन किया जा रहा हो जोकि लम्बे और छोटे सिर वाले लोगों के मध्यवर्ती हो तो वहां सिर की लम्बाई और चौड़ाई के माप महत्त्वपूर्ण होंगे। दूसरी ओर जबकि लम्बे सिरवाले नीग्रायड और लम्बे सिर वाले काकेशायड समूहों के बीच रक्तमिश्रण हो चुका हो, तो वहां होठों की मोटाई जैसे गुण महत्त्वपूर्ण होंगे और सिर की बनावट अपेक्षया अमहत्त्वपूर्ण होगी। जहां कि अभीतक अध्ययन न की गयी, विशेषतः स्थिर जनसंख्या का विवरण देना हो, वहां यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी अधिक-से-अधिक माप लेने व अवलोकन करने की चेष्टा करेगा, और यही बात कंकालीय संग्रहों के अध्ययन के बारे में सही है। सामान्य सिद्धान्त यह है कि समय और साधनों को ध्यान में रखते हुए जहां चुनाव आवश्यक हो वहां उपस्थित समस्या के लिए ज्ञात या सम्भावित महत्त्व के गुणों को चुनकर, विश्लेषण की जाने वाली जनसंख्या को एक पृथक् इकाई के रूप में समझने में विशेष रूप से सहायक शारीरिक लक्षणों को चुन कर उनको अधिक से अधिक मापा जाय। शारीरिक मानवशास्त्रियों ने अनुभव से यह सीखा है कि वह एक निर्दिष्ट दशा में किसी निर्दिष्ट गुण को एक विशिष्ट समस्या के लिए संगत और असंगत बता सकें। यह एक अच्छा व्यावहारिक सिद्धान्त है कि महत्त्वहीन न्यासों को छोड़ दिया जाय, किन्तु जहां सम्भावित संगति की सामग्री संकलित नहीं हुई है, वहां बिना नयी गवेषणा के प्रश्न को नहीं सुलझाया जा सकता।

सिर की आकृति, वह गुण, जिसको कि सम्भवतः शारीरिक मानवशास्त्री सबसे अधिक मापते हैं, उसके माप किस प्रकार लिये जाते हैं और फिर किस प्रकार उन्हें विश्लेषण के लिए वर्गीकृत किया जाता है, इसको जानने के लिए इसका विवरण दिया जाता है। मानव प्रकारों के वैज्ञानिक विवरण और विभाजन में सर्वप्रथम प्रयुक्त होने वाले साधनों में

से यह अन्यतम है। इसका मापना अपेक्षया आसान है और अधिक सही भी। अध्ययन की गयी अधिकांश जनसंख्याओं की यह माप लिपिबद्ध है, और विस्तृत तुलनात्मक विश्लेषण के लिए उपलब्ध है, अतः प्रायः सदा ही मानवमितिक (Anthropometric) गवेषणा के कार्यक्रम में इसे सम्मिलित किया जाता है।

सिर की रचना को सिर या कपाल की अधिकतम लम्बाई और चोड़ाई के मापों के अनुपात द्वारा बताया जाता है। दोनों के बीच के अनुपात को शीर्षदेशना (Cephalic index) कहा जाता है। दोनों माप एक फैलने वाले कैलीपर नाम के यंत्र से, जो कि इस प्रकार बना होता है जिससे गोलाई वाली सतह के दो छोरों के बीच के फासले को एक सीधी रेखा में नापा जा सके, लिया जाता है। सिर की अधिकतम लम्बाई को जांचने के लिए आंख और नाक के जोड़ (Glaballa) से लेकर सिर के पीछे की जड़ (Opisthocranium) तक एक मध्यवर्ती रेखा द्वारा जोकि पहले बिन्दु से अनुभव द्वारा से सब से दूर पाई गयी है, मापा जाता है। सिर की चौड़ाई को मापने के लिए कैलीपर को अपने पहले स्थान पर समकोण में रख कानों के जरा पीछे से सिर या कपाल के चारों ओर घुमा कर अधिकतम माप निकाला जाता है।

निम्न सूत्र द्वारा देशना निकाली जाती है:—

$$\text{शीर्ष देशना} = \frac{\text{सिर की चौड़ाई} \times १००}{\text{सिर की लम्बाई}}$$

परिणामस्वरूप आने वाली संख्या को प्रायः तीन श्रेणियों में बांट दिया जाता है, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन भी किये जा सकते हैं। चूंकि चौड़ाई की तुलना में लम्बाई जितनी अधिक होती है, परिणाम में उतनी ही कम संख्या आती है, अतः व्यक्तियों और जनसंख्याओं के लम्बे, मंझले और छोटे सिर वाले वर्ग बनाना सम्भव है। निम्न संख्यायें प्रत्येक वर्ग की सीमायें बताती हैं। यह जीवितों के मापों के लिए है। चूंकि कपाल पर लिये गये माप जुड़ने पर प्रत्येक श्रेणी में एक अंश (Point) कम देशना देते हैं।

दीर्घकपाल (Dolichocephalic) : क्ष—७५.९
मध्यकपाल (Mesocephalic) : ७६.०—८०.९
लघुकपाल (Brachycephalic) : ८१.०—क्ष

मानव शारीरिक प्ररूपों के अध्ययन में जो अन्य गुण प्रायः नापे व देखे जाते हैं, उनकी रूपरेखा भी बतायी जा सकती है। जहां सम्भव होता है व्यक्ति की **ऊंचाई** और **वजन** लिया जाता है, पर जहां कपड़े से ढके रहने का विचार है वहां सही संख्या निकालना सुगम नहीं। कद के अन्य माप भी लिये जाते हैं जिनसे यह दर्शाया जा सके कि शरीर की कुल ऊंचाई विभिन्न भागों में किस तरह बंटी हुई है, चूंकि यह नस्ली और उपनस्ली प्रकारों की पहिचान में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। लम्बाई के इस प्रकार के मापों में एक माप कंधे की ऊंचाई है दूसरा सीधी लटकती हुई भुजा की जमीन से लेकर बीच की अंगुली तक के फासले की लम्बाई है। **बैठे हुए ऊंचाई,** जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सिर के ऊर्ध्व भाग से मेज, स्टूल या बक्स, जिसपर कि व्यक्ति बैठा हो, उसका फासला है।

मानवशास्त्री इस पर पूर्णतः सहमत नहीं हैं कि बैठा कर ऊंचाई किस प्रकार मापी जाय, यद्यपि पहले बताये हुए मापों की तुलना में इस गुण के माप में बारम्बार मापने पर भूल की मात्रा की अधिक सम्भावना रहती है, जैसा कि बार-बार लिये गये मापों के अन्तर से प्रकट होता है। इसके बावजूद भी बैठा कर ली गयी ऊंचाई महत्त्वपूर्ण है, चूंकि पूरे कद में से इसे घटा देने से जीवित व्यक्तियों की टांगों का माप जाना जा सकता है जोकि अन्य किसी माप के साधन द्वारा संभव नहीं है। और समग्र शरीर की ऊंचाई के अनुपात की भाषा में यह न केवल नस्ली पहचान में विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विभिन्न नस्लों के व्यक्तियों के शारीरिक अनुपात भिन्न-भिन्न ही मिलते हैं, अपितु इसके द्वारा शारीरिक वृद्धि का अध्ययन करने वालों को यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार धड़ और पैरों के विकास की भिन्नता प्रौढ़ जीवन से पूर्ववर्ती विभिन्न अवधियों में मानव शरीर को विशिष्ट शारीरिक स्वरूप प्रदान करती है।

जहां सम्भव है वहां **कंधे की चौड़ाई** और **छाती की गहराई व चौड़ाई** और **चूतड़ की चौड़ाई** मापी जाती है, यद्यपि अनेक जनसमूहों में सामाजिक परम्परायें इस उद्देश्य की पूर्ति में कठिनाइयां उपस्थित करती हैं। यह सब और अन्य माप भी जो यहां नहीं बताये गये हैं, उन्हें देशनाओं में व्यक्त किया जाता है ताकि विभिन्न जनसंख्याओं और नस्ली समूहों के बीच विद्यमान समताओं व भिन्नताओं के मूल्यांकन में प्रयुक्त कुल मापों की संख्यात्मक तुलना में उनकी सहायता ली जा सके।

शरीर के अन्य किसी भाग की अपेक्षा सिर और चेहरे के गुणों की माप अधिक होती है। एक बात यह भी है कि प्ररूप को पहचानने में चेहरे के लक्षणों का बहुत समय से प्रयोग हो रहा है। उदाहरण के लिए जिस तरीके से संसार के विभिन्न भागों में आंख की बनावट और रंग, बालों की बनावट, नाक की बनावट और होठों के रूप जैसे कुछ गुणों को राष्ट्रीय, कबीली या वर्गीय घनिष्ठताओं के निर्णायक के रूप में महत्त्व दिया जाता है, उससे इसकी पुष्टि हो जाती है। और जहां तक हमें लिखित इतिहास उपलब्ध है उससे भी यह सूचना मिलती है। इसके अलावा मानवशास्त्री के लिए सिर और चेहरे के माप इसलिए भी मूल्यवान् हैं कि उनमें से अनेक, अपेक्षया बहुत सही तौर पर मापे जा सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी अन्य शारीरिक मापों की तुलना में, जहांकि यौन या अन्य प्रकार के निषेध उसमें बाधक हो सकते हैं, इन अंगों का माप देने में व्यक्तियों को कम आपत्ति होती है।

सिर की लम्बाई और चौड़ाई के अलावा, उसके **सामने की अल्पतम चौड़ाई** और **चेहरे की अधिकतम चौड़ाई** मापने की प्रथा है। पहले में माथे की चौड़ाई मापी जाती है, जोकि कनपटी के उभारों (Temporal ridges) के बीच का फासला है, यह उभार आंखों के बाहरी किनारों के ऊपर और अन्दर की ओर उंगली घुमाकर महसूस किये जा सकते हैं, या कपाल पर आसानी से देखे जा सकते हैं। प्रचलित भाषा में चेहरे की चौड़ाई गाल की हड्डियों (Zygomatic arches) के बीच का फासला है। इसका अधिकतम फासला मापा जाता है, जोकि आंखों के पास से नहीं, जैसाकि प्रायः नये विद्यार्थी "ऊंची गाल की हड्डियों वाले" चौड़े चेहरे वाले लोगों के बारे में सुनने के आधार

पर समझ बैठते हैं, बल्कि कानों के जरा सामने से लिया जाता है। **जबड़े की चौड़ाई** (Bigonial width) निचले जबड़े के दायें और बायें किनारों के कोण का फासला है, इसीसे इस व्यास का पारिभाषिक नाम निकला है। चेहरे के क्षैतिज (Horizontal) विस्तारों में सुस्पष्ट नस्ली भिन्नतायें होने के कारण—स्कैंडीनेवियन या नीलोटिक अफ्रीकन संकरे चेहरों की तुलना में चीनी या पोलिश चेहरे का चौड़ापन—यह विशिष्टतायें नस्ली समूहों को वर्गीकृत करने में स्पष्टतः महत्त्वपूर्ण हैं।

जबकि ऐसे गुणों को चेहरे की लम्बाई के मापों की देशनाओं से मिला दिया जाता है, तब यह विशेष रूप से सत्य है। कभी-कभी चेहरे की ऊंचाई समग्र रूप से, बालों की रेखा से लेकर ठोड़ी के बीच के सबसे निचले स्थान (Gnathion) तक नापी जाती है। फिर भी चूंकि बालों को बनाने में, प्रायः समाजशास्त्रीय प्रकार के कारक उसे निर्धारित करते हैं, चूंकि बहुत बार पुरुषों में गंजापन बालों की रेखा को जानना असम्भव बना देता है, और चूंकि कपाल पर इस माप को नहीं लिया जा सकता, अतः एक छोटे माप को जिसे **रचनागत** (Morphological) **चेहरे की ऊंचाई का माप** कहते हैं, तरजीह दी जाती है, वह ठोड़ी के निम्नतम मध्यस्थान और माथे की हड्डी के मध्यबिन्दु, जहांकि नाक की दोनों हड्डियां भी मिलती हैं, के बीच का फासला है। जीवितों में यह माप लेने में कुछ कठिनाइयां हैं। चूंकि नाक की हड्डियों के मिलने के स्थान को महसूस नहीं किया जा सकता, पर कपाल में जहाँ कि निचला जबड़ा नष्ट नहीं हुआ है और पर्याप्त दांत कायम हैं, इसे अधिक सही तौर पर मापा जा सकता है। इस दृष्टि से सबसे संतोषजनक **चेहरे की ऊपरली ऊंचाई** है, जोकि नाक की हड्डियों को मिलाने वाले स्थान (Nasion) से लेकर ऊपरी मसूढ़े (कपाल पर ऊपरी जबड़े) के निम्नतम बिन्दु तक, जोकि दो मध्यवर्ती दांतों के बीच स्थित है, मापी जाती है।

शारीरिक प्ररूपों के विश्लेषण में नाक की चौड़ाई और ऊंचाई, कान की आकृति की ऊंचाई और चौड़ाई, आंखों के भीतरी और बाहरी कोणों या छोरों के बीच का फासला, होठों की मोटाई और मुंह की चौड़ाई के माप भी इतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। यहां पर इनकी तफसील देने की जरूरत नहीं, चूंकि चेहरे, सिर और शरीर पर लिये जाने वाले अन्य मापों की भांति माप की विधियां शारीरिक मानवशास्त्र के किसी भी प्रामाणिक ग्रंथ में, जहां कि ऐसी विधियों की चर्चा है, दी गई हैं। पूर्ववर्ती चर्चा यह बताने के लिए पर्याप्त है कि किस प्रकार नस्ल का विद्यार्थी परिमाणात्मक न्यासों को प्राप्त करता है, जिनके आधार पर वह मानव प्ररूपों की भिन्नता और नस्ली सम्बन्ध की दृष्टि से जनसंख्याओं का वर्गीकरण कर अपने निष्कर्ष निकालता है।[२]

इससे पहले कि हम उन लक्षणों की चर्चा करें जोकि शारीरिक रचनाशास्त्र

---

२. इस प्रकार का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिसे कि सारे विश्व के मानव-शास्त्री प्रयोग में लाते हैं, तीन खंडों में विभक्त आर० मार्टिन का ग्रन्थ है। संक्षिप्त चर्चाओं के लिए एम० एफ० ऐशले मांटेग्यू, पृ० २५७–७५, ई० ए० हूटन, पृ० ७१५–६९, और लूई आर० सुलीवन, के ग्रन्थ देखे जा सकते हैं।

की अपेक्षा शारीरिक क्रियाशास्त्र से अधिक संबंधित हैं, हम गुणात्मक दृष्टि से आंके जाने वाले कुछ गुणों की ओर संकेत करेंगे।

त्वचा के रंग के महत्त्व का जिक्र किया जा चुका है। पर प्रायः यह नहीं अनुभव किया जाता कि वह रसायन जोकि इस गुण द्वारा देखी जाने वाली नस्ली भिन्नताओं को पैदा करता है, बिना किसी नस्ल-भेद के, समस्त मानव प्राणियों में एक ही है। भिन्नतायें मुख्यतः, यदि एकान्ततः नहीं, रंग की मात्रा की हैं, जोकि उत्तरी यूरोप के हल्के भूरे बाल वाले गोरे लोगों में हल्की तथा नीग्रो और अन्य काले लोगों में बहुत गहरी जमी हुई है। इस गुण को परिमाणात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के कई प्रयास हुए हैं, किन्तु या तो परिणामों द्वारा अपेक्षित निश्चितता प्राप्त नहीं हुई, या उनके लिए ऐसे सूक्ष्म यंत्रों की जरूरत पड़ती है जिनको प्रयोगशाला के बाहरी क्षेत्र में काम में नहीं लाया जा सकता। एक जर्मन शरीरशास्त्री और मानवशास्त्री फेलिक्स वान लूखान ने त्वचा के विभिन्न रंगों से मिलते-जुलते हुए विभिन्न रंगों का समकोण चतुर्भुजों की श्रृंखला के रूप में एक त्वचावर्ण चार्ट बनाया। यह चतुर्भुजाकार अपारदर्शक शीशे के बने हुए थे जिससे कि खाल का ऊपरी हिस्सा उद्दीप्त किया जा सके और दिये रंग को चमक दी जा सके, चूंकि त्वचा के रंग को देखने में, केवल रंग की राशि ही नहीं, बल्कि आलोक का प्रतिबिम्ब भी आ जाता है। इस चार्ट द्वारा या बाद में उसके अन्य परिवर्तित रूपों द्वारा प्राप्त परिणामों को, अध्ययन किये गये व्यक्तियों की, जिनकी त्वचायें रंग के पैमाने की किसी विशिष्ट इकाई से मिलती थीं, प्रतिशतताओं को छोड़ अन्य किसी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। एक दशा में काले, लाल, पीले और सफेद रंगों के टॉपों (Tops) को मिला कर एक निर्दिष्ट त्वचा के रंग को दर्शाया जाता है। इससे प्राप्त परिमाणात्मक प्रकार के परिणाम कुछ अधिक संतोषजनक हैं, किन्तु अभीतक मापने की यह एक अपेक्षया अपरिपक्व विधि है। त्वचा के रंग का अध्ययन करने की समस्या इस कारण भी अधिक जटिल हो जाती है कि एक व्यक्ति के शरीर के विभिन्न भागों में वह पर्याप्त भिन्न होता है। यौन-प्रदेश में और बाहरी बाजू और टांग पर वह सबसे अधिक गहरा, और बाजू और पैर के अन्दर के भाग और वक्षस्थल पर सबसे हल्का होता है और फिर सूरज की किरणों के पड़ने से सभी त्वचा श्यामल पड़ जाती है। जब तक कि जलवायु के प्रभावों का अध्ययन न करना हो, चेहरे के रंग को बहुत कम ही लिपिबद्ध किया जाता है।

बालों और आंखों के रंगों की गवेषणा में भी मिलाकर देखने की प्रक्रिया (Matching process) प्रयोग में लायी जाती है। **केश रूप** (Hair form) को भी ऐसे नमूनों से मिला कर देखा जाता है, जिनकी सहायता से उन्हें सीधे से लेकर लहरदार, घुँघरीले (Frizzeled) ऊनी और गुच्छेदार (Tufted) जैसे कि दक्षिण अफ्रीका के बुशमैनों और होटेंटाट लोगों के काली मिर्च जैसे (Peppercorn) बालों की श्रेणियों में बांटा जाता है। **आंख की शक्ल** नस्ली विभाजन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण गुण है। ऐपीकेंथिक फोल्ड (Epicanthic fold) जोकि मंगोलायड लोगों को **"तिरछी आँखों"** वाली आकृति देता है, उसकी उपस्थिति और अनुपस्थिति के अर्थों में इसका अवलोकन किया जाता है। वस्तुतः सभी नस्लों के सदस्यों की आंख के गोले कपाल में एक ही प्रकार से जुड़े

हुए हैं, अतः खाल की यह तह ही जोकि उसके अन्दर के किनारों को ढकने वाली ऊपरी पलक से जुड़ी है उसे तिरछी आकृति प्रदान करती है, जिनके पास यह तह नहीं होती उनकी आंखों में दीखने वाली लाल अश्रुग्रंथि छिप जाती है।

नस्ली वर्गीकरण में प्रयुक्त शरीर-क्रियात्मक गुणों में, वर्गीकरण विधि के साधन के रूप में और मानव प्रजननशास्त्र की गवेषणा, दोनों में **रक्त प्ररूपों** (Blood types) का सर्वाधिक अध्ययन हुआ है। इस श्रेणी में स्वाद की प्रतिक्रियाओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति और अधिवृक्क ग्रंथि (Endocrine glands) के कार्य जैसे कुछ अन्य गुणों पर भी ध्यान दिया गया है। बौयड ने इन शब्दों में रक्त प्ररूपों का वर्णन किया है :

"चार शास्त्रीय रक्त-समूह, इस परिस्थिति पर निर्भर हैं कि कुछ व्यक्तियों के रक्त के लाल कणों (Corpuscles) पर कुछ अन्य व्यक्तियों के रक्त के द्रव भाग में विद्यमान पदार्थ (अर्थात् प्लाज्मा या सीरम) इस प्रकार कार्य करते हैं कि वह चिपक कर गुच्छे या जमे हुए रक्त के टुकड़े बन जाते हैं—लाल कणों में विद्यमान रासायनिक पदार्थ जो इस चिपकने को सम्भव बनाते हैं, एंटीजन्स (Antigens) कहलाते हैं और वह दो हैं, जिन्हें ए और बी कहा जाता है। सीरम में इन पदार्थों के साथ प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले पदार्थ बन सकते हैं, और जो कि दो हैं, जिन्हें ए-विरोधी (Ante-A) और बी-विरोधी (Ante-B) कहा जाता है। चार रक्त-समूहों में समस्त व्यक्तियों का विभाजन इस तथ्य पर निर्भर है कि दो भिन्न रक्त कणों के लक्षण ए और बी पृथक् या साथ विद्यमान रह सकते हैं, या अनुपस्थित हो सकते हैं—यह चार सम्भावनायें उन चार रक्त-समूहों की द्योतक हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय सहमति से उपर्युक्त अक्षरों द्वारा संक्षेप में इस प्रकार नाम दिया गया है : ओ, ए, बी, एबी"।[३]

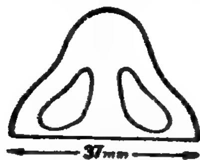
रोगियों को रक्त देने-जैसी स्थितियों में रक्त-प्ररूपों की भिन्नताओं का व्यावहारिक महत्त्व भली-भांति ज्ञात है। वैज्ञानिक उद्देश्य से इसका यह महत्त्व है कि यह गुण आनुवंशिक (Hereditary) है, जिसपर वातावरण के कारकों का प्रभाव नहीं पड़ता, और वस्तुगत मानदंड को लेकर इसका अध्ययन किया जा सकता है। जैसे कि अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी जब पहले-पहल नस्ली भिन्नताओं के अध्ययन में उनकी उपयोगिता का पता चला, हुआ है, यहाँ भी प्रारम्भिक उत्साहियों ने यह समझा कि रक्त के चिपकने की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं मानव-समूहों के वर्गीकरण की समस्याओं का समाधान जुटा देंगी। जहां तक कि वर्गीकरण का सम्बन्ध है, रक्त-प्ररूप ने, तब से एक अन्य गुण का स्थान ले लिया है, नस्ली और उपनस्ली विभाजन में जिसका विश्लेषण अधिक सही रेखायें खींचने में मदद देता है। इसके अलावा रक्तप्ररूपों के अध्ययन ने जनसंख्या के प्ररूपों की रचना में अन्तर्निहित आनुवंशिक प्रक्रियाओं और दीर्घकाल में शारीरिक लक्षणों में हुए परिवर्त्तनों को और अधिक समझने में मदद दी है।

पृथक् गुणों द्वारा मानव-समूहों में शारीरिक भिन्नताओं के विश्लेषण की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न एक प्रश्न पर ध्यान देना जरूरी है। जैसाकि हम देखेंगे,

---

३. डब्ल्यू० सी० बायड, १९५०, पृ० २१२

दर्शाती है, तो वह नहीं बता सकता कि यह किस समूह से ली गयी है। बावजूद इस तथ्य के कि हम यहां पर उन दो जनसंख्याओं का जिक्र कर रहे हैं जिनकी नस्लें, मापे जाने वाले लक्षण की दो अतियों को व्यक्त करती हैं, यह सत्य है।



रेखाचित्र १२—३७ मिलीमीटर चौड़ी नाक

एक के बाद दूसरे गुण को लेकर हम इसे दर्शा सकते हैं, इनमें से कुछ ही में हम दो समूहों के बीच एक दूसरे को छादन करने की अनुपस्थिति पायेंगे। यह समूह वह होंगे जिनमें कि किसी निर्दिष्ट पहलू की सबसे उग्र अभिव्यक्ति हो। औसत मूल्यों में भिन्नतायें सदा ही स्पष्ट होती हैं जैसे कि जब हम कहते हैं कि फिलिपिनों की तुलना में अमरीकन अधिक लम्बे हैं। पर इस गुण में भी, अभी चर्चा किये गये गुण की भांति हम देखेंगे कि कुछ फिलिपिनो, कुछ अमरीकनों से अधिक लम्बे हैं, चूंकि, प्रत्येक समूह में ठिगने और लम्बे लोगों के अन्तर हैं और दोनों में से प्रत्येक समूह में दूसरे समूह के किसी एक सदस्य की तुलना में लम्बे और छोटे सदस्यों की संख्या निश्चित रूप से कम होती है। परिणामतः हम एक सामान्य सिद्धान्त का उल्लेख कर सकते हैं, कि **समग्र रूप से विभिन्न नस्लों के बीच विद्यमान भिन्नताओं की तुलना में मानव-जाति की किसी एक नस्ल में पाये जाने वाले शारीरिक गुणों की भिन्नताएं उससे कहीं अधिक हैं।**

क्या इसका यह अर्थ है, जैसा कि कभी-कभी कहा भी जाता है, कि नस्ल जैसी कोई चीज नहीं है ? इस प्रकार के वक्तव्य की पुष्टि केवल परिभाषा द्वारा ही की जा सकती है। सामान्य बुद्धि हमें यह बताती है कि मानव प्राणियों के विभिन्न प्रकार, एक ही गुण की विभिन्न अभिव्यक्तियों की सीमा द्वारा, एक-दूसरे से अलग किये जा सकते हैं। एक चीनी, एक अफ्रीकन, एक अंग्रेज उन शारीरिक भिन्नताओं को दर्शाता है जोकि प्रत्येक को दूसरे से पृथक् करती हैं, और इन भिन्नताओं की उपस्थिति की उपेक्षा करना केवल वस्तुगत यथार्थता से इनकार करना होगा। बावजूद इसके, हमें नस्लों को उनके असली रूप में ही लेना चाहिए, और इनका वह रूप वाह्य आकृति पर आधारित वे श्रेणियां हैं जो कि उन वैज्ञानिक मापों और अवलोकनों में प्रतिबिम्बित होती हैं जो मानव सामग्रियों के सुविभाजनक वर्गीकरण को सम्भव बनाते हैं। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, मानव के प्राणिशास्त्रीय स्वभाव को आंकने और उसकी संस्कृति निर्माण की प्रवृत्तियों के साथ इस पहलू के सम्बन्ध को समझने में यह एक महत्त्वपूर्ण पहला कदम है, पर यह अपने आप में एक लक्ष्य मुश्किल से ही कहा जा सकता है। इन वर्गीकरणों के बनाने में हम अपने न्यासों को अन्य समस्याओं के अध्ययन का साधन बनाते हैं, इस तथ्य को न समझने के कारण नस्ल की प्रकृति के बारे में बहुत गलतफहमी पैदा हो गई है।

३

जैसा कि हम देख चुके हैं, मानव जाति के प्रधान समूहों को प्रायः तीन नस्लों, काकेशायड, मंगोलायड, नीग्रोयड नाम दिया गया है। उनके विस्तार को सामान्य रूप से क्रमशः यूरोप, एशिया और अमरीका और अफ्रीका में केन्द्रित दिखाया जा सकता है। पर इससे सारी कहानी समाप्त नहीं हो जाती। हम उन्हें विभिन्न सागरों में फैला हुआ भी दिखा सकते हैं। इन अर्थों में काकेशायड नस्ल, जोकि केवल यूरोप में ही नहीं, बल्कि अफ्रीका की उत्तरी पट्टी के साथ-साथ पूर्व में फिलस्तीन, एशिया माइनर तक और ईरान से विलोचिस्तान तथा उत्तरी भारत तक पहुंच गयी है, भूमध्य सागर के आस-पास फैली हुई कही जायेगी। मंगोलायड नस्ल को, जिसमें काकेशायडों से न बसे हुए एशिया के समस्त क्षेत्रों के लोग, और अमरीकाओं के समस्त आदिवासी शामिल हैं, प्रशान्त महासागर के चारों ओर एकत्रित कहा जा सकता है। भारतीय महासागर का नीग्रायड नस्ल के साथ ऐसा ही रिश्ता है, जिसमें सहारा के मरुस्थल से दक्षिण में रहने वाले केवल सभी अफ्रीकन ही नहीं, बल्कि इंडोनेशिया के पिग्मी समूह और तथाकथित मैलेनिशियन नीग्रायड के पापुजन प्ररूप के निवास-स्थान न्यूगिनी और मैलेनेशिया के बृहत् क्षेत्रवासी भी शामिल है। यहां आस्ट्रेलायडों के बारे में भी एक शब्द कहा जा सकता है, यद्यपि अन्य नस्लों की तुलना में एक नस्ल के रूप में उनकी पहिचान के बारे में अल्प सहमति है। यदि हम आस्ट्रे-लायड नाम को, जिस के पक्ष में बहुत-कुछ कहा जाता है, स्वीकार कर लें, तब इस नस्ल में आस्ट्रेलिया के समस्त आदिवासी और दक्षिण भारत के मूलवासी द्रविड़ जन भी आ जायेंगे।

उक्त तीन प्रमुख नस्लों और उनकी उपनस्लों के शारीरिक लक्षणों का विवरण प्रायः दिया गया है।[6] इस सम्बन्ध में हैडन की योजना अभीतक बनायी गयी योजनाओं में[7] शायद सबसे अधिक विस्तृत और उपयोगी है। क्रो-मैग्नन द्वारा दी गयी तालिका हमें मोटे तौर से अनेक नस्लों को एक-दूसरे से पृथक् करने की रीति को अच्छी तरह समझने में सहायक होगी। अपने प्रयोग के अनुसार शब्दावली में थोड़ा हेर-फेर कर यह तालिका निम्न प्रकार है :

गुण	काकेशायड	मंगोलायड	नीग्रायड
त्वचा का रंग	हल्के पीले, लाली-नुमा सफेद से जैतूनी भूरे तक	केसरिया से पीले भूरे तक, कुछ लाली-नुमा	भूरे से भूरे काले तक, कुछ पीला भूरा।
कद	मझले से लम्बा	मझले लम्बे से मझला छोटा	लम्बे से बहुत छोटे तक
सिर की रचना	लम्बे से चौड़े और छोटे तक, मध्यम ऊंचे से बहुत ऊंचे	प्रधानतः चौड़े, मध्यम ऊंचाई	प्रधानतः लम्बे ऊंचाई नीचे से मध्यम तक

६. ए० सी० हैडन, १९२५, पृ० १५–३६
७. डब्ल्यू० एम० क्रोग्मैन, १९४५, पृ० ५०

गुण	काकेशायड	मंगोलायड	नीग्रायड
चेहरा	संकीर्ण से मध्यम चौड़ा, ऊंचाई की ओर प्रवृत्त, बाहिर निकले हुए जबड़ों का अभाव	मध्यम चौड़े से बहुत चौड़े तक, ऊंची और चपटी गाल की हड्डियां, मध्यम ऊंचाई की ओर प्रवृत्त	मध्यम चौड़े से संकीर्ण तक, मध्यम ऊंचाई की ओर प्रवृत्त, बहुत बाहर निकले हुए जबड़े
केश	सिर के बाल : रंग, हल्के सुनहरे से गहरा भूरा; बनावट : सूक्ष्म से मध्यम; रूप : सीधे से लहरदार। शरीर के बाल : मामूली से घने तक	सिर के बाल : रंग, भूरे से भूरे काले, बनावट : सख्त; रूप : सीधा। शरीर के बाल : छितरे	सिर के बाल : रंग, भूरा-काला; बनावट : सख्त; रूप : हल्के घुंघरीले से ऊनी या उलझे हुए तक। शरीर के बाल : कम।
आंख	रंग : हल्के नीले से गहरा भूरा; कभी-कभी आंख की पार्श्वीय तह (Laterl fold) भी।	रंग : भूरे से गहरा भूरा, मध्यस्थित आंख की सिकुड़न (Epicanthic fold) अति विद्यमान	रंग : भूरे से भूरा काला; सीधी आंख की तह (Vertical eyefold) सामान्यतः व्याप्त।
नाक	सेतु : प्रायः ऊंचा, रूप : संकीर्ण से मध्यम चौड़ा।	सेतु : प्रायः निम्न से मध्यम ; रूप : मध्यम चौड़ा।	सेतु : प्रायः निम्न; रूप : मध्यम, चौड़े से बहुत चौड़ा।
शरीर का गठन	कृशदीर्घ से स्थूल तक (Linear to lateral) कृश से कठोर।	स्थूलता की ओर प्रवृत्त, कुछ-कुछ रेखात्मकता (Linearity) की अभिव्यक्ति।	स्थूलता की ओर प्रवृत्त और मांसल, परन्तु कुछ रेखात्मकता की अभिव्यक्ति।

इन नस्लों में से प्रत्येक में कई उप-नस्लें हैं, यह तथ्य इनमें से प्रत्येक नस्ल में विद्यमान भिन्नताओं के क्षेत्र पर, जोकि ऐसे समूहीकरणों का महत्त्वपूर्ण पहलू है, ज़ोर देता है। काकेशायड—इसमें अन्तिम आयड का अर्थ है समान, और इसका प्रयोग ऐसे वर्गीकरणों के सामान्य भेदों को दर्शाने के लिए किया गया है। यह नस्ल उत्तरी यूरोपियन या नार्डिक, केन्द्रीय यूरोपियन या अल्पाइन, दक्षिणी यूरोपीय और उत्तरी अफ्रीकी भूमध्यसागरीय उप-नस्ल और पूर्व की ओर दीनारी इन चार उप-नस्लों से मिलकर बनी है। अन्य उप-नस्लों की तुलना में मंगोलायड उप-नस्लें कम-अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित हैं, किन्तु इंडोनेशिया में मलय समूहों को एक, दक्षिणी चीनियों को दूसरी, उत्तरी चीनियों और मंगोलों को तीसरी, साइबेरियनों को चौथी, और अमरीकाओं में अमरीकी इंडियनों को एक और ऐस्कीमो को दूसरी उप-नस्ल माना जाता है। अफ्रीकी नीग्रायड नीग्रायड-काकेशायड मिश्रित वंश के सहारावासियों, गिनी तट के "सच्चे नीग्रो"

लोगों, कांगो बेसिन और पूर्वी अफ्रीका की बांटूभाषी अनेकतत्वीय जनसंख्याओं, दक्षिण अफ्रीका के खोइसन लोगों (एक नाम जिसमें कि होटेंटोट और बुशमैन दोनों शामिल हैं), पूर्वी अफ्रीका के झील प्रदेश के नीलोटिक और इथोपियन प्रायद्वीप और उसके दक्षिण पश्चिम प्रदेश में बसी हुई हेमाइट उपनस्लों में बंटे हुए हैं। इसके अतिरिक्त नीग्रायड नस्ल में समस्त पिग्मी (कांगोवन के निवासी, अंडमानी, लंका के वेद्दा, फिलीपीन के नेग्रिटो, सुमात्रा के ऐटा और उस जैसे अन्य समूह) और अन्त में मैलेनेशियाई नीग्रायड, जिनका हम पहले जिक्र कर चुके हैं, ये सब उप-नस्लें शामिल हैं।

मानव प्ररूपों को विभाजित करने की हमारे द्वारा प्रस्तुत इस सामान्य योजना में भी कुछ ऐसे समूह, जिनके सम्बन्ध में कोई एकमत नहीं है, छूट जाते हैं। प्रशान्त महासागर के द्वीपवासी पोलिनेशियाई इसके उदाहरण हैं। वे कहां से आये? वे किनके वंशज हैं? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में नहीं दिया जा सकता। शायद वह पुरानी दुनिया से पूर्व की ओर एक प्रवास की विलुप्त शक्ति को व्यक्त करते हैं, जिसने कि उनको समस्त प्रधान नस्लों का एक मिश्रण बना दिया। कुछ विद्वानों ने पोलिनेशियाइयों की काकेशायड आकृति के कारण उन्हें उस वर्ग में स्थान दिया है। जापान के उत्तरस्थित सखालिन द्वीप के आइनू जिन्हें कि "लोमश आइनू" कहा जाता है, चूंकि उनके पुरुषों के शरीर पर बहुत घने बाल होते हैं, ऐसा ही एक समूह है। इस और कई अन्य गुणों के कारण उन्हें कई बार काकेशायड वर्ग में रखा गया है। पर जब हम उनके और काकेशायड नस्ल के निवास-स्थान यूरेशियायी क्षेत्र के बीच के फासले पर विचार करते हैं, तो यह समस्या कि वे अपने प्रवास के कोई चिह्न छोड़े बिना किस प्रकार अपने वर्तमान निवासस्थान पर पहुँचे, उनके और जिस नस्ल के सदस्यों के साथ उन्हें कभी-कभी रखा जाता है उनके बीच किसी प्रकार के जननिक सम्बन्ध को मानने में दुर्लंघ्य बाधा है।

वास्तव में इस प्रकार की समस्यायें ऐतिहासिक हैं। उन्हें जीवित जनसंख्याओं के बीच देखे जाने वाली समताओं या भिन्नताओं के आधार पर नहीं सुलझाया जा सकता। इस बात को कहने का यह एक दूसरा तरीका है कि नस्ली विभाजन कौन प्ररूप विद्यमान है और कहां पर है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बताता। बाद के इन दो उदाहरणों में सदृशतायें प्राणिशास्त्रीय सम्बन्धों के बारे में तथ्यतः पूर्वकल्पना को जन्म दे सकती हैं। किन्तु यह पूर्वकल्पनायें पूर्वकल्पनायें ही रहेंगी, जबतक कि पुरातत्त्व-शास्त्रीय साक्षी प्रवास के मार्ग को नहीं दर्शाती या जबतक उन जननिक प्रक्रियाओं का, जिनके द्वारा ऐसे समूह प्रकट हुए और अनेक पीढ़ियों से लेकर आज तक प्राप्त स्थान में कायम रहे, विवरण नहीं दिया जाता। मानव शारीरिक प्ररूपों में भिन्नताओं की वास्तविकता को यों ही खण्डन नहीं किया जा सकता, किन्तु इस एहतियात की जरूरत है कि इस वास्तविकता को अनुचित वजन न दिया जाय। केवल परिभाषा द्वारा विद्यमान समूह वास्तविकता से उतनी ही दूर हैं, जितनी दूर उन शारीरिक लक्षणों की अनुपस्थिति का दावा है जोकि मानवसमूहों को पृथक् करते हैं और उन्हें एक या दूसरी नस्ल के सदस्य बनाते हैं।

४

मानव-समूहों के बीच शारीरिक प्ररूपों की भिन्नताओं की प्रकृति को समझने में हमारा अगला कदम, अपनी परिभाषा के अन्तिम वाक्यांश के अर्थ में, इन भिन्नताओं पर विचार करना है। यह स्मरणीय है कि इस वाक्यांश में यह कहा गया था कि एक नस्ल को दूसरी नस्ल से पृथक् करने वाले गुण जन्मतः सही उतरते हैं। इस वक्तव्य का यह संकेत है कि ये लक्षण आनुवंशिक रूप से स्थिर हैं। इसका यह अर्थ है कि एक बार वर्गीकरण हो जाने के बाद नस्ल के अध्ययन का सार मानव प्रजननशास्त्र के क्षेत्र में है। वास्तव में इसी दृष्टिकोण से हम मानव प्राणिशास्त्र की, गतिशील प्रक्रियाओं का विश्लेषण कर सकते हैं जो कि हमारी समस्या की गुत्थी है। ये प्रक्रियायें नस्ली या जनसंख्या प्ररूपों की विशुद्धता, एवं किस प्रकार नये प्ररूप विकसित होते या हो सकते हैं, और सबसे बढ़कर, किस प्रकार सांस्कृतिक आदेश (Sanctions) और तज्जनित व्यवहार, जोकि उन आदेशों की अभिव्यक्ति हैं, जनसंख्याओं के शारीरिक प्ररूप को प्रभावित कर सकते है, आदि मामलों की व्याख्या करती हैं।

विशिष्ट जीव-जाति में विभाजन एक गतिशील प्रक्रिया है और केवल वर्गीकरण से यह नहीं समझा जा सकता कि विभिन्नरूप कैसे पृथक् हुए। यह मानना कि मानव एक ही जीव-जाति का सदस्य है, इसमें यह मान्यता निहित है कि विभिन्न उपजीव-जाति रूपों या नस्लों में संतानोत्पत्ति सम्भव है। इस पर जोर देने की जरूरत नहीं कि इस मान्यता को केवल अपने चारों तरफ देखकर सत्य सिद्ध किया जा सकता है। दर्शक कहीं भी रहे उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह पुनः हमें इस प्रश्न की ओर खींचता है, कि क्या वस्तुतः मानव की विशुद्ध नस्ल हैं या नहीं।

यदि हम पुनः नस्ल पर यूनेस्को के वक्तव्य पर गौर करें, तो हमें निम्न वाक्य मिलते हैं :—

"तथाकथित 'विशुद्ध' नस्लों की उपस्थिति की कोई साक्षी नहीं है। कंकालीय अवशेष प्रारम्भिक नस्ल के बारे में हमारे सीमित ज्ञान का आधार हैं। नस्ली मिश्रण के बारे में साक्षी इस तथ्य की ओर निर्देश करती है कि अनिश्चित परन्तु बहुत समय से मानव संकरण (Hybridization) होता आया है। वस्तुतः नस्लों के निर्माण और लोप या जज्ब होने की प्रक्रिया का एक साधन विभिन्न नस्लों के बीच संकरण है। चूंकि इस बात की कोई विश्वस्त साक्षी नहीं है कि इससे कोई हानिकर प्रभाव होते हैं, अतः भिन्न नस्लों के व्यक्तियों के बीच अन्तर्विवाह के निषेध का कोई प्राणिशास्त्रीय औचित्य नहीं है।"[८]

इसका यह अर्थ नहीं कि सिद्धान्ततः अन्य रूपों की भांति मानव अन्तःजनन द्वारा ऐसी धारायें (Strains) पैदा नहीं कर सकता जोकि पीढ़ियों तक अन्य प्ररूपों से संपर्क व मिश्रण के बिना एकतत्त्वीय हों और एक निर्दिष्ट उचित ऐतिहासिक परिस्थिति में इतनी बड़ी भी हों कि उन्हें विशुद्ध नस्ल कहा जा सके। वास्तव में एक विशुद्ध नस्ल

---

८. यूनेस्को, १८५२, पैरा ७, पृ० १४

अर्थात् एक ऐसा प्रधान समूह, जिसके किन्हीं भी सदस्यों के पूर्वज अन्य नस्ल के न रहे हों, नहीं पायी जाती। किन्तु यदि हम नस्लों के बजाय, जनसंख्याओं को देखें और प्रजननशास्त्री की विशुद्ध नस्लों की अपेक्षा 'विशुद्धधारा' की अवधारणा के अर्थों में विचार करें तो यह कहना सम्भव है कि अन्तर्जनन ने, चाहे वह भौगोलिक या समाजशास्त्रीय पृथक्करण के कारण ही क्यों न हो, विभिन्न जनसंख्याओं में विभिन्न अंशों में एकतत्त्वीयना (Homogeneity) और अनेकतत्त्वीयता (Heterogeneity) पैदा की है।

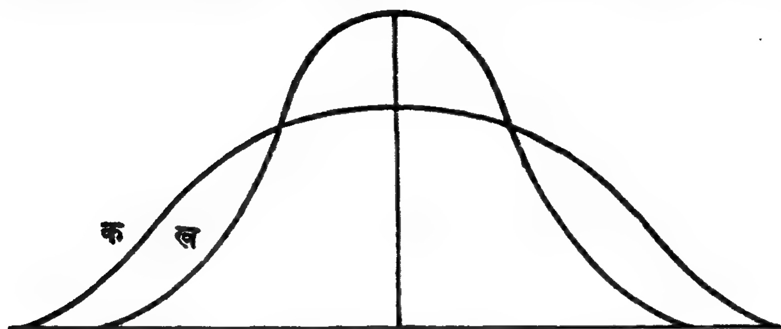
इस सम्बन्ध में यह तथ्य सबसे महत्त्व का है कि सभी मानव समूह एक दूसरे से सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। इसीसे विभिन्न जनसंख्याओं के बीच अन्तर्जनन सम्भव हुआ, जिसने कि पृथ्वी पर मानव के प्रारम्भिकतम समय से लेकर मानव की स्थिति को कायम रखा, और जब हम नस्ली अर्थों में सोचते हैं, तो ऐसे प्ररूपों को पैदा किया जिन्हें हम मिश्रित नस्लें कहते हैं। सम्पर्क के अन्तर्गत व्यत्यसन (Crossing) वस्तुतः इतना व्याप्त है कि मानव जीव के बारे में यह कहावत माननी ही पड़ती है कि **कोई ऐसी स्थिति नहीं कि जहाँ दो मानव समूह मिलें और मिश्रित संतान पैदा न करें। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि इस सम्पर्क के विरुद्ध कितने सख्त नियम हैं।** इस दुनिया में या मृत्यु के बाद सजाओं का विधान किया जा सकता है, उन्हें जाति-बहिष्कार या मृत्यु दंड तक भोगना पड़ सकता है, पर प्रेम अपना रास्ता ढूंढ ही लेता है। यह एक कारण है कि मानव समूहों में भिन्नता का विस्तार क्यों इतना अधिक है। संक्षेप में, इसीलिए हम कह सकते हैं कि कोई विशुद्ध नस्लें नहीं हैं, क्योंकि मानव भी सम्भवतः प्राणिशास्त्रीय संसार में मिलनेवाले पशुओं के समान ही वर्णसंकर जीव है।

यहां सापेक्ष भिन्नता का तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह हो सकता है कि किसी एक गुण की औसत माप में कोई दो जनसंख्यायें एक समान हों, पर फिर भी जननिक रूप में वह बिल्कुल भिन्न हों। रेखाचित्र १३ इसे दर्शाता है, जिसमें दोनों ही जनसंख्याओं का एक ही औसत मूल्य है। परन्तु क की औसत का वितरण विस्तृत है और यह जनसंख्या अनेकतत्त्वीय है, इसके विपरीत ख अपनी ऊंची, संकीर्ण वक्ररेखा से एक अन्तर्जनित समूह को, जिसके पूर्वज एकतत्त्वीय हैं, दिखाता है।

यह अधिक सम्भव है कि प्रमुख नस्लों के मापे जाने वाले गुणों की भिन्नता में बहुत कम अन्तर है, जबकि एक ही जनसंख्या की भिन्नता में वह अन्तर अत्यधिक है। उदाहरण के लिए, ऐस्किमो अन्तर्जनित समझे जाते हैं, उनमें स्थानीय भिन्नतायें मिलती हैं, पर किसी एक ऐस्कीमो समूह के समस्त सदस्य एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्बन्धी होते हैं और इसीलिए बहुत-कुछ एक-दूसरे के सदृश होते हैं। हम देखें कि यह कैसे सम्भव हुआ। ऐस्कीमो का प्राकृतिक वातावरण एक निश्चित आकार की जनसंख्या को, जिसमें बाहर से बहुत कम ही वृद्धि होती है, स्थान देता है। इससे **पूर्वजता समाप्त** हो जाती है। जल्दी या देरी से—इस उदाहरण में जल्दी ही—एक-दूसरे के सम्बन्धी जिनके पूर्वज अल्पाधिक अंश में एक ही होते हैं, आपस में यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। केंटकी के कुछ पहाड़ी समुदायों में विवाह के लेखों से यह पता चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे

व्यक्ति का तीसरी पीढ़ी का चचेरा भाई या बहिन है. जबकि अन्य व्यक्ति और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्धी हैं।

इस प्रकार सिद्धान्ततः अपेक्षित पूर्वजों की संख्या उनके उत्तराधिकारियों के लिए घट जाती है। इस सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मानवों



रेखाचित्र १३—एकतत्त्वीय और अनेकतत्त्वीय जनसंख्याओं के वितरण की वक्ररेखाएं

में भाई-बहिन के बीच यौन-सम्बन्ध विरल है, पर यदि सगे भाई बहिन से एक बच्चा उत्पन्न हो, तो उस बच्चे के चार के बजाय दो बाबा-दादी व नाना-नानी होंगे, चूंकि उसकी माता और पिता के मां-बाप एक ही व्यक्ति होंगे।

इस प्रकार भिन्न प्ररूप के दो समूहों के बीच जनसंख्या मिश्रण की प्रकृति को निर्धारित करने में निरन्तर दो शक्तियां कार्य करती हैं; सम्पर्क होने पर मिश्रण की प्रभुता होती है, पृथक्करण होने पर अन्तर्जनन (Inbreeding) होता है। पहले से कम-से-कम प्रारम्भिक मिश्रण (Cross) के बाद अनेकतत्त्वीयता और दूसरे से एकतत्त्वीयता विकसित होती है। सच्चे अर्थों में मानव का नस्ली इतिहास इन दो शक्तियों की परस्पर क्रीड़ा का परिणाम है।

मानव शारीरिक प्ररूपों के अध्ययन में फ्रेंच बोग्रास द्वारा विकसित इन कार्य-प्रणालियों को व्यक्त करने की गाणितिक विधि और उनका संख्यात्मक विश्लेषण एक महत्त्वपूर्ण देन है। इसके महत्त्व के कारण हम उसके द्वारा अनुसरण किये गये तर्क से जनसंख्याओं की सापेक्ष एकतत्त्वीयता या अनेकतत्त्वीयता को ध्यान में रखते हुए, विशेष शारीरिक प्ररूपों के विकास की कहानी की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

हम सर्वत्र दृष्टिगोचर होने वाले इस तथ्य से शुरू करते हैं कि किसी निर्दिष्ट समय में एक जनसंख्या में से, जिसमें सभी उम्र के स्त्री-पुरुष हैं, कोई दो व्यक्ति हूबहू एक-से नहीं होते। सामान्यतः जब किसी मानवशास्त्री को ऐसे एक समूह का विवरण देना होता है, तो वह युवा स्त्री या पुरुषों या दोनों की, चूंकि स्त्री-पुरुषों की भिन्नताओं को सदा ध्यान में रखना जरूरी है, पर्याप्त संख्या के उचित नमूनों (Samples) का माप लेता है। फिर वह अध्ययन के लिए चुने गये गुणों की औसतों और भिन्नताओं (Variabilities)

का हिसाब लगाता है और प्राप्त परिणामों को उस जनता के विवरण के रूप में पेश करता है। यह संख्यात्मक स्थिर तत्त्व (Constants) जो इस नाम से पुकारे जाते हैं, उसे अध्ययन की गयी जनता को एक या दूसरी नस्ली या उप-नस्ली श्रेणी में रखने की अनुमति देते हैं। उसने जो किया, वह यह है कि उसने कुछ व्यक्तियों का, जोकि समस्त जनसंख्या के प्रतिनिधि हो सकते हैं, पर जोकि आनुवंशिकता और वृद्धि की प्रक्रियाओं का अन्तिम परिणाम हैं और जो जन्म से ही अपने वातावरण और संस्कृति से प्रभावित हुए हैं, माप लिया है।

फिर भी यह जनसंख्या अन्य किसी जनसंख्या की भांति, केवल व्यक्तियों का योग नहीं, वह इससे अधिक कुछ चीज है। उनमें व्यक्त अन्तर केवल कुल संख्या के रूप में व्यक्त होता है, जोकि उन गतिशील कारकों में, जिन्होंने कि उसे वैसा बनाया है,कोई भेद नहीं करती। इसे जानने के लिए हमें अपनी जनसंख्या को एक परिवारों के क्रम (Series) में—पारिवारिक वंशों के जीवित प्रतिनिधियों के रूप में, विश्लेषण करना होगा, जोकि जैसा कि हम पहले भी जिक्र कर चुके हैं किसी नस्ली या अन्य मानव-समूह के आवश्यक जननिक घटक हैं। इस दृष्टिकोण से अपनी जनसंख्या के विश्लेषण की समस्या के समाधान के लिए यह जरूरी है कि हमारे मानवशास्त्री केवल प्रौढ़ों का ही नहीं, वल्कि समस्त परिवारों और उनके छोटे-बड़े सभी सदस्यों का माप लें। तब उन्हें अपनी जन-संख्या की वास्तविक रचना से मिलते-जुलते न्यास प्राप्त होंगे, चूंकि तब उनमें सभी उम्र की स्त्रियों और पुरुषों, लड़के और लड़कियों का, जो परस्पर अनेक प्रकार के सम्बन्धों में बंधे हुए हैं, समावेश होगा।

इस चर्चा के लिए हमें न्यासों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाने वाली उन संख्यात्मक विधियों पर विचार करने की जरूरत नहीं, जिन्हें कि विभिन्न स्त्री-पुरुषों और आयु-वर्गों के मापों को एक समान मूल्य निकालने या बच्चों की भिन्न संख्यावाले परिवारों को वजन देने में प्रयुक्त किया जाता है। अन्तिम परिणाम, जोकि हमारा लक्ष्य है, जनसंख्या की संपूर्ण भिन्नता को दो शब्दों में विभक्त करना है। इनमें से एक परिवारों के **बीच**, भिन्नताओं को प्रकट करता है। दूसरा परिवारों के **अन्दर** विद्यमान औसतन भिन्नताओं को व्यक्त करता है। इनमें से पहले को पारिवारिक अन्तर और दूसरे को भ्रातृक अन्तर कहते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **एक जनसंख्या के एक गुण के अन्तर (Variability) उस गुण के पारिवारिक अन्तरों और भ्रातृक अन्तरों को जोड़ कर बनते हैं।**

यह दृष्टिकोण एक निर्दिष्ट जनसंख्या के प्राणिशास्त्रीय इतिहास में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रदान करता है। एक निर्दिष्ट समूह में पारिवारिक अन्तर जितने कम होंगे, उसमें उतना ही अधिक अन्तर्जनन हुआ होगा, भ्रातृक अन्तर जितने कम होंगे उसके पूर्वजों का स्कंध (Stock) उतना ही अधिक एकतत्त्वीय होगा। इस प्रकार एक मिश्रित उत्पत्ति की जनसंख्या में, जैसी कि आधुनिक अमरीकी शहरों में है, जहां वर्ग रेखायें कम-से-कम गोरी जातियों में, कठोर संस्थागत व्यवहार का अंग नहीं बनी हैं, स्वतंत्र यौन-सम्बन्ध अधिक पारिवारिक और भ्रातृक अन्तरों को पैदा करते हैं। पहाड़ी

घाटियों में रहने वाली एक पृथक्कृत अन्तर्जनित जनसंख्या में दोनों के ही मूल्य कम होंगे। आइये, हम इस प्रकार के विश्लेषण में सबसे अधिक उपयोग में लाये गये गुण, सिर की रचना की संख्याओं की तालिका को देखें।

जनसंख्या	पारिवारिक कुलों के अन्तर	परिवार के अन्दर विद्यमान अन्तर
पोटेंजा, इटली	२.४१	२.५२
केन्द्रीय इटालियन	२.३९	२.७२
बोहेमियन	२.३७	२.६१
वौरकेस्टर, मैसाचुसेट्स	२.३६	२.३६
पूर्वी यूरोपीय यहूदी	२.२९	२.५२
स्काट	२.१७	२.६६
न्यूयार्क के मिश्रित नीग्रो	१.८५	२.९३
ब्ल्यू रिज के पर्वतवासी	१.८५	२.०९
चिपेवा के रेड इंडियन	१.७७	३.३२
बास्टार्ड (दक्षिणी अफ्रीका)	१.२६	२.५२[९]

फिलहाल हम इन संख्याओं में से केवल पहली दो पर ही विचार करेंगे। पोटेंजा दक्षिण इटली में है, जहां कि लम्बे सिरवाला भूमध्यसागरीय प्ररूप व्याप्त है। केन्द्रीय इटली में रोम ने प्रायद्वीप के सभी भागों से, दक्षिणी क्षेत्रों की लम्बे सिरवाली जनसंख्याओं और उत्तर से जहांकि लघु सिरवाली अल्पाइन उप-नस्ली प्ररूप का प्रभुत्व है, लोगों को आकर्षित किया। इटली एक प्राचीन देश है, अतः इन सभी क्षेत्रों की जनसंख्यायें अपेक्षाकृत स्थिर हैं। हमारी तालिका के पहले स्तंभ में दी गयी संख्यायें इस बात का संकेन करती हैं कि केन्द्रीय और दक्षिणी इटली दोनों में लगभग एक ही सीमा तक स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध और अन्तर्जनन हुआ है। और ऐतिहासिक अभिलेखों से भी इन निष्कर्षों की पुष्टि होती है। पर यदि भ्रातृक अन्तरों की संख्याओं पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय इटली की तुलना में जहां कि मूलतः लम्बे और छोटे सिरवालों में मिश्रण हुआ पोटेंजा में व्यक्तियों के बीच अभिजनन, जो सभी लम्बे सिरवाले थे, इस गुणका अल्प मूल्य देता है। परिणामतः हम देखते हैं कि किस प्रकार यह प्राणि-ऐतिहासिक विश्लेषण सिर रचना में, केन्द्रीय इटली की जनसंख्या की बहुतत्त्वीयता के विरुद्ध, दक्षिणी इटली के लोगों की एकतत्त्वीयता की व्याख्या करता है।

इस प्रकार जननिक दृष्टिकोण से नस्ल को समान शारीरिक लक्षणों वाले व्यक्तियों का समूह नहीं, बल्कि पारिवारिक कुलों या वंशों की शृंखला का क्रम माना

---

९. एफ० बोआस, १९१६, पृ० ९। न्यूयार्क नीग्रो के लिए (एम० जे० हर्स-कोविट, १९२४ बी०) और ब्लू रिज के पर्वतवासियों के लिए (आई० जो० कार्टर, १९२८) की संख्यायें, मौलिक तालिका में जोड़ दी गई हैं, क्योंकि वह बोआस के मौलिक निबन्ध के प्रकाशन के बाद हुई गवेषणाओं का परिणाम हैं।

जायेगा, जो ऐसी संतान पैदा करते हैं जो समान प्रजनन धाराओं से पैदा होने के कारण बड़ी होकर एक-दूसरे के सदृश दिखायी देती हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं कि एक समूह के सदस्य शारीरिक रचना में किस हद तक समान होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें कितना अन्तर्जनन हुआ है। इस प्रकार मानव शारीरिक प्ररूप में स्थिरता और परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए **जन-संख्या** ही महत्त्वपूर्ण है। एक बार वर्गीकरण का कार्य समाप्त हो जाने पर **नस्ल** केवल वर्गीकरण की एक विधि रह जाती है जोकि वैज्ञानिक विश्लेषण में अत्यन्त प्रारम्भिक स्तर पर है और जिससे अति अल्प अन्तर्दृष्टि मिलती है।

लेकिन यह कहना एक नयी समस्या खड़ा करना है, क्योंकि इस तरह का सवाल उठाना आसान है, पर उसका जवाब देना कठिन है। पारिवारिक वंशों की एकतत्त्वीयता और बहुतत्त्वीयता के अर्थों में जनसंख्या का विश्लेषण एक वाद के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, जोकि मानव प्राणिमिति के बजाय पशु प्रजननशास्त्र की, जिस क्षेत्र में बोआस ने अपने सूत्रों का प्रयोग किया है, **पृथक् जननक** (Breeding Isolate) की अवधारणा का प्रयोग करता है। यह दृष्टिकोण निर्दिष्ट समूह के भीतर एक व्यक्ति को प्राप्त गर्भाधान के अवसरों का विश्लेषण कर, सापेक्ष पृथक्करण या अन्य समूहों के व्यक्तियों से उक्त समूह के सदस्यों को प्राप्त सम्पर्क के अर्थों में इस समस्या का समाधान करता है। एक व्यक्ति अपने सक्रिय यौन-जीवन में विपरीत लिंग के कितने व्यक्तियों से और किन परिस्थितियों में मिलता है, यह स्पष्ट ही जिन व्यक्तियों के साथ वह गर्भाधान कर सकता है, इसकी संख्या को सीमित करता है। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि व्यक्तिगत रुचि और सामाजिक प्रथाओं के लिहाज इसे और भी सीमित कर देते हैं। अवसरों की सम्भावना का हिसाब लगा कर और उपयुक्त प्रतीत होने वाले सम्भावित साथियों की संख्या का अनुमान लगाकर दोनों सीमितताओं के अध्ययन द्वारा हम पिछले खण्डों में चर्चा किये गये दृष्टिकोण में एक नये विश्लेषण को जोड़ कर अधिक पूर्णता दे सकते हैं।

मानव शारीरिक प्ररूपों की रचना के गतिशास्त्र के ये समस्त अध्ययन आनुवंशिक-प्रक्रिया की नियमितता की बुनियादी मान्यता पर आधारित हैं। अपने आप में यह आधुनिक प्रजननशास्त्र में आस्ट्रियन विद्वान् ग्रेगरी मेंडल के कार्य से, जिसने कि १८६६ में मटरों के विभिन्न लक्षणों की आनुवंशिकता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों को प्रकाशित किया था, अपनी अवधारणाओं को ग्रहण करते हैं। उसकी प्रारम्भिक गवेषणाओं से प्राप्त सामान्य निष्कर्षों को बहुत सालों तक परीक्षा कर और स्पष्ट करने के बाद उन्हें प्राणिशास्त्रीय संसार पौधे, या पशु, मानव या अर्धमानव के सदस्यों की आनुवंशिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए आधार रूप में स्वीकार किया गया है। गहन और विस्तृत अध्ययन ने उन जटिलताओं को प्रकट किया है जोकि प्रजननशास्त्र के प्रारम्भिक दिनों में मालूम न थीं, किन्तु दूसरे शब्दों में यह इसी तथ्य की स्वीकृति है कि इस क्षेत्र के अनुसंधानों ने भी वैज्ञानिक वृद्धि के सामान्य मार्ग का अनुसण किया है।

मेंडल ने इस बात की खोज की कि उसके द्वारा अध्ययन किये गये मटरों के आनुवंशिक गुण ऐसी इकाई के लक्षण थे जोकि व्यत्यसन (Crossing) द्वारा भी उत्पन्न

होते थे और वहां भी जहां कि एक-दूसरे के मिश्रण से उत्पन्न गुण, जैसे कि रंग में, उनका स्पष्ट मिश्रण दीखता है, बाद की पीढ़ियों में उसके रंग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं; अर्थात् दो गुणों में, उदाहरण के लिए, गोल और झुर्रीदार मटरों में व्यत्यसन होने पर मटर की पहली पीढ़ी में केवल चिकने और गोल मटर पैदा होते हैं। पर जब इन बीजों से उत्पन्न पौधों में मिश्रित फलीकरण (Cross fertilisation) होता है तो अगली पीढ़ी (या दूसरी संतति-पीढ़ी) में लगभग एक चौथाई झुर्रीदार होंगी।

मिश्रित-फलीकृत पौधों में लाल और सफेद फूलों के रंग की आनुवंशिकता को इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया जा सकता है। व्यत्यसन (Cross) की पहली पीढ़ी के बाद सभी फूल गुलाबी हो जाते हैं; जब उनमें आपस में अन्तर्जनन होता है, तब उनमें से आधे गुलाबी, चौथाई लाल और चौथाई सफेद रह जाते हैं। इस पीढ़ी के लाल फूल अन्य लाल के साथ मिलाये जाने पर केवल लाल फूल देते हैं और यही बात सफेद फूलों वाले पौधों पर भी लागू होती है, पर गुलाबी फूल की प्रत्येक बाद की पीढ़ी १ : २ : १ के अनुपात में लाल, गुलाबी और सफेद फूल पैदा करती है। गोल और झुर्रीदार मटरों के उदाहरण में प्रजननात्मक दृष्टि से सब गोल मटर एक समान नहीं होतीं। दूसरी संतति पीढ़ी के बाद, वे एक चौथाई झुर्रीदार मटर सदा केवल झुर्रीदार मटरों को ही पैदा करेंगी। परन्तु तीन-चौथाई जो गोल हैं, उनमें से प्रत्येक तीन में से एक में झुर्रीदार गुण के जननिक वाहक मौजूद हैं, यद्यपि उन गोल मटरों में से कौन-सी इस श्रेणी की हैं, यह देख कर सही तौर पर नहीं बताया जा सकता। ऐसी दशाओं में गोलाई का गुण **प्रबल** (Dominant) और झुर्रीदार होने का गुण **दुर्बल** (Recessive) है, जोकि जननिक रूप से झुर्रीदार गुण के दुर्बल निर्णायकों के वाहक दो गोल मटरों के व्यत्यसन होने पर प्रकट होता है।

मानवीय आनुवंशिकता पर मेंडेलियन सूत्रों को लागू करने में अनेक, विशेषत: पद्धतिशास्त्रीय प्रकार की कठिनाइयां हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, वनस्पतियों या अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव की उत्पादन शक्ति मंद है, और एक यौन-सम्बन्ध से बहुत कम संतान पैदा होती हैं। अत: मानव प्राणियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी विशिष्ट गुणों की वास्तविक आनुवंशिकता का अनुसरण सम्भव नहीं। इसी कारण **प्राणिमितिक** (Biometric) दृष्टिकोण का, अर्थात् जीवित प्राणियों पर लिये जाने वाले मापों के संख्यात्मक अध्ययन का, मानव के अध्ययन में अत्यन्त महत्त्व है। अध्ययन किये जाने वाले निर्दिष्ट गुणों में परस्पर भिन्न, पूर्वज स्कंधों से निकली हुई जनसंख्याओं के प्राणिमितिक न्यासों का विश्लेषण मानव आनुवंशिकता के प्रश्न पर विचार करने का एक सम्भव साधन है, जिससे महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले हैं। मानव प्रजननशास्त्र के विद्यार्थियों ने आनुवंशिक प्रकार के विभिन्न रोग-लक्षणों, जैसेकि बहु-अंगुलीयता (Polydactylism), हाथ या पैर में सामान्य संख्या से अधिक अंगुलियों के होने या अतिरिक्त स्रावप्रवृत्ति (Haemophilia), सामान्य व्यक्ति की तुलना में खाल के कट जाने पर अधिक खून निकलने की प्रवृत्ति जोकि रक्त के जमने की आनुवंशिक असमर्थता से उत्पन्न होती है, जैसे गुणों के संक्रमण को ढूंढने पर विशेष ध्यान दिया है।

अभीतक जारी गवेषणा ने हमें यह सिखाया है कि हमें प्रारम्भिक मेंडेलियन शास्त्रीय

सूत्रों के अर्थ में मानव नस्ली गुणों को इकाई लक्षणों के रूप में ग्रहण करने में सावधानी बरतनी चाहिए। कीड़ों और मानव से नीचे स्तनधारी जीवों पर की गयी गवेषणा से यह प्रकट होता है कि अधिकांश दशाओं में एक निर्दिष्ट गुण को निर्धारित करने वाली इकाइयां बहुत-सी हैं, और किसी विशेष पशु या मानव जनसंख्या में व्यक्त निर्दिष्ट लक्षण प्रजनन संरचना में इन इकाइयों के मिलने और पुनः मिलने के प्रकार, पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार मेंडेलियन अर्थों में त्वचा के रंग पर नीग्रो और श्वेतांग व्यत्यसन के आनुवंशिक प्रभाव का अध्ययन अयथार्थ होगा, चूंकि इस बात का पूरा प्रमाण है कि एक व्यक्ति को प्राप्त विशिष्ट रंग की गहराई को पैदा करने में अनेक निर्धारक, मिलते और पुनः मिलते हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि ऐसी दशाओं में १ : २ : १ का अनुपात ठीक नहीं बैठता, मिश्रित समूह की त्वचा के रंगों के मिश्रणों पर सामान्य दृष्टिपात करना पर्याप्त है।

हमारे लिए यह समझना आवश्यक है कि एक जनसंख्या को दूसरी जनसंख्या से अलग करने वाले आनुवंशिक गुण अपने सब परिवर्तनों में उसके पूर्वजों के शारीरिक लक्षणों की सीमाओं के अन्तर्गत उसी गुणवाली संतान उत्पन्न करते हैं। यदि नस्ली अर्थों में वह एक ही स्कंध से आये हों, तो नस्ली तौर पर मिश्रित पूर्वजों के एक समूह में कम अन्तर पाये जायंगे, और वह एक अमिश्रित नस्ली समूह की तुलना में निर्धारकों के अधिक विस्तृत क्षेत्र से गुण ग्रहण कर सकेंगे। जब यह कहा जाता है कि नस्ल की अवधारणा जननिक (Genetic) है, तो उसका यही अर्थ होता है, किन्तु जो कार्यप्रणालियां कम अन्तरों को उत्पन्न करती हैं, वही अधिक अन्तर भी उत्पन्न कर सकती हैं। परस्पर संतानोत्पत्ति में समर्थ सभी मानव समूहों के प्रसंग में पृथ्वी पर पाये जाने वाले अनेक शारीरिक प्ररूपों का, जिन्हें एक-दूसरे से अलग करने के लिए नस्ली तथा उप-नस्ली नामों का प्रयोग किया जाता है, विवरण प्रस्तुत करने के लिए अन्ततः हमें जनसंख्याओं के बीच पाये जाने वाले सम्पर्क के इस ऐतिहासिक तथ्य का एक बार फिर सामना करना पड़ता है।

५

अब तक की गई चर्चा से उत्पन्न निष्कर्षों का संक्षेप हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

१. मानव एक जीव-जाति है जिसे **'मेधावी मानव'** (Homo sapiens) कहते हैं।
२. मानव प्राणी कुछ शारीरिक गुणों में भिन्नतायें व्यक्त करते हैं, जो आनुवंशिक हैं और इस प्रकार विभिन्न नस्लों और उपनस्लों को सम्भव बनाते हैं।
३. चूंकि मानव एक ही जीव-जाति का प्रतिनिधि है, और अतः उसके सभी सदस्य बिना नस्ली भेद के परस्पर संतानोत्पत्ति में समर्थ हैं, इससे उनके परिसीमन की रेखायें धुंधली पड़ जाती हैं।
४. चूंकि नस्ल एक वर्गीकरण का विषय है, अतः नस्ली प्ररूपों के विवरण हमें उन प्रक्रियाओं के बारे में, जिन्होंने नस्लों को उनका वर्तमान रूप दिया है, कुछ नहीं बताते।

५. यह प्रक्रियायें जननिक प्रकार की हैं।

६. मानव प्रजननशास्त्र का विश्लेषण विभिन्न स्थानीय समूहों में पारिवारिक वंशों के अध्ययन द्वारा लाभकर सिद्ध हो सकता है।

७. यह हमें पारिवारिक वंशों के अन्दर व बीच में अन्तर्जनन और मिश्रण की देशनाओं के रूप में समतत्त्वीयता या अनेकतत्त्वीयता के अध्ययन की ओर प्रेरित करता है।

यह स्पष्ट है कि इन सब का सम्बन्ध मानव जीवन की प्राणिशास्त्रीय समस्याओं से है। हमें उत्परिवर्त्तनों (Mutations) की सत्ता तथा उनके प्रभाव, वर्णसूत्रीय (Chromosomal) परिवर्तन और पृथ्वी पर पाये जाने वाले मानव प्ररूपों को स्थापित करने, कायम रखने और परिवर्तित करने में जननिक बारंबारता (Gene frequencies) के परिवर्त्तन और मिश्रण आदि मौलिक प्रश्नों के उत्तर में दिये गये ऐसे वक्तव्यों से व्यक्त होने वाले दृष्टिकोण को अपना कर इनके और अधिक सुस्पष्ट उत्तर के लिए निरंतर होने वाली गवेषणाओं पर ध्यान देना चाहिए। पर इन परेशान करने वाले प्रश्नो के उत्तर पाने के बाद भी हम समूची समस्या के एक अंश का ही समाधान कर पायेंगे। हमें वस्तुतः इस तथ्य के महत्त्व को समझना चाहिए कि मानव एक प्राणिशास्त्रीय श्रेणी के सदस्य की हैसियत से अपनी शारीरिक-रासायनिक प्रतिक्रियाओं और जननिक और शरीर-क्रियात्मक कार्यप्रणाली में, जोकि उसे उसका वर्तमान जीवित रूप देती हैं, अन्य प्राणियों के सदृश है। पर हमें इस सत्य के अर्थ को भी आंकना होगा कि समस्त पशुओं में मानव ही अकेला ऐसा प्राणी है जिसमें ऐसी संस्कृतियों को विकसित करने और कायम रखने की क्षमता है, जोकि इतनी गंभीरता से उसके व्यवहार को प्रभावित करती हैं, कि कुछ विद्वान् उन्हें उसके बाहर की शक्ति तक समझ बैठते हैं?

अध्याय पांच

शारीरिक प्ररूप और संस्कृति

प्राणिशास्त्रीय श्रेणी में मानव का अनुपम स्थान इस कारण है कि वह अकेला ही संस्कृति-निर्माता जीव है। अन्य पशुओं की भांति उसका शारीरिक रूप उसकी जननिक रचना से निर्धारित होता है। पर उनसे भिन्न वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में **संचायात्मक रीति से** सीखता है। यदि हम इस वक्तव्य को कुछ और बढ़ा दें तो हम देखेंगे कि अकेला मानव ही अपने समूह की परम्पराओं के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालता है, ये परम्परायें प्राणिशास्त्रीय न होकर ऐतिहासिक हैं, और प्रत्येक समाज की व्यवहार-प्रणालियां अन्य समाजों से भिन्न हैं। यह हमें इस सिद्धान्त की ओर, जिसकी अन्य अध्याय में हम विस्तार से चर्चा करेंगे, ले जाता है कि मानव ही अकेला ऐसा प्राणिशास्त्रीय जीव (Organism) है जोकि संचार के साधन के रूप में भाषा के संवेदनशील और कोमल यंत्र को विकसित कर सका और जिसने औजारों के द्वारा अपने शारीरिक दाय की अन्तर्निहित शक्तियों को व्यक्त करना सीखा है। मानव प्राणियों के प्राणिशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक इन दो पहलुओं की अंतःक्रीड़ा की अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना ही सारांश में हमारी समस्या है।

शारीरिक प्ररूप और संस्कृति के बीच विद्यमान सम्बन्ध की समस्या या जिसे सामान्यतः नस्ल और संस्कृति की समस्या कहा जाता है, यह प्रधानतः इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि कितने अंशों में पहला तत्त्व दूसरे को प्रभावित करता है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इसके गल्त उत्तर के दुःखांत परिणाम हो सकते हैं, जैसाकि दो युद्धों के बीच के काल के इतिहास से स्पष्ट है। चूंकि यह इतना महत्त्वपूर्ण है, इसलिए हमें इस पर सावधानी से विचार करना चाहिए। पहले हम शारीरिक प्ररूप पर संस्कृति के प्रभाव से सम्बन्धित पहलू पर विचार करेंगे। नस्ल के "क्यों" प्रश्न के उत्तर को केवल प्राणिशास्त्रीय भाषा में नहीं रखा जा सकता। यदि ऐसा हो सकता तो पृथक् मानव प्राणिशास्त्रियों की कोई जरूरत न रहती। जैसा कि हम देख चुके हैं कि अन्य प्राणिशास्त्री उनसे इसी मामले में भिन्न हैं कि वह अपने विशिष्ट विषयों की अध्ययन विधि के विशेषज्ञ हैं। इसके उत्तर हमें तभी मिल सकते हैं जब हम उन प्राणिशास्त्रीय पहलुओं का अध्ययन इस दृष्टि से करें कि वह किस प्रकार सांस्कृतिक पहलुओं पर अन्तःक्रिया करते हैं, अर्थात् हमारे द्वारा मानव नाम दी गयी अकेली इकाई को वह किस तरह प्रभावित करते और उससे प्रभावित होते हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम पुनः पिछले अध्याय में दी गयी परिवार और भ्रातृक अन्तरों की तालिकाओं को देखें। हम देख सकते हैं कि किस प्रकार एक जनसंख्या में अन्तर्जनन अल्प अन्तरों का कारण है, कि प्रत्येक परिवार के एक समान

पूर्वज होने पर वह एक सदृश होंगे, और औसतन उनके पूर्वजों में विद्यमान न्यून या अधिक समान या भिन्न धाराओं के अनुसार प्रत्येक परिवार के भाई-बहिन एक-दूसरे से मिलते-जुलते होंगे। पर इटली का पोटेंजा जिला बाहरी लोगों को अपेक्षया क्यों कम आकर्षित करता है और इस प्रकार अपनी जनसंख्या को अधिक एकतत्त्वीय बनाता है, और क्यों रोम अधिक बाहरी लोगों को आकर्षित कर उसे बहुतत्त्वीय बनाता है ? इसका स्पष्ट कारण रोम का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। यह तथ्य प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से एक संयोग या आकस्मिक घटना मात्र है। पर हम प्राणिशास्त्रीय महत्त्व की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एक अन्य मसले को लें, एक जनसंख्या में गैर-चुने स्वाधीन विवाह क्यों होते हैं और क्यों दूसरी में चुनकर, या वर्ग के आधार पर विवाह होते हैं। यह भी परम्परा का मसला है न कि प्राणिशास्त्र का, किन्तु यह उन सीमारेखाओं को निर्धारित करता है कि जिनके अन्दर एक जनसंख्या की जननिक धारायें बनती व प्रवाहित होती हैं। यह कारक, उदाहरण के लिए जैसे कि इंग्लैंड या स्वीडन में, एक ही जनसंख्या के अन्दर वर्गानुसार दो धाराओं की रचना करते हैं, जो कि इतनी सुस्पष्ट हैं कि प्रायः बहुत बार एक ही नजर में आदमी को देखकर बताया जा सकता है कि वह किस समूह का सदस्य है।

यहां हम एक बड़ी जनसंख्या की इकाइयों में पृथक् अभिजनन तत्त्वों (Breeding-isolates) के अध्ययन के बुनियादी महत्त्व को समझ पाते हैं, जिनकी ओर मानव प्राणिशास्त्री का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। हम देख सकते हैं कि किस प्रकार विवाह की परम्परायें, स्थान, वर्गभेदों, धार्मिक या गोत्रीय समूहों जैसे कारकों से प्रभावित हो, विवाह के चुनाव को प्रभावित करती और जननिक कार्यप्रणाली की सीमाओं को बांधती हैं। ऐसा वहां विशेष रूप से होता है जहां कि उपसमूहों की प्रकृति "अंतर्जनन, आकार, प्रवास और चुनाव द्वारा विवाह के रूप में जनसंख्या की इस धारणा से कि वह शारीरिक लक्षणों को क्या महत्व देती है," निर्धारित होती है। मानव प्रजननशास्त्र के एक विद्वान् ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है कि इससे "बाद के विश्लेषण में यथार्थता और जानकारी" बढ़ती है।[1]

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम अपनी तालिका की कुछ अन्य संख्याओं का भी उपयोगी विश्लेषण कर सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि न्यूयार्क नगर की नीग्रो जनसंख्या ब्ल्यू रिज पर्वतवासियों के समान मात्रा में पारिवारिक अन्तरों को व्यक्त करती है। पर वस्तुतः इन नीग्रो लोगों के पूर्वज कितने बहुतत्त्वीय हैं यह इससे स्पष्ट है कि उनके पूर्वजों में केवल अफ्रीकी और यूरोपीय ही नहीं, बल्कि अमरीकी इंडियन भी शामिल थे। इसका अर्थ है कि अपनी जननिक रचना में वह तीनों प्रधान मानव नस्लों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह उनके भ्रातृक अंतरों की मात्रा से, जोकि सूची में सर्वाधिक है, स्पष्ट है। इसमें वह उन पर्वतवासियों से, जिनके पूर्वज एकमात्र स्काच-आयरिश हैं और दूसरे स्तम्भ में जिनकी संख्या सबसे कम है, सर्वथा भिन्न हैं।

---

१. एफ० पी० थाइम, १९५२, पृ० ५०८

यहां "क्यों" प्रश्न का उत्तर इन दो जनसंख्याओं की परिस्थितियों के विभिन्न पहलुओं में है जिनके कारण अन्तर्जनन हुआ है, । ब्ल्यू रिज पर्वतों में भूगौलिक पृथक्करण, उस परम्परा द्वारा जो अपरिचितों को संदेह की दृष्टि से देखती है और जिस घाटी में अपना जन्म हुआ है उसे नहीं छोड़ने देती, इन दो परम्पराओं से पुष्ट होता है। नीग्रो लोगों के सम्बन्ध में यह पृथक्करण सामाजिक रहा है, यहां पर यह भावना कि रंग की सीमा को पार कर विवाह करना अनुचित है, प्रधान कारण रही है, जिसकी शक्ति को तभी समझा जा सकता है जबकि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि यहां पर अन्तर्विवाह के विरुद्ध परम्परा की दोहरी दीवार खड़ी है। चूंकि नीग्रो गोरों से विवाह करने के उतने ही अनिच्छुक हैं, जितने गोरे नीग्रो से, और इस नियम का उल्लंघन करने वालों को समान प्रकार की सजायें भुगतनी पड़ती हैं, और नीग्रो और श्वेतों को लगभग बराबर ही कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। दक्षिणी अफ्रीका के बास्टार्ड लोगों की संख्याओं के बारे में भी ऐसी ही कैफियत दी जा सकती है। ये लोग बहुत पीढ़ियों पहले होटेंटाट और बोअर लोगों के बीच हुए व्यत्यसन (Crossing) का परिणाम हैं। यहां गोरों द्वारा मिश्रित रक्त के लोगों को स्वीकार करने के विरुद्ध परम्परा ही विरोध नहीं करती, बल्कि इन व्यक्तियों द्वारा अनुभव किये जाने वाला सामाजिक पृथक्करण बहुत कुछ उनके भौगोलिक पृथक्करण से पुष्ट होता है।

इस प्रकार के तथ्य बहुत स्पष्टना से इस बात को दर्शाते हैं कि मानव की प्राणिशास्त्रीय प्रक्रियाओं के व्यवहार को निश्चित करने में विचारों का प्रभाव कितना अधिक है। वस्तुत: विचारों की इतनी शक्ति है कि हमें ऐसे सम्पूर्ण समूहों का सामना करना पड़ता है, जोकि केवल परिभाषा से ही जीवित हैं। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में प्रयुक्त "नीग्रो" शब्द का कोई प्राणिशास्त्रीय अर्थ नही है। इसी कारण यूरोपीय और दक्षिणी अमरीकनों को, जोकि नीग्रायड नस्ल के अमिश्रित सदस्यों की आकृति वालों के लिए इसका प्रयोग कर इसे सही प्राणिशास्त्रीय अर्थ प्रदान करते हैं, इस शब्द का प्रयोग बहुत चकराने वाला लगता है। संयुक्त राज्य अमरीका में तनिक सी अफ्रीकी पूर्वजता किसी को नीग्रो बना देती है, परिणामत: "गोरे" नीग्रो की घटना दिखाई देती है—जो कि परस्पर विरोधी शब्द मालूम होते हैं, परन्तु तथ्य की विचित्र नासमझी के कारण प्रयुक्त होते हैं; प्राणिशास्त्रीय यथार्थता के ऊपर सामाजिक परिभाषा के आधिपत्य के कारण ऐसा होता है।

विचारों के प्रभाव की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि एक सांस्कृतिक परिभाषा, यहां पर नीग्रो शब्द की परिभाषा, प्राणिशास्त्रीय अर्थों में मनमानी होने के बावजूद जनसंख्या की रचना को गंभीरता से प्रभावित कर सकती है। जहां "नीग्रो" शब्द को अपना उचित जननिक महत्त्व प्राप्त है, वहां मिश्रित रक्तवालों को ही यह नाम दिया जाता है, और दक्षिणी अमरीकी देशों में उन्हें प्रबल गैर-नीग्रायड पूर्वजता प्राप्त बहुसंख्यक समूहों के साथ रखा जाता है। परिणामत: यह समूह नस्ली तौर से बहुतत्त्वीय बन जाता है, जबकि नीग्रो कहाने वालों के रक्त में अधिक मिश्रण नहीं हो पाता। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका में अधिकांश जनसंख्या, यद्यपि सर्वथा मुक्त नहीं, पर अपेक्षया

बहुत अंश तक नीग्रो पूर्वजता से मुक्त रही है। फिर भी नीग्रो लोगों में, जोकि सामाजिक परम्पराओं के कारण समस्त मिश्रित रक्तवालों को अपने में मिला लेते हैं, नस्ली बहुतत्त्वीयता तीव्र हो जाती है।

२

जब हम पशु-जीव-जातियों से मनुष्य की भिन्नताओं की तुलना करते हैं, तब हमें मालूम होता है कि शारीरिक प्ररूप पर संस्कृति का कितना गहरा प्रभाव है। हम यहां पर इस पूर्वकल्पना की ओर संकेत करते हैं कि मानव को एक पालतू जीव माना जाय और इस **पालतूकरण** और **सामाजिक चुनाव** ने ही उन कार्यप्रणालियों को स्थान दिया है, जिनसे यदि प्रधान नस्लों की नहीं तो कम-से-कम स्थानीय और उप-नस्ली मानव प्ररूपों की बहुसंख्या, आज पाये जाने वाले अनेक रूपों में ढल गयी है।

कब और कैसे विद्यमान नस्ली प्ररूपों में मानव का विभाजन हुआ, इस सम्बन्ध मे निश्चितता से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह समस्या, जिसका हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं कि क्या मानव एक जीव-जाति (Species) है या विभिन्न जीव-जातियों का सदस्य है, बहुत अंशों में इसी बात पर निर्भर है। इस प्रकार एक प्रारम्भिक जर्मन मानव-शास्त्री क्लाटश्ख का मत था कि वर्तमान नस्लें विभिन्न मानवसम रूपों से विकसित हुई हैं और उसने नस्ली भिन्नताओं के उद्गम के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों के एक प्रजननिक (Monogenetic) मत के विरुद्ध बहुप्रजननिक (Polygenetic) दृष्टिकोण का समर्थन किया है। मानव जाति को एक ही जीव-जाति स्वीकार करने वाला वीडनराइख कहता है कि "जहां कहीं भी आदमी रहा हो, विकास जारी रहा और प्रत्येक कदम सामान्य विकास और विशेष धाराओं (Strains) का केन्द्र रहा होगा?" इस प्रकार उसने, जैसाकि हम देख चुके हैं, "वानर मानव और सोलोनी मानव में आस्ट्रेलियाई आदि-वासियों की विशिष्ट आकृति" ही नहीं देखी, बल्कि उसने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि "फावड़ेनुमा" (Shovel-shaped) कुतरने के (Incisor) दांत जोकि चीनी मानव का लक्षण हैं, वह वही हैं जो कि वर्तमान मंगोलाइड में पाये जाते हैं। बावजूद इसके, वह इस सम्बन्ध में कि "कहां तक जीवित नस्लों के लक्षणों को खोजा जा सकता है" यह चेतावनी देता है, कि इस प्रश्न का उत्तर देते समय "हमें इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि त्वचा और बाल के लक्षण ही सबसे प्रभावकारी लक्षण होते हैं जबकि हमें पिछली नस्लों, विशेषतः निखातकों की पहचान में पूर्णतः कंकालीय भागों पर निर्भर रहना पड़ता है", और "शरीर के कोमल भागों की तुलना में हड्डी की संरचनाओं की व्याख्या और भी कठिन है।"[२]

निस्संदेह जबकि ऐतिहासिक दृश्य प्रारम्भ होता है, हमें आज ज्ञात मानव नस्लें भलीभांति स्थापित मिलती हैं। मिस्र के चित्रों में दिखायी आकृतियों में त्वचा के भिन्न रंग—लाल, पीला और काला दिखाये गये हैं, जिन्हें कि विभिन्न भूमध्यसागरीय और अफ्रीकी प्ररूपों का चित्रण कहा जा सकता है। प्रारम्भिक ग्रीक और रोमन लोगों

---

२. एफ० वीडनराइख, १९४६, पृ० ८४–८५

को यूरोप की उपनस्लें भलीभांति ज्ञात थीं, यद्यपि यहां भी अन्य ऐतिहासिक अभिलेखों की भांति पृथ्वी पर मानव के इतिहास के दीर्घकाल में यह सामग्रियां बहुत हाल की हैं और उनका महत्त्व गौण है। वास्तव में वर्तमान नस्लों के विभेदीकरण का इतिहास इतना धुंधला है कि हम मैकग्रीगर के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि "इसमें शायद कोई अतिशयोक्ति नहीं कि **नींडरथल मानव** की अपेक्षा **मेधावी मानव** के तात्कालिक उद्गम के बारे में कम जानकारी है।"[३] यह ऐसा लगता है कि जैसे हम एक पेड़ के सामने खड़े हों और केवल निचले तने, निचली शाखाओं और चोटी को ही देख पायें और किसी रुकावट के कारण हमें उसके बीच का हिस्सा दिखाई न दे। इस बाधा की उपस्थिति स्वीकार की जा चुकी है और पुरा-मानवशास्त्री कब और कहाँ वर्तमान नस्लें भिन्न हुई, इन जटिल प्रश्नों का समाधान करने के लिये कार्य कर रहे हैं।

पर, यह बात दिखाई देती है कि नस्ली विभेदीकरण की समस्या पर चर्चा के प्रयास अभीतक प्राणिशास्त्रीय आधार पर ही टिके हुए हैं और उन्होंने संभावित सांस्कृतिक कारकों की उपेक्षा की है। फिर भी हम देख चुके हैं कि मानव ने पृथ्वी पर अपना जीवन प्रारम्भ से ही सांस्कृतिक व्यवहार में व्यक्त किया है और हम यह भी जानते हैं कि मानव शरीर के शारीरिक लक्षणों को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओं में संस्कृति का जबरदस्त हाथ हो सकता है। अतः इसे ध्यान में रखते हुए हमें मानव को एक पालतू रूप माना जाय, इस पूर्वकल्पना के कुछ अर्थों पर तथा इससे निकलनेवाले इस परिणाम पर कि पालतूपन उन गुणों के जो कि मानव नस्ली समूहों को अलग करते हैं, विभेदीकरण और जननिक पृथक्करण की कार्यप्रणाली का प्रभावपूर्ण साधन था, विचार करना चाहिये।

हम दो कारणों से मानव को पालतू पशु कह सकते हैं, एक तो इसलिए कि अन्य पालतू प्ररूपों की भांति उसके शारीरिक गुण पालतूपन के विशेष उपयुक्त हैं, दूसरे उसका जीवनक्रम पालतूपन की वस्तुगत कसौटी पर पूरा उतरता है। वह कौन से शारीरिक गुण हैं जिनमें कि पालतू जीव-जातियां जंगली जीव-जातियों से भिन्न हैं? सबसे पहले रंग की भिन्नताओं का अत्यन्त विस्तार है। बालों का सुनहरापन (Blondness) विशेषतः उन्हीं तक सीमित है, वस्तुतः सुनहरे बाल बाले जंगली पशु नहीं मिलते। ध्रुववासी रीछ जैसा प्ररूप जिसकी सफेद रोयेंदार खाल ध्रुवीय अवस्थाओं से अनुकूलन को व्यक्त करती है, उसकी आंखें भूरी होती हैं जोकि हल्के रंग वाले कुत्तों या बिल्लियों या घोड़ों से भिन्न हैं। रोयेंदार खालों के रंग सफेद से काले, हल्के से गहरे भूरे और अन्य नाना वर्णों के होते हैं। चितकबरे पशु भी प्रकट होते हैं, किन्तु जर्राफ और तेंदुये जैसे जंगली रूपों से भिन्न उनकी चितकबरी अवस्था नस्लीधारा (Strain) से आती है और समग्र रूप में पालतू जीवजातियों को पृथक् नहीं करती। जंगली प्ररूपों की केश रचना प्रायः सख्त और छोटी होती है। पालतू जीवों में वह सख्त लहरदार से खड़ी हुई तक पायी जाती है। इसी प्रकार शरीर के गठन और आकार में भी बहुत भिन्नता

---

३. जे० एच० मैकग्रीगर, १९३८, पृ० ७६

मिलती है। पेकिन मानव की ग्रेट डेन या सेंट बर्नार्ड से तुलना कर देखिये। यही बात चेहरे की आकृति और सिर की रचना के लिए भी सही है, नाक लम्बी या छोटी होगी, कान भी चकरा देने वाले विभिन्न आकारों के होंगे, आंखें भी सिर में बहुत भिन्न रीतियों से जड़ी होंगी।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वह गुण जिनमें कि पालतू पशु बहुत भिन्न हैं, मानव में भी उसी प्रकार भिन्न हैं, और वस्तुतः वही प्रायः नस्लों और उपनस्लों को एक दूसरे से पृथक् करते हैं। सुनहरे बालवाले नीली आंखों वाले नार्डिक या अल्पाइन काकेसायड के साथी हमें आंखों के नीलेपन और बालों के हल्केपन दोनों गुणों में कुत्तों, बिल्लियों, घोड़ों, और गायों, सूअरों और मुर्गियों में मिलते हैं। मानव की प्रधान नस्लों के केश रूप कुत्ते जैसे पालतू पशुओं में भी पाये जाते हैं; सैटर जाति के कुत्ते के लहरदार मुलायम बाल काकेसायड बालों की भांति हैं, एअरीडेल कुत्ते के छोटे सख्त बाल मंगोलायड प्ररूप से मिलते हैं, पूडिल कुत्ते के ऊनी बाल नीग्रायड बालों की अनुकृति हैं। शेटलैंड खच्चर और नार्मन बोझा ढोनेवाले घोड़ों की भिन्नतायें नीग्रायड पिग्मी और काकेसायड स्काट लोगों के समानान्तर हैं, और घोड़ों और मनुष्यों दोनों में सभी बीच के आकार मिलते हैं। भेड़िये का शिकार करने वाले रूसी कुत्ते की नाक मानवों में नार्डिक नाक की अपेक्षा कुत्तों में अधिक नोकीली नहीं समझी जायेगी, इसके विपरीत, पग कुत्ता अपने लम्बे कुत्ते साथियों से अपनी चौड़ी नाक-रचना में नीग्रायड नाक-रचना से किसी कदर अधिक दूर नहीं है। इस तथ्य पर अधिक जोर देना अनावश्यक है, केवल अवलोकन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मानव और पालतू पशुओं के बीच द्रष्टव्य समानतायें विद्यमान हैं। न केवल उन्हें पृथक् करने वाले विशिष्ट शारीरिक गुणों में ही, बल्कि उनमें से प्रत्येक गुण में पाये जाने वाले अन्तरों में भी द्रष्टव्य समानतायें हैं।

पालतूकरण के चार मानदंड हैं:—

१—सीमित आवास (Habitat)

२—विशेष खाद्यों की नियमित पूर्ति

३—हिंसक पशुओं और कठोर जलवायु के विरुद्ध संरक्षण

४—नियंत्रित प्रजनन (Controlled breeding)

इस ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि प्राकृतिक जगत् की अन्य घटनाओं की भांति पशुओं के पालतूपन की मात्रा में भी उनके रहने की स्थिति के अनुसार भिन्नतायें पायी जाती हैं। यह इस पर निर्भर है कि पालतूकरण का नियंत्रण ढीला है या सख्त है। यदि हम पश्चिमी अमरीकी मैदानों के मुष्टांग घोड़े की घुड़दौड़ के घोड़े से तुलना करें, तो ढीले (Loose) और घनिष्ठ (Close) पालतूकरण का भेद स्पष्ट हो जायेगा। पर दोनों ही किस्म के घोड़े पालतू किस्म के हैं।

जहांतक हमें मालूम है मानव ही निम्नस्तर के पालतू पशुओं पर नियंत्रण रखता है और उसने पालतू होने योग्य लगभग सभी जीवों को अपने साथ रहने की अवस्था में ला दिया है। मानव ही वाड़ों या पिंजरों या अन्य ऐसी विधियों

का निर्माण करता है कि जिससे उसके पशु इधर-उधर विचरण न करें, वह उन्हें उन्नत करता है और उनके लिए जंगली पूर्वजों या वर्तमान जंगली प्ररूपों की खुराक से भिन्न खुराक जुटाता है, जैसे कि कुत्तों के बिस्कुट जो कि भेड़ियों के झुंड द्वारा मारेगये शिकार से भिन्न है। वह जलवायु के प्रहारों से बचाने के लिए उनके लिए घर बनाता है और यह भी देखता है कि जंगली जानवर उनका शिकार न करें। अंततः, विशेष रूप से जहां कि पालतूकरण बहुत घनिष्ठ है वह इस बात की भी देखभाल रखता है कि केवल जीवित रहने की कीमत पर आकस्मिक संभोग से उसके द्वारा विकसित विशुद्ध वंशों की निरंतरता न टूट जाय। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। यदि पालतूकरण के मानदंड और पालतू पशुओं की उन अवस्थाओं को, जिनमें कि वह रहते हैं, को एक शब्द में व्यक्त किया जाय तो वह शब्द **संरक्षण** होगा और केवल संरक्षण ही प्राकृतिक चुनाव के स्थान पर कृत्रिम चुनाव को संभव बनाता है।

मानव संस्कृति द्वारा मानव को प्राप्त संरक्षणात्मक विधियों द्वारा मानव समूहों में **सामाजिक चुनाव** ने पृथ्वी पर विभिन्न मानव प्ररूपों को एक बार प्रकट होने पर कायम रहना सम्भव बनाया है। मानव अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों द्वारा यह अनुभव किये बिना ही कि उसने अपने द्वारा पालतू बनाये गये पशुओं की नस्लों के बारे में क्या कुछ किया है, अपने लिए बहुत कुछ करने में समर्थ हुआ है।

यह बहुत सम्भव है कि मानव के लिए, पालतूकरण का प्रारम्भिक कारण उसका एक ज्ञान था, जिसकी मौजूदगी पुरातत्वशास्त्रीय अवशेषों से **चीनी मानव पेकिनी** के समय तक सिद्ध होती है। आग ने चूल्हे को बैठाया, जिसने कि अज्ञात मानव, पशु और अलौकिक हिंसक प्राणियों के भय के साथ मन की एक ऐसी स्थिति और जीवन में एक ऐसे स्वभाव को विकसित किया होगा जोकि "घर" की अवधारणा का प्रतीक बन गये। आग ने निश्चय ही खाद्यपदार्थों का, जो कि अन्यथा खराब हो जाते हैं, संरक्षण संभव बनाया और ऐसी पकाने की विधियां निकालने का सुयोग दिया जिससे कि खाद्यों के पूर्वरूपों से सर्वथा भिन्न व्यंजन उन्हें सुलभ हुए। आग ही ने जलवायु और एक अंश तक जंगली जानवरों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की। आग और औजारों के इस्तेमाल ने जोकि भौतिक संस्कृति का आधार हैं, मानव की आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक जीवन की भाषा के साथ मिलकर सर्वत्र सामाजिक जीवन को संभव बनाया।

विवाह में चुनाव सामाजिक जीवन का एक पहलू है। रिवाज इस बात का आदेश देता है कि बाहरी समूह की अपेक्षा अपने समूह में विवाह अधिक उचित है। इसीको लेकर सब प्रकार के नियम घड़े जाते हैं और आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, जादुई और सौंदर्यात्मक प्रकार के प्रतिबंध लागू होते हैं। एक व्यक्ति अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और यह देखकर कि उसका साथी समाज के निर्दिष्ट वर्ग का है, अपना साथी चुनता है; देवता की अनुकूलता या प्रतिकूलता के आधार पर, या किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित शारीरिक गुण के आधार पर किसी व्यक्ति को स्वीकार या अस्वीकार करता है, वह संस्कृति द्वारा स्वीकृत सौन्दर्य के आदर्शों के अनुसार अचेतन रूप से प्रेम में पड़ जाता है। हम यहां पुनः इस बात पर जोर देंगे कि यह कारण कितने आकस्मिक हैं, पर फिर भी जैसा

कि हम देख चुके हैं, एक निर्दिष्ट जनसंख्या के शारीरिक प्ररूप को प्रभावित करने में वे बहुत शक्तिशाली हैं। वह उतने ही आकस्मिक हैं जितना कि पशुओं की नस्ल तैयार करनेवाले व्यक्ति का यह निर्णय कि वह छोटे बालवाले कुत्ते या घोड़े या गाय के बजाय लम्बे बालवाली नस्ल पैदा करेगा। और इनकी प्रभावशीलता भी इसी तरह तुलना के योग्य है।

इसका एक उदाहरण जो कि अध्ययन किये गये सामाजिक चुनाव का एक विरल उदाहरण है, अमरीकी मिश्रित नीग्रो लोगों में रंग की भिन्नता के आधार पर विवाह का चुनाव है।[४] निम्न तालिका में दिये गये तथ्य दम्पतियों के रंगों की तुलनायें हैं, पहली जैसा कि उनके बच्चों ने समझा, दूसरी कलर–टॉप द्वारा वस्तुगत रीति से अध्ययन किये गये रंग हैं:

	बच्चों द्वारा मां-बाप का अनुमान	**कलर-टॉप द्वारा प्राप्त परिणाम**
पति कम काले रंग का	३०.३ प्र० श०	२९.० प्र० श०
लगभग एक स रंग का	१३.२	१४.५
मां कम काले रंग की	५६.५	५६.५

यहां पर विवाह में चुनाव के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक कारण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से दासता के काल में मिश्रित नीग्रो लोगों को उनके गोरे पिता प्रायः दासता से मुक्त कर किसी व्यापार या अन्य उपयोगी धंधा ढूंढ़ने के लिए उत्तर की ओर भेज देते थे। उनका कम काला रंग क्रमशः उनकी अनुकूल आर्थिक स्थिति के साथ जो समय गुजरने पर उन्हें प्राप्त हुई, जुड़ गया और परिणामतः नीग्रो समुदाय में उन्हें बेहतर सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके मूल्यों में अमरीकी जनसंख्या की काकेसायड बहुसंख्या का प्रभाव पड़ा, जिनका गोरा रंग नीग्रो लोगों की दृष्टि में, जिन निर्योग्यताओं के नीचे वह जीवन बिताते थे उनसे मुक्त था। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अमरीकी परम्परा कि स्त्री उस पुरुष से विवाह करती है जो उसकी देखभाल कर सके, जबकि पुरुष ऐसी स्त्री को चाहता है जोकि उसकी अपने साथियों में आत्म-प्रतिष्ठा को बढ़ा सके, यहां पर रंगभेद के रूप में व्यक्त होती है।

इन सब गैर-प्राणिशास्त्रीय शक्तियों की क्रीड़ा का प्राणिशास्त्रीय परिणाम क्या है? चुनाव में समुदाय ने विशुद्ध रक्त वालों की संख्या घटा दी और उसकी नस्लीय बहुतत्वीयता को बढ़ा दिया। किन्तु गोरों के साथ विवाह की बाधाओं के कारण अमरीकी नीग्रो जनसंख्या में, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक प्रकार का अन्तर्जनन विद्यमान है, जिसने उसे अपनी एकतत्वीयता प्रदान की है। यह उसे एक विशिष्ट प्ररूप में, जो कि शारीरिक गुणों में काकेसायड और नीग्रायड पूर्वजता के लक्षणों के लगभग बीच में ठहरता है, रखता है।

---

४. एम० जे० हर्सकोविट् १९२८, पृ० ५१–५६

३

टेक्नोलाजी और सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्राप्त संरक्षण से, अन्यथा जीवित न रह सकने वाले उत्परिवर्त्तकों (Mutants) को जीवित रहने में बढ़ावा मिला है। उनके वंशज न केवल मेधावी मानवों के विद्यमान स्थानीय प्ररूपों और उन उपनस्लों को ही बनाते हैं, अपितु सम्भवतः पहचानी जाने वाली प्रधान मानव नस्लों को भी बनाते हैं। परन्तु हमारी समस्या के दूसरे पहलू के बारे में क्या है? शारीरिक प्ररूप या जैसा कि अक्सर कहा जाता है, नस्ल का संस्कृति पर क्या प्रभाव है?

वैज्ञानिक सत्य यह है कि **शारीरिक प्ररूप के संस्कृति पर प्रभाव की तुलना में संस्कृति शारीरिक प्ररूप को कहीं अधिक प्रभावित करती है।** इस तथ्य की पूर्ण स्वीकृति इसलिए भी अधिक प्रासंगिक है कि नस्ल और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की अधिकांश चर्चा में इस समस्या को, नस्ल जनता की संस्कृति को किस हद तक ढालने में साधक है, इस दृष्टि से देखा जाता है, और शारीरिक प्ररूप पर संस्कृति के प्रभाव का तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार हम संस्कृति के अध्ययन में प्रयुक्त अनेक निर्णायकवादों (Determinisms) में से प्रथम निर्णायकवाद का सामना करते हैं।

नस्ली निर्णायकवाद (Racial determinism)—जिसका अर्थ है कि शारीरिक प्ररूप संस्कृति को निर्धारण करता है, सरलता से राजनीति के क्षेत्र में जहां इस दृष्टिकोण को **नस्लवाद** (Racism) कहा जाता है, घुस जाता है। अपने अत्यन्त उग्र रूप में यह नात्सीवाद के नस्ली सिद्धान्तों में व्यक्त होता है, जिसके अनुसार तथाकथित "आर्य नस्ल" एक प्रकार का रहस्यवादी और अन्य सब से श्रेष्ठ समूह है, और इसी प्रकार राजनैतिक कारणों से कल्पित एक अन्य नस्ली इकाई यहूदी है, जिसे कि अपमान व भर्त्सना का पात्र ठहराया जाता है।

नस्ली नामकरण की हैसियत से न तो आर्य और न ही यहूदी शब्द की कोई वैज्ञानिक सत्यता है। आर्य एक भाषा का नाम है जिससे कि अधिकांश यूरोपीय बोलियां निकली हैं। कल्पित नस्ली इकाई के लिए इस नाम के प्रयोग के विरुद्ध भाषा–शास्त्री एफ० मुलर से बढ़कर जिसने पहलेपहल इस शब्द का प्रयोग किया, और कटु व कठोर चेतावनी किसी ने नहीं दी, उसने कहा: "जैसे कि कोई लम्बे सिरवाला शब्दकोष नहीं है ठीक वैसे ही किसी आर्य नस्ल का अस्तित्व भी नहीं है।" यहूदी कहाने वाले समूह के लिए जिसमें कि एक विशिष्ट ऐतिहासिक निरंतरता है एक प्रतीक के रूप में इस शब्द के प्रयोग को छोड़, यहूदी शब्द का भी अन्य अर्थ अत्यन्त तत्वहीन है। अभीतक सर्वत्र पाये जाने वाले यहूदियों को पृथक् करने के लिए कोई गुण नहीं पहचाने जा चुके हैं। दूसरी ओर नाना साक्षियां यह दर्शाती हैं कि प्रदेश विशेष में रहने वाले यहूदी उस प्रदेश की सामान्य जनसंख्या के सदृश ही हैं।[5] उदाहरण के लिए जर्मन और फ्रांस के यहूदियों में इन दो देशों की अन्य जनसंख्याओं के बीच विद्यमान भिन्नताओं के लगभग समान ही ही भेद पाये गये हैं।

---

५. केन्द्रीय यूरोप के लिए जी० एस० मोरांट की विवेचना (१९३९, पृ० ७२–४, ८०–७) से यह स्पष्ट है।

ऐसा होने से हम कल्पित यहूदी नस्ल की अवधारणा पर विस्तृत विचार कर लाभान्वित हो सकते हैं, चूंकि इसका शारीरिक प्ररूप और संस्कृति के बीच विद्यमान सम्बन्ध की जिस समस्या पर हम विचार कर रहे हैं, उससे सीधा वास्ता है। यह हमारे सामने अध्ययन किये जाने वाले समूह की उचित परिभाषा से शुरू कर अन्य अनेक कठिनाइयों को सामने लाती है। चूंकि जहां नस्ल, जनता, राष्ट्र, सांस्कृतिक इकाई, नृवंश-समूह, ऐतिहासिक प्ररूप, भाषा की इकाई, इत्यादि समस्त सम्भव नाम समाप्त हो जाते हैं, वहां भी हमें विद्वान् असंतुष्ट और अन्य अधिक निश्चित नामों को खोजते हुए नजर आते हैं। किन्तु यह सभी प्रयास असफल हुए हैं, चूंकि वह जिस जनता के विभाजन का प्रयत्न कर रहे हैं, उसके प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक दोनों लक्षणों को एक साथ सम्मिलित करने की कोशिश करते हैं।

पूर्वधारणा (Stereotype) कहानेवाली मनोवैज्ञानिक कार्यप्रणाली शारीरिक प्ररूपों में निश्चित नस्ली भिन्नताओं के विश्वास को सम्भव बनाती है, और इस कल्पना का आधार बनती है कि तथाकथित नस्ली समूह, जैसे कि यहूदी, अपनी अभिरुचि और योग्यता में भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, फ्राँसीसी सामान्यतः कम गोरे, छोटे कद के, भूरी आंख वाले और जिन्दादिल समझे जाते हैं, जोकि बात करते समय बहुत मुंह बनाते और हाथ चलाते हैं। परन्तु उत्तरी फ्रांस के नार्मन फ्रांसीसी जो कि लम्बे, गोरे और नीली आंखों वाले होते हैं, या पूर्व में रहने वाले हृष्टपुष्ट व गोरे अल्पाइन फ्रांसीसियों की उपस्थिति की उपेक्षा की जाती है। जब ऐसे लोगों को फ्रांसीसी स्वीकार किया जाता है तो उन्हें अपवाद कह कर टाल दिया जाता है। दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति जो कि पूर्व निर्धारित विवरण को देता है, वह फ्रांसीसियों को कैसा दीखना चाहिए इस अवधारणा को पुष्ट करता है। ऐसी पूर्ववारणाएं अत्यधिक चुनाव पर आश्रित होने के कारण गुमराह करने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त वे भ्रान्तिजनक भी होती हैं, चूंकि वह सांस्कृतिक गुण को, यहां पर जिन्दादिल और बोलते हुए हाथों के चलाने को, कद और आंखों के रंग जैसे प्राणिशास्त्रीय लक्षणों से आपस में गड़बड़ा देती हैं।

यहूदियों के बारे में उनके शारीरिक लक्षणों में पर्याप्त समानतायें होने के कारण पूर्ववारणा (Stereotype) का विकास बहुत सम्भव है और वह रोज ही सामान्य व्यक्तियों के मन में सुदृढ़ होता रहता है, और कुछ शारीरिक मानवशास्त्रियों द्वारा कुछ यहूदी उप-समूहों के वर्गीकरणों की पुष्टि तक के लिए उसे प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु हम जिन्हें यहूदी कहते हैं उनमें उन गुणों के सम्बन्ध में जो कि पूर्ववारणा का निर्माण करते हैं, जब हम उन गुणों की व्यक्तिगत भिन्नताओं की जांच करते हैं, तो ऐसे गुणों को विशिष्ट यहूदी गुण कहना उचित नहीं ठहरता।

जहां तक मालूम किया जा सका है, यहूदी ऐतिहासिक और प्राणि-शास्त्रीय दृष्टि से भूमध्यसागर के पूर्वीय तटों पर कई हजार साल पहले बनी काकेसायड नस्ल की भूमध्यसागरीय उपनस्ल के विशेष प्ररूप से निकले है। इस मूल स्कंध को जिसे कि विद्वानों ने प्रारम्भिक हिट्टीट् या एक "ईरानीय पठारी प्ररूप' से सम्बन्धित बताया है, अपने मूलनिवास स्थान से तीन बार हटना पड़ा। इनमें से पहला प्रयाण तब हुआ जबकि

बेबीलोन में यहूदियों को बन्दी बना लिया गया और फिर उन्हें मेसोपोटामिया और ईरान जाना पड़ा, दूसरे प्रयाण ने ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत उन्हें पूर्व की ओर एशिया माइनर और पश्चिम की ओर पूर्वी भूमध्यसागर के आसपास पहुंचाया, तीसरे प्रयाण ने रोमनिवासियों के मातहत अन्ततोगत्वा उन्हें अधिकांश यूरोप में फैला दिया।

साहित्य में अक्सर दो प्रधान यहूदी प्ररूपों का जिक्र आया है। ये हैं, अश्केनाजिम–जर्मन, रूसी और पोलिश यहूदी, और सेफार्डिम–जोकि १४९२ में स्पेन से निकाले जाने के बाद बाल्कन और तुर्की में बसने के लिए आये। इन नामों द्वारा पहचाने जाने वाले समूह केवल ऐतिहासिक आधार पर ही नहीं, किन्तु भाषा के आधार पर भी पृथक् किये जाते हैं, क्योंकि बहुत से अश्केनाजिम, जर्मन पर आधारित भाषा बोलते हैं, जबकि सेफार्डिम स्पेनिश से निकली हुई भाषा व्यवहार में लाते हैं; ये दोनों ही यद्यपि हिब्रू अक्षरों में लिखी जाती हैं। जब हम इनके शारीरिक रूप का अध्ययन करते हैं तो दो बातें स्पष्ट होती हैं, कि दोनों समूह एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, ये दोनों ही उस क्षेत्र में रहने वाले अन्य, काकेसायड उप-प्ररूप के सदृश हैं जहां कि ये भी रहते हैं। इस प्रकार जब हम स्पेनी और रूसी यहूदियों की सिर-रचना पर विचार करते हैं, हमें निम्न प्रतिशततायें प्राप्त होती हैं :—

	स्पेनी यहूदी	रूसी यहूदी
लम्बे सिरवाले	१९·७ प्र० श०	१·० प्र० श०
मध्य सिरवाले	६५·५	२९·०
छोटे सिरवाले	१४·८	७०·०

स्पेनी समूह के प्ररूपों की औसत शीर्षदेशना (Cephalic Index) ७८·१ है जबकि इसके विरुद्ध रूसी यहूदियों की ८२·५ है, स्त्रियों के लिए यह संख्या क्रमशः ७८·९ और ८२·४ है। फिर भी जैसा कि कोगमैन ने कहा है: "अश्केनाजिम और सेफार्डिम यहूदियों के बीच का भेद वस्तुतः अल्पो-दीनारी (या आर्मेनायड) और एक भूमध्यसागरीय नस्ली प्ररूप का है।" अर्थात् भूमध्यसागरीय यहूदियों के सिर लम्बे हैं, जोकि भूमध्यसागरीय उपनस्ल को उससे अधिक चौड़े सिर वाली और तदनुरूप अधिक शीर्ष-देशना वाली पूर्वीय यूरोप की सामान्य जनसंख्या और उस क्षेत्र के यहूदियों से भी पृथक् करती है।

हम आगे यह भी देख सकते हैं कि किस प्रकार प्रमुख यहूदी प्ररूपों की पारस्परिक भिन्नताओं और प्रत्येक उस जनसंख्या की जिसका कि वह भाग हैं, उसके साथ उनकी सदृशताओं को, कहांतक लिपिवद्ध किया जा सकता है जबकि हम कुछ अन्य देशों में इस शताब्दी के प्रारम्भ में लिये गये यहूदी और गैर-यहूदी लोगों की शीर्ष-देशनाओं के औसतों की तालिका पर विचार करते हैं;

	यहूदी	गैरयहूदी
लिथुआनिया	८१·०५	८१·८८
रूमानिया	८१·८२	८२·९१

पोलैंड	८१·६१	८२·१३
हंगरी	८२·४५	८१·४०
लिटिल रूस	८२·४५	८२·३१
गैलीसिया	८३·३३	८४·४०

जब हम इन संख्याओं की जांच करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रदेशों में यहूदी और गैरयहूदियों की सिर रचना की चौड़ाई की औसत बहुत कुछ उसी प्रकार अल्प से अधिक होती जाती है। यह एक अन्य तालिका द्वारा भी, जिसमें कि इसी गुण के यूरोप की जनसंख्याओं के कुछ अन्य यहूदी और गैरयहूदी समूहों के औसत निकाले गये हैं, स्पष्ट हो जाता है।

	यहूदी	गैरयहूदी
इंग्लैण्ड	८०·०	७८·०
बोस्निया	८०·१	८५·३
फ्रैंकफोर्ट, जर्मनी	८०·८	८१·४
दक्षिणी रूस और यूक्रेन	८२·५	८३·२
वार्सा, पोलैंड	८२·६	८२·०
बावेरिया	८३·५	८४·१
बुकोविना	८४·३	८६·३

जैसे कि, उन जनसंख्याओं में जहां कि सामाजिक परम्परायें विवाह में साथी का चुनाव समूह के सदस्यों तक सीमित करती हैं, आशा की जाती है, वैसे ही बृहत्तर यहूदी समाज में विभिन्न यहूदी समुदाय अभिजनन के पृथक् तत्व (Breeding isolates) हैं; और जैसा कि कून ने बताया है यहूदी स्तम्भ में मूल्यों का अधिकतम विस्तार (८०·०–८४·३) गैरयहूदी समूह के (७८·०–८६·३) अधिकतम विस्तार से कम है।[६] फिर भी वे दोनों जिस प्रकार साथ-साथ परिवर्तित होते हैं, उससे यह मालूम होता है कि उनमें अन्तः-अभिजनन (Cross-breeding) और अंतर्जनन (In-breeding) दोनों हुए हैं। चूंकि हमें प्राप्त अधिकांश न्यास सिर के मापों से मिले हैं, अतः यह लिखना जरूरी हो जाता है कि मोरांट द्वारा संकलित कद के तुलनात्मक आंकड़े भी "यहूदियों के कद की उनके पड़ोसियों के कद से आश्चर्यजनक समानता" की पुष्टि करते हैं।[७]

तब समस्या यह रह जाती है कि ऐसे लोगों के बारे में शारीरिक प्ररूप को किस प्रकार कारण माना जाय, जब कि हमें उनमें भी, जैसा कि ऊपर दिये गये न्यासों से स्पष्ट है, भिन्नता का विस्तार मिलता है। और फिर जैसे ही हम जन्मजात गुणों से हट कर सीखे हुए गुणों पर विचार करते हैं, हम शारीरिक गुण के अनुसार वर्गीकृत यहूदियों के समूहों में और भी कम सम्बन्ध पाते हैं। इस सम्बन्ध के बारे में चाहे हम उनके द्वारा बोली

---

६. कून, १९४२, पृ० २०–३७

७. इस विषय की विस्तृत चर्चा और सम्बन्धित साहित्य के लिए देखिये, एम० जे० हर्सकोविट्स, १९४९

जाने वाली भाषाओं की दृष्टि से या सामान्यतः उनके प्रचलित व्यवहार से, या उनकी संस्कृति के धार्मिक विश्वासों और कर्मकांडों के विशेष लक्षणों से विचार करें, पर, यह समस्या ज्यों की त्यों रहती है।

सच तो यह है कि अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों में नस्ल, राष्ट्रीयता, भाषा और संस्कृति स्वतंत्र परिवर्त्तनकारक (Variables) हैं। वह केवल एक नल्स्ल के निर्दिष्ट सदस्यों, एक निर्दिष्ट राष्ट्र के नागरिकों, एक निर्दिष्ट भाषा के बोलनेवालों और उस समाज की परम्पराओं के अनुसार जीवन बिताने वालों के जीवन में ही मिलते हैं। फ्रांसीसी शब्द का इनमें से कोई भी एक अर्थ हो सकता है। केवल "फ्रांसीसी नस्ल" वाक्यांश अस्वीकार्य है। उत्तरी फ्रांसीसी नार्डिक, पूर्वीय फ्रांसीसी अल्पाइन, दक्षिणी और केन्द्रीय फ्रांसीसी भूमध्यसागरीय हैं। यदि वह फ्रांस में उत्पन्न हुए स्कंध से निकले हैं, तो वे सभी काकेसायड हैं। किन्तु सेनेगल का एक नीग्रो एक फ्रांसीसी नागरिक हो सकता है, ट्यूनिस का एक अरब फ्रेंच बोल सकता है, हिन्दचीन का एक अनामी जोकि पेरिस के फ्रांसीसियों के बीच पला है, वह काकेसायड पेरिसवासियों के समान ही व्यवहार और विचार करेगा। यही युक्ति यहूदी शब्द या अन्य नस्ल शब्द से परिभाषित किसी भी मानव समूह पर लागू होती है।

निषेधात्मक स्थिति को साबित करना मुश्किल होता है, अतः एकदम यह कहना जैसा कि अक्सर वाद-विवाद में कहा जाता है कि शारीरिक रूप का सांस्कृतिक व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, कट्टरता है। फिर भी हमें प्राप्त सभी साक्षियां इस ओर निर्देश करती हैं कि यदि किसी सामान्य मानव प्राणी को **आवश्यक अवसर दिये जायें** तो वह पृथ्वी पर रहने वाले किन्हीं भी लोगों की जीवन रीति को सीख सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रतिदिन का अनुभव इसकी अच्छी तरह पुष्टि करता है। दूसरी पीढ़ी के जापानी जिन्हें कि नीसी कहा जाता है, अपने साथी अमरीकियों की भांति ही कपड़े पहनते, बात करते और व्यवहार करते हैं। उनके सोचने की प्रक्रियायें, मूल्य-प्रणालियां और जीवन के उद्देश्य, जिस देश में वह रहते हैं, वहीं के हैं। यही बात नीग्रो लोगों के लिए सही है, जिनकी निर्योग्यतायें इतनी गंभीर नहीं हैं कि जो उन्हें आत्माभिव्यक्ति के उन मार्गों से वंचित कर दें जोकि उनके साथ रहनेवालों को प्राप्त हैं। संक्षेप में साक्षी इस बात को दर्शाती है कि प्रत्येक बृहत् मानव समूह, चाहे वह उपनस्ल ही जैसा क्यों न हो, मानवीय योग्यता के क्षेत्र में, चाहे वह बौद्धिक क्षमता हो, या इस प्रकार की विशेष योग्यतायें हों जोकि ध्वनि-तरंगों के प्रति (संगीत अभिरुचि) या प्रकाश तरंगों के प्रति (कलात्मक क्षमता) विशेष संवेदनशीलता के रूप में प्रकट होती हैं, या व्यवहार का कोई अन्य पहलू हो, जिसमें कि एक व्यक्ति अपनी उत्कृष्ट ग्रहणशीलता या कृति द्वारा अपने साथियों से आगे निकल जाता है, लगभग बराबर हैं।

एक निर्दिष्ट समाज, उपनस्ल या नस्ल अपनी मानवीय क्षमता को किस प्रकार उपयोग में लाती है, यह इतिहास का विषय है प्राणिशास्त्र का नहीं। उदाहरण के लिये, जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृति के अन्य पहलुओं की तरह भाषा सीखी जाती है। कभी-कभी नस्ली समूहों के लिए भी आर्य, सेमिटिक और बांटू जैसे भाषा-नामों का प्रयोग

किया जाता है। जब ऐसा प्रयोग बोलने के तरीके या सुविधा के कारण होता है, तो यह दोषपूर्ण तर्क का ही दोष है। प्रायः यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि जो दो चीजें साथ पाई जाती हैं उनका कार्य-कारण का सम्बन्ध है। ऐसी दशा में निर्दिष्ट शारीरिक प्ररूप को विशेष भाषा से मिला दिया जाता है और यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि एक निर्दिष्ट नस्ल के सदस्यों में उस भाषा को बोलने की क्षमता विशेष व जन्मजात है, जिसे वह नस्ल की हैसियत से बोलनेवाले समझे जाते हैं। लेकिन कोई बात सच्चाई से इतनी दूर नहीं हो सकती। जैसा कि संस्कृतियों के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में सही है, कोई भी मानव प्राणी चाहे उसकी कोई भी नस्ल हो, किसी भी भाषा को, बशर्ते कि वह उसे कम उम्र में ही सीखना शुरू कर दे और उसे उसके अभ्यास का पूरा अवसर मिले, बोल सकता है। न तो नार्डिक के पतले होंठ न ही नीग्रो के मोटे होंठ अपने आप में दोनों समूहों के किसी एक व्यक्ति के बोलने के तरीके को प्रभावित करते हैं, चूंकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि यह दोनों ही समान रूप से सुन्दर चीनी भाषा बोलना सीख सकते हैं।

४

हम देख चुके हैं कि संस्कृति शारीरिक प्ररूप की रचना पर और इस प्रकार मानव के प्रधान नस्ली समूहों के विकास पर एक वास्तविक प्रभाव डालती है, जिसे कि अभीतक बहुत कुछ अनुभव नहीं किया गया है। अब हम इस प्रश्न के दूसरे पहलू, अर्थात् शारीरिक प्ररूप या नस्ल के संस्कृति पर प्रभाव पर विचार करते हैं। यहां पर हम मानव समूहों के बीच शारीरिक प्ररूप की भिन्नताओं को किस हद तक उनके व्यवहार की उन प्रवृत्तियों के भेद का कारण माना जाय, जो कि उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं, विश्वासों और मूल्यों की समग्रता में व्यक्त होती हैं, इस बात की परीक्षा करेंगे।

यहां पर नस्ल के वैज्ञानिक अध्ययन और नस्ली भिन्नताओं के भेदों को जिनमें कि अधिकांश शारीरिक मानवशास्त्रियों की दिलचस्पी है, और राजनैतिक उद्देश्य से फैलाई गई इस अवधारणा को कि नस्ल सांस्कृतिक व्यवहार को निर्धारित करती है, समझना महत्वपूर्ण है। हम शीघ्र ही नस्लवादी दर्शनों के विकास पर विचार करेंगे। यहां पर हम सिर्फ यह याद दिला देना चाहते हैं कि इतिहास की नस्ली व्याख्या का चरमोत्कर्ष जोकि नात्सी जर्मनी की राजनीति में कार्यान्वित हुआ, द्वितीय विश्व-महायुद्ध का एक कारण था।

कुत्सित उद्देश्यों के लिए वैज्ञानिक सत्य को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति और उसके दुःखान्त परिणामों को देख कर इस प्रश्न पर वैज्ञानिकों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यूनेस्को का वह वक्तव्य, जिसका हम पीछे हवाला दे चुके हैं, तैयार किया गया था। उसमें यह कहा गया है :

"हमें अभीतक प्राप्त वैज्ञानिक सामग्री इस निष्कर्ष का समर्थन नहीं करती कि वंशानुगत जननिक भिन्नतायें विभिन्न जनताओं या समूहों की संस्कृतियों और सांस्कृतिक सफलताओं में भेद को उत्पन्न करने का प्रधान कारण हैं। इसके विपरीत, वह इस बात की ओर इशारा करती हैं कि इन भिन्नताओं को समझाने का प्रधान कारक प्रत्येक समूह का वह सांस्कृतिक अनुभव है, जिसमें से कि उसे गुजरना पड़ा है।"

संक्षेप में इस वक्तव्य की, पांच में से दो मदें इस पर जोर देती हैं कि "उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान यह विश्वास करने का आधार नहीं जुटाता कि मानव जाति के समूह बौद्धिक और उद्वेगात्मक (Emotional) विकास की सहजयोग्यता में भिन्न हैं"। इसके अलावा "अनेक ऐसे विस्तृत सामाजिक परिवर्त्तन घटे हैं जिनका नस्ली प्ररूपों के परिवर्तन से कोई भी सरोकार नहीं। इस प्रकार ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय अध्ययन इस मत की पुष्टि करते हैं कि मानव समूहों के बीच विद्यमान सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं में जननिक भिन्नताओं का अत्यल्प महत्त्व है।"[८]

वास्तव में अपने अध्ययन से सम्बन्धित व्यावहारिक मसलों पर प्रायः सभी शारीरिक मानवशास्त्रियों का यही दृष्टिकोण रहा है, यद्यपि ऐसे वक्तव्य अक्सर नहीं दिये गये। वैज्ञानिकों की हैसियत से शारीरिक मानवशास्त्री ऐसे मामलों से दूरवर्ती समस्याओं के अध्ययन में लगे रहे हैं। वह अध्ययन जिन्होंने शुरू में मानव प्ररूपों के वैज्ञानिक विश्लेषणों की बुनियाद रखी या हाल में इन प्ररूपों के भेदीकरण और स्थायित्व में अन्तर्निहित गतिशील प्रक्रियाओं को समझने की कोशिश की उनकी खोज का क्षेत्र रहे हैं। काउंट्स ने, जिसने कि शारीरिक मानवशास्त्र के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा दी है, इस परिवर्तन को इस प्रकार दिखलाया है कि किस प्रकार शुरू में वह मापने की विधियों के प्रयोग द्वारा अधिक सही तौर से नस्ली वर्गीकरण करने में रत था और अब किस प्रकार उसकी दिलचस्पी प्रजननिक दृष्टिकोण से शरीर की बनावट और रक्तप्ररूपों पर आधारित नये वर्गीकरणों में बदल गयी है।[९] इनमें से कुछ दृष्टिकोणों पर हम पिछले पृष्ठों में विचार कर चुके हैं, इनमें से सभी प्रारम्भिक दृष्टिकोणों ने कुछ ठोस न्यास और पद्धति के अवशेष छोड़े हैं, जिनका कि मानव के शारीरिक रूप के अध्ययन में निरन्तर उपयोग होता रहा है और इस उद्देश्य के लिए बराबर होता रहेगा। वे वैज्ञानिक मत के समीप आ जाते हैं और ठीक ही कहते हैं कि नस्ल एक प्राणिशास्त्रीय घटना है, और वे गुण जो कि मानव के एक समूह को एक दूसरे से अलग करते हैं उन्हें किसी भी तरह, केवल कहां तक वे ठीक तरह कार्य करते हैं या नहीं इस अपवाद को छोड़कर, श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं कहा जासकता। वैज्ञानिक रीति के अनुसार अध्ययन किये गये गुणों का विवरण दिया जाता और विश्लेषण किया जाता है, उनका निर्णय नहीं किया जाता।

जब हम नस्ली लक्षणों की श्रेष्ठता की समस्या पर आते हैं, तो हम वैज्ञानिक क्षत्र की सीमा से बाहर हो जाते हैं, क्योंकि यह प्रश्न मूलतः मूल्यांकन का है। वास्तव में यह समस्या सांस्कृतिक मूल्यांकन की किस्म की समस्या है और इसके साथ वे सब कठिनाइयां चिपकी हुई हैं जो कि तथ्यों के साथ पूर्वनिर्धारित निर्णय को कार्यान्वित करने में पेश आती हैं। प्रत्येक जनवर्ग यह अनुभव करते हैं कि वह औरों से श्रेष्ठ हैं। जैसा कि हम

---

८. यूनेस्को, १९५२, पं० ६, पं० ९ (बी), (डी), पृ० १४–१५।
९. ई० डब्ल्यू० काउंट्स, पृ० १९–२७।

देखेंगे, इस प्रकार का दृष्टिकोण जब अपने समूह के वस्तुगत गुणों पर संतोष व्यक्त करता है, वह व्यक्ति को एकीकृत करने में महत्वपूर्ण पार्ट अदा करता है और अन्तः समूह सम्बन्धों में समायोजन और सहयोग स्थापित कराता है। जबकि यह विश्वास प्राणिशास्त्रीय श्रेष्ठता के सिद्धान्तों को जन्म देकर दूसरों पर अपनी आक्रमणात्मक इच्छाओं और निकृष्ट पद थोपने के लिए व्यक्त होता है, केवल तभी, वह सामाजिक विशृंखलता उत्पन्न करता है। तब मूलतः रचनात्मक स्वाभिमान विनाशात्मक प्रेरणाओं और व्यवहार में बदल जाता है और नस्लवाद का बोलबाला होता है। इसपर जितना भी बल दिया जाय वह कम है कि इस नस्लवाद (Racism) को नस्ली भिन्नताओं के वैज्ञानिक अध्ययन से सदा पृथक् समझा जाना चाहिए। विज्ञान को विकृत करने वाली युक्तियों और नग्नशक्ति का समर्थन पाकर यह मनमाने तरीके से निश्चित की गयी सीमा द्वारा अपने से बाहर की नस्लों पर स्वयं निर्धारित "श्रेष्ठ" नस्ल के शासन को लादना चाहता है।

नस्लवाद के इतिहास में नस्लवादी दर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्तियां फ्रेंच लेखक काउंट आर्थर द गोबीनो की **"मानव नस्लों की असमानता पर निबन्ध"** और और रिचार्ड वैग्नर के जर्मन-अंग्रेज दामाद हूस्टन स्टीवर्ट चैम्बरलैन द्वारा लिखित **"उन्नीसवीं शताब्दी के मूलाधार"** हैं। इनकी और इनका अनुसरण करनेवाले अन्य लोगों की रचनाओं का नस्ली सिद्धान्तों को शक्ल देने में निस्संदेह बड़ा प्रभाव रहा है। किन्तु नयी दुनिया की दास-प्रथा ने नस्ल के कुछ प्रारम्भिक अध्ययनों को जुटा कर नस्लवाद को एक नयी प्रेरणा प्रदान की। दासता का समर्थन करने के उद्देश्य से किये गये इन अध्ययनों ने नस्ली भिन्नताओं के महत्त्व और अवश्यम्भाविता पर जोर दिया है। दास प्रथा के उन्मूलन के समर्थकों की प्रभावशाली युक्तियों का, अटलांटिक के दोनों ओर फ्रांस और इंग्लैंड और संयुक्त-राज्य अमरीका में दासता के समर्थकों ने उत्तर देने का प्रयत्न किया। पर वहां दासता-विरोधियों की युक्तियों के उत्तर में दी गई प्रतियुक्तियों ने प्रारम्भिक अमरीकी नस्लवाद को युक्तियुक्त ठहराने की कोशिश की।

नस्लवाद की पुरानी और नयी दुनिया की दोनों धाराओं के बीच कुछ सम्बन्ध ढूंढ़ा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैंड में मानव के अध्ययन के लिए दो समितियां विद्यमान थीं। इनमें से एक दासता की समर्थक, दूसरी विरोधी थी। इनमें से पहली लन्दन की ऐंथ्रोपोलौजिकल सोसायटी थी, प्रतिष्ठित विद्वान् डा० जेम्स हंट इसके प्रधान थे। उन्होंने अपने निबन्ध **"प्रकृति में नीग्रो का स्थान"** में, जो कि सोसायटी के १८६३–६४ के संस्मरण में छपा, ऐलान किया था, "हम निश्चितता से यह कह सकते हैं कि नीग्रो के सम्बन्ध में ऐसी साक्षियों का संकलन है, जो कि अपने आप में किसी निष्पक्ष द्रष्टा को यूरोपियन और नीग्रो लोगों को दो पृथक् मानव-प्ररूप मानने के लिए प्रेरित करेगा।" उसने युक्ति दी कि "केवल वैज्ञानिक ने ही नीग्रो को सभ्यता के लिए, जैसा कि हम इस शब्द का अर्थ समझते हैं, अयोग्य घोषित नहीं किया है।" उस समय में प्रचलित मतों से परिचित व्यक्तियों को

और जिन्होंने बाद के सालों में नस्लवादी साहित्य को देखा है, यह विचार भलीभांति ज्ञात हैं। यह ऐसे मत हैं जो कि इनमें वैज्ञानिक सत्यता अभाव के बावजूद जीवित रहे। इन चर्चाओं में और अन्य नस्लवादी लेखों में हम डा० हंट द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये उद्धृत किये गये अमरीकी उद्धरणों की संख्या को प्रायः नजर-अन्दाज कर जाते हैं।

उसी अंक में डा० हंट के बादवाले विलियम बोलेर्ट के लेख "नयी दुनिया की वर्तमान व अतीत जनसंख्याओं पर कुछ विचार" में भी इसी बात पर जोर दिया गया है। बाद की नस्लवादी विचारधारा के अनुरूप बोलेर्ट का मत था कि मानव की नस्लें विभिन्न जीवजातियों की प्रतिनिधि हैं और उसने नस्ली मिश्रण की बुराइयों पर बहुत जोर दिया। उसे हम अपने लेख में उन अमरीकी रचनाओं की, जोकि नीग्रो और गोरों को दो भिन्न जीवजातियों के सदस्य मानती हैं, व्याख्या करते हुए पाते हैं। वह लिखता है:

"मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि हम अपने मानवशास्त्रियों और जातिशास्त्रियों को अक्सर नौक्स की **'मानव जाति की नस्लें'**, नौट और ग्लीडन की **'मानव जाति के प्ररूप'** और **'स्वदेशीय नस्लें'** का हवाला देते हुए नहीं सुनते। इनमें से पहली रचना विचारपूर्ण और मौलिक है; दूसरी प्रारम्भिक है; परन्तु **'स्वदेशीय नस्लें'** अभीतक हमने अपनी भाषा में जितनी मानवशास्त्रीय रचनायें देखी हैं उनमें अत्यन्त मूल्यवान् देन है......।"

यह आज भी गैरदिलचस्पी की बात नहीं है कि हम १८५७ में फिलेडलफिया में प्रकाशित इस अन्तिम रचना के कपालों और जीवित नस्ली प्ररूपों पर नजर दौड़ायें और देखें कि एकजातिवादियों (Monogenists) के विरुद्ध, जो कि यह मानते थे कि मानव जाति एक है, उसने बहुजातिवादियों (Polygenists) के विवादास्पद मत का कैसे समर्थन किया है। पर इनमें भी सबसे दिलचस्प चीज इस ग्रंथ की पीठ पर दी हुई ग्राहकों की सूची है, जिसमें कि "ल कोम्त ए० द गोबीनो" का नाम द्रष्टव्य है।

नौट, ग्लीडन, नौक्स और वान एवरी यह अनेक विद्वानों में से कुछ के नाम हैं जिन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका में नस्लवाद को विज्ञान का रूप दिया। जैसे-जैसे अमरीकनों का ध्यान सीमाप्रान्त की ओर गया, ये रचनायें भुला दी गयीं जो कि उचित ही था, किन्तु उन्होंने जो बीज बोया था वह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ, यद्यपि प्रथम महायुद्ध के अन्त तक ही नस्लवाद को पुनः एक सिलसिलेवार तरीके से पेश किया जा सका। इस सम्बन्ध में मैडीसन ग्रांट और लोथ्रोप स्टोडार्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्रांट की **"महान् नस्ल का अवसान"** और स्टोडार्ट की **"रंग का उठता ज्वार"** इस काल की दो सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली रचनायें हैं। इन पुस्तकों ने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नस्ली नफरत को एक वैज्ञानिक जामा पहनाया। यूरोप के नस्लवाद के प्रचारकों ने इन लेखकों को प्रायः उद्धृत किया, और यह बात गौर करने लायक है कि जर्मन "नस्ल विज्ञान" के उल्लेखनीय व्याख्याता हांस एफ० के० गुँथर जैसे लेखक ने अपने ग्रन्थ **"यूरोपीय इतिहास में नस्ली तत्व"** में इन रचनाओं की प्रशंसा की।

द्वितीय महायुद्ध में अमरीकी सेना पर किये गये मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के परिणामों ने भी नस्ली विचारधारा को प्रभावित किया। यह बुद्धि-परीक्षण कहलाते थे, जिनके बारे में यद्यपि हम आज बेहतर जानते हैं। इनका उत्तरीय यूरोपीय प्ररूप की, जो उनमें सबसे अधिक ऊंचा बैठता था, कल्पित श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए बारम्बार प्रयोग किया गया है। नस्लवादियों की युक्तियों के ये सबसे प्रभावपूर्ण आधार थे, अतएव इन विद्वानों की रचनायें—जो कि उस परम्परा का, जिसके अस्तित्व से शायद वह स्वयं अनभिज्ञ थे, अनुसरण कर रहे थे—उन व्यक्तियों का, जो कि विज्ञान को अवैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे, मुख्य सहारा बनीं। फिर भी वैज्ञानिक पद्धति की कार्य-प्रणाली की यह एक समीक्षा है कि उसने उन न्यासों का जिनके आधार पर ये दावे किये गये थे वस्तुगत विश्लेषण कर, और उनमें प्रयुक्त पद्धतियों के पुनर्मूल्यांकन द्वारा कुछ सालों बाद मनोवैज्ञानिकों को नस्ली "बुद्धि" की अवधारणा को त्यागने पर बाध्य किया।

अध्याय छः

आवास और संस्कृति

चाहे हम मानव का अध्ययन करें या किसी अन्य जीवित प्राणी का, काल की तरह स्थान के विस्तार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसा कि फोर्ड ने कहा है कि मानव के बारे में जहां कि संस्कृति, भौतिक वातावरण और मानव कर्म के बीच एक मध्यवर्ती बनकर[1] दखल देती है, वहां समस्या मूलतः जिस प्राकृतिक वातावरण के बीच लोग रहते हैं उस वातावरण और उनकी संस्कृति के बीच होने वाली अन्तःक्रिया का मूल्यांकन बन जाती है। मानव प्राणियों ने जीवित शरीरी के रूप में अपने आपको कैसे भौगोलिक स्थिति के अनुरूप बनाया, इसकी खोज की अपेक्षा उसके सम्बन्ध का अध्ययन मानव परिस्थितिशास्त्र (Ecology) का विषय है।

अपने विशेष प्रयोग के अनुसार "वातावरण" (Environment) शब्द प्राकृतिक परिस्थिति का परिचायक है और भूगोलशास्त्रियों ने भी जो कि भौतिक संसार के इस पहलू में अभिरुचि रखते हैं, इन्हीं अर्थों में इसका प्रयोग किया है। "वातावरणीय निर्णायकयवाद" (Environmental determinism) वाक्यांश में भी यही अर्थ निहित है जिसके अनुसार एक संस्कृति का प्राकृतिक वातावरण केवल सांस्कृतिक मंच को ही नहीं, बल्कि उस मंच पर होने वाले कर्म को भी निर्धारित करता है। मजे की बात यह है कि यद्यपि वातावरण शब्द का अर्थ सामाजिक परिस्थिति की अपेक्षा जीवन की प्राकृतिक परिस्थिति ही अधिकतर समझा जाता है, पर सामाजिक स्थिति में अभिरुचि रखने वाले विद्वानों का ध्यान जनता की जीवन रीतियों और जिस पृष्ठभूमि में यह रीतियां उत्पन्न हुई और पीढ़ी दर पीढ़ी जारी रहीं, उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया की ओर अभी हाल में गया है।

हम मानव की समग्र सामाजिक सज्जा के **प्राकृतिक** और **सांस्कृतिक** तत्वों के भेद को, तथ्यों की भांति शब्दावलि में भी पृथक् कर, भलीभांति स्पष्ट कर सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए हम निम्न शब्दों का प्रयोग करेंगे:

आवास (Habitat): मानव जीवन की प्राकृतिक परिस्थिति को—एक जनसमूह द्वारा आबाद प्रदेश के भौतिक लक्षणों, उसके अधिवासियों को उस क्षेत्र में उपलब्ध होने वाले या भविष्य में उपलभ्य प्राकृतिक साधनों, उसकी जलवायु और ऊंचाई और अन्य भौगोलिक परिस्थितियों को, जिनके अनुकूल उन्होंने अपने को ढाला हो, यह नाम दिया गया है।

संस्कृति (Culture): समग्र पृष्ठभूमि का वह भाग जिसमें मानव द्वारा

---

१. सी० डी० फोर्ड, १९३४, पृ० ४६३

निर्मित सभी भौतिक वस्तुयें, विधियां, सामाजिक प्रणालियां, दृष्टिकोण और सभी ऐसे स्वीकृत उद्देश्य सम्मिलित हैं जो कि उनके व्यवहार को तात्कालिक रूप से प्रभावित करते हैं, संस्कृति शब्द द्वारा वर्णित होता है।

वातावरण (Environment) : शब्द कोष के अपने पूर्ण अर्थ में, "किसी प्राणी के जीवन और विकास को प्रभावित करने वाली समस्त बाहरी अवस्थाओं या प्रभावों का योग,"—यहांपर, अपने प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिवेश में मानव।

उक्त परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हम मानव की अपने आवास के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है, इसकी चर्चा करेंगे। किस हद तक मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन और उसकी संस्कृति इसके द्वारा ढलती है या किस प्रकार व्यक्ति और उसकी संस्कृति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में आवास का प्रयोग करते हैं? और अन्ततः वह कौनसी विधियां हैं जिनके द्वारा यह समन्वय या अनुकूलन प्राप्त किये जाते हैं?

२

अपने आवास की चुनौती स्वीकार किये बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। जब हम अपेक्षया सरल प्राद्यौगिक ज्ञान और सीमित आर्थिक साधनों वाली संस्कृतियों का उनके आवास से क्या सम्बन्ध है इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तब यह चुनौती बहुत ताकतवर दिखाई देती है और प्राकृतिक पृष्ठभूमि का प्रभाव इतना व्याप्त लगता है कि आवास का जीवन रीतियों को ढालने में निर्णायक प्रभाव है, यह निष्कर्ष अपरिहार्य प्रतीत होता है। जब हम ऐसे लोगों का उदाहरण लेते हैं जिनका आवास बहुत कठोर है जैसे कि ध्रुव या मरुस्थलीय प्रदेशों में रहने वाले लोग, तो यह बात विशेष रूप से सही जंचती है। ऐसे समूह की संस्कृतियों के विवरण अनिवार्यतः उन साधनों पर जिनके द्वारा वह अनुकूलन प्राप्त करते हैं, विशेष जोर देते हैं।

आस्ट्रेलिया के आदिवासी ऐसे लोगों का अच्छा उदाहरण हैं। खाद्य भोजन सामग्री के रूप में उनके पास कुछ नहीं दीखता। उत्तरपश्चिमी केन्द्रीय क्वीन्सलैंड में वह बीजों, जड़ों, फलों, और सब्जियों, फूलों और शहद, कीड़े मकोड़ों, मेंढ़कों, छिपकलियों, मछलियों, मगरमच्छों (जहां नदियां हैं), टर्कीबस्टार्डों, कबूतरों, एमुओं, बेंडीकूटों, ओपोसमों और कंगारुओं को इकट्ठा करते हैं। उनके पास कोई कुदाल नहीं, वे खेती नहीं करते। उनके हथियार बहुत ही प्रारम्भिक प्रकार के हैं, हालांकि उनकी शिकार की कुछ विधियों में बहुत सूझ-बूझ भी दीखती है। इस तरह जब कोई कंगारू दिखाई पड़ता है, तब आदिवासी उसका पीछा करने के लिये उसके पीछे दौड़ता है। वह सारा दिन उसके पीछे भागता है और रात में शिकारी व शिकार दोनों अपनी-अपनी जगह पर सो जाते हैं, अगले दिन तेज दौड़ने का अभ्यास न होने के कारण कंगारू की मांस-पेशियां अकड़ जाती हैं और शिकारी शीघ्र ही उसके पास पहुंच जाता है। तब यह सवाल रह जाता है कि वह लाठी से, वह हथियार जिससे कि आदिवासी इस पशु का शिकार करते हैं, उसका वध करे—इसमें काफी बहादुरी की जरूरत पड़ती है। और फिर वह अपने समूह के अन्य साथियों की प्रतीक्षा करता है जो कि शिकारी और शिकार के पैरों के चिन्हों का अनुसरण करते हुए दावत में शरीक होने के लिए वहां पहुंच जाते हैं।

दक्षिणी अफ्रीका के पिग्मी बुशमैनों के उदाहरण से भी यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार अत्यन्त अनुपयुक्त साधनों से युक्त लोग कठोर आवास से अपना काम निकालते हैं। अपने छोटे धनुष बाण को हाथ में लिए हुए और एक ढांचे पर चढ़ी हुई शतुर्मुर्ग की खाल को अपने झुके हुए शरीर पर ओढ़ कर बुशमैन शिकारी अपने को छिपाता हैं और तब इन बड़ी चिड़ियों (शतुर्मुर्ग) के चलने की नकल कर, वह इस सावधानी से उनके झुंड की ओर बढ़ता है कि वे तब तक उसकी उपस्थिति का संदेह नहीं करती जब तक कि उसके तीर से उनमें से एक गिर नहीं जाती। इन लोगों के लिए पानी की आवश्यकता सर्व-प्रधान है। चूंकि कालाहारी का मरुस्थल जिसमें ये रहते हैं, संसार का सबसे अधिक कठोर मरुस्थल है। वह उन थोड़े दिनों में जबकि पानी के गड्ढे सूखे नहीं रहते, शतुर्मुर्गों के अंडों के खोलों में पानी भरलेते हैं, या उस स्थान के अपने सूक्ष्म ज्ञान को वह उन जड़ों मूलों या ऐसे तरबूज की तरह के फलों को जिनमें कि काफी नमी रहती है या रस होता है, ढूंढ़ने में लगाते हैं। स्थिर से स्थिर जोहड़ भी उन्हें निरुत्साहित नहीं करता, ऐसी दशा में वह उसकी तली में घास के छलने (फिल्टर) लगाकर खोखले सरकंडों की मदद से पानी को उपर खींच लेते हैं।

आवास के साथ संस्कृति के उत्कृष्ट अनुकूलन (Adaptation) का एक अन्य उदाहरण ऐस्कीमो लोगों का है। उनके बुर्जनुमा बर्फ के घर जो कि इग्लू कहलाते हैं, उपलब्ध सामग्री के प्रयोग द्वारा निर्मित प्रभावशाली इंजीनियरी प्रविधि के नमूने हैं। जिस आसानी से एक इग्लू बनाया जाता है, और उसका टिकाऊपन और जिस तरीके से वह ध्रुव प्रदेश के भयंकर शीत में सुरक्षा तथा आराम देता है उससे यह स्पष्ट है। वालरस के दांतों का स्लेड के खींचनेवालों के लिये या बर्फीले तूफानों या बर्फ पर सूरज की चमक से आंखों को बचाने में प्रयोग इस अनुकूलन के अन्य उदाहरण हैं। वालरस या ह्वेल के शिकार में प्रयुक्त होने वाली भाले की नोंकें जो कि हत्थे से अलग हो जाती हैं, एक बार वार करने के बाद उनके कीमती हत्थे बिना हानि के उनसे अलग होकर तैरने लग जाते हैं जिन्हें बाद में शिकारी इकट्ठा कर लेते हैं। या हम फुलाये हुए वालरस के ब्लैडरों का उदाहरण दे सकते हैं, जिन्हें कि चोट की हुई मछली के डुबकी लगाने पर उसे परेशान करने के लिए भाले की नोक पर लगाया जाता है, जिससे कि व्हेल का खून निकल जाने पर वह कमजोर पड़ कर पानी की सतह पर आजावे और उसे आसानी से मारा जा सके। यहांतक कि बर्फ झाड़ने का औजार ऐसा है कि जिससे फरवाले कपड़ों के ऊपर पड़ी हुई बर्फ को झाड़कर उन्हें गरम इग्लू में लेजाये जाने पर वह सीलन से खराब नहीं होते।

३

मानवीय भूगोल (Human geography) का सिलसिलेवार अध्ययन जिसे कभी-कभी **मानव-भूगोल** (Anthropogeography) भी कहा जाता है, फ्रेड्रिक रेट्ज़ल के समय से चला आ रहा है। यह जर्मन विद्वान् लोगों की जीवन रीति पर प्राकृतिक परिस्थिति के प्रभाव से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने अपने "**मानव जाति का इतिहास**" में उस समय समस्त पृथ्वी पर बसने वाले लोगों के बारे में, ज्ञात सामग्री का संकलन किया। रेट्ज़ल की यह स्थापना कि संस्कृति की रचना और कार्यों के मूल्यांकन में

किन्हीं लोगों के आवास को उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसके अनुयायियों द्वारा अधिक कठोर सूत्र में परिवर्तित कर दी गई। इन विद्यार्थियों ने उसकी प्रारम्भिक और बहुत कुछ स्वीकार्य स्थिति को इस प्रकार बदल दिया कि आवास ही जीवन रीति को ढालने में निर्णायक कारक है।

संक्षेप में, इस स्थिति को **वातावरणीय निर्णायकवाद** कहा जाता है, और यह वह निर्णायकवाद है जिसकी संस्कृति क्या है और यह कैसे कार्य करती है, इसको समझने में जिसकी परीक्षा जरूरी है। इस दृष्टिकोण की एक कट्टर अभिव्यक्ति उत्तरी अमरीकी भूगोल की एक प्रामाणिक पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में मिलती है जहां कि बाद में की जाने वाली चर्चा के लिए वातावरणीय निर्णायकवाद की पूर्वकल्पना को एक ढांचे के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक लिखता है कि "यह समझने के लिए कि मानव ने क्या किया है, हमें जिस स्थान और वातावरण में उसने वह सब किया है उसका अध्ययन करना आवश्यक है।"[2] और इसके बाद सरकार, अर्थशास्त्र, सामाजिक आदर्श और नस्ल जैसे संस्कृति के पहलुओं को, जो कि एक समाज की प्राप्तियों को, यहां पर संयुक्त राज्य की जनता की प्राप्तियों को समझाते हैं, कारणभूत कारकों के रूप में अस्वीकार कर हमें यह बताया जाता है—"प्राकृतिक साधन जलवायु और पहुंच (Accessibility) वे तत्व हैं जिनसे उद्योग, व्यापार, धर्म, राष्ट्रीय नीति और कुछ हद तक सभ्यता का निर्माण होता है...।"[3]

संस्कृति के विद्वानों में वातावरणीय निर्णायकवाद के विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई है। उनका कहना है कि भौगोलिक, प्राणिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि अनेक शक्तियां संस्कृति को प्रभावित करती हैं, अतः उनमें से किसी एक पर ही अधिक जोर नहीं देना चाहिए प्रत्युत् उनमें से प्रत्येक की देन की खोज और वज़न करने की जरूरत है। परन्तु व्यवहार में, इसने इस निषेधात्मक उद्देश्य पर जोर दिया है कि संस्कृति के निर्माण में, आवास सर्व-महत्वपूर्ण पार्ट अदा नहीं करता जैसा कि वातावरणीय निर्णायकवादियों का कहना है।

वातावरणीय या अन्य किसी निर्णायकवाद का खंडन कठिन नहीं है, तर्कशास्त्र के सामने तो यह वैसे ही नहीं ठहर पाता। अर्थात् यदि किसी निर्णायकवाद को **निर्णायक** होना है, तो अन्य शक्तियों का कार्य करना स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिणामतः वातावरणीय निर्णायकवाद के अन्तर्गत यदि यह दिखाया जा सके कि एक ही आवास में पाये जाने वाली दो संस्कृतियां भिन्न हैं, या दो प्रकार की परिस्थितियों में एक ही प्रकार की संस्कृतियां विद्यमान हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि कल्पित निर्णायक शक्ति के अलावा किसी अन्य शक्ति ने भी उसे प्रभावित किया है। यह स्थापित हो जाने पर संस्कृतियों को बनाने वाली अनेक शक्तियों में से आवास केवल एक शक्ति रह जाता है।

यहां इसे दर्शाने वाले कुछ सुपरिचित उदाहरणों को स्मरण कराना उचित है। हम इससे पहले ही ऐस्किमो की, विशेषतः पूर्वी ऐस्किमो की, उसके आवास के साथ

---

२. जे० रसल स्मिथ, १९२५, पृ० ३।

३. वहीं, पृ० १०।

प्रभावशाली अनुकूलन की समीक्षा कर चुके हैं। यह निर्देश किया जा चुका है कि वह सुलभ सामग्रियों का किस कुशलता से उपयोग करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके एक मात्र पालतू पशु कुत्ते का स्लेड खींचने में कुशल प्रयोग, **कयक** कहलाने वाली जल के उत्पातों से संरक्षित उनकी नौकायें, जिनमें कि वह पूरी तरह उलट जाने पर भी जीवित रहते हैं, और ऐसे ही अन्य अनेक अनुकूलता के कौशल हैं, जिन्होंने विद्वानों को हैरत में डाल दिया है, उनका जिक्र किया जा सकता है। यह एक सत्योक्ति की तरह स्वीकार कर लिया गया है कि अगर किसी को भी ऐसे कठोर आवास में रहना पड़े, तो उसे ध्रुव प्रदेश की सर्दी के साथ अनुकूलन स्थापित करने के लिये ऐस्किमो लोगों की जीवन रीति का अनुसरण करना होगा।

तथापि जब कि हम साइबेरिया के ध्रुव प्रदेश में रहने वाले चुक्की, कोरियक और युकाघीर जैसे कबीलों पर ध्यान देते हैं, तो हम देखते हैं कि, यद्यपि वहां की जलवायु उत्तरी अमरीका के समान ही कठोर है, पर वहां की संस्कृति उससे सर्वथा भिन्न है। इग्लू अज्ञात हैं और साये के लिए लकड़ी के खांचे पर खालों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ध्रुव क्षेत्र के अन्य स्थानों की भांति यहां भी लकड़ी का सर्वत्र अभाव है। सायबेरियन शिकारियों की अपेक्षा पशुपालक हैं। उनकी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार वालरस नहीं, रेंडियर है, बावजूद इसके कि उनमें से अधिकांश समुद्र तट से बहुत दूर नहीं हैं और वह भी ऐस्कीमो की भांति शिकारी हो सकते हैं।

ध्रुव में ठंड के शुरू में ही जबकि रेंडियर अपने खाने की टुंड्रा घास को समाप्त कर चुकते हैं, रहने का स्थान बदल जाना चाहिए, शून्य से तीस अंश या उससे भी अधिक नीचे तापमान में पुरुष अपने बच्चों व स्त्रियों को पीछे छोड़ पशुओं के रेवड़ को नये चरागाह पर ले जाते हैं। तम्बू उखाड़ना स्त्रियों का काम है वे फौरन तम्बुओं को उखाड़ने और खालों, तम्बुओं की बल्लियों, बर्तनों और छोटे बच्चों को भारवाही रेंडियर पर लादने में व्यस्त हो जाती हैं। मनुष्य और रेवड़ नये चरागाह पर स्त्रियों से पहले पहुंच जाते हैं। वह ऐस्किमो की भांति हिम-रक्षक नहीं लगाते, और नहीं उनके पास ईंधन है, जिसे जलाकर वे ताप सकें। अतः वह ठंड में बैठे हुए भारवाही पशुओं का इंतजार करते रहते हैं कि जब वह आयें तो उनकी औरतें खाल के तम्बुओं को लगायें, चूंकि आदमी ऐसा काम करने में अपने को अपमानित अनुभव करते हैं।

यहां कठोर ध्रुव प्रदेश के आवास में हम सर्वथा भिन्न दो जीवन रीतियां पाते हैं जो एक शिकार पर और दूसरी पशु पालन पर आधारित हैं। जहां तक अनुकूलन में सफलता की परीक्षा जीवित रहना है, वहां तक दोनों ही लोग अनुकूलन में बराबर सफल हुए हैं, ऐस्किमो की तुलना में साइबेरियन लोगों को अनन्त पीढ़ियों से ध्रुव प्रदेश से जूझने में कम सफलता नहीं मिली है। साइबेरियन लोगों की तुलना में हमें ऐस्किमो लोगों का अनुकूलन अधिक कुशल दीखता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साइबेरियन भी इस मूल्यांकन से सहमत होंगे। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस भिन्न अनुकूलन में आवास के अतिरिक्त अन्य कारक भी कार्य करते हैं। एक बार यह जान लेने पर, वातावरणीय निर्णायकवाद की पूर्व-कल्पना द्वारा प्रस्तुत, संस्कृति के निर्माण में वातावरण के सर्व-शक्तिमान् प्रभाव के सिद्धान्त में संशोधन आवश्यक हो जाता है।

वातावरणीय निर्णायकवाद की स्थापनाओं की परीक्षा के लिए दक्षिणी पश्चिमी अमरीका का एक उदाहरण प्रायः दिया गया है। यहां पर प्यूब्लो रेडइंडियनों की उनके पड़ोसी नवाहो से तुलना की गई है। प्यूब्लो सामुदायिक ग्रामों में रहने वाले हैं, उनका आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर है। नवाहो पृथक् झोपड़ों में रहते हैं और अपने भेड़ों के रेवड़ों में व्यस्त रहते हैं। अन्त में प्रशान्त सागर के एक उदाहरण पर भी विचार किया जा सकता है। सभी पोलिनेशियाई लोग द्वीप वासी हैं और कुशल नाविक हैं, और कुशल नाविक होने के कारण उन्होंने अपनी छोटी पालदार डोंगियों (Outrigger canoes) के द्वारा समुद्र को बाधा के स्थान में एक राजमार्ग बना दिया है। केन्द्रीय प्रशान्त सागर के विस्तृत क्षेत्र में पोलिनेशियाई संस्कृति की द्रष्टव्य एकता यह संकेत करती है कि वहां रहने वाले लोगों के बीच विद्यमान सम्पर्क ने प्रशान्त सागर के सारे ही क्षेत्र में समान प्रभाव डाला है। फिर भी हवाई द्वीप समूह, ट्यूमोटोज और न्यूजीलेंड के स्थानीय आवास के भेद अत्यन्त अधिक हैं। इस दृष्टान्त में संस्कृति एक समान हैं जबकि वातावरण भिन्न हैं। यहां पुनः यह निहित है कि दोनों के बीच सम्बन्ध का अनुपात एक और एक से कुछ कम है।

४

कट्टर वातावरणीय दृष्टिकोण में संशोधन करने वालों की स्थिति यह है कि **संस्कृति को प्रभावित करने में लोगों का आवास निर्णायक कारक न होकर सीमित करने वाला कारक है।** इसमें वह उस दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं जो कि उन्हें तथ्यों के निकट ला देता है।

यह स्थिति केवल मानवशास्त्रियों तक ही सीमित नहीं, बल्कि निर्णायकवादी दृष्टिकोण की तुलना में अधिकांश भूगोलशास्त्रियों की भी यही स्थिति है। हमने इतने विस्तार से निर्णायकवादी दृष्टिकोण पर क्यों विचार किया है, इसका कारण यह है कि, इस दृष्टिकोण वाले अल्पसंख्यक भूगोलशास्त्रियों का प्रभाव उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात से कहीं अधिक रहा है। इस प्रभाव का यह भी कारण था कि उनकी स्थापना जब तक कि उसे तथ्यों के प्रकाश में विश्लेषण न किया जाय एक दम सरल, विश्वसनीय और नाटकीय है। जटिल संसार में रहकर हम सरल व्याख्याओं का स्वागत करते हैं। यह सुनने में युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि मैनहट्टन जैसे अति घने बसे हुए द्वीप पर गगनचुम्बी प्रासाद (Skyscrapers) इस लिए पाये जाते हैं कि उन्हें अपने कार्यकलापों को समन्वित करने के लिए आकाश तक पहुंचना आवश्यक था और इसकी चट्टानी संरचना ने इसे सम्भव बना दिया। हम यह भूल जाते हैं कि कितने पुल, सुरंगें और नौकामार्ग मैनहट्टन को मुख्यभूमि और लांग द्वीप से जहां कि मैनहट्टन की जन संख्या का एक बड़ा भाग रहता है, मिलाते हैं; या शिकागो में जहां कि पृथ्वी की निचली सतह में मिट्टी है, जमीन को काफी गहराई में खंभे गाड़कर उनके ऊपर गगनचुम्बी प्रासाद खड़े किये जाते हैं। हम इस तथ्य को नजर-अन्दाज कर सकते हैं कि केन्द्रीय संयुक्त राज्य अमरीका के मैदानों में भी, जहां न तो जगह की कमी है और न जनसंख्या का दबाव है, स्काईस्क्रेपर बनाये जाते हैं। हम यह भी भूल सकते हैं कि रायो डी जैनिरो में बहुत से लोगों ने केवल इसीलिए नहीं कि उन्हें शानदार खाड़ी और समुद्र के दृश्य का आनन्द लेना होता है, बल्कि इस

विश्वास से भी कि स्काइस्क्रेपर "सभ्यता" के प्रतीक हैं, इस स्थापत्य रूप को अधिक प्रबल बनाया है।

कठोर आवासों के अनुकूल लोगों की संस्कृतियों की चर्चा करते हुए प्रायः उनके प्रौद्योगिक और आर्थिक कार्यों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। किन्तु यदि हम समग्र-रूप में संस्कृति और आवास के बीच विद्यमान सम्बन्ध का विश्लेषण करें, तो हमें प्रथाओं के समस्त क्षेत्र का, उसके अभौतिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए जीविका प्राप्ति के साधनों के साथ–साथ विचार करना होगा। उदाहरण के लिए कलाकार के सजावट के डिजाइन और आवास के बीच क्या सम्बन्ध है? समाज की राजनैतिक संरचना और उसकी प्राकृतिक स्थिति के बीच क्या अन्तःक्रिया होती है?

इस प्रकार प्रस्तुत करने पर, जो पहली दृष्टि में बहुत सरल दीखता है, उसमें जटिलतायें उत्पन्न होती दीखती हैं। बिना वस्तुचित्रण के सजावट के डिजाइन इसका अच्छा उदाहरण हैं। इन डिजाइनों में कोई वस्तु चित्रित नहीं होती और इनमें अक्सर सीधी, मुड़ी हुई या कोणाकार रेखायें किसी वस्तु को सजाकर उसे आंखों के लिए आनन्ददायक बना देती हैं। इन रेखाओं की, यदि करनी ही हो तो, क्या व्याख्यायें की जायें, यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि जिन लोगों को यह कला मिली है उनकी क्या परम्परा है। इस प्रकार अमरीका के मैदानों में रहने वाले इंडियनों में



इस प्रकार के रेखाओं के क्रम की विभिन्न प्रकार से जैसे एक तम्बू जिसके सामने आदमी खड़े हों या, एक बादल जिससे पानी गिर रहा हो, या एक पहाड़ जिससे जलस्रोत वह रहे हैं, आदि व्याख्यायें की गई हैं। पश्चिमी अफ्रीका में ऐसे गोमूत्रिका डिज़ाइन



को इन्द्रधनुष, झाड़ी के बीच एक पगडंडी या सांप को समझा जाता है। ऐसे डिजाइनों पर आवास का क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में हम केवल एक ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहां कहीं व्याख्यायें की जाती हैं, वह व्याख्यायें करने वालों के अनुभव पर आधारित होती हैं। इस अनुभव में, प्राकृतिक पृष्ठभूमि का, जिसरूप में वह लोगों के जीवन में उपस्थित होती है, हमेशा समावेश होता है। पर एक डिजाइन की व्याख्या प्राकृतिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत होती है या नहीं, यह बिल्कुल संयोग की वात है। लेकिन एक बात के बारे में हम निश्चित हैं कि जिन्होंने कभी पहाड़ नहीं देखा है, न उसके बारे में सुना है वह किसी भी डिजाइन को उसका प्रतीक न कहेंगे किन्तु यह उसी सिद्धान्त को दुहराना मात्र है, कि व्याख्या अनुभव के क्षेत्र से बाहर नहीं जाती, और इससे सम्बन्धों के विश्लेषण की प्रक्रिया में बहुत कम सहायता मिलती है।

राजनैतिक संरचनाओं पर आवास का प्रभाव यद्यपि सजावट की कला पर प्राकृतिक पृष्ठभूमि के प्रभाव से अधिक दूर नहीं है किन्तु उसे कई मध्यवर्ती कदमों को ढूंढने

के बाद ही देखा जा सकता है। बड़ी जनसंख्याओं के समूहों की राजनैतिक संरचनायें जटिल होती हैं, छोटे समूहों को उनकी कम जरूरत होती है। शिकार या पशुपालन की अपेक्षा जहां जनता की बुनियादी अर्थव्यवस्था कृषि है, वहां जनसंख्याओं के जमाव मिलते हैं। किन्तु संस्कृति के अन्य किसी पहलू की तुलना में बुनियादी अर्थ-व्यवस्थायें आवास के साथ घनिष्ठतया बंधी हुई हैं। परिणामतः सामान्य अर्थों में सोच विचारकर विकसित की गई राजनैतिक संस्थायें, जिनका कि स्पष्ट विवरण देना संभव है, चूंकि वह शासकों के रूप में अभिव्यक्त हैं या भली भांति स्वीकृत कानून की प्रणालियों में परिलक्षित हैं, उन क्षेत्रों में मिलती हैं जहां कि स्थायी जनसंख्यायें इन विशेषज्ञों का भार उठाने के लिए पर्याप्त वस्तुएं उत्पन्न करती हैं।

पिछले पैराग्राफों में दिये गये वक्तव्यों का विश्लेषण इस ओर संकेत करता है कि किसी आवास द्वारा सांस्कृतिक संस्थाओं को प्रदान की गई नमनीयता हमारी जांच में एक महत्वपूर्ण मसला है। आवास के सीमित करने वाली भूमिका के सिद्धान्त की ओर पुनः विचार करने पर हम देखते हैं कि ऐसी स्थापना भी संस्कृति और आवास के बीच विद्यमान सम्बन्धों की समस्या का उत्तर देने में असफल है। अमरीका के केन्द्रीय मैदानों में रहने वाले शिकारी रेड इंडियनों के गिरोह एक समय खानाबदोश जिन्दगी बिताते थे और संस्था के रूप में अल्पविकसित सरकार-प्रणालियों के बीच रहते थे। तीनसौ साल बाद यूरोपीय प्रवासियों द्वारा बुनियादी संस्कृति में लाये गये ऐतिहासिक परिवर्तनों से इस क्षेत्र की तस्वीर बिलकुल बदल गई है। कृषि ने शिकार व पशुपालन का स्थान ले लिया, इस प्रदेश में नगर बस गये। इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की राजनैनिक संरचनायें आदिवासी रेडइंडियनों से भिन्न हैं। आज उस विशाल राजनैतिक सत्ता, जिसे संयुक्त राज्य अमरीका कहा जाता है, की इकाइयों के रूप में नगर, काउंटी और राज्य सरकारें, अदालतें और कानून लागू करने वाले अफसर और नियंत्रण के अन्य अभिकरण कार्य कर रहे हैं। किन्तु पिछले तीन सौ सालों में मानव के हाथों से हुए परिवर्तनों को छोड़ प्राकृतिक पृष्ठभूमि में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है।

अतः आवास को केवल **सीमित करने की भूमिका** देना हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त नहीं है। यह निश्चित है कि इस व्याख्या की उपयोगिता खत्म हो गई है, चूंकि यह मूलतः एक ऐसे नकारात्मक दृष्टिकोण को प्रकट करती है जिसका कि तथ्यों को अतिक्रमण करने वाले वस्तुगत दावों के खण्डन करन में ही प्रयोग किया जा सकता है। एक नकारात्मक दृष्टिकोण होने के कारण, यह आवास-संस्कृति के समीकरण (Equation) के विश्लेषण का, जो कि भावात्मक ठोस निष्कर्ष दे सके, पथप्रदर्शन नहीं कर सकता। सबसे पहले तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि चूंकि आवास द्वारा सभी मानव क्रियायें समानतः प्रभावित नहीं होती, अतः इस सम्बन्ध के विश्लेषण का प्राकृतिक पृष्ठभूमि के प्रति **संस्कृति के विभिन्न पहलुओं** की विभिन्न **प्रभावग्रहण-शीलता** से सम्बन्ध होना चाहिए, न कि समग्र संस्कृति के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों को निकालने का प्रयास होना चाहिए।

अतः हम यहां पर आवास के साथ संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध की

मात्रा को संक्षेप में दे सकते हैं। यह स्पष्ट है कि नृत्य या धार्मिक कृत्यों या सजावट की कला की अपेक्षा एक जनसमूह के जीवन में उसके प्रौद्योगिक और आर्थिक तत्व आवास से अधिक प्रभावित होते हैं। सामाजिक और राजनैतिक संरचनायें भी, जहां तक कि वे किसी आर्थिक या प्रौद्योगिक कृति को कायम रखती या प्रोत्साहित करती हैं या उनपर आश्रित होती हैं, कुछ प्रभावग्राहिता को प्रकट करती हैं। अमरीकी मैदानों में दो भिन्न कालों की राजनैतिक संरचनाओं के उदाहरण में यह देखा जा चुका है। फिर भी संस्कृति के इन पहलुओं में भी कई तत्वों का आवास के साथ तनिक भी सह-सम्बन्ध (Correlation) स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये रिश्तेदारी प्रणालियों के रूपों या गुप्त समितियों की उपस्थिति का प्राकृतिक आवास से कोई संबंध दिखाई नहीं देता। धर्म के रूप के बारे में तो यह और भी नगण्य है, बावजूद इसके कि इसका कार्य सर्वत्र ही मानव का विश्व के साथ समन्वय स्थापित करना है। तथापि वह विश्व जिसके साथ धर्म उसको समन्वित करता है स्वयं उसीकी रचना है और जिसके लिए वास्तविक आवास एक पृष्ठभूमि जुटाता है। प्रारम्भिक साहित्य में नाइजर डेल्टा या क्रॉस नदी के जंगलों के पश्चिमी अफ्रीकी जनों के वश्वासों के चित्रण इसके उदाहरण हैं। उनके जादू में विश्वास और अलौकिक शक्तियों के प्रति भीषण भय के बारे में यह समझा जाता था कि वह उन अंधेरे जंगलों में जीवन की कठिनाइयों और खतरों को व्यक्त करते हैं। परन्तु एक अधिक नवीन अध्ययन प्रणाली यह बताती है कि वह निरंतर भय, जिस में कि ये लोग अपने आवास के कारण रहते बतलाये जाते हैं बहुत कुछ द्रष्टा या अन्वेषक की अपनी कल्पना है, न कि उन लोगों के जीवन का तथ्य है। अवश्य ही वहां वास्तविक खतरे हैं, किन्तु वे किसी भी मायने में उस दुनिया में रहने के खतरों से अधिक नहीं है, जहां बिजली मोटर और अन्य यांत्रिक उपकरण प्रतिवर्ष हजारों को घायल करते या उनकी जान ले लेते हैं। यद्यपि इन जोखिमों के बीच रहने के तुलनात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अध्ययन अभी बाकी है, फिर भी यह कल्पना उच्छृङ्खल कल्पना न होगी कि नाइजर डेल्टा के समूह और हम लोग जैसा जीवन बिताते हैं उसमें दोनों ही जीवन के साथ एकसा एकीकरण स्थापित कर चुके हैं।

५

यह तथ्य कि सम्पूर्ण वातावरण मनुष्यों को अनुभव की लम्बी सामग्री जुटाता है और इस वातावरण में आवास एक अभिन्न और निरंतर तत्व है, कभी भी हमारी आंखों से ओझल नहीं होना चाहिये। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि संभव परिवर्तन की सीमा की छूट कृषि या पशुपालन की तुलना में कला या धर्म या कहानी कहने के क्षेत्र में कहीं अधिक है। सजावट की कला का प्रतीकवाद आवास पर आधारित हो सकता है। देवताओं को किसी रूप में प्रकृति की शक्तियों से सम्बन्धित करने की प्रथा है, पशुओं की कहानियों में शायद ही कभी ऐसे जीवों का जिक्र आता हो जो कि सुनाने वाले के आवास से बाहर पाये जाते हैं। फिर भी जहां मौसम कृषि-चक्र को निर्धारित करते हैं या आवास उगाई जाने वाली फसलों को निश्चित करता है, या जहां घास की सीमित पूर्ति पशुपालक लोगों को निरंतर चलने के लिए बाध्य करती है, वहां उनकी अपेक्षा अन्य कलात्मक घटनाओं में कल्पना की उड़ान में भिन्नता अधिक सम्भव है। अतएव आवास एक

सीमित करनेवाला कारक है, किन्तु यह व्यवहार को **चुनकर** (selectively) सीमित करता है।

इस सिद्धान्त को अभी और संशोधित करने की जरूरत है। जैसे-जैसे हम संस्कृति और आवास के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं, यह स्पष्ट होता जाता है कि मानव केवल अपनी प्राकृतिक पृष्ठभूमि से अनुकूलन ही स्थापित नहीं करता, पर जैसे-जैसे उसका अनुकूलन अधिक प्रभावशाली होता जाता है वह अपने आवास की मांगों से मुक्त होता जाता है, जिससे कि उसके लिए कभी-कभी उसे चुनौती देना या उसकी सीमाओं का उल्लंघन करना भी सम्भव हो जाता है।

यह किस प्रकार होता है, सुदूर पूर्व में चावल की खेती इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि इस प्रकार के धान हैं जो शुष्क जमीनों पर उगाये जाते हैं, परन्तु संसार के इस भाग में बोये जाने वाला धान सिंचाई द्वारा पैदा किया जाता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की खेती के लिए हमवार जमीन की आवश्यकता है, अन्यथा किस प्रकार उथले पानी की आवश्यक क्यारियों को कायम रखा जा सकता है? स्पष्ट है कि जैसे-जैसे तर धान उगाने की परम्परा, और चावल का स्वाद ग्रहण द्वारा या निष्क्रमण से या दोनों ही तरीकों से ऊबड़खाबड़ स्थानों में फैला, वहां पर अनुकूलन या त्याग का विकल्प उपस्थित हुआ।

फिलीपीन के इफूगाओ कबीले की धान की खेती का तरीका यह दर्शाता है किस प्रकार मेंढबन्दी (Terracing) के प्रौद्योगिक विकास ने ऐसी जमीन पर सिंचाई वाले धान को उगाना सम्भव बनाया जहां कि साधारण रूप से देखने में वह बिल्कुल ही त्याज्य प्रतीत होता था। धान पांच हजार फीट की उंचाई तक उगाया जाता है और पहाड़ों की ढलानों में इस सीमातक पहुंचने के लिए अनेक बार पहाड़ों के नीचे की तंग घाटियों की सतह से तीन हजार फीट तक पहाड़ के पार्श्व में मेंढ़ें बना दी जाती हैं। इन मेंढ़ों के तैयार होनेपर तर धान उगाने के लिए सिर्फ यही जरूरी रह जाता है कि सबसे ऊंची मेंढ़ के ऊपर की ऊंचाई से पानी बहाया जाये। इसके लिये जलधारा को आवश्यकतानुसार अपने मूल स्रोत से उच्चतम मेंढ़ तक फिर उससे नीची और इसी प्रकार सभी निम्नतम खेतों तक आवश्यक पानी पहुंचाया जा सकता है। और यह पानी खड़े हुए गढ़ों में अपने साथ लाई हुई मिट्टी को छोड़ता हुआ अन्ततः घाटी की तली में बड़ी नदी से मिल जाता है। इन मेंढ़ों को बनाने और उन्हें ठीक रखने में कठोर मेहनत लगती है। तेज ढालों पर पत्थरों को रोकने वाली दीवारें बनानी पड़ती हैं। इन दीवारों को बनाने में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक पत्थर को घाटी की तलहटी से पहाड़ के पार्श्व में लेजाना पड़ता है। कभी-कभी लगभग ग्यारह फीट चौड़ी जमीन को उपयोग योग्य बनाने के लिए मेंढ़ की दीवारों को बीस फीट तक ऊंचा उठाना पड़ता है। फिलीपीन के अल्प स्थानों में जहां कि पहाड़ अधिक ढालू हैं, वहां कृषि के लिए इतनी जमीन पाने के लिए मेंढ़ों को पचास फीट तक ऊंचा उठाना पड़ता है।[४]

---

४. आर० एफ० बार्टन, १९२२।

जिस तरीके से यूरपीय-अमरीकी संस्कृति के प्रौद्योगिक उपकरण उष्ण कटिबंध में रहने के लिये पर्याप्त छूट देते हैं, जिसकी कि उनके बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, उनका भी यहां जिक्र किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, बिजली द्वारा शीतीकरण (Refrigeration) और वातानुकूलन (Air-conditioning) ये दो ऐसे महत्त्वपूर्ण विकास हैं जिन्होंने कि अधिक खाद्यपदार्थों का उपयोग में लाना और उष्ण कटिबन्ध के आवास के ऊंचे तापमानों से छुटकारा संभव बनाया है। वैक्सीन और अन्य टीकों की प्रौद्योगिक सफलताओं ने उष्णकटिबन्ध के क्षेत्र में रहने वालों को वहां स्थायीरूप से प्रचलित रोगों से मुक्ति दिलाकर आवास द्वारा निर्धारित सीमाओं का सीधा उल्लंघन किया है। संस्कृति, विशेषकर अपने प्रौद्योगिक पहलुओं में, आवास को प्रभावित करनेवाली है जैसा कि हम देख चुके हैं कि वह शारिरिक प्ररूप को भी प्रभावित करती है। यद्यपि हम बहुत कम ही ऐसी कल्पना करते हैं कि संस्कृति प्राकृतिक परिवेश को परिवर्तित करती है पर इस पर ज्यादा चिन्तन की आवश्यकता नहीं; मानव इतिहास में यह बहुत साधारण सी बात है। सभी सिंचाई-व्यवस्था निर्माण करने वाले समूहों ने अपने आवास की भौतिक संरचना को बदलकर उसकी संभावित शक्ति को बढ़ाया है। हमें इस तथ्य की पुष्टि के लिए केवल इफूगाओ और सुदूर पूर्व के अनेक धान उपजाने वाले लोगों का स्मरण करने की जरूरत है, जिन्होंने अपने पहाड़ी प्रदेश की भौतिक शक्ल को बदल दिया है। आवास के इन परिवर्तनों से आगे बढ़कर महाद्वीपों के भूमि खण्डों को पृथक् करने वाले स्वेज और पनामा नहरों के इंजीनियरी कौशल या सैंकड़ों वर्ग मील तक फैली हुई बांध बनाकर तैयार की गई मानव निर्मित झीलें, वह बढ़ते हुए कदम हैं जो कि वर्धमान प्रौद्योगिक क्षमता को प्रतिबिम्बित करते हैं।

हमने अभी तक यह देखा कि यद्यपि आवास मानव की संस्कृति को सीमित करता है, यह संस्कृतियों को समग्र रूप में नहीं किन्तु विभिन्न संस्कृतियों को विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न पहलुओं में विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। इस बात पर जोर देना जरूरी है, कि हालांकि प्रोद्योगशास्त्र (Technology) और अर्थशास्त्र बहुत सरलता से प्राकृतिक पृष्ठभूमि के अधिक अनुकूल होते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि आवास अभौतिक और भौतिक दोनों तत्त्वों को प्रभावित नहीं करता। मुख्यतः आवास व संस्कृति के सम्बन्ध के बारे में प्रारम्भिक वक्तव्य के परिष्कृत रूप में यह कहा जा सकता है कि लोगों का **प्रोद्योगशास्त्र जितना अधिक उन्नत होगा उनके ऊपर आवास का प्रत्यक्ष प्रभाव उतना ही कम होगा**। हम यहां पर नस्ल और संस्कृति के सम्बन्ध की चर्चा में दिये गये सिद्धान्त के सदृश सिद्धान्त को ही व्यक्त कर रहे हैं। यह तथ्य कि मानव और उसके आवास के बीच संस्कृति एक रक्षक (buffer) की भांति है, उसी प्रकार की घटना है जिसने कि हमें प्राणिशास्त्रीय स्तर पर यह कहने की अनुमति दी थी कि, एक संस्कृति-निर्माता जीव की हैसियत से मानव बहुत अंशों में प्राकृतिक चुनाव को छोड़ सामाजिक चुनाव अपना चुका है। हम देखते हैं कि मानव जीवन के इन दोनों पहलुओं से संस्कृति का सम्वन्ध **पारस्परिक** (Reciprocal) है। संस्कृति को नस्ल या आवास के संघात से ढलने वाला एक निष्क्रिय तत्त्व नहीं सोचा जा सकता। अतएव इस प्रसंग

में हमें संस्कृति की वास्तविकता मनोवैज्ञानिक है,[५] इसके निगूढ़ अर्थों की परीक्षा करनी है।

६

इस अध्याय के शुरू में दी गई परिभाषा के अनुसार वातावरण मानव जीवन का वह सम्पूर्ण परिवेश है जिसमें संस्कृति या जो कुछ सीखा गया है और आवास या प्राकृतिक परिवेश दोनों आजाते हैं। अपनी अन्तःक्रीड़ा में यह दोनों हिस्से एक दूसरे पर विशिष्ट रूप से प्रतिक्रिया करते हैं। अर्थात्, जिस प्रकार आवास द्वारा संस्कृति के विभिन्न पहलू विभिन्न अंशों में प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार एक संस्कृति प्रौद्योगिक क्षमता के अर्थों में, आवास द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर प्राकृतिक वातावरण के सम्पूर्ण परिवेश में संमिलित होने वाले प्रभावशाली तत्वों की व्याख्या करती है और यह संकेत करती है कि किस हद तक व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन में आवास का निरन्तर ध्यान रखना चाहिये। इसे ही व्यक्ति का व्यावहारिक संसार कहा गया है। यह मनोवैज्ञानिक वातावरण ही उसे वास्तविकता की परिभाषित अवधारणा प्रदान करता है।

पर कोई पूछ सकता है, कि क्या देश, काल या दिशा जैसे अनुभव के अपरिवर्तनीय तत्त्वों में भी अदलबदल सम्भव है? क्या सूर्य, चन्द्रमा, तारे, ग्रह और नक्षत्र निश्चित और मानव जीवन में अपरिवर्तनीय वास्तविकतायें नहीं हैं? क्या ये सब और यह नदियां, पहाड़ और जंगल केवल परिभाषा से ही कायम हैं? इस प्रकार का दृष्टिकोण, चाहे उसमें इस तरह के प्रश्न ही क्यों न प्रस्तुत किये जाते हों, हमारे चिंतन पर ऐसा गहरा असर डालता है कि विवाद के विषय के रूप में ये प्रश्न ही अस्वीकार्य लगते हैं।

यहां हम सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Relativism) के सिद्धान्त की ओर अग्रसर होते हैं, जिस पर कि हम इस पुस्तक में आगे विचार करेंगे।[६] वहां हम यह देखेंगे कि किस प्रकार दक्षिण-पश्चिम के रैड इण्डियन हमारे उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के साथ ऊपर और नीचे को भी दिशा मानते हैं। हमारी संस्कृति में मानचित्र देखने की परम्परा हमें यह बताती है कि दिशा की वास्तविकता संस्कृति द्वारा कैसे निर्धारित होती है। यही कारण है जो हमें **ऊपरी** नील को **दक्षिण** और **निचले** नील को **उत्तर** मानने में कठिनाई उत्पन्न करता है। और पुनः जबकि स्पेक्ट्रम की वस्तुगत रूप से पुष्टि की जा सकती है, किन्तु उसके रंगों का बोध संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी अफ्रीका के योरूबा लोगों में कोई भी नीला रंग जो नील के समान या उससे अधिक गहरा होता है काला समझा जाता है। स्पेक्ट्रम के रंग अदृश्य रूप से एक दूसरे में अन्तर्लीन हो जाते हैं, केवल संस्कृति ही पहिचानने की भेदक रेखायें खींच कर अनुभव के इन न्यासों की व्याख्या करती है।

इसी प्रकार पर्वतों को बाधक के रूप में, या कच्चे माल के देने वाले, या दर्शनीय वस्तु या जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक या अन्य हैसियत में भी देखा जा सकता

---

५. इस विषय के विस्तार के लिए अध्याय १६ के नीचे देखिए।

६. नीचे अध्याय १९।

है। नदियों आदि आवास के अन्य पहलुओं के बारे में भी ऐसा ही होता है। मानव के वातावरण की रूपरेखा प्रस्तुत करने में हमें एक क्षण के लिए उन अदृश्य प्राणियों को भी नहीं भूलना चाहिए जो वहां निवास करते हैं। उन लोगों के जीवन में जो इसे अपनी विरासत का अंश समझते हैं पौराणिक गाथायें उतने ही विश्वास की वस्तु हैं जितनी कि वह चट्टानें जो उन्हें खेत तैयार करने के लिये मिलती हैं। यह चट्टानें उनकी वास्तविक सत्ता की अवधारणा में माली के मार्ग में उन जीवों द्वारा रखी हो सकती हैं जिनकी उपस्थिति पुराण बतलाते हैं। यह एक साधारण सी बात है कि किसी भी ऐसी संस्कृति में जहां कि विश्वास प्रबल है, ऐसे लोग जिन्होंने अलौकिक प्राणियों को देखा है, मिल जाते हैं। हमारे यांत्रिक जगत् में भी सामान्य जनता अभी भी श्मशानों में भूतों का आवास मानती है, वह लोग भी जो उसे स्वीकार नहीं करते, अर्ध-रात्रि में ऐसे स्थानों पर जाने से कतराते हैं।

इस प्रकार संस्कृति और आवास के सम्बन्ध के अध्ययन की समस्या एक जन-समूह द्वारा अपने आपको आवास की अवस्थाओं के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में अपने अनुभव को एकीकृत करने की मात्रा का निर्धारण है। जैसा कि गेटन ने कहा है कि "संस्कृति अपने प्राकृतिक वातावरण के जाल में फंसी हुई है।"[७] कैलीफोर्निया के योकुट इंडियन और पश्चिमी मोनो कबीलों में "बुनियादी संस्कृति—वातावरण के सम्बन्धों" का विवरण देने के बाद यह विद्वान् संकेत करता है कि यहां "प्राकृतिक वातावरण के साथ संस्कृति का सम्बन्ध केवल उपयोगितावादी सम्बन्ध न था।" बल्कि यह सिर्फ यांत्रिक प्रकार के एकीकरण की अपेक्षा एक "संस्कृति-वातावरण प्रकार का एकीकरण" है जिससे कि "वातावरण के वह पहलू जो कि बुनियादी जीवन-यात्रा के लिए अनिवार्य नहीं हैं एक कर्मकांडीय, सामाजिक और धार्मिक वृहत् संरचना में बंध जाते हैं।" इससे इस प्रश्न को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास शुरू होता है। हमसे पूछा जाता है कि "क्या इसका यह अर्थ है कि एक संस्कृति जिसमें वातावरण का अंश अधिक है अन्य संस्कृतियों की तुलना में कम परिवर्तनशील और अधिक स्थिर होती है?"[८] इससे संस्कृति और आवास की अन्तःक्रिया के गतिविज्ञान के अध्ययन की ओर संकेत होता है, अर्थात् किस भांति एक निर्दिष्ट समाज के सदस्यों का व्यवहार उनके प्राकृतिक वातावरण से एकीकृत होता है और किस प्रकार एक ही प्राकृतिक वातावरण में भिन्न संस्कृतियों को अपनाने वाले लोगों की आवास सम्बन्धी प्रतिक्रियायें भिन्न होती हैं, इनके अध्ययन का संकेत मिलता है। आवास का संस्कृति को ढालने वाले एक कारक के रूप में चाहे उसकी प्रतिक्रिया सीमित ही क्यों न हो, संस्कृति पर प्रभाव अवश्यंभावी है, स्वीकार कर हम यह भी मान लेते हैं कि मानव का सम्पूर्ण वातावरण जिसमें कि उसकी जीवन रीति की परम्परागत विरासत और उसके आवास संमिलित हैं वास्तविकता की परिभाषा में उन सम्मिलित तत्वों से जो कि वह अपने साथियों और अपने पूर्वजों के अनुभव से ग्रहण करता है मिलकर बना है।

---

७. ए० एच० गेटन, १९४६, पृ० २५४। ८. वहीं, पृ० २६४।

खण्ड दो

संस्कृति
के
पहलू

अध्याय सात

संस्कृति के सार्वभौम तत्त्व

मानवशास्त्रीय विज्ञान की एक प्रारम्भिक अवधारणा थी कि समस्त मानव जनरीतियों या संस्कृतियों के उद्देश्य बुनियादी तौर पर एक समान हैं। संस्कृतियों की सामान्य रूपरेखाओं की सार्वभौमता (Universality) ने हरबर्ट स्पेंसर और ई० बी० टेलर जैसे प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत "मानवजाति की मनोवैज्ञानिक एकता" के सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसके अनुसार विभिन्न संस्कृतियों की संस्थाओं में पाये जाने वाली समानतायें सभी मनुष्यों की समान क्षमताओं को सिद्ध करती हैं। एक के बाद एक संस्कृति में पायी जाने वाली रचना की समानतायें सामाजिक समूह के स्तर पर स्थानान्तरित व्यक्तिगत व्यवहार की समानताओं की अभिव्यक्ति हैं। इस समस्या पर पहले ध्यान देने वालों में से विज़लर का ध्यान सांस्कृतिक सार्वभौम तत्वों की प्राणिशास्त्रीय व्याख्या की ओर झुका और उसने इसे "संस्कृति योजना"[1] की संज्ञा दी। एक जगह उसने कहा है कि "यह मान लेना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि मनुष्यों के पास जो कुछ एकसा है वह आनुवंशिक है।" उसने यह भी कहा कि मनुष्य में "किसी अन्य सामाजिक जीव की भांति इस प्रकार का व्यवहार है जो अनिवार्यतः निश्चित है।" अर्थात् "मानव इसलिये संस्कृतियों का निर्माण करता है, क्योंकि वह इसके बिना रह नहीं सकता। उसके जीवनसार में एक ऐसी **चालक शक्ति** है जो कि उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी आगे धकेलती है।"[2] यह चालक शक्ति सीखने की प्रक्रिया द्वारा प्रभावित होती है। संस्कृति को सीखने की प्रक्रिया ही एक शिशु में अपने समूह का व्यवहार व्यक्त करती है। इसके अनुसार सांस्कृतिक व्यवहार की भिन्नतायें "मुख्यतः जन्मजात प्रवृत्तियों को प्रभावित करने वाली भिन्न रीतियां हैं।" इस प्रकार संस्कृति के सार को सार्वभौम प्रतिमान से पृथक् करने की आवश्यकता है। "इनमें से प्रथम वस्तु मुख्यतः सीखा हुआ व्यवहार है, जब कि दूसरी जन्म-जात व्यवहार की अभिव्यक्ति है।"[3]

कुछ सांस्कृतिक एकतायें अवश्य परिस्थितियों की उन समानताओं से उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि सभी मानव प्राणियों का वास्ता पड़ता है, जैसे कि बच्चों की रक्षा के लिए किसी प्रकार का परिवार, या अन्यथा भयोत्पादक ब्रह्मांड में सुरक्षा की भावना प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की विश्वास प्रणाली। किन्तु इन्हें स्वीकार करना इन एकताओं को जन्मजात चालकों का परिणाम बताने से दूर की चीज है। संस्कृति के

---

१. सी० विज़लर, १९२३, पृ० ७४।
२. वहीं, पृ० २६०, २६५।
३. वहीं पृ० २६७–२६९।

प्रजननात्मक आधार में एक प्रजननात्मक कार्य प्रणाली अन्तर्हित है जो कि अभी तक ढूंढी नहीं जा सकी है। जैसा कि टेलर ने कहा है, मानव एक "औजार इस्तेमाल करने वाला पशु है," चूंकि उसका शारीरिक प्ररूप अपने हाथों और बाजुओं का विस्तार करना संभव बनाता है जिन्हें कि हम औजार कहते हैं। वह एक "बोलने वाला पशु" है, क्योंकि उसके पास वह शारीरिक और स्नायुविक संरचनायें हैं जो बोलना संभव बनाती हैं।

संस्कृति के कुछ पहलुओं की सार्वभौमता को समझाने का सबसे सूक्ष्म प्रयत्न बी० मैलिनोवस्की द्वारा उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित पुस्तक में किया गया है। यहां पर प्रत्येक सांस्कृतिक प्रत्युत्तर (Response) द्वारा पूर्ण होने वाले कार्य को जिन्हें कि मानव की बुनियादी आवश्यकतायें पूरा करने वाले कहा जाता है, बताया गया है। उसकी योजना इस प्रकार है[4] :—

बुनियादी आवश्यकतायें	सांस्कृतिक प्रत्युत्तर
१—शरीर पोषण प्रक्रिया (Metabolism)	१—खाद्यविभाग
२—संतानोत्पत्ति	२—रिश्तेदारी
३—शारीरिक आराम	३—साया या आच्छादन
४—सुरक्षा	४—संरक्षण
५—गति	५—कार्यकलाप
६—वृद्धि	६—प्रशिक्षण
७—स्वास्थ्य	७—आरोग्य

इसके लेखक का कहना है कि इस सूची को सामने दिये गये अभिन्नतया संयुक्त प्रत्येक जोड़े के साथ पढ़ना चाहिए। हमारी आवश्यकता की अवधारणा को समझने में संस्कृति द्वारा प्राप्त प्रत्युत्तर से सीधा सम्बन्ध अन्तर्निहित है...भोजन, पानी और ओषजन की आवश्यकतायें कभी पृथक् नहीं हैं, वह प्रेरक शक्तियां हैं जो व्यक्ति या समूह को भोजन, पानी या ओषजन की तीव्र तालाश में भेजती हैं...मानव प्राणी अपनी संस्कृति की परिस्थितियों में सवेरे की भूख लेकर जागते हैं और या तो नाश्ता उनकी प्रतीक्षा में मौजूद होता है या उसको उन्हें तैयार करना रहता है...यह स्पष्ट है कि शरीर ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि प्रत्येक आवश्यकता के क्षेत्र में विशिष्ट आदतें पड़ जाती हैं और सांस्कृतिक प्रत्युत्तरों के संगठन में यह रोजमर्रा की आदतें संतुष्टियों की संगठित आदत को पूरा करती हैं।[5]

मानव के सांस्कृतिक कार्यों में व्यक्त बुनियादी मानवीय आवश्यकताएं पुनः "ग्रहण की गई आवश्यकताओं" की एक श्रेणी को जन्म देती हैं। इसका अर्थ है कि "संस्कृति मनुष्य को ग्रहण की जानेवाली संम्भावनायें, योग्यतायें और शक्तियां प्रदान करती हैं।" गृहीत आवश्यकताओं से "सांस्कृतिक अनिवार्यताओं" की एक श्रेणी

४. बी० मैलिनोवस्की, १९४४, पृष्ठ ९२।

५. वहीं, पृष्ठ ९३–९४।

निकलती है जो कि संस्कृति की उन संस्थाओं को जन्म देती है जो कि उन विस्तृततम विभागों को बनाती हैं जिन्हें कि हम यहां "पहलू" कहेंगे । निम्नलिखित तालिका में मैलिनोवस्की ने यह बताया है कि ये कैसे बनती हैं।

अनिवार्यतायें (Imperatives)	प्रत्युत्तर (Responses)
१. औजारों और उपभोग्य वस्तुओं के सांस्कृतिक यंत्र को उत्पन्न, प्रयुक्त और कायम रखना चाहिए और नये उत्पादन से उसे पूरा करना चाहिए।	१. अर्थशास्त्र
२. जहां तक मानव व्यवहार के प्रौद्योगिक, रस्मी, कानूनी या नैतिक आदेशों का सम्बन्ध है, उनका संहिताकरण और व्यवहार और स्वीकृति में नियंत्रण होना चाहिए ।	२. सामाजिक नियंत्रण
३. प्रत्यक संस्था को कायम रखने वाली मानव सामग्री बदली जानी चाहिए और उसे निर्मित कर और अभ्यास करा कबायली परम्परा का पूरा ज्ञान करा देना चाहिए।	३. शिक्षा
४. प्रत्येक संस्था के अन्दर सत्ता की व्याख्या हो जानी चाहिए, उसे विशिष्ट शक्तियाँ और अपने आदेशों को प्रभावपूर्ण रीति से कार्यान्वित होने के लिए साधन प्राप्त होने चाहिएं।	४. राजनतिक संगठन[6]

इन दो तालिकाओं की परीक्षा करने के बाद हमें संस्कृति में धर्म या सौन्दर्यात्मक तत्त्वों का समावेश न करना एकदम अखरता है। क्या इन पहलुओं की सार्वभौमता अर्थ-शास्त्र या सामाजिक संगठन के क्षेत्र की अपेक्षा कम दृढ़ता से स्थापित है ?

इसी पुस्तक में बाद में मैलिनोवस्की ने प्रथा के इन पहलुओं को भी अवश्य सम्मिलित किया है। वहां उसने संस्कृति की यह परिभाषा दी है कि "वह मूलतः वह प्रेरक यंत्र है जिसके द्वारा अपनी आवश्यकतायें संन्तुष्ट करते समय मनुष्य उस स्थिति में पहुंच जाता है कि वह अपने वातावरण की ठोस विशिष्ट समस्याओं का बेहतर सामना कर सके।" वह आगे कहता है कि इसकी "क्रियायें, धारणायें और लक्ष्य परिवार, गोत्र, स्थानीय समुदाय, कबीला और आर्थिक सहयोग व राजनैतिक, व कानूनी और शैक्षणिक क्रियाओं की संगठित टोलियों जैसी संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण और जरूरी कार्यों के चारों ओर संगठित हो जाती हैं।" अन्त में वह लिखता है कि "गतिशील दृष्टिकोण से, अर्थात् जहां तक क्रिया के प्रकार का सम्बन्ध है, संस्कृति का कई पहलुओं में विश्लेषण किया जा सकता है, जैसे कि शिक्षा, सामाजिक नियंत्रण, अर्थशास्त्र, ज्ञान की प्रणालियां, विश्वास और नैतिकता तथा सृजनात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति की रीतियां।"[7] किन्तु हमें उसने

६. वहीं, पृ० १२५।
७. वहीं, पृ० १५०।

यह नहीं बताया कि उन "विश्वास की प्रणालियों" या "सृजनात्मक और कलात्मक अभिव्यक्तियों की रीतियों" से कौन सी आवश्यकताएं पूरी होती हैं।

मरडक जिसने कि सांस्कृतिक तत्त्वों की सबसे विस्तृत सूची तैयार की है लिखता है कि "किसी भी समाज में मानव के कार्यों का एक बहुत छोटा अनुपात ही किसी प्रदर्शनीय बुनियादी चालक (Drive) से प्रेरित होता है," फिर वह उदाहरण देता है कि किस प्रकार सीखी हुई भूख विभिन्न प्रकार के भोजनों पर प्रतिक्रिया करती है, या भूख-चालकों को शान्त करने के मार्ग में टैबू आजाते हैं।[८] फिर वह "सहज प्रवृत्ति के कारक को अस्वीकार करने के लिये" एक दूसरा कारण और देता है। यह इस तथ्य से निकला है कि "अधिकांश सामाजिक संस्थायें या संस्कृति-संकुल (Complexes) वस्तुतः विभिन्न बुनियादी सहज-प्रवृत्तियों के साथ-साथ अनेक ग्रहण किये गये चालकों को भी तृप्ति प्रदान करते हैं," जैसे कि विवाह का महत्त्व प्रतिष्ठा देने और यौन तृप्ति प्रदान करने, इन दोनों में है। इसलिए वह सांस्कृतिक व्यवहार की दो कार्यप्रणालियों का जिक्र करता है। पहली मूल-प्रवृत्ति (Instinct) है जिसे कि उसने "प्राकृतिक चुनाव द्वारा समृद्ध और आनुवंशिकता द्वारा संक्रमित व्यवहार का निश्चित संगठन" कहा है, और जिसमें कि मानव अन्य सब प्राणियों के समान है। दूसरी है आदत डालना या अभ्यास बनाना जो कि मनुष्य या अन्य उच्च रूपों में पाई जाती है। यह "प्राणियों के सम्मुख आने वाली दो प्रकार की परिस्थितियों अर्थात् जिनमें मूल प्रवृत्तियां जाग्रत होती हैं और मूल प्रवृत्तियां शान्त होती हैं, इन दोनों के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करती हैं। एक मूल-प्रवृत्ति की संतुष्टि उस क्रिया को उत्तेजित करने वाली प्रेरणा को शान्त करती है।

हमें बताया जाता है, संस्कृति इस उद्देश्य को दो प्रकार से पूरा करती है, सीधे तौर पर बुनियादी आवश्यकतायें पूरी करके और गौण या "साधनीभूत" प्रत्युत्तरों (Instrumental responses) द्वारा। अन्ततः संस्कृति में "एक तीसरी और बहुत विस्तृत सांस्कृतिक आदतों की एक श्रेणी सम्मिलित है, जिसमें कि व्यवहार को प्रेरित करने वाली सहज प्रवृत्तियों और पुरस्कार के बीच कोई सम्वन्ध नहीं है, और यदि है तो अत्यन्त आकस्मिक ही है।" उदाहरण के लिए, ऐसा परिणाम तब घटित होता है जबकि वर्षा करने का मंत्र तूफान या आंधी लाता है या एक तावीज काम सिद्ध कर देता है। इन प्रतिमानों (Patterns) की स्थापना एक प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया का परिणाम है जिसके द्वारा उद्देश्यप्राप्ति में अनुकूलतम संस्थायें अल्प अनुकूल संस्थाओं की तुलना में चिर जीवित रहती हैं।[९]

इस प्रकार की प्रक्रियाओं में सांस्कृतिक सार्वभौम तत्वों (Universals) के हवाले से सभी संस्कृतियों में पाये जाने वाले बुनियादी संगठन की समानता की समस्या सिर्फ एक दूसरे स्तर पर हट जाती है। इसका यह अभिप्राय है कि यदि हम यह कल्पना करें कि हमारे सार्वभौम तत्त्व बुनियादी प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता को पूरा करते हैं और

८. जी० पी० मरडक और अन्य, १९४५।

९. जी० पी० मरडक, १९४५, पृ० १२८–३३।

उन्हीं से ग्रहण किये गये सांस्कृतिक प्रत्युत्तर उत्पन्न होते हैं, तब हम अपने आपको ठीक उसी स्थान पर पाते हैं जहांकि अन्य पूर्वकल्पनाएं भी हमें ले जाती हैं। इसके विपरीत, यदि हम गौण (Secondary) प्रत्युत्तरों पर जोर देते हैं और मानव संस्कृति के विस्तृत पहलुओं को उसके आधार पर समझने का प्रयत्न करते हैं तो हमें सार्वभौम तत्त्वों को ऐतिहासिक घटनायें मानना होगा, जिनका उद्गम मानव जीवन के पृथ्वी पर आगमन में इतना प्रारम्भिक (Early) था कि वे एक पीढ़ी से दूसरी तक बराबर चले आते रहे और जहां कहीं मानव जाति पृथ्वी पर जाकर बसी वे सर्वत्र सुरक्षित रहे।

इस प्रकार संस्कृति के विस्तृत अध्ययन के जिस प्रश्न पर हम यहां विचार कर रहे हैं, वह अत्यन्त कठिन है। इसका उत्तर देने में हमें संस्कृति के उद्गम और विकास के बारे में उन बुनियादी मसलों को तोलना होगा जिनके बारे में हमारे पास कोई सूचना नहीं, और जहां तक हम इस समय कह सकते हैं, शायद होगी भी नहीं। इसको समझाने के लिए पेश किये गये सिद्धान्त तभी तक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं जबतक कि हम सूक्ष्म अध्ययन द्वारा उनकी अपूर्णता से अवगत नहीं होते। निःसंदिग्ध रूप से, व्यक्तियों के व्यवहार में कुछ प्राणिशास्त्रीय आधार हैं जो कि संस्कृनि को ढालते हैं और आवास की भी कुछ आवश्यकतायें हैं जो पूरी होनी चाहिएं, इस तथ्य का हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं, और बाद के पृष्ठों में पुनः इसकी चर्चा करेंगे। हम देख चुके हैं कि किम प्रकार यह तथ्य कि मानव जीव श्रेणी का सदस्य है और उसे अपने आवास की मांगें पूरी करनी होती हैं, उसकी प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। प्रागैतिहासिक काल में उसके विकास की कहानी मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की उसकी संस्कृति के विकास के साथ समन्वय (Adjustment) की कहानी है। परन्तु मनुष्य "केवल रोटी से ही नहीं जीता" और "जीवन की कलाओं" की व्याख्या हमें विज्ञानसम्मत व्याख्याओं के बजाय सिर्फ उनका औचित्य सिद्ध करने वाले तर्कों तक ले जाती है।

अधिकांश विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि निर्दिष्ट समाजों में जिन संस्थाओं में यह समन्वय व्यक्त होता है, उन्हें आसानी से नहीं समझाया जा सकता। क्या संस्कृति ही प्रायः अपने उद्देश्यों को विफल नहीं कर देती, जैसे कि जब खाद्य निषेध (Taboos) सांस्कृतिक निरोधक के रूप में भूख की तृप्ति में साधक बनने के स्थान पर उसमें बाधक बन जाते हैं? विज़लर परम्परा-द्वारा उत्पन्न इस विकृति को सीखने की प्रक्रिया के प्रसंग में समझाता है; मैलिनोवस्की परिणत मनोवैज्ञानिक चालकों की ग्रहण की गई आवश्यकतायें कहकर व्याख्या करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विस्तृत दृष्टि से, संस्कृति मनुष्य की मनोवैज्ञानिक व प्राणिक दोनों आवश्यकताओं को पूरा करती है, वह उसके लिए उन समस्याओं को सुलझाती है, जिनका सुलझाना उसकी प्राणिक-मनोवैज्ञानिक रचना की प्रकृति और आवास की मांग की पूर्ति, इन दोनों के लिए आवश्यक है। वह संस्थाओं को स्थापित कर इसे पूरा करता है क्योंकि प्रत्येक समाज समन्वित और जीवित रहने के लिये अपने सदस्यों द्वारा उन संस्थाओं के नियमों के पालन का विधान करता है। परन्तु एक समाज से दूसरे समाज में संस्थायें इतनी भिन्न

हैं, इसका यही अर्थ है कि अन्तर्निहित सार्वभौम आधार से अनेक समाधान उद्भूत होते हैं, और यही मानव संस्कृति की विशेषता है।

२

किसी एक अध्ययन के लिए जनता के जीवन के पहलुओं के कुछ अंशों से अधिक का विवरण देना असंभव है। उनके लिए भी, जो कि यथासंभव एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं, देश काल और सामर्थ्य की सीमायें हैं, जिनका वे अतिक्रमण नहीं कर सकते। व्यवहार में भाषा विशेषज्ञ का विषय है और इसी प्रकार संगीत भी। यदि साहित्यिक कलाओं को सम्मिलित करने का प्रयास किया जाय, तो इस सामग्री को इसके विस्तार के कारण प्रायः पृथक् विचार के लिए रखना होगा। संस्कृति के कुछ पहलुओं, जैसे कि नाटकीय अभिव्यक्ति के रूपों का अध्ययन बहुत कम ही किया जाता है, चूंकि अनक्षर (Non-literate) संस्कृतियों में नाटक प्रायः कर्मकांड का एक अंश होता है। शुद्ध रूप से लिपिबद्ध करने की यांत्रिक कठिनाइयों के कारण नृत्यों का अभी बहुत कम विश्लेषण हुआ है।

यह देखने लायक है कि किस प्रकार एक संस्कृति का सम्पूर्ण अध्ययन उसके मुख्य पहलुओं को लेकर संगठित किया जाता है। इस उद्देश्य के लिए हम मैक्सिको नगर के पश्चिम में मिचोकन राज्य के एक टरस्कन समूह के एक मेक्सिकी ग्राम-समुदाय चेरन का जिक्र कर सकते हैं।[10] यह अध्ययन ग्राम के प्राकृतिक परिवेश, उसके आकार और भौतिक संगठन, जिसे कि घरों और राजनैतिक उप-विभाजनों के ब्यौरेवार मानचित्रों से दिखाया गया है, शुरू होता है। संस्कृति को स्वयं पांच प्रधान शीर्षकों, प्रौद्योगशास्त्र, अर्थशास्त्र, समुदाय, धर्म और कर्मकांड (Ceremonial) और व्यक्ति तथा उसकी संस्कृति में बांटा गया है।

प्रथम शीर्षक में इस बात पर विचार किया गया है कि किस प्रकार खनिज पदार्थों जंगलों और जलपूर्त्ति जैसे प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया गया है, कृषि कैसे होती है और फसलें कैसे पैदा की जाती हैं, पालतू पशुओं का क्या प्रयोग होता है, किस प्रकार मिट्टी के बर्तन, कपड़े और लकड़ी का सामान बनाने की अनेक उत्पादन प्रक्रियायें सम्पन्न होती हैं, और किस प्रकार भोजन बनाये और इस्तेमाल किये जाते हैं। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हमें भूमि, श्रम और पूंजी के उपयोग के प्रसंग में उत्पादन के संगठन; उत्पादन व्यय, विभिन्न विशिष्ट कार्यों को करने वाले व्यक्तियों की जिनके टेक्नीकी पहलुओं का पहले जिक्र हो चुका है, उत्पादन से होने वाली आय; वितरण की कार्य प्रणाली; उपभोग-जैसा कि पारिवारिक बजटों या विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में व्यक्त होता है; और किस प्रकार सम्पत्ति वितरित होती और समझी जाती है, इन सबका पता चलता है। सामाजिक संरचना और समुदाय के सरकारी साधनों का विवरण दिया गया है, जबकि धर्म और कर्मकांड के खण्ड में इन लोगों के जीवन में कैथोलिक चर्च के स्थान और इस मैक्सिकी इंडियन समुदाय में धार्मिक कृत्यों के विशिष्ट रूपों का जिक्र है। यहां भी

१०. आर० एल० बील्स १९४६।

लौकिक नृत्यों और चर्च के दायरे से बाहर जादू-टोना और अन्य विश्वासों का वर्णन किया गया है। एक व्यक्ति के जीवन का विवरण जीवन-चक्र की प्रधान घटनाओं का अनुसरण करता है, और यह विश्लेषण इस संकलित सामग्री द्वारा संस्कृति के अध्ययन के सम्बन्ध में उठने वाली कुछ समस्याओं की चर्चा के साथ समाप्त होता है।

ऐसे अध्ययन में प्रस्तुत विभिन्न विषयों की मान्यतायें अधिकांश विवरणात्मक अध्ययनों के समान ही हैं। विवरण मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं के पहलुओं से हट कर उनके सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले पहलुओं और अन्ततः उन पहलुओं पर हट जाता है जो कि ब्रह्मांड को विशिष्ट अर्थ प्रदान करने में, रोजमर्रा के जीवन को स्वीकृति देते हैं और अपनी सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्तियों में मनुष्यों को गम्भीरतम तृप्ति प्रदान करते हैं।

संस्कृति के विद्वानों के सम्मिलित अनुभव के आधार पर आने वाले अध्यायों में सांस्कृतिक सार्वभौम तत्त्वों के निम्नलिखित संगठन को सुझाया जाता है :

भौतिक संस्कृति और उसकी स्वीकृतियां
- प्रोद्योगशास्त्र (Technology)
- अर्थशास्त्र

सामाजिक संस्थाएं
- सामाजिक संगठन
- शिक्षा
- राजनैतिक संरचनाएं

मानव और ब्रह्माण्ड
- विश्वास प्रणालियां
- शक्ति का नियंत्रण

सौन्दर्य शास्त्र
- चित्र और मूर्ति कला
- लोक वार्त्ता (Folklore)
- संगीत, नाटक और नृत्य

भाषा

यहां इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि संस्कृतियों को इस प्रकार विभक्त करने में हम केवल उस वैज्ञानिक विधि का उपयोग कर रहे हैं जिसका औचित्य अध्ययन किये जाने वाले विषय की समस्याओं पर प्रकाश डालने में उपयोगी होने के कारण स्पष्ट है। आदर्श के रूप में हमें संस्कृतियों को समग्ररूप में ही अध्ययन करना चाहिये किन्तु वस्तुतः पृथक् सत्ताओं के रूप में वह अत्यन्त जटिल हैं और अनेक अन्तःसम्बन्धों के कारण सम्पूर्ण रूप में उनका अध्ययन बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये यह ध्यान में रखते हुए, यह स्पष्ट है कि हम भौतिक संस्कृति को सभ्यता के अभौतिक पहलुओं से पृथक् समझने की भूल नहीं करेंगे। हम यह स्वीकार करेंगे कि कोई भी पदार्थ

ऐसा नहीं है, चाहे वह कितना ही सुस्पष्ट क्यों न प्रतीत हो, जिसकी परिभाषा के अनुसार एक सांस्कृतिक सत्ता न हो। एक गाड़ी का पहिया जिससे कि दीवट का काम लिया जाता है फिर पहिया न रहकर दीपक जलाने का आधार बन जाता है। जावा में बातिक कपड़ा पहनने के काम आता है, वह दूसरी संस्कृति में परदे की तरह इस्तेमाल किया जाता है। कट्टर से कट्टर इंजीनियर भी अपने पेशे की प्रौद्योगिक दक्षता में "जानने की क्षमता" को स्थान देता है, किन्तु यह जानने की क्षमता प्रौद्योगिकशास्त्र का अभौतिक पहलू है।

चित्रकला और मूर्तिकला अन्य ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह पता लगता है कि किस प्रकार विस्तृततम श्रेणियों में रखे गये न्यास भी विद्वानों द्वारा निर्धारित सीमा में नहीं रहते। चित्रकला व मूर्तिकला अपनी अभिव्यक्ति से पृथक् नहीं है, और यह अभिव्यक्ति किसी ठोस माध्यम द्वारा ही होती है जैसे कि गुफा का भित्ति-चित्र, घड़े या बुनी हुई टोकरी के ऊपर सजावट, लकड़ी पर काटकर बनाई गई आकृति या पत्थर को तराश कर बनाई गई मूर्त्ति। इस कारण कला अनेक सांस्कृतिक योजनाओं में भौतिक संस्कृति और प्रौद्योगिक शास्त्र का अनुसरण करती है। परन्तु हम देखते हैं कि विशिष्ट कबायली संस्कृतियों से सम्बन्धित विवरणों में बहुत कम ही कला को प्रतिदिन प्रयोग में आने वाली ठोस वस्तुओं के साथ रखा जाता है। जनवृत्तशास्त्री (Ethnographer) कला भौतिक वस्तुओं में अभिव्यक्त होती है, इस तथ्य की परवाह नहीं करता। उसकी दृष्टि सांस्कृतिक सत्ता को, कला के उस सार को जो ठोस वस्तु को एक अपील और अर्थ प्रदान करती है पकड़ लेती है। उसके सृजन की प्रेरणा का तो कहना ही क्या, वह पकड़ी नहीं जा सकती। ये गुण जिन्हें हम जनता की सौन्दर्यात्मक परम्परायें कहते हैं, उनका निर्माण करते हैं, जो अन्ततोगत्वा उन व्यक्तियों की प्रतिभा में चरितार्थ होते हैं जो बर्तनों को सजाते हैं या दीवार पर चित्र बनाते, या मूर्ति को तराशते हैं।

ऐसी दशा में हमारे संस्कृति के वर्गीकरण का क्या अर्थ है? इसका क्या यह अर्थ है कि परीक्षा करने पर वह भी गायब हो जाते हैं? संस्कृति के अध्ययन का अनुभव ऐसा नहीं बताता। यह कहना कि वर्गों या श्रेणियों द्वारा अध्ययन निरर्थक है, उस आधार की उपेक्षा है जिस पर विभिन्न विद्वत्तापूर्ण और वैज्ञानिक शास्त्रों का निर्माण हुआ है। वह वस्तुतः सम्पूर्ण संस्कृतियों के अध्ययन का कट्टर प्रवक्ता है, जो इस बात का आग्रह करता है कि जीवन के आर्थिक पहलू, उन समस्याओं को नहीं प्रस्तुत करते, जिनका कि कुछ स्थानों पर आर्थिक व्यवस्था के धार्मिक, सौन्दर्यात्मक या समाजशास्त्रीय महत्व के विषयों से सम्बन्ध होने के कारण, उनकी उपेक्षा कर अध्ययन नहीं किया जा सकता। संयोजन (Composition) रंग, पिंड (Mass) कला की समस्यायें हैं और ये सरकारों के प्रश्न को प्रभावित नहीं करती।

अध्याय आठ

प्रोद्योगशास्त्र और प्राकृतिक साधनों की उपयोगिता

प्रोद्योगशास्त्र (Technology) द्वारा मानव ने अपने आवास मे खाद्य पदार्थ, साया, कपड़े और वह औजार प्राप्त किये जो कि उसके जीवित रहने के लिए अनिवार्य थे। किन्तु इन उद्देश्यों के लिए बनाये जाने वाली वस्तुओं को सामान्यतः **भौतिक संस्कृति**[1] के शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है।

जिस भांति मानव के सामूहिक व्यवहार को समझने के लिये सामाजिक जीवन के भौतिक आधार को समझना जरूरी है उसी भांति संस्कृति को समझने के लिए प्रोद्योगशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। इससे भी अधिक, हम यह देख चुके हैं कि किसी समाज की संस्कृति की उन्नति और अवनति के निर्णय में, अन्य किसी पहलू की अपेक्षा उसके प्रौद्योगिक साजो-सामान पर सबसे अधिक जोर दिया जाता है। इसका यह भी कारण है कि प्रोद्योगशास्त्र ही संस्कृति का ऐसा पहलू है जिसका वस्तुगत मूल्यांकन सम्भव है। इन मूल्यांकनों का जो तरीका है, वह शक्तिचालित मशीनों पर आधारित उत्पादन प्रणाली के उत्थान के साथ हमारी संस्कृति के बहुत अनुकूल है।

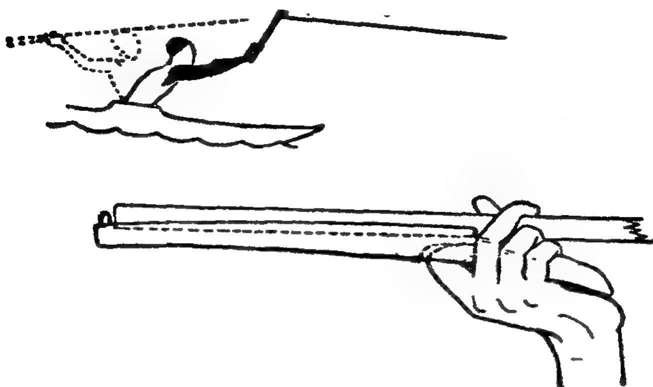
परन्तु अनक्षर लोग भी मशीन से सर्वथा अपरिचित नहीं हैं। जैसा कि डिग्बी ने कहा है, मशीन की मूल समस्या "चार मुख्य चालकों (Prime movers) को तब्दील और नियंत्रित कर उन दिशाओं में ले जाना है जहां वह उपयोगी कार्य सम्पादित कर सकें।" उसने दर्शाया है कि अधिकांश ये कार्य स्थिर मानव शक्ति के मुख्य चालक के रूप में प्रयोग द्वारा होते हैं, और इसमें पैरों की अपेक्षा हाथों का अधिक प्रयोग होता है। चालकों के रूप में मानव या पशु शक्ति का गुरुत्वाकर्षण शक्ति के साथ या खींचकर प्रयोग किया जाता है। जल शक्ति और वायुशक्ति भी चालक शक्ति हैं यद्यपि अंतिम शक्ति को पालों को छोड़ अन्य कार्यों में वहुत कम ही प्रयोग में लाया जाता है।

प्रयोग की दो विधियां हैं, पहली विधि प्रायः प्रयोग में लायी जाती है, यह दोनों दिशाओं या एक दिशा में गति है जो निरंतर अभ्यास का परिणाम है और जिसमें मांस-पेशियों के नियंत्रण की कम आवश्यकता पड़ती है और दूसरी चक्र-गति (Rotary motion) है, जो चारों ओर घुमाकर उत्पन्न की जाती है। मानव शक्ति को घुमाने की विधि द्वारा प्रयुक्त करने के उदाहरण बहुत नहीं हैं। तिब्बती पूजाचक्र, एस्कीमो का रस्सी बंटने का औजार और न्यूगिनी का बरमा इसमें आ जाते हैं। आग का हल (Fire-plow), खरल और मूसली, धौंकनी और करघों में सीधी गति का प्रयोग होता है। वज़न उठाने में खूंटे एवं गिराने में लीवर का प्रयोग किया जाता है और गुरुत्वाकर्षण की

---

१. एम० जे० हर्सकोविट्, १९५२

सहायक शक्ति के साथ दक्षिण अमरीकी इंडियनों के कसावा निचोड़ने के यंत्रों में इनका प्रयोग होता है। कातने में बेलनों का प्रयोग किया जाता है। अनक्षर लोग रस्सी या मुड़ी हुई



रेखा चित्र १४ :—भाला फेंकने वाला एस्किमो, उसे पकड़ने और फेंकने की विधि दिखा रहा है।

लकड़ी से शक्ति पैदाकर धुरे और बेयरिंग के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं जैसा कि ऐस्कीमो लोगों के धनुषनुमा बरमे या समोअन लोगों के रस्से बांटने के औजारों में होता है।[२]

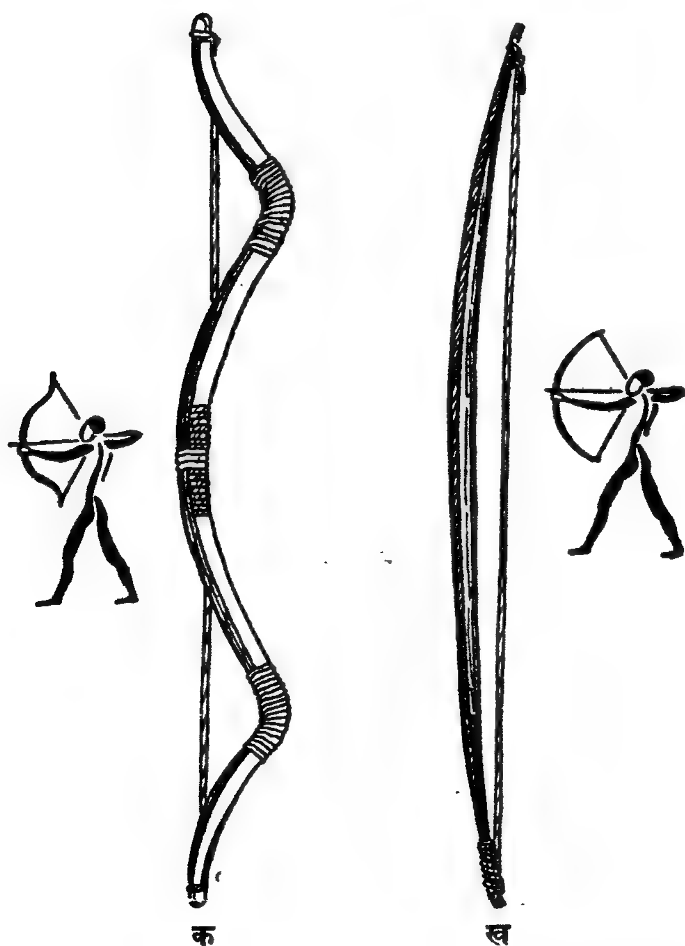
वे लोग भी जिनके साधन बहुत सरल हैं और जिनके पास ऐसी मशीनें भी नहीं हैं, पर्याप्त जटिल यांत्रिक सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं। आस्ट्रेलियावासी का बूमरेंग, दक्षिणी अफ्रीकी बांटू की नोबकेरी और भाला फेंकने के औजार, सभी शारीरिक शक्ति के कुशल प्रयोग को दर्शाते हैं जो कि व्यक्ति को अपनी शारीरिक क्षमता के प्रयोग में अधिक लचक और शक्ति प्रदान करते हैं। दोहरे धनुष को बनाने में कमानी के सिद्धान्त का प्रयोग इसका एक अन्य उदाहरण है। एक लकड़ी के टुकड़े से बने हुए सादे प्रकार के धनुष में भी उसकी लचक का ध्यान रखा जाता है और धनुष की डोरी में भी उसी सिद्धान्त से काम लिया जाता है, और इसी लचक से पंख लगे तीर से निशाना बेहतर लगता है।

यह द्रष्टव्य है कि एक जनसमूह के प्रौद्योगिक साधनों में संस्कृति के मानव निर्मित तत्वों का, जिनकी अपनी स्वतंत्र भौतिक सत्ता है, प्राधान्य रहता है। इसी कारण सांस्कृतिक संग्रहालयों के संकलनों में उनकी बहुतायत है। औसगुड के इंगालिक भौतिक संस्कृति की मदों के वर्गीकरण में इस बात को अच्छी तरह दिखाया गया है।

प्राथमिक औजार	४०
रस्सियां	१५
बर्तन	४१
विविध बनी वस्तुएं	६०
हथियार	११

२. ए० डिग्बी, १९३८, पृ० ७३।

मछली पकड़ने के औजार	२३
जाल, गढ़े और अन्य फन्दे	१२
कपड़े, पालने और व्यक्तिगत आभूषण	४६
साये, वस्तुएं छिपाने व रखने के स्थान	२६
यातायात के उपकरण	२५
रंग और रोगन	१३
बच्चों और बड़ों के खेल	२२
यौवन का साजोसामान	८
अन्त्येष्टि के सामान	१४
धार्मिक और कर्मकांड की वस्तुएं	४१



रेखा चित्र १५—(क) एस्किमो का दोहरा धनुष, (ख) सौक और फाक्स का सादा धनुष।

इस सूची में वर्गीकृत ४०० चीजों में से केवल अन्त की चार या पांच श्रेणियों में दी गई वस्तुएं जीविका उपार्जन के साधनों से बाहर हैं। यह वता देना भी जरूरी है कि औसगुड की प्रथम श्रेणी में दी गयी सूजा (Awl) या छाल खुरचने की रांपी (Scraper) एक प्रारम्भिक औजार हैं जो कि भोजन के वर्तन बनाने या यौवन उत्सव के लिए कोई वस्तु बनाने दोनों में समान रूप से उपयोगी हैं।[3]

न तो भौतिक संस्कृति की सभी मदें और ना ही प्रौद्योगिक साधनों के सभी तत्त्व संसार के अनक्षर लोगों में समान रूप से पाये जाते हैं। कुछ सर्वव्यापी हैं जैसे कि भोजन प्राप्त करने की प्रविधियां, यह आवश्यकतावश सभी समाजों के उपकरण हैं। आग जलाने जैसी प्रविधि, जो कि जीवित रहने के लिए अनिवार्य नहीं है, बंगाल की खाड़ी के अंडमान द्वीपवासियों की संस्कृति के एक दो अपवादों को छोड़कर सभी मानव संस्कृतियों में मिलती हैं। सायों का निर्माण भी बहुत विस्तृत है, किन्तु किसी प्रकार भी सार्वभौम नहीं है। यही कपड़ों के लिए सही है, यद्यपि कुछ ऐसे भी जन समूह हैं जो कि कुछ अवसरों पर शरीर के कुछ अंगों को नहीं ढकते। अनेक कारणों से अन्य प्रौद्योगिक प्रक्रियायें अपने विस्तार में और भी अधिक सीमित हैं। कुछ दशाओं में आवास ही इसका निषेध करता है, जैसे कि उत्तरी ध्रुवप्रदेशों में यह बेंत या लकड़ी के काम का। कभी-कभी उपयोगिता भी इसको निर्धारित करती है, जैसे कि खानाबदोश लोगों में बोझल और टूटनेवाले मिट्टी के बर्तनों का प्रायः पूर्ण अभाव है। कभी-कभी ऐतिहासिक कारण भी किसी निर्दिष्ट प्रविधि के विस्तार को सीमित करते हैं, जैसे कि पुरानी दुनिया में विकसित लोहे को बनाने की कला पश्चिमी गोलार्ध में कभी विकसित नहीं हुई।

न्यासों से सार्वभौम प्रयोग के कुछ सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। प्रथम, प्रत्येक समाज ने एक भौतिक संस्कृति और आवास के प्राकृतिक साधनों की खोज की प्रविधि का निर्माण किया है, जो कि संस्कृति के अभौतिक पहलुओं को आधार प्रदान करते हैं। दूसरे, प्रत्येक समूह का अपने आवास के साधनों के उपयोग के सम्बन्ध में एक यथार्थवादी दृष्टिकोण रहता है। उनकी प्रविधियां भौतिक सिद्धान्तों के अनुरूप तथा कार्यकारण की प्रक्रिया के निष्कर्षों पर आधारित होती हैं। ये प्रविधियां कुशलता और आविष्कार करने की क्षमता का प्रमाण हैं, और यह दर्शाती हैं कि लोग परीक्षण और भूल संशोधन की विधि से लाभ उठाने के सर्वथा योग्य हैं।

वह तर्कपद्धति जिसके द्वारा आदिकालीन मानव अपनी व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाता है और यह तथ्य कि इसमें वह कोई ऐसी मनोवृत्ति नहीं व्यक्त करता जो कि उपयोगिता के प्रश्न पर उसकी तर्क शक्ति को कुंठित करती है, इस पर वल देने की जरूरत है। एक बूमरेंग या एक दोहरे धनुष को बनाने में प्रयुक्त हुआ कौशल "संस्कृति के निम्न स्तर" पर रहने वाले लोगों का कौशल है। हम शायद कभी भी यह आशा नहीं कर सकते कि कांगो जंगल में रहने वाले पिग्मी झूलेनुमा लटके हुए पुल बना सकते हैं, लेकिन

---

३. सी० औसगुड, १९४०

वे बनाते हैं। अनक्षर लोगों में विज्ञान की कुछ अधिक जटिल सफलताओं के समानान्तर कृतियां भी मिलती हैं। माया लोगों के शुद्ध पंचांग या पूर्व-स्पेनिश पेरुवियन इमारतों के स्थापत्य कौशल के उदाहरण प्रायः दिये जाते हैं। कुछ अफ्रीकी कबीलों में चेचक के टीके का रिवाज या पोलिनेशियाई लोगों में हवाओं व धाराओं की दिशा जानने के लिए रतन (rattan) चार्टों का प्रयोग और इस प्रकार लम्बी समुद्री यात्राओं में उनके उपयोग के बारे में लोगों को इतनी अधिक जानकारी नहीं है।

अनक्षर मानव की उसके प्रोद्योगशास्त्र और भौतिक संस्कृति के अध्ययन से जो तस्वीर हम खींचते हैं वह एक मेहनतकश व्यक्ति की तस्वीर है जो अपनी सीखी हुई कुशलता का जोकि उसके इच्छित जीवनयापन के लिए पर्याप्त है, प्रभावपूर्ण रीति से प्रयोग करता है। इस प्रकार साक्षर समाजों में रहनेवालों की तरह अनक्षर मानव भी व्यावहारिक है, जो बताये जाने पर अपने लाभ को समझता है, बशर्ते कि वह उसकी संस्कृति की प्राविधिक रीतियों से बहुत पृथक् न हो, और यदि उसे इस बात का यकीन हो जाय कि उससे इच्छित फल प्राप्त किया जा सकता है तो वह उसका उपयोग भी करता है।

२

खाद्यपदार्थ दो प्रकार के होते हैं, पशु और पौधे जिन्हें जंगली या पालतू अवस्था में इस्तेमाल किया जाता है। किन्तु इन विकल्पों से निकला हुआ चौहरा वर्गीकरण बहुत समय तक अनक्षर लोगों की आर्थिक प्रणालियों को इस प्रकार पृथक् करने का आधार रहा है:

अर्थव्यवस्था	*खाद्यपदार्थ*
खाद्य संचय	पौधे (जंगली)
शिकार	पशु (जंगली)
पशु पालन	पशु (पालतू)
कृषि	पौधे (पालतू)

जिस क्रम में ये दिये गये हैं, इसी क्रम में मानव समाज की अर्थव्यवस्थाएं विकसित हुई हैं ऐसा विश्वास रहा है। तथापि यहां पर फोर्ड की यह चेतावनी स्मरणीय है: "लोग आर्थिक मंजिलों पर नहीं रहते। उनकी अर्थव्यवस्थायें होती हैं; पर पुनः हमें अकेली या पृथक् अर्थव्यवस्थायें नहीं मिलतीं अपितु उनके मिश्रण मिलते हैं।" परम्परागत वर्गीकरण के स्थान पर उसने संचय, शिकार, मछली पकड़ना, खेती, और पशुपालन[४] का प्रयोग किया और इस बात पर भी जोर दिया कि इनमें से कोई भी किसी समाज में अकेली नहीं रही है।

खाने की वस्तुओं की प्रकृति इनका कारण हैं। केवल सामिष आहार से तबियत ऊब

---

४. सी० डी० फोर्ड, १९३४, पृ० ४६१।

जाती है। यहां तक कि ऐस्किमो भी जो कि अपने आवास द्वारा सारे जाड़े में कुछ और न खाने के लिए मजबूर हैं, गर्मियों में खाद्य-संचयक बन जाते हैं और समुद्र के स्तनधारी जीवों के मांस-भक्षण का निषेध कर देते हैं। इसी तरह किन्हीं ऐसे लोगों की कल्पना, चाहे उनकी कृषि-प्रणाली कितनी ही उन्नत क्यों न हो, मुश्किल है, जो कि अपने खेतों की पैदावार के साथ शिकार भी न करते हों। जैसे कि संस्कृति के अन्य सभी पहलुओं के बारे में सही है, हम देखते हैं कि यहां भी स्पष्ट वर्गीकरण कठिन है। मानव निकटस्थ उपलब्ध खाद्य साधनों पर जीवित रहता है और ज्ञात प्रविधियों को प्रयोग में लाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संचय, शिकार और मछली पकड़ना, पशुपालन या खेती से बहुत पहले विद्यमान थे। पुरातत्त्वशास्त्रीय साक्षियों से भी यह भलीभांति सिद्ध है। नवपाषाण काल के प्रारम्भ होने से पहले आवास में प्राप्त खाद्यपदार्थों की खोज और उनका प्रयोग ही जीवन का आधार था। कंदमूल, गिरियों और फलियों के स्थान के ज्ञान या शिकारी पशुओं के स्वभाव के ज्ञान को छोड़ कर खाद्य पूर्ति पर नियंत्रण का कोई अन्य साधन न था। अभी भी ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्होंने न तो पौधों को और न खाद्य पशुओं को पालतू बनाया है। इन संचयकर्ताओं में कैलीफोर्निया और विशाल बेसिन क्षेत्रों के रेड-इंडियन और दक्षिणी अमरीका के पूर्वी और दक्षिणी खुले प्रदेश की सीमांत (Marginal) संस्कृतियोंवाले लोग, केन्द्रीय अफ्रीका और अन्य स्थानों के पिग्मी तथा अंडमान द्वीपों के आदिवासी सम्मिलित हैं। शिकारी लोगों में ऐस्किमो, अधिकांश कनाडियन, इंडियन और मैदानों के रेडइंडियन, दक्षिणी अफ्रीका के बुशमैन और आस्ट्रेलिया के आदिवासी हैं—यद्यपि अन्तिम दो शिकारी होने के साथ साथ खाद्य-संचयकर्ता भी हैं।

अपनी सरलता के बावजूद, खाद्य संग्रह और शिकारी अर्थ व्यवस्थाओं में भी पर्याप्त प्रौद्योगिक दक्षता की जरूरत पड़ती है। जंगली जड़ों, गिरियों, बीजों और फलियों को पाने और इकट्ठा करने तथा खाद्य पशुओं को फंसाने या उनका शिकार करने के लिए केवल भूमितल की जानकारी ही नहीं, बल्कि अनकूल समय और इन खाद्यों को पाने की सर्वोपयुक्त अवस्थाओं की जानकारी भी जरूरी है, भावी प्रयोग के लिए उनके संरक्षण के विषय में जानकारी के बारे में तो कहना ही क्या है। ऊपरी ग्रेट लेक्स के जंगली चावल संग्रहकर्ताओं का जीवन इसका उज्ज्वल उदाहरण है। मार्च, अप्रैल व मई में ये रेड इंडियन मुख्यतः अपने द्वारा तैयार की गई मेपल गुड़ पर रहते हैं, फिर वह पहले से संचित की हुई फलियां खाते हैं, और बाद में हरा मोटा अनाज। हेमंत और बाद में, जाड़े के शुरू के लिए संचित किया गया जंगली चावल समाप्त हो जाता था। वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में वह धान के खेतों में पाये जाने वाले जंगली मुर्गों को भी अपनी खुराक में सम्मिलित करते थे, जाड़े के आखिर में वे अपने द्वारा शिकार किये गये पशुओं के मांस और पेमिकन नामक एक खुश्क मांस और फलियों के मिश्रण पर जीवित रहते थे। वे लोग जो अपने आवासद्वारा प्रदत्त खाद्य पर जीवित रहते हैं, उनके पास संचय के लिए बर्तन और शिकार और मछली पकड़ने के लिए जाल, फंदे, भाले, धनुषबाण और साजोसामान भी होना जरूरी है। औसगुड द्वारा दी गई भौतिक वस्तुओं की सूची, जिसे

हम उद्धृत कर चुके हैं, हमें यह बताती है कि ऐसी अर्थ व्यवस्था में कितनी अधिक चीजों की जरूरत पड़ती है।

अपेक्षया कम ही पशु पालतू बनाये गये हैं, और अधिकांश पशुपालन अर्थ-व्यवस्थायें, मुख्यतः इन रूपों में से किसी एक की प्रभुता पर आधारित हैं। प्रधान पालतू पशु घोड़ा, बैल, रेंडियर, ऊंट और भेड़ हैं; और लामा, विकूना और टर्की को छोड़ सभी पालतू पशु पुरानी दुनिया में, जहां कि उनका आदिम वितरण सीमित था, पालतू बनाये गये थे। पुरानी दुनिया के ध्रुव गोलार्ध प्रदेश में लापलैंड से लेकर पूर्वीय साइबेरिया तक रहने वाले लोगों की अर्थव्यवस्था का आधार मुख्यतः बारहसिंगे हैं, जबकि एशियाई स्टेपी मैदानों में दक्षिण तक घोड़ों और पूर्वी अफ्रीका में ढोरों की मुख्यता है। सहारा और अरब के रेगिस्तानों में ऊंट व घोड़ा ही प्रधान पशु हैं। अधिकांश पशुपालक लोगों के पास बकरियां या अन्य छोटे पशु भी हैं जो कि बड़े पशुओं के मांस की कमी को पूरा करते हैं। ऊंट और घोड़ा बहुत कम ही मांस के साधन के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

पालतू पशुओं की सीमित संख्या की तुलना में पालतू पौधों की संख्या अनन्त है। अनाजों की उपज के सम्बन्ध में विद्वान् तीन मुख्य क्षेत्रों का नाम लेते हैं, पहले में योरोप, उत्तरी अफ्रीका और निकट पूर्व हैं, जहां गेहूं, जौ, ज्वार, सबसे महत्वपूर्ण फसलें हैं; दूसरे में एशिया, मैलेशिया और इंडोनेशिया शामिल हैं, जहां चावल की प्रभुता है। तीसरा नई दुनिया का मक्का का क्षेत्र है। अफ्रीका अधिक भाग्यशाली है। इस महाद्वीप के विभिन्न भागों की खाद्यव्यवस्था में मक्का, ज्वार, बाजरा, याम और कसावा सभी का महत्वपूर्ण स्थान है। पोलिनेशिया में टारो, याम, रोटीफल और गन्ने की प्रभुता है। यहां कोई अनाज नहीं उगाये जाते।

खेती की अनेक प्रविधियां हैं। खेती का सरलतम औजार खोदने का डंडा है जो कि आग द्वारा सख्त की गई एक नोकीली शाखा है। आस्ट्रेलियन स्त्रियां पौधों के बढ़ने में मदद देने के लिए जंगली मूलों के पास की जमीन को इससे ढीली करती हैं। अफ्रीका, अमरीका, और दक्षिणी सागरों में खोदने के डंडे को एक कुदाल (Hoe) के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है, जब कि न्यूजीलैंड के माओरी और जूनी इसमें एक आड़ा टुकड़ा या फांक लगा लेते हैं जिससे कि उस औजार का फावड़े की तरह उपयोग किया जाता है।

मूलतः पुरानी दुनिया का औज़ार कुदाल एक बहुत सुधरा हुआ औज़ार है। इसके अनेक रूप हैं। अफ्रीका का चौड़ा फलक वाला और छोटे दस्ते वाला लोहे का कुदाल योरोप के तंग फलक वाले और लम्बे दस्ते वाले औज़ार से भिन्न है। किसी सधे हुए अनुभवी हाथ में यह ज़मीन तोड़ने में एक हल की तरह ही उपयोगी सिद्ध होता है। हल जिसे कि पालतू पशु चलाते हैं, एक योरोपीय और एशियाई औज़ार है जो और कहीं नहीं मिलता।

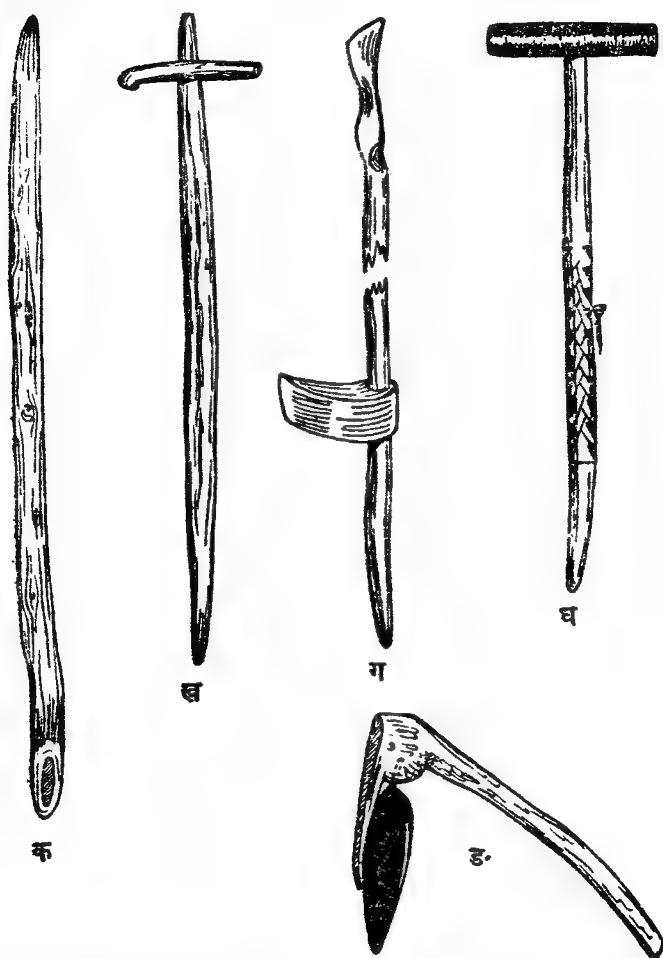
बहुत-से अनक्षर लोग इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं कि एक ज़मीन के एक खेत को लगातार बोने से उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है। जहां ज़मीन ज्यादा है, वहां इसकी कोई समस्या नहीं, क्योंकि नई ज़मीन पर नये खेत बनाये जा सकते

हैं। जहां ज़मीन अधिक नहीं है, वहां पर विशेष रूप से उष्ण कटिबन्ध के देशों में प्रयुक्त एक प्रविधि का प्रयोग होता है जिसमें पिछले साल के उगे झाड़ झंकाड़ों को जलाकर अगली फसल के लिए राख की खाद जुटाई जाती है। पूर्वीय संयुक्त राज्य के रेडइंडियन जो पहाड़ियों में मक्का उगाते हैं, वे खाद के लिए मछली का प्रयोग करते हैं। इन रेड-इंडियनों में एक खेत में दो फसलों को एक साथ उगाने का भी रिवाज है। प्रत्येक खेत में खीरा और सेम के बीज इस प्रकार बोये जाते हैं जिससे कि सेम की बेल मक्का के ठट्टे पर चढ़ जाती है और खीरे की बेल ज़मीन पर फैल जाती हैं। पश्चिमी अफ्रीका में भी यही सिद्धान्त चालू है, वहां खीरे का स्थान कद्दू या लौकियां ले लेती हैं। इस रिवाज के सम्बन्ध में प्रचलित देशीय सिद्धान्त से यह पता चलता है कि ऐसे मामलों के बारे में देशीय लोग किस प्रकार से तर्क करते हैं। उनके मत में वह पौधे जो सीधे उगते हैं, वह जो ऊपर चढ़ते हैं और वह जो ज़मीन से चिपटे रहते हैं, उनमें से प्रत्येक ज़मीन से अलग-अलग किस्म की खुराक लेते हैं, यह अनुमान भूमि-रसायन-शास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत भिन्न नहीं है। फसल उगाने में सिंचाई और मेढ़बन्दी दो महत्वपूर्ण प्रविधियां हैं। सिंचाई का एक उल्लेखनीय उदाहरण अमरीका के दक्षिण-पश्चिम में पाया जाता है, जहां पर यह स्पेनिश लोगों के पदार्पण से पहले से ही चालू है। फिलीपीन में मेंढ़बन्दी की चर्चा एक पहले अध्याय में की जा चुकी है। कृषि के सहायक के रूप में मेढ़बन्दी के प्रयोग का एक अन्य उदाहरण ऐंडियन पर्वतीय क्षेत्र में मिलता है।

पहले पौधे या पशु पालतू बनाये गये, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है, इसका सैद्धान्तिक महत्त्व इसलिए है कि यह खाद्य अर्थ-व्यवस्थाओं के विकास की मंज़िलों की पूर्व-कल्पना को प्रभावित करता है। यदि संचय–शिकार–पशुपालन–कृषि, यह क्रम सही है, तो पशुओं का पालतूकरण पौधों से पहले होना चाहिए। परन्तु विभिन्न गवेषणायें ऐसा संकेत करती प्रतीत होती हैं कि पशुओं का पालतूकरण खेती शुरू होने के बाद हुआ। अन्य प्रश्न जिसका समाधान नहीं हो सका है, यह है कि पौधे और पशु किस प्रकार पालतू हुए। यह मानना उचित होगा कि पौधों का पालतूकरण किसी अज्ञात संस्कृति-नायक, या अधिक सम्भव है कि किसी नायिका के, सूक्ष्म और कुशल अवलोकन का परिणाम रहा हो, जिसने कि इस बात को ध्यानपूर्वक देखा हो कि गिरे हुए बीज किस प्रकार पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। जहां तक पशुओं के पालतूकरण का सवाल है, इसके दो परस्पर-विरोधी उत्तर हैं, कि सर्वप्रथम पालतू हुए पशु मनुष्य के साथ स्वच्छंदतापूर्वक रहते थे या मानव के मन में पशु को पालतू बनाने का विचार उठा और जब तक वह कामयाब न हो सका, वह इस बारे में परीक्षण करता रहा। बहुत सम्भव है कि यह दोनों प्रक्रियायें साथ कार्य करती रही हैं। हम यही जानते हैं कि व्यवहारतः बहुत थोड़े ही समय में सब पालतू पशु मानव की सेवा में लाये गये हैं। यह हो जाने के बाद कुछ अन्य पशु भी जो पालतू बनाये जा सकते थे और उन अवस्थाओं में रह सकते थे, खोजे गये हैं।

पशुओं के पालतू होने का एक परिणाम यह दीखता है कि पुरुष प्रमुख रूप से कृषि-कार्य के क्षेत्र में उतरा जबकि पौधों के पालतूकरण ने स्त्रियों के संचय कार्य को बढ़ा दिया और उसमें फसलों की देख-रेख भी शामिल हो गई। उन प्रारम्भिक दिनों में मनुष्य ज़मीन

तोड़ने और तैयार करने की सख्त मेहनत करते थे या नहीं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। अधिकांश समाजों में आज यह काम पुरुषों का है। हल के आविष्कार



रेखा चित्र १६–कृषि के औजार (क) आस्ट्रेलियन खोदने का डंडा (लम्बाई, ३$\frac{3}{4}$ फीट), (ख) काविचन दस्तेवाला खोदने का डंडा (लम्बाई ३ फीट), (ग) मावरी लोगों का बीज बोने का डंडा (Dibble), (पायदान के साथ लम्बाई, ५ फीट), (घ) टामसन इंडियन बीज बोने का डंडा (लम्बाई, २$\frac{1}{2}$ फीट) (ङ) अफ्रीकी (नाइजीरियन) चौड़े फलक की कुदाल (दस्ते की लम्बाई, २० इंच)

ने, जिसे खींचने के लिए एक पालतू पशु की ज़रूरत थी, एक समस्या को पैदा किया : कि या तो वह जानवर जिसकी देख-रेख पुरुषों की अर्थ-व्यवस्था के दायरे में थी, अब उसे

स्त्रियों के आर्थिक क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जाय, या जो कृषि-कार्य अब तक स्त्रियों के हाथ में था वह अब पुरुषों के सुपुर्द किया जाय। बाद वाली बात ही घटित हुई। संसार की सभी हलधर संस्कृतियों में कृषिकार्य में स्त्रियों का गौण स्थान है, जबकि जिन संस्कृतियों में हल का प्रयोग नहीं होता, उनमें कृषिकार्य में उनकी ही प्रभुता है।

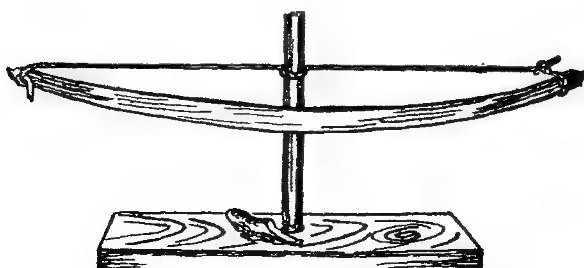
३

जबकि खाद्य पूर्ति अपरिहार्य है, बिना साये के गुजारा सम्भव है। यह ठीक है कि बहुत कम ही लोग इसे अपने सांस्कृतिक साधनों से अलग करते हैं किन्तु संस्कृति का अध्ययन करने वाले किसी नये विद्यार्थी को इस बात पर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि इसे किस सीमा तक घटाया जा सकता है। आवास और साये के बीच मोटे तौर से एक सहसम्बन्ध है, इसे आसानी से स्वीकार किया जा सकता है। भीषण गर्मी या सर्दी आवश्यक मांगें पैदा करती हैं और मानवीय सहन-शक्ति की सीमा पर दबाव डालती हैं। फिर भी सायबेरिया के चुक्ची और एस्किमो किस प्रकार अत्यन्त शीत में रहते हैं, गर्म क्षेत्रों के दर्शक को उस पर महान् आश्चर्य होना है। यदि वह उनका अनुकरण करे, तो यह उसके बस का न होगा। बोगारस ने बताया है कि किस प्रकार चुक्ची स्त्रियां बाहर बैठ कर बिना दस्तानों के न्यूनतम तापमान में सीने का काम करती हैं। इतनी ठंड में हाथ खुले हों, यह अपने आप में आश्चर्यजनक है, पर इस बात को नजरअन्दाज़ नहीं किया जा सकता कि उनका बाकी शरीर गरम कपड़ों से ढका हुआ था और आवश्यकता पड़ने पर वह पास ही खड़े खाल के तम्बू का इस्तेमाल कर सकती थीं। इसी प्रकार उष्ण-कटिबन्धवासियों की सूर्य की किरणों से अविचलित रहने की प्रायः टीका की जाती है। उष्ण कटिबन्ध के वातावरण में रहने के कारण निस्संदेह समशीतोष्ण प्रदेशवासियों की तुलना में यह स्वदेश-वासी सूरज की तेजी को बर्दाश्त करने में अधिक समर्थ होते हैं। फिर भी विद्यार्थी शीघ्र ही देखेगा कि देशीय लोग दोपहर को जब तक कि अत्यन्त गर्मी का समय नहीं गुज़र जाता, किसी पेड़ या छप्पर की ठंडक और अंधेरे में बिताते हैं। वस्तुतः हम देखते हैं कि सामान्यतः जैसा समझा जाता है उसकी अपेक्षा जीवन की सुरक्षा के लिए बहुत कम साये की जरूरत पड़ती है। इसके विपरीत, अधिकांश समाजों में साये का उपयोग उससे कहीं अधिक होता है, जितना कि उन्हें जीवित रहने के लिए ज़रूरत है; और इसकी व्याख्या के लिए हमें भिन्न कारणों की खोज करनी होगी।

उन लोगों में, जिनका प्रौद्योगिक ज्ञान सीमित है और जिन्हें वह सामग्रियां जिनसे आसानी से साये बनाये जा सकें उपलब्ध नहीं हैं, बनाये गये सायबानों का अभाव है। कुछ दक्षिण अफ्रीकी बुशमैन कबीले गुफ़ाओं या चट्टानों के सायबानों में रहते हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी साये के लिए आग से बचाव करने वाले आवरणों का प्रयोग करते हैं। आग का पर्दा (Fire screen) एक प्रकार का बचाव है जो ज़मीन में दो डंडों को सीधा गाड़ कर और उस पर एक खाल बांध कर बनाया जाता है; यह पर्दा आग और खाल के बीच पड़े हुए लोगों की हवा से रक्षा करता है। यह दोनों ही कबीले रेगिस्तानी क्षेत्र में रहते हैं जहां तापमान में जबर्दस्त उतार-चढ़ाव होता रहता है, इसलिए रात की ठंडक और दिन की गर्मी दोनों ही बराबर कष्टकर होती हैं।

इन सभी परिस्थितियों में आग के प्रयोग की जानकारी बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। प्रोद्योगशास्त्र का यह पहलू जो कि मानव जाति की प्रायः सार्वभौम सम्पत्ति है, प्रकृति के प्रकोप से रक्षा करने और खाद्य सामग्री पकाने तथा सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण है। मानव के जीवन में इसकी क्रान्तिकारी भूमिका को भली-भांति स्वीकार किया जाता है। किसी सांस्कृतिक नायक द्वारा आग को लाने की कहानी अनेक पुराणों में पाई जाती है। अनेक समूह चूल्हे को एक कर्म-कांडीय महत्त्व प्रदान करते हैं और निरंतर न बुझने वाली आग के प्रतीक के साथ अनेक समृद्ध कल्पनायें जुड़ी हुई हैं। माचिस और चकमक पत्थर के प्रयोग ने आग तैयार करने की क्षमता को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि अनक्षर समाजों की पद्धतियों से अपरिचित व्यक्ति इसका अनुमान ही नहीं लगा सकते कि आग जलाना कितना कठिन कार्य है। इन पद्धतियों का प्रयोग करने वाले लोग इस काम को आसान नहीं समझते और इसी लिए एक बार आग जल जाने पर वह इस बात की पूरी कोशिश करते हैं कि वह आग बुझने न पावे।

आग जलाने में दो बुनियादी तरीके अपनाये जाते हैं। हैरीसन ने इनका काष्ठ-घर्षण और दबाव-पद्धति (Percussion method) इन दो वर्गों में वर्गीकरण किया है। इनमें काष्ठ-पद्धति अधिक प्रचलित है, जो तीन प्रकार की हैं: "लकड़ी के एक टुकड़े को दूसरे टुकड़े में बरमे की तरह घुसाना···खुरदरी सतह पर सीधे रगड़ना···और, ···खुरदरी सतह पर आरी की तरह आड़ा रगड़ना।" इनमें से पहली विधि प्रायः देखने में आती है। इसमें एक लकड़ी के टुकड़े को दूसरे लकड़ी के टुकड़े में इस तरह अंटाया जाता है कि जिससे दोनों की रगड़ से बुरादा बनकर उसमें आग लग जाती है। बरमा (Drilling) पद्धति का दूसरा नमूना धनुष-बरमा है। बरमे वाली लकड़ी के ऊपर धनुष का फंदा पिरो दिया जाता है और जिस छेद में यह लकड़ी बैठाई जाती है, उस पर दबाव डाला जाता है। इस छेद को हाथ से पकड़ा जाता है, या जैसा कि एस्किमो लोगों में होता है, मुँह में भी। पोलिनीशिया में आग के हल (खुरदरी सतह पर सीधे रगड़ने की पद्धति) मैलेशिया में आग की आरी (आरी की तरह आड़ा रगड़ने की पद्धति) का



रेखा चित्र १७—धनुष बरमा

रिवाज है, यद्यपि ये दोनों ही विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। दबाव पद्धति में प्रायः चकमक पत्थर और किसी सूखे जल्दी आग पकड़ने वाले पदार्थ (Tinder) का प्रयोग

किया जाता है, यद्यपि हैरीसन ने बताया है कि दक्षिणी पूर्वी एशिया में बांस के दो टुकड़ों या चीनी के बर्तन के टुकड़े और बांस के डंडे का प्रयोग किया जाता है।[५]

अब हम आग का सायवान को अधिक प्रभावशाली बनाने में क्या योगदान है, इस पर विचार करेंगे। यद्यपि आस्ट्रेलिया का आग का पर्दा हवा से लोगों का बचाव करता है, पर दूसरी ओर आग उन्हें ठंडक से बचाती है। दक्षिणी अमरीका के उष्ण जंगलों में वहां के निवासी अपनी झूलती हुई चारपाइयों को जलते कोयलों या हल्की आग के ऊपर अपने सायबानों में टांग देते हैं। एस्किमो के इग्लू का आनंद उसके ह्वेल मछली के तेल के दिये से और भी बढ़ जाता है, अफ्रीकियों के छाये हुए घरों में आग का धुँवा कीड़ों को दूर रखता है। बिना आग के घर प्रकृति से रक्षा के अतिरिक्त, और कुछ नहीं दे पाते। आग के बिना जहां गर्म व समशीतोष्ण प्रदेशों में लोग जैसे कैसे रह लेते और ठंड से दुःखी रहते, वहां अत्यन्त ठंडे जलवायु में तो उनका रहना ही असम्भव होता।

सर्वप्रथम सायबान गुफा, वायु-रक्षक (Wind-break) और झोंपड़े हैं। अधिक जटिल प्रकार के सायबान, अमरीकी इंडियन खाल के सीधे-सादे तम्बुओं या संसार के अनेक भागों में बनाये जाने वाले लकड़ी के ढालू घरों से लेकर पेरू और मैक्सिको तथा पश्चिमी अफ्रीका और इंडोनेशिया की पक्की इमारतें हैं। उत्तरी अमरीका में दक्षिण पश्चिमी प्यूब्लो लोगों के बर्च की छाल के विगवाम या खालों की टीपी हैं जिनमें अनेक परिवार इकट्ठे रहते हैं। उपरले मिसौरी के मंडन और अन्य कबीलों के खुदे हुए गड्ढे या तहखाने, जो आधे ज़मीन में होते हैं और ऊपर पत्तियों से ढके रहते हैं, उत्तरी पश्चिमी तट के लोगों के तख्ते के घर तथा इराक्वी लोगों के लम्बे घर पाये जाते हैं। दक्षिणी और केन्द्रीय अमरीका में हम पेरूवीय और मैक्सिकी निर्माताओं की शानदार इमारतें देखते हैं और दक्षिण में लकड़ी के ढालू घर और शहद की मक्खी के छत्तेनुमा झोंपड़े दीख पड़ते हैं; गायना लोगों के छाये हुए घर; अमेज़न कबीलों के लकड़ी के खांचों से बने सामुदायिक मकान जो कि दस हज़ार वर्गफ़ीट तक स्थान घेरते हैं, और पर्वतीय क्षेत्रों के सादे आयताकार घर पाते हैं। छाया हुआ आयताकार या गोल घर पोलिनेशिया की विशेषता है किन्तु मैलेनेशिया में लकड़ी के ढालू घरों से लेकर बड़े तिकोन शिखिर वाले पुरुषों के मकान मिलते हैं जिनमें कि छत की बाहरी चोटी कभी-कभी सौ फ़ीट से भी अधिक ऊंची होती है। अफ्रीका में घरों की अत्यन्त भिन्नतायें हैं। होटैंटाट सादे शहद के छत्तेनुमा सायबानों में जिनमें चोटी की ओर झुके हुए खंभों पर खालों के ढंकने के लिए ढांचा बना दिया जाता है, रहते हैं; अफ्रीका में छाये हुए गोल घर हैं और महाद्वीप के पश्चिमी भाग में आयताकार छाये हुए घर से लेकर कानो और टिम्बकटू जैसे शहरों की पक्की इमारतें मिलती हैं, जहां के भवनों में धूप में सुखाई और पलस्तर की गई ईंटों के बने मेहराब व गुम्बजों का प्रयोग किया गया है।

अनक्षर जनों के बारे में कुछ ऐसा लिखने का रिवाज-सा हो गया है कि उनकी संस्कृतियों में सिर्फ एक प्रकार के घरों का निर्माण होता था। इससे समस्या का समाधान

---

५. एच० एस० हैरिसन, १९२५, पृष्ठ ३२–३४।

बहुत सरल हो जाता है। अक्सर घर की किस्म मौसम और उस घर से पूरा किये जाने वाले कार्य पर निर्भर है। एस्किमो के इग्लू की भांति मंडन लोगों का आधा तहखाने वाला घर गर्मियों में खाल के तम्बू का स्थान ले लेता है। पुरुष और स्त्रियां सर्वथा भिन्न प्रकार के घरों में भी रह सकते हैं, विशेष कर जहां पर पुरुषों के सामुदायिक घर हैं, और स्त्रियां अपने बच्चों के साथ अलग वैयक्तिक सायबान या घर में रहती हैं। और घर शब्द सायबान या आच्छादन का पर्यायवाची भी नहीं है। केन्द्रीय अमेरिका या मैलेशिया की लुप्त सभ्यता की शानदार इमारतों को घर नहीं कहा जा सकता। वह शासक की शक्ति और जिस शान से देवताओं की पूजा की जाती थी, उसका प्रतीक थीं। मनुष्य केवल प्रकृति के प्रकोपों से सुरक्षा की अपेक्षा अल्पतर ठोस कारणों से भी मकानों का निर्माण करते हैं। प्रतिष्ठा और सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति भी उनमें प्रवेश करती जाती है, जैसा कि सभी प्रकार के मकानों पर की गई सजावटों से स्पष्ट है। इससे भी अधिक, वह भावात्मक सूत्र हैं जो कि स्त्री और पुरुषों को अपने घरों के साथ बांध उन घरों को सुरक्षा और सौन्दर्य का साधन बनाते हैं और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

४

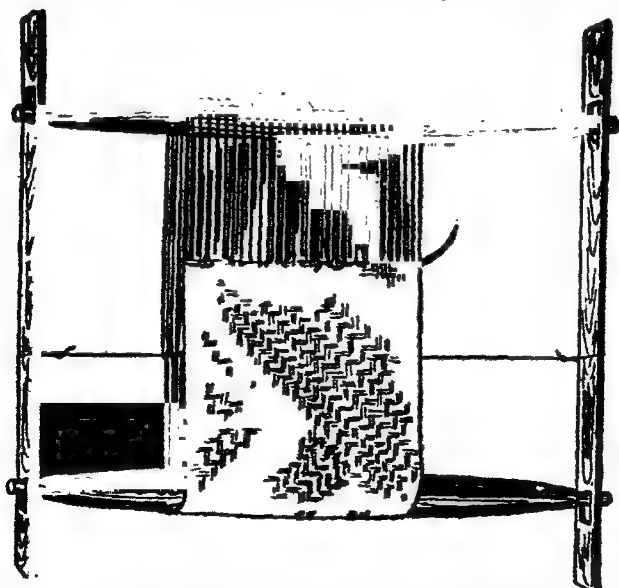
कपड़े सिये भी जा सकते हैं, अर्थात् उन्हें सीकर शरीर की बनावट के साथ फिट किया जा सकता है या यह ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें मानव शरीर पर ढीला ढाला ओढ़ लिया जाय। पुनः लोगों के कपड़े पहनने की मात्रा और उनके आवास की प्रकृति के बीच मूलतः कोई अनिवार्य सह-सम्बन्ध नहीं है। सामान्यतः यह कहना सम्भव है कि अधिक ठंडे प्रदेशों में रहने वाले तंग और सटे कपड़े पहनते हैं, जबकि गरम प्रदेशों के रहने वाले ढीले कपड़े ओढ़ते या लपेटते हैं।

कपड़ों के लिए ऐसी सामग्री की जरूरत पड़ती है जो कि आसानी से मुड़ सके और पर्याप्त मुलायम हो जिससे कि उन्हें आसानी से सिया और सजाया जा सके। ऐसी उपलब्ध सामग्रियां बहुत कम हैं—बुने हुए कपड़े, खालें और छाल के कपड़े। धार्मिक कृत्यों के समय पहने जाने वाले या प्रतिष्ठा के प्रतीक कपड़े, इन सामग्रियों के अपवाद हैं, उदाहरण के लिए, पंखों के चोग़े या बारीक बुनी हुई चटाई के चोग़े या मध्यकालीन सैनिकों के धातु के बने बख्तरबन्द या न्यू ब्रिटेन द्वीप समूह के सैनिकों द्वारा पहने जाने वाले मोटे, नोकें निकली हुई मछली की खाल के बख्तरबन्द।

पत्तियों और घास जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर, हम देखते हैं कि मानव जाति के कपड़े में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों को उनकी प्राकृतिक अवस्था में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें कपड़े के रूप में काम में लाने के लिए अनेक प्रक्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। इनमें से सबसे जटिल वे प्रक्रियायें हैं जिनके द्वारा पशु या वनस्पति के तंतुओं से काते गये सूत के कपड़े बनाये जाते हैं। पुरानी दुनिया में भेड़ और बकरियां और दक्षिणी अमरीका में लामा और विक्यूना पशुतन्तुओं या ऊन के मुख्य साधन हैं। रुई और सन के वनस्पति-तंतुओं का प्रयोग भी अत्यन्त व्याप्त है। बेकार चीज़ों को पहले अलग कर दिया जाता है, उसके बाद बचे ढेर को पीटा जाता है, जिससे कि तन्तु लगभग एक-दूसरे के समानान्तर हो जायं, फिर इन तन्तुओं को कातकर

सूत बनाया जाता है , जिससे कि मज़बूत लम्बे तार बन जाते हैं। अनक्षर लोगों में सबसे अधिक प्रचलित और सरल तरीका जांघ के ऊपर तंतुओं को बांटना है। धागा एक तकुवे (Spindle) पर इकट्ठा किया जाता है, जो कि विभिन्न मोटाई का तार निकालने के लिए आवश्यक खिचाव देता है। तकली को हाथ से घुमाया जाता है और लगातार गति और बराबर खिंचाई देने के लिए छोड़ दिया जाता है ।

कपड़ा बनाने का मुख्य औज़ार करघा है, इसमें एक चौखटा होता है जिसमें आड़े हाथ समानान्तर ताने (Warp) फैले होते हैं, इन तारों के बीच समकोण पर एक बार ऊपर और एक बार नीचे या उनके किसी भी मिलान में बाने (Weft) के तार डाले जाते हैं। ताने के तार या तो आड़े या यदि करघा ज़मीन के समानान्तर लगाया हुआ हो तो बुनने वाले से उल्टी ओर दूर तक फैले रहते हैं। बिल्कुल सादे करघे में ताने के तार खुले रहते हैं, लेकिन यह जानने में अधिक देर नहीं लगती कि यदि आधे या किसी निर्दिष्ट संख्या में ताने के तारों को किसी ऐसे उपकरण से जोड़ दिया जाय कि उन्हें एक ही गति से उठाया जा सके और साथ ही इतनी जगह छूट जाय कि जिसके बीच से सूत निकाला जा सके तो समय की काफी बचत हो सकती है। इससे अधिक जटिल करघों में वह छड़ी जिससे कि तार उठाये व गिराये जाते हैं, एक पायदान या ट्रेडिल से जोड़ी जा सकती है।

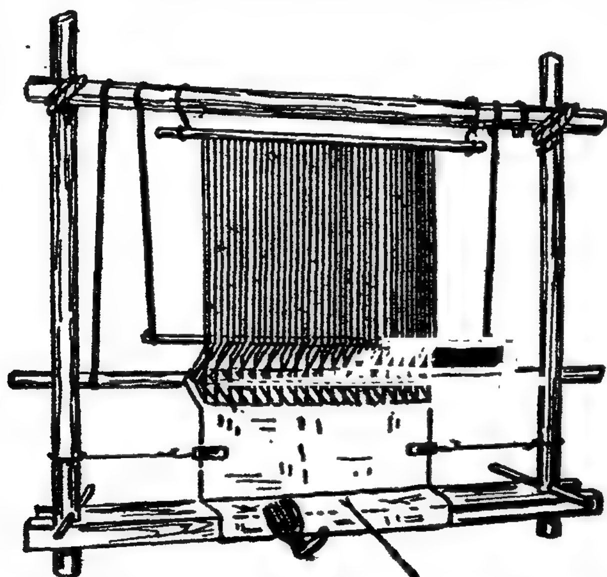


रेखा चित्र १८:—सादा करघा ट्विलिङ्ग स्टिक के साथ (उत्तरी अमरीका के प्रशान्त उत्तरी पश्चिमी प्रदेश कौविचन कबीले से)

इस प्रकार बनी जगह में एक रांछ को ठोक दिया जाता है। पार्श्व की तरफ़ मोड़ने पर रांछ से बाने को ले जाने की खुली जगह बढ़ जाती है और इसके किनारे से पहले प्रत्येक आड़े तार को दबाया जाता है जिससे कि तैयार कपड़ा मज़बूत बन जाता है। अनक्षर लोगों

के अनेक करघों में बाने के तार को ताने के तार से निकालने के लिए एक ढरकी (Shuttle) लगी रहती है। कई बार यह एक छड़ मात्र होती है जिससे कि बाना जुड़ा रहता है और इस प्रकार एक बड़ी सुई की तरह उसका प्रयोग होता है। कभी-कभी इसमें एक रील (Spool) भी लगी रहती है जो कि जब शटल करघे पर घुमाई जाती है, बाने का तार देती है।

किसी ऐसे काम के लिए जिसमें मुलायम खाल की ज़रूरत पड़ती है, खालों को कमाना पड़ता है। बहुत बार खालों को ज़मीन में खूंटी से बांध दिया जाता था ताकि उनके बालों को काटा या उतारा जा सके। मांस, या चर्बी और खाल की अन्दर की तहें जो कि उसे भारी बनाती हैं, उन्हें भी हटा दिया जाता है। कभी-कभी खालों को ऐसे द्रवों में जिनमें लकड़ी की राख प्राकृतिक क्षार (Alkali) प्रदान करती है, डाल दिया

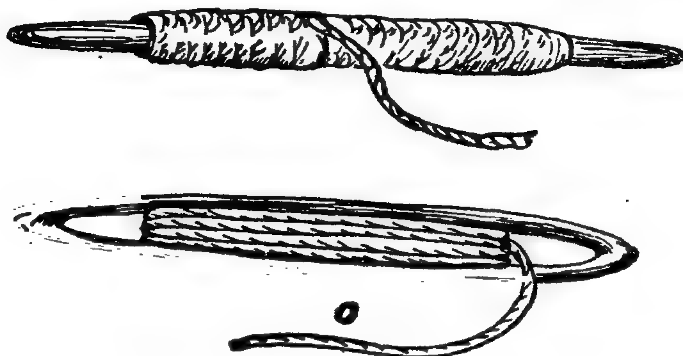


रेखा चित्र १९—पायदान वाले करघे (उत्तरी अफ्रीका के अरबों से)

जाता है। प्रायः खाल को हड्डी से या हाथ से रगड़ कर या लोहे या लकड़ी की मूंगरी से पीट कर या कभी-कभी दांतों से भी चबाकर मुलायम किया जाता और कमाया जाता है।

कुछ पेड़ों की अन्दर की छाल से, जिनके तंतु कपड़े के ताने बाने की तरह समकोणों में एक-दूसरे को काटते हैं, कपड़े बनाये जाते हैं। केवल दक्षिणी सागरों, केंद्रीय अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के उष्ण कटिबन्ध में जहां पर्याप्त ऐसे पेड़ उगते हैं, इसका प्रयोग होता है। छाल के कपड़े का निर्माण अपेक्षया सरल है। पहले छाल को पानी में भिगो लिया जाता है फिर उसके तंतुओं को ढीला करने के लिए या कभी-कभी उसकी तहों को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए उसे एक चिकने लक्कड़ पर पीटा जाता है। पीटने से

छाल पतली हो जाती है और उसके तंतु मज़बूत हो जाते हैं। पीटने में दक्षिण समुद्रों की भांति हाथ के मुट्ठों या अफ्रीका की भांति हथौड़ों का प्रयोग किया जाता है। उनकी तलियों में लगे समकोण दरातों से उनकी कुटाई का प्रभाव अधिक होता है। इस प्रकार तैयार की गई छाल धुल कर और मुलायम हो जाती है। इस पर आसानी से सजावट की जा सकती है; अधिकांश सांस्कृतिक संग्रहालयों के संकलनों में प्रदर्शित दक्षिणी सागरों के टापा कपड़े पर चित्रित और छपे हुए डिज़ाइन इसका सबूत हैं।



रेखा चित्र २०—सादे और रील वाले शटल

यद्यपि अधिकांश संस्कृतियों में एक-से अधिक प्रकार के कपड़ों का प्रयोग किया जाता है, फिर भी उनमें से प्रायः किसी एक की प्रभुता रहती है। ध्रुव और स्टेपी क्षेत्रों को छोड़ जहां खाल के कपड़े पहने जाते हैं, अफ्रीका, मैक्सिको, केन्द्रीय अमरीका, और एंडियन हाइलैंड और यूरेशिया में कपड़े बुने जाते हैं। अफ्रीका के दक्षिणी तथा पूर्वी भागों में खालों का बहुत ज़ोर है। अमरीका के ध्रुव और अर्धध्रुव और मैदानी क्षेत्रों में खाल के कपड़े सिये जाते हैं, जबकि मैदानों के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी वन क्षेत्र और दक्षिणी अमरीका के दक्षिणी पूर्वी प्रदेश में खाल के चोगों का चलन है। अन्यत्र या तो कपड़ा बिल्कुल नहीं पहना जाता या वह नाममात्र का होता है, जो कि गुप्तांगों को, या प्रथा द्वारा जिन अंगों का ढकना आवश्यक है, उन्हें ढकने में काम आता है। जहां तापमान ऊंचा है, वहां काम करते समय बहुत कम कपड़ों की ज़रूरत रहती है। लेकिन पद या परिस्थिति के अनुसार पर्याप्त कपड़े पहनने में इससे बाधा नहीं पड़ती, जैसे कि पश्चिमी अफ्रीका के कई भागों में पुरुषों के चोग़ेनुमा कपड़े सात या आठ फ़ीट लम्बे तथा चार-पांच फ़ीट चौड़े और काफ़ी वज़नी होते हैं।

कपड़ा क्यों पहना जाता है, किसी सीधे सूत्र में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए हमें केवल अपने समाज की रुचि, आचार और अवसर के नियमों पर, जो कि कपड़ा पहनने में लागू होते हैं, विचार करना पर्याप्त है। जैसा कि घरों के बारे में है, कपड़ों और आवास के बीच भी निःसंदेह एक मोटे तौर का सह-सम्बन्ध कहा जाता है। फिर भी कभी-कभी परम्परायें इसका उल्लंघन करती हुई नज़र आती हैं।

टियरा डेल फ्यूगो के कबीलों के लम्बे खाल के चोग़े इस प्रदेश की कड़ाके की सर्दी से रक्षा करने में सर्वथा अपर्याप्त हैं। हमें बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं, हमारी अपनी संस्कृति में औपचारिक अवसरों पर अत्यन्त ठंडी रातों में स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाले कपड़े या इसके विपरीत ग्रीष्म ऋतु की शाम को पहने जाने वाली पुरुषों की औपचारिक वेष-भूषाएं इस दृष्टि से कितनी अनपुयुक्त हैं।

वस्त्रों के साथ स्त्री-पुरुषों के लिंग भेद का भी गहरा सम्बन्ध है। यहां यह दोहरा कार्य पूरा करता है, वह उन कार्यप्रणालियों को जुटाता है जो कि संभोग की प्रेरणा को उद्दीप्त करती हैं और लज्जा और अभिसार का रूप धारण करती हैं। इसकी नाना अभिव्यक्तियां हैं, किन्तु जहां कहीं कपड़े पहने जाते हैं, स्त्री और पुरुषों को उनके वेष से पहचाना जाता है। यह पोशाकें या मानव शरीर की ऐसी सजावटें जैसे कि दगवाना, गुदवाना या केश-विन्यास आदि सर्वत्र प्रचलित हैं, और यह शरीर को छुपा कर या उसकी सौन्दर्यात्मक अपील को बढ़ाकर व्यक्ति के शारीरिक आकर्षण को बढ़ाते हैं जोकि इस शक्तिशाली जन्म-जात प्रवृत्ति को उद्दीप्त करता है।

जहां वर्ग-भेद विद्यमान है, वहां वस्त्र ऊंची हैसियत वाले व्यक्तियों को नीची हैसियत वाले व्यक्तियों से अलग करते हैं। प्रतिष्ठा के इस पहलू को अनेक प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। ऊंची हैसियत वाले लोगों के वस्त्र खूब सजे हुए हो सकते हैं जैसे कि हवाई द्वीप के राज दरबारियों के पंखों के चोग़े होते हैं, या अन्यों से भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे कि अफ़सरों की वर्दियां सामान्य सिपाहियों से अलग होती हैं, या जहां कि प्रदर्शन के स्वीकृत साधन सब को सुलभ हैं, वहां अत्यन्त सादगी और संयम के द्वारा बहुत सूक्ष्म रीति से साधनों के नियंत्रण को व्यक्त करते हैं। यौन-प्रवृत्ति और पद से सम्बन्धित होने के कारण वस्त्रों की एक शक्तिशाली सौन्दर्यात्मक अपील होती है, जो कि प्रत्येक संस्कृति में शरीर को किस रूप और किस अंश में ढका जाय, इसे निर्धारित करती तथा एक ही समाज में स्त्रियों और पुरुषों के अपने साथियों के साथ व्यवहार को प्रभावित करती है।

५

बुनाई को छोड़कर टोकरी बनाने (Basketry) और मिट्टी के बर्तन बनाने (Pottery) की दस्तकारियां अनक्षर संस्कृतियों में प्रायः मिलती हैं। बेंत के काम को छोड़ इनमें से कोई भी दस्तकारी खुराक, साया या कपड़े की आवश्यकता की भांति सार्वभौम नहीं है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अनक्षर मानव के प्रौद्योगिक साधनों की सूची इनसे समाप्त हो जाती है। वह पत्थर, काठ, धातु, और चमड़े का काम करता है, उसका चिकित्सा-कौशल शल्य-क्रिया तक विस्तृत है और वह नौकापरिवहन की कला को प्रयोग में लाता है।

यह विश्वसनीय है कि इससे पहले कि मनुष्य ने टोकरियां तथा बर्तन बनाये, उसने अपने प्रयोग के लिए खालें, तूम्बड़ियां और सीपें प्राप्त कीं। आस्ट्रेलियाई या बुशमैन लोग, जो कि न बर्तन बनाना जानते हैं और न टोकरियां ही, ऐसी प्रकृति प्रदत्त चीज़ों को ही इन कामों में लाते हैं। इनमें सबसे उल्लेखनीय दृष्टान्त बुशमैनों द्वारा शतुर्मुर्ग के अंडे के खोल का पानी भरने के लिए प्रयोग है।

टोकरियां तीन तरीक़ों से बनाई जाती हैं, बुनकर, बंटकर और फंदा डाल कर लपेट कर। यदि टोकरी बनाने में काम आने वाली साम्ग्री चौड़ी और चपटी है, तब उन पट्टियों को क्रमशः ऊपर और नीचे निकाल कर एक चौपड़ का जैसा नमूना बना दिया जाता है, जो कि सामान्य अमरीकी बाज़ारों में बिकने वाली टोकरियों की तरह होता है। जब कि पतली पट्टी या सार इस्तेमाल की जाती हैं तब बुनाई बहुत जटिल हो जाती है, जैसे कि अमेजोनियन और गायना इंडियन लोगों के थालीनुमा कसाबा पछोड़ने के सूपों में देखा जाता है। शाखाओं या अन्य कठोर सामग्रियों से बने ढांचे में मुलायम सारों को बुन कर ऐसी सुन्दर और धिनकी टोकरियां बुनी जा सकती हैं, जिनमें पानी तक रखा जाता है। ऐसी दशा में टोकरी भोजन पकाने के बर्तन का भी काम देती है क्योंकि पानी में गरम पत्थर डालने की सरल विधि द्वारा इसमें पानी उबाला जा सकता है। विज़लर ने लिखा है कि उत्तरी अमरीका के अधिकांश कबीले जोकि बंटने और फंदा डालकर बुनने की प्रविधियों का प्रयोग करते हैं, उनकी टोकरियां पत्थर से पानी उबालने के काम में आती हैं।

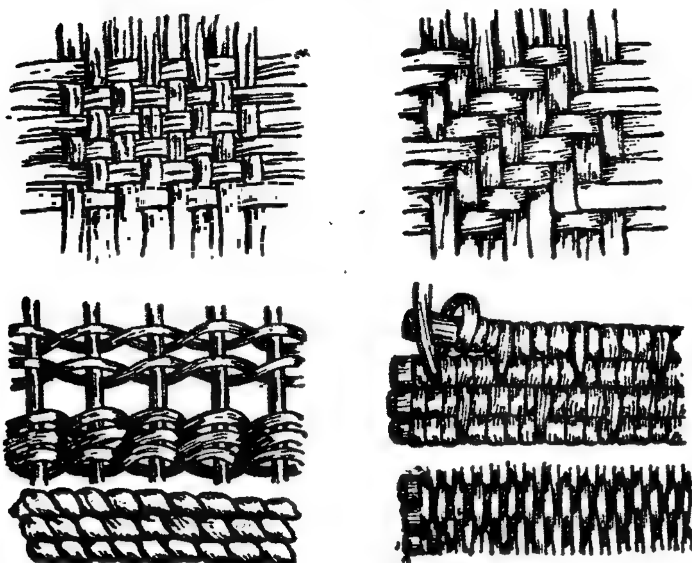
फंदेदार टोकरियों को, उनकी बनाने की प्रविधि के कारण सिली हुई टोकरियों का नाम दिया जा सकता है। मैसन द्वारा कैलीफोर्नियां के इंडियन लोगों द्वारा इनके बनाने का वर्णन इसे स्पष्ट करता है :

"सख्त जड़ या डंडा मुख्य फंदे को डालने और उसी वस्तु की उतारी गई खप्ची या मुलायम पट्टी सीने के काम आती है। टोकरी बनाने में स्त्री तली के केन्द्र से डंडे में फंदे डालना और अलग की गई जड़ या रतन से लपेटना शुरू करती है जिससे कि वह पहले मोड़ से बंध सके, इसके लिए उसे फंदों के बीच से पतली कतरन निकालनी पड़ती है। जब डंडा समाप्त हो जाता है, तब वह उसके छोर को सफ़ाई से नये छोर से जोड़ देती है, और जोड़ को होशियारी से छिपा कर फिर उसी तरह बुनाई प्रारंभ कर देती है। जब पतली कतरन समाप्त हो जाती है तो फंदे के बीच पीछे की तरफ उसका छोर झटका दिया जाता है और उसी तरीक़े से दूसरा शुरू किया जाता है, लेकिन यह इस सफ़ाई से जोड़ा जाता है कि उसे पहचाना नहीं जा सकता।"[६]

कभी-कभी "डंडा", जिसे कि मैसन ने बुनियाद कहा है, केवल शाखाओं या घास का गट्ठा रहता है, जिसके चारों ओर लपेटने की चीज़ को इस तरह से ले जाते हैं कि वह हर मोड़ पर उससे पहले किसी लपेटे में सी दिया जाता है और इस प्रकार सारी बुनियाद आपस में मज़बूती से जुड़ जाती है। नई दुनियां में कैलीफोर्नियां के इंडियन अपनी सिली हुई टोकरियों की उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं, अफ्रीका में भी, जहाँ इसके उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं, इसकी प्रभुता है। फंदे वाली टोकरी में बहुत लचकीलापन होता है। बिनी हुई या पिरोकर बनाये जाने वाली टोकरियां अधिक बड़ी नहीं बन सकतीं, किन्तु फंदे वाली टोकरियां छोटे नमूनों से लेकर पीमा या बाहान्डा जैसे बड़े टोकरे जितनी होती हैं, जिनमें कि आदमी भी समा सकता है।

---

६. ओटिस टी० मैसन, १८९५, पृ० २३५



रेखा चित्र २१—टोकरी बनाने की विधियों का ब्यौरा : बुनना, बंटना, लपेटना।

यह कल्पना करना संभव नहीं है कि किस प्रकार प्रारम्भिक मानव ने घासों और टहनियों को एक-दूसरे में लपेट कर टोकरी बुनने की खोज की। मिट्टी के बर्तन बनाने की खोज इससे बिलकुल अलग चीज है, चूंकि तैयार माल अनेक स्थितियों में गुजरने के बाद ही बन सकता था और इन स्थितियों का परस्पर तथा तैयार बर्तन से स्पष्ट सम्बन्ध न था। बर्तन बनाने में पहला क़दम ऐसी मिट्टी का पाना था जिसमें कुछ रेत या अन्य रेतीले पदार्थ हों, पर पत्थर न हों। फिर इसे उचित पानी में भिगो कर गूंधा जाता है जिससे कि इसमें उचित पकड़ आ जाय, उसके बाद इससे इच्छित बर्तन बनाये जाते हैं। इस क्रिया तक कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, और न ही इससे आगे भी, जिसमें कि इन्हें सुखाया जाता है। इन्हें अब उठाया जा सकता है, किन्तु यह अभी भी बेकार हैं, चूंकि सूखी मिट्टी छूने से टूट जाती है। अतः इन्हें आग में पकाना जरूरी होता है जिससे कि रेतीला पदार्थ चिकनी मिट्टी में मिल जाय और उससे पक्का बर्तन तैयार हो जाय। बर्तन पकाने में कुम्हार के कौशल की परीक्षा होती है, क्योंकि अधिक गर्मी से बर्तन चटक जाते हैं और कम से वे मुलायम व कच्चे रह जाते हैं।

एक बार इसमें सफल होने पर, बावजूद इस बात के कि इसकी बनी हुई वस्तुएं जल्दी ही टूट जाती हैं, मिट्टी एक टिकाऊ वस्तु में परिवर्तित हो जाती है। टूटे हुए बर्तनों से ठींकरे बनते हैं जो कि कभी मिट्टी नहीं बनते, किन्तु अनिश्चित काल तक अपरिवर्तनीय रहते हैं; इसीलिए पुरातत्वशास्त्री के लिए बर्तनों का बहुत महत्त्व है। बर्तन बनाने वाले लोग अपने पीछे बर्तनों के ठींकरों को छोड़ अपनी संस्कृति की प्रकृति और सम्पर्कों के बारे

में बहुत कुछ बतलाते हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी नील नदी के पास करमा की खुदाइयों में मिले मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों ने रीजनर को मिश्र की इस चौकी के न्यूबियनों के साथ सम्पर्कों के इतिहास का पुनर्निर्माण करने में सफलता प्रदान की और यह कहानी कहने के लिए प्रेरित किया कि किस प्रकार इन सम्पर्कों ने मिश्रवासियों और न्युबियनों की प्रविधियों को प्रभावित कर नये बर्तनों के रूपों को जन्म दिया।[७] इसी प्रकार बर्तनों के अध्ययन ने नई दुनिया के पुरातत्त्वशास्त्रियों को एंडियन और दक्षिण अमरीका के पश्चिम तटीय क्षेत्रों की उन क्रमिक सभ्यताओं को जिनका चरमोत्कर्ष इंका साम्राज्य में हुआ था, तथा संयुक्त राज्य के दक्षिण पश्चिमी भागों में प्यूब्लो संस्कृति की कहानी प्रस्तुत करने की अनुमति दी।[८]

बर्तनों का वितरण, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कई कारणों से सीमित है। पोलिनेशिया में यह बिलकुल नहीं मिलते, चूंकि कोरल द्वीपों में ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती जिनसे इन्हें बनाया जा सकता। जहां तक मालूम है, सरल प्रौद्योगिक ज्ञान वाले बहुत थोड़े ही लोग मिट्टी के बर्तनों से परिचित हैं। संभवतः यह कभी भी आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया में ज्ञात नहीं थे, और अधिकांश पिग्मी समूहों और उत्तरी या दक्षिणी अमरीकी सरल संस्कृतियों में इनका अभाव है। इनकी किस्म में भी बहुत अंतर पाये जाते हैं, न्यूगिनी के कुछ भागों में अत्यन्त भौंडे और मुलायम बर्तनों से लेकर ऐंडीज, केन्द्रीय अमरीका, मेक्सिको और संयुक्त राज्य के दक्षिण पश्चिमी भागों में प्राविधिक दृष्टि से पूर्ण बर्तन बनाने की कला मिली है। वस्तुतः इन प्रदेशों के मिट्टी के बर्तनों के उद्योग जिनमें कि स्पेनिशों से पूर्व पेरू के वे रंगीन चित्रित लोटे भी सम्मिलित हैं, किसी भी संस्कृति के मृत्तिका-उद्योग की सर्वोत्कृष्ट सफलता के नमूने कहे जायेंगे।

हाथ से बने बर्तन तीन तरीक़ों से बनाये जाते हैं, सांचे द्वारा, घड़ कर या बत्ती बनाकर। सांचे से बने बर्तन जो कि बहुत कम ही मिलते हैं, एक टोकरी या पुराने घड़े पर इच्छित शक्ल देने के लिए मिट्टी फैला कर बनाये जाते हैं। स्पेनिश लोगों के अधिकार से पहले प्यूब्लो लोगों में पाये गये ठींकरे जिनमें टोकरियों के सांचों के निशान बने हुए हैं, यह दर्शाते हैं कि नई दुनिया में इस विधि का बहुत अवधि तक प्रयोग होता रहा है; अफ्रीका में भी बर्तनों का सांचे के रूप में प्रयोग होने की सूचना मिली है। पाथकर बर्तन बनाना बहुत प्रचलित है, और होटेंटोट लोगों में इस प्रविधि के एक प्रारम्भिक विवरण से इसका उदाहरण दिया जा सकता है।

"दीमक के थूहे से मिट्टी निकाल कर उससे रेत और कंकरियां अलग की जाती थीं और उन्हें भिगोकर दीमकों के अंडों के साथ सान दिया जाता था। मिट्टी के एक लोंदे को लेकर एक चिकने सपाट पत्थर पर इच्छित शक्ल के अनुसार थापा जाता था। फिर उसके अन्दर व बाहर के भाग को सावधानी के साथ हाथ से चिकना किया जाता था और उसे कई दिन तक धूप में सुखाया जाता था। बिलकुल सूख जाने पर उसे ज़मीन के अन्दर

---

७. जी० ए० रीजनर, १९२३, अध्याय ३२

८. पी० एस० मार्टिन, जी० आई० क्युम्बी और डी कोलियर, १९४७, भाग ४

एक गढ़े में, उसके बाहर व भीतर आग डाल कर तबतक पकाया जाता था जब तक कि वह पककर सख्त न हो जाय।"[९]

लपेटकर बनाए हुए बर्तन में मिट्टी की रस्सीनुमा लम्बाई को एक आधार पर दबाव दिया जाता है और फिर जबतक कि इच्छित शक्ल का बर्तन न बन जाय, इस प्रक्रिया को जारी रखा जाता है। एक बहुत छोटा लपेटा (Coil) बराबर मज़बूती से और निश्चित अन्तर पर दबाने से बड़ा सुन्दर डिज़ाइन बना देता है। सामान्यतः दबाए हुए स्थानों को चिकना कर दिया जाता है तथा तैयार बर्तन पर इसका कोई चिह्न नहीं रह जाता।

अनक्षर लोगों के बर्तन बनाने की कला में सबसे उल्लेखनीय बात उनके कुम्हारों के सधे हुए हाथ हैं जिन से वे बर्तन बनाते हैं। वह बिना किसी मापने के औज़ार के केवल निर्दोष गोलाकृति ही नहीं प्राप्त करते, प्रत्युत उनके बर्तन ऐसे होते हैं कि जो सुन्दर होने के साथ-साथ उपयोगी भी होते हैं। यह सौन्दर्यात्मक गुण तभी आता है जबकि कुम्हार का हाथ इतना सध जाता है कि वह अपनी सृजनात्मक योग्यता को अभिव्यक्त कर सके। बर्तन बनाने की दो प्रमुख रीतियां हैं, हाथ से या चाक से बनाना। योरोप और एशिया की साक्षर संस्कृतियों के बाहर चाक नहीं मिलता। प्रायः सर्वत्र ही जहां बर्तन बनाने में चाक का प्रयोग होता है, वहां पुरुष बर्तन बनाते हैं, पर जहां उन्हें हाथ से बनाया जाता है वहां यह महिलाओं का कार्य है। यहां हम एक अन्य उसी प्रकार की अबौद्धिकता का सामना करते हैं, जो कि प्रायः संस्कृति के विद्यार्थी को सताती हैं। इनका मूल इतिहास में है, और यह संस्कृति के अध्ययन में उस अवधारणा को बताती हैं जो कि संमिश्रण (Adhesion) के नाम से ज्ञात है—यह तथ्य कि दो बाहर से असम्बद्ध संस्कृति के पहलू साथ मिल जाने पर एक कार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

इस उदाहरण को समझने के लिए हमें प्रारम्भिक मानव समाज में श्रम-विभाजन की ओर लौटना होगा, जबकि पुरुष बड़े जानवरों का शिकार किया करता था और स्त्रियां घर के निकट खाद्य संचय के कार्यों में व्यस्त रहती थीं। यह याद रखने लायक है कि यह मेल इस तथ्य का पहला ऐतिहासिक तथा तार्किक उदाहरण है कि जब कुदाल या खुदाई के डंडे से खेती स्त्रियों का कार्य रहा, हल चलाना निर्विवाद रूप से सदैव पुरुषों के ज़िम्मे रहा हैं। बर्तन बनाने के बारे में यह नहीं मालूम है कि शुरू में यह पुरुषों का काम था या स्त्रियों का। किन्तु सभी बातें इस निष्कर्ष की ओर निर्देश करती हैं कि यह स्त्रियों का दायित्व था। सम्भवतः यातायात के सम्बन्ध में नव-पाषाण काल में पहिये की खोज हुई। पहिये द्वारा पालतू पशुओं से गाड़ी खींचना सम्भव हुआ और जैसा कि हम देख चुके हैं, बड़े पालतू पशुओं की रक्षा का भार पुरुषों के सुपुर्द था, अतः यह समझा जा सकता है कि उसी प्रकार पहियेदार वाहनों का प्रयोग भी उन्हीं के दायरे में आ गया।

जब बर्तन बनाने के लिए पहिए की उपयोगिता स्पष्ट हुई, तो यह कार्य भी पुरुषों का हो गया। पर जहां पहिया कताई के लिए प्रयुक्त हुआ, वहां कातने और बुनने का कार्य, जब तक कि शक्ति-चालित करघे नहीं आये, स्त्रियों का ही कार्य रहा। यूरेशिया की

---

९. आई० शंप्रा, १९३०, पृ० ३१३–४

हलधर संस्कृतियों में भी पुरुष कुम्हार हैं, पर अन्यत्र स्त्रियां बर्तन बनाती हैं। इसका तर्क इतिहास का तर्क है और इसके निहितार्थ कुछ और कठिन समस्यायें पेश करते हैं जिनसे कि संस्कृति के विद्यार्थी को निपटना पड़ता है।

धातु-कर्म और लकड़ी की नक्काशी जैसे कामों का हम जिक्र भर करेंगे। सोने तथा चांदी को ढालने के उस अद्भुत कौशल के बावजूद जिसने कि मैक्सिको तथा पेरू के साम्राज्यों को वह ख्याति दी कि जिससे प्रलुब्ध होकर आक्रान्ता योरोपियनों ने उनका पतन किया, नई दुनिया के अनक्षर लोगों में सौन्दर्यात्मक और प्रतिष्ठा के उद्देश्यों को छोड़ कर धातु-कर्म बहुत विरल था। इस प्रकार प्राद्योगशास्त्र के एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में नई दुनिया का धातु-कर्म उपयोगिता की अपेक्षा सौन्दर्यात्मक महत्त्व रखता है।

पुरानी दुनिया में धातु-कर्म प्रागैतिहासिक काल के उस समय से शुरू हुआ जिसे कि बहुत अरसे तक कांस्य-युग कहा जाता था। शीघ्र ही लोहे का कार्य भी प्रारंभ होगया, और वह आज अफ्रीका की और दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया की अधिकांश संस्कृतियों में उल्लेखनीय है। अफ्रीकी लोगों में कच्चे लोहे का गलाना और अपने बनाये हुए लोहे के औजारों का इस्तेमाल इतना अधिक प्रचलित है कि बहुत सालों तक यही समझा जाता रहा कि लोहे को गलाने और उसे ढालने की विधियों की खोज मूलतः इसी महाद्वीप के लोगों द्वारा हुई होगी। परन्तु हाल की साक्षियां इस बात की ओर संकेत करती हैं कि एशिया माइनर वह दूसरा प्रदेश है, जहां यह संभव हुआ हो। उद्गम-स्थल जो भी रहा हो, अफ्रीका में लोहा बनाने का विस्तार बहुत प्रभावोत्पादक है, विशेषतः उन विभिन्न प्रक्रियाओं को देखते हुए जिनमें से कि कच्चे लोहे की चट्टानों को सर्वथा भिन्न सामग्रियों में परिवर्तित होने से पूर्व गुजरना पड़ता है और जो बाद में गरम कर चाकुओं, कुदालों, भाले की नोकों, पिनों और अन्य अनेक टिकाऊ व काम के औजारों का रूप धारण करती हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस ज्ञान को प्रायः ऐसे पारिवारिक संघों के हाथ में रखा जाता है जिनके बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनके प्रौद्योगिक ज्ञान के अलावा अलौकिक शक्तियों के नियंत्रण से उन्हें यह शक्ति प्राप्त है।

अध्याय नौ

अर्थशास्त्र और आवश्यकताओं की पूर्ति

विस्तृततम अर्थों में मितव्ययिता की समस्या हमारी उत्पादन-क्षमता की अपेक्षा आवश्यकताओं की अधिकता से उत्पन्न होती है। अर्थशास्त्री इसे सीमित साधनों की उपयोगिता द्वारा अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना कहते हैं। उन समाजों में जहां यांत्रिक प्रोद्योगशास्त्र प्रचुर वस्तुएं जुटाता है और जहां मुद्रा के प्रयोग पर आधारित अर्थव्यवस्था वस्तुओं के उत्पादक तथा अन्तिम उपभोक्ता के बीच कई कड़ियां पैदा करती है, वहां की आर्थिक प्रक्रियायें वस्तुतः जटिल हैं। संस्कृति के विद्यार्थी के लिए मशीन पर आश्रित लोगों की अर्थ-व्यवस्था मानव द्वारा सीमित साधनों के उपयोग के लिए बनाई विभिन्न रीतियों में से एक रीति है। यदि यह कहा जाय कि यह एक अति है, तो ठीक होगा, जोकि उन समाजों की श्रृंखला के एक छोर पर टिकी हुई है जोकि कम जटिल हैं और जिनकी आवश्यकतायें बहुत तात्कालिक और सरल हैं, और जहां जीवित रहने की समस्या ही सर्व-प्रधान है।

कुछ सामान्य आर्थिक सिद्धान्त जिन्हें अर्थशास्त्रियों ने हमारी अर्थव्यवस्था के लिए बनाया है, सर्वत्र लागू होते हैं। कोई ऐसा समाज नहीं जिसमें उत्पादन, वितरण, उपभोग और किसी प्रकार के विनिमय की विधियां न हों। ऐसा कोई समूह नहीं जिसमें मूल्य (Value) को किसी प्रकार व्यक्त न किया जाता हो, यद्यपि यह संभव है कि यह मूल्य किसी सामान्यतः स्वीकृत मुद्रा के प्रतीक के शब्दों में न हो। कार्यों में कुछ विशेषीकरण व्यक्त होता है, श्रम के लिए कुछ पुरस्कार की कल्पना भी मिलती है।

हमारी आर्थिक व्यवस्था को जो चीज़ अन्य अर्थ-व्यवस्थाओं से अलग करती है, वह मशीन प्रोद्योगशास्त्र और रुपया कमाने की भावना के बीच विशेष सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध ने कुछ ऐसी संस्थाओं को जन्म दिया है जो किसी अन्य संस्कृति में नहीं मिलतीं। आर्थिक प्रयत्न का मुनाफ़े के लिए उत्पादन पर विशेष जोर देने का प्रभाव जीवन के सभी पहलुओं पर पड़ता है। प्रौद्योगिक बेकारी उसका एक परिणाम है, व्यवसाय-चक्र दूसरा। ये दोनों ही उस व्यवस्था से संबंधित हैं जिसे चलाने के लिए अभाव (Scarcity) आवश्यक है और ज़रूरत पड़ने पर उस अभाव को कृत्रिम रीति से भी उत्पन्न करना पड़ता है। इसमें विशेषतः कठिनाई के समयों में बहुत-से व्यक्तियों के लिए, किसी कार्य को करने के लिए उनकी योग्यता, और इच्छा के रहते हुए भी, अपनी जीवन की बुनियादी आवश्यकतायें जुटाना भी कठिन हो जाता है। प्रायः सभी ग़ैरमशीनी और अनक्षर समाजों में यह स्थिति अज्ञात है। उनके साधन सीमित हो सकते हैं और गुज़ारा चलाना कठिन हो सकता है, पर जब पेट भरने के लिए पर्याप्त भोजन नहीं होता, सभी भूखे रहते हैं, जैसे कि अच्छी पैदावार होने पर सभी उसकी समृद्धि में सम्मिलित होते हैं। पूर्वी अफ्रीका

के बगान्डा क़बीले में "कभी कोई भूखा नहीं रहा, क्योंकि हरएक को अपने समान हैसियत वाले व्यक्तियों के पास जाकर बैठने और भोजन करने का स्वागत था।" यह उनकी परम्परा की एक अच्छी अभिव्यक्ति है।[1]

श्रम का विशेषीकरण जो हमारी संस्कृति में सामान्य-सी बात है, अनक्षर समूहों में नहीं मिलता। न ही वहां उत्पादन के साधन उन लोगों के हाथ में होते हैं जो स्वयं उनका प्रयोग नहीं करते। विशेषीकरण का भेद उसकी किस्म का नहीं, प्रत्युत उसकी मात्रा का है। कुछ विशेषीकरण तो सभी संस्कृतियों में मिलता है, चाहे वह स्त्री-पुरुष के बीच ही श्रम विभाजन क्यों न हो। केवल उन समाजों को छोड़ कर जहां कि अर्थ-व्यवस्थायें गुज़ारे के स्तर पर हैं और केवल इतना ही पैदा कर सकती हैं जिससे कि उनकी बुनियादी शारीरिक आवश्यकतायें पूरी हो सकें, किसी एक या दूसरी दस्तकारी के विशेषज्ञ सभी समाजों में मिलते हैं। उत्पादन के साधनों पर उन व्यक्तियों का नियंत्रण जो उससे मुनाफ़ा कमाते हैं और स्वयं उनका प्रयोग नहीं करते, एक किस्म का अन्तर है। यह सही है कि अनक्षर समुदायों में भी उत्पादन के साधन विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में असमान रूप से विभक्त हैं। जहां कहीं भी प्रोद्योगशास्त्र गुज़ारे की आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन सम्भव बनाता है वहां आर्थिक आधार पर हैसियत या पद के अन्तर स्वीकार किये जाते हैं। इस प्रकार बहुत-से अनक्षर समाजों में दासता की प्रथा है, और इसमें प्राय: सदा ही दास के श्रम से लाभ उठाने वाले स्वामी का व्यक्तिगत नियंत्रण होता है। पर ऐसी संस्कृतियों में भी जहां कि व्यक्ति कभी-कभी मज़दूरी के लिए दूसरों का काम करते और दूसरों के औज़ारों का प्रयोग करते हैं, श्रम-बाज़ार जैसी संस्था देखने में नहीं आती। अनक्षर समूहों में ऐसा काम कुछ ऊपरी आय का साधन है, यह उनके जीवन के लिए अनिवार्य आय का प्रमुख साधन नहीं है।

हमारी अपनी अर्थव्यवस्था और अन्य ऐसे छोटे समूहों की अर्थव्यवस्था जिनके पास सरल प्रौद्योगिक साधन हैं, के बीच विद्यमान भेदों का भी ज़िक्र किया जा सकता है। जैसा कि हम बता चुके हैं कि योरोपीय-अमरीकी सभ्यता के बाहर भी मुद्रा का विस्तृत प्रयोग होता है, पर कहीं भी मूल्य को व्यक्त करने में उसका ऐसा एकमात्र विशिष्ट कार्य नहीं है। यदि हम विशाल जनसंख्या, और श्रम के विशेषीकरण के साथ विनिमय के साधन के रूप में मुद्रा पर भी ज़ोर देते हैं, तो हम साख प्रणालियों, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थों, खरीदार को वस्तुयें पहुंचाने और उत्पादक को उसका पुरस्कार पहुंचाने के विभिन्न साधनों आदि साजो-सामान के साथ बाज़ार की जटिलताओं पर पहुंच जाते हैं। यह सब कुछ जिसे कि व्यावसायिक उपक्रम (Initiative) के शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है, आर्थिक प्रक्रियाओं के विकास की उस मात्रा को व्यक्त करता है, जो कि अन्यत्र नहीं मिलती।

प्रतिष्ठा को बनाने में मुद्रा के प्रतीक का कार्य भी यहां इतनी दूर तक ले आया गया है कि वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। जबकि बहुत-से समाजों में गुज़ारे और

---

१. जे० रोसको, १९११, पृ० १२

प्रतिष्ठा की आर्थिक व्यवस्थायें मूल्य के विभिन्न प्रतीकों द्वारा या विनिमय के विभिन्न साधनों या विनिमय के विभिन्न उद्देश्यों द्वारा अलग-अलग पहचानी जाती हैं, हमारी संस्कृति में ऐसे भेद ठीक नहीं बैठते। रुपया प्रतिष्ठा का प्रतीक है, साथ ही वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन भी है। सम्मान देने वाले डालर या पौंड या क्रूजिरो या फ्रांक जिनसे हम तैल-चित्र खरीदते हैं या ऋण अदा करते हैं, उन प्रतीकों से भिन्न नहीं हैं जिनसे कि साधारण नागरिक अपने आटे-दाल का सामान लाते हैं।

२

आदिवासियों के बारे में कल्पित पूर्वधारणाओं में से एक यह भी है कि वह कम-से-कम कार्य करता है, और जहां प्राकृतिक अवस्थायें अनुकूल हैं, वहां तो वह प्रायः नहीं के बराबर कार्य करता है। परन्तु तथ्य इससे सर्वथा भिन्न है। अनक्षर लोगों को मरुस्थल या ध्रुव प्रदेश में जिन कठिन समस्याओं का समाधान करना पड़ता है वह स्पष्ट ही हैं, और यह समझना भी कठिन नहीं कि समशीतोष्ण क्षेत्र में भी, जहां मौसम बदलते रहते हैं ऐसी समस्यायें उपस्थित होती रहती हैं जिनके समाधान के लिए निरंतर कार्य व आयोजन आवश्यक होते हैं। उष्ण कटिबन्ध जोकि आराम की ज़िन्दगी जुटाते दीखते हैं, वह भी कोमल नहीं, प्रत्युत कठोर परिस्थिति प्रदान करते हैं। अमेजन बनों, कांगो बेसिन या न्यूगिनी का रहने वाला बहुत सारी परेशानियों से घिरा हुआ है। जब वह खेत तैयार करता है, उसे घने जंगल काटने पड़ते हैं, जैसे उसके पौधे बढ़ते हैं, उसे उन्हें नष्ट करने वाली बेलों से उनकी रक्षा करनी पड़ती है; उसे भूखे कीड़ों, चिड़ियों तथा जंगली जानवरों से अपनी फ़सलों को बचाना पड़ता है।

न्यूगिनी के उत्तरी समुद्रतट से दूर सेपिक नदी के मुहाने के पास बसे बोगियो द्वीप के एक अध्ययन से यह पता चलता है कि अनक्षर लोग किस प्रकार काम करते हैं। हौगबिन द्वारा इस अर्थ-व्यवस्था की चर्चा में[२] बगीचे के काम की दो समय-सारणियां भी दी गई हैं। यहां पर दी गई सारणि बारु नामक आदमी के कार्य से सम्बन्धित है। यह बगीचा "१,३०० वर्ग गज़ का हमवार क्षेत्र है जिसमें बुवाई के बाद लगभग ३००० टारो, ६५ केले के पेड़ और कुछ तम्बाकू के पौधे, याम, शकरकन्दी, कुछ साग-सब्जी लगे थे।" इस टुकड़े को तैयार करने और उसमें पौधे लगाने में निम्नलिखित समय व्यय हुआ :

दिन १ : ग्रिस के साथ बारु ने ७-३० प्रातः घर छोड़ा। ७-५० प्रा० वह बगीचे में पहुंचा। दोनों ने १२-१० दोपहर तक पेड़ काटने का काम किया। ग्रिस गांव लौट गया किन्तु बारु ने २-१५ सा० तक आराम किया। फिर ५-०४ सा० तक पेड़ काटने का काम किया। तीसरे पहर उसने कुल मिलाकर २५ मिनट के दो विश्राम किये।

दिन २ : बारु ग्रिस के साथ ७-२६ प्रा० घर से निकला। बगीचे में ७-४५ प्रा० पहुंचा। दोनों ने ११-५६ प्रा० तक पेड़ काटने का काम किया। ग्रिस गांव लौट गया किन्तु बारु ने २-१७ सा० तक आराम किया। पुनः ४-३१ सा० तक, जब तक कि सारा क्षेत्र साफ़ न हो गया, पेड़ काटने का काम किया।

---

२. एच० आई० हौगबिन, १९३८-९, पृ० २८६-९६

दिन ३–१२ : लकड़ी को सूखने के लिए छोड़ दिया गया।

दिन १३ : वारु और मुजेवा ८–०२ प्रातः बगीचे में पहुंच गये। उन्होंने दोपहर तक लकड़ी ढोई। बीच में १०–५६ प्रा० पर १२ मिनट का आराम लिया। १–५८ सा० तक आराम किया। २–३८ सा० तक लकड़ियां उठाई जबकि बारिश होने के कारण काम बन्द करना पड़ा।

दिन १४ : वर्षा होती रही।

दिन १५ : वारु ८–०१ प्रा० से १२–०३ मध्याह्न तक और १–५० से ४–१६ सा० तक बाड़ लगाता रहा। मुजेवा ८–०१ प्रा० से १२–०३ मध्याह्न तक और १–५० सा० से ३–०४ सा० तक ज़मीन की सफ़ाई व कबाड़ जलाने में लगा रहा।

दिन १६ : वारू ने ७–५६ प्रा० से ११–५९ मध्याह्न तक और २–०१ सां० से ४–२१ सा० तक बाड़ की। मुजेवा ने ७–५६ प्रा० से १२–०४ मध्याह्न तक तथा २–११ सा० से २–४० सा० तक खेत की सफाई की।

दिन १७ : वारू ने बाड़ पूरी कर दी और ७–४० प्रा० से ११–५८ प्रा० तक सारे खेत को अलग-अलग हिस्सों में बांट दिया।

दिन १८ : वारू और दो नौजवानों ने ८–३० प्रा० से १०–२० प्रा० तक, ११–०४ प्रा० से १२–१६ मध्याह्न और ३–०१ सा० से ४–०२ सा० तक पत्थर हटाये। वर्षा के कारण बीच २ में देर तक काम रुका रहा।

दिन १९ : वारू केले के पौधे (Suckers) और मुजेवा टारो की कलमें (Shoots) लाया।

दिन २० : वर्षा होती रही।

दिन २१ : वारू ने केले के पौधे ८–० प्रा० से १२–१० मध्याह्न तक और २–०२ सा० से ४–०५ सा० तक जमाये। कई बार रुकना पड़ा, राहगीरों से बात करने में कुल ३५ मिनट लगे। मुजेवा ने ८–०५ प्रा० से १२–०५ मध्याह्न और २–०१ सा० से ३–२९ सा० तक टारो की कलमें लगाईं।

दिन २२ : वारू और मुजेवा दोनों कहीं और व्यस्त रहे।

दिन २३ : मुजेवा ने ८–०२ प्रा० से १२–२० मध्याह्न तक टारो की कलमें लगाईं और वारू ने ८–०२ प्रा० से ८–५० प्रा० तक याम लगाये।

दिन २४ : मुजेवा ने टारो की कलमें और अन्य हरे पौधे लगाने का काम ८–१४ प्रा० से २–१७ सा० तक समाप्त कर लिया।

वारू का परिवार छोटा था। उसकी एक बीवी मुजेवा, एक बच्चा और ग्रिस नाम का एक १७ साल का अनाथ लड़का था, जो उसके साथ रहता था। बगीचे को तैयार करने में वारू ने आठ काम के दिनों में ४२ घंटे, मुजेवा ने ६ दिनों में ३० घंटे, ग्रिस ने ८ घंटे और मदद करने वाले अन्य दो नौजवानों ने ४–४ घंटे दिये। वारू द्वारा बनाये गये ६ बगीचों के टुकड़ों में से यह एक टुकड़ा था। इन बागीचों से उसके परिवार को खूब

पर्याप्त ७००० टारो और लगभग ७० केले के गुच्छे या लगभग ४२०० फलियां और इनके अलावा गन्ने व सब्जियां और तम्बाकू मिलते थे।

होगबिन ने इस बगीचे के काम की उस बहुपत्नीक परिवार के मुखिया के काम से तुलना की है जिसके पास उक्त परिवार से दुगना बड़ा बगीचा था। इसमें पुरुषों ने कुल ७६ घंटे और स्त्रियों ने ६० घंटे लगाये, जबकि वारू के बगीचे में क्रमशः ५८ और ३० घंटे लगे थे। यह न्यास व्यक्तिगत श्रम की तुलना में सहयोगी समूह की कुशलता को प्रमाणित करते हैं। यहां पर स्वयं आदिवासियों ने इसी बा त कोव्यक्त किया है :

"एक आदमी जो अकेला काम करता है, जैसे तबियत होती है, चलता है, वह धीरे-धीरे काम करता है, जब उसे चुरट पीने की तबियत होती है, वह रुक जाता है। पर जब दो आदमी साथ काम करते हैं, तो उनमें से हरएक अधिक-से-अधिक काम करना चाहता है। एक आदमी सोचता है, "मेरी कमर दुःख रही है, मुझे आराम करना चाहिए, पर मेरा मित्र काम में लगा हुआ है, मुझे भी लगे रहना चाहिए, नहीं तो मुझे शर्मिन्दा होना पड़ेगा।" दूसरा आदमी अपने मन में सोचता है, "मेरे हाथ थक गये हैं और मेरी कमर टूट रही है, पर मुझे पहले नहीं रुकना चाहिए।" प्रत्येक आदमी अधिक-से-अधिक काम करने की कोशिश करता है और बगीचे का काम शीघ्र ही खत्म हो जाता है।"[३]

जो लोग मशीनों की संस्कृति में नहीं रहते, उनके काम में एक तत्त्व रहता है जिसे कि रिचार्डस् ने अपने उत्तरी रोडेशिया के बेम्बा कबीले के अध्ययन में "कार्य की लय" (The rhythm of work) कहा है। उसने बताया है कि यह अफ्रीकी लोग "प्रकाश, अन्धकार और तापमान" के मौसमी परिवर्तनों पर अत्यन्त आश्रित हैं, जिससे कि मशीन संस्कृति के लोग बहुत अंश तक अनभिज्ञ हैं और "कार्य के समय में विश्राम की छुट्टी जो कि हमारे कार्यों और हिसाबों में प्रधान है" उनके लिए वह है ही नहीं। वह आगे कहती हैं :—

"हम समय को, उसमें खर्च हुए श्रम और शक्ति के अतिरिक्त शब्दों में नहीं सोच सकते, और हममें से बहुतों के लिए तो उसका एक निश्चित मुद्रा मूल्य भी है, पर बेम्बा अपने अविशेषीकृत समाज में प्रतिदिन भिन्न-भिन्न कार्य करता है और भिन्न मात्रा में प्रतिदिन कार्य करता है···उसके काम करने के घंटे भी ऐसे बदलते रहते हैं जो कि हमें बहुत मनमाना लगेंगे। वास्तव में मैं नहीं सोचती कि यहां लोग नियमित कार्य के सम्बन्ध में कभी महीने , हफ्ते या दिन की अवधि के रूप में कल्पना करते हैं। मुख्य कृषिकार्यों को विशिष्ट ऋतुओं और चांद की कलाओं के साथ शुरू करना होता है। बस इतना ही पर्याप्त है। और एक आदमी कहता है कि उसे अमुक-अमुक मौसम के परिवर्तनों के बीच पेड़ काटने हैं, पर वह यह नहीं कहता कि उसे कितने घंटे काम करना है, और दैनिक कार्य, जोकि बहुत-से योरोपियनों के लिए आदतन एक शारीरिक आवश्यकता-सी बन गया है, उनमें साल के कुछ ही दिनों होता है। बेम्बा की शारीरिक लय पश्चिमी योरोप के किसान से सर्वथा भिन्न है; औद्योगिक मज़दूर का तो ज़िक्र ही क्या है। उदाहरण के लिए, कसाका में मंदी के दिनों में एक बूढ़े पुरुष ने बीस में से चौदह दिन, और एक

३. वहीं, पृ० २९६

नवयुवक ने सात दिन काम किया, जबकि कम्पाम्बा में अधिक काम के दिनों में सभी आयु के पुरुष नौ काम के दिनों में से औसतन आठ दिन काम करते हैं। पहले उदाहरण में औसत काम का दिन पुरुषों के लिए २$\frac{3}{4}$ घंटे और स्त्रियों के लिए २ घंटे बगीचे के काम के अलावा ४ घंटे घर का काम था, पर यह आँकड़े ० से ६ घंटे तक प्रतिदिन बदलते रहे। दूसरे उदाहरण में पुरुषों के लिए ४ घंटे और स्त्रियों के लिए ६ घंटे का औसत था और दैनिक आंकड़ों में उतनी ही भिन्नतायें थीं।"[४]

अनक्षर समाजों में कार्य की मात्रा को उत्पादकता से भी मापा जा सकता है। उत्तरी अमरीका के ग्रेट लेक्स प्रदेश के जंगली चावल चुनने वालों के बारे में यह बताया गया है कि वे इसकी पर्याप्त फ़सल संचित कर लेते हैं। १८६४ में तीन चिपेवा समूहों ने जिनकी जन-संख्या ३,९६६ थी, ५,००० बुशल अनाज इकट्ठा किया, इसके अलावा उन्होंने शिकार द्वारा बड़ी मात्रा में क़ीमती फर जमा किये और १५०,००० पौंड मेपल गुड़ बनाया और इसके अतिरिक्त मक्का और आलू बोया।[५] पूर्वी नाइजीरिया के याको बस्ती के उमोर नामक स्थान के एक सम्बन्धी समूह ने, जिसमें ९७ प्रौढ़ स्वस्थ पुरुष और उनके परिवार सम्मिलित थे, मिलकर ऐसे बगीचे लगाये जिनका औसत आकार डेढ़ एकड़ था और जिनमें से प्रत्येक में लगभग २,४४० याम के पेड़ थे जिनकी औसत उपज २,५४५ याम थी। फसल की उपज २३५ से ११,४१० कंद तक थी। इसके अलावा कोको-याम, कॉर्न, कद्दू, ओकरा, तीन प्रकार की फलियां, गन्ना, लौकी, कसावा और मटरफली भी बोई जाती हैं।[६]

उत्पादन के चक्र में महत्त्वपूर्ण होने के कारण, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की समस्या पर कुछ और विचार करने की ज़रूरत है। अनक्षर समाजों में जो श्रम-विभाजन है भी वह समस्त उद्योगों को लेकर है और वह बहुत कम ही एक ही उद्योग के अन्दर के विशेषीकरण पर लागू है, जिन अर्थों में कि हम अपने समाज में इसका प्रयोग करते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, सभी अनक्षर समूहों में कुछ काम पुरुषों तथा अन्य काम स्त्रियों द्वारा किये जाते हैं। इसलिए कोई स्त्री और पुरुषों के श्रम विभाजन की सार्वभौमता का ज़िक्र कर सकता है। इस श्रेणी में बहुत-से समाज हैं जिनके प्रौद्योगिक कामों में दस्तकारी के आधार पर श्रम-विभाजन होते हैं। ऐसी संस्कृतियों में कुछ आदमी लुहार या लकड़ी का काम करने वाले या नौका बनाने वाले होंगे, कुछ स्त्रियां बर्तन या टोकरियां बनायेंगी या कपड़े बिनेंगी। पर मशीन संस्कृतियों के बाहर हमें प्रायः कहीं ऐसे जन-समाज नहीं मिलते, जिनमें कि उदाहरण के लिए एक आदमी लोहे की खान से कच्चा लोहा निकालता हो, दूसरा उसे गलाता हो और तीसरा उससे कुदाल बनाता हो, या जिनमें एक स्त्री टहनियों को इकट्ठा करती हो एक दूसरी उनका छिलका अलग करती हो और तीसरी उससे टोकरियां बनाती हो।

---

४. ए० आई० रिचार्डस, १९३९, पृ० ३९२–४
५. ए० ई० जेंक्स, १९००, पृ० १,०७४–५; १,०७८
६. सी० डो० फोर्ड, १९३७, पृ० ३२–४,४१

अनक्षर समाजों में दस्तकारी-विशेषज्ञ बहुत कम ही एकान्ततः एक विशेष कार्य में अपने को लगाते हैं। बल्कि केवल "विशेषज्ञ" ही एक निर्दिष्ट दस्तकारी को चलाते हैं। दस्तकार और काम भी करते हैं–विशेष रूप से वे खेतों में काम करके अपने परिवार द्वारा उपभोग की जाने वाली फसलों को पैदाकर कम-से-कम आंशिक रूप से अपना गुज़ारा उससे चलाते हैं। मशीनी संस्कृतियों की भांति उद्योग के भीतर संकीर्ण विशेषीकरण द्वारा इन समाजों की दस्तकारी में गुज़ारा नहीं चल सकता। पर उन समाजों में जहाँ कि गुज़ारे के लिए पर्याप्त वस्तुयें पैदा होती हैं, कुछ सदस्यों को अपनी मूल आवश्यकताओं के लिए उत्पादन से छुट्टी दी जा सकती है और वहां दस्तकारी-विशेषीकरण विस्तार से फैला हुआ है।

इस प्रकार का विशेषीकरण पैतृक पेशे पर आधारित हो सकता है, जैसा कि कैलीफ़ोर्निया के इंडियन टोकरी बनाने वालों या अफ्रीका के लोहे का काम करने वालों या दक्षिणी द्वीप के नौका बनाने वालों में है। इन विशेषज्ञों की उपस्थिति वस्तुओं के अनेक प्रकार और बेहतर दस्तकारी की वस्तुओं का निर्माण सम्भव बनाती है। कभी-कभी, जैसा कि मैलेनेशिया में है, एक प्रकार का प्रादेशिक या कबायली विशेषीकरण पाया जाता है, अर्थात् एक सम्पूर्ण समूह बर्तन बना सकता है और अन्य जनसमूह द्वारा बनाये गये मछली पकड़ने वाले जालों से उसका विनिमय कर सकता है, इसी प्रकार यह क्रम आगे बढ़ सकता है। यह एक दूसरी रीति है जिससे कि उन्हीं उद्देश्यों को पूर्ण किया जा सकता है। इस उदाहरण में प्राविधिक दक्षता का लाभ जो कि विशेषज्ञता से मिलता है, उन अल्प जन-संख्या वाले समाजों को मिलता है, जो अपने आप में किसी प्रकार के विशेषज्ञों का भार वहन नहीं कर सकते।

जब हम उत्पादन चक्र की जांच कर रहे हैं, तब एक प्रश्न अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है कि मनुष्य काम क्यों करते हैं। निस्संदेह, मनुष्य काम इसलिए करते हैं, चूँकि उन्हें करना चाहिए। किन्तु यह सीधा-सा उत्तर किसी भी तरह पर्याप्त नहीं है। इस चर्चा में हम पहले हौगबिन का उद्धरण देख चुके हैं, वह कहता है : "मैंने यह बताकर यह निबन्ध शुरू किया था कि ये आदिवासी अपने जीवन निर्वाह के लिए खेती और संचय पर निर्भर हैं। यद्यपि यह सही है, पर उनके लिए खेती के कार्य और जंगलों के फलों को इकट्ठा करने में और भी अनेक प्रेरणायें कारण हैं। खुराक व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, हैसीयत और अहंकार, अमरत्व की इच्छा और यहाँ तक कि सौन्दर्यबोध के साथ जुड़ गई है। जाउआ के शब्दों में, वोगियों के लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है।"[७]

काम करने की प्रेरणा से सम्बन्धित चर्चा में हम उस अन्तर्हित तृप्ति को नहीं छोड़ सकते जो तब व्यक्त होती है जबकि एक दस्तकार स्वनिर्मित एक चीज की ओर देख कर गौरव के साथ कहता है, "इसे मैंने बनाया है।" यहां उस औद्योगिक समाज की सबसे बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न होती है, जहां श्रम का विशेषीकरण इतना अधिक हो गया है कि तैयार वस्तु के साथ इस तरह की आत्मीयता असम्भव है। ऐसी ही परिस्थितियों में

---

७. एच० आई० हौगबिन, १९३८–३९, पृ० ३२५

श्रम अरुचिकर बन जाता है। हम तबतक आश्चर्य के साथ इस बात को देखते हैं कि हमारे समाज में "छुट्टी" की अवधारणा अनुपम है, जब तक कि हम यह नहीं सोचते कि अन्य संस्कृतियों में श्रम की गति सबों द्वारा स्वीकृत आदेशों से होती है; श्रम से उत्पन्न अन्तिम वस्तु उसके बनाने वाले की होती है, वह उसे जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता है और जो चीज़ उसने अपने कौशल और शक्ति से बनाई है उसके साथ वह अपनी आत्मीयता दिखा सकता है। हम यह बात नज़र-अन्दाज़ कर जाते हैं कि छुट्टी श्रम से छुटकारा नहीं, पर यह ऐसा अवसर देती है जब कि बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के हम अपने श्रम का व्यय कर सकते हैं। यह ही, और केवल यह ही इसे आकर्षक बनाता है।

२

प्रायः अधिकांश अनक्षर समाजों में वस्तुओं के वितरण में इससे अधिक कुछ नहीं होता कि, जो-कुछ उत्पादन होता है वह उत्पादकों के घरों में विभक्त कर दिया जाता है। जहां कुछ विशेषीकरण भी है और विनिमय होते हैं, वहां वे व्यक्तिगत, सीधे और निश्चित हैं। केवल वहीं पर जहां जन-संख्या पर्याप्त घनी है और कुछ अंश तक विशेषीकरण भी मौजूद है, हमें अर्थ-व्यवस्था में बाजार की औपचारिक सत्ता मिलती है। चूंकि अनक्षर लोगों में ऐसी अवस्थायें बहुत कम हैं, अतः बाजार के व्यापार एक समाज के भीतर की अपेक्षा विभिन्न समुदायों के सदस्यों के बीच विनिमय को प्रायः सुविधाजनक बनाते हैं।

इसकी आशा नहीं कि वस्तुओं या सेवाओं के विनिमय के उद्गम की परम्परा को कभी स्थापित किया जा सकेगा। मॉस ने उपहार देने की मनोवृत्ति में इसके मूल को खोजा है, अर्थात् एक उपहार चाहे कितनी ही स्वेच्छा से दिया जाय, उसे लौटाने का एक पारस्परिक दायित्व रहता है।[८] सारी दुनिया में इसके असंख्य उदाहरण मिलते हैं। हमारी ही संस्कृति में दावत या न्योते या विवाह में उपहार देने का पारस्परिक दायित्व है, जो एकदम ध्यान में आता है। उत्तरी अमरीका के उत्तरी पश्चिमी तट के क्वैक्यूतल, हैदा और अन्य कबीलों में संस्कार के अवसरों पर उपहार देने की रस्म जो मानव-शास्त्र के साहित्य में एक शास्त्रीय उदाहरण बन गया है, उल्लेखनीय है। इसी प्रकार मैलेनेशिया के उत्सवों पर दिये जाने वाले उपहार या पश्चिमी अफ्रीका में अन्त्येष्टि पर दिये जाने वाले उपहार या उत्तरी आस्ट्रेलिया में भेंटों का आदान-प्रदान एक प्रकार के नोटिस तामील करते हैं कि भविष्य में उनके लौटने की आशा की जाती है।

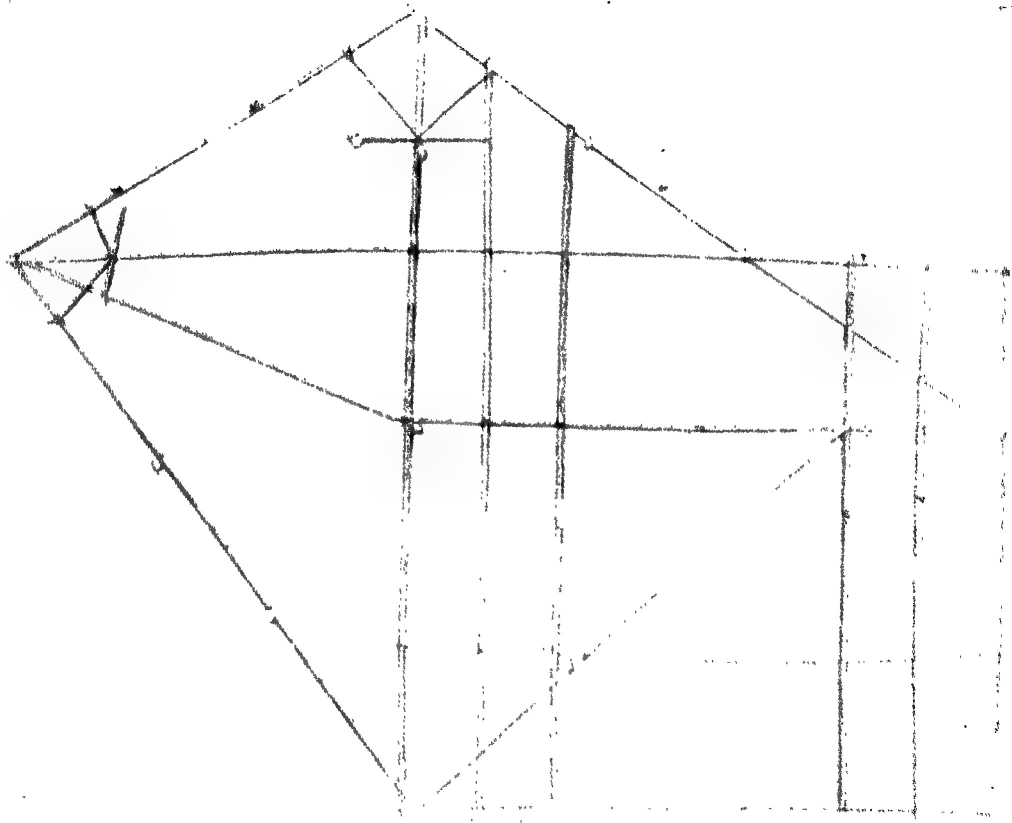
उपहार विनिमय (Gift exchange) जैसी रीतियों का जिन्हें कि फर्थ ने **प्रच्छन्न विनिमय** (Covert Exchange)[९] की संज्ञा दी है, महत्त्व स्पष्ट हो जाता है जबकि हम कीमती वस्तुओं को अपने मूल स्थानों से उत्सव विनिमय द्वारा अपने गंतव्य स्थानों पर पहुंचते और वहां से वापस आते हुए देखते हैं। बक ने लिखा है कि, "पारस्परिक

---

८. एम० मॉस, १९२३–२४
९ रेमंड फर्थ, १९२९, पृ० ३१०



प्लेट ४क मेंढबंद घाटी, फिलीपीन में धान उगाने की विधि को दर्शाते हुए। **प्लेट ४ख** धान की क्यारियों का निकट-दृश्य। देखिये पृ० १०० (फोटोग्राफ आर० एफ० बार्टन; एफ० इगन के सौजन्य से)



प्लेट ५ मार्शल द्वीपवासियों द्वारा प्रयुक्त नाविक चार्ट। देखिये पृ० ११९ (फोटोग्राफ शिकागो नैचुरल हिस्टरी म्युज़ियम के सौजन्य से)।

भोज व उपहार पोलिनेशियाई विवाहों की स्वीकृत रीति है।[10] मंगाइया कबीले में वधू के परिवार द्वारा विवाह के अवसर पर दिये गये उपहारों के गुण और राशि तथा वधू-भोज के आयोजन से सामाजिक हैसियत आंकी जाती है। यदि वर का परिवार मौलिक भोज से बड़ी मात्रा में भोज का आयोजन नहीं करता और उसमें दिये गये उपहारों की राशि से अधिक नहीं लौटाता तो, उसकी हैसियत छोटी मानी जाती है। टोंगा कबीले में जब मुखियाओं के बीच विवाह के उपहारों का आदान-प्रदान होता है तो वर का पिता याद रखता है कि उसके प्रत्येक सम्बन्धी ने क्या दिया है और वह उससे दुगुना लौटाता है। इसके लिए वह अपने घर की सारी सम्पत्ति को खाली कर देता है ताकि उसके परिवार की इज्ज़त में बट्टा न लगे तथा उसकी सन्तान को उपयुक्त विवाह करने में कठिनाई न हो।

सही अर्थों में व्यापार में मूल्यों का प्रत्यक्ष विनिमय होता है जो कि या तो एक-दूसरे से या किसी सामान्य माप, जैसे कि मुद्रा से, मापा जाता है। उन समाजों में जहां कि संस्थायें सूक्ष्मतः विभाजित नहीं हैं, उपहार देने का काम अदृश्य रूप से व्यापार में विलीन हो जाता है। विभिन्न प्रकार के विनिमयों को व्यक्त करने के लिए बनाई गई तर्क-युक्त श्रेणियां बहुत बार किसी निर्दिष्ट उदाहरण में पहचान में भी नहीं आतीं। यह उपहार या उत्सवी विनिमय के अतिरिक्त, वस्तुओं की अदल-बदल (Barter), मुद्रा की अदल-बदल और मुद्रा पर आधारित विनिमय हैं।

अदल-बदल में वस्तु के स्थान पर वस्तु का विनिमय होता है। इसका एक विशेष रूप "मौन व्यापार" सैंकड़ों सालों से प्रचलित है। हिरोडोटस ने बताया है कि कार्थेजिनियन लोग अफ्रीका के पश्चिमी तट पर हरक्यूलिस के स्तम्भ से भी आगे रहने वाले अफ्रीकनों से इसी प्रकार व्यापार करते थे। अरबी यात्री इब्न बतूता बताता है कि सुदूर उत्तर की अंधकार भूमि में यह फरों के व्यापार का साधन था। साइबेरिया के चुक्ची और अलास्कन लोगों, कांगो-पिग्मियों और उनके बांटू पड़ोसियों और कैलीफ़ोर्निया, मैलेशिया व न्यूगिनी में और अन्यत्र भी इसके आधुनिक उदाहरण दिये गये हैं। मूलतः इसकी कार्य-प्रणाली निम्न है: विनिमय करने वाला एक पक्ष एक निश्चित स्थान पर अपनी वस्तुओं को छोड़ कर चला जाता है या पीछे हटकर एक ऐसे स्थान पर बैठ जाता है, जहां से उसे कोई न देख सके पर वह स्वयं छुपकर देख सके। उसके बाद दूसरा पक्ष आता है, जो कुछ उसे वहाँ मिलता है उसका मुआयना करता है और यदि उसको संतोष होता है, तो वह बराबर की दूसरी वस्तु वहां छोड़ देता है।

आमने-सामने वस्तुओं के साथ वस्तुओं का व्यापार अनक्षर समाजों में विनिमय का सर्वाधिक प्रचलित रूप है। सौदेबाज़ी हो भी सकती है और नहीं भी। एक समाज के अन्दर की अपेक्षा विभिन्न कबीलों के बीच अधिक अदल-बदल होती है। उत्तर और दक्षिणी अमरीका में इस अन्तर्कबीली विनिमय के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे कि दक्षिण पश्चिम के टेवा कार्न, कार्न के आटे और गेहूँ की रोटी को कोमांचे से भैंस की

---

१०. पी० एच० बक, (टे रांगी हिरोआ), १९३४, पृ० ९१।

खालों के साथ बदलते हैं, या चाको के चोरोटी सूखी मछली से मक्का, लाल रंग, या गले के हारों की अदल-बदल करते हैं। मैलेनेशिया ऐसे उदाहरणों से भरपूर है। अफ्रीका में भी कबीले के अन्दर होने वाले विनिमय की तुलना में कबीलों के बीच होने वाले विनिमय की अधिक महत्ता है।

व्यापार के लिए एक व्यक्ति को किसी ऐसी चीज़ की ज़रूरत होनी चाहिए जो उसके पास नहीं है, किन्तु वह दूसरे व्यक्ति के पास है। विनिमय सफल होने के लिए इन वस्तुओं के सापेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में समझौता होना ज़रूरी है। इसलिए इस संबंध में मूल्य कैसे व्यक्त किया जाय तथा जब वस्तुयें एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती हैं, तब उनका मूल्य कैसे बदलता है, यह प्रश्न गम्भीर है। वह अर्थ-व्यवस्थायें जो आत्मनिर्भर हैं या जहां विनिमय अदल-बदल पर आधारित है, उनके अध्ययन के लिए विशेष पद्धति इसलिए भी जरूरी है, चूंकि वहां पर मूल्यों को प्रकट करने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि प्रत्येक बार हर घटना का विवरण दिया जाय जबकि कोई वस्तु पैदा, विनिमय या उपभोग की गई हो। मूल्य बहुत-कुछ मनमाने भी हो सकते हैं, जैसे कि दक्षिणी अमरीका के अरावाक लोगों में, जहां कि प्रत्येक अदल-बदल किये जाने वाली वस्तु का मूल्य उस क्षण उस वस्तु का कितना आकर्षण है, इस पर निर्भर है। कई बार एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य द्वारा व्यक्त किया जाता है जैसे कि सोलोमन के बुका लोगों में जहां कि छः या सात ढोने वाले टोकरों को टारो के एक भरे हुए टोकरे से बदला जाता है। यहां पर बदलते हुए मूल्य का अर्थ दिलचस्प है क्योंकि एक स्वस्थ स्त्री जो कि एक दुर्बल स्त्री की तुलना में अधिक भारी बोझ ले जा सकती है, उससे विनिमय करने में टोकरी बनाने वाले को अधिक टारो मिलेगा। यहां पर बड़े व्यापारी पक्षों की खोज नहीं की जाती तथा न ही सौदेबाजी की जाती है।

मुद्रा-अदल-बदल (Money barter) तब होती है जब उपभोग की किसी वस्तु को मूल्य का एक समान सूचक माना जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फ़िलीपीन के इफूगाओ में मिला है, जहां विशुद्ध अदल-बदल के अतिरिक्त चावल मुद्रा का कार्य करता है। बार्टन ने फिलीपीन डालर के साथ १९२२ मूल्यों की तालिका दी है।

इकाई	चावल के गट्ठों की संख्या	इकाई	खलिहान और बुवाई के समय का मूल्य (पीजों में)	चावल बोने के समय का मूल्य (पीजों में)
१ बोटेक	१	...	.०२½	.०५
५ बोटेक	५	१ होंगल	.१२½	.२५
४ होंगल	२०	१ डालन	.५०	१.००
५ डालन	१००	१ बोंगेल	२.५०	५.००
१० डालन	२००	१ उपू	५.००	१०.००
४ उपू	८००	१ लोटक	२०.००	४०.००
२ लोटक	१,६००	१ गुकुड	४०.००	८०.००
१० उपू	२,०००	१ { नबकीन पिगिल	५०.००	१००.००

यहां हम देखते हैं कि किस प्रकार एक समान मूल्य के सूचक के आजाने से हिसाबों में एक व्यवस्था आ जाती है, और किस प्रकार इस तरह की एक वस्तु मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होने पर मुद्रा के कार्य के प्रसंग में एक वस्तु के तौर पर विभिन्न मूल्यों को व्यक्त करती है। निःसंदेह, बोने के समय की अपेक्षा कटाई के समय चावल की अधिकता होती है। यह मुद्रा के रूप में (फिलीपीन पीज़ो में) इसे रूपान्तरित करने से ही स्पष्ट नहीं होता, परन्तु यह उससे खरीदी जाने वाली वस्तुओं में भी व्यक्त होता है। बुवाई के समय जो मुर्गी सिर्फ एक होंगल चावल लाती है, फसल उठने के समय जबकि चावल की बहुतायन होती है, वह दो होंगल चावल लाती है।[११] उन समाजों में जहां पर कि वस्तुओं के विनिमय में मुद्रा-अदलबदल का प्रयोग होता है, उनके अनेक अन्य उदाहरण दिये गये हैं। कांगों में इस उद्देश्य के लिए लोहे के सामान, जैसे कि छड़ें, कुदालें, कुल्हाड़ियां, दोहरे घंटे और अन्य वस्तुएँ, पश्चिमी अफ्रीका में नमक, साइबेरिया में तम्बाकू और स्पेनिशपूर्व मैक्सिको में काको का प्रयोग होता रहा है।

मुद्रा की तरह प्रयोग में आने वाली वस्तुएँ इस हद तक मुद्रा की भांति कार्य करती हैं कि कार्य करते समय, उनका वस्तु के रूप में जो महत्त्व है, उसे पहचानना कठिन हो जाता है। उनका मूल्य के सूचक के रूप में निर्दिष्ट प्रयोग उसे ओझल कर देता है। सही भाषा में, एकरूपता, वहनीयता, विभाज्यता और टिकाऊपन मुद्रा की विशेषतायें हैं। इसमें यह मुद्रा अदल-बदल में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं या सम्पत्ति की प्रतीक "कीमती वस्तुओं", जैसे कि याप द्वीप पर "संचित मूल्य के" भंडार विशाल पत्थर के पहियों या पूर्वी अफ्रीका के ढोरों से भिन्न है। अनक्षर समाजों में व्यापार में मुद्रा के प्रयोग और मुद्रा-अदलबदल में वस्तु प्रतीकों के प्रयोग में भेद कर सकना बहुत कठिन है। तथापि हमें इससे चिंतित होने की जरूरत नहीं, चूंकि दोनों ही सफलतापूर्वक मुद्रा के कार्यों को सम्पादित करते हैं।

ऐसे अनक्षर लोगों का विस्तार जिनकी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा कार्य करती है, बहुत सीमित है। पश्चिमी अफ्रीका और कांगो, मैलेनेशिया और पश्चिमी उत्तरी अमरीका के आदिवासियों की संस्कृति में मुद्रा का प्रयोग पाया गया है। योरोपियनों के आने से पहले अफ्रीका में कौड़ी की सीपों का रिवाज था। हाल में इस बात की और पुष्ट साक्षियां मिली हैं कि कौड़ी वस्तुतः मुद्रा है। १८८३ ई० में फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में ५०० कौड़ियों का मूल्य एक फ्रांक या बीस सैंट के लगभग था, बाद में यह ८०० कौड़ियों तक गिर गया और १९१८ ई० तक उतना ही रहा। १९१८ ई० के बाद जबकि फ्रांक का मूल्य गिर गया, कौड़ी का मूल्य बढ़ गया और १९३० ई० तक छः सौ कौड़ी पांच फ्रांक के नोट के मूल्य पर या एक फ्रांक के लिए एक सौ बीस कौड़ियों पर स्थिर हो गया।[१२] कैलीफोर्निया के यूरोक लोगों में मुद्रा के लिए दांतेदार सीपों का और सुदूर दक्षिण में क्लैम मछली की सीप की तश्तरियों का प्रयोग होता था। मैलेनेशिया में विनिमय के

---

११. आर० एफ० बार्टन, १९२२, पृ० ४२७–३१।

१२. इसकी विशद चर्चा के लिए देखिये, एम०जे० हर्सकोविट्, १९५२, पृ० २४७–५०।

माध्यम इतने अधिक हैं कि उनका गिनाना भी मुश्किल है। कुछ स्थितियों में वह सच्ची मुद्रायें हैं, जैसे कि एडमिरैलिटी द्वीपों में कुत्ते के दांत, जहां वह केवल अन्य वस्तुओं के मूल्य को ही व्यक्त नहीं करती, अपितु विनिमय के अन्य किसी माध्यम की भांति मुद्रा बाज़ार के उतार-चढ़ाव से भी प्रभावित होती हैं।

टैक्स ने स्पष्टतया दर्शाया है कि किस प्रकार पनाजचेल के गोटेमैलान इंडियन समाज में योरोपीय अर्थों में मुद्रा का होना आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार मूल्य को निर्धारित करने के तरीकों को बनाता है। इन लोगों की जो कि "छोटे पैमानों पर फर्मों की अर्थ-व्यवस्था में प्रवेश करते हैं, एक मुद्रा-अर्थ-व्यवस्था है...जिसमें पूर्णतया प्रतिस्पर्द्धायुक्त बाज़ार का सुस्पष्ट विकास है।" "चूंकि उत्पादन और उपभोग पृथक् घरों में संगठित हैं, अतः उपभोग की जाने वाली सामग्री का अधिक अनुपात खरीदा जाता है," और उसक नगदाभुगतान किया जाता है। लागत के अनुमान के आधार पर बिक्री की जाती है, और वास्तविक उदाहरणों के विश्लेषण से यह मालूम हुआ है कि वह बहुत सही है और इस समुदाय का जीवन "व्यावसायिक उद्योग की भावना" से परिपूर्ण है।[१३] इससे यह पता चलेगा कि यूरोपीय-अमरीकी अर्थ-व्यवस्थाओं के प्रकार की आर्थिक प्रणालियों के अध्ययन में मुद्रा का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनक्षर लोगों के व्यावसायिक कार्यों की ऐसी विशेषतायें हैं जो कि सर्वत्र उन्हें व्यावसायिक सम्बन्धों से संयुक्त करती हैं। इनमें बाज़ार और मध्यवर्ती मिलते हैं और उधार की रीतियां भी बहुत विस्तृत हैं। बोआस ने इसका एक अति स्पष्ट विवरण दिया है। ब्रिटिश कोलम्बिया के इंडियनों के बारे में वह कहता है :

"यह अर्थ-व्यवस्था इस सीमा तक विकसित हो चुकी है कि कबीले के व्यक्तियों की पूंजी की सम्पत्ति कुल विद्यमान नकद राशि से कई गुना अधिक है, कहने का तात्पर्य यह है कि यह अवस्थायें हमारे समुदाय से बहुत मिलती हैं। यदि हम अपने बाकी ऋणों को वसूल करना चाहें, तो यह पाया जायेगा कि उन्हें अदा करने के लिए आवश्यक मुद्रा नहीं है, और यदि सभी साहूकार एक साथ अपना ऋण वापिस चाहें तो उससे विनाशात्मक घबराहट फैल जाती है जिससे संभलने में समुदाय को बहुत समय लग जाता है।"[१४]

जैसा कि योरोपीय-अमरीकी संस्कृति में होता है, उधार किसी प्रतिदान के विचार से दिया जाता है और बहुत-सी संस्कृतियों में ब्याज की दरें बहुत ऊंची हैं। रुपया पाने के लिए पश्चिमी अफ्रीका में बच्चों को रेहन रखना एक सम्मत प्रणाली थी। और अभी भी, जब आदमी को कठिनाई में रुपये की ज़रूरत होती है, ताड़ के बगीचे गिर्वी रखे जाते हैं।

मुद्रा मूल्य की रक्षक है और साथ ही विनिमय का माध्यम भी। अनक्षर समाजों में मुद्रा के इन दोहरे कार्यों से व्यक्त होने वाली दो अर्थ-व्यवस्थायें प्रायः स्पष्ट दीखती हैं। उदाहरण के लिए गुजारे की अर्थ-व्यवस्था को अदल-बदल के आधार पर चलाया जा सकता

---

१३. एस० टैक्स, १९५३, पृ० १३–१४, और अन्यत्र।
१४. एफ० बोआस, १८९८, पृ० ५४–५५।

है, जबकि प्रतिष्ठागत अर्थ-व्यवस्था (Prestige economy) मुद्रा की सहायता से ही चल सकती है। दु बॉय ने कैलीफोर्निया के तोलोवा और टुटुटनी इंडियनों के अध्ययन में इस भेद को सर्वप्रथम स्पष्ट किया है। यहां पर जबकि "यौन सम्बन्धों और पारिवारिक हैसियत को क़ायम रखने के लिए तथा सामाजिक संरक्षण एवं प्रतिष्ठा को खरीदने के लिए दांतेदार सीपों और अन्य "खजानों" का प्रयोग किया जाता था, वह कभी भी भरण-पोषण के लिए प्रयुक्त न होते थे।"[१५] उत्तरी पश्चिमी तट के इंडियनों की प्रतिष्ठा की आर्थिक व्यवस्था में कम्बल एक प्रतीक था पर वह जीवन-यापन की वस्तुओं के विनिमय में बहुत ही कम प्रयुक्त होता था।[१६] मैलेनेशिया में मूल्य के ऐसे प्रतीक जैसे कि ट्रोब्रियांड लोगों के कुला (Kula) छल्ले के बाजूबन्द, और गले के हार का प्रयोग प्रतिष्ठा-व्यवस्था तक ही सीमित हैं।

प्रतिष्ठा और गुज़ारे की व्यवस्थाओं में कोई नपा-तुला भेद नहीं है। इस प्रकार रोज़ेल द्वीप में प्रतिष्ठा-मुद्रा रोज़ के व्यापारिक कार्यों में भी प्रयुक्त होती है। असली बात तो यह है कि उनकी उपस्थिति की, चाहे वह कैसी ही व्यक्त हो, उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यह तथ्य कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य की एक ही इकाई प्रयोग में आती है, हमारी व्यवस्था की दोहरी प्रकृति को छिपाये हुए है। गेहूं और कीमती जवाहरात दोनों रुपये से खरीदे जाते हैं; जबकि गेहूं खाने के लिए है, और जवाहरात मूल्य का भंडार है और उसके स्वामित्व के साथ प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है। यह उल्लेखनीय है कि हमारी तरह किसी भी विशेषीकृत समाज में अर्थ-व्यवस्था के यह दो पहलू जो कार्यतः भिन्न हैं, उनका भेद अस्पष्ट हो जाता है। हमारे एक प्रकार के मूल्य प्रतीकों ने, जिन रूपों में वह अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं, उन रूपों तथा उपहार-विनिमय के विरुद्ध साधारण रोज-मर्रा की वस्तुएं खरीदने व बेचने तथा दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय के गतिशील पहलुओं के बीच भेद करना कठिन बना दिया है।

४

किन्हीं लोगों की प्रौद्योगिक क्षमता उपभोग की वस्तुओं व उत्पादन की वस्तुओं (या जिन्हें कि "सहायक पूंजी" कहा जाता है) और मूल्य के संग्रहों के निर्माण में व्यय होती है। सभी श्रेणियों की भांति इनकी भी किसी संस्कृति की अर्थ-व्यवस्था में किसी तत्त्व के वास्तविक कार्य के अनुसार व्याख्या होनी चाहिए। इनमें से पहली श्रेणी का उपभोग के अर्थशास्त्र, दूसरी का उस प्रक्रिया से जिससे कि पूंजी की वस्तुवें प्राप्त व प्रयुक्त की जाती हैं, और तीसरी का उस विस्तृत श्रेणी से जिसे कि मोटे तौर पर व्यक्तिगत मिल्कियत या सम्पत्ति कहा जाता है, सम्बन्ध है। इनमें से पहली दो का अनक्षर लोगों में बहुत कम अध्ययन किया गया है, पर मानवशास्त्रियों ने तीसरी पर विशेष ध्यान दिया है, मुख्यतया इस लिए भी कि यह रिश्तेदारी (Kinship) की संरचनाओं को कायम रखने का कार्य करती है।

---

१५. सी० दु बॉय, १९३६, पृ० ५१।
१६. एफ़० बोआस, १८९७, पृ० ३४१।

भोजन तथा वस्त्र प्राथमिक **उपभोग की वस्तुवें** हैं। अधिकांश अनक्षर समाजों में वह आर्थिक प्रक्रियायें, जिनसे इनका वितरण होता है, सरल हैं। यहां असली समस्या आर्थिक क्षेत्र के बाहर है। हम देख चके है कि किस प्रकार गुज़ारे के स्तर पर रहने वाले लोग भी या तो उन बद्धमूल विश्वासों के कारण जो कि मानव उपभोग के लिए कुछ पदार्थों को ही खाद्य पदार्थ ठहराते हैं या उनके साथ धार्मिक या समाज-शास्त्रीय प्रकार के विशेष टैबू, अर्थात् निषेध जुड़े हुए होने के कारण समस्त उपलब्ध खाद्य सामग्री का उपयोग नहीं करते। वस्त्रों के बारे में भी उसी प्रकार का चुनाव पाया जाता है जैसे कि उन समूहों में जहां उत्पादन-क्षमता वर्ग भेद को सम्भव बनाती है, होता है, और वस्त्र हैसियत या ओहदे का चिन्ह बन जाते हैं।

अनक्षर समाजों में खाद्य अर्थ-व्यवस्था का एक पहलू खाद्य उपभोग के साथ उसकी जनता की तात्कालिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध है। इस प्रकार के अध्ययन कम ही हैं, पर उन्होंने अनक्षर लोगों की उपभोग अर्थ-व्यवस्था के कुछ पहलुओं पर जिन्हें पहले नहीं समझा जा सका था, प्रकाश डाला है। इस प्रकार गोल्ड कोस्ट के टैलेंसी लोगों के उत्पादन का जब उनकी मौसमी आवश्यकताओं के साथ मुक़ाबला किया जाता है, तो उससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :

"यह देखा जाएगा कि सर्वाधिक शारीरिक श्रम के समय में, अर्थात् मई-जून में, घरेलू खाद्य पूर्ति सबसे कम है—आदिवासी भी इसे स्वीकार करते हैं—और जब खेती का काम सब से कम होता है, वह अधिकतम है। दूसरे शब्दों में यदि हम यह मान लें कि शुष्क ऋतु के अवकाश के महीनों की अपेक्षा वर्षा ऋतु में कृषि में किए जाने वाले कठोर श्रम के लिए अधिक खाद्य की ज़रूरत पड़ती है, तो ऐसा प्रतीत होगा कि खाद्य आवश्यकताओं के साथ खाद्य-उपभोग का उल्टा सह-सम्बन्ध है।"

तथापि वस्तुतः शुष्क ऋतु में ही भोज होते हैं। यह स्वीकार किये जाने के बावजूद कि जिन दिनों में कठिन श्रम किया जाता है उन दिनों अधिक भोजन की आवश्यकता होती है,—और वे लोग यह भी जानते हैं कि खाद्य वस्तुओं को कैसे रखा जाता है और उनमें मितव्ययिता की धारणायें भी हैं,—शारीरिक आवश्यकताओं के मुकाबले में प्रथागत आदतों को नियमित रूप से तरजीह दी जाती है।[१७]

रिचार्ड्स् ने बेम्बा लोगों में खाद्यपूर्ति और उसकी आवश्यकताओं के सम्बन्ध का निम्न विवरण दिया है :

"इस भोजन-क्रम की अत्यन्त प्रमुख विशेषता भूख और प्रचुरता के बीच उतार-चढ़ाव है, जिन क्षेत्रों में वर्षा का वितरण वर्ष में केवल एक फसल को सम्भव बनाता है और जहां केवल एक खाद्य सामग्री की फसल पर निर्भर रहा जाता है, उन क्षेत्रों के निवासी अफ्रीकी लोगों की यह एक सामान्य विशेषता है। अत्यन्त साधारण द्रष्टा की नज़र में भी इन प्रदेशों में एक निश्चित अभाव देखा जाता है। बेम्बा हमेशा खाद्य महीनों से भिन्न "भूख महीनों" की बात करते हैं......जबकि अभाव बहुत बढ़ जाता है, गांव के

१७. एम० और एस० एल० फोर्टेस, १९३६, पृ० २६०–६१।

जीवन का सारा रूप बदल जाता है। प्रौढ़ों को दो के बजाय एक समय खाना दिया जाता है और शराब भी बहुत कम ही खींची जाती है। बच्चे जो कि बहुतायत की ऋतु में (अप्रैल से अक्टूबर तक) सारा दिन अतिरिक्त खाना खाते दीखते हैं, उन्हें दिनभर में देर से एक बार भोजन मिलता है...अधिकांश प्रौढ़ अधिवासियों को वह मौके याद हैं जब उन्हें लगातार दो दिन बिना भोजन के बिताने पड़े और वह "झोंपड़े में बैठ कर पानी पीते और सुंघनी लेते रहे।"[१८]

यह याद रखना चाहिए कि पहले उदाहरण की भांति, इसका भी एक विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध है जोकि उन अन्य संस्कृतियों से जिनके विभिन्न प्रौद्योगिक आधार और आर्थिक प्रवृत्तियां हैं, भिन्न है। इस प्रकार कैलौटन के मलायावासी मछुवे "मानसून के कठिन काल में" भी गुज़ारे के स्तर से ऊंचे रहते हैं। हमें सूचित किया गया है, "यह सम्भव है कि मछुहारे का परिवार उस भोजन को पसन्द करता है जो कि साल में अधिक समय उन लोगों की शक्ति-आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त है, जो कि बहुत अभिन्न नहीं है और ज़ाहिरा तौर पर बहुत असंतुलित भी नहीं है"[१९] प्रचुरता और अभाव के चक्र की अपेक्षा मौसमी परिवर्तन साल की विभिन्न अवधियों में ख़ूराक में भिन्नता ला देते हैं। मैक्सिकी चेरन और मिनेसोटा के जंगली धान इकट्ठा करने वाले और एस्किमो जैसे भिन्न लोगों में यही बात पाई जाती है।

अनक्षर समाजों में उपभोक्ता (Consumer) अर्थशास्त्र के दूसरे पहलू का सम्बन्ध परिवार के साधनों के बजट से है। यहां हम हैरिस द्वारा ओज्युटेम प्रदेश के एक गांव में रहने वाले नाइजेरियन ईबो के अनेक ब्यौरे वार बजटों में से जिन्हें कि हैरिस ने संकलित किया है, एक बजट उद्धृत कर सकते हैं। यह बजट या आय-व्यय का तख्मीना एक बृहत् सम्बन्धी-समूह (Relationship group) के मुखिया और दो गुप्त सभाओं के सदस्य द्वारा दिया गया है। वह विधुर था, जिसके दो लड़के, एक लड़की और बड़े लड़के की तरुण पत्नी उसके साथ रहती थी। उनमें से बड़ा लड़का व्यापारी और श्रमिक था, और छोटा निकम्मा नौजवान था जो काम करने से जी चुराता था। लगभग १३ साल की लड़की प्रथम मासिकधर्म के बाद और विवाह से पूर्व "मोटे होने" (Fattening) की अवधि से गुजर रही थी। परिवार का मुखिया अस्वस्थ था, "अत: "अधिकांश कार्य बड़े लड़के की 'नौ वर्षीया पत्नी' द्वारा किया जाता था।"

आय	पौं.	शि.	पैं.
१. निकट संबंधियों की लड़कियों के वधू-मूल्य का भाग	०	३	०
२. याम की बिक्री	३	०	०
३. नारियल, नारंगी और कोला की बिक्री	०	५	०
४. ज़मीन के किराये की फ़ीस	०	५	०

१८. ए० आई० रिचार्डस्, १९३९, पृ० ३५–३६।

१९. रोज़मेरी फर्थ, १९४३, पृ० १३६; सी० बाग्ले, १९४१, पृ० ५१–५५।

५. ऋणों पर ब्याज	०	१०	०
६. बड़े लड़के से प्राप्त धन	०	१०	०
कुल नक़द आय	४	१३	०

व्यय	पौं.	शि.	पें.
१. पुत्र का एक-चौथाई सरकारी कर	०	१	०
२. स्कूल कर	०	०	६
३. बैण्ड विभाग संघ की सभा में खाई गई गाय की खरीद के लिए दिया गया चन्दा	०	०	२½
४. कमालू देवता की बलि के लिए चन्दा	०	०	२
५. पृथ्वी देवता की वार्षिक बलि के लिए चन्दा	०	०	२
६. घर के लिए खाद्य सामग्री	१	०	०
७. अपने लिए कपड़े	०	४	६
८. मांस, ताड़ी और कोला अतिथियों के स्वागत के लिए	०	५	
९. अपने मां और अपने पिता तथा अन्य निकट संबंधियों की अंत्येष्टि में दिये गये चन्दे	०	५	०
१०. मछली, मांस और मुद्रा उन स्त्रियों के लिए जिन्होंने "अकाल" के समय उसे भोजन दिया था	०	१	६
११. साबुन	०	१	०
१२. सिंगी लगवाई	०	२	०
१३. स्वास्थ्य के लिए बलियां, औषधियां, और रेचक	०	३	०
१४. पूर्वजों, देवताओं और अन्य अलौकिक शक्तियों के लिए पंचांगीय आनुष्ठानिक बलियां	०	४	९
१५. मिट्टी का तेल	०	३	०
१६. तम्बाकू, पोटाश और सूंघनी	०	२	६
१७. झाड़ी और पौधों को साफ करने के लिए किराये के मजदूरों की मजदूरी और भोजन	०	७	०
१८. छोटा लड़का जो भाग गया था उसके विरुद्ध मामले में जुर्माना और खर्चा (जुर्माना २ शि०, अदालत के सदस्यों को रिश्वत १० शि०)	०	१२	०
१९. मांस, ताड़ी और भोजन उन संबंधियों के लिए जिन्होंने उसके लिए काम किया	०	६	०
२०. अपने पुत्र से ब्याही जाने वाली 'पत्नी' के वधू-मूल्य में योगदान	०	१०	०
२१. बड़े लड़के की "पत्नी" की चर्च फ़ीस	०	०	३
कुल नक़द व्यय	४	९	६½

इन मदों के अलावा, कुछ फसलों के गाहने, खाद्यों के विनिमय, सहकारी श्रम और ऐसी ही और चीज़ों से होने वाली मुद्रा-विभिन्न (Non-monetary) आय तथा साथ ही में इस पुरुष द्वारा सुरक्षित खाद्यराशि, कपड़े और व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी इसमें जोड़ देना चाहिए। इन छूटों के बावजूद, "चूंकि जीवन के एक बड़े भाग में एक या अनेक प्रकार से मुद्रा का लेन-देन होता है, अतः यह बजट ईबो व्यक्ति के आर्थिक जीवन में एक अन्तर्दृष्टि ही नहीं देते, प्रत्युत यह उसकी संस्कृति के कई अन्य पहलुओं को भी स्पष्ट करते हैं।"[२०]

अनक्षर लोगों में साधनों का पूंजीकरण (Capitalization) सरल और मुख्यतः स्पष्ट है। औज़ार ही अधिकांश में उनकी पूंजी हैं। बहुत ही निर्धन संस्कृतियों को छोड़ कर अन्य सभी में अधिक स्थायी कार्य मिलते हैं। अधिक जटिल अर्थ-व्यवस्थाओं में समाज के कुछ सदस्यों के हाथों में उत्पादन-वस्तुओं का केन्द्रीकरण सम्भव होता है, इसलिए अपने विशिष्ट अर्थों में "पूंजी" विद्यमान होती है, जैसे कि मुद्रा-पूंजी में ऋण और ब्याज साथ-साथ रहते हैं। मुख्यतः अनक्षर समाजों की पूंजीगत वस्तुओं में भौतिक संस्कृति में सम्मिलित मदों के साथ मेढ़ें, सिंचाई की गूलें और अन्य सार्वजनिक सुधार के स्थायी कार्य भी सम्मिलित होते हैं।

अन्य सभी समाजों की भांति अनक्षर समुदायों में भी **सम्पत्ति** में भूमि, भौतिक वस्तुवें तथा अधिकार जैसी अदृश्य चीज़ें भी सम्मिलित हैं। इस बारे में काफ़ी विवाद रहा है कि क्या इनमें से किसी या सभी के स्वामित्व के बारे में आदिवासियों में आदिकालीन साम्यवाद (Primitive communism) व्यक्त हुआ है या नहीं। पर जांच करने पर पता चलता है कि इन समाजों में स्वामित्व की समस्यायें इतनी भिन्न हैं कि उन्हें ऐसे सरल सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता। जहां भूमि प्रचुर है, वह एक प्रकार की मुफ़्त वस्तु बन जाती है, क्योंकि जहां अभाव नहीं है वहां निश्चित स्वामित्व के विचार को लाने की ज़रूरत नहीं होती। शिकारी और पशुपालक लोगों में भूमि का स्वामित्व प्रायः कभी भी व्यक्तियों के हाथों में नहीं होता, बल्कि किसी एक समूह—एक शिकारी परिवार या गोत्र या कबीले के हाथों में होता है।

अनक्षर समाजों में भूमि के स्वामित्व और सामान्यतः सम्पत्ति के लिए भी यह सूत्र है, कि अधिकार प्रयोग पर आश्रित है। यह सामान्य नियम है कि खेती के अन्तर्गत भूमि दूसरों के दखल से मुक्त है, जबकि व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त या बनाये गये औज़ार, वस्त्र तथा अन्य वस्तुयें सामान्यतः उसी की मानी जाती हैं, चाहे उसके कबीले में यह परम्परा हो या नहीं कि वह अपनी चीज़ों को अपने कबीले के अन्य सदस्यों को प्रयोग के लिए दे या नहीं। जिस तरीके से दुनिया के विभिन्न भागों में पेड़ों को व्यक्तिगत सम्पत्ति माना जाता है, उससे इसे स्पष्ट किया जा सकता है। पौलिनेशिया में नारियल के पेड़; मैक्सिको में आम, नीबू और अन्य पेड़; अफ्रीका में खजूर के पेड़; पूर्वी वुडलैंड क्षेत्र के ओजीबवा द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले मेपल गुड़ के पेड़, सभी अन्य सम्पत्ति की भांति, व्यक्तिगत संपत्ति

---

२०. जे० एस० हैरिस, १९४४, पृ० ३०३–५।

हैं। इस बारे में इस बात का कोई विचार नहीं किया जाता कि जिस ज़मीन पर वे लगे हुए हैं, उसे कौन जोत रहा है। ऐसी सब स्थितियों में जिसने वह पेड़ लगाये हैं, उसे उन तक जाने की अनुमति रहती है और वही उनका मालिक बना रहता है, यद्यपि अब उसके खेत चाहे अन्यत्र क्यों न हों।

सभी समाजों में अदृश्य कोटि में आने वाली सम्पत्ति महत्त्वपूर्ण है। हमारी संस्कृति में पेटेंट, गुडविल और कापीराइट को प्राप्त आर्थिक मूल्य इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। पूर्वी अफ्रीका के परिवारों में लोहे के काम के ज्ञान का कठोर संरक्षण, या अमरीकी इंडियनों के कुछ समाजों में कुछ चिकित्सा-विधियों का कुछ सदस्यों तक सीमित रहना, अनक्षर समूहों में इससे मिलते हुए उदाहरण हैं। अमूर्त सम्पत्ति के अन्य उदाहरणों में ब्रिटिश कोलम्बिया के नूटका लोगों के **टोपाटी** कहे जाने वाले अधिकार हैं—वह परिवार की कहानियों का ज्ञान, मछली भेदने का अनुष्ठान, अनेक प्रकार के प्रतिष्ठित नाम, गणचिह्न अर्थात् टोटम स्तंभों (Totem poles) और समाधि स्तंभों पर विशेष डिजाइन बनाने, कुछ खास गानों के गाने और नृत्यों को नाचने, तथा कुछ अनुष्ठानों के कुछ भागों को कराने के अधिकार हैं।[२१] बहुत-सी मैलिनेशियाई पुरुष सभाओं की सदस्यता एक अन्य ऐसी ही मूल्यवान् वस्तु है जिसे कि पर्याप्त सम्पत्ति खर्च कर प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिणी सागरों में व्यक्तिगत नाम, मंत्र, गीत, तावीज़ और पारिवारिक परम्परायें सभी परिवार की सम्पत्ति में आते हैं।

५

हम देख चुके हैं कि अधिकांश समाजों में दोहरी अर्थ-व्यवस्था है, एक भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए, दूसरी प्रतिष्ठा की इच्छा की पूर्ति के लिए। **प्रतिष्ठागत अर्थ व्यवस्था** (Prestige economy) केवल वहीं चल सकती है जहाँ जीवन की आवश्यकतायें पूरा करने से अधिक उत्पादन होता है। इससे पहले कि हम इसकी प्रकृति और कार्यों की विवेचना करें, हमें उन परिस्थितियों की जांच कर लेनी चाहिए जिनके अन्तर्गत ऐसी अतिरिक्त बचत (Surplus) पैदा होती है।

विभिन्न संस्कृतियों के न्यासों का तुलनात्मक विश्लेषण इस ओर संकेत करता दीखता है कि आर्थिक बचत सर्वप्रथम जन-संख्या के आकार का परिणाम है। आवास की प्रकृति और प्रौद्योगिक क्षमता भी इसमें आ जाते हैं। इस अध्याय के प्रारंभ में उद्धृत तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कठोर वातावरण में रहने वाले बहुत छोटे समाजों में जीवित रहने की समस्या सबसे तीव्र है। इसके विपरीत, जन-संख्या के भरण-पोषण के लिए आवश्यक वस्तुओं से अधिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए अनुकूल आवास में रहने वाले बड़े समूह अपेक्षित होते हैं। इसका अर्थ है कि बड़े समूह अपनी आवश्यकताओं से अधिक प्रति-व्यक्ति उत्पादकता प्राप्त कर लेते हैं, जबकि छोटे समूह ऐसा नहीं कर पाते। इस प्रकार जो अधिक पैदा होता है, वह **आर्थिक आधिक्य या बचत** कहलाता है; गुजारा चलाने के काम से आंशिक छुटकारा दिला कर यह **सामाजिक अवकाश** को जुटाता है।

---

२१. ई० सापिर और एम० स्वदेश, १९३९, पृ० २२२ की टिप्पणी।

जनसंख्या के आकार और अतिरिक्त उत्पादकता के बीच विद्यमान सहसम्बन्ध को ऐसे दो जन-समूहों की तुलना से जो गुजारे के स्तर पर रहते हैं, पर जिनका आवास व संस्कृतियां अन्यथा पर्याप्त सदृश हैं, समझाया जा सकता है, जिससे कि समीकरण (Equation) के अनेक परिवर्तनीय तत्त्वों में से कुछ को स्थिर रखा जा सके। दक्षिण अफ्रीका के बुशमैन और होटेंटॉट दो ऐसे जनसमूह हैं। योरोपीय लोगों के आगमन से पूर्व बुशमैनों की जनसंख्या लगभग दस हजार थी, जो कि छोटे-छोटे कबायली समूहों में बंटी थी। होटेंटॉट की जनसंख्या सन् १६०० ई० में ५०,००० गिनी गई। जैसा पहले बताया जा चुका है, बुशमैन अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न नहीं कर पाते, होटेंटॉट पशुपालक लोग हैं और वह अधिक सुरक्षित आर्थिक स्तर पर रहते हैं। बहुत मामूली अर्थों को छोड़, बुशमैनों में मुखिया नहीं हैं। इसी तरह उनमें पुरोहित और अन्य विशेषज्ञ भी नहीं है, देवताओं के सम्मान में किये जाने वाले आनुष्ठानिक कृत्य भी पर्याप्त सरल हैं। इसके विपरीत, होटेंटॉट गोत्र (Clan) और कबीलों से संयुक्त दलों में संगठित हैं, और प्रत्येक कबीले का अपना मुखिया और सरदार है। मुखिया सामान्यतः समूह का सबसे अधिक सम्पत्ति वाला व्यक्ति था, जोकि जुर्माने कर सकता था और जिन्हें वह फ़ौजदारी तथा दीवानी मामलों में अपने सलाहकारों के साथ बांट लेता था। होटेंटॉट के पास पुरोहित या अन्य विशेषज्ञ नहीं है, किन्तु उनके धार्मिक अनुष्ठानों में कभी-कभी बड़े भोज होते थे।[२२] अमरीकाओं और मैलेनेशिया से अन्य उदाहरण भी उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि जहां आर्थिक बचत नहीं है वहां विशेषीकरण नहीं हो सकता। विशेषीकरण में यह अन्तर्निहित है कि विशेषज्ञ, जो कि तात्कालिक आवश्यकताओं की वस्तुवें नहीं बना रहा है, उसके साथी जो अपनी गुजारे की आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न कर रहे हैं अपनी बचत से उसका काम चलाते हैं, जबकि वह अपनी विशेष दस्तकारी में लगा रहता है।

इस प्रकार भरण-पोषण किये जाने वाले विशेषज्ञ दो उल्लेखनीय प्रकार की सेवायें प्रदान करते हैं, प्रशासनिक कार्य और अलौकिक शक्तियों का नियंत्रण। इसी लिए होटेंटॉट और बुशमैन लोगों की तुलना करते समय यह बताया गया था कि पहले लोगों के पास मुखिया हैं और दूसरे में नहीं। दोनों ही गुजारे के स्तर के इतने निकट हैं कि उनमें से कोई भी पुरोहितों का भार नहीं उठा सकता। पर समृद्ध समाजों में यह दोनों कार्य कुछ समय में क्रमशः पृथक् हो जाते हैं, सिवाय उन स्थानों को छोड़ कर जहां कि पुरोहित-शासक दैवीय अधिकार से कार्यवाहक मुखिया के नाते दोनों कृत्यों को पूरा करता है। हिसाब-किताब की भाषा में इससे पता चलता है कि, गुजारे के खर्च से अधिक आय पर प्रबन्ध और बीमे का भार पड़ता है।

सरकार का खर्च करों से चलाया जाता है और कर सभी शासक-युक्त समाजों में पाये जाते हैं, यद्यपि जाहिरा चाहे उन्हें ऐसा न भी माना जाय। पश्चिमी अफ्रीका के अशांति[२३]

---

२२. आई शंपेरा, १९३०, और अयन्त्र।

२३. आर० एस० रंत्रे, १९२९।

और न्यूप[२४] और डाहोमी[२५] साम्राज्यों तथा दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका के बा वेंडा[२६] और लोसी[२७] लोगों में कर-निर्धारण की निर्दिष्ट कार्यप्रणालियां हैं। स्पेनी साम्राज्य से पहले पेरू और मैक्सिको के शासक कर लगाते रहे हैं, यह बहुत समय से हमें ज्ञात है। प्रशान्त में, जहां कि शासन की संस्थायें कम स्पष्ट हैं, और जीवन-यापन की समस्या अधिक सरल है, वहां ये भागदेय मुखिया के लिए श्रम या नये फल या मछली की पहली पकड़ में से मुखिया शासक का भाग का रूप धारण कर लेते हैं। उत्तरी अमरीका के मूलतः प्रजातांत्रिक इंडियन कबीलों तक में भी कुछ व्यक्तियों को छोटी हैसियत के लोगों से प्रथानुसार उपहार मिलते हैं। दक्षिणपूर्व और उत्तर पश्चिम में जहां कि शासक श्रेणियां भलीभांति स्थापित हैं, यह नियम है कि वे अपने श्रम या फसल का कुछ अंश या शिकार का कुछ भाग ओहदेदार व्यक्तियों को देते हैं।

उन रीतियों को जिनसे कि अलौकिक की सेवा करने वालों को पुरस्कृत किया जाता है, ढूंढना अधिक कठिन है। अल्प विशेषीकृत संस्कृतियों में पुरोहित और शासक के पद का एक होना इस समस्या को और भी जटिल बना देता है। यह भी स्पष्ट है कि वह आधार जिसपर कि पुरोहित की शक्ति अवलम्बित है, शासक से पृथक् है, और यह उसकी सेवाओं के लिए कुछ फ़ीसों को बदले का आवश्यक साधन बना देती है। बहुत बार पुरोहित मुखिया के मातहत होता है, पर प्रायः दोनों मेल से काम करते हैं। घनिष्ठ और स्वार्थयुक्त सहयोग के अनेक उदाहरण पाये गये हैं। उदाहरणार्थ कैलीफ़ोर्निया के योकुट व पश्चिमी मोनो कबीलों में (पुरोहित) उस व्यक्ति के ऊपर, जिसने मुखिया द्वारा आयोजित नृत्य में चन्दा देने से इन्कार किया हो और जिस चन्दे से दोनों को लाभ होता है, बीमारी बुला देता है। या डाहोमी लोगों में पुरोहित देवताओं के क्रोध की घोषणा कर हर आदमी को उसके आधीन बकरियों की संख्या के अनुसार सूक्ष्म चढ़ावे का आदेश देता है। वह शाही कर-संग्रहकर्ताओं को हर गांव में कुल बकरियों की संख्या उपलब्ध कराते हैं जिससे बाद में सही सही कर लगाये जा सकें।

जैसे हम अधिक जटिल अर्थ-व्यवस्थाओं की ओर बढ़ते हैं, हम देखते हैं कि अतिरिक्त साधनों की बांट में अधिक लोग भाग लेते हैं और उनके कार्य भी अधिक भिन्न हो जाते हैं। हमारे जितने बड़े और उत्पादन-क्षम समाजों में या भारत और चीन जैसे देशों में, वितरण की विषमता ऐसे बड़े समूहों की उपस्थिति को सम्भव बनाती है, जिनका प्रमुख पेशा उस अतिरिक्त उत्पादकता का उपयोग है, जबकि दूसरे छोर पर वे लोग हैं जिनका कि गुजारा भी मुश्किल से हो पाता है।

हम पूछ सकते हैं कि इससे लाभान्वित होने वाले इस बचत का क्या उपयोग करते हैं? इन व्यक्तियों के आर्थिक कार्यों के पीछे कौन-सी प्रेरणायें हैं? थौर्सटीन वेबलन ने

---

२४. एस० एफ० नाडेल, १९४२।
२५. एम० जे० हर्सकोविट्, १९३८।
२६. एच० ए० स्टाइट, १९३१।
२७. एम० ग्लकमैन, १९४३।

इस समस्या का शास्त्रीय अध्ययन किया है। उसने विश्लेषण कर बताया है कि "उपभोग में विभेदीकरण आर्थिक शक्ति के साक्षी के तौर पर वस्तुओं के विशेषीकृत उपभोग" द्वारा संभव होता है। बहुत-से समाजों में इस प्रक्रिया ने ऐसे विशेषज्ञों को पैदा किया है जिन्होंने वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग की प्रविधियों को ऐसे विकसित किया है कि उनके सामाजिक-आर्थिक (socio-economic) कार्यों का यह पहलू एक कला और अपने आप में एक लक्ष्य बन गया है। इस प्रक्रिया को वेबलन ने "दर्शनीय या दिखावटी उपभोग" (Conspicuous consumption) कहा है। यह वाक्यांश मानव समाज की एक सार्वभौम प्रक्रिया को संक्षेप में अच्छी तरह व्यक्त करता है और रोज़मर्रा की बोल-चाल का एक अंश बन गया है।

"दर्शनीय या दिखावटी उपभोग" की कल्पना प्रतिष्ठागत अर्थशास्त्र में अन्तर्निहित मनोविज्ञान को समझने में गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। आर्थिक बचत को दो तरीक़ों से बांटा जा सकता है। सामाजिक अवकाश को सारी जनसंख्या में बांटा जा सकता है और इस प्रकार सभी सदस्यों को शारीरिक श्रम के कुछ अंश से जो कि वे अन्यथा फसल उगाने, भट्टी जलाने और गुजारे की अर्थ-व्यवस्था को चलाने में लगाते हैं, छुटकारा दिलाया जा सकता है। या इसे उन समृद्ध पेशों में केन्द्रित किया जा सकता है जिनमें व्यक्ति दूसरों द्वारा पैदा की गई बचतों को अपनी हैसियत बनाये रखने के लिए यथासम्भव खूब दिखा कर खर्च करते हैं, और उनसे ऐसी ही आशा भी की जाती है। **तादात्मीकरण** (Identification) की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें इस प्रकार कार्य करती हैं कि जो व्यक्ति आर्थिक बचत को पैदा करने वाले होते हुए भी उसमें भागीदार नहीं होते, वही इस दिखावटी खर्च पर क्रुद्ध होने के बजाय उससे संतोष पाते हैं।[२८]

अनक्षर समाजों में इस प्रक्रिया के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐतिहासिक संस्कृतियों में वेबलन की व्याख्या यह दर्शाती है कि किस प्रकार अधिक उत्पादन से उपभोग अधिक दिखावटी हो जाता है, जैसे कि एक राजा के राज्याभिषेक या करोड़पति की कन्या के रंगमंच पर पहली बार उतरने के अवसर पर। "गौडलकैनाल में सामाजिक उन्नति" एक निबन्ध का अर्थपूर्ण शीर्षक है,[२९] जिसमें कि एक व्यक्ति के मामूली हैसियत से समुदाय के नेता पद तक उठने पर भोजन के व्यय का विस्तृत ब्यौरा दिया गया है। हम इस विवरण में देखते हैं कि किस प्रकार वह अपनी पत्नियों और सम्बन्धियों के साथ उन साधनों का संग्रह करता है जो कि अधिक अनुकूल सामाजिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए पारस्परिक भोजों में अधिकाधिक योगदान को अनिवार्य बना देते हैं। फिर जब वह उस स्थिति में आ जाता है, वह ऐसा भोज देता है जिसमें भोजन के उपहार इतने प्रचुर होते हैं कि मूलनिवासियों के शब्दों में, "हम इतना खाते हैं कि जी मिचलाने लगता है और उलटी करनी पड़ती है।" यह भोज यदि अन्य भोजों की तुलना में पर्याप्त शानदार होता है तो वह उसकी उन्नति की इच्छित मंज़िल पर पहुँचने का सूचक है, और जहां पर

२८. टी० वेबलन, १९१५, और अन्यत्र।
२९. एच० आई० हॉगबिन, १९३७–३८।

वह तबतक कायम रहता है जबतक कि वह उपहारों को देने और लेने की उस प्रक्रिया को जारी रख सकता है जो कि एक सम्मानित स्थिति के व्यक्ति की निशानी है।

क्वेक्यूतल पोटलाश में अक्षरशः हज़ारों कीमती कम्बल जलाये जाते थे, अनेक नौकायें टूट जाती थीं और मुखिया की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए एक दास का वध किया जाता था। अफ्रीका में एक उच्चवर्गीय व्यक्ति की अंत्येष्टि में परिवार के कर्ता या मुखिया की समाधि पर रखी गई वस्तुएं, या परिवार के बाहर के लोगों को दी गई या नष्ट की गई वस्तुयें पर्याप्त बड़ी सम्पत्ति होती थीं। समोआ के मुखियाओं के घर अपने मालिकों की हैसियत को बनाते हैं। मकानों की शानशौकत इस बात पर निर्भर थी कि उसके निर्माताओं ने उसके बनाने में लगे लोगों को कितनी अच्छी तरह खिलाया-पिलाया। वस्त्रों के भेद जिनसे कि पद का पता चलता है, आम तौर पर प्रचलित हैं। अशान्ति मुखिया विधिवत् एक कीमती और विशेष नमूने का सिल्क का कपड़ा पहनता है, जबकि सामान्य व्यक्ति सूती वस्त्र पहनता है। धार्मिक अनुष्ठानों का आडम्बर भी दिखावटी उपभोग का एक अंश है और अतिरिक्त वस्तुओं की उन लोगों के पास उपस्थिति को व्यक्त करता है जो कि संस्कृति के इस पहलू को नियंत्रित करते हैं।

प्रतिष्ठागत अर्थ-व्यवस्था (Prestige economy) वह प्रणाली है जिसमें बचत की अपेक्षा व्यय से लाभ प्राप्त होता है और उच्चतम स्थान उन लोगों के लिए संरक्षित होता है जो कि अल्प-अधिकार युक्त व्यक्तियों के अंशदान को देने वालों के परोक्ष आनन्द के लिए खूब दिखाकर खर्च करते हैं। यह तथ्य इतना विस्तृत है कि यह मानव अनुभव का प्रायः सार्वभौम तत्त्व बन गया है और वह संस्कृति की प्रकृति और उसके कार्य और उससे भी आगे बढ़कर मानव मनःस्थिति पर प्रकाश डालता है। हम कह चुके हैं कि प्रत्येक जनसंख्या की अपनी प्रौद्योगिक क्षमता से अधिक आवश्यकतायें होती है। इस सम्बन्ध में अधिक साक्षियां जटाने की जरूरत नहीं, कि यह आवश्यकतायें संस्कृति द्वारा निर्धारित होती हैं, उनका प्राणिशास्त्रीय शरीर से या अपनी प्राकृतिक पृष्ठभूमि से दूर का ही सम्बन्ध होता है। उनकी युक्ति-युक्तता रूढ़ि की है, उनकी स्वीकृति पूर्णतः परम्परा की है।

६

इस सब का सीधा प्रभाव आर्थिक निर्णायकवाद (Economic determinism) की एक बहुचर्चित समस्या पर पड़ता है। यहां हम तीन निर्णायकवादी सिद्धान्तों में से जोकि संस्कृति के अध्ययन का हिस्सा बन गये हैं, आखिरी सिद्धान्त पर विचार करेंगे। यह स्मरण होगा कि इनमें पहला प्राणिशास्त्रीय और दूसरा वातावरणीय निर्णायकवाद था। आर्थिक निर्णायकवाद की समस्या विशेष रूप से इसलिए भी धुन्धली पड़ गई है कि इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा से पृथक् नहीं किया गया है। यह दोनों ही कार्लमार्क्स की रचनाओं से निकली हैं। मार्क्स ने स्वयं इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया, किन्तु इस अवधारणाओं को एक ही वाक्य में व्यक्त कर दिया है "भौतिकजीवन में उत्पादन की पद्धति जीवन की सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है।" यही **आर्थिक निर्णायकवाद**

है। "मनुष्यों की चेतना उनके जीवन-क्रम को निर्धारित नहीं करती", और वह आगे कहता है, "किन्तु इसके विपरीत, उनका सामाजिक जीवन उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[३०] यह **ऐतिहासिक भौतिकवाद** (Historical materialism) है। यह देखना कठिन नहीं कि दूसरा सिद्धान्त संस्कृति के सभी वैज्ञानिक अध्ययनों में अन्तर्हित है, जबकि पहला उसी स्थिति को घोषित करता है जिसके विरुद्ध वही आलोचना जो कि किसी भी अन्य मानव सामाजिक जीवन की जटिलताओं की सरल व्याख्या के विरुद्ध की जा सकती है, की जायेगी।

यदि अकेली प्रतिष्ठागत अर्थ-व्यवस्था में नहीं, तो गुजारे की अर्थ-व्यवस्थाओं में असंख्य उदाहरण आर्थिक निर्णायकवाद की स्थिति का खंडन करते हैं। जैसे भारत में त्रावणकोर के कबीलों में उराली लोगों के धार्मिक अनुष्ठानों की कठोरता, उन्हें अपने पड़ौसी पलियन और मन्नन की अपेक्षा, जिनके अनुष्ठान आकस्मिक और अव्यवस्थित हैं, अधिक सफल किसान बनाती है।[३१] डाहोमी लुहारों की उत्पादकता को पर्याप्त बढ़ाया जा सकता है यदि लोहे के देवता के लिए प्रत्येक चौथे दिन के बजाय आठवां दिन सुरक्षित रखा जाय। नवाहो इंडियनों के भौतिक साधन अधिक होते यदि पुरुष की मृत्यु होने पर उसका घर और निजी वस्तुएँ न जलाई जातीं।

यह उस भूमिका से इन्कार करना नहीं है, जो कि अर्थ-व्यवस्था और उसका प्रौद्योगिक आधार लोगों की जीवन रीति को ढालने में अदा करता है। यह भूमिका उन समूहों में, जो छोटे हैं, और जिनका प्रोद्योगशास्त्र सरल है, साधन अल्प हैं और जीवित रहने की समस्या सर्वप्रधान है, बहुत बड़ी है। किन्तु ऐसे बहुत-से समाज हैं जिनकी प्रबल प्रवृत्तियां जीवन के गैर-आर्थिक पहलुओं में सन्निहित हैं, और यह पहलू संस्कृति के उस आर्थिक आधार को प्रभावित करते हैं, जिसके बिना कोई मानव-कर्म सम्भव नहीं हैं।

---

३०. जी० डी० एच० कोल द्वारा उद्धृत, १९३३, पृ० १६।
३१. डी० जी० मंडलबॉम, १९३९।

अध्याय दस

सामाजिक संगठन और शैक्षणिक कार्य

सामाजिक संगठन उन संस्थाओं को व्यक्त करता है जो कि समाज में स्त्री और पुरुषों की स्थिति को निर्धारित करती हैं और इस प्रकार उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों को एक दिशा प्रदान करती है। जैसा कि ऐगन ने कहा है :

"इन सम्बन्धों को व्यक्तियों या प्रतिनिधित्व किये गये समूहों और अन्तर्गत सम्बन्ध के रूप के अनुसार लक्षित किया जाता है......व्यक्तियों और समूहों के यह सामाजिक सम्बन्ध एक ताना-बाना तैयार करते हैं जिसे कि हम सामाजिक संरचना,समाज का संगठनात्मक या संरूपात्मक (Configurational) पहलू कह सकते हैं। संस्थाओं में दोनों पहलू सम्मिलित हैं : वे सामाजिक संरचना में संगठित व्यक्तियों से,जिनके निश्चित गुण और व्यवहार प्रतिमान (behaviour patterns) हैं और जिनके द्वारा संरचना स्पष्ट होती है और संस्थात्मक उद्देश्य पूरे होते हैं, मिलकर बनी हैं।"[1]

सामाजिक संगठन के अध्ययन पर प्रारम्भिक मानवशास्त्र में अधिक ज़ोर दिया जाता था और इंग्लैंड में इसने "तुलनात्मक समाजशास्त्र" को जन्म दिया। ए० आर० रेडक्लिफ़-ब्राउन के प्रभाव में सामाजिक संस्थाओं और उनके कृत्यों का यह अध्ययन विशेष रूप से इंग्लैंड में **'सामाजिक मानवशास्त्र'** के उपशीर्षक के अन्तर्गत विकसित हुआ और बाद में उसका सम्बन्ध प्रायः केवल सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन से ही रह गया। सामाजिक मानवशास्त्री फर्थ ने "सामाजिक संगठन" शब्द की परिभाषा इस तरह की है, कि "यह चुनाव और निर्णय के कार्यों द्वारा सामाजिक सम्बन्धों का क्रमबद्ध व्यवस्थापन है।"[2] इस दृष्टि से सामाजिक संगठन सामाजिक संरचना का गतिशील पहलू है, "समाज की निरन्तरता का सिद्धांत है।" फर्थ का मत, यद्यपि संस्कृति के सामाजिक पहलुओं के अधिकांश विद्वानों से भिन्न है, तथापि समाज के विद्यार्थियों द्वारा चिरकाल से स्वीकृत सामाजिक संरचना (Structure) और कृत्य के अन्तःसम्बंध को मूलतः पुनर्व्यक्त और स्पष्ट करता है, यद्यपि अन्य सब सामाजिक मानवशास्त्रियों की भांति उसकी संगठनात्मक अवधारणा समाज है, संस्कृति नहीं।

सामाजिक संगठन को प्रायः संस्थाओं के दो विस्तृत वर्गों में अध्ययन करने की प्रथा है—एक वह जो रिश्तेदारी (kinship) से पैदा होते हैं और दूसरे वह जो व्यक्तियों के स्वतंत्र मेल-जोल का परिणाम हैं। रिश्तेदारी की संरचनाओं में परिवार और इसके विस्तृत सम्बन्धी-समूहों के विस्तार, जैसे कि गोत्र (Clan), सम्मिलित हैं। उन

---

१. एफ० ऐगन, १९५०, पृ० ५।
२. रेमण्ड फर्थ, १९५१, पृ० ४०।

व्यक्तियों का साहचर्य जो रिश्तेदार नहीं हैं, अनेक रूपों को जन्म देता है जो कि सगे भाई-चारे और संस्थागत मैत्री से लेकर गुप्त और प्रकट विभिन्न प्रकार की "समितियों" में व्यक्त होते हैं। आयु-समूह जो कि प्राय: अनौपचारिक होते हैं, उन समाजों में जहां उनका औपचारिक स्थान है, महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। इससे भी विस्तृत अर्थों में, सामाजिक संरचनाओं में स्थान व पद (Status) पर आधारित राजनैतिक प्रकार के सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं। विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के विशेषत: परिवार के शैक्षणिक कृत्य विशेष महत्त्व के हैं।

इस अध्याय में हम उन संस्थागत रीतियों पर, जिनमें कि मानव समूह संगठित हैं और कार्य करते हैं, विचार करेंगे। रूढ़ि से स्त्री-पुरुष किस भांति अपने जीवत-साथियों को खोजते हैं, वह नियम जिनके अनुसार विवाह करने की अनुमति है और तज्जनित पारिवारिक संरचनायें—यह हमारी चर्चा के लिए बुनियादी हैं। किस प्रकार यह प्राथमिक समूह विस्तृत इकाइयों में फैल जाते हैं, यह हम पहले ही बता चुके हैं, और इन बड़ी संरचनाओं के क्या स्वीकृत आदेश हैं, इस पर भी हम विचार करेंगे। आयु और मुक्त साहचर्य पर आधारित गैर-रिश्तेदार श्रेणियों पर भी हम ध्यान देंगे। अन्तत: हम बच्चों के प्रशिक्षण और उन्हें समाज का कारगर सदस्य बनाने में इन सब सामाजिक इकाइयों के प्रभाव पर भी विचार करेंगे। संस्कृति के अन्य पहलूओं की भांति इनमें भी हम सामान्य लक्ष्यों को पाने के लिए विभिन्न साधनों को अपनाया जाता हुआ देखेंगे। पर हम यह भी ध्यान में रखेंगे कि इन लक्ष्यों पर पहुंचने में उनके द्वारा, जो कि प्रत्येक समाज में अपनी संस्कृति के अनुसार एकीकरण (Integration) प्राप्त करते हैं किस प्रकार तर्क और नियमित संगति का बलिदान नहीं किया जाता।

२

प्राणिशास्त्रीय और सामाजिक परिवार दो पृथक् इकाइयां हो सकती हैं। प्राणिशास्त्रीय तथ्य तो सरल है—दो माता-पिता मिलकर संतान उत्पन्न करते हैं और हरेक पीढ़ी के बढ़ने से पूर्वजों की संख्या दुगुनी होती जाती है। कुछ समाज इस तथ्य को जिसे कि पारिभाषिक शब्दों में **दो तरफा** वंश (Bilateral descent) कहते हैं, संस्थागत रूप देते हैं। पर अधिकतर वंश **एकतरफा** रीति के अनुसार गिना जाता है, जिसमें व्यक्ति या तो अपने पिता या अपनी माता के परिवार का माना जाता है। पहली अवस्था में वंश **पितृवंशीय** (Patrilineal) और दूसरी में **मातृ-वंशीय** (Matrilineal) कहलाता है। दोनों ही उदाहरणों में वंश बताते समय प्रत्येक पीढ़ी में सिर्फ एक महत्त्वपूर्ण पूर्वज गिनाया जाता है।

उन संस्कृतियों में भी जहां दो तरफ़ा प्रणाली प्रचलित है, पूर्वजता (Ancestry) को प्राणिशास्त्रीय यथार्थता के अनुसार नहीं गिना जाता। उदाहरण के तौर पर यूरोपीय-अमरीकी वंश की रूढ़ियां दो तरफ़ा हैं, चूंकि इनमें माता और पिता दोनों के परिवारों से रिश्तेदारी स्वीकार की जाती है, पर जहां तक पारिवारिक नामों का सम्बन्ध है, वहां इस प्रणाली की भावना पितृ-वंशीय है। स्पेन और अन्यत्र कुछ उच्च श्रेणियों में दोनों नामों को मिला कर देने की प्रथा है, किन्तु यह एक-दो पीढ़ी तक ही कायम रहती है। हमारी

वंश प्रणाली का यह एक तरफ़ा पहलू यद्यपि वंशावलि (Geneology) के पहचानने में सुविधाजनक है, पर यह हमारी पूर्वजता में स्त्री पूर्वजों के योगदान को छिपा देता है, जिनके "कुंवारे नाम" जैसा कि हम उन्हें कहते हैं, विवाह होने पर छोड़ दिये जाते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि वंश की विभिन्न परम्परायें परिवार के सदस्यों के मनोवैज्ञानिक व सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। हमारी पारिवारिक परम्परा का एक पहलू पिता की भूमिका है। उसे समाज का पुरोहित कहा जाता है, वह परिवार का कर्ता, उसका भाग्य विधाता और कुछ देशों में इसके आर्थिक साधनों का नियन्ता है। बच्चों के अनुशासन में उसकी आखिरी अदालत की हैसीयत महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं सब कारणों से वह अपनी संतानों और पितृपक्ष के रिश्तेदारों से एक इस प्रकार के सम्बन्ध से सम्बन्धित है, जो कि उसकी पत्नी से भिन्न है। घर के बाहर वह प्रथानुसार समूह के लिए बोलता है; पर उसके अन्दर चरित्र की दृढ़ता के अन्तरों को ध्यान में रखते हुए पत्नी की भूमिका मृदु और कोमल है।

मातृवंशीय वंश-समूह का संगठन और कार्य और उसके सदस्यों के बीच विद्यमान सम्बन्ध सर्वथा भिन्न होते हैं। जहां मातृवंशता प्रचलित है वहां सामान्यतः पिता के बजाय माता का भाई परिवार का कर्ता होता है। कुछ दशाओं में मातृवंशीय परम्परा मातृस्थानीय (Matrilocal) निवास से भी सम्बद्ध होती है, इसके अन्तर्गत पुरुष अपनी पत्नी के गांव में रहने लगता है। जब पत्नी अपने पति के घर रहने जाती है तब उसे पितृस्थानीय (Patrilocal) निवास कहते हैं। जहां मातृस्थानीय निवास मातृवंशता के साथ जुड़ा हुआ है, वहां परिवार में स्त्री की प्रधानता का विचार इतना प्रबल हो सकता है कि पति को पत्नी के परिवार में एक बाहर का आदमी समझा जाय, और जैसा कि जूनी-इंडियनों में होता है, उसे उसमें उपेक्षित रहना पड़े। इन लोगों के मन में सारे जीवन के लिए पुरुष का घर उसकी मां का और मृत्यु के बाद उसकी बहनों का है। जिसे कि हम "उसका अपना घर" कहते, जहां कि उसकी पत्नी और बच्चे रहते हैं, उसमें उसकी कोई हैसियत नहीं है, सिवाय इसके कि जो हैसियत उसे दीर्घकाल तक रहने और पत्नी के रिश्तेदारों द्वारा उसे प्राप्त सम्मान के कारण, प्राप्त है। यह स्पष्ट है कि परिवार के भीतर के सम्बन्ध इस सबसे अत्यन्त प्रभावित होते हैं। पितृ-वंशीय समाजों में पारिवारिक कर्ता की हैसियत से पिता के जो कार्य होते हैं, मातृ-वंशीय प्रथा में वह माँ के सब से बड़े भाई मामा के पास चले जाते हैं। माता का सबसे बड़ा भाई परिवार के आय-व्यय का नियंत्रण करता है, परिवार का प्रतिनिधित्व करता है और बच्चों पर अपनी सत्ता रखता है।

इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि पिता, माता और बच्चों का समूह सार्वभौम है। कुछ उन ऐसी स्थितियों में भी जहां कि संतति उत्पादन में पिता की शरीर-शास्त्रीय (Physiological) भूमिका को नहीं समझा जाता, वहां भी तात्कालिक परिवार-समूह समाज का पूर्णतः कार्य करने वाला अंग है। इसके अलावा, वंश की चाहे कोई भी एकरेखात्मक (Unilinear) रूढ़ि प्रचलित हो, ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो कि असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध करती है कि माता-पिता और उनके परिवार की चाहे जिस

प्रकार भी परिभाषा की जाय, परिवार-समूह के सदस्यों की दृष्टि में उन्हें पूरा सम्मान मिलता है। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया के उन भागों में जहां पितृवंशीय परम्परा मिलती है, वह बन्धन जो कि एक बच्चे को अपनी माता के साथ उसके पिता से किसी अंश में भी कम नहीं बांधते, समान-वंशीय (Collateral) रिश्तेदारों तक विस्तृत होते हैं।

"चूंकि बच्चे और माता के बीच घनिष्ठ बन्धन है और माता और उसके भाई के बीच दूसरा बन्धन है, बच्चा माता के भाई के घनिष्ठ व्यक्तिगत संपर्क में आता है। इस माता के भाई को किसी प्रकार पिता या पिता के भाई के तुल्य नहीं समझा जाता, प्रत्युत उसे एक प्रकार की नर-"माता" समझा जाता है। इसी तरह पिता की बहिन को एक प्रकार का स्त्री-"पिता" समझा जाता है। आस्ट्रेलिया के सभी कबीलों में व्यक्ति के जीवन में असली मां के भाई और असली पिता की बहिन का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसे पूरी तरह समझकर ही इस सम्पूर्ण प्रणाली को ठीक तरह समझा जा सकता है।"[3]

तात्कालिक परिवार **एकविवाही** (Monogamous) या **बहुविवाही** (Polygamous) हो सकता है। फिर भी ऐसा कोई समाज नहीं जिसमें बहु-विवाह स्वीकृत होने पर भी अनेक एकविवाही परिवारों की संख्या न हो, और ऐसे एक-विवाही समाज नहीं जिनमें कि कुछ स्थायी बहुविवाह विद्यमान न हों, जिन्हें कि योरोपीय-अमरीकी संस्कृति में कानून से बाहिर विवाह कहा जाता है।

बहुविवाह स्वीकार करने वाले समाज में प्राणिशास्त्रीय और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुविवाही परिवारों का विस्तार कम ही रहता है। उन स्थितियों को छोड़, जहां बाल-वध प्रचलित है, स्त्री-पुरुषों की संख्या की समता बहुत कम व्यक्तियों को ही बहुविवाह की अनुमति देती है। अन्यथा एक लिंग का बहुत बड़ा अनुपात विवाहित होने के सभी अवसरों से वंचित रह जाय, और यह स्थिति किसी भी अध्ययन की गई संस्कृति में नहीं पाई गई है। जहां बाल-वध प्रचलित है, वहां भी विवाह का व्यय, अधिकांश व्यक्तियों को एक से अधिक साथी के व्यय का भार वहन करना कठिन बना देता है। इसी कारण उन समाजों में जिनमें बहुत कम अतिरिक्त उत्पादन होता है एक विवाह प्रचलित है, चाहे यह विवाह का अपेक्षित रूप न भी हो।

बहुविवाही विवाह दो प्रकार के होते हैं, **बहु-पत्नीक** (Polygynous) जहां एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं और **बहुपतिक** (Polyandrous) जहां एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं। बाद का प्रकार पूर्ण संस्थागत रूप में भारत के कुछ आदिवासी कबीलों, जैसे कि खस और टोडा, और तिब्बत तक सीमित है। बहुपति-प्रथा का सर्वाधिक ज्ञात उदाहरण टोडाओं का है जो कि बालिकाओं का वध करते हैं और इस प्रकार स्त्री पुरुषों की संख्या में कृत्रिम भेद उत्पन्न करते हैं। यहां एक स्त्री किसी पुरुष से विवाह करने पर उसके सभी भाइयों की पत्नी हो जाती है; यदि यह बाल-विवाह है तो बाद में पैदा होने वाले भाइयों को भी उसका पति बनने का अधिकार रहता है। पत्नी के गर्भवती होने पर सबसे बड़ा भाई रस्मानुसार उसे एक धनुष बाण देता है और "सभी

---

३. ए० आर० रेडक्लिफ-ब्राउन, १९३१, पृ० १००।

सामाजिक उद्देश्यों" के लिए बच्चे का पिता बन जाता है और अपनी मृत्यु के बाद भी उस सांझी स्त्री से पैदा होने वाले बच्चों का "पिता" रहता है जबतक कि दूसरा पति उसे धनुष बाण देने की रस्म अदा नहीं करता।[४]

बहुपत्नी प्रथा संसार के सभी भागों में विद्यमान है, यद्यपि आर्थिक कारकों (जो कि बहु-पतिक विवाहों में लागू नहीं दीखते) और स्त्री-पुरुषों की संख्या में द्रष्टव्य भिन्नता के अभाव के कारण, विभिन्न बहुपत्नीक समाजों में इन बहुविवाहों का विस्तार बहुत भिन्न-भिन्न है। यद्यपि बहुविवाहों में व्यक्तिगत समायोजन और मेल की समस्या प्रधान है, फिर भी जैसा कि एक-विवाही प्रथाओं के अन्तर्गत रहने वाले समझते हैं, उससे उनमें बहुत कम संघर्ष हैं। पहली पत्नी अपने पति को घर में एक नई पत्नी लाने के लिए प्रेरित करती है, चूंकि इससे परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसे घरेलू कामों में सहायता और मैत्री मिलती है। बहुत-से समाजों में संघर्ष इस रीति से भी कम हो जाता है, कि हर पत्नी का अपना अलग रहने का घर होता है जिसमें वह अपने बच्चों के साथ रहती है। ऐसी दशाओं में पति बारी-बारी से अपनी पत्नियों के साथ रहता है या वही बारी-बारी से उसके पास जाती हैं।

विवाह में अनिवार्यतः गंभीर व्यक्तिगत मेल-जोल की ज़रूरत पड़ती है, केवल नये दायित्व ही वहन नहीं किये जाते, प्रत्युत एक दूसरे व्यक्ति के साथ नया और अन्तरंग साहचर्य स्थापित किया जाता है। बहुत-से समाजो में विवाह से पूर्व परीक्षण की अनुमति देकर व्यक्तिगत मेल-जोल और निभाव को आसान बना दिया जाता है। कुछ जगह बड़े पैमाने पर परीक्षण स्वीकार किया जाता है, जैसे कि पूर्वी अफ्रीका के मसाई लोगों में। अन्य समाजों में जबतक कि लड़की के बच्चा नहीं हो जाता, विवाह नहीं किया जाता।

जीवन साथी के परिवार के साथ, जिसका कि विवाह होने या न होने के निर्णय में निर्णायक मत रहता है, नये प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना भी ज़रूरी हो जाता है। स्त्री या पुरुष और सास या ससुर के बीच प्रचलित व्यवहार अनेक मिथ्या मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं का विषय रहे हैं। सास के टैबू की गलत व्याख्या इसका एक उदाहरण है। वर्जन (Avoidance), जिसमें अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक होता है कि, यदि पुरुष को रास्ते में उसकी सास मिल जाय तो वह अपनी पीठ फेर ले और वह एक घर में कभी उसके साथ न रहे या उससे सीधे बातचीत न करे, इसे प्रायः नाराजगी का व्यवहार समझा जाता है; जबकि वस्तुतः यह रूढ़ियां सम्मानसूचक हैं। इसके अतिरिक्त क्या इस प्रकार अज्ञात रूप से शत्रुता की वृद्धि होती है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इसके समर्थन के लिए तर्कपूर्ण युक्ति दी जा सकती है। अनक्षर समूहों में बहुत पाये जाने वाले साले और सालियों के बीच विद्यमान मजाकिया सम्बन्धों के अर्थ के बारे में, विशेष कर जहां **देवर-विवाह** (Levirate) या **साली-विवाह** (Sororate) पति व पत्नी की छोटी बहनों व भाइयों को जीवन साथी बनाते हैं, बहुत-सी कल्पनायें की गई हैं।

---

४. डब्ल्यु० एच० आर० रिवर्स, १९०६, पृ० ५१६-१८।

स्थानीय और रिश्तेदारी के सम्बन्ध जीवन साथी के चुनाव को नियंत्रित करते हैं। चूंकि प्राय: अनक्षर समाजों में ऐसे मामले विस्तृत रिश्तेदारी के नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं, उनकी चर्चा बाद के अध्यायांश के लिए स्थगित करना उचित होगा। विवाह में चुनाव के विषय में रीतियों के भेदभाव का ख्याल किये बिना, यह कहना होगा कि विवाह पर आधारित होने के कारण सभी समाजों में परिवार के अन्दर एक स्थिरता मिलती है, जिसका यह अर्थ है कि **समाज द्वारा स्वीकृत विवाह स्थायित्व के आधार पर किये जाते हैं।**

३

एकवंशीय वंश-प्रणालियां केवल पूर्वजता और सम्बन्धों को बताने की रीति को ही सरल नहीं बनाती, बल्कि वह एक केन्द्रीय (Nuclear) परिवार समूह को, दो तरफ़ा समूहों में प्रचलित रिवाज़ की अपेक्षा रिश्तेदारी के विस्तृत प्रसंग में रखना सुविधाजनक बनाती हैं। रेखाचित्र २२ पांच पीढ़ियों में मातृवंशीय रिश्तेदारी समूह के सम्बन्धों की शाखाओं को दिखाता है। कर्त्ता (Ego), एक पुरुष, अपनी मां (१७), द्वारा अपना वंश ढूंढ़ता है, उसकी मां की मां (६) और उसकी मां की मां की मां (४), यहां तक यह वंशावलि हमें ले जाती है। उसकी एक बहन (३३) है और एक छोटा भाई (३५) है: उसकी बहन के बच्चे (५३–५४) उसके नियंत्रण में हैं, किन्तु वह अपने भाइयों के बच्चों (५५–५६) से बिलकुल सम्बन्धित नहीं है। उसकी मां की बहिन (१८) और उसकी मां की मां की बहन (१०) उससे वैसे ही सम्बन्धित हैं, जैसे उनके स्त्री-पक्षीय वंशज—अर्थात्, उसकी मां की बहन की लड़कियां (३७ और ३६; ५७, ५८, ५६ और ६०) किन्तु इस स्त्री के पुत्र की संतान (४१; ६१ और ६२) नहीं। इसी प्रकार (१०) से निकले समानवंशीय (Collaterals) उसके सम्बन्धी-समूह के सदस्य हैं।

हमारे चार्ट का अध्ययन यह दर्शाता है कि वंश (Descent), विवाह-बन्धन, पीढ़ी, आयु और ऐसे ही अन्य सभी तथ्यों को पृथक् रिश्तेदारी के नामों से बताना, यदि असम्भव नहीं तो बहुत बोझल अवश्य है। फिर हरेक व्यक्ति की अपनी प्रणाली, चाहे वह बाहर वाले को कितनी ही पेचीदा क्यों न लगे, बहुत स्पष्ट, तर्कसंगत और सरल लगती है। हम भी इसके अपवाद नहीं हैं, फिर भी हमारी रिश्तेदारी की नामावलि के बहुत-से पहलू एक क्रो-इंडियन या आस्ट्रेलियावासी या पूर्वी अफ्रीका के वांदाऊ को परेशान कर देंगे। एक व्यक्ति का पुल्लिग जनक (१६) 'पिता' है, स्त्री-लिंग जननी (१७) 'मां' है। यह नाम निश्चित हैं और केवल एक व्यक्ति पर लागू होते हैं। पर जब हम 'पितामह' (Grandfather) कहते हैं तो क्या उसका अर्थ 'पिता के पिता' से है या 'माता के पिता' से? यहां वंश की उपेक्षा की गई है, जैसे कि अन्य कई प्रयुक्त नामों में आयु की की-जाती है। 'भाई' का अर्थ है मेरे माता और पिता का पुल्लिग बच्चा; हम आयु भेद को बता कर नाम नहीं देते कि क्या 'भाई' कहा जाने वाला व्यक्ति विशेष, कहने वाले व्यक्ति से पहले पैदा हुआ है या बाद में। पर बहुत-से लोगों में इस भेद को बताना महत्त्वपूर्ण है। हमारा अंग्रेज़ी नाम 'कज़िन' विभिन्न लिंग, आयु और पीढ़ी के व्यक्तियों के इस समूह को इतनी दूर तक ले जाता है कि हम स्वयं उसे बहुत झंझट और भ्रम पैदा करने वाला पाते हैं।











स्त्री पुरुष

कर्ता का परिवार

कर्ता की पत्नी का परिवार

असम्बन्धित

चित्र २२—मातृवंशीय वंश प्रणाली के अन्तर्गत रिश्तेदारी-सम्बन्ध । आकृतियों को मिलाने वाली पड़ी रेखायें एक पीढ़ी में रक्त सम्बन्ध को दिखाती हैं । दुहरी रेखायें विवाह की सूचक हैं । संख्यायें संदर्भ के अन्तर्गत विवरण [redacted] निर्देश करती हैं ।

मानवशास्त्री अनेक उद्देश्यों से रिश्तेदारी की नामावलि का अध्ययन करते हैं, इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रिश्तेदारी-नामों के सूचीकरण और विभिन्न नामों से पहचाने जाने वाले लोगों के अधिकार व कर्त्तव्यों के विश्लेषण द्वारा प्राप्त होने वाली वह अन्तर्दृष्टि है जो कि व्यवहार को नियंत्रित करने वाली सामाजिक संरचना को समझने के लिए ज़रूरी है।

एकतरफ़ा रिश्तेदारी-नामावलि के सबसे अधिक प्रचलित रूपों में से अन्यतम वर्गीकरण (Classificatory) प्रणाली है, जिसमें पीढ़ी प्रधान है और सम्बन्ध की निकटता या दूरी गौण है। हमारे रेखा-चित्र में इस प्रणाली के अन्तर्गत कर्त्ता अपनी नानी की बहन (१०) को उसी नाम से पुकारता है जिस नाम से कि वह अपनी नानी (९) को; वह अपनी मां की बहन (१८) को और अपनी मां की मां की बहन (१०) की लड़की (२२) को भी "मां" कहता है। उसकी "नानियों" की सभी लड़कियां उसकी "मातायें" और उसकी माताओं के सभी बच्चे उसके "भाई व बहनें" हैं। अर्थात् वह सिर्फ ३३ को ही "बहन" नहीं, बल्कि ३७, ३९ और ४३ के लिए भी "बहन" शब्द का प्रयोग करेगा। वह ४१ और ३५ को भी "भाई" कहेगा। चूंकि वह एक मातृ-वंशीय प्रणाली का पुरुष है, अतः वह अपने से कम आयु वाले सम्बन्धियों को कैसे पुकारेगा, इसमें भिन्नता होगी, किन्तु शायद वह "पुत्र" या "कन्या" नहीं कहेगा। अर्थात् ३३ जो कि एक स्त्री है, ५७ और ५८, ५९ और ६०, ६३ और ६४ और ५३ और ५४ को इन्हीं नामों से पुकारेगी। कुछ ऐसे नाम जैसे कि "बहन का भाई" या "बहन की लड़की" ऐसे नाम होंगे जिनसे कि कर्ता इन व्यक्तियों को पुकारेगा, और ये व्यक्ति सम्भवतः उसे "मां के भाई" नाम से पुकारेंगे, जिस नाम से कि वह २० और २४ को, पुकारेगा।

विभिन्न रिश्तेदारी-नामावलि प्रणालियों के कुछ अंशों का निर्देश भी निरुद्देश्य होगा। विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह यह समझे कि किस प्रकार यह ढांचा उसमें रहने वालों के जीवन को प्रभावित करता है। विवाह को नियंत्रित करने में इसका कार्य सर्वाधिक ज्ञात है। एक-वंशीय-प्रणाली में जिस आसानी से निकट सम्बन्धियों के बीच यौन-सम्बन्धों अगम्यागमन (Incest) की सीमायें निश्चित की जा सकती हैं, वह उल्लेखनीय है। पितृवंशीय प्रणाली में किसी भी मां या किसी भी पिता की संतान मेरे "भाई या बहन" हैं। भाई या बहन के साथ विवाह अगम्यागमन (Incestuous) है। इसलिए जब कोई विवाह विचारणीय होता है, तो दोनों पक्षों की वंशावलियों की जांच की जाती है कि कहीं उनमें से किसी में दूसरे की वंशावलि में दिये गये "महत्त्वपूर्ण पूर्वज" का नाम तो नहीं आता। यदि ऐसा पाया जाय तो वह भाई और बहन हो जाते हैं और उनका विवाह निकट सम्बन्धी के साथ व्यभिचार कहा जायेगा।

एक-वंशीय कुल समूह के विस्तृततम विस्तार को विभिन्न नाम दिये गये हैं। **गोत्र** (Clan) बहुप्रचलित है। तथापि विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमरीका में मानवशास्त्रियों ने उन समूहों को पृथक् करने के लिए जिनमें माता के पक्ष से वंश माना जाता है, गोत्र शब्द का प्रयोग किया है। जिनमें पिता से वंश गिना जाता है, उन्हें **जेन्स** (gens) कहा जाता है। लोवी ने सामान्य नाम के रूप में **सिब** (Sib) शब्द को चुना है,

इसमें **मातृ-सिब** और **पितृ-सिब** द्वारा दोनों में भेद करना सम्भव है।[५] यहां हम एक-वंशीय रिश्तेदारों के विस्तृत समूह के लिए "सिब" शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

सिब अनेक कार्यों को सम्पादित करता है किन्तु इसका सबसे सामान्य कार्य विवाह में चुनाव है। इसका एक उदाहरण **तरजीही विवाहों** (Preferential mating) की प्रणालियों में पाया जाता है, जो कि प्रायः **फुफेरे भाई-बहनों** (Cross cousins) में होते हैं, अर्थात् जिसमें कि सगे या वर्गीकृत भाई और बहनों की सन्तान आपस में विवाह करती हैं। यह सम्भव है, चूंकि यह सन्तानें पृथक् सिबों की सन्तानें हैं। हमारे रेखा-चित्र में ५४ और ५५ फुफेरे बहिन-भाई हैं। ५४ अपनी मां के सिब ३३ से सम्बन्ध रखती है, जबकि ५५ अपनी मां के सिब ३६ से सम्बद्ध है। वह समाजशास्त्रीय दृष्टि से ५४ से सम्बन्धित नहीं हैं, यद्यपि वह (कन्या) ३५ की बहन की सन्तान है, और ३५,५५ का पिता है। परिभाषानुसार फुफेरे भाई बहन, चचेरे भाई बहनों (Parallel-cousins) के, जो दो भाइयों या दो बहनों की सन्तानें हैं, विपरीत कहे जा सकते हैं। कर्ता ३७ और ३९ का चचेरा भाई है, और उनमें से किसी के साथ विवाह करना उसके लिए अगम्यागमन होगा। निःसंदेह कुछ समाजों में वह उनके साथ सामाजिक सम्पर्क से बचने में यथासंभव पर्याप्त प्रयत्नशील होगा।

सिब के अधिकारों को शक्तिशाली प्रमाणित करने में, सिब की पौराणिक गाथाओं का बड़ा हाथ होता है। यह पुनीत कथायें इन समूहों के उद्गम और इतिहास को बताती हैं और विवाह या अन्य परम्पराओं जैसे कि विभिन्न प्रकार के टैबुओं के नियमों को समझाती हैं। यद्यपि सिब का यह सार्वभौम पहलू नहीं है, तथापि अनेक बार सिब के नियमों का मूल आधार एक पौराणिक प्राणी होता है जिसे **टोटम** (Totem) का नाम दिया जाता है। **टोटम-वाद** (Totemism) यह विश्वास है कि मानवप्राणियों के एक ऐसे समूह में जोकि रिश्तेदारों की इकाई है और किसी पौधे या पशु की जाति या कभी-कभी किसी प्राकृतिक वस्तु के बीच एक प्रकार का रहस्यमय सम्बन्ध होता है।

टोटमवाद की अनेक परिभाषायें हैं और एक समय इस शब्द के अर्थ, इस संस्था के उद्गम और इसके समाजशास्त्रीय महत्त्व पर बड़ा वादविवाद था। टोटमवाद को जितनी बार धार्मिक घटना बताया जाता है, उतनी ही बार सामाजिक भी। टोटम-वादियों के लिए टोटम वस्तु के खाने का निषेध, **उपनाम** के तौर पर टोटम पशु का नाम रखना और टोटम पशु की वंशवृद्धि को सुनिश्चित बनाना, कुछ ऐसे पहलू हैं जिन्हें कि इसके लिए आवश्यक कहा गया है। फ्रेजर सभी टोटमी व्यवहारों को उस आस्ट्रेलियाई विश्वास में विशिष्ट रूप से व्यक्त मानता है, जिसके अनसार टोटमी प्रेतात्मा का निर्दिष्ट बस्ती में प्रत्येक बच्चे के साथ पुनर्जन्म होता है।[६] तथापि गोल्डनवीजर का कहना है कि मनुष्य और पशुओं के बीच सम्बन्धों की इतनी अधिक विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं कि उनमें

---

५. आर० एच० लोवी, १९२०, पृ० १११-१२।

६. सर जे०जी०फ्रेजर, १९१०। तुलना के लिए जिल्द ४, पृ० ५, जहाँ फ्रेजर कहता है, "विशुद्ध टोटमवाद जैसा कि हम उसे आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में पाते हैं," भी देखिये।

से किसी को भी स्वयं इस घटना या तथ्य को समझाने में सामान्यतः प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।[७]

मनुष्य और पशुओं के बीच प्रतीकात्मक सम्बन्ध के व्यवहार को "आदिम" मन की एक बेहूदा सनक नहीं समझाना चाहिए। उदाहरण के लिए अमरीकी संस्कृति में उपनाम धरने का टोटमवाद का लक्षण, जैसा कि समझा जाता है उससे कहीं अधिक, व्याप्त है। जब एक लौज का सदस्य अपने को मूज या एल्क घोषित करता है या जब किसी कालेज के लड़के या लड़की को बुलडाग या गिलहरी या जंगली बिल्ली कहा जाता है, वहां भी यह विद्यमान है। लिंटन ने बताया है कि प्रथम महायुद्ध में अमेरिका की सेना में यह रहस्यवादी सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया था कि वहिर्विवाह (Exogamy) को छोड़ अन्य सभी अर्थों में इसे अनक्षर समाजों के टोटमी व्यवहार से मिलाया जा सकता था।[८]

परिवार और सिब की समस्याओं पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण मानव-शास्त्रियों द्वारा तात्कालिक परिवार और सिब के बीच स्थित माध्यमिक सामाजिक समूहों की उपेक्षा हुई है। अफ्रीकी समाजों में, जहां कबीलों की बड़ी जन-संख्यायें हैं सिब इतना बड़ा हो जाता है कि वह इन माध्यमिक संस्थाओं के सहारे के बिना टिक नहीं सकता। जैसे कि सूडान के बेनी-आमेर लोगों के बारे में नडेल ने बताया है कि उच्चवर्गों में, "कबीलों की समस्त सामाजिक संरचना में ऊपर से नीचे तक घटते हुए विस्तार के साथ वंशावलि का रूप दोहराया जाता है। प्रत्येक गोत्र रिश्तेदारी-समूहों में उपविभाजित है....और प्रत्येक समूह...कई परिवारों को मिलकर बनते हैं जो प्रत्येक, अपने परिवार के कर्ता के आधीन हैं।"[९] या पश्चिमी अफ्रीका में डाहोमी के अड़तालीस सिब और उपसिब तब तक बड़ी संख्यायें लगती हैं जबतक कि यह अनुभव नहीं किया जाता कि लगभग दस लाख लोग डाहोमी हैं। नाइजेरिया और गोल्ड कोस्ट में मकान मुहल्लों में बंटे हुए हैं जिनमें से प्रत्येक में कुछ सिबों के स्थानीय प्रतिनिधि रहते हैं, शेष समस्त कबीले के क्षेत्र में फैले होते हैं। इसीलिए अफ्रीका में **विस्तीर्ण परिवार** (Extended family) की अवधारणा विकसित हुई ताकि एक ही स्थान में रहने वाले **तात्कालिक** या केन्द्रीय परिवारों की श्रेणी से बने हुए इन स्थानीय समूहों को पृथक् नाम दिया जा सके। पर्याप्त बड़े होने पर, विस्तीर्ण परिवार को एक **उप-सिब** समझा जा सकता है जो कि बाद में पूर्ण सिब के रूप में विकसित हो सकता है।

विस्तीर्ण परिवार की संस्था अब संसार के अनेक भागों में विद्यमान पाई जाती है। ऐसा लगता है कि मानो समाज के संचालन के लिए यह जरूरी था। यदि गोत्र बहुत बड़ा समूह है तो तात्कालिक परिवार बहुत छोटा है, जो अकेले टिकने में असमर्थ है। इसप्रकार आधुनिक पेरू में "ऐमारा समाज में विस्तीर्ण परिवार बुनियादी इकाई और सबसे महत्व-

---

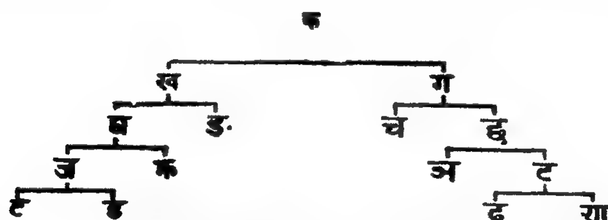
७. ए० ए० गोल्डनवीजर, १९१०; गोल्डनवीजर, १९३३, पृ० २१३-३३२ में पुनर्मुद्रित।

८. आर० लिंटन, १९२४, पृ० २९६-३००।

९. एस० एफ० नडेल, १९४५, पृ० ६।

पूर्ण आर्थिक समूह है।" इसमें एक पुरुष, उसके भाई, उनकी पत्नियां, पुत्र और अविवाहित कन्यायें और प्रत्येक "दाम्पतिक (Conjugal) परिवार" (अर्थात् तात्कालिक परिवार) सम्मिलित हैं, एक ही बगड़ में इनके मकान होते हैं जहां कि सारा समूह रहता है।[१०] ड्रकर लिखता है कि उत्तरी प्रशान्त के इंडियनों में "जब हम इस क्षेत्र के विशिष्ट स्थानीय समूह की रचना की जांच करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है; सर्वत्र सामाजिक विभाजन न तो विस्तीर्ण परिवार से कम था और न ज्यादा (दास अवश्य इससे बाहर थे) और उसके सदस्य भी ऐसा ही समझते थे।"[११] गुडविन के पश्चिमी अपाशी लोगों के विश्लेषण में "रक्त, गोत्र, विवाह या आर्थिक बन्धनों के कारण साथ रहना पसंद करने वाले अनेक गृहस्थियों के समूहों का समावेश हैं जिन्हें उसने "विस्तीर्ण परिवार" या "परिवार संकुल" (Cluster)[१२] की संज्ञा दी है।"

यह स्पष्ट होता जाता है कि रिश्तेदारी समूहों के विभाजन की त्रिदली योजना भी रिश्तेदारी पर आधारित समस्त सामाजिक संरचनाओं की व्याख्या के लिए अपर्याप्त है। एक सिब के अन्तर्गत सजातीय परिवारों के समूह, बिना उनके आकार का विचार किये, उन उप-इकाइयों की संख्या में जिनसे कि वह मिलकर बने हैं, एक समाज से दूसरे समाज में बहुत बदल जाते हैं। इवांस-प्रिचर्ड जिसने कि पूर्वी अफ्रीकी न्वार (Neur) लोगों में ऐसे चार संगठनों का विवरण दिया है, इस बात को दर्शाया है। "एक न्वार गोत्र" अर्थात् एक सिब, "पितृपक्ष से सम्बन्धित रिश्तेदारों का सबसे बड़ा समूह है जो कि अपने को एक समान पूर्वज से आया बताते हैं और जिनके बीच विवाह निषिद्ध और यौन सम्बन्ध अगम्यागमन समझा जाता है।" यह "अत्यन्त विभाजित वंशावलीय संरचना है।" वंशावलीय विभाजन चार श्रेणी में है, प्रमुखतम (Maximal), प्रमुख (Major), गौण (Minor)



चित्र २३—न्वार वंशावलियों में रिश्तेदारी (इवान्स प्रिचर्ड, १९४० के अनुसार)

और गौणतम (Minimal)। उनकी सम्बन्ध रेखा चित्र २३ में दिखाई गई है। सिब क, "प्रमुखतम वंशों ख और ग में विभाजित है, और ये घ, ङ, च और छ प्रमुख वंशों में फंट जाते हैं। गौण वंश ज, झ, ञ और ट प्रमुख वंश घ और छ की शाखायें हैं और ठ

१०. एच० तशोपिक, जूनियर, १९४६ पृ० ५४२-३।
११. पी० ड्रुकर, १९३९, पृ० ५८।
१२. जी० गुडविन, १९४२, पृ० १२३।

ड, ढ और ण गौणतम वंश हैं, जोकि ञ और ट की शाखायें हैं।"[१३] यह समूह आदिवासी शब्दावलि और व्यवहार में स्वीकार किये जाते हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक "केवल एक-दूसरे के सम्बन्ध में" और उसी श्रेणी के दूसरे समूह के विरोध में, एक पृथक् इकाई हैं। इस प्रकार "ड केवल ठ के विरुद्ध समूह है, ज, झ के विरुद्ध समूह है और घ केवल ङ के विरुद्ध समूह है।" इसके विपरीत, "एक समानान्तर शाखा से सम्बन्धित वंशों का दूसरी समानान्तर शाखा के मुकाबले में सर्वत्र मिश्रण होता है, उदाहरण के तौर पर रेखा-चित्र में ठ और ड एक गौण वंश ञ हैं जोकि झ के विरुद्ध हैं," और इसी भांति आगे भी। इसका अर्थ है कि "एक मनुष्य एक निर्दिष्ट समूह के सम्बन्ध से एक वंश का सदस्य है, किन्तु दूसरे समूह के सम्बन्ध से वह इसका सदस्य नहीं हैं।"[१४]

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि परिवार और सिब की संस्थायें एक निरन्तरता की प्रक्रिया में एक निर्देश-बिन्दु की तरह हैं, परन्तु वे अपने रूप और कृत्यों में इन बिन्दुओं से आगे निकल जाती हैं और जैसा साधारणतया समझा जाता है, उससे कहीं अधिक जटिल तत्वों से बनी होती हैं। जहां परिवार बहुपत्नीक हैं और पत्नियां पृथक् घरों में रहती हैं, वहां यह ज़ाहिरा गौणतम इकाई और भी छोटी इकाइयों में तोड़ी जा सकती है जिनमें से प्रत्येक, एक स्त्री और उसके बच्चों से मिलकर बनेगी, जैसा कि पश्चिमी अफ्रीका के बड़े अहातों में होता है। दूसरे छोर पर सिबों को संकुलों में मिलाया जा सकता है, जिन्हें **अर्धांश** (Moieties) कहते हैं, जैसा कि उत्तरी अमरीका और आस्ट्रेलिया में है।

४

रिश्तेदारी पर आधारित विभिन्न समूहों के अलावा वह मानव समूह हैं जोकि अन्य मानदंडों, जैसे कि लिंग या आयु या समान अभिरुचि, से बनते हैं। इन सबके लिए समिति (Association) शब्द सर्वोपयुक्त है। समितियों का आकार और उनके उद्देश्य रिश्तेदारी की संरचनाओं से भी अधिक भिन्न हैं। प्रारम्भिक विद्वानों ने रिश्तेदारी समूहों पर ज़ोर दिया और इनकी उपेक्षा की, पर इस सदी के मोड़ तक यह भूल ठीक की जाने लगी। फिर भी यह ध्यान लिंग भेद पर ही ठहर गया, जोकि गुप्त "सभाओं" में स्त्री-पुरुषों की पृथक्ता, आयुवर्ग और पुरुषों के घरों आदि में व्यक्त हुआ; जो सब कि समाज में पुरुष के अधिक महत्व को सिद्ध करते थे। इस प्रकार गैर-रिश्तेदारी समूहों के महत्त्वपूर्ण कार्यों की विविधता की उपेक्षा की गई। तथापि, इन समितियों को विद्यार्थियों के ध्यान में लाना, सामाजिक संगठन के अध्ययन को उचित रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से, अपने आप में महत्त्वपूर्ण था। प्रारम्भिक अध्ययनों में बड़े गैर-रिश्तेदार समूहों को ढूंढने की एकान्त चेष्टा का स्थान क्रमशः अधिक सामान्य प्रकार के समूहों की खोज ने लिया।

डाहोमी में **संस्थागत-मैत्री** (Institutionalised friendship) का सर्वप्रथम विवरण इसका एक अच्छा उदाहरण है। लोबी ने १९२० में लिखा था कि "दो अ-रिश्तेदार मित्रों का मेल जोकि एक-दूसरे की मदद और जीवनभर साथ देने के लिए

---

१३. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४०, पृ० १९२-९३।

१४. वहीं, पृ० १९७-८।

बचनबद्ध हैं", डाकोटा इंडियनों और सम्बन्धित कबीलों में "एक सर्वथा विचित्र प्रकार की लघु-समिति" (Diminutive association) है। अफ्रीकी सामग्रियों द्वारा दिये गये संकेतों और स्वतंत्र या प्राचीन स्रोतों मे संकलित न्यासों ने अनेक लोगों के सामाजिक संगठन में संस्थागत मैत्री के कार्य की ओर निर्देश किया है और उसके महत्त्व को स्थापित किया है। मैंडलबॉम ने कनाडा के मैदान के क्री इंडियनों में ऐसी मैत्रियों का व्यौरा देते हुए उत्तरी अमरीका में विभिन्न प्रकार की मैत्रियों के दस और इससे पहले हवाले उद्धृत किये हैं।[१५] मैलेनेशिया के न्यू हिब्राइड समूह के एक द्वीप मालेकुला में मैत्री के आनुष्ठानिक महत्त्व पर जोर दिया गया है। इस समाज में अनुष्ठान और प्रतिष्ठा अर्थ-व्यवस्था की मुद्रा (Currency) सूअर हैं। अंत्येष्टि के संस्कार "मूलतः एक सूअर के वध और दान पर निर्भर कहे जा सकते हैं।" मृत व्यक्ति का यह पशु लाया जाता है और फिर "उसका सबसे बड़ा मित्र.... भाला लेकर आगे बढ़कर उस रस्से को पकड़ता है जिससे कि सूअर बंधा हुआ होता है, जैसे कि मानो वह उसे मार ही देगा।" फिर वह मृत आदमी के अन्य दूसरे दर्जे के समझे जाने वाले मित्र के हाथ में वह रस्सा और भाला देता है और वह तीसरे मित्र के हाथ में, और इस प्रकार अन्त में वह एक ऐसे "आदमी के पास पहुंचते हैं जो कि मृत व्यक्ति का मित्र न था और इस लिए वह सूअर को स्वीकार कर लेगा।" वह पशु का वध करता है और उसे तथा दिये हुए केलों और यामों को अपने गांव ले जाता है, जहां वे खाये जाते हैं। कर्त्तव्य को पूरा करने से यह इन्कार, "बहुत अन्तरंग बन्धन से—जिसे कि बहुत कुछ प्रेम कहा जा सकता है," उत्पन्न होता है और यह केवल ऐसे "दो आदमियों द्वारा जो आदतन साथ मिलकर एक ही भोजन खाते हैं" अनुभव किया जाता है।[१६]

पश्चिमी अफ्रीका के डाहोमी की संस्थागत मैत्री के उदाहरण में एक आदमी के तीन मित्र होते हैं, **होंटौन डाहो** या प्रथम मित्र; दूसरा, जिसका नाम इस तथ्य को बताता है कि अंत्येष्टि संस्कार में एक अवसर पर उसे दीवार से सटकर बैठना होगा, और तीसरा "वह मित्र जो द्वार पर खड़ा होता है।" इस सम्बन्ध में पूर्ण पारस्परिक विश्वास अपेक्षित है, डाहोमियों में तो यह और भी जरूरी है चूंकि उनके आपसी सम्बन्धों में बड़ी सावधानी बरती जाती है। आदमी अपने पहले मित्र से कुछ नहीं छुपाता, दूसरे को जितना उसे मालूम है उससे आधे से अधिक नहीं बताता, तीसरा "दरवाजे पर खड़ा हो कर जितना सुन सकता है सुन लेता है।" पहला मित्र अपने मृत मित्र की सम्पत्ति के बांटने के सम्बन्ध में उसकी जो इच्छायें थीं, उन्हें व्यक्त करता है और उसके वारिस की भी पुष्टि करता है; ज्येष्ठ पुत्र के बाद अंत्येष्टि उपहारों को देने में उसका दूसरा स्थान है; जबकि किसी पूर्वज की देवता के समान पूजा की जाती है, तो उसके सर्वाधिक अंतरंग मित्र की आत्मा को उसकी सन्तान पर चढ़ने का आवाहन किया जाता है, जोकि उचित चढ़ावा देती है। इस सम्बन्ध में एक गहरी भावुकता निहित है जो कि एक डोहामी

१५. डी० मैंडलबॉम, १९३६।
१६. ए० बी० डीकन, १९३४, पृ० ५३७-४०।

कथा की निम्न व्याख्या से व्यक्त होती है : "आदमी के जीवन में यदि कभी श्वसुर, ओझा या श्रेष्ठ मित्र के बीच चुनाव करना पड़े तो आदमी को सदा अपने श्रेष्ठ मित्र के निकट होना चाहिए। औरों को आदमी एक ओर छोड़ सकता है, परन्तु आदमी का श्रेष्ठतम मित्र सर्वप्रथम है।"[१७]

यह उदाहरण दर्शाते हैं कि संस्थागत मैत्री बहुत काफी फैली हुई है, यद्यपि इसका पूरा विस्तार आगामी अध्ययन बता सकेंगे। इस सम्बन्ध में कुछ सूचनायें ताजी जनवृत्तशास्त्रीय गवेषणाओं से मिलेंगी। परन्तु बहुत कुछ साहित्य संकेतों में, जैसे कि मैंडलबॉम को मिले हैं, और ऐसे विवरणों के उद्धरणों से मिलेंगी, जहांकि मित्रता के द्रष्टव्य पहलुओं, जैसे कि सगे भाई-चारे को बनाया गया है। यह भी सम्भव है कि यह केवल आनुष्ठानिक पहलू ही हों, जोकि एक ऐसी समिति को व्यक्त करते हों, जोकि अनेक वर्षों से लोगों के सामाजिक संगठन के द्वारा निर्मित व्यक्तिगत सम्बन्धों की रचना में निरन्तर भाग लेती रही हो।

बड़े समूह अधिक बेहतर ज्ञात हैं। मैत्री सम्बन्धों के अलावा मैदानी इंडियन कबीलों में "समान अलौकिक अनुभव पर आधारित" समितियां, भोज सभायें, नृत्य-सभायें और सैनिक सभायें हैं। हम चेयेन स्त्रियों के दस्तकारी-संघ, हिडट्सा लोगों के गट्ठर भाई-चारे (Bundle fraternities) और क्रो लोगों के तम्बाकू-वर्ग देखते हैं। यदि हम इसी सूची को संसार के अन्य भागों तक विस्तृत कर लें, तो हम पुलिस या शासकों के समूह, बीमा या सहकारी श्रम समितियाँ और इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों और आयु वर्गों के समाजों को देखेंगे। इनमें से अनेक केवल पुरुषों तक सीमित हैं—यद्यपि सब में ऐसा नियम नहीं है। स्त्रियों का समाज इसका एक अपवाद है, जिसका पहले जिक्र हो चुका है, जबकि अन्यों में जैसे कि पश्चिमी अफ्रीकी समितियों में, जिनमें कि किसी समान उद्देश्य के लिए या अन्त में पुनर्वितरण के लिए बचतें जमा की जाती हैं, स्त्री-पुरुष दोनों ही शामिल हो सकते हैं।

इस प्रकार संख्या या प्रकार या कार्यों में अनक्षर समाजों की समितियां हमारी समितियों से भिन्न नहीं हैं। न तो उन्हीं के पास न हमारे पास समस्त सांस्कृतिक विशेषीकरण के बावजूद समितियों के ऐसे स्पष्ट लक्ष्य हैं, जिनसे कि उनका सही वर्गीकरण किया जा सके। योरोपीय लौजों में भी अलौकिक स्वीकृतियाँ हैं। उदाहरण के लिए किसी भी मैसोनिक आर्डर का नाइट-टैम्पलर-विभाग किसी भी मैलेनेशियाई जनवृत्तशास्त्री द्वारा धार्मिक समूह कहा जायेगा। श्रमसंघ प्रायः लौज कहलाते हैं, उनकी गोपनीय भाषा होती है और अनुष्ठानात्मक, मनोरंजनात्मक तथा आर्थिक कार्य होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि हम मानव समाजों में यह देखने के अलावा कि वहां स्त्री-पुरुष अपनी रिश्तेदारी की परिधि को पार कर कुछ घनिष्ठतायें स्थापित करते हैं, और अधिक कुछ नहीं कर सकते। निकटता शायद उसका एक कारण है, अभिरुचियों

---

१७. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३८ बी, जिल्द १, पृ० ८८,२३९-४२,३६१।

की एकता दूसरा, एक ही कौशल का होना तीसरा, और पृथक् रहकर पद या हैसियत की स्थापना चौथा। इनके विकास के सम्बन्ध में अनेक विशिष्ट पूर्वकल्पनाएँ हैं, जैसे कि गुप्त सभाओं के बारे में अनक्षर समाजों में यह धारणा है कि यह उन प्रारम्भिक अनुष्ठानों से, जिनमें से कि लड़कों और कभी-कभी लड़कियों को भी यौवन प्राप्ति के समय गुज़रना पड़ा है, निकली हैं। परन्तु दिलचस्प होते हुए भी, इन सब का विवरण देना असम्भव है। ऐसे समूहों के रूपों और उद्देश्यों की अनेकता इस बात को दर्शाती है कि किन्हीं भी लोगों के सामाजिक संगठन का कोई अध्ययन उनपर पूर्ण ध्यान दिये बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

५

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसका कार्य व्यक्ति के व्यवहार को संस्कृति की विशेष आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना है। यह कहते हुए हमें सीखने के सिद्धान्तों के वादविवाद में पड़कर किसी एक पक्ष का साथ देने की जरूरत नहीं। अनुकरण बनाम शिक्षण, पुरस्कार व दंड बनाम साहचर्य के वादविवादों ने अन्तर्निहित समस्याओं को समझने में बारीकी ला दी है और अध्ययन को उत्तेजना दी है। चूंकि योरोपीय-अमरीकी संस्कृति के अधिकांश व्यक्ति शिक्षा को पाठशाला का पर्याय समझते हैं, अतः मानवशास्त्रियों को कुछ ऐसे वक्तव्यों का सामना करना पड़ता है जैसे कि "अमुक कबीले में कोई शिक्षा व्यवस्था नहीं है।" ऐसे वक्तव्य में जो अर्थ छिपा है, वह प्रायः हमेशा उस से कुछ भिन्न ही व्यक्त होता है—कि सम्बन्धित लोगों के यहां पाठशालायें नहीं हैं। "पाठशाला में पढ़ने" और "शिक्षा" के भेद के महत्व को हम तभी समझ सकते हैं जबकि हम यह जान लें कि यद्यपि प्रत्येक लोगों को अपने बच्चों को प्रशिक्षित करना आवश्यक है, तथापि ऐसी संस्कृतियां बहुत कम ही हैं, जहां कि इस प्रशिक्षण का बड़ा अंश घर से बाहर दिया जाता है।

शिक्षा पर विचार करते समय हमें मशीन संस्कृतियों में विशेषीकरण के महत्त्व-पूर्ण स्थान को ध्यान में रखना भी जरूरी है। जिसे हम पेशेगत शिक्षा कहते हैं, वह इसका एक अच्छा उदाहरण है। अनक्षर समाजों में ऐसी विशेष इमारतों की जरूरत नहीं कि जिनमें पेचीदा मशीनें लगी हों और जिन्हें तरुण स्त्री-पुरुष चलाना सीखें। श्रम-विभाजन के स्त्री-पुरुष के भेद के अन्तर्गत, बच्चे को निरंतर उन प्रक्रियाओं को सीखने में लगा रहना पड़ता है, जिन्हें बाद में उसे अपनी जीविका कमाने के लिए इस्तेमाल करना पड़ेगा, वह एक कार्य की तुलना में दूसरे कार्य में अधिक कुशल हो सकता है, किन्तु उसे उन सभी सुलभ प्रविधियों को सीखना होगा जिनकी कि बड़े स्त्री या पुरुष होकर उसे ज़रूरत पड़ेगी।

अनक्षर और योरोपीय-अमरीकी संस्कृतियों के बीच एक उल्लेखनीय भेद उनके सीखने और सिखाने की धारणाओं में मिलता है। न्यूगिनी के वोगियों में "बच्चे अधिक-तर बड़ों के सिखाने की अपेक्षा स्वयं सीखने के लिए अधिक व्यग्र रहते हैं"·····उदाहरण के लिए :

"सबवकई ने अपने आप ही (अपने पिता को नौका बनाने में सहायता देने के लिए) बसूला उठाया और दूसरे मौके पर अपने पिता के साथ मेरे घर पर आने की

इजाजत मांगी। उसके पिता ने मुस्कराकर मुझे समझाया कि "मैं जो-कुछ आपको बताता हूं, उसे सुनकर उसे यह सूझता है कि वह उन सब बातों को समझ लेगा जो कि उसे बड़ा होकर करनी होंगी।"[१८]

सभी बच्चों में सीखने की बुनियादी प्रेरणा होती है, पर हमारी संस्कृति की अपेक्षा जिसमें कि विशेषीकरण अत्यधिक है और चुनने का क्षेत्र विस्तृत है तथा प्रशिक्षण संकीर्ण रीति से होता है, अनक्षर समाज में प्रशिक्षण, सांस्कृतिक साधनों की तुलना में अधिक विस्तृत सांस्कृतिक उद्देश्यों की ओर मुड़ा होता है। अनक्षर लोगों में बहुत कम ही ऐसे लोग होते हैं जो कि अपने काम के लिए अनुपयुक्त हों, फिर भी सीख कर ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है और सीखने वाला कितना ही उत्सुक क्यों न हो, उसे बिना संगठन और निदर्शन के नहीं सिखाया जा सकता। इसलिए यद्यपि अनक्षर समाजों में बच्चों की शिक्षा में औपचारिक पाठशाला का स्थान नहीं है, किन्तु वहां उत्साहित करने, अनुशासित और दंडित करने की शैक्षणिक प्रविधियों का अभाव नहीं है। बच्चे को सौंपे गये कर्त्तव्यों को पूरा करने पर उन्हें पुरस्कृत कर उनकी अभिरुचि बढ़ाने या इन कर्त्तव्यों को सीखने को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने के उदाहरण अक्सर बताये गये हैं। जहां संस्कृति प्रतियोगिता पर ज़ोर देती है, वहां सिखाने में प्रतियोगी प्रवृत्तियों का उपयोग किया जाता है। जहां व्यवहार के नियंत्रण में प्रतियोगिता प्रधान नहीं है, वहां बच्चे को कुशलता अर्जित करने के लिए प्रोत्साहित करने में अन्य तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं। बच्चों को शिक्षित करने की प्रक्रिया संस्कृति के अन्य पहलुओं की भांति नियमित और संस्थागत होती है।

अनक्षर लोगों की शैक्षणिक प्रविधियां उनकी संस्कृतियों के अन्य पहलुओं की भांति बहुत भिन्न पाई गई हैं। बड़ों द्वारा बाहरी प्रशिक्षण, बड़े बच्चों से होड़, उन उत्सवों और अनुष्ठानों को देखना जिनमें कि केवल बड़ी उम्र के लोग ही सक्रिय भाग लेते हैं या जबकि मां बाप या कोई बड़ा सम्बन्धी अपना कार्य करता है, उसकी शिक्षा के कुछ साधन हैं। उनमें सीधी हिदायतों द्वारा नैतिक मूल्यों और आचार की शिक्षा देना, स्वीकृत नियम के उल्लंघन पर डांटना, उपहास करना या शारीरिक दंड देना भी सम्मिलित हैं। बच्चे को पालने में अस्त्यात्मक और निषेधात्मक दोनों ही मार्ग अपनाये जाते हैं। बहुत-सी संस्कृतियों में सफलतापूर्वक किसी काम करने पर बच्चे की बहुत तारीफ़ की जाती है और उन्हें उत्साहित करने की अनेक अन्य रीतियों का भी उल्लेख किया गया है, जैसे कि पश्चिमी अफ्रीका में जब बच्चा चलना सीखता है, तो उसके टखनों में घंटियां बांध दी जाती हैं।

परिवार के अन्दर शिक्षा मुख्यतः घर के सदस्यों द्वारा दी जाती है। जहां कि पारिवारिक इकाइयां छोटी हैं, वहां माता और पिता और कभी-कभी बाबा या दादी या चाचा चाची, जो कि कुछ समय के लिए इस समूह के सदस्य होते हैं, इस कर्त्तव्य को पूरा करते हैं। एकवंशीय प्रणालियों में जहां कि वर्गीकृत रिश्तेदारी रूप प्रधान है, बच्चे

---

१८. एच० आई० हॉगबिन, १९४६-४७बी, पृ० २८२।

के तात्कालिक संपर्क इससे सर्वथा भिन्न होते हैं। एक वर्गीकृत रिश्तेदारी संरचना में कई पिता और मातायें बच्चे को पालती हैं। उन सभी को डांटने, उत्साहित करने, दंड देने, या पुरस्कृत करने के वे अधिकार होते हैं, जिनकी कि अमरीकी-योरोपीय संस्कृति में चाचा और चाची कल्पना भी नहीं कर सकते। इस भांति मैक्सिको के उत्तर स्थित अमरीकी इंडियन कबीलों की शिक्षा पद्धतियों के सर्वेक्षण में पेटिट[१९] ने उन तेंतालीस समूहों का जिक्र किया है जिनमें कि मामा बच्चे की शिक्षा में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। जूनियों में ली ने बच्चे के शैक्षणिक अनुशासन की कार्य-प्रणाली में देख-रेख को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

"मां-बाप के अलावा परिवार के और सब सदस्य भी इस बात में सहयोग देते हैं कि बच्चा उचित व्यवहार करता है। वस्तुतः समुदाय का कोई भी व्यक्ति जो कि पास से गुज़र रहा हो, बच्चे के दुर्व्यवहार को ठीक करने के लिए कुछ कह देता है। प्रौढ़ों के इस सम्मिलित मोर्चे से सामना होने के कारण बच्चे के लिए एक दूसरे से भिड़ने का मौका नहीं मिलता। और यदि उसे अनुचित रूप से न दबाया जाय, तो वह क्यों अपने आपको और दूसरों को भी नाखुश करे? यह प्रायः देखा गया है कि एक शोर मचाता हुआ बच्चा किसी बड़े की ज़रा सी आवाज़ आने पर, या बच्चे द्वारा उसके चेहरे पर कोई भाव देखे जाने पर सरलता से शांत हो जाता है।"[२०]

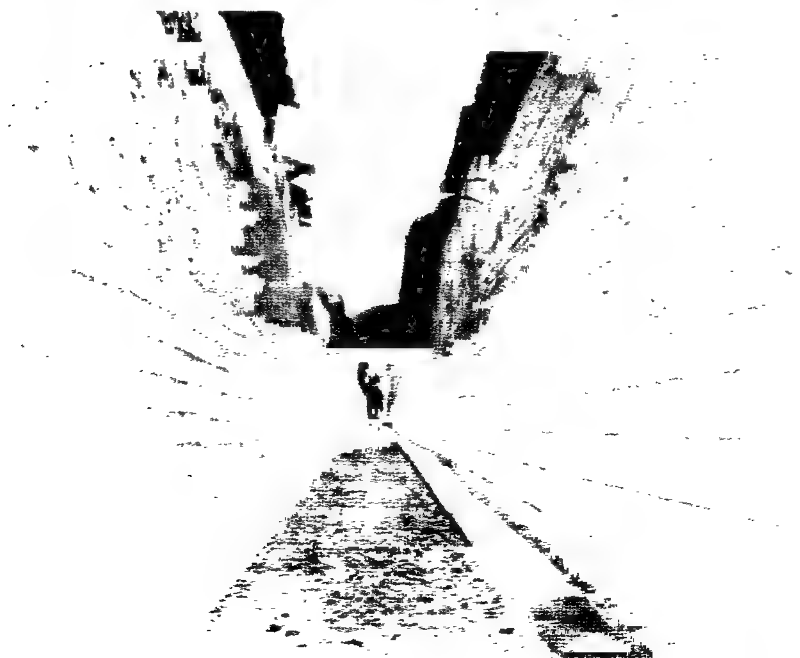
यही सुधार का कार्य वर्गीकृत सम्बन्धियों से बाहर समुदाय के अन्य प्रौढ़ों तक विस्तीर्ण हो जाता है। इससे कोई कठिनाई नहीं होती। संस्कृति की एकरूपता, शिक्षा के लक्ष्यों की एकता को, जो कि सांस्कृतिक उद्देश्यों और विधियों की एकता को प्रतिबिम्बित करते हैं, सम्भव बनाती है तथा विभिन्न सीख देने वालों के निर्देशों के बीच विरोध की बहुत कम गुंजायश रहने देती है।

बड़े और कम एकतत्वीय समाजों में, जहां सम्पूर्ण शैक्षणिक प्रक्रिया में पाठशाला की शिक्षा तथा घरेलू अनुशासन सम्मिलित हैं, आदेशों में विरोध सम्भवतः गम्भीर कठिनाइयों का कारण है। ऐसे व्यक्तियों से शिक्षा पाना, जिनके सांस्कृतिक और उप-सांस्कृतिक सोचने के तौर-तरीके भिन्न हैं, गम्भीर विषमायोजन, (Maladjustment) पैदा कर सकता है। अनक्षर समाजों की शैक्षणिक प्रक्रिया किसी भी मायने में पूर्ण समायोजन को स्थापित नहीं करती, न ही पूर्ण सांस्कृतिक एकता को व्यक्त करती है। ऐसे शब्द सदा ही सापेक्ष हैं, और चूंकि संस्कृति कभी भी गति-शून्य नहीं है, निरंतर परिवर्तन सर्वत्र ही पूर्ण एकतत्वीयता को किसी अंश तक भंग करते रहे हैं, जिसे कि भूल से अनक्षर समाजों का लक्षण मान लिया गया है। शिक्षा-पद्धति में असंतुलन के अतिरिक्त लोगों के जीवन में विरोध और विषमायोजन पैदा करने के और भी कई साधन हैं और जनवृत्तशास्त्रीय साहित्य में इसके बहुत-से उदाहरण दिये गये हैं। फिर भी जहां केवल एक अभिकरण (Agency)—परिवार के ऊपर, चाहे उसकी कैसी

---

१९. जी० ए० पेटिट, १९४६, पृ० १९-२२।

२०. ली आन्न्वे, १९३७, पृ० ७०।



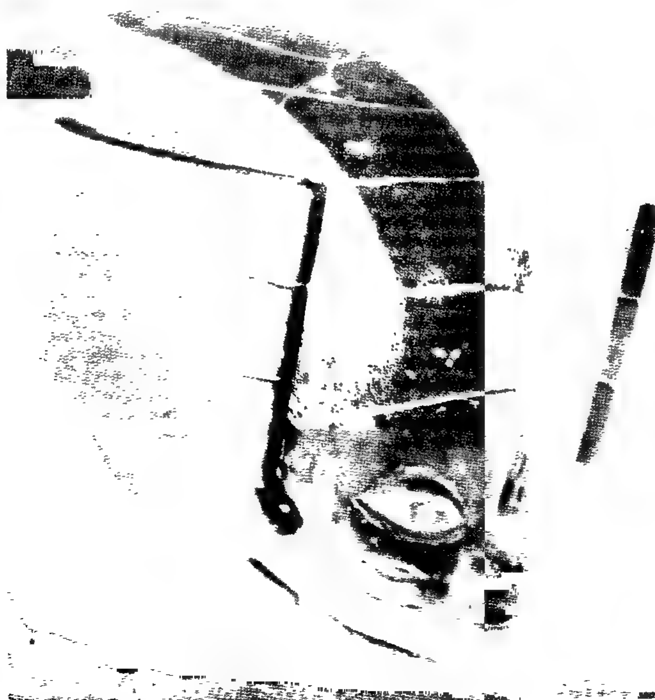
प्लेट ६क इंका चिनाई : कुज़को के ऊपर किले की दीवार, पेरू । **प्लेट ६ख** इंका इमारत : स्पेनिश-पूर्व दीवारें जो अभी भी कुज़को में दीवारों के रूप में प्रयुक्त होती हैं । देखिये पृ० ११६ (फोटोग्राफ वेंडल बेनेट के सौजन्य से) ।



क



ख



ग

प्लेट ७क नकली चेहरा पहने हुए योरूबा नर्तक, नकली चेहरा पहनने की रीति को दर्शाते हुए। **प्लेट ७ख** उसी नकली चेहरा पहने हुए नर्तक का निकट-दृश्य (फोटोग्राफ ७क और ७ख डब्ल्यू० बैसकौम के सौजन्य से)। **प्लेट ७ग** प्रथासम्मत स्थिति में प्रदर्शित योरूबाई नकली चेहरा। देखिये पृ० २२९ (डब्ल्यू० बैसकौम का संग्रह; फोटोग्राफ मेरी मौडलिन, शिकागो द्वारा)।

ही रचना हो, व्यवहारतः बच्चे की शिक्षा का सम्पूर्ण भार होता है, वहां उन स्थानों की अपेक्षा जहां उसके कई साधन हैं, विरोध उत्पन्न होने की बहुत कम सम्भावनायें हैं।

अनक्षर समाजों में पाये जाने वाली बच्चों को शिक्षित और अनुशासित करने की भिन्न-भिन्न प्रविधियां "आदिकालीन समाज" में माता-पिता और बच्चों के बीच विद्यमान सम्बन्धों के बारे में दो पूर्वधारणाओं का खंडन करती हैं। एक तो यह कि "आदिकालीन मानव" (Primitive man) बच्चों के प्रति क्रूर है, वह उन्हें सम्पत्ति समझता है और अपने लाभ के लिए उनका शोषण करता है; दूसरी यह कि वह उन्हें सुधारने की चेष्टा किये बिना बढ़ने देता है, और जबतक कि वह समूह के पक्के प्रौढ़ ज़िम्मेदार सदस्य नहीं हो जाते, उनकी हर खप्त को पूरा करता है। साहित्य से दोनों ही मतों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर उनके अध्ययनों से नहीं, जोकि अपने क्षेत्रीय कार्य में प्रथाओं की उन भिन्नताओं को भी जो व्यवहार में बड़ी विचित्र लगती हैं, लिख लेते हैं। इस प्रकार चिरीकाहुआ अपाशी कबीले में, जिसकी शिक्षा-प्रणाली का ओपलर[21] ने विस्तार से अध्ययन किया है, जहां सुधारने की कोमलतम विधियों और प्रोत्साहन का प्रयोग होता है, वहां आवश्यकता पड़ने पर शारीरिक दंड का भी निषेध नहीं है।

जहां कहीं भी बच्चों के प्रशिक्षण का सावधानी से अध्ययन किया गया है, वहां प्रत्येक संस्कृति में शिक्षा-विधियों और सुधारने की पद्धतियों के अनेक भेद बताये गये हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिण अफ्रीकी कगाटला "समझाने और फटकारने, साथ ही... मौका पड़ने पर दंड देने का प्रयोग करते हैं। गल्तियां सुधारी जाती हैं, अज्ञान दूर किया जाता है, सद्व्यवहार की प्रशंसा की जाती है, और बदतमीज़ी या आज्ञा उल्लंघन करने पर तत्काल सज़ा दी जाती है।" प्रायः इसमें फटकार या बेंत लगाये जाते हैं, पर कभी-कभी पिटाई भी की जाती है। "कगाटला कहते हैं कि मार खाने से बच्चे बुद्धिमान् बनते हैं और उन्हें यह याद रखने में मदद मिलती है कि उन्हें क्या सिखाया गया है।" पर वह यह भी कहते हैं कि "एक बढ़ता हुआ बच्चा एक छोटे पिल्ले की तरह है," अगरचे वह बड़ों को तंग भी करता है, उसे धीरज और सहिष्णुता के साथ उचित आचार सिखाना चाहिए।[22]

ह्वाइटिंग् ने यह दिखाने के लिए कई उदाहरण दिये हैं कि सेपिक नदी क्षेत्र के न्यूगिनी के क्वोमा शिक्षा की सभी प्रचलित पद्धतियों को प्रयोग में लाते हैं। वह दंड दे, फटकार लगा, धमकी दे, चेतावनी और प्रोत्साहन देकर प्रेरणा देते हैं, वे नेतृत्व कर, हिदायत और उदाहरण देकर मार्ग निदर्शन करते हैं, वे उपहार देकर सहायता और प्रशंसा कर पुरस्कृत करते हैं। बेंत की चोट या उपेक्षा या संकट से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग सजा देने और डांटने में होता है। छोटे बच्चे को यह दिखाना कि तेज़ हवा चलते हुए कैसे आग जलाई जाती है, सिखाना है। सहकारी श्रम में भाग लेने वाले बच्चों को इनाम देना, अच्छे व्यवहार के लिए पुरस्कार देकर प्रशिक्षण देना है।[23]

---

२१. एम० ई० ओपलर, १९४१, पृ० २७-३४।

२२. आई० शंपेरा, १९४०, पृ० २५३।

२३. जे० डब्ल्यू० एम० ह्वाइटिंग्, १९४१, पृ० १८०।

इस तरह हम देखते हैं कि किस प्रकार अनक्षर संसार में बच्चों को शिक्षा किसी एक साधन से नहीं दी जाती। प्रत्युत प्रत्येक समाज अपने बच्चों को इच्छित प्रकार का व्यक्ति बनाने के लिए समझाने-बुझाने और दबाव डालने के सभी साधनों का प्रयोग करता है। टोप्सी की भांति बच्चे कहीं भी यों ही नहीं बढ़ते। बड़े उनकी देख-रेख करते हैं, उन्हें मार्ग दिखाते हैं और सुधारते हैं। उनमें से सभी इस कार्य को सम्पादित कर सकते हैं, यह एक ऐसा कारण है जिसने कि अनक्षर समाजों में शिक्षा को रोजमर्रा के जीवन का एक ऐसा अभिन्न अंग बना दिया है कि बहुत सालों तक विद्वानों ने संस्कृति के सर्वव्याप्त पहलू के रूप में इसकी सत्ता की उपेक्षा की है।

६

शिक्षा के कुछ पहलू सार्वभौम हैं। सभी लोग बच्चों को उनकी शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करने की शिक्षा देते हैं। सभी भाषा के संचार को प्रोत्साहित करते हैं और यह देखते हैं कि भाषा में शब्दों के अर्थ के महत्त्व को भली-भांति प्रयोग में लाया जा रहा है और समझा जा रहा है। सभी बच्चों को यह सिखाते हैं कि किस भांति वह अपने साथियों के व्यवहार को समझें और किस भांति विशिष्ट परिस्थितियों में वह अपने भिन्न सम्बन्धियों के साथ कैसा व्यवहार करें। इनमें से कोई ऐसे नहीं जो कि उन्हें जीविका कमाना न सिखाते हों या समूह द्वारा स्वीकृत आर्थिक मूल्यों की भावना को उनमें न भरते हों। नैतिक नियमों पर सर्वत्र ही ज़ोर दिया जाता है और उन तरीक़ों पर भी, जिनसे कि व्यक्ति केवल अपने साथियों से निभाता ही नहीं, बल्कि उनमें उसकी प्रतिष्ठा भी होती है। विस्तृततम अर्थों में, शिष्टाचार पर निरन्तर ध्यान दिया जाता है। इसीके विस्तार-स्वरूप सभी प्रकार के अनुष्ठानों के अर्थ और उनमें से जो किसी व्यक्ति को करने आवश्यक हैं, उनको कैसे किया जाता है, इसकी जानकारी दी जाती है और रोगों के कारणों और चिकित्सा और जन्म-मरण के तथ्यों से अवगत कराया जाता है।

बहुत-सी अनक्षर संस्कृतियों में बच्चों की शिक्षा पर जो बल दिया जाता है उसे साक्षर लोग, विशेष रूप से योरोपीय अमरीकी संस्कृति से प्रभावित समाज, कुछ हल्केपन से देखते हैं। इनमें से दो बातों पर यहां विचार किया जा सकता है। प्रथम रिश्तेदारों के प्रति उचित धारणाओं और व्यवहार की रीतियों को सीखने का महत्त्व है, दूसरा स्वीकृत यौन (Sexual) व्यवहार की शिक्षा से सम्बन्धित है।

जब हम अधिकांश अनक्षर संस्कृतियों में रिश्तेदारी-नामावलि के जटिल क्रम के बारे में पढ़ते हैं, हमें मालूम होता है कि यह पेचीदा प्रणाली सद्व्यवहार के कुछ स्वीकृत रूपों, कुछ संवेदनात्मक प्रभावों, व्यक्तियों के बीच कर्तव्यों और दायित्वों को व्यक्त करती है जिन्हें कि सीखना आवश्यक है। रेडक्लिफ ब्राउन लिखता है :

"आस्ट्रेलियाई कबीले के एक सदस्य के जीवन के प्रत्येक क्षण में उसका अन्य व्यक्तियों से व्यवहार, उनके साथ उसके रिश्ते से नियंत्रित होता है। उसके निकट और दूर के रिश्तेदार कुछ बड़े समूहों में वर्गीकृत होते हैं और यह वर्गीकरण एक शब्दावलि के साधन से पूरा किया जाता है, और किसी तरह वह पूरा भी नहीं हो सकता था। इसलिए महाद्वीप के किसी भी भाग में जब कोई अपरिचित, डेरे पर आता है तो उसे प्रविष्ट कराने से

पहले यह निर्णय किया जाता है कि उसका उसमें रहने वाले प्रत्येक स्त्री व पुरुष से रिश्तेदारी का क्या सम्बन्ध है, अर्थात् वह जान लेता है कि वह उनमें से हरेक को किस रिश्तेदारी नाम से पुकारेगा। जैसे ही उसे किसी व्यक्ति के साथ अपनी रिश्तेदारी का पता लग जाता है, उसे मालूम हो जाता है कि उसके साथ कैसे व्यवहार करे, उसके क्या कर्त्तव्य हैं तथा क्या अधिकार हैं।"[२४]

स्पष्ट ही यह बातें ऐसे ही नहीं आ जाती। आस्ट्रेलियाई आदिवासी को अपने लोगों की जटिल रिश्तेदारी संरचना सिखाई जाती है, जिसके बिना वह वस्तुतः अपने समाज में एक सदस्य की भांति काम नहीं कर सकता। योरोपीय-अमरीकी समाज में इससे सर्वथा विपरीत स्थिति है, जहां कि स्त्री-पुरुष केवल निकटतम रिश्तेदारों की परवाह करते हैं।

पूर्वी अफ्रीका में चागा बच्चे को सबसे पहले अपने माता-पिता के निजी नामों और जिन नामों से उसे उन्हें सम्बोधन करना चाहिए, उसका अन्तर सिखाया जाता है। यह बहुत-कुछ अमरीकी समाज की परम्परा से मिलता-जुलता है, जहां कि बच्चे को यह बताया जाता है, कि यद्यपि उसकी मां उसके पिता को "जोन" कहकर पुकारती हैं, पर उसे "फादर" या "डैडी" या अन्य किसी नाम से पुकारना चाहिए। चागा बच्चे को जैसे वह बढ़ता है, यह सीखना चाहिए कि एकवचन शब्द हवाला देने के लिए प्रयोग किये जाते हैं और माता-पिता या दादा-दादी की पीढ़ी के लोगों के लिए जिनके प्रति सम्मान दिखाना चाहिए, बहुवचन शब्द सम्बोधन के लिए प्रयोग किये जाते हैं। हमें बताया गया है :

"जन्म से ही बच्चे को उसके रिश्तेदारों के सम्बोधन के लिए उचित शब्द सिखाये जाते हैं। इससे पहले कि वह भाषा का एक भी शब्द समझ सके, उसे बाबा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची के बारे में बताया जाता है। मां और आया बच्चे को उचित अवसरों पर इन नामों का प्रयोग सिखाती है—पिता-माता और बड़े रिश्तेदार और आया उद्दण्ड बच्चे को धमकाते और समझाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि छः वर्ष की आयु तक बच्चे रिश्तेदारी शिष्टाचार के उस्ताद हो जाते हैं और चौदह वर्ष की आयु तक वह उस शब्दावलि की अधिकांश बारीकियां जान लेते हैं।"[२५]

अधिकांश अनक्षर समाजों में जैसा कि हम देख चुके हैं, यौन-व्यवहार और उसकी जानकारी संयोग पर निर्भर नहीं है। कुछ प्रयोग की जाने वाली विधियां गहरी अन्तर्दृष्टि को दर्शाती हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी अफ्रीका में यह रिवाज जिसके अनुसार कि नये खनना किये हुए युवक को "चाकू की जलन को मिटाने के लिए" ऐसी स्त्री के साथ यौन सम्बन्ध करने पड़ते हैं जिसका मासिक धर्म बन्द हो चुका हो। अपने अनुभव से वह उसे यौन संभोग की प्रविधि में सहायता देती है और इस शल्य-क्रिया से हुए किसी मानसिक आघात को दूर करने में सहायक सिद्ध होती है। बहुत-से अनक्षर समाजों में विवाह-पूर्व परीक्षण की स्वीकृतियां यौन व्यवहार में कुशलता प्रदान करने में

---

२४. ए०आर० रेडक्लिफ-ब्राउन, १९३१, पृ० ९५।

२५. ओ० एफ० राउम, पृ० १६९-७५।

निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होती हैं। कुछ ऐसे भी अनक्षर समाज हैं जहां यौन विषयों पर वैसी ही चुप्पी साधी जाती है जैसे योरोप या अमरीका के मध्य विक्टोरिया काल में थी। फिर भी यह अल्पसंख्यक हैं। अधिकांश लोग जीवन के तथ्यों को गिनाते समय उसमें प्रजनन की समस्याओं को शामिल नहीं करते।

यौन व्यवहार का प्रशिक्षण औपचारिक या अनौपचारिक या दोनों विधियों से किया जा सकता है। एक संस्कृति दोनों रीतियों का उपयोग कर सकती है। अनक्षर लड़के-लड़कियों को यौवन-प्राप्ति के समय दीक्षा (Initiation) अनुष्ठानों में दी गई शिक्षा अधिकतर विवाह की तैयारी से सम्बन्धित होती है। एक माता या प्रायः दादी कुमारी लड़की को विवाहित स्त्री के नाते उससे प्रत्याशित यौन व्यवहार के सम्बन्ध में बताती है और बाद में वह प्रथम सुहाग रात के समय उसकी देखभाल करती है, बच्चा होने के समय उसकी मदद करती है और उसकी कैसे देख-रेख की जाय, इसकी शिक्षा देती है। परिवार के पुरुष लड़कों को बताते हैं कि वह स्त्री साथियों के साथ कैसा व्यवहार करें। बहुत-से समाजों में बहन के लड़कों को यह सूचना देने का काम मामा का है। बड़े लोग यौन-शिक्षा देने के इस दायित्व को सामान्यतः गंभीर कर्त्तव्य समझते हैं और उसमें बहुत कम ही कामुकता की अभिव्यक्ति होती है। अश्लीलता की भांति कामुकता भी सभी लोगों में पाई जाती है। इसकी अभिव्यक्ति के अवसर और रूप प्रायः संस्थागत और नियमबद्ध होते हैं। उनकी सार्वभौमता उनसे प्राप्त होने वाली मनोवैज्ञानिक राहत और काम-क्रीड़ा में उनसे प्राप्त होने वाले उद्दीपन की पुष्टि करते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा युवकों के पारिवारिक व्यवस्था के ढांचे में प्रवेश होने और पितृपद की जिम्मेदारी लेने से पूर्व उन्हें जिन परिस्थितियों में यौन-शिक्षा दी जाती है, वह अपनी पृष्ठभूमि और रीति में, उनके उन उच्छृंखल मानसिक उद्वेगों से सर्वथा भिन्न हैं, जिनमें कि वह अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए इधर-उधर जाते हैं।

७

अनक्षर लोगों में भी विशेषज्ञों द्वारा बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, यद्यपि यह उनकी शिक्षा पद्धति का गौण पहलू है। सम्पूर्ण रूप में इनके प्रकारों की अनेकता और संख्या पुराने अध्ययनों में वर्णित अनेकताओं और संख्याओं से कहीं अधिक हैं। वह अनौपचारिक रीति से मिलने वाले अस्थायी समूहों से लेकर, जैसे कि अमरीकी मैदानों का एक योद्धा कुछ बच्चों को अपने साथ शिकार सिखाने ले जाता है, कुछ अफ्रीकी स्कूलों की भांति दीर्घकालीन एकांत और गहन पाठ्यक्रम तक पाये गये हैं।

सही तौर पर अनक्षर संस्कृतियों में अफ्रीका और पौलिनेशिया में ही स्कूली शिक्षा के अधिकांश उदाहरण मिले हैं। अफ्रीकी उदाहरण एकान्तवास के काल और उसमें सिखाये जाने वाले अनुष्ठानों में पर्याप्त भिन्न हैं, किन्तु उनके लक्ष्यों में अधिक भिन्नता नहीं है, चूंकि उन सभी में बच्चे के पद से लेकर यौवन प्राप्ति के संक्रमण को दिखाया जाता है और उस दक्षता और सहनशीलता को प्रमाणित किया जाता है, जोकि एक बच्चे के सामाजिक जीवन को एक प्रौढ़ के सामाजिक जीवन से पृथक् करती हैं। बा वेण्डा लोगों में, सभी अठारह ज़िलों में जहां वह रहते हैं, लड़के स्कूल जाते हैं। आठ नौ साल

की आयु से लेकर जब तक कि वह यौवन प्राप्त नहीं कर लेता और उसकी दीक्षा (Initiation) पूर्ण नहीं हो जाती और उसके आयुवर्ग को मान्यता नहीं मिल जाती, वह स्कूल जाता है। लड़के **थोंडो** में (यह उनके स्कूलों की संज्ञा है) रहकर उस अनुशासन को ग्रहण करते हैं जो कि उन्हें एक सेना की टुकड़ी के योग्य बनायेगा। इनमें, छिपकर आक्रमण, रात्रि को आक्रमण और गुप्तचरी जैसे युद्ध के कार्यों की शिक्षा दी जाती है। चटाई बनाने जैसे काम जो उनके हिस्से में आते हैं, उन्हें समय पर पूरा कर देना होता है। कबायली शिष्टाचार के नियमों का सावधानी से पालन होना चाहिए, अन्यथा बहुत पिटाई की जाती है। स्कूल में रहकर बच्चे नृत्य का भी अभ्यास करते हैं। वह अपने प्रशिक्षण से "कठोर और अनुशासित हो, अपने कबीले के योद्धा के दायित्वों को कंधे पर लेने और साथ ही उसके अधिकारों का उपभोग करने के लिए तैयार होकर" निकलते हैं।

वेण्डा लड़की की स्कूली शिक्षा केवल छः रात और छः दिन चलती है, यह बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पदार्पण को सूचित करती है और पहले मासिक धर्म के जरा बाद ही शुरू होती है। शिष्टाचार और आज्ञापालन के कबायली नियम, नृत्य और यौन-व्यवहार, यह पढ़ाये जाने वाले मुख्य विषय हैं। इसके आगे **डोम्बा** कहे जाने वाले लड़के लड़कियों के "सहशिक्षा स्कूलों में" विवाह की सामान्य तैयारी की औपचारिक शिक्षा दी जाती है। "प्रतीकों और रूपकों" द्वारा इसके जटिल उत्सव लड़के लड़कियों को "विवाह और संतानोत्पत्ति" के वास्तविक महत्त्व को समझाते हैं और उन्हें "जीवन में आने वाले प्रलोभनों और खतरों से सावधान करते हैं।"[२६]

अफ्रीका के पश्चिमी भाग से स्कूलों के कई उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें कि लाइबेरिया और सीयरा ल्योन के लड़कों के **पोरो** और लड़कियों के **सांडे** नामक स्कूलों का उल्लेख किया जा सकता है। लड़कों के स्कूलों में दीर्घकाल तक प्रशिक्षण होता है; उनकी अवधि विभिन्न क़बीलों में अठारह महीने से लेकर आठ वर्ष तक बताई गई है। स्कूल में भर्त्ती होने से पहले खतना हो जाता है, यह नेता की देख-रेख में होता है, जिसका समुदाय में सम्मान उसके पद के महत्त्व को व्यक्त करता है।

"बच्चे अपनी आयु और अभिरुचियों के अनुसार विभिन्न समूहों में बांट दिये जाते हैं और वह लोक जीवन की सभी कलाओं, दस्तकारियों और श्रुतियों की शिक्षा ग्रहण करते हैं...इन साधनों द्वारा उनका चरित्र ढाला जाता है और कुमारों को युवकों की पीढ़ी में स्थान पाने के लिए तैयार किया जाता है...पहले प्रशिक्षण में कई परीक्षायें होती हैं जिनसे कि व्यक्तिगत भिन्नतायें, अभिरुचियें और आकांक्षायें निश्चित की जाती हैं .. उदाहरण के लिए वह युवक जो कि बुनने में विशेष अभिरुचि दिखाता है, उसे इस दस्तकारी का उस्ताद बनने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है, जबकि लकड़ी के काम, चमड़े के काम, नृत्य, चिकित्सा, लोकवार्त्ता इत्यादि में विशेष कुशलता और अभिरुचि दिखाने वालों को उन्ही दिशाओं में प्रशिक्षित किया जाता है। इस प्रारम्भिक प्रशिक्षण काल में

---

२६. एच० ए० स्टायट, १९३१, पृ० १०१।

सत्र-काल में प्रयोग होने वाले मकानों को बनाने की शिक्षा भी दी जाती है।...कबीले के सभी कानून और परम्पराओं, साथ ही कबीले के मुखिया, कबीले और बुजुर्गों के प्रति कर्त्तव्य और स्त्रियों के साथ उचित सम्बन्धों की भी शिक्षा दी जाती है। विभिन्न जड़ी-बूटियों को पहचानने, उनका प्रयोग, उनकी इलाज की ताक़तों और उनकी अनेक प्रतिलोम (Antidotes) औषधियों की शिक्षा भी दी जाती है। जंगली जानवरों के रहस्य, वे कैसे रहते हैं, उनकी पैंड़ को कैसे पहचाना जाता है और कैसे उन पर हमला किया जाता है, यह भी सिखाया जाता है।"

अन्ततः "इस समस्त प्रशिक्षण की परीक्षा स्कूली जीवन के जंगल की प्रयोगशाला में होती है, जैसे कि जब वहां युद्ध की नकल की जाती है तो लड़कों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी शिक्षा का लड़ाई की योजना बनाने तथा उसे कार्यान्वित करने में उपयोग करें। लड़कियों का सांडे स्कूल अपने अध्यापकों के संगठन और अन्य विशेषताओं में लड़कों के पोरो के समानान्तर है। इसके पाठ्यक्रम का लक्ष्य लड़कियों को प्रौढ़ स्त्रियों, पत्नियों और माताओं के कर्त्तव्यों का प्रशिक्षण देना है और इसीलिए विभिन्न विषय-सामग्री द्वारा यह उसी शैक्षणिक लक्ष्य को पूरा करता है।[२७]

पौलिनेशिया के कुछ भागों से उच्च शिक्षा के औपचारिक पाठ्यक्रम का भी विवरण दिया गया है जैसे कि हवाई में अफ़सरों का कालेज। हमें यह बताया गया है कि सामान्यतः "किसी कुलीन और सुप्रशिक्षित मुखिया की प्रमुख विशेषता ऐसे भाषण देना है जिनमें कि धार्मिक और ऐतिहासिक हवालों, रूपकों, उपमाओं और कहावतों की बहुतायत हो।" इसके लिए स्पष्ट ही विशेष प्रशिक्षण आवश्यक था, और ऐसा प्रशिक्षण उन व्यक्तियों के लिए भी आवश्यक था, जो कि किसी नृत्य मंडली का सदस्य बनने या हवाई में पाये जाने वाले एक प्रकार के मनोरंजनकर्त्ता बनने के लिए इच्छुक हों। अधिकांशतः "वाक्य रचना, विवरण देने, और मंत्रोच्चारण का प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले प्रायः कुलीनजन्मा होते थे।"...यद्यपि वे "मंगारेवा, मारक्वीसस और ईस्टर द्वीप को छोड़ और कहीं किसी विशेष बौद्धिक वर्ग के सदस्य न थे।" इसके विपरीत सभी हैसियत के पौलिनेशियाई स्त्री-पुरुष कत्थक साहित्य में प्रवीणता प्राप्त कर सकते थे और उनमें से कई तो "एक प्रिय नायक" से सम्बन्धित लम्बे और पेचीदे कथानक के वर्णन में विशेषज्ञ बन जाते थे। इसके अतिरिक्त, "पौलिनेशिया में रोज़मर्रा की जिन्दगी में...अनेक मंत्रों, पाठों, परम्पराओं, कहावतों और पशु-कथाओं का ज्ञान ज़रूरी था। प्रत्येक दस्तकारी और पेशे के अपने जादुई सूत्र (Formulae), धार्मिक इतिहास, पुराण और परम्परायें थीं। देवताओं की सहायता प्राप्त करने के व्यावहारिक लाभ के अतिरिक्त, यह कार्यकर्त्ता तथा उसके काम के परिणामों का उपयोग करने वालों को शान, प्रतिष्ठा और पृष्ठभूमि प्रदान करते थे।"[२८] ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रेरणायें बहुत अंशतक यह बता सकेंगी कि इस क्षेत्र में विशेषीकृत प्रशिक्षण की परम्परा क्यों विकसित हुई और संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण भाग के रूप में कायम रही।

---

२७. एम० एच० वाटकिन्स, १९४३, पृ० ६७०-१, ६७३-४।
२८. के० लुओमला, १९४६, पृ० ७७२-५।

अनक्षर लोगों में शिक्षा की एक अन्य विशेषता का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है। यह कहा गया है कि ऐसे समाजों में शिक्षा किशोरावस्था या उसके ज़रा बाद तक जारी रहती है, पर यह प्रक्रिया साक्षर लोगों में कुछ अधिक लम्बी है। जहां तक "जीवन के दैनिक कार्यों" का सम्बन्ध है, यह सत्य है। फिर भी जब हम अलौकिक शक्तियों पर विचार करते हैं, तो हमें ज्ञान के उस स्तर पर विचार करना पड़ता है जो कि मुख्यतः परिपक्व प्रौढ़ों तक सीमित है। अनक्षर लोगों के दैनिक जीवन में धर्म का महत्त्व तभी पूर्णतः स्पष्ट होगा जबकि हम संस्कृति के इस पहलू की चर्चा करेंगे। उनकी अधिकांश समस्याओं के सफल समाधान के लिए ब्रह्मांड की शक्तियों का नियंत्रण आवश्यक समझा गया है। किन्तु बच्चों को जिनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम है, उन्हें बहुत कम ही अधिक मात्रा में आध्यात्मिक शक्ति दी जाती है। इस लिए जब तक कि वह बड़े नहीं हो जाते, उन्हें क़बीले की धर्मशास्त्रीय अवधारणायें और कर्मकांडीय आनुष्ठानिक व्यवहार नहीं सिखाया जाता। धर्म के सम्पूर्ण विवरण के लिए हमें बुज़ुर्गों के पास जाना पड़ता है, जो कि विशेषज्ञ न होते हुए भी, अपने समाज के अलौकिक आदेशों और देवताओं को संतुष्ट (Propitiation) करने और प्रायश्चित्त द्वारा पाप-मुक्त करने के स्वीकृत साधनों में दक्ष होते हैं।

अतः यह नहीं समझना चाहिए कि अनक्षर लोगों में यौवन प्राप्त हो जाने पर शिक्षा पूरी समझी जाती है। तब तक औपचारिक शिक्षण भी समाप्त नहीं होता। किन्तु इस अर्थ में कि शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे कि एक जनसमूह का ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है, एक स्त्री और पुरुष छोटी ही उम्र में अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करने के योग्य बन जाता है, और उसे उन साक्षर समाजों की भांति जिनमें लेखन और मशीन प्रोद्योगशास्त्र जीवन के रूप का निर्माण करते हैं, लम्बे संस्थागत प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। और जब तक कि सिखाने के लिए बड़े मौजूद हैं, समाज का कार्य सम्पन्न करने वाले उन अपने से बड़ों से शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं।

अध्याय ग्यारह

राजनैतिक प्रणालियां : मानव सम्बन्धों का व्यवस्थापन

एक समय था जबकि विद्वानों का मत था कि प्रारम्भिक मानव एक प्रकार की उदार अराजकता में रहते थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके साथी अधिकार प्रदान करते थे और न कोई शासित या शासक ही था। अनेक प्रारम्भिक लेखकों ने इस स्वर्ण-युग की ओर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु यह दृष्टिकोण कि मानव मूलत: "प्रकृति का शिशु" है, हमें रूसो, लाक, और हाब्स की रचनाओं से सुविदित है। इन लोगों ने "सामाजिक संविदा" (Social contract) की अवधारणा को विकसित किया जिसने कि उस "प्रकृति की अवस्था" को, जिसमें कि प्रारम्भिक काल के मानव रहते हुए कल्पित किये गये थे, समाप्त कर दिया।

लेविस एच० मार्गन और सर हेनरी मेन वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी संस्कृति से बाहर जीवन-रीतियों के सिलसिलेवार अन्वेषण पर आधारित राजनैतिक संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। मार्गन ने मुख्यत: अनक्षर समाजों से संकलित सामग्रियों के आधार पर और मेन ने आयरलैंड, भारत और प्रारम्भिक इंग्लैंड के ऐतिहासिक न्यासों और ग्रीस और रोम के क्लासिकल लेखकों के गहरे ज्ञान के आधार पर अपना कार्य किया। उनके निष्कर्षों में बुनियादी सहमति थी। दोनों का कहना था कि रिश्तेदारी वह पहला बंधन था जिसने कि प्रारम्भिक मनुष्यों को आपस में मिलाया, और सही तौर पर कहा जाय तो किसी भू-क्षेत्र पर आधारित राज्यों को बहुत अधिक विकसित जन-समूहों ने ही स्थापित किया। मेन ने लिखा है :

"जिस क्षण से एक क़बायली समुदाय अंतत: एक निश्चित भू-स्थान पर बस जाता है, रिश्तेदारी के स्थान पर भूमि समाज का आधार बन जाती है...परिवार से बड़े सभी मानवों के समूहों में रिश्तेदारी के बजाय, जो कि धीरे-धीरे अधिकाधिक अस्पष्ट होती जाती है, वह भूमि जिसपर कि वे रहते हैं उनके बीच मिलन का सूत्र बन जाती है।"

वह अपने दृष्टिकोण को इन ओजस्वी शब्दों में रखता है : "एक समय इंग्लैंड वह देश था जिसमें अंग्रेज़ रहते थे, अब अंग्रेज़ वे लोग हैं जो इंग्लैंड में रहते हैं।"[1]

बहुत वर्षों तक इस दृष्टिकोण की राजनैतिक सिद्धान्त पर प्रभुता रही। राजनीति के विद्यार्थी, विशेष कर इंग्लैंड और योरोप के महाद्वीप में वैज्ञानिक जनवृत्तशास्त्र के विकास द्वारा उपलब्ध नयी सामग्रियों की उपेक्षा करते रहे। केवल प्रसंगवश ही मानव समाजों में राजनैतिक वस्तुस्थिति की भिन्नता के सम्बन्ध में कोई दिलचस्पी दिखाई गई।[2]

---

१. सर एच० एस० मेन, १८८८, पृ० ७२-४।

२. मिलाइये, ई० एम० सेट, १९३८, पृ० ९९-१३६।

इसके अलावा इस दृष्टिकोण को दो पद्धतिशास्त्रीय (Methodological) भूलों ने कलुषित कर दिया। जैसा कि हम बलपूर्वक कह चुके हैं, राजनैतिक संस्थाओं जैसी अमूर्त वस्तुओं का उद्गम केवल अनुमान द्वारा ही जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, राजनैतिक विकास के प्राग्-इतिहास का पुनर्निर्माण, जिसमें जीवित "आदिवासी" मानव को उनके प्रागैतिहासिक पूर्वजों का समकक्ष माना जाता है, मानवशास्त्रीय पद्धति के उस बुनियादी सिद्धान्त का उल्लंघन करता है, जिसके अनुसार वर्तमान अनक्षर लोग हमारे "समकालीन पूर्वज" नहीं हैं।

बहुत थोड़े ही राजनीति के विद्यार्थियों ने साक्षर संसार के बाहर की राजनैतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। अतएव सरकार के सिद्धान्तों को योरोप और अमरीका और कभी-कभी एशिया की ऐतिहासिक समाजों के राजनैतिक रूपों के शब्दों में विकसित किया गया है। परिणामतः अनक्षर संस्कृतियों में राजनैतिक संस्थाओं का अध्ययन करने वाले मानवशास्त्रियों ने किन्हीं राजनैतिक घटनाओं को मोटे निर्णयों के आधार पर अपने न्यासों में संकलित किया और उनका विश्लेषण किया है। उन्होंने यह विचार किये बिना कि किसी निर्दिष्ट प्रणाली में एकता संपादन करने वाले तत्व क्या रिश्तेदारी थी, या समान अभिरुचि थी, या आयु, भाषा, या भूभाग थे, राजनैतिक नियंत्रण के साधनों का सामाजिक संस्थाओं के अंग के रूप में वर्णन किया।

राजनैतिक कार्य प्रणालियों और परिणामतः सरकार के कार्यों को निम्न शब्दों में बताया गया है :

"राजनैतिक संगठन के अध्ययन में हमें एक भूभाग के अन्तर्गत दबाव डालने या दण्ड देने में समर्थ संगठित सत्ता द्वारा शारीरिक शक्ति के प्रयोग या उसकी संभावना द्वारा सामाजिक शान्ति को कायम रखने और स्थापित करने पर विचार करना पड़ता है। सुसंगठित राज्यों में पुलिसऔर सेना वे साधन हैं जिनसे कि दबाव डाला जाता है। राज्य के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति को चाहे वह कैसी भी हो, उसके कानूनों का उल्लंघन करने वालों को सज़ा देकर और विद्रोह को शस्त्रों से दबाकर क़ायम रखा जाता है। बाह्यरूप से राज्य या तो वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने के लिए या नई व्यवस्था उत्पन्न करने के लिए अन्य राज्यों के विरुद्ध शस्त्र-शक्ति के प्रयोग के लिए तैयार रहता है। अतः राजनैतिक प्रणालियों पर विचार करते हुए हम एक ओर कानून और दूसरी ओर युद्ध पर विचार कर रहे हैं।"[३]

अन्तः सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कोई भी संस्थायें जिनसे कि समाज का कार्य निर्देशित और उसके सदस्यों का आचार नियंत्रित होता है, चाहे वह कितनी ही अनौपचारिक प्रतीत हों, सरकारी संस्थाएं समझी जानी चाहिएं। लैविलिन और होयबल ने अपने चेयेन कानून के विश्लेषण की भूमिका में अपने एक सूचना-दाता हाई फोरहैड का वक्तव्य दिया है, जिसे कि सर्वत्र ही पुलिस के कार्य की परिभाषा कहा जा सकता है : "गोरे आदमी के हवालात में बन्द करने से पूर्व भी, प्रेयरी के मैदान में रहने वाले इंडियनों के पास कुछ ऐसी चीज़

---

३. ए० आर० रेडक्लिफ-ब्राउन, १९४०, पृ० १४।

थी जिससे कि वह गलत काम करने से दूर रहे।"[४] उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका के कोर्दोफ़ैन के काडेरो पर्वतों में रहने वाले एक छोटे न्यूबा क़बीले के संगठन की विवेचना करते हुए नैडेल कहता है :

"आदिकालीन राजनैतिक संगठन मूलतः युद्ध और शान्ति के लिए हैं, जिसमें बाहर युद्ध है और अन्दर शान्ति। राजनैतिक इकाई से बाहर मानव-जीवन पर किये गये आक्रमण वैध युद्ध समझे जाते हैं और उनके लिए ढीलेढाले स्वेच्छायुक्त प्रतिशोध को छोड़ जो कि युद्ध में प्राप्त हो ही सकता है, किसी और स्वीकृति की जरूरत नहीं पड़ती। राजनैतिक इकाई के अन्दर ऐसे आक्रमण अपराध घोषित किये जाते हैं और समाज ऐसा करने वालों को दंड देता है या प्रतिशोध के बाधित कार्यों (खूनी द्वन्द्व-युद्ध के रूप में) या प्रायश्चित्त-अनुष्ठानों के करने का आदेश देता है जिससे कि भग्न शान्ति पुनः स्थापित हो सके।"[५]

रेडक्लिफ-ब्राउन द्वारा समाज में राजनैतिक संगठन का यह नामकरण, कि "सम्पूर्ण संगठन का वह पहलू जो कि शारीरिक शक्ति के प्रयोग के नियंत्रण और नियमन से सम्बन्ध रखता है,"[६] इसके बावजूद कि वह संकीर्ण है, यह सोचने का आधार अवश्य जुटाता है कि इसके अन्तर्गत समाज के इस पहलू के विभिन्न रूपों पर विचार किया जा सकता है।

राजनैतिक अध्ययन में शब्दावलि के सम्बन्ध में कुछ अन्य प्रश्न जो अनिवार्यतः उठते हैं उन पर भी सावधानी से विचार करना आवश्यक है। क़ानून और राजनीति के अध्ययन की लम्बी परम्परा परिभाषा को "मूलभूत" मानती है। शायद **परिभाषा द्वारा** यह कहा जा सकता है कि अति प्रारम्भिक राजनैतिक संगठन वाले समूहों में जो कि सबकी सहमति द्वारा अपने जीवन का नियंत्रण करते हैं, "सरकार का अभाव है।" हम कितनी ही स्पष्ट परिभाषा क्यों न बनायें मध्यवर्ती उदाहरणों को निश्चित स्थान पर रखना बहुत कठिन होगा। इसपर सहमति की बहुत सम्भावना है कि इन अर्थों में पापुआ के केराकी लोगों में सरकार नहीं है, बावजूद इसके कि वहां प्रत्येक समूह में एक स्थानीय मुखिया है, जो कि यद्यपि "कोई ऐसे आदेश नहीं देता जिनका पालन अनिवार्य हो...फिर भी निश्चित रूप से समूह का नेता है।"[७] पर मैत्रो द्वारा अध्ययन किये गये दक्षिण अमरीका के चाको क़बीलों को कहां रखा जायेगा? इन लोगों के मुखियाओं के पास पर्याप्त शक्ति है, ये समुदाय के कल्याण के लिए जिम्मेदार हैं, इनके पास कुछ "अस्पष्ट न्यायिक अधिकार" भी हैं जिनके द्वारा चोर को चुराई हुई वस्तुवें लौटाने के लिये मजबूर किया जा सकता है। बाहरी मामलों में मुखिया कबीले के बाहर के समूहों से बातचीत में अपनी जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी इन्हें अपनी जनता की इच्छा के विरुद्ध आदेश देने का साहस नहीं होता और एक मुखिया, यदि उसका शासन सफल न हो, तत्काल अपने अनुयायियों को

---

४. के० एन० लैवेलिन और ई० ए० होयबल, १९४१, पृ० २।

५. एस० एफ० नैडेल, १९४२ बी, पृ० ५९।

६. उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २३।

७. एफ० ई० विलियम्स, १९३६, पृ० ११३।

खो बैठेगा ।[८] इन लोगों के राजनैतिक संगठन के वर्गीकरण के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्दों, जैसे कि "सरकार" या "सरकार-पूर्व" (pre-government) या "प्रथा द्वारा शासन" इन शब्दों का अधिक स्पष्ट परिसीमन करना होगा, जो कि अभी तक नहीं हुआ है ।

कब एक जनता की राजनैतिक संरचना को एक राज्य का नाम दिया जाय? क्या राज्य क़बीले से भिन्न कुछ चीज़ भी है? यदि है, तो हम पूछ सकते हैं, कब क़बीला एक राष्ट्र बन जाता है? ऐसे प्रश्नों का एक सम्भव उत्तर फोर्टेस और इवांस-प्रिचर्ड ने देशीय अफ्रीकी राजनैतिक प्रणालियों के अध्ययन में दिया है, जिन में से कुछ के पास "केन्द्रीय सत्ता, प्रशासनिक यंत्र, और न्यायिक संस्थायें हैं....और जिनमें सम्पत्ति, अधिकार और पद के भेद शक्ति और सत्ता के वितरण के अनुरूप हैं," जब कि औरों में नहीं हैं। "जो यह समझते हैं कि सरकारी संस्थाओं की उपस्थिति से राज्य की परिभाषा की जानी चाहिए, वे पहले समूह को आदिकालीन राज्य और दूसरे समूह को राज्यहीन समाज समझेंगे ।"[९] परन्तु ये विद्वान् भी पहले समूह में सरकार की उपस्थिति और दूसरे में उसका अभाव बताकर एक बार पुनः इस प्रश्न को वादविवाद का विषय बना देते हैं ।

२

अनक्षर लोगों द्वारा बसे क्षेत्रों में अफ्रीका में सबसे अधिक जटिल राजनैतिक संरचनाओं के दर्शन हुए हैं । पेरू और मैक्सिको राज्य भी इतने साधनों का संग्रह और शक्ति केन्द्रित न कर सके जितनी कि कुछ अफ्रीकी राजतन्त्रों ने की जो कि सामान्यतः प्रचलित "आदिकालीन" राज्य की अवधारणा की अपेक्षा मध्यकाल के यूरोप से अधिक मिलते जुलते हैं । यद्यपि यह भी याद रखना चाहिए कि अफ्रीका की सभी राजनैतिक संरचनायें इतनी जटिल न थीं ।

यह कल्पना करना मनोरंजक होगा कि यदि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अफ्रीका पर लिखी गई रचनाओं पर उतना ही ध्यान दिया गया होता जितना कि उत्तरी अमरीका, वेस्ट इंडीज और दक्षिणी सागरों के यात्रा-वृत्तान्तों पर दिया गया है तो उसका राजनैतिक दर्शन पर क्या प्रभाव पड़ता? डैपर, बारबोट, बॉसमैन और अन्य लोगों की रचनाओं का प्रयोग क्यों नहीं किया गया, यह उस काल की बौद्धिक विचारधारा के इतिहासज्ञ के सामने एक समस्या है। उनकी रचनायें लेखकों को निम्न निष्कर्षों पर पहुंचने से रोक सकती थीं, कि "न केवल...एक प्राक्-सामाजिक (Pre-social) राज्य ही एक समय विद्यमान था, प्रत्युत कुछ जंगली लोग अभी भी इससे बाहर नहीं निकल सके थे,"[१०] जैसा कि माइर्स ने इस काल की भ्रांत धारणाओं का संक्षेप देते हुए बताया है । यह भ्रांत धारणायें ईरोक्वी, हुरोन, कारिब और पैसिफिक आइलैंडर के सम्बन्ध में "कुलीन असभ्य" (Noble savage) की पूर्वधारणा से विकसित हुई हैं ।

---

८. ए० मेत्रो, १९४६ए, पृ० ३०३ ।

९. एम० फोर्टेस और ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४०, पृ० ५ ।

१०. सर जे० एल० माइर्स, १९१६, पृ० ५१ ।

अफ्रीकी साम्राज्यों में से सबसे अधिक पुराने साम्राज्य का आधुनिक क्षेत्रीय कार्य की सहायता से बहुत सावधानी से विवेचन किया गया है। गोल्ड कोस्ट दासों के व्यापार का केन्द्र था, और व्यापारियों ने अशान्ति और फांटी के राज्यों के,जिनसे वह मानव वस्तुओं में व्यापार करते थे और जिनके रिवाजों को जानना उनके लिए लाभकर था, अनेक विवरण लिखे। यह साम्राज्य भी डाहोमी, योरूबा और पूर्व में बेनिन की भांति स्थिर और स्थायी थे, यह उनके तीन सौ साल के ऐतिहासिक अभिलेखों से स्पष्ट है। इन साम्राज्यों की राजनैतिक कार्यप्रणालियां इतनी जीवित हैं कि इनके स्वायत्त संस्थाओं (Autonomous institutions) के रूप में समाप्त हो जाने पर भी, उनके कुछ पहलू नष्ट नहीं हो पाये हैं। जिस स्पष्टता से उन्हें विदेशी नियंत्रण में रहने वाले नौजवानों ने चित्रित किया है, यह उनकी सजीवता का प्रमाण है।

रैटरे ने अशान्ति क़बीले की सरकार के तीन बुनियादी तत्त्व बताये हैं : कि अशान्तियों पर "कुलीनता (Aristocracy) के बजाय पितृसत्ताक (Patriarchy) शासन था", कि किसी पद के लिए मनोनीत व्यक्ति को "अधिकारों के बजाय कर्त्तव्यों का उत्तराधिकार मिलता था", और कि प्रत्येक "अल्पतर वफ़ादारी" (Lesser loyalty) एक महत्तर वफ़ादारी को पाने के लिये साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती थी।[11] घर का "लघु प्रजातंत्र" लोगों द्वारा संचालित विस्तृत नियंत्रणों का मूलाधार था। वृहत्तर इकाइयों के संगठन में प्रत्येक सामाजिक इकाई का प्रतिनिधित्व उससे तत्काल बड़े समूह की सभा में उसका मुखिया करता था। प्रत्येक "वफ़ादारी के समकेन्द्रिक वृत्त" की अपनी परम्परा, अपने वंशावलीय अभिलेख और अपने अधिकारी थे।

इस प्रकार स्थानीय सत्ता पर अधिक जोर दिया जाता था। केवल संकट के समय जबकि साधनों को कुशलता से जुटाने और सम्मिलित कार्यवाही के लिए तत्काल निर्णयों की ज़रूरत होती थी, तभी राजनैतिक सोपानक्रम (Hierarchy) निरंकुशता से काम करती दीखती थी। अन्यथा अपनी परिषद के सदस्यों की पूर्ण सहमति के बिना काम करने वाला मुखिया अपने पद से हटाया जा सकता था। कौंसिल के सदस्य भी स्वयं अपने मातहत लोगों और इसी प्रकार नीचे तक प्रत्येक परिवार के सदस्यों से मशविरा कर राय देते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि अशांति राज्य आदर्श राज्य (Utopian) था। शासकों के पास शक्ति थी और वह जानते थे कि वह अपनी इच्छित आर्थिक और सामाजिक मर्यादा को क़ायम रखने के लिए किस तरह से उसका प्रयोग करें। फिर भी यह शक्ति सदा रूढ़ियों की सीमा और श्रेणीबद्ध संगठन में अपने से नीचे वालों के प्रति दायित्व को ध्यान में रखकर प्रयोग की जाती थी। अन्ततः उनकी ऐसी संरचना थी, जिसमें प्रत्येक अशांति पुरुष सरकार में अपना अधिकार अनुभव और प्रयुक्त करता था।

अशान्ति राजनैतिक संरचना में, उसके पतन के समय भी, प्रत्येक पांच प्रादेशिक

---

११. आर० एस० रैटरे, १९२९, पृ० ४०१-२।

विभागों में एक सदर मुखिया रहता था वह अपने स्टूल (सिंहासन शब्द का अशान्ति पर्याय) के शासन में एक बुजुर्गों के समूह से सलाह लेता था जो कि एक रिश्तेदारी-समूह के बुजुर्ग सदस्यों के समान होते थे, जो अपने मुखिया के सलाहकार के रूप में कार्य करते हैं। सदर मुखिया की सेना में न व्यक्तियों को दिये गये ओहदे उनके स्थान को बताते थे; चूंकि प्रत्येक प्रादेशिक इकाई की अपनी सेना थी, उसमें प्रत्येक बालिग पुरुष को स्थान मिलता था। सदर मुखिया के नीचे विभागीय इकाई और उप-इकाइयों के मुखिया थे, जिनके अपने दरबार, नौकर-चाकर और सेना संगठन थे। इनका सम्बन्ध सदर मुखिया के साथ उसी प्रकार का था जिस प्रकार कि उसका स्वयं राजा **अशांतेहेन** के साथ था। प्रादेशिक विभाग के पदाधिकारियों की निम्न सूची दी जा सकती है :

१. मुखिया (**ओहेन** या **ओमानहेन**), अन्य सभी अधिकारियों की भांति, मातृ-कुल में से सभी सम्भव उम्मीदवारों में से बुजुर्गों द्वारा चुना जाता था। उसका एक पवित्र गुण (Sacred quality) होता था जो कि जब तक वह अपने पद पर रहता था तभी तक कायम रहता था, स्टूल से च्युत होने पर वह पुनः साधारण व्यक्ति बन जाता था और अपनी ग़लतियों के लिए ज़िम्मेदार होता था।

२. राज-माता, एक बड़ी शक्ति थी, जिसे कि रैटरे ने ज़ोरदार भाषा में "स्टूल के पीछे की फुसफुसाहट कहा है।" सभी महत्वपूर्ण मौक़ों पर मुखिया (**ओहेन**) उसकी सलाह लेता था और उसकी आवाज़ का उसके विनम्र बाह्यरूप से कहीं अधिक वज़न था।

३. **कोंटायर** और **अक्वामू** मुखिया, उपसेनापति और उससे निम्न अधिकारी हैं। देशी पंचायतों में इनका विशेष महत्व था और मुखिया (**ओहेन**) को स्टूल पर बैठाने में भी इनका बड़ा हाथ होता था।

४. गोत्र का मुखिया, जोकि **ओहेन** के रिश्तेदारी-समूह के सदस्यों के हितों की देख-भाल करता था। वह अपने मुखिया (**ओहेन**) से राजकुल के सिब के मुक़दमों के फ़ैसले के काम को ले लेता था और इस प्रकार अपने से बड़े को पक्षपात के आक्षेप से मुक्त करता था।

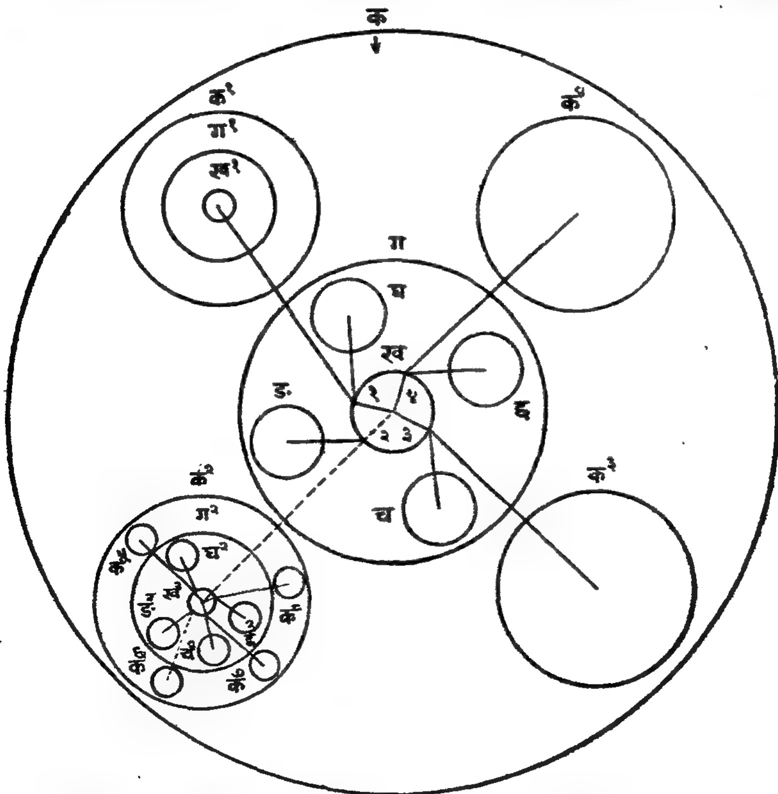
५. सेना के अफ़सर, जिन में सेना के दायें बायें पार्श्व के नेता सम्मिलित थे। अगली रक्षक टुकड़ी का नेता, मुख्य सेना का अधिपति, मुखिया (**ओहेन**) के अंग-रक्षकों का अधिकारी और पिछली टुकड़ी के अधिपति, क्रमशः इनसे नीचे थे।

६. **ग्यासे हेन**, "राजभवन" के संगठन का निर्माण करने वालों का मुखिया, जो मुखिया (**ओहेन**) के परिवार के विशेष विभागों के अध्यक्ष थे। यह बताने के लिए कि वह कितने बड़े और जटिल आनुष्ठानिक संगठन का अध्यक्ष था, हम उनके नाम नीचे दे रहे हैं :

प्रवक्ता	चारपाई लेकर चलने वाले
स्टूल वाहक	फ़र्श चमकाने वाले
ढोल और सिंगा बजाने वाले	खज़ांची और उपखज़ांची
छत्र लेकर चलने वाले	हिजड़े
शाही मक़बरे के रक्षक	सावधान करने वाले
स्नानगह के परिचारक	तलवार लेकर चलने वाले
मुखिया की "आत्मा को धोनेवाले"	बंदूक लेकर चलने वाले

हाथी की पूंछ बांधने वाले	ढाल लेकर चलने वाले
पंखा लेकर चलने वाले	चारण
रसोई पकाने वाले	जल्लाद[१२]

अशान्ति के राज्य में सत्ता किस प्रकार निहित थी और किस प्रकार उसका शासन होता था इसे समझने के लिए **बिरेमपोन** और **अडाम्फो** नाम के अधिकारियों के कार्यों को समझना जरूरी है, इसी पर स्थानीय विभागों का सोपानक्रम अब भी निर्भर है। अपने तात्कालिक बड़े अधिकारी की तुलना में **बिरेमपोन** एक छोटी इकाई का मुखिया है। पर यह आदमी अपने से श्रेष्ठ अधिकारी की परिषद् के सदस्य नहीं होते, उनकी अपनी परिषद् होती है। **अडाम्फो** एक निर्दिष्ट **बिरेमपोन** के दरबार का संरक्षक होता है, चूंकि शिष्टाचार का तक़ाज़ा है कि एक निम्न व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ के सम्मुख उचित औपचारिकता के साथ और एक मध्यस्थ के मार्फत उपस्थित हो। इस प्रकार **अडाम्फो** मुखिया **(ओहेन)**



रेखाचित्र २४—अशान्ति-राजनैतिक संगठन (रैटरे के आधार पर, १९२९)

१२. वहीं, पृ० ८१-९१।

की परिषद् का वह सदस्य है जो कि एक छोटे मुखिया बिरेमपोन का, उससे बड़े मुखिया के साथ व्यवहार में प्रतिनिधित्व करता है।[13]

रैटरे का **रेखाचित्र,**[14] जिसमें कि एक प्रादेशिक विभाग का संगठन दिखाया गया है, वहां सत्ता कैसे कार्य करती है तथा उसको बनाने वाले समूहों के क्या सम्बन्ध हैं, यह बताने में सहायक सिद्ध होगा। बाहरीवृत्त **क** बड़े मुखिया---और एक राजमाता के आधीन प्रादेशिक विभाग को दर्शाता है जो कि इस वृत्त के केन्द्र में दिखाये गये हैं। वृत्त **क** के अन्दर और उसका समकेन्द्रक छोटा वृत्त **ख** है, जिसकी परिधि में १, २, ३, ४, संख्यायें लिखी हुई हैं। यह चारों संख्यायें बड़े मुखिया के चार बुजुर्गों के स्थानापन्न हैं जो कि (अन्यों के साथ) बड़े मुखिया को घेरे रहते हैं और शाही **अनुचर दल** का निर्माण करते हैं। वृत्त **ख** से ज़रा दूर, लेकिन उसके समकेन्द्रक नहीं, चार छोटे वृत्त **घ, ङ, च,** और **छ** हैं। यह वृत्तछो टे बाहर बसे हुए गांवों को जो कि सीधे बड़े मुखिया के मातहत हैं, दिखाते हैं। वृत्त **ग** सबको घेर लेता है और इसी के बीच सारे प्रादेशिक विभाग की धुरी है। इस वृत्त **ग** के बाहर, पर उसके केन्द्र से असम्बद्ध कुछ छोटे चार वृत्त **क**^{१}, **क**^{२}, **क**^{३}, और **क**^{४} हैं, जो कि चार **बिरेमपोन** उपविभागों को दर्शाते हैं, इनमें से प्रत्येक बड़े मुखिया के मातहत हैं। **क**^{१} से **क**^{४} तक, इन चारों छोटे वृत्तों में छोटे पैमाने पर ही सही, बड़े वृत्त **क** के समान संगठन विद्यमान हैं। प्रत्येक का अपना स्थानीय बड़ा मुखिया है और उसके सलाहकार हैं, इन सलाहकारों के मातहत गांव हैं और अन्ततः वृत्त **ग**^{१}, **ग**^{२} इत्यादि के बाहर नगर हैं, जो कि वृत्त **क**^{५} से **क**^{८} तक दिखाये गये हैं, और यह **बिरेमपोन** से कम महत्व के मुखियाओं के नीचे हैं; यह सीधे **बिरेमपोन** के नीचे हैं और इस प्रकार परोक्षरूप से बड़े मुखिया के नीचे हैं। वृत्त **क**^{२} के **बिरेमपोन** के सामने वृत्त **क**^{५} से **क**^{८} तक के छोटे मुखिया, छोटे **बिरेमपोनों** के समान हैं।

सभी रेखायें अन्ततोगत्वा वृत्त **क** के केन्द्र बड़े मुखिया की ओर जाती हैं। संचार की कड़ी जो कि एक छोटे अफ़सर को बड़े मुखिया से जोड़ती है, रेखा चित्र में बिन्दु वाली रेखा से दिखाई गई है।

यह रेखा **क**^{६} के केन्द्र से शुरू होती है और **क**^{२} विभाग के **बिरेमपोन** के सीधे मातहत एक शहर के मुखिया को दर्शाती है। **क**^{६} के केन्द्र से शुरू होकर यह रेखा सीधे वृत्त **ख**^{२} की परिधि के एक बिन्दु पर जाती है, जो कि इसके सम्पर्क का पहला बिन्दु है। यह बिन्दु वृत्त **क**^{२} द्वारा निर्दिष्ट विभाग के मुखिया के एक बुजुर्ग का प्रतिनिधित्व करता है,...जो कि **क**^{६} पर शासन करने वाले मुखिया का **अडाम्फो** है। फिर, यह रेखा वृत्त **क**^{२} के केन्द्र तक, अर्थात् बड़े मुखिया के **बिरेमपोन** तक सीधी चली जाती है। यहां से यह वृत्त **ख** की परिधि पर '२' चिन्हित स्थान तक पहुंच जाती है। यह बिन्दु बड़े मुखिया के एक बुजुर्ग का प्रतिनिधि है, जो **क**^{२} वृत्त के **बिरेमपोन** का **अडाम्फो** है। इसके बाद रेखा सीधी वृत्त **क** के केन्द्र से अर्थात् समस्त प्रादेशिक विभाग के प्रधान मुखिया से मिल जाती है।

---

१३. वहीं, पृ० ९३।

१४. वहीं, पृ० ९७।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। "यह गौर करने की बात है कि किसी एक वृत्त के केन्द्र और किसी दूसरे वृत्त के केन्द्र के बीच संचार की एकमात्र रेखा केवल वृत्त क के बीच से ही गुजरती है। इस समान-सम्पर्क के केन्द्रीय बिन्दु को हटा दीजिए तो, जो कुछ बच रहता है वह छोटे बड़े असम्बद्ध वृत्तों का एक जमघट रह जाता है।" यह सिद्धान्त समस्त राज्य के लिए लागू था, जो कि एक विभाग के दिये रेखा-चित्र का एक अधिक जटिल विस्तार मात्र था। सम्पर्क-बिन्दुओं में से किसी एक बिन्दु की उपेक्षा करने का प्रयत्न करने पर, उदाहरण के लिए जहां किसी एक अधिकार क्षेत्र के अफ़सर का किसी दूसरे अधिकार क्षेत्र के अफसर से झगड़ा है, वहां उसकी उपेक्षा पर, "सभी सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा बड़ी नाराज़गी प्रकट की जाएगी और किसी भी मध्यस्थ की उपेक्षा के नियमित प्रयास ऐसे असन्तोष की सृष्टि करेंगे जो कि अन्ततोगत्वा प्रशासनिक यंत्र की व्यवस्थित गति को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर देंगे।" इसी लिए, जैसा कि रैंटरे कहता है, "इस रेखा-चित्र को समझना....अशान्ति समाज के विकेन्द्रित संविधान को समझने की कुंजी है।"[१५]

अशान्ति के राजतंत्र में आधुनिक राज्य के अधिकांश अंग विद्यमान थे, जैसे कि राजस्व संग्रह करने की स्पष्ट व्यवस्था, वित्त-व्यवस्था, राज्य के कानून को लागू करने और झगड़ों के निपटारे के लिए अदालत, और सेना। मृत्युशुल्क की जटिल प्रणाली द्वारा, कुछ सामयिक व्यापारिक एकाधिकरणों (Monopolies) द्वारा जिनसे कि शासकों को मौसमी चीज़ों के बेचने से कुछ विशेष लाभ हो जाता था, करों (विशेषतः आयात कर) द्वारा, एवं अदालती जुर्माने और फ़ीसों, तथा खानों से निकाले गये सोने पर प्रतिशत रायल्टी द्वारा राजस्व प्राप्त किया जाता था। मुखिया के अन्त्येष्टि संस्कार के लिए विशेष कर भी वसूल किये जा सकते थे, युद्ध की लूट का एक भाग, युद्ध-कर, अज्ञात संपत्ति की जप्ती, मुखिया के सिंहासनारोहण के सम्बन्ध में लगाई गई फीस, और खाद्य सामग्री, जंगली शिकार व मछली आदि पर टैक्स लिये जाते थे। राजस्वों को स्थापित अनुपातों के अनुसार विभिन्न अफ़सरों में बांट दिया जाता था, और जोकुछ बच रहता था, उसे हथियार, बारूद खरीदने और मनोरंजन और राग-रंग पर खर्च किया जाता था। आखरी मद किसी भी अफ़सर की आय पर बड़ा बोझ थी, चूंकि जो कोई भी मुखिया के स्थान पर जाता, उसे भोज और शराब देनी पड़ती थी। इसका अर्थ है कि हर मुखिया को व्यवहार में अपने अतिथियों के लिए निरंतर घर खुला रखना पड़ता था। यह अनक्षर लोग कौड़ी के सीपों और कोषरक्षकों की असाधारण स्मरण-शक्ति की सहायता से अपने आय-व्यय और खज़ाने का हिसाब रखते थे।

स्टूल से सम्बन्धित कुछ मुखियाओं के नाम गिनाते समय सेना के संगठन के सम्बन्ध में कुछ संकेत किया जा चुका है। निःसंदेह सेना पर ध्यान दिये जाने के कारण ही अशान्ति को युद्ध में सफलता मिली और इस सफलता ने उन्हें पश्चिमी अफ्रीका में सर्व-विख्यात और सर्वाधिक भयोत्पादक लोग बना दिया। अदालती मामले एक मुखिया और उसके बड़ों द्वारा सुने जाते थे और बड़े अधिकारियों की कड़ी की मार्फ़त अपील भी की

---

१५. वहीं पृ० ९६-१०१।

जाती थी। इन न्यायाधिकरणों के सामने कत्ल, आत्म-हत्या (अर्थात्, मृत व्यक्ति पर उन अपराधों के लिए जिनके बारे में यह विश्वास किया जाय कि वे उसने किये हैं, मुक़दमा चलाया जाता था), कुछ यौन अपराध, जैसे कि अगम्यागमन (Incest), कुछ प्रकार की गालियां, अपमान या चोरियां, मुखिया को श्राप देना, देशद्रोह, कायरता, पापमय जादू-टोना और क़बायली टैबुओं या शपथों का उल्लंघन आदि मामले लाये जाते थे। भूमि-व्यवस्था और भूमि के हस्तान्तरित करने के पेचीदा मामले और गिरवी रखने, ऋण देने और ऋण वसूली के मामले भी फैसले के लिए अदालतों के सामने आते थे। सजा कड़ी थी। फांसी, अंगभंग, और कोड़े लगाना कुछ सजायें थीं, जबकि प्रारम्भिक काल में अपराधी को दास बनाकर बेच दिया जा सकता था। अदालत की कार्य-प्रणाली में गवाही और दैवीय परीक्षायें (Ordeals) भी सम्मिलित थीं।

एक अशान्ति व्यक्ति के लिए इस सरकारी यंत्र का क्या अर्थ था ? यह स्पष्ट है कि वह यह जानते हुए अपने काम-काज कर सकता था कि यदि वह प्रथा द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन करेगा, तो उसे कोई हानि नहीं पहुंचायेगा। उसे इस बात का भी विश्वास था कि अलौकिक शक्तियां भी उसका ख्याल रखेंगी और वह उनका कोपभाजन नहीं बनेगा। यदि उसपर अपराध का अनुचित अभियोग लगा दिया जाय या वह किसी साथी के साथ झगड़े में पड़ जाय, तो वह कानून की प्रक्रिया से लाभ उठा सकता था, विदेशी आक्रमणों से उसका परिवार सुरक्षित था और एक अशान्ति की हैसियत से, उसे यह अहसास था कि वह क़बीले के कार्यों में भाग ले रहा है (यद्यपि यह अत्यन्त अप्रत्यक्ष था) और उसके भाग्य निर्धारण में उसकी भी आवाज़ है। यहां फिर इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि मानव प्राणियों द्वारा रची गई अन्य राजनैतिक प्रणालियों की अपेक्षा यह राज्य-व्यवस्था पूर्णता के अधिक निकट न थी। सामान्य नागरिक का बड़े लोगों द्वारा शोषण होता था और कभी-कभी तो बहुत बेरहमी से। कभी-कभी अदालतें अपने कार्य नहीं करती थीं और बड़े सदा ही न्याय करने में ईमानदार न थे। इन कमियों को नज़र-अन्दाज़ करने से उस मिथ्या कल्पना की ही सृष्टि होगी जिसने कि स्वच्छंद असभ्य मानव की अवधारणा को जन्म दिया। फिर भी इससे इन्कार करना मुश्किल है कि अपनी मानवीय सीमाओं में अशान्ति राज्य ने अच्छा कार्य किया और उसने अपने अधिकांश नागरिकों के व्यवहार को नियंत्रित करने और उन्हें शान्ति प्रदान करने में कुशलता का परिचय दिया।

२

अनक्षर समाजों में अशान्ति लोगों की सरकारी संस्थायें अत्यन्त जटिलता की प्रतिनिधि हैं। ऐसी संस्कृतियों से लेकर जैसी कि यह हैं, इस हद तक भिन्नता है कि जहां छोटे समाजों में सरल प्रोद्योगशास्त्र के साथ राजनैतिक संरचनायें केवल परिभाषा में विद्यमान हैं, और कानून (Law) तथा प्रथा (Custom) के भेद को ढूंढना प्रायः असम्भव सा है।

बुश-मैनों के कुछ बड़े गिरोहों में मुखिया हैं किन्तु अधिकांश में प्रवास और शिकार जैसे "समान कार्य" उन लोगों के निर्देशन में हैं जिनका कौशल उन्हें सम्मान और उनके साथियों द्वारा आज्ञापालन प्रदान करता है। जहां मुखिया मिलते हैं, वे केवल एक

स्थान से दूसरे स्थान पर जाने, शिकारी प्रदेश के जलाये जाने और लड़ाई में नेतृत्व और निर्देशन का काम करते हैं। यह "अधिकारी" इस प्रकार एक ऐसा नेता है, जिसकी सत्ता (Authority) उसकी योग्यता के प्रदर्शन पर ही आधारित है। वह न तो अपने साथियों के बारे में कोई फैसला देता है और न ही अपने परिवार के बालिग सदस्यों पर नियंत्रण रखता है। समूह की प्रथा-सम्मत आदतों तथा विश्वासों को छोड़ कोई क़ानून की संहिता नहीं है। परदारगमन, चोरी और क़त्ल खून के बदले खून के सिद्धान्त द्वारा दंडित किये जाते हैं, जहां तक अन्य अपराधों का सम्बन्ध है, ऐसा माना जाता है कि वह अलौकिक शक्तियां, जिन के टैबुओं का उल्लंघन किया गया है, वह स्वयं ही अपराधी को सज़ा दे देंगी। प्रत्येक गिरोह को अपनी एकता और इस बात का अहसास है कि वह एक शिकारी प्रदेश से बंधा हुआ है जिसकी सीमायें स्वीकृत हैं और जिसके बीच उसे अपनी गतिविधि को सीमित रखना है। विवाह, व्यापार और समान आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप स्थापित सम्बन्ध इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उनके सम्पर्क पूर्णत: अनियंत्रित नहीं हैं। जब एक गिरोह का सदस्य अन्य गिरोह के सदस्य के विरुद्ध अपराध करता है तो उन दोनों के बीच दुश्मनियां या कलह हो सकते हैं।[१६]

क्या यह सरकार है ? क्या हम ऐसे छोटे और ढीले ढाले तरीक़े से संगठित समूह को "राज्य" कह सकते हैं ? क्या उनके प्रथासम्मत आदेशों के अनुसरण को "कानून" कहा जा सकता है ? क्या उनके कलह को "युद्ध" कहा जा सकता है ? यह प्रश्न और भी उग्र हो जाते हैं जब हम इन प्रारम्भिक राजनैतिक प्रणालियों की अशांति लोगों की रोबीली संस्थाओं से तुलना करते हैं। और ऐसे प्रश्न उन प्रश्नों के साथ जिन्हें कि पिछले पृष्ठों में उठाया जा चुका है, और भी अधिक पेचीदा हो जाते हैं जबकि हम एक और अफ्रीकी कबीले न्वार पर विचार करते हैं। इनकी जनसंख्या लगभग दो लाख है और यह कई कबीलों में बंटे हुए हैं। इवांस-प्रिचर्ड के अनुसार यह लोग एक "व्यवस्थित अराजकता" में रहते हैं, जो कि इनकी राजनैतिक प्रणाली को एक मुखिया-विहीन रिश्तेदारी-राज्य बनाती है जिसमें कानूनी संस्थाओं या विकसित नेतृत्व का अभाव है।[१७]

कबीले खंडों (Segments) में बंटे हुए हैं और खंड कुलों (Lineages) में, और कोई व्यक्ति किसी क़बीले के किस अंश का सदस्य है यह विशेषकर इस तात्कालिक परिस्थिति पर निर्भर करता है कि क्या वह समूह जिससे वह संभवत: सम्बद्ध है, किसी दूसरे वैसे ही समूह का विरोधी है कि नहीं। हम देख चुके हैं कि न्वारों का विभाजन सामाजिक संरचनाओं में किस प्रकार कार्यान्वित होता है। क़बायली जीवन के राजनैतिक पहलू में यह "राजनैतिक संरचना में परस्पर विरोध के सिद्धान्त" को जन्म देता है। पुन: एक रेखाचित्र इसे स्पष्ट करने में सहायक होगा।

---

१६. आई० शंपेरा, १९३०, पृ० १४९-१५९।
१७. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४०, पृ० १८१।

"जब ग^1, ग^2 से लड़ता है तो कोई अन्य भाग उसमें सम्मिलित नहीं होता। जब ग^1 ख^1 से लड़ता है तो ग^1 और ग^2 ख^1 के रूप में एक हो जाते हैं। जब ख^1 क^1 से लड़ता है, तब ख^1 और ख^2 एक हो जाते हैं, इसी प्रकार क^1 और क^2 भी। जब क^1 अ से लड़ता है तब, क^2, ख^1 और ख^2 ब के रूप में एक हो जाते हैं। जब अ दिन्का पर आक्रमण करता है, तो अ और ब मिल सकते हैं।"

कबीले की सामाजिक संरचना में "कबीले ब के क्षेत्रीय विभाग, ग^2 का एक सदस्य अपने को ग^1 के प्रसंग में ग^2 का सदस्य समझता है.....किन्तु ख^1 के प्रसंग में वह अपने को ख^2 का, न कि ग^2 का सदस्य समझता है और ख^1 के सदस्यों द्वारा भी ऐसा ही समझा जाता है। और इसी प्रकार क के विरुद्ध वह अपने को ख का, ख^2 का नहीं, और क़बीले अ के विरुद्ध वह अपने को क़बीले ब का, न कि उसके मुख्य विभाग ख का सदस्य समझता है···राजनैतिक मूल्य सापेक्ष हैं.....और राजनैतिक प्रणाली मिलने और पृथक् होने की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच और सभी समूहों की खण्डों में पृथक् होने और सभी समूहों की एक ही क्रम के खण्डों से मिलने की प्रवृत्ति के बीच एक संतुलन है।"[१८]

अ	क	ख	
	क^1	ख^1	
	क^2	ग^1	ख^2
		ग^2	

रेखाचित्र २५—न्वार राजनैतिक विभाजन

न्वार योद्धा लोग हैं तथा कट्टर व्यक्तिवादी हैं। पीड़ित होने पर ऐसी कोई सत्ता नहीं जिससे व्यक्ति सहायता की याचना कर सके, अतः द्वन्द्व-युद्ध ही एकमात्र रास्ता है, और यह बाद में खानदानी दुश्मनी में बदल सकता है। किन्तु जब एक आदमी दूसरे का वध कर देता है, वह एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के पास जिसे कि तेन्दुए की खाल का मुखिया कहते हैं, तब तक शरण पा सकता है जब तक कि इस अपराध को निपटाने के समझौते की बातचीत पूरी होती है। समूह जितना बड़ा होता है, उतना ही व्यक्ति का कार्य कठिन हो जाता है, फिर भी यदि उसका समूह बहुत बड़ा नहीं है, उसे प्रायः सफलता मिलती है। सम्पत्ति की हानि, परदारगमन, अंगहानि जैसे अन्य झगड़े क्षतिपूर्ति द्वारा, जिसकी मात्रा सामान्य चलन द्वारा निर्धारित होती है, तय किये जाते हैं। तेंदुए की खाल वाले मुखिया-मध्यस्थ की सहायता को छोड़, व्यक्ति के पास अदालत जैसा ेई कानूनी साधन नहीं जिससे कि वह अपनी शिकायत दूर करवा सके। अतएव न्वार क़ानन का अस्तित्व "रूढ़िगत रीतियों से, न कि क़ानूनी कार्य प्रणाली या कानूनी संस्थाओं के रूप में, झगड़े निपटाने का एक नैतिक दायित्व है।"

---

१८. वहीं, पृ० १४३–४, १४७।

हम पुनः अपने प्रश्नों की ओर मुड़ते हैं। अकेले अफ्रीकी महाद्वीप में ही स्पष्ट और कठोर एकीकरण से लेकर नेता के व्यक्तित्व द्वारा लागू किये गये और लोगों की स्वीकृत परम्पराओं द्वारा लागू किये आदेशों तक अनेक क़बायली नियंत्रणात्मक प्रणालियां प्रचलित हैं। इनकी भिन्नताओं के बावजूद, यह सब प्रणालियां वह साधन हैं जिनके द्वारा लोग रिश्तेदारी-समूहों के बन्धनों को अतिक्रमण कर जिस क्षेत्र में वह रहते हैं या जिस पर शासन करते हैं उससे अपनी एकता स्थापित करते हैं और अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा मौका पड़ने पर अन्य स्वायत्त समूह के साथ अपने कार्यों का संचालन करते हैं। इससे अधिक हम कुछ नहीं कह सकते, फिर भी हम रूपों की उस विविधता को समझते हैं जो किइन कार्य करने वाली इकाइयों में जो कि उन उद्देश्यों को, जिन्हें कि हम राजनैतिक कहते हैं, प्राप्त करती हैं, पाई जाती हैं।

४

जब हम अफ्रीकी महाद्वीप से बाहर अन्यत्र अनक्षर समाजों में राजनैतिक घटनाओं के रूपों का अध्ययन करते हैं, तो परिभाषा की नमनीयता का यह पूर्वोक्त सिद्धान्त हमारा मार्ग दर्शक होना चाहिए। पौलिनेशिया में राजनैतिक संरचनाओं के आधार को प्रायः धर्मतांत्रिक (Theocratic) कहा जा सकता है। मुखियाओं की देवताओं से उत्पत्ति, उनके पद की प्रधान स्वीकृति है। वह शक्ति की अपेक्षा पद पर ज़ोर देते हैं, और पद के साथ जुड़े हुए टैबू तथा उसको उचित ठहराने वाले प्रदर्शन यही उनकी स्थिति को बनाये रखने में मुख्य कारक हैं। मैलेनेशिया और न्यूगिनी में राजनैतिक संस्थायें कमज़ोर हैं। विलियम्स बताता है कि पापुआ में क़बीले की परिभाषा "(१) एक समान भू-भाग, (२) कुछ रिवाजों की विशेषताओं, (३) एक पृथक् बोली, और (४) समान शत्रुताओं" द्वारा की गई है, और "ओरोकेवा की मुखियागिरी अत्यन्त प्राथमिक प्रकार की है।"[१९] जहां पुरुषों की समितियां हैं वहां समूह को प्रभावित करने वाले विषयों के निर्णय के लिए एक उच्च प्रकार के प्रमुख सदस्य की सहायता ली जाती है। पूर्वी मैलेनेशिया के द्वीपों में असली और स्पष्ट मुखियागिरी प्रकट होती है, किन्तु कार्य चलाने की प्रणालियां बहुत सरल हैं और शासन एक व्यक्तिगत मामला है, छोटे समुदायों में ही यह सम्भव है। इसके विपरीत, इण्डोनेशिया में बड़ी जनसंख्या जटिल नियंत्रणों को आवश्यक बना देती है।

बहुत समय से आदिवासी उत्तरी व दक्षिणी अमरीका में सरकार के प्रजातांत्रिक स्वरूप को स्वीकार किया जा चुका है। फिर भी अपवाद उल्लेखनीय हैं। पेरू के इंका साम्राज्य, ईक्वेडोर, कोलम्बिया, माया, टोल्टेक और मैक्सिको के आज्टेक राजतंत्र के बाहर भी गैर-प्रजातांत्रिक लोग विद्यमान थे, और उनकी भलीभांति संस्थागत शासन संरचनायें थीं जिन्हें कि वंशानुगत अधिकार-प्राप्त व्यक्ति चलाते थे। उत्तरी पश्चिमी तट के समाज का स्तरीकरण मानवशास्त्रीय साहित्य में प्रसिद्ध हो गया है, यद्यपि "सामाजिक प्रतिष्ठा की तुलना में उसके मुखिया की राजनैतिक शक्तियां बहुत कम

---

१९. एफ० ई० विलियम्स, १९३०, पृ० १५६, ३२५

थीं।[20] दक्षिण-पूर्व के नटचेज़ लोगों की सरकार उत्तरी-अमरीकी कबीलों के प्रचलित प्रजातांत्रिक प्ररूपों से बहुत दूर थी। ऐसा लगता है कि यहां समता का सिद्धान्त पूर्णतः समाप्त हो गया है। एक निरंकुश शासक जिसका कि अपनी प्रजा के जीवन व मृत्यु पर पूर्ण अधिकार था, अपनी प्रजा द्वारा पवित्र व धर्मात्मा समझा जाता था और वह उन पर उन नियंत्रणों को लागू करता था जो कि उसे अन्ध आज्ञापालन प्राप्त करने में सफलता देते थ।

ईरोक्वी का संघ जो 'पांच राष्ट्रों' के नाम से प्रख्यात है पूर्वीय उत्तरी अमरीका में अधिकतर प्रचलित सरकार के एक रूप को व्यक्त करता है। इस संघ को बनाने वाले मोहाक, ग्रोनीडा ग्रोनोनडागा, कायूगा और सीनेका यह पांच कबीले थे। स्थानीय मामलों में प्रत्येक स्वायत्त था, किन्तु क़बीलों के बीच विद्यमान सम्बन्धों या संघ से बाहर के समूहों के मामलों से निपटने के लिए पचास प्रतिनिधियों की एक परिषद् सब के लिए कार्य करती थी। संघ से पहले की अवस्थाओं के कारण इस संस्था में क़बीलों का समान प्रतिनिधित्व न था, प्रतिनिधियों की संख्या आठ से चौदह तक थी। चूंकि निर्णय सर्वसम्मति से होने ज़रूरी थे, अतः इस भिन्नता से किन्हीं क़बायली अधिकारों का हनन न होता था। यह परिषद् जनमत से बहुत प्रभावित थी, चूंकि इसके सामने कोई भी व्यक्ति विचाराधीन विषय पर अपने विचार या युक्ति रख सकता था। शान्ति कायम रखना, संधियां करना और कबीलों के आपसी झगड़ों को निपटाना इसका मुख्य कार्य था, युद्ध को अन्तिम हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता था। तथापि यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक क़बीले का अपना एक आंतरिक संगठन था जिसकी अपनी सभा होती थीं, जिसमें उसके संघ के प्रतिनिधि और युद्ध के लिए नियुक्त मुखिया होते थे। क़बायली परिषद् में प्रत्येक क़बीले के घटक सिब-समूहों का प्रतिनिधित्व होता था और यह तथ्य कि सिब क़बायली सीमाओं को पार कर जाते थे, संघ के पृथक् कबायली राजनैतिक धागों के राजनैतिक ताने में रिश्तेदारी-सम्बन्ध (Kin-affiliation) के बाने का काम दे उसे सुदृढ़ बनाता था।

इसमें स्त्रियों की भूमिका के कारण इस संघ की दिलचस्पी विशेष बढ़ जाती है। "मातृसत्ताधारी" (Matriarchs) स्त्रियों का इसमें इतना अधिक महत्त्व था कि इसे प्रायः स्त्री-राज्य के रूप में उद्धृत किया गया है। परन्तु वास्तव में यह तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ है; स्त्रियां सक्रिय शासक होने की अपेक्षा सिंहासन के पीछे एक शक्ति थीं। अतएव क़बायली परिषदों के सदस्य पुरुष थे, किन्तु वह अपने परिवारों की मातृसत्ताधारी स्त्रियों द्वारा मनोनीत किये जाते थे और कारणवश उनके द्वारा पृथक् भी किये जाते थे। स्त्रियां ही सिब के मुखियाओं को जोकि संघ में क़बीले के प्रतिनिधि बनते थे, नियुक्त करती थीं। किन्तु वास्तविक निर्णय इन पुरुषों द्वारा ही किये जाते थे।

सामान्यतः अमरीकाओं में सरकार अनौपचारिक थी। उदाहरण के लिए फुफेरे, ममेरे भाई-बहनों (Cross cousins) में उपहास, मैदानों में आचार के

---

२०. आर० एच० लोवी, १९२०, पृ० ३८३।

नियंत्रण का एक प्रभावशाली साधन था, जबकि भैंसों के सामुदायिक शिकार या कबायली सभायें, युद्ध-सभा या अन्य संगठन जो पुलिस का कार्य करते थे, शान्ति स्थापन के लिए अधिक औपचारिक साधन थे। यह अस्पष्ट संस्थायें विशिष्ट रूप और स्थिरता धारण कर सकती थीं, जैसा कि चेयेन लोगों में था, जहां चवालीस लोगों की परिषद् और सैनिक सभायें थीं। यह परिषद् "क़बायली संरक्षकों की स्थायी संस्था" थी और इसका कार्यकाल दस वर्ष था, जिसके बाद नये मुखियाओं के बनने का अनुष्ठान होता था। इस समूह के पांच सदस्य बड़े मुखिया थे जिनके कार्य धार्मिक और राजनैतिक दोनों थे। वह जनमत का आदर करते थे और क़बीले के अन्य सदस्यों के सम्मुख आचार का आदर्श उपस्थित करते थे। सैनिक सभाओं के अधिकारी युद्ध के मुखिया थे और इनका कार्यकाल नाम को जीवन भर था। व्यवहार में यह लोग वृद्ध होने पर अपने पद कम उम्र के लोगों को दे देते थे। संकटकाल में यह अपनी सत्ता का दमन करने के लिए प्रयोग कर सकते थे और ऐसे समयों में वह अपराधी अनुयायिओं को कोड़े लगाने जैसे दंड देते थे, फिर भी जनमत की शक्ति का उनपर नियंत्रण था।

राजनैतिक संरचनाओं की सभी किस्मों पर विचार करते समय, शब्दावलि की एक अन्य समस्या हमारे सामने खड़ी होती है। सामान्य सूत्र के अनुसार, मैदानों के इंडियनों की संस्थायें प्रजातांत्रिक थीं। जहां तक संज्ञा की बात है, यह नामकरण बुरा नहीं है। आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन के पहलुओं में भी वर्गभेद अल्पतम था और संस्कृति द्वारा महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले पुरस्कारों के उपभोग के अवसर केवल योग्यता पर निर्भर थे। किन्तु जब अफ्रीकी राजतंत्रों पर निरंकुशता का लेबुल लगाया जाता है, जैसे कि वह प्रायः हैं भी, तो हमें रुकना होगा। हम देख चुके हैं कि किस तरह अशान्ति राजा की दिखाई देने वाली शक्ति के नीचे उसके आदेशों को प्राप्त-जनमत की सहमति का आधार होता है। इसके अतिरिक्त, अल्प-राजनैतिक संस्थाओं वाले बुशमैन और न्वार जैसे अफ्रीकी समाजों में वर्गभेद और विशेषाधिकारों का वही अभाव पाया जाता है जो कि अमरीकी इंडियन संस्कृतियों की विशेषता है।

इंका साम्राज्य के लिए प्रायः प्रयुक्त किये गये "समाजवादी" नाम की विशेष जांच की ज़रूरत है। इस महान् संगठन ने, एक निरंकुश शासक जिसका अधिपति था, इस बात का ज़िम्मा लिया कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बच्चे की देखभाल हो और प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता, आयु, शक्ति और प्रशिक्षण के अनुसार श्रम करे। परन्तु जब हम इस प्रणाली का और सूक्ष्मरूप से अध्ययन करते हैं, तो हमें इसमें वह लक्षण दिखाई देते हैं जिन्हें राजनीति शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी समाजवादी नहीं कहेगा। वर्गों की सीमायें कठोर थीं, न आर्थिक और न ही राजनैतिक प्रजातंत्र विद्यमान था। आदेशों के उल्लंघन की कड़ी सज़ा थी। इस सरकार को "अधिनायकतंत्रीय" कहना अधिक सही होगा। इसमें मनुष्य राज्य के लिए जीवित था, वही उसकी प्रत्येक गतिविधि का उन साधनों से नियंत्रण करता था जिनकी कि बीसवीं शताब्दी की तानाशाहियों के खुफिया पुलिस व युवक आन्दोलन जैसे साधनों से उल्लेखनीय सदृशता थी। संवाद कभी भी शासक श्रेणियों से आगे नहीं पहुंचते थे, किन्तु रिपोर्टें केन्द्रीय नियंत्रक सत्ता तक पहुंच

जाती थीं और आदेश ऊपर से नीचे दिये जाते थे। बराबर वाले लोगों के बीच सलाह मशविरा न होता था, इन अर्थों में वहां कोई बराबर थे ही नहीं, सिवाय उनके जो कि विभिन्न सोपानों पर एक ही स्तर पर खड़े हुए थे।

ऐसे तथ्यों से जो सबक मिलता है वह यह है कि हमें एक विशेष प्रकार की घटना या विचारों व संस्थाओं का वर्णन करने वाले किसी शब्द का, उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु के साथ प्रयोग करते समय सावधानी से काम लेना चाहिए। यद्यपि अवधारणाओं की आवश्यकता, और तुलना तथा विश्लेषण के लिए विषय-सामग्री के वर्गीकरण का बड़ा महत्व है और इसी से उनकी प्रकृति और कार्य को समझा जा सकता है, फिर भी इस पर बारम्बार ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं कि सांस्कृतिक अर्थों को बिना ध्यान में रखे, सिर्फ बाह्यरूप के आधार पर, अनेक संस्कृतियों के लिए विशेष शब्दों का प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से जोखिम से भरा है।

५

राजनैतिक प्रणालियां दो समूहों के सम्बन्धों को कूटनीति (Diplomacy) और युद्ध द्वारा व्यवस्थित करती हैं। वे समूह के भीतर के आचार को क़ानून द्वारा नियंत्रित करती हैं। इससे पहले कि हम संस्कृति के अन्य पहलूओं की ओर ध्यान दें, संक्षेप में हम अनक्षर लोगों के इन महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पहलुओं पर विचार करेंगे।

कूटनीति दो स्वायत्त समूहों के बीच झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा है। यह ज्ञात है, कि अनक्षर लोगों में एक-दूसरे से अपने झगड़े निपटाने की प्रविधियां विद्यमान थीं, और अब भी हैं। नुमेलिन ने साहित्य से उन न्यासों को संकलित किया है जिनसे यह मालूम होता है कि किस प्रकार विभिन्न लोग इन उद्देश्यों को पूरा करते थे। हम पढ़ते हैं कि ईरोक्वी के संघ या कुछ अफ्रीकी राजतंत्र, अन्य क़बीलों में राजदूत भेजते थे। परन्तु ऐसे दूतों को क्या अभयता और अधिकार प्राप्त थे, किस औपचारिकता से विषय पर बहस होती थी और समझौते पर पहुंचने का क्या तरीका था, इन विषयों की बहुत कम जांच हुई है। फिर भी बिखरी हुई और विरल सूचनायें यह संकेत करती हैं कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय बातचीत की बहुत-सी विधियां स्वायत्त अनक्षर लोगों में प्रचलित थीं।[२१]

युद्ध एक सरल स्तर पर लड़े जाते थे, टर्नी-हाई के अनुसार उन्हें इस नाम से पुकारना भी उचित न होगा। अधिकांश विद्वान् सामान्य रीति से यह बताते हैं कि लड़ाई किस तरह की जाती थी, पर लड़ाई में हथियारों के प्रयोग के बजाय उनका सूक्ष्म विवरण ही प्रायः दिया गया है। जैसा कि टर्नी-हाई कहता है, यह शायद एक "असैनिक की भूल (Civilian failing) है," जोकि जनवृत्तशास्त्री की पुरानी प्रवत्ति के सदृश है, जिसमें कि प्रौद्योगिक संस्कृति का तो लम्बा विवरण दिया जाता था किन्तु वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की आर्थिक प्रक्रियाओं पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। टर्नी-हाई का मानदंड जोकि युद्ध को अर्ध-सैनिक लड़ाई की अवस्थाओं से पृथक् करता है, इन दो स्तरों के कार्यकलापों के भेद को स्पष्ट करने के लिए दिया जा सकता है। वह कहता है कि

---

२१. आर० नुमेलिन, १९५०, तथा अन्यत्र।

रण-कौशल, निश्चित कमान्ड और नियंत्रण, पहली लड़ाई असफल होने पर शत्रु के प्रतिरोध को घटाने के लिए नई लड़ाई को चलाने की योग्यता, उद्देश्यों की स्पष्टता, जोकि व्यक्तिगत या पारिवारिक मतभेद का मामला न होकर, समस्त समूह को प्रेरित कर सके और युद्ध क्षेत्र में सेना की पर्याप्त पूर्ति, यह युद्ध की विशेषतायें हैं।[२२]

ये मानदंड युद्ध को खानदानी दुश्मनियों, हमलों और अन्य अल्पकालीन ऐसी कार्यवाहियों से, जिनका लक्ष्य सीमित उद्देश्यों की प्राप्ति होता है, पृथक् करते हैं। इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि इस परिभाषा के अनुसार अनक्षर लोगों में युद्ध इतने ही विरल थे जितने कि उनमें यूरोपीय-अमरीकी राज्यों के समान विधानमण्डल विरल हैं। जनसंख्यात्मक कारण भी अपने आप में अल्पसंख्यक लोगों को सेना रखने का निषेध करते हैं। उनके पास इससे अधिक जन-शक्ति नहीं होती कि वह शत्रु पर मामूली हमला करने से अधिक कुछ कर सकें, या इतना समय नहीं होता कि लम्बे अर्से तक छुट-पुट दुश्मनियों को जारी रख सकें। सरल अर्थ-व्यवस्थायें युद्धों के लिए सामान नहीं जुटा सकतीं और योद्धा अपनी भूमि से दूर रहने की सामर्थ्य पर भरोसा नहीं कर सकते। जूलू, अशान्ति और डाहोमी की सेनायें और नई दुनिया में पेरू और मैक्सिको की सेनायें, हर मायने में सेनायें थीं, और वे युद्ध करती थीं। हम उनके सदस्यों को "सैनिक" (Soldiers) और इसके विरुद्ध अन्य लड़ने वालों को "लड़ाका" (Warriors) कहेंगे, जोकि अनक्षर लोगों की अधिकांश लड़ाइयों में भाग लेते हैं।

अनक्षर समाजों में बहुत वर्षों तक कानून का अध्ययन संहिताबद्ध और प्रथासम्मत कानून के भेद के कारण ही कठिन बना रहा। इसलिए भी कठिनाइयां बनी रहीं कि साक्षर या अनक्षर लोगों के वर्णित नियम और नियंत्रण किसी भी तरह देखे गये प्रथासम्मत व्यवहार से मेल नहीं खाते। क़ानून और मानवशास्त्र के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए होबल कहता है: "कानून की परिभाषा खोजने का प्रयास मृगमरीचिका को पकड़ने की भांति है।"

तब प्रथा (Custom) कहां समाप्त होती है और कानून (Law) कहां शुरू होता है? इसी विद्वान् ने क़ानून की एक उपयोगी जातिशास्त्रीय (Ethnological) परिभाषा दी है। वह कहता है, "सामाजिक नियम कानूनी है यदि उसकी उपेक्षा या उल्लंघन करने पर एक सामाजिक इकाई, जिसे समाज द्वारा ऐसा करने का अधिकार प्राप्त है, शक्ति या बल का प्रयोग करने की धमकी देती है, या वस्तुतः उसका प्रयोग करती है।"[२३] यहां मूलतत्त्व अधिकार है। "क़ानून के दांत हैं," होबल और लैविलिन कहते हैं। "वह जिसकी रक्षा करता है वह संरक्षित है, यदि उसके निषेधों की उपेक्षा होती है, तो उसके बारे में कोई कुछ कर सकता है।" यह आवश्यक नहीं कि एक प्रचलित प्रथा कानूनी हो किन्तु यदि वह इन विद्वानों के शब्दों में समूह की "व्यवस्था का भाग" बन जाती है, तो वह ऐसी हो जाती है।[२४]

---

२२. एच० एच० टर्नी-हाई, १९४२, पृ० २१-२।
२३. इ० ए० होबल, १९४६, पृ० ८३९, १९४०, पृ० ४७।
२४. के० एन० लैविलिन और ई० ए० होबल, १९४१, पृ० २८३-४।

जब तक कि वैयक्तिक अध्ययन पद्धति (Case-study method) का प्रयोग नहीं हुआ, अलिखित क़ानून के अध्ययन में निश्चितता नहीं आ पाई। उसके बिना हम केवल आदर्श या मान्य (Ideal or normative) कार्य प्रणालियों के जनवृत्तशास्त्रीय विवरण (Ethnographic statement) पर ही पहुंचस कते थे। किकुयू पर डुंडास द्वारा किया गया जैसा प्रारम्भिक अध्ययन ऐसे वक्तव्यों से भरपूर है जिनमें एक समान व्यवहार का उसी प्रकार वर्णन है जैसाकि एक संस्कृति का विद्यार्थी उस द्वारा अध्ययन किये जाने वाले समाज के व्यवहार के प्ररूपों को उपस्थित करते समय करता है। फिर भी इन अध्ययनों का मूल्य था और अभी भी है। कोई भी बार्टन द्वारा लिखित इफूगाओ क़ानून का विवरण पढ़कर यह नहीं कह सकता कि "आदिकालीन" लोग केवल शक्ति के शासन द्वारा रहते हैं, या उनके पास न्याय की कोई अवधारणायें और झगड़ों के न्यायपूर्ण फैसलों को लागू करने या अपराधों का दंड देने के कोई साधन नहीं हैं। इन अध्ययनों ने इस बात को भी अधिकाधिक स्पष्ट किया है कि विभिन्न समुदायों में स्वीकृत अपराधों की श्रेणियां कितनी भिन्न और मनमाने प्रकार की हैं।

न्याय को कार्यान्वित करने की भिन्न रीतियां भी इस बात की प्रबल साक्षी हैं कि किस प्रकार विभिन्न समाजों में समान उद्देश्यों को भिन्न तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है। सभी जगह दैवीपरीक्षा या शपथ जैसी धार्मिक स्वीकृतियों का प्रयोग या कहावतें उद्धृत करने या तथ्यों के बारे में साक्षी को आंकने जैसी, लौकिक रीतियों का प्रयोग न्याय के निर्धारण में किया जाता है। अदालतें जिनमें कुछ मुख्य अधिकारी निर्णय देते हैं, सलाहकार जूरी की हैसियत से काम करते हैं, और यहांतक कि विशेष पैरवी करने वाले व्यक्ति वकीलों का कार्य करते हैं अनक्षर संस्कृतियों में ज्ञात हैं। तथापि विशेषीकरण का अभाव कार्यप्रणाली को अधिक सीधा, और भाग लेने को अधिक सामान्य बना देता है, क्योंकि अन्य राजनैतिक संरचनाओं के और पहलुओं की भांति इसमें भी हमारे द्वारा खींची गई रेखायें धुन्धली पड़ जाती हैं। इसी लिए श्रेणियों को विस्तृत करना और परिभाषा को नमनीयता प्रदान करना, विशेष महत्त्व का हो जाता है।

अध्याय बारह

धर्म : मानव और ब्रह्माण्ड की समस्या

१८७१ ई० में ई० बी० टाइलर ने "धर्म की अल्पतम परिभाषा आध्यात्मिक प्राणियों में विश्वास" बतायी थी। इस बद्धमूल सिद्धान्त के लिए उसने सर्वसजीवत्ववाद (Animism) शब्द का प्रयोग किया। वह कहता है :

"यह अक्सर देखा गया है कि सर्वसजीवत्ववाद का सिद्धान्त दो बड़े सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जोकि एक ही क्रमबद्ध मत के हिस्से हैं, पहला व्यक्तिगत जीवों की आत्मा से जोकि मृत्यु या शरीर के नाश के बाद भी जीवित रह सकती हैं, सम्बन्धित है; दूसरा अन्य प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं तक सम्बन्धित है...इस प्रकार पूर्ण विकसित सर्वसजीवत्ववाद में आत्माओं और भावी जीवन और नियन्ता देवताओं और मातहत प्रेतात्माओं में विश्वास सम्मिलित है, यह मत व्यवहारतः किसी प्रकार की सक्रिय पूजा में परिणत होते हैं।"[1]

इस पूर्वकल्पना के विरुद्ध विशेषकर, इस स्थिति के कि सर्वसजीवत्ववाद सब धर्मों का आधार है, अनेक आलोचनायें की गयी हैं। इनमें सबसे तीव्र आलोचना टाइलर की उन विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रियाओं के विरुद्ध है जिन्हें कि उसने "आत्मा" की बुनियादी सर्व-सजीवत्ववादी अवधारणा को पैदा करने का कारण माना है। परम्परा के अन्य पहलुओं की भांति, धर्म में भी सीखे हुए उद्वेगात्मक चालकों (Emotional drives) की शक्ति इतनी प्रबल है कि व्यक्ति, यदि सदा नहीं तो प्रायः ही, तर्कपूर्ण चिंतन खोजने के बजाय तर्कपूर्ण समाधान करने में लग जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि क्यों ऐसे वक्तव्य, जैसाकि एक हम नीचे दे रहे हैं, विशेष रूप से आलोचना का विषय बन जाते हैं :

"ब्यौरे की विविधता के बावजूद इस खोज के सामान्य सिद्धान्त अपेक्षाकृत सुगमता से खोजे जा सकते हैं, बशर्ते कि खोज करने वाला दो कुंजियों का...प्रयोग करे... पहली, कि मनुष्य अपनी मानव-आत्मा की प्राथमिक अवधारणा के अनुरूप आध्यात्मिक प्राणियों को घड़ता है, और दूसरी, कि उनका उद्देश्य आदिकालीन बालसुलभ सिद्धान्त, कि वास्तव में सर्वत्र "प्राणवान् प्रकृति" व्याप्त है, के अनुसार प्रकृति की व्याख्या है।"[2]

यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या अधिक विस्तृत और भेदहीन विश्वास सर्वसजीवत्ववाद से पहले विद्यमान न थे ? बिशप कौड्रिंगटन द्वारा मैलेनेशियावासियों के निर्वैयक्तिक शक्ति **माना** में विश्वास का विवरण देने और मैकगी द्वारा सिओऊ इंडियनों में उसी के सदृश **वकांडा** की खोज के बाद ऐसा

---

१. ई० बी० टाइलर, १८७४, जिल्द १, पृ० ४२४–७।
२. वहीं, जिल्द २, पृ० १६८।

विश्वास किया जाता था कि इस प्रश्न का उत्तर मिल गया है। मैरेट के लिए **माना** और उसी के तुल्य **टाबू** (Tabu) की अवधारणायें धार्मिक विश्वास की सबसे अधिक सामान्य, और इसीलिए बुनियादी शक्ति को व्यक्त करती हैं। यह उसके अनुसार विशेषरूप से सही था, जबकि **माना** की उस सर्वसजीवत्ववाद से तुलना की जाती थी जो बौद्धिक था और जिसमें "भय, आश्चर्य आदि उद्वेगों का अभाव था"। अनेक लोगों में "जड़ वस्तुओं को सजीव मानने के विश्वास" को मैरेट ने "जीविवाद" (Animatism) का नाम दिया है। इस प्रकार उसने इस विश्वास को **सजीवत्व** (Animae) की संकीर्ण श्रेणी से पृथक् किया है, जिसमें कि प्रेतात्मायें मनुष्यों और पशुओं और प्रकृति के उपादानों को प्रेरित करती हैं और जिससे टाइलर के सर्वसजीवत्ववाद की सृष्टि हुई है।[३]

चूंकि हम इन विद्वानों की उन खोजों को जोकि बाद की जानकारी के सामने नहीं टिकतीं, अस्वीकार करते हैं, इस कारण इन विद्वानों की इन अवधारणाओं को स्पष्ट रूप देने में की गयी सेवाओं का महत्त्व कम नहीं हो जाता। हम मैरेट से, जिसकी टाइलर की देन के महत्त्व को घटाने की कोई इच्छा न थी, सहमत हैं: "मैं कोई हठी शत्रु नहीं हूं जिसे कि धर्म के उद्गम के सम्बन्ध में कोई प्रतिद्वंद्वी सिद्धान्त प्रस्तुत करना है।"[४] अब न तो सर्वसजीवत्ववाद और न ही जीविवाद को धर्म का एक प्रारम्भिक या मौलिक या सार्वभौम प्रकार माना जाना है और नहीं दुर्खाइम की यह धारणा कि धर्म मनुष्यों के सामाजिक अनुभव से विकसित हुआ है[५]; या एंड्र्यू लांग का यह सिद्धान्त कि धर्म पहले-पहल उच्च देवताओं के विश्वास में व्यक्त हुआ[६]; या फादर शिमिट द्वारा इस अवधारणा का विस्तार, जिसमें कि यह जोड़ दिया गया है, कि अनक्षर लोगों के वर्त्तमान विश्वास इसके विशुद्ध रूप से पतन को व्यक्त करते हैं, माननीय समझे जाते हैं।"[७]

इनमें से प्रत्येक विद्वान् ने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए तथा अपने पाठकों को संतुष्ट करने के लिए साक्षियां प्रस्तुत की हैं, परन्तु यह तभी तक है जबतक कि किसी दूसरे सिद्धान्त के पक्ष की साक्षी का अध्ययन न किया जाय। इनकी देनों का महत्त्व इसमें नहीं है कि इन्होंने इस पहेली को सुलझा लिया है कि धर्म कैसे प्रारम्भ हुआ, या वह कैसे विकसित हुआ, या उसकी क्या सामाजिक या मनोवैज्ञानिक जड़ें थीं, बल्कि इसमें है कि इन्होंने धर्म की विभिन्न घटनाओं पर जोर दिया और ऐसा करके भावी चर्चाओं पर उनकी अमिट छाप छोड़ दी। धर्म के स्वरूप और उद्गम के वादविवादों ने, प्रायः एक गौण

---

३. आर० आर० मैरेट, १९१४, पृ० ११९–२२।
४. वहीं, पृ० ११।
५. ई० दुर्खाइम, १९१५, पृ० १० तथा अन्यत्र।
६. ए० लांग, १८८७, जिल्द १, पृ० ३२७।
७. डबल्यू शिमिट, १९३१, पृ० २८३।

परिणाम के रूप में धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों के क्षेत्र की अभिज्ञता और जनता के जीवन में उनकी भूमिका से परिचित कराया है। इस अभिज्ञता ने क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं को इन सभी रूपों को देखने और किस भांति वह समग्र संस्कृति को प्रभावित करते हैं, यह जांचने के लिए प्रेरित किया।

हम अपनी सामग्री के विश्लेषण और संगठन में धार्मिक अनुभव की इन सभी स्थापित श्रेणियों पर विचार करेंगे। जीविवादी और सर्वसजीवत्ववादी विश्वास, प्रेतात्मा और भूतों की अवधारणा, बहुदेववाद और एकेश्वरवाद और जादू—सभी उन धार्मिक घटनाओं के प्रकार हैं, जिन्हें समझना जरूरी है। किस क्रम से इनकी चर्चा हो रही है, उसका कोई महत्त्व नहीं है, चूंकि हम उन्हें ब्रह्मांड से सम्बन्धित विश्वास के विभिन्न रूपों के तौर पर ले रहे हैं, जोकि किसी निर्दिष्ट संस्कृति में, उसके किसी निश्चित काल में अंशतः या पूर्णतः विद्यमान पाये जा सकते हैं।

२

ऐसे विश्वास कि केवल मानव प्राणी ही नहीं, प्रत्युत पशु और जड़ पदार्थ भी प्रेतात्माओं से प्रेरित होते हैं जोकि उन्हें गति और लक्ष्य प्रदान करती हैं, अर्थात् वह विश्वास जिन्हें हम सर्वसजीवत्ववादी कहते हैं, केवल प्रारंभिक मानव या बच्चों का ही एकाधिकार नहीं हैं। मशीनरी संस्कृति में भी जहां, भौतिक कार्य-कारण को भलीभांति समझा जाता है, मोटर का मालिक इंजन के रुक जाने या टायर में पंचर हो जाने के कारण यात्रा में बाधा पड़ने पर उसे बुरा-भला कहता है। जो वस्तुवें बच्चों को हानि पहुंचाती हैं, उनके प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं को बारंबार सर्वसजीवत्ववादी विचारों के उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु एक "सभ्य" बालक का एक "असभ्य" प्रौढ़ के साथ सह-सम्बन्ध, जैसाकि इस सम्बन्ध में अक्सर किया जाता है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह बच्चा जो अपनी एड़ी में ठोकर लग जाने से "बुरी चट्टान" कहता है, या गिर जाने पर कुर्सी को पीटता है, उस मनुष्य का अग्रदूत है जोकि अपनी रुकी हुई कार को बुरा-भला कहता है। हम किसी तरह भी उसकी उस अनक्षर मानव से समता नहीं कर सकते जो एक शानदार झरने या विशाल वृक्ष या विचित्र बनावट की चट्टान के सामने भयाकुल हो खड़ा हो जाता है।

आज बहुत थोड़े ऐसे जनसमूह हैं जिनमें आत्मा या प्रेतात्मा की कल्पना नहीं मिलती। सर्वत्र ही हमें ऐसी अशरीरी वस्तु की धारणा का सामना करना पड़ता है जोकि मानव को उसका अस्तित्व प्रदान करती है और उसे पृथक् व्यक्तित्व देती है और मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है। हम अनुमान कर सकते हैं कि किस प्रकार अति प्राचीन मानव श्रद्धा और भक्ति से भर गया होगा, जबकि जाहिरा एक मृत व्यक्ति अपनी समाधि से उठा और उसने अपने दिव्यदर्शन सुनाये। हम देखते हैं कि मानव शरीर विश्राम कर रहा और सो रहा है, फिर भी सोने वाला व्यक्ति जाग कर यह याद करता है कि कैसे उसने अपने

बहुत पहले मरे पिता से बात की, या कैसे वह अगले गांव में अपने मित्र के यहां गया, या उसकी एक खूंखार जीव से भेंट हुई; इन सब बातों ने स्वप्न के सम्बन्ध में अवश्य कुछ व्याख्यायें दी होंगी। चूंकि जब बताने वाले ने अपना स्थान नहीं छोड़ा, तो क्या उसका कोई भाग इधर-उधर नहीं गया होगा, कुछ भाग जिसे देखा नहीं जा सकता, परन्तु जो इच्छानुसार पृथक् हो सकता था?

कुछ उदाहरण आत्मा में बहुव्याप्त विश्वास का विवरण देने के लिए पर्याप्त हैं।

"मौंटेग्नेस-नसकापी की धार्मिक प्रणाली में व्यक्ति की आत्मा दिलचस्पी का मुख्य केन्द्र है। हम "आत्मा" शब्द से कोई भी अर्थ निकालें, इन खानाबदोशों की भाषा में उसका शब्दकोष...पर्याय...व्यक्ति की छाया है। अन्य देशीय शब्द जिसमें कि वही शब्दतत्त्व सन्निहित है..."दर्पण"..."आत्मा देखने की धातु" है। यह दिलचस्पी का विषय है कि अमरीका के अधिकांश प्रदेश में जहां अल्गौनकी भाषायें बोली जाती हैं, वैसे ही मूल शब्द और वैसी ही सम्बन्धित अवधारणायें मिलती हैं...अन्य नाम...जो प्रायः प्रयुक्त होता है उसमें "आत्मा" का अर्थ "बुद्धि, या बोध है" अतः "मन" है।"

इसके अतिरिक्त हमें बताया गया है कि नसकापी एक व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग करते हैं "जोकि आत्मा के कार्यों का अधिक स्पष्ट विवरण देती है।" "आत्मा को उसकी सक्रिय अवस्था में" **"महान् मानव"** का नाम दिया जाता है। यह "जीवन में मार्गप्रदर्शन करता है और ..भोजन की आजीवन खोज में पशुओं की प्रेतात्माओं पर काबू पाने का साधन है।" आत्मा का जिक्र करने में प्रयासम्मत और महत्त्वपूर्ण प्रयोग "मेरे मित्र" शब्द का व्यवहार है; इसलिए जब कोई शिकारी ऐसा कार्य कर लेता है जिससे उसे संतोष मिले तो वह घोषणा करेगा "मैं अपने को संतुष्ट करना चाहता हूं" जिसका अक्षरशः अनुवाद है, "मैं अपने मित्र को (अपनी आत्मा को) अच्छा अनुभव कराना चाहता हूं।"[८]

न्यू-गिनी के केराकी आत्मा और भूत में इस प्रकार भेद करते हैं, "जीवित मानव का आध्यात्मिक अंश और उसकी मृत्यु के बाद जीवित रहने वाला उसका आध्यात्मिक स्थानापन्न", और जोकि पीछे छूट जाने वाले लोगों को परेशान कर सकता है।[९] मालेकुला में यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की एक आत्मा है, जोकि मृत्यु के बाद जीवित रहती है और जीवितों की भूमि में लौट सकती है, कुछ पवित्र पौधों में भी जोकि महत्त्वपूर्ण अनुष्ठानों व उत्सवों और आर्थिक कार्यों में काम आते हैं, आत्मायें मानी जाती हैं। एक सूअर, जिसके दांत अच्छे बढ़े हुए होते हैं, जोकि उसके महत्त्व का सूचक हैं, उसमें पर्याप्त आध्यात्मिक शक्ति होती है। यदि एक छोटा बच्चा उसका मांस खा ले, तो यह माना जाता है कि लड़के

८. एफ० जी० स्पेक, १९३५, पृ० ४१–४२।
९. एफ० ई० विलियम्स, १९३६, पृ० ३६१।

की प्रेतात्मा को इस शक्तिशाली प्रेतात्मा द्वारा निगले जाने का खतरा है और यह विश्वास है कि वह लड़का मर जायेगा।[१०]

अफ्रीकी लोगों में, आत्मा सम्बन्धी अवधारणायें अत्यन्त विकसित हैं। उदाहरण के लिए डाहोमी में सभी व्यक्तियों की कम-से-कम तीन और प्रौढ़ पुरुषों की चार आत्मायें होती हैं। एक पूर्वज से उत्तराधिकार में आती है और वह व्यक्ति की "अभिभावक प्रेतात्मा" होती है। इससे पहले कि यह प्रेतात्मा उसके अभिभावक का कार्य करे, उसे वह मिट्टी शरीर ढालने के लिए मिल जाती है, जिसकी कि वह रक्षा करेगी। दूसरी व्यक्तिगत आत्मा है, तीसरी स्रष्टा का सूक्ष्म अंश है, "जोकि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में निवास करता है।" यूरोपीय-अमरीकी विचारधारा के अनुसार, पहले को मानव का प्राणिशास्त्रीय पहलू, दूसरे को उसका व्यक्तित्व और तीसरे को उसकी बुद्धि और अन्तर्दृष्टि माना जायेगा। प्रौढ़ पुरुषों की चौथी आत्मा भाग्य की अवधारणा से जुड़ी हुई है। यह आत्मा, जो व्यक्ति उसकी औपचारिक पूजा करता है, केवल उसके मामलों से ही सरोकार नहीं रखती, बल्कि उसके परिवार के सामूहिक भाग्य से सम्बन्ध रखती है, चूँकि "डाहोमी यह तर्क देता है कि जब मनुष्य यौवन प्राप्त कर लेता है, तो उसका जीवन उन लोगों से जो उसके साथ हिस्सा बटाते हैं, पृथक् रहकर पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।"[११]

पेरू के पर्वतीय क्षेत्र में रहने वाले ऐमारा की दृष्टि में "संसार अलौकिक प्राणियों से इतना घना बसा हुआ है कि उनको गिनना अक्षरशः असंभव है। वह प्रकृति में प्रायः सर्वत्र व्याप्त हैं और अस्पष्टतः परिभाषित "शक्तियों" से लेकर स्पष्टतः शरीरधारी अलौकिक प्राणी होते हैं।" सभी असाधारण प्राकृतिक घटनायें अच्छी और बुरी प्रेतात्माओं से युक्त मानी जाती हैं, यद्यपि इन घटनाओं के लिए प्रयुक्त किये जाने वाला शब्द जुड़वां बच्चों और विकृत होठों वाले या अन्य विकृतांग व्यक्तियों के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। उच्च स्तर के अलौकिक प्राणियों के "अधिकार में होने वाले" पौधे और पशुओं में उनकी पृथक् प्रेतात्मायें नहीं मानी जाती थीं। पहाड़ों या नदियों जैसे स्थानों से संयुक्त प्रेतात्मायें बहुत हानि या बहुत लाभ पहुंचा सकती हैं। ये प्रेतात्मायें, मुख्यतः पुरुष माने जाते हैं जोकि भूमि के अन्दर रहते हैं और पापियों को दंड देते हैं और लोगों को उनकी करनी के कारण रोगी बनाते हैं। एक बुरे प्रकार की प्रेतात्मायें खंडहरों और गुफाओं में रहती हैं, और घर की प्रेतात्मायें घर में रखी हुई सम्पत्ति की रक्षा करती हैं।[१२] इन लोगों में आत्मा और भूत की अवधारणायें स्पष्टतः पृथक् नहीं

---

१०. ए० बी० डीकन, १९३४, पृ० ५४७–८।

११. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३८ बी, जिल्द २, पृ० २३८।

१२. एच० तशोपिक, जूनियर, १९४६, पृ० ५५८–५९।

हैं। तथापि भूतों से बहुत डरा जाता है, चूंकि मृतकों की प्रेतात्मायें पृथ्वी पर लौट कर अपने जीवित सम्बन्धियों को पुरस्कृत या दंडित कर सकती हैं।[13]

बहुत शिथिल रूप में छोड़, किसी भी जनसमूह के विश्वास की सम्पूर्ण प्रणाली के लिए "सर्वसजीवत्ववाद" शब्द लागू नहीं किया जा सकता। इन शब्दों में किसी धर्म का लक्षण करना इतना विस्तृत है कि वह अर्थहीन हो जाता है। ईसाइयत इसलिए सर्वसजीवत्ववादी है कि मानव आत्मा में विश्वास उसका अभिन्न अंश है, किन्तु ईसाई अधिकृत-रूप से ऐसा विश्वास नहीं करते कि मोटरों में प्रेतात्मायें हैं। इसके विपरीत, यह विश्वास कि एक झरने या एक चट्टान या एक रीछ या हिरण में प्रेतात्मा है, अनिवार्यतः देवताओं की उस देवमाला में, जोकि ब्रह्माण्ड के महान् कार्यों को संचालित करती है, या सर्वथा अशरीरी अलौकिक शक्तियों में विश्वास को, बहिष्कृत नहीं करता। अधिकांश स्थितियों में, यह दोनों एक ही प्रणाली के अंश के रूप में, भूतों और मृत-प्रेतों के अन्य रूपों के साथ, सम्भवतः पितृपूजा में विकसित मत के साथ भी, रह सकते हैं, व रहते हैं।

जब-जब विद्यार्थियों ने इन सहवर्ती विश्वासों के अन्तःसम्बन्ध की जांच की है, उन्होंने इन सभी रूपों को एकीकृत विश्व-कल्पना (Unified world-view) में संयुक्त पाया है। इस विश्व-कल्पना को किसी अपूर्ण या विशेष प्रकार की मनोवृत्ति की साक्षी के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह एक तर्क-प्रणाली की अभिव्यक्ति है जो कि विश्व और मानव की प्रकृति से सम्बन्धित स्वीकृत पूर्वस्थापनाओं से आगे बढ़ती है। यह समझना कठिन नहीं कि वह लोग जोकि मानव प्रेतात्माओं में विश्वास करते हैं, कैसे पशुओं और जड़ वस्तुओं तक में भी प्रेतात्माओं का निवास मान सकते हैं। जिस तरह कि किसी जिद्दी व्यक्ति को "सुदृढ़ आत्मावाला" तथा सरल या संकोची व्यक्ति को दुर्बल आत्मा वाला माना जा सकता है, उसी प्रकार पशु और अन्य वस्तुयें भी कठोर या कोमल, मित्र और शत्रु हो सकती हैं। कुत्ता शिकार किये जाने वाले जानवर का पीछा करने से इनकार कर सकता है, और या शिकार शिकारी के श्रेष्ठ प्रयत्नों को निष्फल कर सकता है। वह चाकू जिसने सालों तक अपना कार्य किया है, अचानक उसके इस्तेमाल करने वाले को काट सकता है। इन घटनाओं को कैसे समझाया जाय? उन्हें समझाने के कई संभव तरीकों में से एक तरीका मानव ने सर्वत्र पशुओं या जड़ पदार्थों में वही कार्य करने की इच्छा बतायी है जोकि उसने मानव प्राणियों में देखी है।

अनक्षर संस्कृतियों के बड़े देवता थोड़े भी हो सकते हैं या बहुत भी। वह मानवों में व्याप्त या उनसे पृथक् हो सकते हैं, वह प्रकृति की शक्तियों के रूपक हो सकते हैं या अमूर्त्त कल्पनायें। किन्तु इनका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड और उसमें रहने वाले समस्त जड़ और जीवित प्राणियों से है, और वह इस उद्देश्य से है कि

---

१३. वहीं, पृ० ५५२।

संघर्ष दूर किया जा सके तथा शांति स्थापित हो सके। इसका यह अर्थ नहीं कि उन देवताओं में विश्वास जोकि पुरस्कृत और दंडित करते हैं, अनिवार्यतः धर्म में नैतिक-तत्त्व का होना सिद्ध करता है, क्योंकि इस बात की पर्याप्त साक्षियां हैं कि ऐसे मानदंड को सर्वत्र लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये, ऐसे भी समाज हैं जहां अलौकिक स्वीकृतियों की सहायता के बिना मानव संस्थायें ही पुरस्कृत या दंडित करने का कार्य संतोषजनक रीति से करती हैं।

इसके विपरीत, यह मानने में भी कोई औचित्य नहीं कि "उच्च" धर्मों में ही नैतिक तत्त्व हैं। अनेक लोगों के देवता स्वीकृत व्यवहार की मदद, तथा पाप के दमन के लिए तत्पर रहते हैं। अतः इन आधारों पर विश्वास-प्रणालियों को पृथक् नहीं किया जा सकता। यह सही है कि अधिकांश अनक्षर संस्कृतियों में नैतिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने के अतिरिक्त देवताओं को और भी बहुत से काम हैं। उन्हें यह सब देखना पड़ता है कि फसलें उगती हैं, बच्चे फलते-फूलते हैं, पूजा करने वाले समृद्ध होते हैं, युद्धों में विजय होती है और व्यापार में उन्नति होती है। पाप का दमन भी उनका एक कर्त्तव्य है और यह अन्य कर्त्तव्यों के समकक्ष है। तथापि इससे अधिक स्वाभाविक और क्या हो सकता है कि उस संसार में, जहां प्रत्येक वस्तु के अन्दर प्रेतात्मा का निवास है और जहां मानव सबसे मुख्य प्राणी है, वहां मनुष्य की प्रेतात्मा या उसकी आत्मा सबसे अधिक शक्तिशाली होनी चाहिए। और वह लोग जोकि पृथ्वी पर रहते हुए सबसे अधिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, उनकी आत्मायें मृतकों के संसार में भी अपनी शक्ति व्यक्त करती रहें और अन्ततः देवताओं की भांति सारे ब्रह्माण्ड पर शासन करने लगें?

उन लोगों में भी, जिनका प्रोद्योगशास्त्र सरलतम है, और जिनकी संस्कृतियां कुछ लोगों द्वारा प्राचीन मानव के जीवन का उदाहरण मानी जाती हैं, ऐसे देवता हैं जोकि मनुष्यों से पृथक् हैं। अतः टाइलर के दृष्टिकोण के सबसे बड़े विरोधी फादर शिमिट का मत है कि प्राचीन पद्धतियों में, निश्चित रूप से उच्च देवताओं की पूजा होनी चाहिए। इसलिए फादर शिमिट के अनुसार प्रेतात्मायें और भूत, तथा पशुओं, पौधों और जड़ पदार्थों की आत्मायें केवल आदिकालीन एकेश्वरवादी विश्व-कल्पना से हुए पतन की अभिव्यक्ति मात्र हैं। फिर भी जैसाकि मैरेट ने युक्ति दी है, यह उच्च देवताओं की अवधारणा किससे विकसित हुई है? या तो देवताओं की कल्पना का कोई अग्रणी रहा होगा या हमें मानना होगा कि विभिन्न देवताओं ने पृथ्वी पर मानव के प्रारम्भिक दिनों में अपने को प्रकट किया। पर यदि ऐसी बात है, तो हम ऐसे धर्मों को कैसे समझायेंगे जिनमें कि देवता केवल शक्ति-घटना की गौण अभिव्यक्ति हैं, जोकि वर्षा की भांति निर्वैयक्तिक है और सभी नियंत्रणों को कार्य करने की अनुमति देती है।

एक बार पुनः हमें संस्कृति में अभौतिक तत्व के निरपेक्ष मूल की खोज या प्रथाओं की जटिलताओं की सरल व्याख्याओं की खोज की निरर्थकता पर बल देना

होगा। सर्वसजीवत्ववाद इतने अधिक लोगों की विश्व-कल्पना का महत्त्वपूर्ण अंग है कि उसे तब तक विश्वास का अल्पतम अभेद्य अंश कहा जा सकता है जब तक कि हम सभी तथ्यों को नहीं देखते। बड़े देवता और उनके पूरक प्राणी सरल और जटिल दोनों संस्कृतियों में पाये जाते हैं, किन्तु अन्य अनेक प्रकार के विश्वास भी उनके साथ-साथ मिलते हैं। धार्मिक घटनाओं के वर्गीकरण के तौर पर सर्वसजीवत्ववाद, जीविवाद, बहुदेववाद और एकेश्वरवाद महत्त्वपूर्ण श्रेणियां हैं, किन्तु विकासवादी क्रम के रूप में नहीं।

३

वह अलौकिक शक्ति जोकि देवताओं और भूतों को ताकत प्रदान करती हैं और जड़ पदार्थों को अच्छे या बुरे संकल्प से प्रेरित होने वाली इकाइयां बनना सम्भव बनाती है, बहुत-से लोगों में मानव द्वारा नियंत्रित हो सकने वाली सार वस्तु है। कई बार प्रेतात्मायुक्त देवताओं के संकेतों से और कई बार अपनी ही खोज से मनुष्य ने प्रार्थना, मनौती और प्रायश्चित द्वारा उच्चतम आध्यात्मिक प्राणियों को प्रभावित करना सीखा है। परन्तु **माना**, **वकांडा**, **ओरेंडा** और **मानीटाऊ** को अभी तक भी मानवसम-रूप नहीं दिया गया है। वह एक अंध शक्ति को व्यक्त करते हैं और उनसे प्रार्थना करने से कोई लाभ नहीं।

इस घटना के लिए प्रायः प्रयुक्त नाम **माना** मैलेनेशिया में पाया जाता है, किन्तु इसके द्वारा व्यक्त विचार किसी भी दशा में उस क्षेत्र तक सीमित नहीं हैं। अनेक अन्य धार्मिक विश्वासों के साथ वह विभिन्न वेशों में अनेक संस्कृतियों में विद्यमान है। हम स्वयं इससे मुक्त नहीं हैं, हमारी संस्कृति में इसे "भाग्य" कहा जाता है। भाग्य क्या है, यदि यह एक अनियंत्रित शक्ति नहीं है, जो कि उन व्यक्तियों की इच्छाओं का ध्यान रखे बिना जिन पर वह एक क्षण में कृपा कर सकता है और दूसरे क्षण उन्हें छोड़ सकता है, अपनी इच्छा से आता और चला जाता है? हमारे मुहावरे के अनुसार कुछ लोग "भाग्यशाली" हैं और जो लोग कुछ शक्ति प्राप्त करना चाहते है, वह प्रायः उनका "स्पर्श" करते हैं। हम कितना ही ज़ोर लगायें, किन्तु भाग्य को आने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। जिन्होंने ताश खेला है वह अच्छी तरह जानते हैं कि पोकर के खेल में हारनेवाला निराश हो किस प्रकार अपना "भाग्य बदलने के लिए" कुर्सी के चारों ओर चक्कर लगाता है, पत्तों पर फूंक मारता है, और बैठने के पहले तीन बार पीछे मुड़ता है। परन्तु यह सब बेकार है, भाग्य को पटाया या डराया नहीं जा सकता। गणितशास्त्री हमें संभावनाओं के बारे में बता सकते हैं, पर हम उनसे ज्यादा जानते हैं कि भाग्य वहां था या नहीं था।

जब हम कौडरिंगटन द्वारा दिये गये माना के विख्यात विवरण को पढ़ते हैं, तो यह बहुत काल्पनिक सादृश्य नहीं लगता। वह कहता है कि मैलेनेशियाई

"मन पूर्णतः उस अलौकिक शक्ति या प्रभाव से अभिभूत है जिसे कि प्रायः सर्वत्र **माना** कहा जाता है। यह व्यवहारतः वह सब कार्य करता है जो कि

मनुष्यों की साधारण शक्ति से परे हैं व प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओं के बाहर हैं। यह जीवन के वायुमंडल में विद्यमान है, यह व्यक्तियों तथा वस्तुओं से जुड़ जाता है और उन परिणामों से व्यक्त होता है जोकि केवल इसके द्वारा हुए माने जाते हैं। जब किसी को यह मिल जाय, वह इसका प्रयोग तथा संचालन कर सकता है, किन्तु इसकी शक्ति किसी नयी स्थिति में टूट सकती है, इसकी उपस्थिति को प्रमाण से ही जाना जाता है।"

एक असाधारण शक्ल के पत्थर में भी माना हो सकता है, यदि उसको किसी बगीचे में गाड़ दिये जाने पर उसकी उपज बहुत बढ़ जाती हो; और उसकी शक्ति को अन्य पत्थरों में भी स्थानान्तरित किया जा सकता है। गीतों में भी माना हो सकता है।

"यह शक्ति यद्यपि अपने आप में अशरीरी (Impersonal) है, तथापि सदा उसको संचालित करने वाले किसी व्यक्ति के साथ जुड़ी हुई रहती है; सभी प्रेतात्माओं के पास और सामान्यतः भूतों और कुछ आदमियों के पास भी यह होती है। यदि एक पत्थर में अलौकिक शक्ति पायी जाती है तो यह इसलिए कि उसके साथ एक प्रेतात्मा मिल गयी है; एक मृत आदमी की हड्डी के साथ माना है, क्योंकि भूत हड्डी के साथ है; एक आदमी का एक प्रेतात्मा या भूत से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है कि स्वयं उसमें भी माना हो जाय और, वह उसको अपनी इच्छा के अनुसार संचालित कर सके; एक मंत्र या ताबीज इसलिए शक्तिशाली है कि शब्दों के रूप में अभिव्यक्त प्रेतात्मा या भूत का नाम इसमें वह शक्ति ला देता है जोकि भूत या प्रेतात्मा इसके द्वारा प्रयोग करते हैं। इस प्रकार सब दिखाई देने वाली सफलता इस बात का प्रमाण हैं कि उस मनुष्य के पास माना है; उसका प्रभाव इस पर आश्रित है कि उसने लोगों के मनों पर यह धाक बैठा दी है कि उसके पास यह है; इसके होने के कारण ही वह मुखिया बन जाता है।"[१४]

हमने इस लम्बे अंश को इसलिए उद्धृत किया है, चूंकि यह दर्शाता है कि किस भांति एक जनसमूह के विश्वासों को एक सूत्र में नहीं बांधा जा सकता। इस उद्धरण में हम देखते हैं कि माना शक्ति केवल पत्थर में ही नहीं स्थित है, बल्कि हड्डी में भी पायी जाती है, चूंकि मृत व्यक्ति का भूत हड्डी में मौजूद है। इसके आगे कौडरगिंटन ने इन्हीं लोगों में पाये जाने वाले प्रेतात्माओं में विश्वास की द्वितीय श्रेणी गिनाई है, यह "वे वैयक्तिक प्राणी हैं जो कि बुद्धिमान् हैं, उस माना से भरपूर हैं जिनकी कि कुछ शारीरिक आकृति है, जो कि दीखती है, किन्तु मनुष्यों की भांति मांसल नहीं है।"[१५] यह प्रेतात्माएं भूतों से, जोकि मनुष्यों की शरीरविहीन प्रेतात्मायें होती हैं, भिन्न हैं। कुछ द्वीपों में

---

१४. आर० एच० कौडरिंगटन, १८९१, पृ० ११८–२०।

१५. वहीं, पृ० १२०।

कुछ अन्य प्राणी भी जिन्हें **बीयु** कहा जाता है और जिनका विवरण देना और भी कठिन है, विश्वास-प्रणाली का अंग हैं।

यद्यपि माना न देवता है और न ही प्रेतात्मा है, तथापि कौडरिंगटन द्वारा अध्ययन किये गये क्षेत्रों में इसकी शक्ति को आंका जा सकता है। यह "अपने को व्यक्तियों और वस्तुओं से बांध लेता है" और इसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित किया जा सकता है। किसी मुखिया द्वारा अपने परिवार में शक्ति को कायम रखने में इसके प्रयोग से इसकी पुष्टि होती है। वह व्यक्ति जोकि प्रथम यूरोपीय सम्पर्क के समय फ्लोरिडा द्वीप में "सबसे प्रसिद्ध मुखिया" था, दूसरे द्वीप का निवासी था, किन्तु जब वह जवान था तब उसने वहां फ्लोरिडा लोगों के शत्रुओं से सफलतापूर्वक लड़ने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। इस प्रकार एक शक्तिशाली मनुष्य के रूप में उसकी ख्याति जम चुकी थी और वह आयु के साथ और बढ़ती गई। यह मान लिया गया कि अन्य मुखियाओं की भांति उसकी एक शक्तिशाली भूत **टेन्डालो** तक पहुंच थी और वह उनकी भांति अपने उद्देश्यों के लिए इस प्रेतात्मा का उपयोग कर सकता था और उसे अपने उत्तराधिकारी को भी दे सकता था।

उत्तरी अमरीका के महाद्वीप से माना-सदृश शक्ति की अभिव्यक्तियों के विभिन्न विवरण दिये गये हैं, अल्गोनकी की **मानीटाउ**, सिओऊ की **वकांडा**, ईरोक्वी की **ओरेंडा** की अवधारणायें ऐसी ही शक्तियां हैं। इस शक्ति का एक अल्गोनकी मौन्टेग्नेस-नसकापी विवरण अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है :

"जिस पृष्ठभूमि पर मौन्टेग्नेस-नसकापी के अलौकिक सम्बन्ध टिके हुए हैं, उसे समझने के लिए **मेंटू** शब्द को समझना होगा। **मानेटू** (लेक सेंट जान) **मांटू** (मिसटासिनी) यह मेंटू के ही दूसरे नाम हैं। इस शब्द का ठीक अनुवाद नहीं किया जा सकता, चूंकि यह एक अमूर्त कल्पना है जिसकी अस्पष्ट दर्शन की प्रतिभा में कोई निश्चित परिधि नहीं है...कोई भी चीज जो समझ में नहीं आती इसमें निहित है....। एक सूचना-दाता विद्युत्, गुरुत्वाकर्षण, ताप और वाष्प में दीखने वाली प्राकृतिक भौतिक शक्ति से इसकी तुलना करके इस शब्द के अर्थ को बताने का प्रयास करता है, जबकि दूसरा उसे विचार, आविष्कार, स्मृति, समन्वय, पशु-संतानोत्पत्ति और मानव प्रजनन, तथा आनुवंशिकता और विशेष रूप से अलौकिक नियंत्रण में कार्य करने वाले मानसिक सिद्धान्तों से इसकी तुलना करता है...। "आध्यात्मिक प्राणी" या "देवता" के अर्थों में...इसे...'ईसाई' आस्तिकता से मिलाया गया है। विचारवान् इंडियनों द्वारा शमन या ओझा के चमत्कारों को समझाने में दिये अनुवादों में प्रायः इसका प्रयोग "शक्ति" के अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त यह शारीरिक प्रभाव उत्पन्न करने वाली मानसिक स्थितियों को व्यक्त करने के अर्थों में भी प्रायः प्रकट होती है।"[१६]

---

१६. एफ० जी० स्पेक, १९१४, पृ० ३५।

अल्गोनकी के **मानीटाऊ** और ऐसे ही अन्य विश्वासों की भांति, अमरीकी इंडियनों में शक्ति की अवधारणा पूर्णतः अशरीरी (Impersonal) नहीं है और न ही उसकी माना के शब्दों में स्पष्टतः परिभाषा की जा सकती है। यदि हम प्रशान्त तट के पुयालुप-निस्क्वली को देखें, तो वहां ऐसा ही है। "केवल यौन जीवन को छोड़ प्रत्येक व्यक्तिगत गुण और प्रत्येक सांस्कृतिक संकुल शक्ति द्वारा संचालित समझा और माना जाता था। बिना शक्ति के प्रौढ़ जीवन अकल्पित था और बाल्यकाल को शक्ति ग्रहण करने के लिए...तैयारी का काल माना जाता था।" शिक्षक के नियंत्रण में यह तैयारी पांच-छः वर्ष की आयु से यौवन प्राप्ति के समय तक जारी रहती थी और मूलतः यह शारीरिक कठोरता लाने की प्रक्रिया थी। यौवन प्राप्ति पर अधिकांश लड़के शक्ति की खोज में निकलते थे हालांकि शक्ति पाने का यही एकमात्र साधन न था, लड़कियां भी शक्ति प्राप्त कर सकती थीं, किन्तु वह कभी ऐसे अभियानों में न जाती थीं, प्रत्युत् वह प्रारम्भिक मासिक धर्म के समय निर्धारित एकान्तवास में नहातीं और उपवास रखती थीं।

शक्तियां दो प्रकार की थीं, व्यक्तित्व या अभिरुचि के किसी गुण से संयुक्त और शमन की शक्तियां। प्रथम प्रकार की शक्तियां सामान्यतः व्याप्त थीं और वह एक व्यक्ति को अच्छा शिकारी, आर्थिक धंधों में भाग्यवान् या एक भाग्यशाली जुआरी बनाती थीं। शमन शक्ति कहीं अधिक कठोर तरह की थी। यह व्यक्ति की इच्छाओं का ख्याल किये बिना आती थी, और "अपनी शक्ति की आनुष्ठानिक आवश्यकताओं को पूरा न करने पर वह ऐसा द्वंद्व पैदा करती थी जिससे कि ऐसे जिद्दी इनकार करने वाले मनुष्य को रोग या अन्ततोगत्वा मृत्यु का शिकार होना पड़ता था।" इसके अतिरिक्त, "थकान या शरीरिक रोग के कारण शारीरिक दुर्बलता भी इस शक्ति को व्यक्ति से अलग या च्युत कर सकती थी और यदि शक्ति को पुनः प्राप्त न किया जा सके तो उसका परिणाम रोग और अन्ततोगत्वा मृत्यु ही होता था।" यह शमनी शक्तियां पशु या अमूर्त प्राणियों से संयुक्त अन्य शक्तियों की भांति विस्तार से फैली हुई थीं, किन्तु "औसत व्यक्ति में" अधिक शक्तिशाली शक्तियों के द्वारा "अतिसंतुलित और काबू में रहती थीं।"

इन लोगों द्वारा अनेक शक्तियां मानी जाती हैं। यूं ही एक उदाहरण के तौर पर गिद्ध-शक्ति अच्छा जुआरी बनाती है; बालदार रीछ की शक्ति मनुष्य को "कमीना और सदा बहादुर बनाती है", सर्प-शक्ति "एक 'श्राप' है। जिसके पास यह शक्ति है तुम उसका कुछ नहीं कर सकते, वह यों ही चला जाता है और दूसरों से दूर रहता है। लोग उसे पसन्द नहीं करते और वह लोगों को पसन्द नहीं करता।" अधिक सामान्य शक्तियां भी हैं। उदाहरण के लिए, एक घर की रक्षा करती है, दूसरी सम्पत्ति की प्रधान शक्ति है, तीसरी मनुष्य को नाचने की योग्यता देती है, और चौथी मनुष्य को बहादुर बनाती है। शक्तियों की

विविधता भ्रम उत्पन्न करने वाली है, किन्तु उनके अन्दर निहित सामान्य सिद्धान्त स्पष्ट है। सभी शक्तियां ब्रह्माण्ड में उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं जोकि पुरुषों और स्त्रियों को वह योग्यता, अभिरुचि और अन्तर्दृष्टि देती हैं, जो उनको वह व्यक्ति बनाती हैं, जोकि वह हैं।[१७]

अशरीरी शक्ति का विचार अफ्रीका में भी विद्यमान दिखाई देता है, किन्तु यहां बहुदेववादी पूजा और पितृपूजा के मत का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि अमानव सदृश शक्तियों में विश्वास साहित्य में केवल प्रच्छन्न रूप से ही पाया जाता है। स्टायट के निम्न उद्धरण में, अशरीरी (Impersonal) रूप में इसी शक्ति की भावना का संकेत किया गया है :

"उस लकड़ी के छोटे टुकड़े के, जिसे कि मू वेन्डा लोग यात्रा करते समय ताबीज के तौर पर पहनते हैं, इतिहास की सूक्ष्म जांच करने पर पता चला कि यह लकड़ी उस पेड़ से ली गयी थी जिसकी शाखा एक अक्सर चलने वाले रास्ते की कठिन चढ़ाई के ऊपर लटक रही थी। इस कठिन स्थान को पार करने के लिए प्रत्येक यात्री इस शाखा की सहायता लेता था। इस प्रकार इस शाखा विशेष की शक्ति यात्रियों को सहायता देने के कारण असाधारण रूप से बढ़ गयी और यह डरपोक यात्रियों के लिए कारगर ताबीज बनाने का प्रत्यक्ष साधन बन गई।"

इससे यह विश्वास स्पष्ट हो जाता है कि "प्रत्येक जड़ और चेतन पदार्थ में अच्छा या बुरा करने की गतिशील शक्ति मौजूद है।" यह विश्वास बा वेन्डा लोगों की चिकित्सक-जादुई कलाओं का आधार है।[१८]

इस प्रकार हम जादू (Magic) के विचार पर पहुंच जाते हैं। यहां इस बात पर विशेष ज़ोर देने की जरूरत है कि यद्यपि बहुत वर्षों तक यह समझा जाता रहा कि जादू का धर्म से कोई सम्बन्ध न था, परन्तु वस्तुतः जादू धर्म का अभिन्न अंग है। हम प्रचलित मानदंडों के शब्दों में, इसे देवताओं की पूजा से पूर्णतः पृथक् भी नहीं कर सकते,—जादू सूत्र या मंत्र द्वारा किया जाता है जबकि देवता प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किये जाते हैं; या जादू का किसी समस्या-विशेष के समाधान के लिए प्रयोग होता है, जबकि देवताओं की प्रार्थना सामान्य कल्याण के लिए की जाती है।

अन्य रीतियों द्वारा भी जादू को धर्म से अलग किया जाता है। फ्रेज़र ने इसे देवताओं की पूजा का पूर्ववर्ती बतलाया है। कुछ बेहतर तर्क द्वारा फ्रेज़र ने जादू को विज्ञान के समान बताया है, यद्यपि जादू को "आदिकालीन विज्ञान" कहना सूक्ष्म परीक्षा के आगे नहीं ठहर सकता।[१९] फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं

---

१७. एम० डब्ल्यू० स्मिथ, १९४०, पृ० ५६–७५, १८९–९५।
१८. एच० ए० स्टायट, १९३१, पृ० २६२।
१९. सर जे० जी० फ्रेज़र, १९३५, जिल्द १, पृ० २२०–५।

कि विशिष्ट उद्देश्यों के लिए प्रत्यक्ष कार्य-कारण का तत्त्व वैज्ञानिक दिनचर्या की भांति मनुष्य के अनेक जादुई व्यवहारों का भी विशिष्ट लक्षण है। परन्तु दोनों के बीच विद्यमान भिन्नतायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। वैज्ञानिक एक बन्द यांत्रिक प्रणाली के अन्दर कार्य करता है, जहांकि सदैव भौतिक प्रकार की शक्तियों को प्रयोग में लाकर विशिष्ट कार्य-कारण सम्पन्न किया जाता है, जबकि जादुई कार्यों में यद्यपि विभिन्न निर्दिष्ट कारकों के मिश्रण को इच्छित परिणाम उत्पन्न करना चाहिए, तथापि यह प्रणाली बन्द नहीं है और प्राकृतिक से पृथक् भी है, क्योंकि इसमें अलौकिक शक्तियों की क्रीड़ा को स्थान दिया गया है।

जिस भांति एकेश्वरवाद कुछ साक्षर संस्कृतियों का एकाधिकार नहीं है, उसी भांति जादू पर भी निरक्षर लोगों का एकान्त दखल नहीं है। इसीलिए जिन जादुई व्हारों को हम अमल में लाते हैं, उन्हें हम क्या नाम देते हैं, इस बारे में कुछ कहना उचित है। हम उन्हें "अन्धविश्वास" कहते हैं; और तब हम इस शब्द के अर्थ में उन सब विश्वासों को सम्मिलित कर लेते हैं, जिन्हें कि हम सत्य नहीं मानते और जो हमें संतुष्ट करने वाले सिद्धान्त द्वारा अधिकृत रूप से स्वीकृत नहीं हैं। परन्तु अन्धविश्वास भी वह विश्वास हैं, जिन्हें कि अब पूर्ण स्वीकृति नहीं मिली हुई है। वह ऐसे व्यवहार हैं जिन्हें बिना विश्वास के अमल में लाया जाता है, परन्तु इस बेचैनी की भावना के साथ कि इन्हें करने में हानि नहीं हो सकती; संभव है कि हम जिन शक्तियों पर संदेह कर रहे हैं, वही हमारा कुछ भला कर दें।

इसीसे जादू के प्रति वह लज्जायुक्त धारणा प्रकट होती है, जोकि हमें अच्छी तरह मालूम है और जिसके हम अभ्यस्त हैं, और जिसने कि उन बौद्धिक कैफियतों को जन्म दिया है, जोकि उन व्यवहारों की जिन्हें कि "अन्धविश्वासों" में विश्वास कहा जा सकता है, मान्य व्याख्यायें बन गयी हैं। अमरीकन लोग सीढ़ी के नीचे चलने से बचते हैं और फिर यों समझाते हैं कि हमें डर है, कि यह गिर जायेगी या रंग की बाल्टी उनके ऊपर गिर पड़ेगी। वह स्पष्टतः यह देखना भूल जाते हैं कि उनके होटलों में मान्य व्यवहार के अनुसार तेरहवीं मंजिल नहीं होती; एक आदमी हिरण की आंख को ताबीज के तौर पर अपने साथ रखता है, वातदर्द के निवारक के रूप में नहीं; और वह सौभाग्य के लिए दूसरों की नज़र बचाकर चुपके से एक लकड़ी पर तीन बार चोट करता है या उससे खेल करता है। बिना श्रद्धा के इन विश्वासों के प्रति यह धारणा अमरीकी-यूरोपीय संस्कृति में किसी प्रकार अद्वितीय नहीं है। अंधविश्वासों के प्रति ऐसी ही भावना पश्चिमी अफ्रीकावासी दिखाता है जबकि वह पृथ्वी की शक्ति में अपने साथियों के विश्वास पर संदेह तो व्यक्त करता है पर फिर भी जब वह पृथ्वी-देवता का जिक्र करता है, जिसकी आंधियों ने फसल को नष्ट कर दिया है, तो वह झुककर हाथ से जमीन छूता है और अपनी अंगुलियों को चूमता है।

यदि हम यह मान लें कि जादू अधिकांश विश्वास-प्रणालियों का अभिन्न

अंग है, तब हम उसे धर्म के अन्य रूपों से पृथक् कर सकते हैं। सभी उस एक यन्त्र-प्रणाली के हिस्सों के समान हैं जोकि इतनी विस्तृत और जटिल कार्य-योजना में मानव के स्थान को सुनिश्चित करती है। बिना इन विभिन्न नियंत्रणों में उसके लिए जीवन का अर्थ निकालना या उसमें सुरक्षा अनुभव करना बड़ा कठिन हो जाता।

४

जिस संकीर्णता से हम धर्म की परिभाषा करते हैं वह हमारी संस्कृति के अत्यन्त विशेषीकरण का फल है। बिना निर्धारित प्रशिक्षण के ब्रह्माण्ड की शक्तियों को समझने का प्रयास वैसा ही अक्षमतापूर्ण है जैसा कि यदि कोई हमें अचानक बिजली की खराद पर काम करने या पेट्रोल बनाने का नुस्खा बताने या वृन्दवादन के लिए एक गीत रचने के लिए कहे। हम में से अधिकांश लोगों के लिए धर्म एक स्वीकृत विश्व-कल्पना का अन्ध अनुसरण बन गया है। इसमें हम अपने धार्मिक अनुभव के प्रति इतने अधिक निष्क्रिय हो गये हैं, जितना कि सम्भवतः मानव अपने इतिहास में कभी भी न रहा होगा। धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों के हाथों में दे दिये गये हैं, धार्मिक कार्यों में हम केवल अपनी उपस्थिति और कान भर देते हैं, किन्तु उनमें हाथ नहीं बंटाते। अन्य संस्कृतियां इस अति से दूर हट कर उस ओर चलती हैं जहां कि प्रत्येक युवा व्यक्ति को अलौकिक विषयों को सम्पादित करने की कुछ-न-कुछ क्षमता है, यद्यपि वहां भी विशेष समस्याओं को सुलझाने के लिए विशेषज्ञों को बुलाया जाता है।

अधिकांश अनक्षर लोग विश्वास को यों ही स्वीकार कर लेते हैं। ब्रह्माण्ड को शासित करने वाली शक्तियां ज्ञात हैं, और जिस भांति उनसे व्यवहार किया जाता है वह उनकी दिनचर्या का अंश है। खाने से पहले देवताओं या पूर्वजों को भोजन का अंश चढ़ाने, धनुष से वाण छोड़ने से पहले किसी मंत्र को गुनगुनाने या ताड़ी की शराब छिड़क कर किसी तावीज की शक्ति को सुदृढ़ करने में अधिक सोचने की जरूरत नहीं पड़ती, और यह वैसी ही आसानी से घटित होता है जैसे कि हमारी संस्कृति में "क्षमा कीजिये" या "धन्यवाद" का प्रयोग। उन लोगों के लिए, जोकि ऐसी विचार प्रणाली में रहते हैं, जोकि रोज अदृश्य शक्तियों के प्रतीकात्मक समूह से भुगतती है, विश्वास बहुत संकीर्ण नहीं होंगे और धारणायें ढीली और सहज होंगी। बहुत-से विद्वानों ने अन्य संस्कृतियों में उस वाक्संयम और संयत गति के अभाव की आलोचना की है, जोकि हमारी संस्कृति में ब्रह्मांड की शक्तियों के समक्ष प्रकट किया जाता है। जहां इन शक्तियों को सर्वत्र विद्यमान और जीवन के किसी भी भाग से पृथक् नहीं समझा जाता, वहां ऐसी धारणाओं को स्थान नहीं मिल सकता।

ब्रह्मांड की शक्तियों से समन्वय स्थापित करने के मनुष्यों ने अनेक तरीके निकाले हैं। वह अत्यन्त व्यक्तिगत हो सकते हैं या उनमें सारे समूह का सहयोग अपेक्षित हो सकता है। वह सार्वजनिक हो सकते हैं या निजी। उनमें अत्यन्त

विकसित भावात्मक मुक्त अभिनय भी हो सकता है या प्राचीन परम्परा द्वारा निर्धारित निश्चित गति की भी अपेक्षा हो सकती है। उनमें अति जटिल सूत्रों या मंत्रों का उच्चारण भी संभव है, या वह निःशब्द भी हो सकते हैं। वह सावधानी से बनी और विचित्र आकृतियुक्त विशेष वस्तुओं का प्रयोग कर सकते हैं या वह शब्द या गीत या नृत्य की अभौतिक अभिव्यक्ति तक सीमित रह सकते हैं। इनमें से कोई भी उपाय अकेला या अन्यों के साथ उन शक्तियों से प्रार्थना करके या उन्हें मजबूर कर कार्य कराने में प्रयोग किया जा सकता है, जिन शक्तियों के साधन प्रार्थी मानव की तुलना में कहीं अधिक हैं।

प्रार्थना पूजा की प्रधान श्रेणी है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह मनुष्यों के कार्यों में ब्रह्मांड की शक्तियों के अनुकूल हस्तक्षेप कराने का शाब्दिक प्रयास है। यह सामान्य सम्बोधन से लेकर औपचारिक विनती तक और विशेष या सामान्य लक्ष्य को लेकर हो सकती है। एक डाहोमी ने कहा है, "देवता बच्चों की तरह हैं, उन्हें बताना पड़ता है कि वह क्या करें।" यह मत मनुष्यों और अलौकिक प्राणियों के बीच विद्यमान सम्बन्ध के विषय में बहुव्याप्त धारणा को व्यक्त करता है। इसीसे प्रार्थना सूचनाप्रद है (जिसका अर्थ है कि सूचना पाने पर दैवीय साधन मित्रतापूर्ण हस्तक्षेप के लिए तैयार हो सकेगा), या एक चेतावनी या दबाव डालने वाला संकेत हो सकती है। प्रायः प्रार्थना में ऐसी सुन्दर कल्पना-शक्ति का प्रयोग किया जाता है कि अनक्षर लोगों की सुन्दरतम काव्यमय अभिव्यक्तियां प्रार्थनाओं के रूप में संकलित हुई हैं।

यहां हम अनक्षर संसार के अनेक भागों से लिखी गयी कुछ कविताओं के उद्धरण देंगे। मानगरेवा के पौलिनेशियाई द्वीप पर रोटीफल की पहली या दूसरी फसल के आने पर एक वार्षिक उत्सव मनाया जाता है। अन्य सभी पौलिनेशियाई उत्सवों की भांति इसमें लम्बी प्रारम्भिक तैयारी और बहुत व्यक्तियों का सहयोग होता है। पहले दिन सूरज निकलने पर मृदंगवादक शंख का मृदंग बजाता है और बड़ा पुजारी देवता का आवाहन करता है और उससे कहता है उत्सव में आओ और मार्ग प्रशस्त करो जिससे कि मृदंग की ध्वनि से जागे हुए रोटी-फल के पेड़ अपने फल दे सकें :—

देखो, यह है घोषणा
एक घोषणा बहुत कुछ करने के लिए,
तू (Tu) के आवाहन के लिए,
बाहरी आकाश का **तू**, जन भक्षक **तू**,
तू जो जमीन के ऊपर तैरता है—

पुजारी ने देवताओं के आनुष्ठानिक नामों का उच्चारण जारी रखा और फिर चढ़ावा चढ़ने के बाद वह बगीचे में गया और उसने छाल के कपड़े से बनायी गयी पताका की ओर मुंह कर निम्न पंक्तियां बोलीं :

पताका, पताका हमारे लिए,
पताका देवताओं के लिए,
पताका जो रक्षा करती है पीठ की
पतााका जो रक्षा करती है सामने की
अन्तरिक्ष शून्य था,
अन्तरिक्ष खाली था।
(उत्पादकता) प्रकट हो जाओ,
और पहाड़ियों तक फैल जाओ
भोजन की सुगन्ध दो,
भोजन की वृद्धि दो,
चर्बी का एक अंश
एक ठंडी हवा जो खमीर उठाने को बुलाती है।

अन्त में पूर्वजों के नाम पुकारे जाते थे। यहां इच्छित उद्देश्य को स्पष्टतः व्यक्त किया गया है। चूंकि प्रार्थना एक विस्तृत पृष्ठभूमि में बोली गयी है इससे उसकी प्रेरक भावना में कोई परिवर्तन नहीं आता।[२०]

एक अशांति जोकि एक विधवा से विवाह करना है उसके मृत पति के भूत को सम्बोधन कर यह प्रार्थना कहता है:

"असूमासी! कहते हैं कि जब छुरा टूट जाता है, उसमें नया फलक लगा देते हैं: आज उन्होंने तुम्हारी पत्नी को लेकर मुझे दे दिया है, मैं तुमसे भिक्षा मांगता हूं, तुम मेरी व उसकी रक्षा करो। इन बच्चों को फलने-फूलने और मेरी सेवा करने दो और मुझे तुम्हारे में वृद्धि करने के लिए और बच्चे उत्पन्न करने दो।"[२१]

दक्षिण अफ्रीका का बुशमैन पवित्र नये चांद के निकलने पर यह प्रार्थना कहता है:

हो! यह मेरा हाथ है
मैं अपने हाथ से एक चिड़िया मारता हूं
एक तीर से।
मैं नीचे लेटता हूं
मैं जल्दी ही—एक चिड़िया को मारूंगा
कल।

हो! चांद वहां पड़ा है,
मुझे एक चिड़िया मारने दो
कल,
मुझे एक चिड़िया खाने दो;

२०. पी० एच० बक (टे रांगी हिरोआ), १९३८, पृ० ४३४–५।
२१. आर० एस० रंटरे, १९२९, पृ० २८।

इस तीर से
मुझे एक चिड़िया मारने दो
इस तीर से;
मुझे एक चिड़िया खाने दो,
मुझे शरीर भर खाने दो,
इस रात में जो यहां है,
मुझे अपना शरीर भरने दो।

हो! चांद वहां पड़ा है,
मैं चीटियों का खाना खोदता हूं
कल,
मुझे इसे खाने दो।

हो! चांद वहां पड़ा है,
मैं कल एक शुतुर्मुर्ग मारूंगा
इस तीर से।

हो! चांद वहां पड़ा है,
तू इस तीर की ओर जरूर देख,
जिससे मैं कल एक चिड़िया मार सकूं।[२२]

यहां अभ्यर्थना का सीधापन बुशमैन और उसके आराध्य प्राणी के बीच विद्यमान घनिष्ठ सम्बन्ध की भावना को व्यक्त करता है। भोजन की तलाश का तकाजा इन लोगों की प्रार्थनाओं को भोजन की बुनियादी आवश्यकता के शब्दों में व्यक्त करता है।

यह स्पष्ट है कि जादू की प्रविधि, यदि प्रार्थना के एकदम विरुद्ध नहीं, तो भी उससे बहुत भिन्न है। इसलिए यह निष्कर्ष उचित है कि यदि प्रार्थना और जादुई मंत्रों में या एक देवता की शक्तियों और एक जादू के तावीज़ की शक्ति के विवरण में और देवताओं की सेवा करने वाले तथा जादू करने वालों के नामों में भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो धार्मिक और जादुई कृत्यों में भी भेद करना युक्तियुक्त है।

पूर्वी अफ्रीकी क्षेत्र के ठीक उत्तर में कांगो बेसिन के अजांडे लोगों के जादू के विश्लेषण में इवांस-प्रिचर्ड ने इसे भलीभांति स्पष्ट किया है। अलौकिक जगत् का नियंत्रण करने की उनकी विधियों का अध्ययन करते हुए इस विद्वान् ने मुख्यतः "निम्न जांडे विचारधारा पर ध्यान दिया है।" वह कहता है, "मैंने जिसे, अजांडे एक शब्द से पुकारता है, उसे एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा है, और जिस प्रकार के व्यवहारों को वह पृथक् समझते हैं उन्हें पृथक् माना है।"

---

२२. डी० एफ० ब्लीक, १९२९, पृ० ३०६।

इन लोगों के पास एक व्यक्ति या उसकी सम्पत्ति को हानि पहुंचाने की एक बहुत विकसित प्रणाली है। यह जानने के लिए कि किस व्यक्ति ने दूसरे आदमी के विरुद्ध पाप (Evil) का प्रयोग किया है, ओझागिरी (Divination) का प्रयोग किया जाता है और उसके प्रतिकार के लिए जादू की सहायता ली जाती है। इवांस-प्रिचर्ड कहता है कि "भूत-प्रेत विद्या (Witchcraft), भविष्य-वाणियां (Oracles) और जादू एक त्रिकोण की तीन भुजाओं की भांति हैं।" एक ही जनसमूह के व्यवहार से सम्बद्ध होने तथा ठीक उन्हीं की अवधारणा के अनुसार की गई विवेचना से भी हमें मालूम होता है कि "जांडे की राय में कानूनी और नैतिक दृष्टिकोण से कुछ प्रकार के जादू को भूत-प्रेत विद्या के साथ रखना होगा।" इससे इस घटना की पेचीदगी की पुष्टि होती है।[23]

विद्वानों द्वारा प्रायः जादू के दो प्रकार के भेद किये गये हैं। सबसे पहले-फ्रेजर ने इन्हें "अनुकरणात्मक" (Imitative) या (होम्योपैथिक) और "संक्रामक" (Contagious) की संज्ञा दी है। यह माना जाता है कि यह दोनों "जैसे को तैसा" के सिद्धान्त, या जिसे कि "सहानुभूति का सिद्धान्त" भी कहा जाता है, के अनुसार चलते हैं। जब एक शिकारी शिकार की दक्षता या शक्ति पाने के लिए अपने शिकार का खून पीता है तो यह संक्रामक जादू का उदाहरण है। अनुकरणात्मक जादू वह है जबकि, उदाहरण के लिए, शिकार की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए एक नृत्य में पशु के वध का अभिनय किया जाता है। एक सीमा तक यह श्रेणी-विभाजन ठीक है, किन्तु यह पूर्ण क्षेत्र नहीं है और न ही कुछ व्यवहारों में, जिन्हें कि हम रिवाजन धार्मिक कहते हैं, इनका अभाव है।

ताबीज या जंत्र (Charm) और सम्मोहन (Spell) जादू की दो बहुप्रचलित विधियां हैं। किसी विशेष पदार्थ में रहने वाली विशेष शक्ति को किसी मंत्र के उच्चारण द्वारा जगाकर जो कि स्वयं भी शक्ति को धारण कर सकता है, क्रियाशील बनाया जाता है। जादू के जंत्र अनेक रूप ले सकते हैं। इसमें प्रायः उस वस्तु का कुछ अंश जिस पर कि शक्ति का प्रयोग करना होता है या कोई ऐसी वस्तु जोकि अपनी बाहरी आकृति या आन्तरिक गुण के कारण उससे मिलती-जुलती है, सम्मिलित होती है, जिससे अक्सर इच्छित परिणाम को प्राप्त किया जाता है। जंत्रों या ताबीजों के लिए एक अन्य शब्द **फैटिश** (Fetish) का प्रयोग किया जाता है, अन्य कोई भी शब्द इसके और इसके सहयोगी **फैटिशवाद** की भांति कष्टकर सिद्ध नहीं हुआ है। इस शब्द की उत्पत्ति पुर्तगाली **फीटिको** (Feitico) "कुछ बनी चीज" से हुई है और प्रारम्भिक पुर्तगालियों ने अफ्रीकी लोगों के जंत्रों और मूर्तियों को बताने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया था। साहित्य में प्रायः इन शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे कि जब यह कहा जाता है कि "फैटिशवाद अफ्रीका का धर्म है।" परन्तु यदि इनका प्रयोग किया भी जाय,

---

२३. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९३७, पृ० ९–११, ३८७।

तो इनसे "जंत्र" या "जादू" का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए; बेहतर तो यही है कि अलौकिक के नियंत्रण की चर्चाओं से इन्हें हटा ही दिया जाये।

जादू को अक्सर "काले" और "सफेद" दो भागों में बांटा जाता है, पहले का उद्देश्य हानि पहुंचाना और दूसरे का कल्याण करना है। साहित्य में पहली श्रेणी पर अत्यधिक जोर दिया गया है। इसके दो कारण हैं। यहां पर अन्वेषक को इस बात की चुनौती है कि वह अपने सूचनादाता से उस बात का पता लगाये जिसे बताने के लिए वह सबसे कम इच्छुक है। इससे भी अधिक, लोगों को स्वयं काले जादू का एक नाटकीय आकर्षण है। एक बार इस पर बात करने के लिए तैयार होने पर सूचनादाता बड़े चाव और उत्साह से इसका विवरण देते हैं जबकि सफेद जादू को ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे कि वह मालूम ही हो।

तथापि, संसार के अन्य भागों से प्राप्त जादू के अनेक विवरणों से यह स्पष्ट है कि "काले" जादू की किसी मायने में प्रभुता नहीं है। निःसन्देह सफेद जादू का विस्तार आवश्यक है, जिसमें कि अधिकांश देशी चिकित्सा को भी सम्मिलित किया जा सके, जिस भांति काले जादू में विष देने जैसी अनेक ऐसी विधियां हैं जिन्हें कि हम किसी भी दशा में अलौकिक नहीं कह सकते। वस्तुतः शुभ और अशुभ जादू की श्रेणियां बहुत अंशों में यूरोपीय-अमरीकी विचार-प्रणाली की उपज हैं। अनक्षर लोग हम से प्रायः अधिक यथार्थवादी हैं। वह न तो काले और न सफेद को, प्रत्युत भूरे रंगों की भिन्न श्रेणियों को स्वीकार करते हैं। वह जादू जिससे कि मैं अपने घर को चोरी से बचाना चाहता हूं, चोर को नुकसान पहुंचायेगा, पर उसका चोरी करने का जादू उसको लाभ पहुंचायेगा और मुझे नुकसान। इससे हम और अनियों पर भी विचार कर सकते हैं। वह जादू के अनुष्ठान जोकि अच्छी फसल को सुनिश्चित करते हैं या वह मंत्र जोकि गर्भवती स्त्री की रक्षा करते और सरल प्रसूति को सुनिश्चित करते हैं, अच्छे हैं। वह जादू जिससे मृत्यु होती है बुरा है, और ऐसे दुष्ट कर्म करने वाले से सभी जगह के लोग डरते हैं और अधिकांश संस्कृतियों में उसे अपराधी समझा जाता है और पकड़े जाने पर उसे दंड दिया जाता है। यहां पर हम पुनः देवताओं के पास पहुंच जाते हैं जो कि स्वयं अनेक बार जादू की शक्ति देते हैं, पर बुरे उद्देश्यों के लिए उसके दुरुपयोग पर दंड भी देते हैं।

५

बहुत-से लोग देवताओं की इच्छा का पता लगाने और उसकी व्याख्या करने, तथा देश और काल की बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न तरकीबें निकाली गयी हैं, ओझागिरी (Divination) उनके लिए सामान्य शब्द है। इसे अलौकिक शक्तियों पर नियंत्रण की एक अन्य विधि समझना चाहिए। इसके दो रूप हैं। एक तो उन विधियों का प्रयोग है जिनमें संयोग प्रधान है। दूसरी दैवीय आत्मा से सम्पर्क है, जोकि पुजारी या माध्यम के व्यक्तित्व को स्थानभ्रष्ट करके उसके द्वारा बोलती

है। पुरानी दुनिया में दोनों ही पर्याप्त फैली हुई हैं, नई दुनिया में दूसरे प्रकार का प्रभुत्व है।

ओझागिरी की कई प्रविधियां हैं। इनमें से एक, इस उद्देश्य के लिए मारे गये पशु की अंतड़ियों की परीक्षा है, जो पुरानी दुनिया में सर्वत्र पाई गई हैं। इसी उद्देश्य के लिए मृत शरीर की शव परीक्षा भी की जाती है। अन्य विधि कंधे की हड्डी की जांच है। इन हड्डियों को आग में रख दिया जाता है और जब वह चटक जाती हैं, तब ओझा उन पर बनी रेखाओं को देख अपनी व्याख्या करता है। यांत्रिक साधनों द्वारा ओझागिरी की सभी जटिल प्रणालियां प्रायः अफ्रीका में मिलती हैं। उदाहरण के लिए, केमरून के एक छोटे से प्रदेश में ताड़ के पत्तों पर एक विशेष निशान लगाकर उन्हें फेंक दिया जाता है, दूसरी प्रकार के पत्ते एक सिखाये हुए बड़े मकड़े के बिल के पास रख दिये जाते हैं ताकि वह उन्हें बिखरा सके। चित्त-पट पहलुओं के मेल निकालने के लिए कौड़ियां फेंकी जाती हैं, मनुष्य और पशुओं की अंतड़ियों की जांच की जाती है, देवताओं को बुलाने के लिए सम्मोहन की स्थिति पैदा की जाती है।[२४] महाद्वीप के अन्य क्षेत्रों में भी यह प्रविधियां प्रचलित हैं। नयी दुनिया की ओझाई रीतियां जोकि साइबेरिया में भी फैली हुई हैं, प्रायः शमनवादी प्रकार की हैं, और वह रोग ठीक करने या शक्ति पाने से सम्बन्धित हैं। शमन वह व्यक्ति है जिसे रोग दूर करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त है या जोकि अपनी प्रेतात्मा को बुलाकर यह पता चला सकता है कि देश और काल के परे क्या चीज है। यहां पर "अप्रेरित प्रकार का" सम्मोहन है जिसमें कि प्रेतात्मायें शमन से या उसकी उपस्थिति में बोलती हैं, न कि उसके शरीर में प्रवेश कर उसकी मार्फत बोलती हैं।[२५] और "प्रेरणात्मक शमनवाद" (Inspirational shamanism) जो कि साइबेरिया में प्रबल है, वह कुछ अंशों में अमरीकी इंडियनों में भी पाया जाता है।

देव या भूत चढ़ना (Possession) अलौकिक प्राणियों की इच्छा का पता लगाने से कुछ अधिक बड़ी चीज है। कुछ विद्वानों के मत में यह उत्कृष्ट धार्मिक अनुभव है, परन्तु यह एक भयावह कृत्य है और अनेक कठिन मनोवैज्ञानिक समस्यायें उपस्थित करता है। जिस व्यक्ति पर यह आता है उसकी पूजा की प्रथाओं से यह बना है और इस अर्थ में यह कभी अनियमित नहीं होता प्रत्युत् विधिवत् होता है। यह अकेले में चढ़ सकता है, या सार्वजनिक अनुष्ठान के समय भी, जबकि किसी अलौकिक प्राणी को बुलाया गया हो। चढ़ने की स्थिति में भक्तगण अपने सामान्य व्यवहार में एक परिवर्तन अनुभव करते हैं, यहां तक कि उनकी आवाज़ व लय भी बदल जाती है। वह "जीभों में" बोल सकते हैं या चुप रह सकते हैं, भविष्यवाणी कर सकते हैं, और रोग दूर कर सकते हैं,

---

२४. पॉल गेब्रायर के एक अप्रकाशित अध्ययन से।

२५. ए० आई० हैलोवैल, १९४२, पृ० ९–१३।

विनयशील या उद्दंड हो सकते हैं। जिस मानव प्राणी पर देवता चढ़ा होता है, वह प्रेतात्माओं की भांति जलते कोयलों पर चल सकता है, शीशा चबा सकता है, अपने आपको कांटेदार झाड़ियों से पीट सकता है या अन्य प्रकार से दंडित कर सकता है, पर जाहिरा उसे कोई क्षति नहीं होती। योग्य निरीक्षकों ने ऐसी अनेक घटनायें लिखी हैं।

सामान्य व्यक्ति द्वारा अलौकिक के साथ एकत्व सम्भव नहीं, पर वह भक्त जिसे देवता के चढ़ने का अनुभव होता है, इसकी पुष्टि करता है। चाहे उसके ऊपर अभिभावक प्रेतात्मा, भूत या देवता कोई भी आये, उसे व्यक्तिगत सुरक्षा और शक्ति अनुभव होती है, और अनेक समाजों में उसे एक विशिष्ट सम्मानित स्थान दिया जाता है। उसके दिव्य दर्शन उसके साथियों को ब्रह्मांड की शक्तियों का मुकाबला करने में साहस देते हैं; देवता, प्रेतात्मा या भूत जो भी उसके द्वारा बोलता है, उसकी घोषणायें भाग्य, स्वास्थ्य तथा अन्य उन लक्ष्यों की ओर जाने वाले मार्ग का संकेत करती हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्न करते हैं।

संस्कारवाद (Ceremonialism) में विश्वास या श्रद्धा को सुदृढ़ करने के लिए कर्मकांड के आडम्बर की आवश्यकता होती है। सभी संस्कारवाद धार्मिक नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में अनेक प्रकार के लौकिक संस्कार भी होते हैं। धार्मिक संस्कारों या उत्सवों में सामूहिक पूजा का विस्तृत अवसर मिलता है। यहां विशेष वेषभूषायें, सजे हुए दंड, नकली चेहरे और अन्य अनेक तरह के आडम्बरों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे कि सौन्दर्यात्मक और धार्मिक दोनों ही प्रकार की तृप्ति मिलती है। संस्कारवाद लोगों को एकसूत्र में बांधने का सशक्त साधन है। पूजा में सक्रिय या द्रष्टा के रूप में भाग लेने वाले व्यक्तियों के आपस के बन्धन उत्सवों द्वारा दृढ़ होते हैं। इसलिए यद्यपि दुर्खाइम की इस पूर्वकल्पना में कि धर्म का मूल उत्सव या संस्कार में ढूंढा जाना चाहिए, पर्याप्त संशोधन अपेक्षित है, पर वह बिलकुल उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु हम दुर्खाइम की भांति पवित्रता की कठोर परिभाषा नहीं कर सकते, जैसा कि उसने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि धर्म वह कार्यकलाप हैं जो चर्च सदृश संस्थाओं में किये जाते हैं। थोड़े ही क्षेत्रीय अनुभव से यह जाना जा सकता है कि अनक्षर लोगों की विशाल बहुसंख्या में धार्मिक और अधार्मिक कृत्यों, पवित्र और लौकिक का भेद उतना ही अस्पष्ट है, जितने कि सभी संस्कृतियों में अन्य विभाग हैं, यहां तक कि वहां भी जहांकि उच्चकोटि का विशेषीकरण विद्यमान है।

किसी भी बाहरी व्यक्ति को धर्म का कर्मकांडीय पहलू सबसे पहले आकर्षित करता है और अनक्षर लोगों के धर्म के अधिकांश विवरण जोकि मानवशास्त्र में अप्रशिक्षित लोगों ने दिये हैं, वस्तुतः उत्सवों के विवरणों से अधिक कुछ नहीं हैं। संस्कृति के किसी भी अन्य क्षेत्र में निरन्तर "क्यों" का प्रयोग जोकि एक क्षेत्रीय कार्यकर्ता का सबसे मुख्य उपकरण है, इतना आवश्यक नहीं, जितना कि यहां है। कर्मकांड वस्तुतः विश्वास को व्यवहार में लाना है। इसलिए न केवल अनुष्ठान का

ही तफसीलवार विवरण देना चाहिए, बल्कि वह किन स्वीकृतियों पर आधारित है यह भी पता लगाना चाहिए। क्यों एक नर्तक लाल मनके और दूसरा सफेद मनके पहनता है? इसका क्या अर्थ है कि उत्सव में सभी भाग लेने वाले अपने माथे के बीच में एक लम्बा तिलक लगा लेते हैं? क्यों घड़ी की सुई की तरह बांये से दांई तरफ परिक्रमा की जाती है? देखने मात्र से हमें इसके बारे में कुछ पता नहीं चलता, और जबतक कि हम देखे हुए व्यवहार के कारणों का पता न लगायें तबतक हम जिस उत्सव का विवरण तैयार कर रहे हैं उसे ठीक प्रकार नहीं समझ सकते।

प्रायः जनवृत्तशास्त्री का "क्यों" पुराण (Mythology) में ले जाता है। पुराण "विश्वासों का घोषणापत्र" है और यह स्वीकृत आनुष्ठानिक व्यवहार को संगति और अर्थ प्रदान करता है, जिसका वह मूल है। प्रायः पुराण स्वयं एक पवित्र रूप धारण कर लेता है, जिससे जनवृत्तशास्त्री का काम और भी कठिन हो जाता है। जब यह माना जाता है कि इन कहानियों के सुनने से श्रोता को उसके नायकों की शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह कहानी केवल पवित्र ही नहीं, बल्कि गोपनीय भी हो जाती है, जो कि बाहिर वाले को नहीं बताई जानी चाहिए—इसलिए नहीं कि वह बाहरी है, बल्कि शायद इसलिए कि कबीले के छोटी आयु के सदस्यों की भांति उसके पास वह बल नहीं है जिससे कि वह उसके आध्यात्मिक प्रभाव को अपने लिए हानिरहित बना सके।

यदि पुराण श्रद्धा का अधिकारपत्र है, तो कर्मकांड वह साधन है जिससे कि श्रद्धा को ताज़ा और सुदृढ़ किया जाता है। नव-दीक्षित या अदीक्षित, और उन तक के लिए जिन्हें कुछ अनुष्ठान देखने की मनाही है, केवल इस बात का ज्ञान कि उचित अनुष्ठान किये जा चुके हैं, इस बात का आश्वासन देता है कि ब्रह्मांड की दयालु शक्तियों को मनाया जा चुका है। इस प्रकार कर्मकांड का समूह को एक सूत्र में बांधने के रूप में समाजशास्त्रीय महत्व ही नहीं, प्रत्युत विश्वास को पुष्ट करने के साधन के रूप में उसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है।

६

धर्म की निश्चित परिभाषा बताने की अपेक्षा यह बताना सरल है कि वह क्या नहीं है। हम टाइलर की "अल्पतम परिभाषा" देख चुके है, जिसमें प्रेतात्माओं में विश्वास धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों का एक अंग मात्र माना गया है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष विश्वास-प्रणाली या सम्प्रदाय के अनुसार धर्म की परिभाषा हमारी दृष्टि को संकीर्ण बना देगी, चूंकि तब धर्म केवल परिभाषा से ही कायम रह सकेगा। कुछ लोगों ने भय में धर्म का आधार ढूंढने की कोशिश की है। अन्य लोगों ने नैतिक तत्त्व को उसका मूल तत्त्व मानने पर ज़ोर दिया, है, और हम इस पूर्वकल्पना की समालोचना कर चुके हैं कि यह कर्म-कांड से विकसित हुआ है।

ये सब केवल आंशिक उत्तर हैं। केवल यह तथ्य कि ब्रह्मांड में मनुष्य से अधिक शक्तिशाली शक्तियां मानी गयी हैं, यह प्रकट करता है कि इसमें भय

का कुछ अंश है, विशेष रूप से जबकि यह पूरक विश्वास भी मौजूद है कि मनुष्य की कुछ भूलों या जान-बूझकर किये गये गलत कार्यों के लिए, उससे बदला भी लिया जा सकता है। तथाकथित "उच्च" धर्मों की नैतिक भूमिका को एक प्रमुख कारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जोकि उन्हें अनक्षर लोगों के धर्म से पृथक् करता है। किन्तु उचित और अनुचित की अवधारणायें सभी समूहों की विश्वास प्रणालियों में पायी जाती हैं।

मैरेट और गोल्डनवीज़र ने धर्म की प्रकृति की समस्या पर कुछ भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है, पर वे इससे सहमत हैं कि अलौकिकता सभी धार्मिक घटनाओं का सार है।

"जादू और धर्म ··· मानव अनुभव के विभागों में से हैं—दो बड़े विभागों में से एक, जिन्हें कि दो विश्व भी कहा जा सकता है, जिनमें कि मानव अनुभव अपने सम्पूर्ण इतिहास में बंटा हुआ है। ये दोनों नियमातीत (Supernormal) संसार, अनुभव के अज्ञात क्षेत्र, व मानसिक गोधूलि के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।"[२६]

गोल्डनवीज़र ने अलौकिक के विश्वास को दो सिद्धान्तों में बांटा है, सर्व-**सजीवत्ववादी विश्वास** का सिद्धान्त और **जादुई विश्वास का सिद्धान्त**। इन दोनों के मूल में "तीसरा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अलौकिकता का सिद्धान्त" या **शक्ति में विश्वास** है। परन्तु इन सबको धार्मिक उद्रेक (Religious thrill) के अनुभव द्वारा जोकि "व्यक्ति का इस अलौकिकता के जगत् में स्थूल और सजीव योगदान है", वास्तविकता प्राप्त होती है।[२७]

यहां हमें एक दूसरा संशोधन स्वीकार करना होगा। यद्यपि गोल्डनवीजर कहता है कि "उद्रेक" धार्मिक योगदान का सार है, किन्तु यह उद्रेक असाधारण धार्मिक अनुभव है, सामान्य नहीं। दैनिक धार्मिक व्यवहार के मैदान से इसे एक पर्वत की चोटी की भांति देखा जा सकता है। किन्तु दैनिक धर्म के कम चामत्कारिक पहलू वस्तुतः वह हैं जोकि धार्मिक व्यवहार में व्याप्त रहते हैं। सभी कालों में सभी मनुष्यों ने उन समस्याओं का सामना पड़ने पर जिन्हें कि वह अपने साधनों से नहीं सुलझा पाते, नैराश्य और भय का अनुभव किया है। यह नैराश्य और भय केवल नाटकीय घटनाओं या प्रकृति के विनाश के साथ नहीं आते। ये दैनिक जीवन में आदान-प्रदान के मानवीय सम्बन्धों में, उन साथियों के सम्पर्क से भी उत्पन्न होते हैं, जोकि वंचित करते, निषेध और शासन करते एवं चुनौती या कष्ट देते हैं। फ्रायड द्वारा की गयी धर्म की व्याख्या कि यह बाल्यकाल की सुरक्षा के लिए अचेतन इच्छा है, इतनी अधिक सरल है कि उसे पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह हमें धार्मिक अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर करने वाली सम्भावित प्रेरणाओं की महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि अवश्य प्रदान करती है।

---

२६. आर० आर० मैरेट, १९१२ पृ० २०९।
२७. ए० ए० गोल्डनवीज़र, १९२२, पृ० २३१-३।

मनुष्यों में तीव्र रहस्यवादी अनुभवों की अभिलाषा उनकी नाकों की लम्बाई की अपेक्षा अधिक नहीं है। कुछ मानव प्राणी अलौकिक शक्ति से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, जबकि उनके मन्द साथी उससे वंचित रहते हैं। डाहोमी लोग व्यक्तियों की रहस्यवादी धार्मिक अनुभवों के प्रति प्रतिक्रिया में इन भिन्नताओं को स्वीकार करते हैं।

"डाहोमियों में संदेहवादी लोग स्वयं कहते हैं कि पूजा पद्धति में दीक्षित बहुत से व्यक्ति पूजाघर में इसके अतिरिक्त कोई गहरा अनुभव नहीं पाते, कि वह दैनिक कार्यों से छुट्टी का आनन्द लेते हैं और वहां से निकलने के बाद वह अपने परिचितों के सामने पंथ के सदस्य के आडम्बर के साथ मिलते हैं। यह भी कहा गया है कि स्त्रियों के लिए, पूजाघर के दीक्षा-संस्कारों में से गुजरना विशेष रूप से लाभदायक होता है, चूंकि इससे स्त्री को परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सम्बन्धों में कुछ अधिक लाभ और पति के साथ भी कुछ अनुकूल स्थिति प्राप्त हो जाती है। आगे यह भी कहा गया है कि कुछ लोग केवल उत्सुकता को शांत करने के लिए दीक्षा का अनुभव लेते हैं। किन्तु संदेहवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि कुछ व्यक्ति अवश्य ऐसे हैं, जोकि वास्तविक "रहस्य" का अनुभव करते हैं......। ऐसे व्यक्ति एक प्रकार का आह्लाद, एक प्रकार के भय का भाव और ईश्वर के साथ एकता अनुभव करते हैं, जोकि अनुष्ठानों के बीच यद्यपि काबू में रखी जाती है, पर समुचित गीतों या ढोलक की लय सुनते ही उमड़ पड़ती है। ऐसे अवसरों पर जैसे ही पूजा में दीक्षित व्यक्ति नाचने को तैयार होते हैं, किसी भी मनुष्य से लम्बी, एक आकृति उनके सामने खड़े हो उनके शिरों को छूने के लिए बायां हाथ फैलाती है। यह **वोडू** (ईश्वर) है। और जब यह हाथ उन्हें छूता है वह बड़ी शक्ति अनुभव करते हैं। जब वह नाचते हैं उन्हें अपनी सुधबुध नहीं रहती, और **वोडू** के चले जाने पर उन्हें कुछ याद नहीं रहता कि क्या हुआ। किन्तु जब वह पुनः बाहरी संसार की चेतना को प्राप्त करते हैं और पुनः होश में आते हैं, वह अनुभव करते हैं कि कोई भारी चीज उन्हें छोड़ गयी है।"[२८]

धार्मिक चरम-स्थिति (Crises) या धार्मिक उद्रेक के अर्थों में धर्म की परिभाषा करते हुए हमें यह याद रखना चाहिए कि यह चरम स्थिति सदा तीव्र नहीं होती। उद्रेक रुक-रुक कर व्यक्त होता है और वह भी समाज के प्रत्येक सदस्य को सुलभ नहीं है। अतः हमारी परिभाषा में धार्मिक विश्वास और व्यवहार के उन कम नाटकीय और शान्त दैनिक रूपों को, जिनकी उपेक्षा कर दी जाती है, स्थान मिलना चाहिए। परन्तु अपनी परिभाषा बनाते समय हमें उस अलौकिकता पर भी जिसका कि धर्म की चर्चा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है, विचार करना चाहिए।

निस्सन्देह साक्षर या निरक्षर अधिकांश लोगों में ब्रह्मांड की अलौकिक

---

२८. एम० जे० हर्सकोविट्, १९३८ बी, जिल्द २, पृ० १९९-२०० ।

शक्तियों में विश्वास, धार्मिक विश्वास की आधारशिला है। फिर भी यदि हम धार्मिक घटनाओं पर मूलतः उनके उद्वेगात्मक (Emotional) गुण की दृष्टि से विचार करें, तो हमें मानना पड़ेगा कि बहुत-सी ऐसी प्रतिक्रियायें जिनका अलौकिकवाद में कोई आधार नहीं है, धार्मिक मानी जानी चाहिएं।

हमारी यांत्रिक सभ्यता में भी, किये जाने वाले कार्य के अतिशय महत्त्व में गहरा विश्वास, परीक्षणात्मक परम्परा के प्रति पूर्ण निष्ठा आदि उद्वेगात्मक चालक (Emotional drive) जोकि प्रयोगशाला के वैज्ञानिक की विशेषतायें हैं, वे मनोवैज्ञानिक दिशा में मूलतः धार्मिक हैं। अपने सूत्र के सही साबित होने, या जोड़ने की मशीन से यांत्रिक हिसाब की सत्यता प्रमाणित होने पर जो आनन्दोद्रेक मिलता है, वह एक अनक्षर व्यक्ति के अपने देवता का साक्षात्कार करने से उत्पन्न होने वाले उद्रेक से संभवतः बहुत भिन्न नहीं है। यदि हम घटना या वस्तु पर उसके व्यक्त रूपों के अर्थ में नहीं, बल्कि प्रेरक चालकों के दृष्टिकोण से विचार करें, तो मनोवैज्ञानिक अर्थों में, एक पक्के नास्तिक की युद्ध भावना या राजनैतिक क्रांतिकारी की उत्कट निस्वार्थता को भी उसी श्रेणी में रखा जायेगा। यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति की धारा में पड़े हुए, विशेषतः बुद्धिवादियों के लिए दैनिक धर्म के वास्तविक सहजरूप को समझने में यह भी एक बाधा है कि वह धर्म को अलौकिक वस्तु समझते हैं, जबकि असलियत यह है कि हम लौकिक कहे जाने वाले अनुभवों पर अपनी धार्मिक भावनाओं को आरोपित करते हैं।

अतः विस्तृततम अर्थों में धर्म की सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है कि यह **एक बड़ी शक्ति या सत्ता में विश्वास तथा उससे तादात्म्य स्थापित करता है।** विश्वास धारणा और कर्म में इतना व्याप्त हो जाता है कि केवल उन संकट के क्षणों को छोड़, जबकि सिरपर गिरते हुए संसार को सीधा खड़ा करने के लिए उसकी पुकार होती है, वह बहुत कम ही चेतन विचार का अंश बनता है। यह बड़ी शक्ति या सत्ता जोकि व्यक्ति के जीवन में शान्ति या सुरक्षा के लिए उपस्थित है, एक या अनेक अलौकिक प्राणी, एक अशरीरी शक्ति, एक समाज या विज्ञान जैसी कल्पना भी हो सकता है। यह पर्याप्त है कि मनुष्य को उसकी अक्षय निगूढ़ शक्ति में दृढ़ विश्वास हो और वह यह अनुभव करे कि आवश्यकता पड़ने पर वह उसे सहायता के लिए बुला सकता है, और उसके अपने साधनों के अपर्याप्त साबित होने की दशा में वह उसे निराश न करेगी।

सबसे बढ़कर धर्म में, चाहे उसकी कैसी ही कल्पना करें, ब्रह्मांड पर शासन करने वाली सत्ता के प्रति उद्वेगात्मक प्रत्युत्तर निहित है। यद्यपि उत्कृष्ट धार्मिक अनुभव, "उद्रेक" बहुत थोड़े व्यक्तियों द्वारा ही और वह भी कभी-कभी अनुभव किया जाता है, फिर भी उद्वेग की सामग्री सदैव विद्यमान रहती है। उससे कम तीव्र स्तर पर यह उन सभी लोगों द्वारा अनुभव किया जाता है जिनकी भावनायें धार्मिक अनुभूति से संयुक्त हैं।

अध्याय तेरह

सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति : चित्रकलाएं और मूर्तिकलाएं

मानव अनुभव में सौन्दर्य की खोज सार्वभौम है। कल्पना की सृजनात्मक क्रीड़ा से इसके अनेक रूप उपजे हैं, जिनसे मनुष्य को गहनतम तृप्ति मिलती है। जीवन के साथ कला (Art) कितनी घनिष्ठतया संयुक्त है और वह जीवन रीति को कहां तक अभिव्यक्त करती है, यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के सदस्यों के लिए जोकि अत्यधिक श्रमविभाजन के परिणामों का सामना कर रहे हैं, यह समझना सरल नहीं है। यदि केवल तीन उदाहरण दें, तो हम इसे धर्म, राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में देख चुके हैं। कला के विश्लेषण में भी जब हम "विशुद्ध" कला को "व्यावहारिक कला" से पृथक् करते हैं, तो हम अपनी सौन्दर्यात्मक सराहना को सीमित कर देते हैं। इसके अलावा, इस प्रकार हम उन "कलाकारों," जो कि "विशुद्ध" कला का निर्माण करते हैं और उन "दस्तकारों" के बीच, जिनकी कला को, यदि यह मान भी लिया जाय कि वह कला है तो वह एक दूसरी श्रेणी की है, जिसे कि हम "व्यावहारिक" कहते हैं, एक अनुचित भेद कायम कर देते हैं।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसे कोई भी अनक्षर समाज नहीं हैं जहां इस प्रकार के भेद मिलते हैं। कला जीवन का अंग है, वह उससे पृथक् नहीं है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ऐसी संस्कृतियों में विशेषीकरण नहीं है, क्योंकि जहां कहीं भी सृजनात्मक प्रवृत्ति कार्य करती है, वहां व्यक्ति अपने कार्य-सम्पादन में श्रेष्ठ या मन्द होते ही हैं। उदाहरण के लिए एक छोटे-से समूह में भी एक आगन्तुक को एक सर्वोत्कृष्ट लकड़ी की नक्काशी करनेवाले से मिलाया जाता है। अन्य स्त्री और पुरुष जिन्हें कि परम्परा द्वारा लकड़ी का काम करने की मनाही है, वह भी किसी तराशी हुई मूर्ति की प्रशंसा कर सकते हैं और उसके बारे में समुचित निर्णय दे सकते हैं। हम सभी कहानियां जानते हैं, किन्तु किसी विशेष बूढ़ी स्त्री को ही गांव में सर्वश्रेष्ठ कहानी कहनेवाली बताया जाता है।

अतएव विस्तृततम अर्थों में **योग्यता द्वारा सम्पादित सामान्य जीवन का कोई भी ऐसा अलंकरण जिसे वर्णनीय रूप प्राप्त है**, उसे कला कहा जा सकता है। योग्यता ही कला-विदग्धता बन सकती है जोकि कलाविधि पर पूर्ण अधिकार है और जो समाज को सुन्दरतम सौन्दर्यात्मक कृतियां देती है, और जैसा कि हम देखेंगे, वह सृजनात्मक प्रक्रिया में स्वयं एक महत्त्वपूर्ण कारक है। जहां कि विदग्धता का प्रश्न नहीं उठता है, वहां भी यदि कलाकार को अपनी अभिव्यक्ति में प्रभावयुक्त होना है, तो उसमें योग्यता अपेक्षित है। रूप (Form), कार्य (Function) और डिजाइन किसी भी कला-रूप को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक

हैं। इन सीमाओं के अन्दर संस्कृति के विद्यार्थी को उन सब अभिव्यक्तियों को जिन्हें कि लोग जीवन-सौन्दर्य में वृद्धि करने का साधन समझते हैं और जो जीवन के आनन्द को बढ़ाती हैं, कला समझना चाहिए।

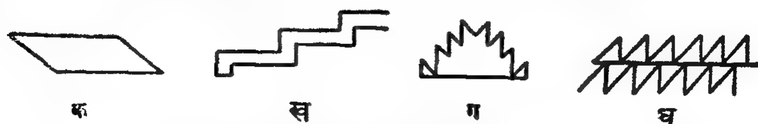
२

कलाकार द्वारा अनुभव की व्याख्या कलात्मक अभिव्यक्ति का सार है। यह तथ्य कि कला में अनुभव की व्याख्या निहित है, हमें तत्काल कला के अध्ययन क्षेत्र में सबसे अधिक विवादपूर्ण विषय पर ला देता है—यह कला में रूढ़िकरण (Conventionalisation) के विपरीत यथार्थवाद (Realism), और प्रतीकवाद (Symbolism) के विरुद्ध वस्तुचित्रण (Representation) की समस्या है। इस समस्या के दो पहलू हैं। पहला यह है, कि लोगों की परम्परा उस ढांचे का निर्देश करते हुए, जिसके अन्दर वास्तविकता को देखा जाता है, और उन सामग्रियों को प्रस्तुत करते हुए जिनसे कलाकार कार्य करता है, किस प्रकार तराशी जानेवाली, बुनी जानेवाली, चित्रित की जानेवाली या घड़ी जानेवाली वस्तुओं के संयोजन (Composition) और व्याख्या दोनों को प्रभावित करती है। दूसरे का सम्बन्ध एक कलाकार की सृजनात्मक प्रवृत्तियों की स्वाधीन क्रीड़ा और प्राविधिक कुशलता से है, क्योंकि ये संस्कृति की स्वीकृत शैलियों और माध्यमों में अभिव्यक्ति पाकर उसकी रचना में नये तत्त्वों का समावेश करके उन प्रतिमानों को परिवर्तित करने में अपना प्रभाव डालती हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कोई भी कला की कृति सम्पूर्ण यथार्थता प्राप्त नहीं कर सकती। यदि यथार्थवाद ही कलात्मक प्रयत्नों का लक्ष्य होता, तो उसका सबसे पूर्ण उदाहरण तीन-आयाम वाला रंगीन बोलता चित्र-पट होता। कई जनवृत्तशास्त्रियों ने इस प्रकार अपना अनुभव बताया है कि जब उन्होंने फोटोग्राफी से सर्वथा अनभिज्ञ लोगों को एक घर, एक व्यक्ति या एक परिचित प्राकृतिक दृश्य का फोटोग्राफ दिखाया और उसे सभी सम्भव कोणों से देखने, और उसकी सादी पीठ को उलटने-पलटने की छूट दी तो किस प्रकार मूलवासी ने कागज के उस टुकड़े पर हल्के और गहरे भूरे रंगों के निरर्थक क्रम की व्याख्या करने की चेष्टा की। वास्तव में स्पष्टतम फोटो भी, कैमरे से दिखायी देने वाली वस्तु की **व्याख्या** मात्र है। हम तस्वीरें देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हमें यह ख्याल ही नहीं रहता कि उनमें तीन-आयाम वाले जगत् को दो आयामों में दिखाया जाता है या वह रंग के परिवेश को काली और सफेद रचनाओं में बदल देती हैं। चूंकि फोटो एक व्याख्या है, अतः उसके देखने वाले को यदि उसके वास्तविक अर्थ को ग्रहण करना है तो उसे उसके रूपों और छायाओं (Forms and shadings) के क्रम का ज्ञान होना आवश्यक है। एक बार संकेत समझ जाने पर अन्य कला-रूपों की तुलना में फोटो का समझना आसान है, इसका अर्थ केवल यही है कि कला के अन्य रूपों की अपेक्षा जिनकी व्याख्या कहीं अधिक मनमाने ढंग से संभव है, फोटो अधिक यथार्थवादी है।

अतएव यथार्थवाद की यह उत्तम परिभाषा है कि यह कला में यथार्थता प्राप्त करने का प्रयास है। पर जैसा कि हम जानते हैं, यह प्रयास सदा सांस्कृतिक परिभाषाओं के अन्तर्गत होता है, अतः कलाकार के उद्देश्य की अन्तः-सांस्कृतिक व्याख्या में बहुत भूल होने का भय है। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण अफ्रीका की लकड़ी की नक्काशी की कुछ रूढ़ियां हैं। प्लेट ७ में दिये गये योरूबा नृत्य के नकली चेहरे (Masks) का प्ररूप सदा ही यूरोपीय-अमरीकी समालोचकों द्वारा मानव चेहरे का रूढ़ीकरण कहा गया है, जिसमें कि चेहरे और सिर के अनुपातों को बदल कर पिंडों की कुशल अभिव्यक्ति दिखाई गयी है। सदा ही यह चर्चा इस नकली चेहरे को लम्ब स्थिति में रख कर की गयी है, इस दृष्टिक्रम (Perspective) में अवश्य ही इसकी विकृतियां उभर आती हैं जोकि कला की आलोचना के सूक्ष्म विश्लेषण को जन्म देती हैं। ऐसा होता है, यद्यपि यह नकली चेहरा जब हम इसे पड़ी स्थिति में देखते हैं, तो यह वस्तुतः नीग्रो चेहरे का यथार्थवादी अंकन है, जिस स्थिति में प्रयोग के लिए यह बनाया गया है, यह इसी माने में 'नकली चेहरा" है कि इसे पहनकर व्यक्ति अपने असली रूप को छिपा लेता है। इसे सिर के ऊपर पहना जाता है और इससे निकले हुए लम्बे रेशों से, जोकि पहनने वाले के सारे शरीर को ढक लेते हैं, छिपाने का कार्य सम्पन्न होता है। इसका दूसरा फोटो यह दिखाता है कि योरूबा इसे कैसे देखते हैं और कलाकार उसे किस भांति दिखाना चाहता था। यहां पर 'विकृति" (Distortion) अगले भाग को छोटा करने की एक कुशल विधि है, जोकि कल्पित परम्परागत शैली की अभिव्यक्ति को एक कलात्मक, यथार्थवादी चित्रण बनाती है। इस प्रकार प्रचलित व्याख्या एक सुविचारित भ्रान्त वक्तव्य है।

रूपों के अनेक उदाहरण हैं जोकि केवल सांस्कृतिक परिभाषा में ही अर्थपूर्ण हैं और जोकि यथार्थवाद और रूढ़ीकरण से लेकर अमूर्त (Abstract) छोर तक फैले हुए हैं। कुछ उदाहरणों में एक ही अभिप्राय (Motif) की विभिन्न कलाकार या एक ही समाज के विभिन्न सदस्य जिन्हें कि एक डिजाइन दिखाया जाता और उसे समझाने के लिए कहा जाता है, विभिन्न व्याख्यायें करते हैं। इस प्रकार ओनील ने कैलीफोर्निया के यूरोक और कारोक इंडियनों में उनके टोकरियों को सजाने के विभिन्न व्यक्तिगत



रेखाचित्र २६—यूरोक-कारोक के टोकरियों के डिजाइन-तत्त्व।
(ओनील १९३२, के चित्र १३ के आधार पर)

अभिप्रायों की भिन्न व्याख्यायें पायी हैं। साथ के रेखाचित्र में (क) को "चकमक पत्थर" (Flint) या "चकमक के समान", (ख) को एक "सांप" या "लम्बा कीड़ा",

(ग) को "फैली हुई अंगुलियां" या "मेंढक का हाथ", (घ) को "तेज दांत" या "कंगूरे" बताया गया है ।

उन क्षेत्रों की कला में जहां कि अपवाद-स्वरूप ही यथार्थवादी चित्रण का प्रयत्न किया जाता है, डिजाइन में अत्यन्त रूढ़ीकरण पाया जाता है। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण डच गायना के बुश नीग्रो के लकड़ी के नक्काशी के काम में मिलता है, जहां रूढ़ीकरण इस सीमा तक ले जाया गया है कि उसके अभिप्रायों को तब तक समझना असम्भव है जबतक कि स्वयं वहां के निवासियों को लकड़ी में काटे हुए या उभारे हुए डिजाइनों के महत्त्व को समझाने के लिए तैयार न किया जा सके, यद्यपि संकेत मिलने पर उन्हें समझाना कठिन नहीं है ।

यह तराशी हुई कृतियां जोकि प्रायः प्रजनन के प्रतीकों से सजायी हुई होती हैं, पुरुषों द्वारा बनायी जाती हैं और उनमें से अधिकांश पत्नियों या प्रेमिकाओं को उपहार में दी जाती हैं। चावल पछोड़ने का सूप (प्लेट ८ में दिखाया गया) इस रूढ़ीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। बाहरी आदमी को पहले-पहल इस सूप को देखने से कुछ नहीं सूझता, वह केवल वैयक्तिक अभिप्रायों (Motifs) के सौन्दर्य या जिस कुशलता से गोलाकार जगह का प्रयोग किया गया है, उसको देखता है। इस पूर्ण रचना को या उसके पृथक् तत्त्वों को जो अर्थ बुश नीग्रो देते हैं, वह अत्यन्त सक्रिय कल्पना को नीचा दिखाने के लिए काफी है।

फिर भी कोई बुश नीग्रो इस कृति की यथार्थवादी शब्दों में व्याख्या कर सकता है। केन्द्रीय रेखा के दोनों ओर दो बड़ी आकृतियां स्त्रियां हैं। इन आकृतियों की बाहरी इकाइयां उनके हाथ और अन्दर की तरफ तदनुरूप अंश उनकी टांगें हैं। बाकी शरीर में केवल योनि दर्शाई गयी है, जबकि छोटी त्रिकोण आकृति पुरुष के लिंग को दर्शाती है। एक को छोड़ एक वर्ग का क्रम जोकि आकृतियों के बाहर किनारे पर है, स्त्री के केश हैं, कटे हुए डिजाइन में पिरोयी हुई टिकलियां स्त्री और पुरुषों के शरीर को सुन्दर बनाने के लिए किये गये दागने के निशान हैं। दो छोटी आकृतियां इन स्त्रियों से पैदा होने वाले दो जुड़वां बच्चों को दर्शाती हैं, चूंकि इस संस्कृति में जुड़वां संतान सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। यह जुड़वां एक लड़का और दूसरी लड़की है। इस चित्र के ऊपर की ओर लड़के की आकृति है, जिसके चारों ओर बारीक रेखा उत्कीर्ण है, लड़की की आकृति में ऐसा नहीं है। यह इस बात का उदाहरण है कि रूढ़ीकरण कितना मनमाना हो सकता है ।

दूसरे छोर पर हम देखते हैं कि यथार्थवाद का किसी भी प्रकार अनक्षर समाजों की कलाओं में अभाव नहीं है। यह रेखा-चित्रों की अपेक्षा तीन आयामों वाली आकृतियों में अधिक व्यक्त हुआ है, यद्यपि एस्किमो नक्काशी (Engravings) के यथार्थवादी चित्रण हमें इस सम्बन्ध में तत्काल किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचने के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। प्रायः एक ही माध्यम, यहां तक कि एक ही कृति में भी, कलाकार यथार्थवाद और रूढ़ीकरण को मिला देते हैं। अफ्रीका

की धातु कृतियां इसे दर्शाती हैं, जैसा कि प्लेट ९ में दिखाई गई डाहोमी पीतल की आकृतियों में भी देखा जा सकता है। फावड़ा चलाने वाला आदमी यथार्थ-वादी चित्रण है, जबकि हाथी और जिस मानव आकृति को उसने अपनी सूंड में पकड़ा हुआ है, रूढ़िगत है, यद्यपि इसमें पीड़ित आदमी के कष्ट को बहुत सफलता से चित्रित किया गया है।



रेखाचित्र २७—मध्य परवर्तीकाल के मेढ़े (elk) की भित्ति पर उत्कीर्ण आकृतियां, फ्रांस। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र ११४)

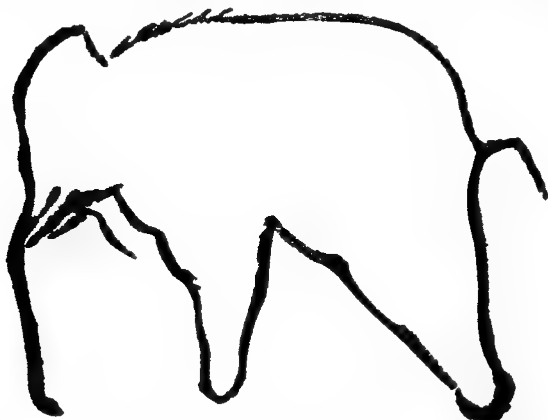
अनक्षर कला अपने प्रभाव में आकृति-चित्रण (Portraiture) की भांति हो सकती है, यह पश्चिमी अफ्रीका में योरूबी नगर आइफ से १९३८ में प्राप्त आइफ के कांसे के सिरों में देखा जाता है।[1] उन आदमकद सजीव कृतियों की निर्माण-चातुरी की तुलना प्रायः ग्रीस के क्लासिक काल की मूर्तिकला से की गयी है। चेहरे पर दिखायी गयी दरारें, यद्यपि अब इस रूप में योरूबा लोगों द्वारा नहीं बनायी जातीं, फिर भी उत्तरी नाइजेरिया के अनेक कबीलों में वह पायी जाती हैं। पुरुष के सिर के बालों, मूंछों और दाढ़ी के स्थान पर बहुत-से छेद हैं और यह सम्भव है कि इन छेदों में बालों को पिरो कर उनकी यथार्थता को बढ़ाया जाता हो, जैसा कि आज भी लकड़ी से तराशे हुए नकली चेहरों में किया जाता है। स्त्री के सामने के जेवर से उसके मुकुट का केवल अनुमान किया जा सकता है। हो सकता है वह केवल सिर पर पहनने का जेवर हो या आनुष्ठा-निक महत्त्व की सजावट या पद का चिह्न हो।

कला के प्ररूपों के विकास के विवाद में यथार्थवाद और रूढ़ीकरण के प्रश्न ने बहुत प्रमुखता ग्रहण कर ली है। पुरापाषाण गुफा चित्रों की यथार्थता जोकि पशुओं के वस्तु-चित्रण के प्रारम्भिक प्रयास के बाद व्यक्त हुई, इसे यथार्थ-वाद से कला के प्रारम्भ के पक्ष में युक्ति माना गया है। दूसरी ओर, इससे विपरीत स्थिति को पुष्ट करने के लिए अनक्षर लोगों की कला में रूढ़ीकरण के महत्त्व पर बल दिया गया है। प्रस्तुत समस्या अन्वेषण योग्य है।

---

१. डब्ल्यू० आर० बैस्कोम, १९३९। यह प्लेट १० पर उद्धृत है।

यदि हम ध्यानपूर्वक फ्रांस में प्राप्त पुरापाषाण काल के रेखाचित्रों और रंगीन चित्रों को देखें तो हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रारम्भिक परवर्ती काल से



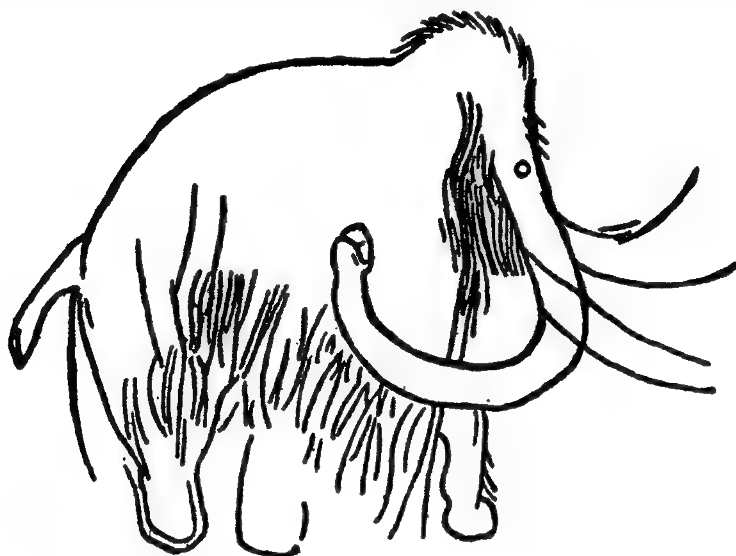
रेखाचित्र २८—गुफा भित्ति पर परवर्तीकाल में बड़े हाथी का रेखाचित्र, सान्तांदार, स्पेन। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र ११६)

शुरू होकर मैग्डलेनीय काल से गुजरते हुए, उच्च पुरापाषाण काल में पशुओं के यथार्थ चित्रण में निरन्तर बढ़ती हुई कुशलता का परिचय मिलता है। फ्रांस और स्पेन की गुफाओं की दीवारों पर खुदे हुए या बनाये हुए प्रारंभिकतम चित्र यह दर्शाते हैं कि यथार्थवाद केवल गहराई को दिखाने की अपनी प्राविधिक अयोग्यता द्वारा ही सीमित था। आकृतियों का विशेष रूप से पार्श्व (Profile) में निर्माण--जैसे कि रेखाचित्र २७ में मेढ़ा और रेखाचित्र २८ में बड़ा हाथी—और पशुओं के चारों पैर दिखाने की आवश्यकता द्वारा उत्पन्न बेसुलझी समस्या, यथार्थवादी चित्रण की इच्छा के अभाव की अपेक्षा, कुशलता के अभाव को प्रकट करते हैं।

बड़े हाथी का दीवार में काट कर बनाया चित्र (रेखाचित्र २९) और बालवाले गैंडे का चित्र (रेखाचित्र ३०) यथार्थवाद की दिशा में अधिक नमनीयता को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक पशु के चारों पैर या तो दिखाये या सुझाये गये हैं, जबकि बाल भी दर्शाये गये हैं और स्थिति को अधिक पूर्णता से चित्रित किया गया है। बड़े हाथी की सूंड का छोर विशेष रूप से अच्छा बन पाया है। किन्तु दोनों ही पशुओं में आंखें योजनाबद्ध (Schematized) हैं, और हाथी की सूंड को इस तरह बनाना कि दांत उसके पीछे छिप जायें, जबकि सामने की तरफ दांतों से सूंड़ छिप जाय, इस कलाकार के लिए बहुत कठिन था। पिछले पैरों का चित्रण भी द्रष्टव्य है। देखनेवाले से सबसे अधिक दूर वाला पैर, ऐसा लगता है मानो उसके सबसे पास हो। यह गैंडे के पिछले पैरों की यथार्थता से सर्वथा भिन्न है।

बाद में जब हमें पुरापाषाण कला के बिसन, रेंडियर और अन्य जीवों के बहुरंगी चित्रों के उत्कृष्ट नमूने मिले, तब कलाकार की डिजाइन को बनाने की

कुशलता की भिन्नताओं ने यथार्थवादी चित्रण की सफलता में उल्लेखनीय परिवर्तन ला दिया, इस प्रकार रेखाचित्र ३१ के मैग्डेलेनीय हाथी को परवर्ती-कालीन उदाहरण से विपरीत कहा जा सकता है। कान, आंख, केशों का अंकन



रेखाचित्र २९—दोर्दोन (फ्रांस) की गुफा में परवर्ती बड़ा हाथी। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र ११७)



रेखाचित्र ३०—परवर्ती बालदार गैंडा, दोर्दोन, फ्रांस। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र ११९)

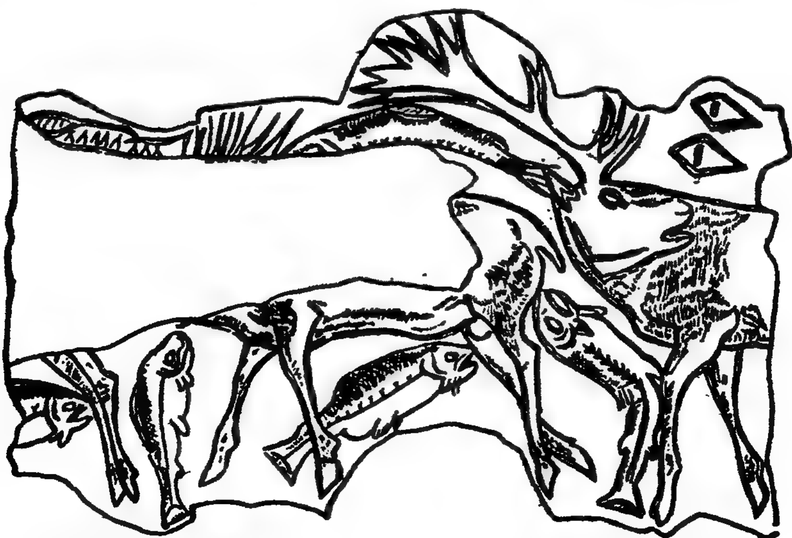
और शरीर की रूपरेखा सधे हुए हाथ को सूचित करती हैं। फिर भी सामने के दांतों के बीच से सूंड दिखायी देती है, सूंड का अन्त बिल्कुल ही नहीं दिखाया गया है, सामने का एक पैर मुश्किल से ही सूझता है और पिछला एक पैर इतना

पतला है कि उसे देखने में अच्छा नहीं मालूम होता। इसके बावजूद यह हाथी उस काल में बनाया गया जबकि प्रचलित प्रविधियों ने एक प्रागैतिहासिक कलाकार को एक सींग के ऊपर पीछे मुंह फेरे हुए, हिरण को उत्कीर्ण करने की क्षमता



रेखाचित्र ३१—बड़े हाथी का मैग्डेलेनियन भित्ति पर उत्कीर्ण चित्र, फ्रांस। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १२२)

दी या एक मूस (Moose) के अग्रिम भाग को, ठीक जैसा कि वह दिखाई देता है, उसी रूप में उत्कीर्ण कर दृष्टिक्रम (Perspective) के कुशल नियंत्रण को प्रदर्शित किया (रेखाचित्र ३२ और ३३)।



रेखाचित्र ३२—रेंडियर के सींग पर उत्कीर्ण मैग्डेलेनियन हिरण और सालमन-मछली, फ्रांस। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १२७)

ए० सी० हैडन की यह पूर्वकल्पना कि कला की शैलियां यथार्थवादी चित्रण से प्रतीकात्मक रूपों में बदल जाती हैं, शायद उन सिद्धान्तों में सर्वाधिक



रेखाचित्र ३३—रेंडियर के सींग पर उत्कीर्ण मैगडेलेनियन मूस (Moose), **फ्रान्स। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १३६)**

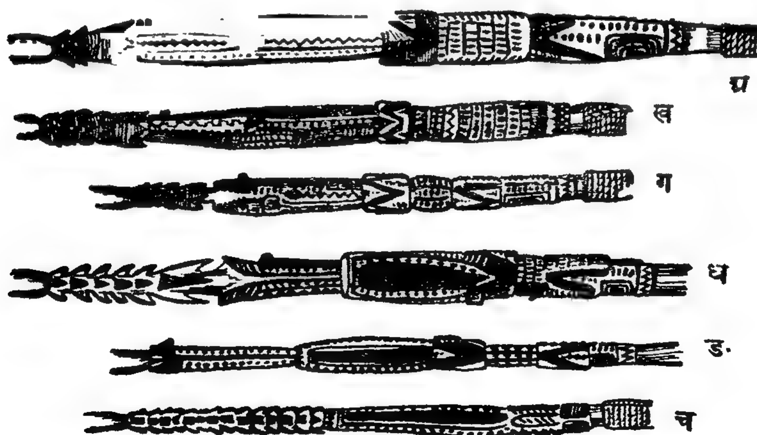
विख्यात है जोकि अपनी पुष्टि के लिए अनक्षर संस्कृतियों से अपने उदाहरण लेते हैं। यह घोषणा करते हुए कि, "हम कलात्मक विकास की—उद्गम, विकास और पतन; यह तीन मंजिलें मान सकते हैं," हैडन ने इस प्रक्रिया की अवधारणा को निम्न शब्दों में प्रकट किया है :

"अधिकांश कलात्मक अभिव्यक्तियों का जन्म यथार्थवाद से ही हुआ, चित्रण जीवितसम या वास्तविक वस्तुओं को सुझाने के लिए बनाये जाते थे; वह ठीक ऐसा न बन सके हों, इसका कारण कलाकार की उदासीनता या अक्षमता या उसकी सामग्रियों की दोषपूर्णता थी। एक बार पैदा होने पर डिजाइन को दबाव या रोक की शक्तियों द्वारा अमल में लाया जाता था, जोकि एक तरीके से इसे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व देती थी। अधिकांश चित्रणों (Representations) में जीवन-इतिहास विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ अन्त में बुढ़ापे पर जाकर ठहर गया; कुछ उदाहरणों में चित्रण समाप्त हो गया—वस्तुतः यह मर गया।"[2]

---

२. ए० सी० हैडन, १९१४, पृ० ७।

यह अर्ध-प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण ऐतिहासिक और गैर-ऐतिहासिक संस्कृतियों से संकलित सामग्रियों द्वारा इतना पुष्ट किया गया कि कोई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश विद्यार्थियों ने इसे स्वीकार किया। जिस समय इसे प्रस्तुत किया गया, उस समय के विचारों का रुख विशेष रूप से इसके अनुकूल था, जैसाकि होम्स के अमरीकी भांड-कला (Pottery)[3] या बाल्फोर के सजावट की कला के सामान्य विश्लेषण[4] जैसे प्रारम्भिक अध्ययनों से व्यक्त है। हैडन के उदाहरणों में सबसे अधिक प्रसिद्ध टौरेस जलडमरूमध्य क्षेत्र के मगरमच्छ की नक्काशी से सजाये हुए वाण थे। रेखाचित्र ३४ में दी गयी क्रमिक सूची यह दर्शाती है कि किस प्रकार इन बाणों द्वारा यथार्थवाद से रूढ़िकरण की ओर हुए परिवर्तन को दर्शाया जाता है। हैडन के रेखाचित्र को हम यहां दे रहे हैं। इनमें से सबसे पहले (अ) में लम्बी थूथन देखी जा सकती है, यद्यपि चिकनी रेखा जोकि सिर की चोटी को दिखा रही है, उसमें नथुने बाहर निकले हुए हैं और एक के बाद एक रखे गये हैं। सिर के पीछे बाण के सबसे मोटे हिस्से में अगली टांगें हैं जिन्हें कि तली में पंजे दिखाने वाली कटी हुई रेखाओं के न्यून कोण से दिखाया गया है। फिर शरीर आता है जिसे लम्ब रेखाओं से जिनके बीच में छोटी पड़ी रेखायें भी आती हैं, दर्शाया गया है, पिछले पैर कोणात्मक रेखा से दिखाये गये हैं जो संतुलन स्थापित करती है, और सामने के पैरों से उल्टी है, और अन्ततः पूंछ कटी हुई रेखाओं या बाहर उभरे हुए भाग से दिखायी गई है।



रेखाचित्र ३४—टौरेस जलडमरूमध्य के मगरमच्छ-बाण उनके कल्पित विकास क्रम के अनुसार। (हैडन के आधार पर, १८९४, चित्र १९)

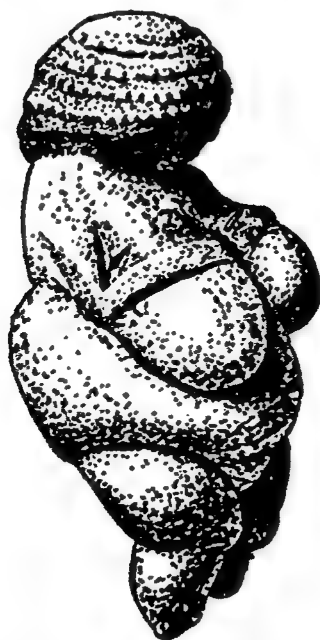
---

३. डब्ल्यू० एच० होम्स, १८८६, पृ० ४४५।

४. एच० बाल्फोर, १८९५।

इस डिजाइन के प्रत्येक भाग का (अ) से लेकर (च) तक अनुसरण किया जा सकता है, इनमें से प्रत्येक में रूढ़ीकरण की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है और (च) में तो यथार्थवादी व्याख्याओं को ढूंढने वाले बड़े परिश्रमी अन्वेषक के लिए भी उसके अर्थ का कोई संकेत निकालना असम्भव है। जैसे कि हैडन ने कहा है कि "मुंह का बाहरी भाग गायब हो गया है···अगले अंग और शरीर भी नहीं है। पीछे के अंग संकरे हैं, पर वह अपने आगे के झुकाव को कायम रखे हुए हैं। पीठ की गोलाकार हड्डियों के ढांचों का स्थान अनेक समानान्तर कटी हुई रेखाओं ने ले लिया है।"[५]

क्या इस प्रकार के श्रेणीक्रम से यह सिद्ध नहीं होता कि किस प्रकार एक डिजाइन में परिवर्तन उस मार्ग को दिखाता है जिससे कि यथार्थवाद से रूढ़ीकरण का विकास होता है? क्या यह मत इस तथ्य से अधिक पुष्ट नहीं होता कि प्रागैतिहासिक स्थानों से संग्रहीत उपर्युक्त प्ररूप यह दर्शाते हैं कि इन प्रारम्भिक कालों में कला के विकास में प्रविधि के अधिक कुशल प्रयोग का निरन्तर प्रयास होता रहा जिससे कि मानव के साथ निवास करने वाले जीवों को यथार्थतः चित्रित करने की योग्यता अधिक पूर्ण बन सके?



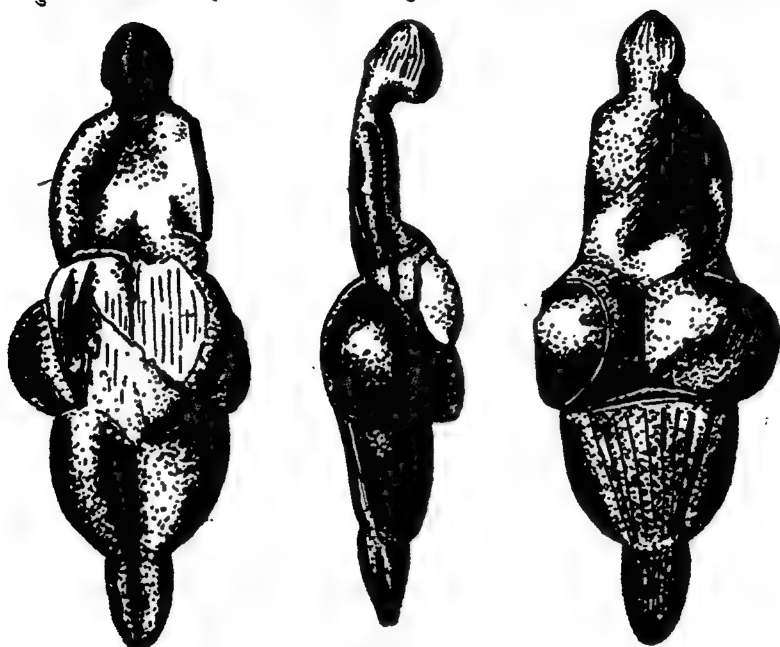
रेखाचित्र ३५—विलेनडार्फ का परिवर्तीकालीन "वीनस", आस्ट्रिया।

५. ए० सी० हैडन, १८९४, पृ० ५७।



रेखाचित्र ३६—उभार कर बनाया गया परवर्ती "वीनस", लोसल से, दोर्दोन, फ्रांस। (मंकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १६२)

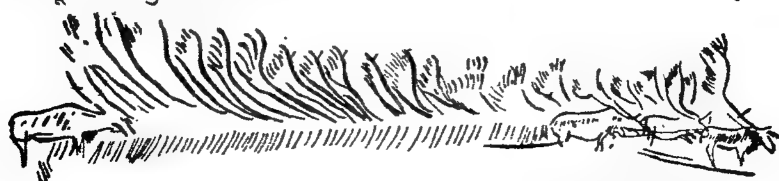
सार्वभौम प्रामाणिकता के अन्य विकासवादी सूत्रों की खोज की भांति यह प्रयास भी अपनी दोषपूर्ण पद्धति और सभी तथ्यों को ध्यान में न लेने के कारण असफल हुआ है। हैडन के वाण या होम्स के बर्तन, **विद्वान् के मन में विद्यमान** पूर्वयोजना के अनुसार सजाये गये हैं। अतः सिद्ध माने हुए विकास केवल पूर्व कल्पना के अन्तर्गत



रेखाचित्र ३७—लेसप्यूज की "वीनस" के नाम से प्रसिद्ध हाथीदांत की आकृतियां औतगंरोन, फ्रांस—संमुख, पार्श्व और पृष्ठ का दृश्य। (मैंकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १५९)

ही सही हैं। इस श्रेणिक्रम में दिखायी गयी वस्तुवें एक ही काल की हैं और इन्हें विकासवादी क्रम में इन अर्थों में नहीं दिखाया जा सकता कि इनमें से अमुक पहले थी या अमुक बाद की है।

यूरोपीय पुरापाषाण कला का विकास भी स्वयं इतना स्पष्ट नहीं है,

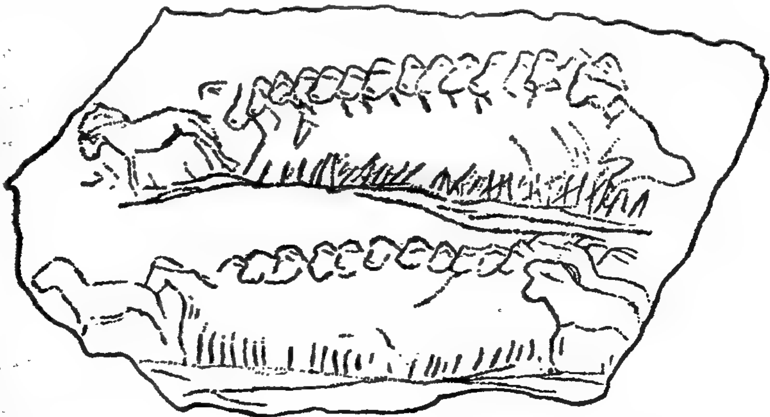


रेखाचित्र ३८—गिद्ध के पंख की हड्डी पर उत्कीर्ण रेंडियर का झुण्ड; उच्च मैग्डेलेनियन कृति, फ्रांस। (मैंकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १३१)

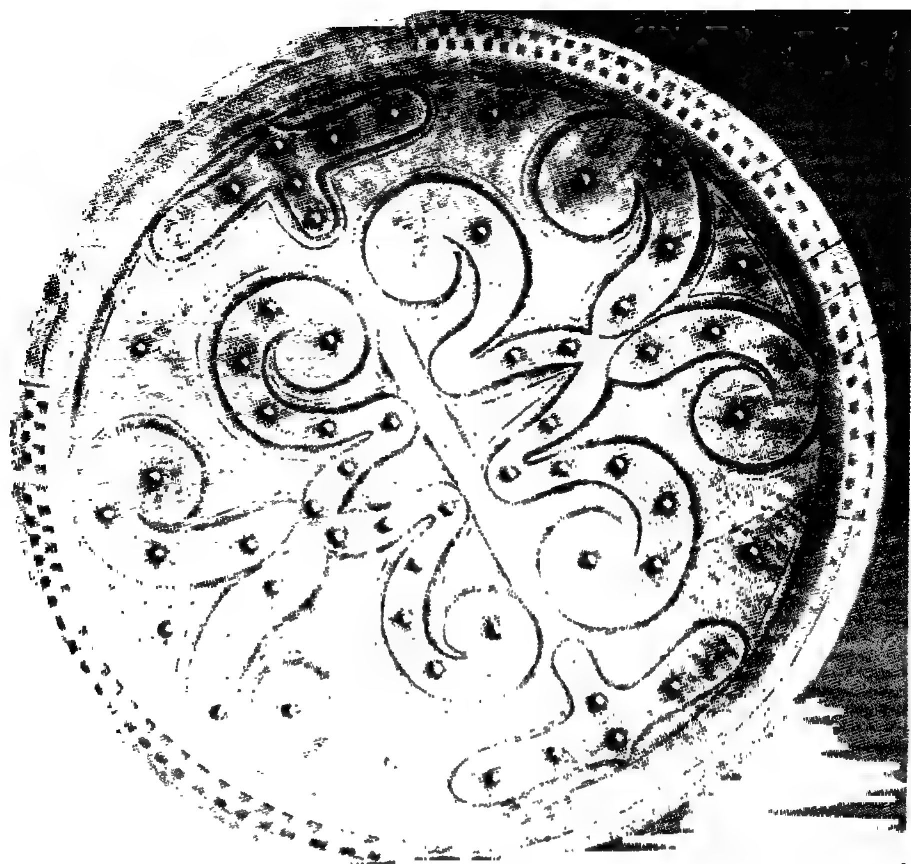
जैसाकि केवल गुफा के चित्रों के विश्लेषण से लगता है। उदाहरण के लिए, गोलाई में दिखायी गयी मानव आकृति की कृतियां केवल समानान्तर विकास-क्रम को ही दिखाने में असमर्थ नहीं हैं, किन्तु वह केवल परवर्ती काल तक ही सीमित हैं। परवर्ती "वीनस" जोकि इस युग की हैं, उनकी उभरी हुई कृतियों या मूर्तियों में भिन्न रूढ़ीकरण हैं, जो उन्हें यथार्थता से दूर ही रखते हैं। सिर को बड़ी लापरवाही से बनाया गया है और इसी प्रकार पैरों और हाथों को भी; सिर के बालों को अधिक-से-अधिक कुछ रेखाओं द्वारा अंकित किया गया है। इनमें सर्वप्रसिद्ध तथाकथित "विलेनडोर्फ-वीनस" (रेखाचित्र ३५) है। यह लघु मूर्ति, जहां तक यथार्थता के अंश का सम्बन्ध है, रेखाचित्र ३६, जिसमें कि स्त्री-आकृति को सामान्य अनुपातों के निकट दिखाया गया है और रेखाचित्र ३७ जिसमें कि अतिशय शैलीकरण है, के मध्यवर्ती है। बाद वाले चित्र में पिंडों और अनुपातों का सर्वथा नूतन प्रयोग इसे विशेष विचित्रता प्रदान कर देता है और यथार्थता से इतना पृथक् कर देता है कि इसमें मानव आकृति का केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार की भिन्नतायें उच्च पुरापाषाण काल की चित्रकलाओं में मिलती हैं। कई कालों में विकसित होता हुआ यथार्थवाद मैग्डेलेनीय बहुरंगी चित्रों में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो, पत्थरों, हड्डी और सींग पर अभिव्यंजनात्मक (Impressionistic) नक्काशी का रूप ले लेता है। मैग्डेलेनीय कलाकार द्वारा गिद्ध की पंख की हड्डी पर बना हुआ रेंडियर के झुण्ड का चित्रण बहुत प्रसिद्ध है (रेखाचित्र ३८)।

इस रचना में सामने के तीन और पीछे के एक पशु को छोड़कर, यथार्थवादी चित्रण का प्रयास तक भी नहीं किया गया है। उक्त स्थान से भिन्न स्थान में पाये गये पत्थर पर उभारे गये घोड़ों के झुण्ड का वैसा ही चित्रण (रेखाचित्र ३९)



रेखाचित्र ३९—पत्थर पर उत्कीर्ण, उच्च मैग्डेलेनियन घोड़ों का झुण्ड, बीने, फ्रांस। (मैकर्डी के आधार पर, १९२४, चित्र १३२)



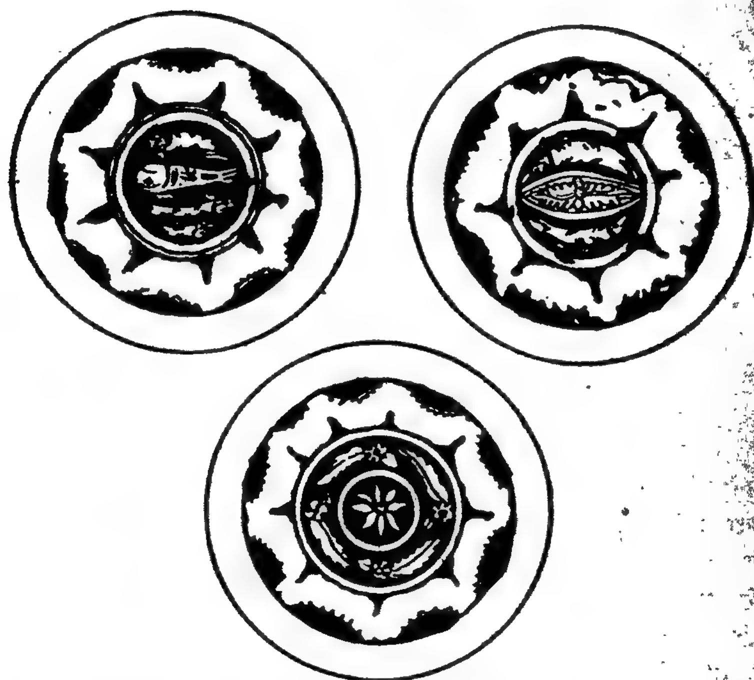
प्लेट ८ धान पछोड़ने का बुश नीग्रो सूप



प्लेट ६ डाहोमी पीतल की मूर्तियां। मनुष्य हाथी की पकड़ में (ऊंचाई ६ इंच) और पुरुष जमीन खोदता हुआ (ऊंचाई ३$\frac{3}{4}$ इंच)। देखिये पृ० २३०–१ (फोटोग्राफ, मेरी मौडलिन, शिकागो द्वारा)

इस बात की साक्षी है कि यह केवल स्थानीय विकास न था या किसी एक ही कलाकार की विशेषता न थी।

बोग्रास ने दिखाया है कि मैक्सिको में "फैक्ट्री उत्पादन और ···फूहड़ कृति" ने किस प्रकार यथार्थवाद से हटकर, अर्थहीन रूपों से गुजर कर कुछ खास की लकड़ी और कलाबाश की तश्तरियों की सजावट में यथार्थवादिता को किया है। ये तश्तरियां नारंगी रंगी गयी हैं और फिर उन पर हरे रंग से डिजाइन बनाये गये हैं। लकड़ी से बने पुराने नमूने, जिनका मुख्य अभिप्राय (Motif) पशु या मछलियों की आकृतियां हैं, श्रेष्ठ बन पड़े हैं। बाद का काम बहुत घटिया है, और मौलिक डिजाइन में निश्चित परिवर्त्तन को सूचित करता



रेखाचित्र ४०—कलाबाश तश्तरियों पर बने डिजाइनों का रूपान्तरण, ओआक्साका, मैक्सिको। (बोआस के आधार पर, १९२७, चित्र १२२)

है। कुछ दशाओं में पुनर्व्याख्या हुई प्रतीत होती है, किन्तु क्या यह गलतफहमी से हुई है या "पुरानी के स्थान पर नयी विषयवस्तु को ग्रहण करने से, जिस प्रक्रिया में कि नया विषय पुराने पिटेपिटाये रूप द्वारा ठीक तरह नियंत्रित रहा",[६] यह ठीक नहीं कहा जा सकता। जिस श्रेणी को बोग्रास ने उद्धृत किया है, उससे यह पता लगता है कि इस प्रकार के परिवर्तन कैसे हो सकते हैं। इन तश्तरियों

६. एफ० बोआस, १९२७, पृ० १३१।

(रेखाचित्र ४०) के उदाहरण में पहले रूपों में जो मछलियां गोलाकार ढांचे में सीधी लेटी हुई चित्रित की गयी थीं वह बाद में एक सर्वथा अर्थहीन डिज़ाइन में टूट गयी हैं। ऐसा लगता है कि बाद में इस डिज़ाइन की पुनर्व्याख्या हुई, जिसमें उतनी ही संख्या में पत्तियों को लेकर उन्हें वृत्त के बाहरी छोरों पर रख दिया गया, किन्तु इस बार उनके बीच एक छोटा-सा वृत्त भी लगा दिया और उसके अन्दर एक फूल जैसी इकाई भी जोड़ दी गयी।

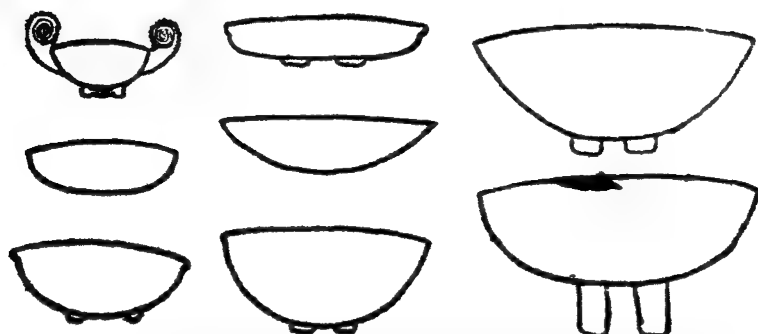
हमारी चर्चा से यह स्पष्ट है कि यथार्थवाद से रूढ़ीकरण की ओर या अमूर्त (Abstract) डिजाइन से यथार्थवाद की ओर प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कोई सार्वभौम रूप से लागू होने वाला विकासवादी सिद्धान्त स्थापित नहीं किया जा सकता, बल्कि किसी एक दिशा में या दोनों ही दिशा में, युक्तिसंगत परिवर्त्तन का सिद्धान्त ही नियम है। जैसा कि हम देख चुके हैं बनाने में जल्दबाजी, माध्यम के प्रयोग में लापरवाही, जानबूझ कर बनाये गये विभिन्न प्रकार के "संक्षेप," एक यथार्थतः अवधारित रूप को रूढ़िगत व प्रतीकात्मक भिन्न रूपों में तोड़ देते हैं। दूसरी ओर रेखाओं के कुछ संयोगों, चट्टानों के उभारों या किन्हीं अन्य आकस्मिक रूपों में एक कल्पनाशील व्यक्ति कोई अर्थ पढ़ सकता है और क्रमशः समाज के सदस्य भी उसे अर्थपूर्ण स्वीकार कर सकते हैं, और उसके बाद वह उसके चित्रण में यथार्थता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। कला में परिवर्त्तन के सभी अन्य उदाहरणों की तरह इसमें भी प्रथा, स्थापित शैली और प्रचलित माध्यम का विचार संभवतः रहता है। अतएव अब हम कला की शैली की चर्चा की ओर मुड़ते हैं, चूँकि किसी भी कला के अध्ययन में यह केन्द्रीय समस्याओं में से एक है।

३

एक जनसमूह, एक काल, और एक कलाकार तक की कला भी मूलतः अपनी शैली द्वारा एक-दूसरे से पृथक् की जा सकती है। परिवर्तन के अनुकूल समझे जाने वाली परिस्थितियों में भी एक कला-शैली प्रायः बहुत दृढ़ता या कट्टरता दिखा सकती है। फिर भी परिवर्तन के प्रति इसका प्रतिरोध उन निरंतर होने वाले विकासों को नहीं रोक पाता जोकि अपेक्षया थोड़े समय में कला की शैली में द्रष्टव्य परिवर्तन ला देते हैं। यूरोपीय-अमरीकी समाजों की कला में हम कुछ अकेले कलाकारों की कृतियों में भी कालों को ढूंढने के अभ्यस्त हैं, जैसे कि उदाहरण के लिए जब कि हम रेनुआर, पिकाजो या ब्रैक जैसे चित्रकारों की कला का विवरण प्रस्तुत करते हैं। बीसवीं शताब्दी के यूरोप व अमरीका की अपेक्षा अधिक स्थिर संस्कृतियों में भी कलात्मक शैली में परिवर्त्तनों को सर्वत्र देखा जा सकता है, जैसे कि दक्षिणी पश्चिमी संयुक्त राज्य के इंडियनों की बर्तनों की सजावट में।

यह स्पष्ट होना चाहिए कि उस संस्कृति के लोगों के लिए जो कि उन्हें बनाते हैं, उन कला रूपों का क्या महत्त्व है इस पर ध्यान दिये बिना भी शैली का विश्लेषण किया जा सकता है। इस बारे में हमारे सामने मनोवैज्ञानिक व संस्थात्मक इन दो रूपों में समस्त संस्कृति के दोहरे दृष्टिकोण से अध्ययन का

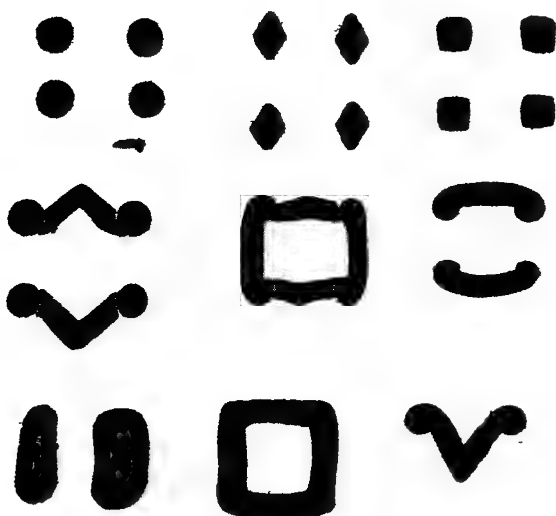
समानान्तर उदाहरण मौजूद है। इनमें से पहले दृष्टिकोण के अंतर्गत, कला में प्रतीकवाद के अध्ययन की भांति, समझने के लिए अर्थ अनिवार्य है। दूसरे में हम संस्थाओं के रूपों से सम्बन्धित हैं—जिनका कि शैली के तत्वों की भांति, जो लोग उन संस्थाओं में रहते हैं, उनके लिए उनका क्या अर्थ है इस बात का कोई निर्देश किये बिना, विश्लेषण किया जा सकता है।



रेखाचित्र ४१—ऐडमिरेल्टी द्वीपों के लकड़ी के प्यालों के रूपों का विश्लेषण।
(रिचार्ड के आधार पर, १९३३, जिल्द १, चित्र १)

मैलेनेशियाई कला की शैली की रूढ़ियों का अध्ययन इस बात का अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार चित्रकला और मूर्तिकला का वस्तुगत दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जा सकता है। ऐडमिरेल्टी द्वीप के आदिवासी ऐसे लकड़ी के बर्तन तराशते हैं जिन्हें तीन औपचारिक प्रकारों में रखा जा सकता है। इनमें से पहला प्रकार गोल प्याला है जोकि पायों या विभिन्न प्रकार के टेकों पर खड़े रखे जाते हैं (रेखाचित्र ४२)। यहां दिये गये रेखाचित्र में इन प्यालों की रूपरेखा की एकता और इस शैली की सीमा के अन्दर पायी जाने वाली भिन्नतायें और उनके पाये तथा टेकों की किस्में भी देखी जा सकती हैं। दूसरे प्रकार के प्यालों में यथार्थवादी हत्थे लगे हैं जो उसी लकड़ी से तराशे गये हैं, जिससे प्याले बने हैं, और मोटे किनारे के हैं। तीसरे प्रकार में पशुओं और चिड़ियों की नक्काशी की गई है और उन्हें पर्याप्त यथार्थवादी रीति से बनाया गया है जोकि पहचाने जा सकते हैं। यह प्याले अपनी रूपरेखा तथा सजावट में जिस शैली का अनुसरण करते हैं वह वैसे ही प्यालों की, जोकि पूर्वी न्यूगिनी से दूर टामी (क्रेटिन) के छोटे द्वीप से लिये गये हैं और रेखाचित्र ४३ में दिखाये गये हैं, शैली से भिन्न हैं। यहां प्यालों की आकृतियां गोल हैं, पर उनके न हत्थे हैं न पैर हैं। उनकी रूपरेखाओं की आकृति एडमिरेल्टी द्वीपों के प्रकारों से उनकी भिन्नता दर्शाती है।

कला की शैली वह है जिसे देखकर विशेषज्ञ बता सके कि अमुक कृति कहां बनी या अमुक संस्कृति के किस काल से ली गई, या वह किस "स्कूल" की है, या यहां तक कि उसका बनाने वाला कौन कलाकार व्यक्ति है। शैली के



रेखाचित्र ४२—ऐडमिरेल्टी द्वीप के लकड़ी के प्यालों के टेकों का विश्लेषण।
(रिचार्ड के आधार पर, १९३३, जिल्द १, चित्र २)

आधार पर एक दूसरे से मिलते हुए रूपों के विस्तार के अनुसार कला के प्रान्तों को दिखाना सम्भव है।[७] शैली के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से वहां पर उपयोगी है जहांकि अज्ञात प्रान्तों के नमूनों को पृथक् करना हो। गायना इंडियनों के बर्तनों में एक दक्षिण-पश्चिमी घड़ा बिलकुल अलग नजर आता है। किन्तु जो दक्षिण-पश्चिम की भांड कला को जानता है, वह यह किस क्षेत्र का है, इससे अधिक जान सकता है। वह पहचान सकता है कि यह किस बस्ती (pueblo) का है और शायद यह भी कि यह किस काल में बना था।

अफ्रीकी कला पर एक प्रारम्भिक रचना में उसके लेखक ने चार तराशी हुई ऐसी कृतियां सम्मिलित कर लीं, जोकि अनक्षर लोगों की विभिन्न शैलियों से परिचित लोगों की दृष्टि में स्पष्ट ही अफ्रीकी महाद्वीप की नहीं थीं, बल्कि मार्क्वेजन द्वीपों की थीं।[८] निस्संदेह सिर और शरीर के अनुपात, और बाँहों, पैरों और धड़ की बनावट में उस रचना में दिखायी गयी कृतियों में (रेखाचित्र ४४ में उद्धृत) पर्याप्त बाह्य सदृशताएं विद्यमान हैं, जो एक असावधान व्यक्ति को बहकाने के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु जैसे ही हम इन तराशी हुई कृतियों के कुछ प्रमुख ब्यौरों का अध्ययन करते हैं, महत्त्वपूर्ण भिन्नतायें प्रकट हो जाती हैं। अफ्रीकी लकड़ी का कलाकार अपनी मूर्ति में मार्क्वेजन मूर्तिकार की शैली के अनुसार

७. मिलाइये, पी० एस० विंगर्ट, १९५०, तथा अन्यत्र।
८. सी० आइंस्टीन, १९२०, पृ० ४२, ४३, ७९, ८६।

हाथ व उंगलियों को नहीं बनाता, न ही वह कानों को उस शैली में दिखाता है। कोई भी व्यक्ति जिसने काफी संख्या में ऐसी तराशी हुई मूर्तियां देखी हैं, उसे वह किस क्षेत्र की हैं, यह पहचानने में भूल न होगी।



रेखाचित्र ४३—टामी द्वीप के लकड़ी के प्यालों की शक्लों का विश्लेषण।
(रिचार्ड के आधार पर, १९३३, जिल्द १, चित्र १३)

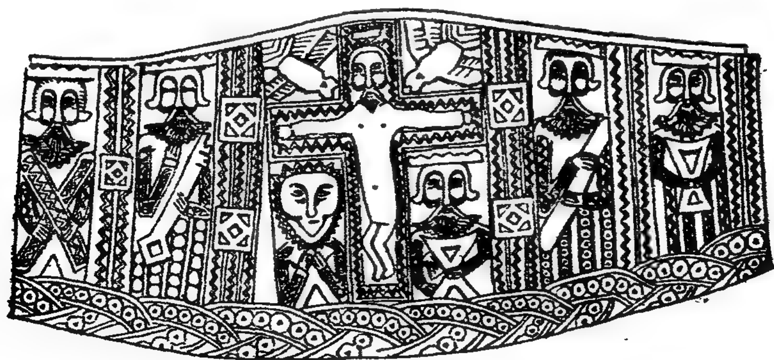
जबकि एक संस्कृति की कला के रूपों को दूसरी संस्कृति के कलाकार अपनाने का प्रयत्न करते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि शैली के तत्व कितने मजबूत या जल्दी से साथ न छोड़ने वाले होते हैं। । न्यूजीलैंड के माओरी की लकड़ी की मूर्ति बनाने की शैली में सजाई जाने वाली वस्तु पर जटिल नमूने बनाये जाते हैं, जो गोदना गुदाने से लिये गये हैं। शिकागो प्राकृतिक-इतिहास-संग्रहालय में सुरक्षित एक हड्डी की तराशी हुई मूर्ति और एक लकड़ी की मूर्ति जोकि अब कोपनहैगन के सांस्कृतिक संग्रहालय में है, और प्लेट ११ ख और ११ ग में उद्धृत है, इस बुनियादी प्रतिमान को दर्शाती हैं। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण पश्चिमी अफ्रीका के बेनिन स्थान से है, जिस संस्कृति की कांसे और हाथीदांत की चीजें कला के संसार में प्रसिद्ध हैं। यूरोपीय लोगों ने सर्वप्रथम पन्द्रहवीं शताब्दी में बेनिन में पदार्पण किया। इसके कांसे के कलाकारों को अपने माध्यम में इतना अधिक कौशल प्राप्त था और महत्वपूर्ण बारीकी को समझने में उनकी इतनी सधी हुई आंख थी, कि वे उस काल के पुर्तगालियों की जमीन पर रखकर चलायी जाने वाली बन्दूकों,



रेखाचित्र ४४—अफ्रीकी कला की एक पुस्तक में सम्मिलित माक्सेंजन तराशी हुई मूर्ति (दायें), और उसी पुस्तक में एक अफ्रीकी कृति (बायें)।
(आइंस्टीन के आधार पर, १९२०, प्लेट ७९ और ८६)

सैनिक के सिर की टोपी, कवच, छोटी तहदार वर्दी और अन्य हथियारों के यथार्थवादी चित्रण छोड़ गये हैं। इन कांसे की मूर्तियों में यूरोपियनों के चेहरे में लम्बी और संकरी नाक ठीक चित्रित की गयी है किन्तु नथुने इस कला की अफ्रीकी रूढ़ि के अनुसार बाहर की ओर उठे हुए हैं।

रेखाचित्र ४५ और प्लेट १२ में बेनिन के डिब्बे दिखाये गये हैं, उनका ऊपरी हिस्सा खो गया है, किन्तु उसे जोड़ने के छेद रह गये हैं। केन्द्रीय आकृति सूली पर **ईसा** की है। सिर पर मूंछें, दाढ़ी और बालों को सोलहवीं शताब्दी के रिवाज के अनुसार बनाया गया है, शरीर के अनुपात तत्कालीन योरोपियन कला के अनुसार हैं। सूली के ऊपरी बाजुओं के वर्गों में दो कबूतर बनाये गये हैं जोकि **होली घोस्ट** को दिखाते हैं, किन्तु इन्हें यूरोप की अपेक्षा अफ्रीकी शैली में अधिक बनाया गया है। उनके नीचे बांयी ओर पूजा की मुद्रा में **मेरी** है, दाहिनी ओर प्याले के साथ **सेंट जोन** है। स्त्री आकृति का शिरस्त्राण और पुरुष के गले में झालरदार पट्टी उस समय की यूरोपीय वेषभूषा के समान हैं। बांयी से दाहिनी ओर चार अन्य आकृतियां जो बाकी स्थान को भरती हैं चार संतों की प्रतिनिधि हैं, जिनमें प्रत्येक के साथ उसके उपयुक्त प्रतीक हैं। **सेंट पाल** को एक तलवार के साथ, **सेंट जोन** को (दुबारा) अपने प्याले के साथ, सेंट ऐंड्रयू को विशेष प्रकार की सूली के साथ जोकि उससे सम्बद्ध है, और **सेंट पीटर** को चाबी के साथ दिखाया गया है। यह सब मुख्यतः यूरोपीय है, फिर भी सम्पूर्ण रचना सर्वथा अफ्रीकी रीति से कल्पित की गयी है, जबकि मूर्तियों और सूली की रूपरेखा की सजावट और विशेषरूप से तली में एक-दूसरे को काटती हुई वक्ररेखाएं बहुत-सी बेनिन कृतियों में देखी जा सकती हैं।



रेखाचित्र ४५—बेनिन के डिब्बे पर बने डिजाइन।

जब कोई कलाकार अपनी कला के रूपों में परिवर्तन लाता है, तब भी परम्परागत शैली के आदेश उसे शासित करते हैं। प्रत्येक समाज में कलाकार

एक परीक्षण करनेवाला, नवीनता लाने वाला व विद्रोही होता है। किन्तु वह एक सीमा के अन्दर ही नवीनता लाने वाला है, चूंकि वह सर्वथा अजाने ही उन कारकों द्वारा प्रभावित है जोकि उसी भांति उसके सृजनात्मक अनुभव का मार्ग दर्शन करते हैं जिस भांति कि वे सभी मानव प्राणियों के जीवन के सभी पहलुओं में व्यवहार का मार्ग-दर्शन करते हैं। निःसन्देह अपनी कलात्मक दक्षता के कारण अपनी प्रविधि के साथ क्रीड़ा करते हुए कलाकार अनिवार्यतः परीक्षण करता है, किन्तु इसके साथ ही वह संस्कृति के विद्यार्थी के सम्मुख सांस्कृतिक प्रशिक्षण की शक्ति को भी प्रकट करता है।

परिवर्त्तन को लाने में कलाकार के इस कार्य पर जोर देना महत्त्वपूर्ण है, विशेषरूप से जहांकि अनक्षर लोगों की कला की चर्चा हो रही हो, चूंकि उनकी कलाशैलियों पर विचार करते हुए परिवर्तन की अपेक्षा सामान्यतः स्थिरता पर जोर दिया जाता है। बल्कि यहाँ तक गम्भीरता पूर्वक कहा गया है कि एक अनक्षर मूर्तिकार, कुम्हार या चित्रकार सृजनात्मक कलाकार नहीं, प्रत्युत केवल नकल करने वाला है जोकि अपने किसी प्रतिभाशाली पूर्वज द्वारा दिये गये डिजाइनों का आंख मूद कर अनुसरण करता है। परन्तु कोई भी क्षेत्रीय अन्वेषक इसकी साक्षी दे सकता है कि यह सर्वथा असत्य है।

एक विशेष रूप में परिवर्त्तन के उदाहरण के लिए हम डाहोमी के विभिन्न डिजाइन टाँककर सजाये गये कपड़ों (Applique) को ले सकते हैं। यह कपड़े मुखियाओं की दीवारों पर लटकाने के लिए बनाये गये हैं। इनमें जनता के जीवन से लिये गये अभिप्रायों (Motifs) को सजाने के लिए प्रयोग में लाया गया है। इसकी सिलाई उन लोगों द्वारा की जाती है जोकि कपड़े सीने वाले पैतृक संघ के सदस्य होते हैं। संघ के पास अनेक प्रकार के अभिप्रायों के नमूने हैं। जब एक कपड़े का डिजाइन बनाया जाता है, तब उसकी विषयवस्तु और उसके उद्देश्य या विषय (Theme) के क्रम का निर्णय किया जाता है और आवश्यक अभिप्रायों को जमीन पर बिछाकर व अदल-बदल कर रखा जाता है जब तक कि संतोषजनक रचना नहीं बन जाती।

प्लेट १३ में चार कपड़े दिखाये गये हैं, जिनमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार चार पीढ़ियों के लोगों द्वारा एक ही विषय की रचना निरन्तर बदली जाती रही है। विषय शेर का शिकार है। इनमें से पहला कपड़ा एक डाहोमी राजा के लिए जिसने कि १८५८ से १८८९ तक राज्य किया, संघ के समकालीन मुखिया के बाबा द्वारा बनाया गया था। मूल निर्माता के लड़के ने इस आधार पर पहली धारणा की आलोचना की कि चूंकि इसमें राजकुल से संयुक्त शेर पर सिर्फ लाठियों से लैस आदमियों द्वारा आक्रमण करवाकर दिखाया गया है, इससे उसको उचित सम्मान नहीं मिलता। अतः उसने उनके हाथों में धनुष और बाण दिये और मूल कृति में दिखाये गये पशु के मुँह से उसके शिकार को भी छुड़ा दिया गया। उस मुखिया ने जिसके पास से यह कपड़े प्राप्त किये गये थे, स्वयं यह अनुभव किया कि उसके पिता द्वारा बनाये गये कपड़ों में नाटकीय गुण का

अभाव था, अतः उसने रचना में और क्रान्तिकारी परिवर्तन किया और शेर द्वारा एक शिकारी को पकड़ा हुआ दिखाया। उसने उसकी शक्ति पर भी बल दिया और शिकारियों के हाथ में बंदूकें और बड़े छुरे देकर शिकार और शिकारी के संघर्ष के प्रभाव को भी बढ़ा दिया; और उसने शेर का भी अधिक यथार्थ चित्रण किया। इस व्यक्ति के लड़के ने जोकि इस संघ का भावी मुखिया होगा, अन्तिम संशोधन किया। कई परिवर्तनों के अतिरिक्त इस नवयुवक ने आक्रमण करने वालों के गुट में एक तीसरी मानव मूर्ति जोड़ दी, और शेर की आकृति को सुनहरी कपड़े की एक पट्टी से इस प्रकार सजा दिया जिससे शेर का काला शरीर कपड़े की सुनहरी पृष्ठभूमि में और भी अधिक चमक गया।

इस समस्या का कि कलाकार अपने समाज द्वारा निर्धारित कला की रूढ़ियों की सीमाओं के अन्तर्गत ही परीक्षण करने वाला है, बुनजल ने प्यूब्लो इंडियनों में बहुत विस्तार से अध्ययन किया है। जूनी स्त्रियों के सम्बन्ध में वह लिखती है :

"यद्यपि स्त्रियां डिजाइनों में किसी बहुत निश्चित स्वामित्व को स्वीकार नहीं करतीं, किन्तु हरेक बर्तन बनाने वाली दावा करती है कि वह अपने सहयोगी कलाकारों की कृतियों में से तत्काल अपनी कृति को पहचान सकती है। 'मैं सदा घड़े को देखकर बता सकती हूं कि यह किसने बनाया है।' एक जूनी स्त्री और भी अधिक स्पष्ट थी, 'यदि मैं सभी की तरह अपने बर्तनों को रंगूं तो जब मैं नर्तकों के लिए प्लाजा में भोजन ले जाती हूं, मेरा बर्तन खो सकता है। मैं अकेली हूं जो किनारों पर चौपड़ का नमूना बनाती हूं, इसीलिए मैं सदा किनारा देख कर यह बता सकती हूं कि यह बर्तन मेरा है।' "[९]

एक होपी इंडियन कुम्हारिन ने अपने डिजाइन के स्रोतों का इस प्रकार विवरण दिया : "मैं सदा डिजाइनों के बारे में सोचती रहती हूं, चाहे मैं कुछ भी कार्य कर रही हूं; जब कभी मैं आंख बन्द करती हूं, मुझे अपने सामने डिजाइन ही दिखायी देते हैं। मैं प्रायः डिजाइनों को स्वप्न में देखती हूं और जब कभी मैं रंगने के लिए तैयार होती हूं, मैं अपनी आंखें बन्द कर लेती हूं और तब डिजाइन यों ही मेरे पास चले आते हैं। मैं जैसे उन्हें देखती हूं वैसे ही चित्रित कर देती हूं।" एक अकोमा कलाकार ने कहा : "मैं सब प्रकार के डिजाइन पसंद करती हूं, मेरे सभी घड़े अलग-अलग मिलेंगे। मैं एक डिजाइन को दुबारा नहीं बनाती। कभी-कभी मैं दो-तीन एक-से बना देती हूं, पर अक्सर नहीं; मैं वैसा करना पसन्द नहीं करती।"[१०] इस प्रकार के वक्तव्यों पर उन समालोचनाओं के साथ जोकि स्वीकृत नमूनों की परिधि के बाहर पड़ने वाले डिजाइनों के विरुद्ध, इन्हीं इंडियनों और अन्य समाजों के कलाकारों द्वारा की गयी है, विचार करना

---

९. आर० बुनजल, १९२९, पृ०६४-५।
१०. वहीं, पृ० ५१-५२।

चाहिए। इस प्रकार वे पुनः यह स्पष्ट करते हैं कि कलाकार कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो उसकी सृजनात्मकता, उसकी संस्कृति द्वारा निर्धारित और स्थापित कला-शैली की सीमाओं के अन्तर्गत ही अपने को अभिव्यक्त करेगी।

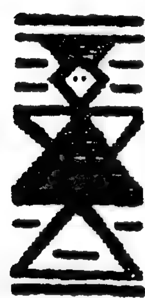
४

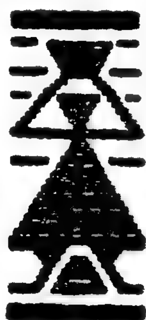
एक शैली को बनाने वाले तत्त्वों को कला के औपचारिक पहलू कहा जाता है। उनमें रेखा या पिंड से व्यक्त होने वाले रूप की सभी अभिव्यक्तियां—लय (Rhythm), समरूपता (Symmetry) और रंग के प्रयोग का समावेश है। डिजाइन खड़े या पड़े, कल्पित किये जा सकते हैं, यद्यपि ऐसा कम ही पाया जाता है। उन्हें गोलाकार रूप दिया जा सकता है जैसे कि बर्तन या टोकरी में; ऐसे उदाहरणों में उनकी गति सीधी परिक्रमा या उल्टी परिक्रमा जैसी हो सकती है। माध्यम स्वयं रूप का निर्धारक है। यह स्पष्ट हो जाता है जबकि टोकरी बनाने या कपड़ा बुनने में माध्यम द्वारा यथार्थ आकृति उतारने का प्रयास किया जाता है। ईक्वेडोर के कयापा इंडियनों द्वारा बुने हुए मानव और पशु-रूपों के चित्रण (रेखाचित्र ४६) इसके उदाहरण हैं। यहां वक्ररेखा बुनने की असली कठिनाई रूढ़ीकरण को अनिवार्य बनाती है। अभिव्यक्ति के ऊपर इस नियंत्रण और कलाकार की यथार्थतः चित्रित करने की सापेक्ष स्वाधीनता का—जो सदा उसकी कला की शैली के प्रतिमानों के शब्दों में होती है—पारस्परिक विरोध जबकि वह बर्तनों या लकड़ी या अन्य किसी वस्तु पर कोई डिजाइन आंकता या तराशता है स्पष्ट हो जाता है।

किसी भी संस्कृति के प्रसिद्ध कलाकार को उसकी प्राविधिक दक्षता उसे समाज की कला की रूढ़ियों द्वारा स्वीकृत औपचारिक तत्त्वों के साथ परीक्षण करने की अनुमति देती है। कलाकार द्वारा उपलब्ध सामग्री के उपयोग में इस अतिकुशलता के प्रयोग के बिना किसी महान् कला का जन्म संभव नहीं। कला का बड़ा आकर्षण इसी में निहित है। किसी अपरिचित कला के नमूने की ओर जो चीज़ किसी व्यक्ति को आकर्षित कर लेती है, वह उसके सम्पादन की कुशलता ही है—यह रंगों का समुचित विन्यास व रूप के तत्त्वों का कुशलतापूर्वक उपयोग है, जोकि स्रष्टा को कृति की सामग्री के लम्बे परिचय से प्राप्त होता है।

एक बात पर जोर देने की जरूरत है कि एक माध्यम या एक कला-शैली में असाधारण कुशलता अनिवार्यतः दूसरे माध्यम या शैली में वैसी ही क्षमता प्रदान नहीं करती। यह विशेष रूप से सच है, जबकि नया माध्यम कलाकार के लिए अपरिचित हो और वह भिन्न संस्कृति की रूढ़ियों से आया हुआ हो। इसीलिए जब अनक्षर संस्कृति के एक कलाकार के हाथ में पेंसिल और कागज देकर उससे एक दृश्य बनाने के लिए कहा जाता है, तो वह भद्दी रूपरेखायें खींचता है। ऐसे रेखाचित्रों को, "आदिकालीन कला" का हमारे बच्चों या मानसिक स्नायु रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की कृतियों के साथ बाह्य सादृश्य पुष्ट करने के लिए प्रायः प्रयोग किया जाता रहा है। किन्तु "आदिकालीन" मानव का भोंडापन कला में अदीक्षित सभ्य स्त्री-पुरुषों के रेखाचित्रों से अधिक भोंडा नहीं है। कैमरन

ने इसे इस प्रकार सिद्ध किया है; उसने "विज्ञान में प्रशिक्षित युवकों को", इस उदाहरण में जौन हौपकिंस अस्पताल के चिकित्सकों को, जब वह अकेले व खाली हों, अपनी "स्मृति से कुछ वस्तुयें" बनाने के लिए कहा। यह रेखाचित्र एक "बच्चे की गाड़ी को खींचती हुई लड़की" और "घोड़े की पीठ पर सवार आदमी" के होने थे।[11] इस विचित्र प्रार्थना पर, इन विज्ञान में दीक्षित, किन्तु कला में अदीक्षित व्यक्तियों ने जो चीजें बनायीं वह ऐसी ही थीं जोकि पेंसिल और कागज के प्रयोग में अनभ्यस्त अनक्षर कलाकार बनाता। उन्होंने ऐसे रेखाचित्र बनाये, जोकि वस्तुतः बच्चों जैसे ही थे, जैसाकि उनके यहां दिये हुए नमूनों से देखा जा सकता है (रेखाचित्र ४७, ४८)। एक कलाकार अपने माध्यम में कितना ही कुशल क्यों न हो, उसकी दक्षता उससे भिन्न माध्यम में कुछ काम नहीं आती। वह इस नये रूप में नौसिखिया ही रहता है और उसी की तरह चित्रण करता है।

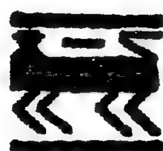

क


ख


ग


घ


ङ


च


छ


ज

रेखा चित्र ४६—ईक्वेडोर के कयापा इंडियनों द्वारा बुने हुए मानव और पशु रूपों के शैलीकरण। (क) और (ख) मानव प्राणी; (ग) बन्दर; (घ) घोड़ा; (ङ) हरिण; (च) कुत्ता; (छ) मकड़ी; (ज) मेंढक। (बैरेट के आधार पर, १९२५, प्लेट १२३)

११. एन० कैमरन, १९३८, तथा अन्यत्र।

किन्तु कलाकार की कुशलता बेकार नहीं जायेगी, यदि उसे नये माध्यम पर उस्तादी पाने का पर्याप्त अवसर दिया जाय। इसे सिद्ध करने के लिए हमारे



रेखाचित्र ४७—विज्ञान में प्रशिक्षित प्रौढ़ द्वारा "लड़की द्वारा बच्चे की गाड़ी खींचने" का रेखाचित्र। (कैमरन के आधार पर, १९३८, रेखाचित्र १)

हाथ में विभिन्न संस्कृतियों की पर्याप्त साक्षियां हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिण-पश्चिम के इंडियन श्वेतों के सम्पर्क से पानी के रंगों से परिचित हो गये हैं और वह इस माध्यम के अभ्यस्त हो गये हैं। वह अपने पवित्र अनुष्ठान, कचीनास के

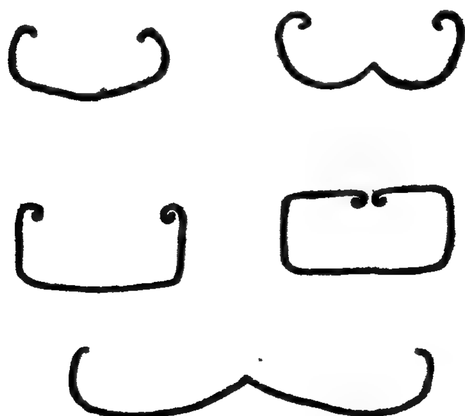


रेखाचित्र ४८—विज्ञान में प्रशिक्षित प्रौढ़ द्वारा "लड़की द्वारा बच्चे की गाड़ी खींचने का" रेखाचित्र। (कैमरन के आधार पर, १९३८, रेखाचित्र ६)



रेखाचित्र ४९—विज्ञान में प्रशिक्षित प्रौढ़ों द्वारा "घोड़े पर बैठे पुरुष" के दो रेखाचित्र। दाहिनी ओर वाला एक अनुभवी घुड़सवार का बनाया हुआ है। (कैमरन के आधार पर, १९३८, रेखाचित्र ४ और ५)

नकली चेहरों की आकृतियां अकेले या मिलकर इतनी सुन्दरता से रंगते हैं कि उनकी यह रचनायें संग्रहकर्त्ताओं की सूचि में आ चुकी हैं। दूसरे शब्दों में, किसी माध्यम में दक्षता अनुभव द्वारा आती है और उसके प्रयोग की लम्बी परम्परा कलाकार को उस पर पूर्ण अधिकार पाने और अपने को सृजनात्मक रीति से अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देती है। दूसरी संस्कृतियों से लिए कुछ माध्यम एक संस्कृति के कलाकारों द्वारा जो उन्हें ग्रहण करने के लिए उत्सुक हैं, शीघ्र सीख लिये जाते हैं; कुछ नापसन्द हो जाते हैं या उनका भोंडा प्रयोग होता है। किन्तु विदेशी माध्यम या कला-शैली को अपनाने की मात्रा का ध्यान न रखते हुए, किसी नयी चीज को स्वीकार करने में सफलता या असफलता के मानदंड में, सहज योग्यता या परिपक्वता की समस्या अन्तर्निहित नहीं है।



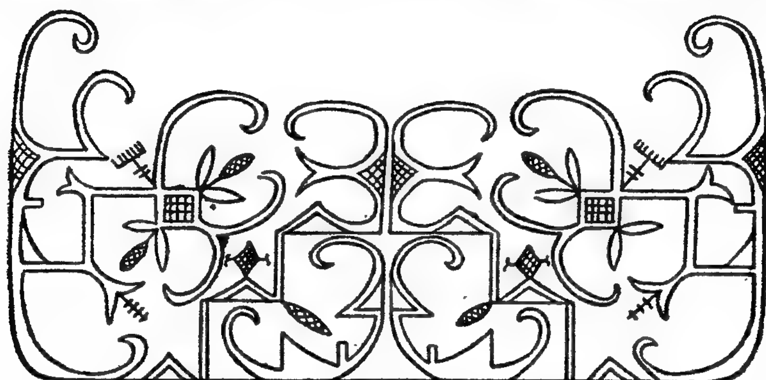
रेखाचित्र ५०—उत्तर-पूर्वीय अल्गोनकी कला में बुनियादी दोहरी वक्ररेखा के अभिप्राय। (स्पेक के आधार पर, १९१४, रेखाचित्र १)



रेखाचित्र ५१—उत्तर-पूर्वीय अल्गोनकी कला में आधारभूत दोहरी वक्र-रेखाओं वाले दो अभिप्रायों के विस्तार। (स्पेक के आधार पर, १९१४, प्लेट, १, २, ४ और १७)

एक संस्कृति में किस प्रकार रूप के तत्व उस रचना का अंग बनते हैं जोकि एक विशेष शैली के नमूनों के अनुरूप होती हैं, यह उत्तरी-पूर्वी अल्गोनकी इंडियनों की अलंकरण की कला के जटिल डिजाइनों में देखा जा सकता है। बुनियादी अभिप्राय "दोहरी वक्ररेखा" की इकाई है "जो दो विरोधी अन्तर्वर्ती मोड़ों के साथ आधार तत्व के रूप में है, उनसे घिरी हुई जगह अलंकृत है और सारे डिजाइन की शक्ल और अनुपात में भिन्नतायें हैं।" रेखाचित्र ५० में प्राथमिक बुनियादी तत्त्व की कुछ किस्में दी गयी हैं। हमें बताया गया है कि किस प्रकार इस सरल प्रारम्भ से "इतने प्रकार के विस्तार किये जा सकते हैं जो कि अनेक बार ऐसे विकृत भी हो जाते हैं, कि उन्हें पहली या दूसरी दृष्टि में पहचानना भी

मुश्किल होता है।"[12] सच्चे अर्थों में यह इस बात को दर्शाता है कि एक कुशल कलाकार अपनी शैली की विषय-वस्तु को लेकर किस प्रकार विविध रचनायें कर सकता है। इसी बात को और आगे भी देखा जा सकता है, यदि हम दोहरी वक्ररेखाओं के डिजाइनों को उनकी जटिलता के अनुसार उपस्थित करें, जैसाकि रेखाचित्र ५१ में किया गया है। यह प्रक्रिया कितनी दूर तक जा सकती है, यह पेनोब्सकोट पालने के तख्ते की सजावट में किये गये संशोधनों में दिखाया गया है।



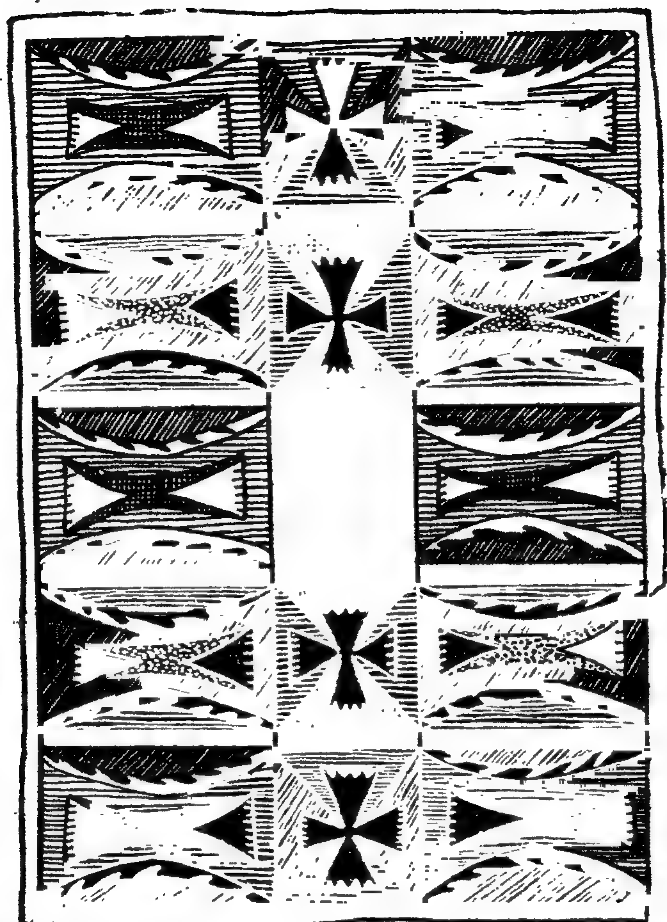
रेखाचित्र ५२—पेनोब्सकोट पालने में उत्तर-पूर्वी अल्गोनकी के दोहरी वक्ररेखा वाले अभिप्राय का विस्तार (स्पेक के आधार पर, १९१४, रेखाचित्र ३)

कला के रूपों की चर्चा कला और उसके कार्य के बीच विद्यमान, या जैसाकि कई बार कहा जाता है किसी निर्दिष्ट कला के रूपों और उनको व्यक्त करने के माध्यम के बीच विद्यमान सम्बन्धों के प्रश्न को उपस्थित करती है। कई बार यह कहा जाता है कि "आदिकालीन कला" माध्यम की उन आवश्यकताओं के बाहर नहीं भटकती जिनके द्वारा कलाकार कार्य करता है। लकड़ी-तराश पिंड पर जोर देता है और बारीक नक्काशी की कोशिश नहीं करता। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी कोई भी कल्पना ऐतिहासिक संस्कृतियों के विरुद्ध और समग्र रूप से अनक्षर संस्कृतियों के बारे में की गई किसी अन्य सामान्य स्थापना से अधिक सत्य न होगी।

किसी भी लकड़ी की मूर्ति को न्यू आयरलैंड की उत्सव की लकड़ी की मूर्तियों (प्लेट १४) से कम ठोस नहीं कहा जा सकता, जोकि ऐसे वक्तव्यों का पूरा खंडन करती हैं कि "आदिवासी" जिस माध्यम में कार्य करते हैं उसके सम्बन्ध में किसी रहस्यवादी रीति से कुछ गुणों का "अनुभव कर लेते हैं।" प्लेट १५ की तीन बुश नीग्रो कृतियों में से ऊपर की एक थपकी जो कपड़े कूटने के काम आती है, और

---

१२. एफ० जी० स्पेक, १९१४, पृ० १।



रेखाचित्र ५३—चमड़े के बक्स पर मोड़ने से पहले सॉक और फौक्स इंडियन डिजाइन। (बोआस के आधार पर, १९२७, रेखाचित्र १३)

कंघा, इन अर्थों में कार्यात्मक हैं कि उनसे, अलंकरण के बावजूद जिस कार्य के लिए वह बनायी गयी हैं, वह कार्य लिया जा सकता है। किन्तु नीचे दी हुई कृति अनाज ले जाने और चावल पछोड़ने का सूप है। इसके बीच से कटे हुए डिजाइनों के कारण इससे पछोड़ने का कार्य नहीं लिया जा सकता, क्योंकि यह स्पष्ट है कि उसमें अनाज के दाने नहीं रुकेंगे। किन्तु गांववालों की दृष्टि में उसके डिजाइन की श्रेष्ठता और उसको बनाने की कारीगरी के कारण, यह उनकी कला का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था।

यदि कला कला के लिए की अवधारणा को हम अपनी संस्कृति के लिए ही अनोखी समझ बैठें, तो हमें जानना चाहिए कि व्यवहार में सभी संस्कृतियां ऐसे

कला-रूपों के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिनमें उपयोगिता की आवश्यकतायें उपेक्षित रहती हैं, या जहां सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति एक उपयोग की वस्तु पर बनाये जाने वाले डिजाइन को विकृति के बंधनों में बंधने से इनकार कर देती है। बोआस द्वारा उद्धृत दो उदाहरण इसको दर्शाते हैं। पहला सॉक और फौक्स



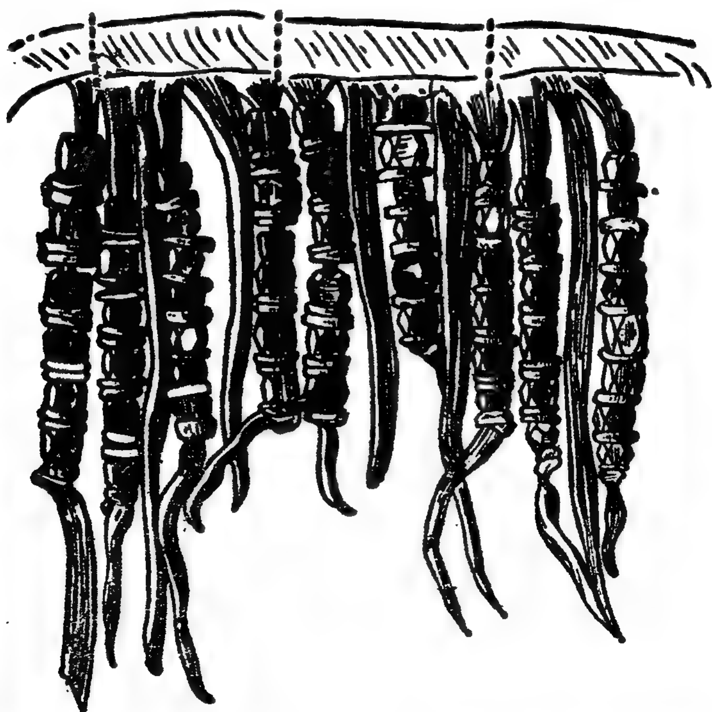
रेखाचित्र ५४—सॉक और फौक्स इंडियनों का चमड़े का बक्स बन्द करने पर।
(बोआस के आधार पर, १९२७, रेखाचित्र १२)

इंडियनों के कच्ची खाल के बक्स हैं, जिन्हें कि समरूप (Symmetrical) इकाइयों से सजाया गया है, जोकि जब चमड़ा चपटा पड़ा रहता है, एक सुन्दर डिजाइन बनाती हैं। लेकिन एक बार जब इन खालों को बक्स बनाने के लिए तह की जाती है, तब डिजाइन का एक छोटा अंश ही दिखाई देता है। और इस प्रकार दिखाई देने वाली इकाइयों का एक दूसरे से कोई कलात्मक सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, क्योंकि सम्पूर्ण रचना की सम्पूर्णता नष्ट हो जाती है।

दूसरा उदाहरण टामसन नदी के इंडियनों के निकरों की सीवन के बाहरी छोर पर झालर में हुई मनकों की सजावट है।

"यह फुंदे एक लयात्मक क्रम से सजाये जाते हैं। एक डोरी में एक शीशे का मनका, और उसके बाद दो हड्डी के मनके, उसके बाद एक सादी डोरी, उसके बाद एक शीशे और हड्डी का मनका, फिर एक सादा और अन्त में एक पहले जैसा। यदि हम सादे और सजाये हुए फुंदों को अक्षरों द्वारा प्रकट करें

तो.../क ख ग ख क/क ख ग ख क/...यह क्रम बारम्बार दुहराया जाता है। यहां मुख्य द्रष्टव्य बात यह है कि जब इसका प्रयोग होता है तब यह झालर टांग के बाहरी ओर बिना किसी क्रम के लटक जाती है, जिससे कि सूक्ष्म लयात्मक नमूने को देखा नहीं जा सकता। इसके बनाने वाली केवल एक ही रीति से अपने काम से संतोष प्राप्त कर सकती है, जब वह इसे बना रही होती है या जब वह इसे अपने मित्रों को दिखाती है। जब यह प्रयोग में आती है, इसका कोई सौन्दर्यात्मक प्रभाव नहीं रहता"।[13]



रेखाचित्र ५५—ब्रिटिश कोलम्बिया के टामसन इंडियनों के निकरों की झालर।
(बोआस के आधार पर, १९२७, रेखाचित्र १६)

तो हम कह सकते हैं कि सभी समाजों में सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति लोगों की परम्पराओं द्वारा निर्धारित सौन्दर्य के मानों में अभिव्यक्त होती है। जहां कला जीवन के निकट है, जैसाकि सभी अनक्षर संस्कृतियों और बहुत से साक्षर समाजों के वर्गों में भी है, वहां हमारे द्वारा "विशुद्ध" कला की श्रेणी में वर्णित रूपों की

---

१३. एफ० बोआस, १९२७, पृ० २९।

अपेक्षा कलाकारों की प्राविधिक कुशलता दैनिक उपयोग में आनेवाली वस्तुओं पर अधिक व्यय होगी। परन्तु कला चाहे जो रूप भी ग्रहण करे, चाहे यह कैसे भी अभिव्यक्त हो यह मौजूद रहेगी। कोई भी कला आकस्मिक या अव्यवस्थित नहीं है। यह सौन्दर्य की इच्छा की अभिव्यक्ति है जोकि प्रत्येक समाज के कलात्मक प्रतिभा-सम्पन्न सदस्यों की अनुभूति और कल्पना के अर्थों में स्वीकृत रूप द्वारा प्राविधिक कुशलता के प्रयोग में पूर्णता पाती है।

अध्याय चौदह

लोकवार्ता, नाटक और संगीत

अनक्षर लोगों की लोकवार्ता (Folklore) में उनके पुराण (Myths), कथाएं, कहावतें, पहेलियां, कविता और संगीत सम्मिलित हैं। यह उनकी संस्कृति की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति का सबसे अल्प मूर्त अंश कहा जा सकता है। यह रूप विभिन्न मात्रा में एक-दूसरे के साथ और चित्रकला व मूर्ति-कला के साथ मिलकर अनुष्ठानों, नृत्यों और सामूहिक अभिव्यक्ति के अन्य साधनों का, जिन्हें हम नाटक कहते हैं, निर्माण करते हैं।

समग्र रूप में लोकवार्त्ता की कथाओं को पुराण और नीतिकथाओं की सामान्य श्रेणियों में उचित रीति से नहीं बांटा जा सकता। चींटी और टिड्डे की कहानी जिससे कि ला फौन्टेन ने हमें परिचित कराया है, एक उपदेशात्मक कथा है; जब परिश्रमी चींटी मस्त टिड्डे से कहती है, "वह जो ग्रीष्म में गायेगा उसे शीत ऋतु में खाना नहीं मिलेगा", यह कथा अपना उपदेश भी अंकित करती है और अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। पश्चिमी उत्तरी अमरीका के शुसवाप इंडियनों द्वारा सुनायी जाने वाली एक कहानी, जाहिर है कि इसी कहानी से ली गयी है। अन्य अमरीकी इंडियनों की भांति शुसवाप बहुत कम ही अपनी कहानियों में उपदेश देते हैं। ला फौन्टेन की नीति कथा यहां पर एक व्याख्यात्मक पुराण बन गयी है। जैसा कि शुसवाप कहते हैं, एक टिड्डा-आदमी जाड़े के लिए मछली पकड़ने में अपने कबीले को सहायता देने से इनकार करता है, वह नाचना और घास खाना पसन्द करता है। जब जाड़ा आता है और घास बर्फ से ढक जाती है, वह सब जगह खाना मांगने जाता है किन्तु उसे कहा जाता है जाओ घास खाओ। भूख से अधमरा हो वह अपने को उस जीव में बदल लेता है जिसका नाम (घास खानेवाला=Grass-hopper) उसके ऊपर पड़ा है। उसके लिए यह विधान कर दिया गया है: "....चूंकि तुम आलसी हो, तुम केवल घास खाओगे और तुम अपना जीवन इधर-उधर फुदकते हुए तथा शोर मचाते हुए बिता दोगे।"[1]

मिस्र में पलायन और ईसा के जन्म की बाइबल की कथा के जूनी इंडियन विवरण में परिवर्तन का एक और उदाहरण मिलता है, जिससे यह मालूम होता है कि किस प्रकार एक कहानी अपना धार्मिक और पवित्र रूप छोड़ व्याख्यात्मक हो जाती है। उस संस्कृति में जहां अधिक सन्तानोत्पादन पर जोर दिया जाता है, ईसा को जुड़वां बना दिया जाता है। जबकि मूलकथा में हीरोड को दंड देने का

---

१. यह कहानी ए० वान जेनेप द्वारा सुनाई गई है, १९२०, पृ० ७४।

जिक्र है, मेरी एक मैक्सिकी लड़की बन जाती है, जिसका "सैनिक" लोग—वह स्वयंसेवक जो कि जूनी कर्मकांड में संतों की रक्षा करते हैं, पीछा करते हैं। कथा इस प्रकार है :

'पश्चिम में एक मैक्सिकी लड़की रहती थी, जो कभी बाहर नहीं निकलती थी। वह सब समय अपने घर में ही रहती थी। वह जहां अन्दर सूरज पहुंचता था वहां बैठ जाती थी। "सूरज ने उसे "एक बच्चा दिया।" इस सयम सैनिक उसकी रक्षा कर रहे थे। एक सैनिक ने उसे देखा तथा दूसरों से कहा, "हम जिसकी रक्षा कर रहे हैं वह गर्भवती है। जब वह ऐसे काम करती है तो उसकी रक्षा करने से क्या लाभ? चलो उसे मार दें।" अगले दिन सबेरे वह मरने वाली थी। उस शाम को सूरज अपने ज्ञान से उसके कमरे में आ गया और बोला, "कल तुम्हें मरना है।" "अच्छा यदि ऐसा होना है तो मुझे मर जाना चाहिए", लड़की ने कहा। सूरज ने कहा, "नहीं मैं तुम्हें मरने न दूंगा, मैं तुम्हें बचा लूंगा।" अगले दिन बहुत सबेरे ही उसने अपने ज्ञान से उसे खिड़की से बाहर निकाल लिया। "अब जाओ तुम्हें जहां रहना है।" वह तब तक चलती गयी जब तक वह एक सियालोआ के बगीचे के पास न पहुंची। उसने कहा, "तुम क्या बो रहे हो?" पुरुष ने कहा, "गोल पत्थर।" क्योंकि उसने सही जवाब नहीं दिया, लड़की ने बीजों में कुछ कर दिया और उसमें फल नहीं लगे। वह थोड़ी दूर गयी और उसे दूसरा आदमी बोता हुआ मिला। उसने पुरुष से पूछा कि वह क्या बो रहा है। पुरुष ने कहा, "मैं मक्का और गेहूं लगा रहा हूं।" चूंकि उसने उसे सही जवाब दिया, उसने उसके बीज के साथ कुछ नहीं किया तथा वे सब जम आये। तब सैनिकों ने देखा कि वह चली गयी है। वह उसका पीछा करते हुए आये। उन्होंने पहले पुरुष से पूछा, कि क्या उसने कोई लड़की आती देखी थी। उसने कहा, "हां, वह अभी-अभी टीले के ऊपर गयी है।" उन्होंने कहा, "अच्छा हमें जल्दी उसके पास पहुंचना है, हमें जल्दी करनी चाहिए।" इस तरह वह टीले पर पहुंच गये और उन्हें कोई दिखाई नहीं दिया। वह दूसरे छोटे टीले पर आये पर वे उसे न देख सके। वह एक नदी पर आये और वह बहुत गहरी थी। उन्होंने कुछ लट्ठों को काटा और कहा, "हम देखेंगे कि यह कितनी गहरी है।" उन्होंने लट्ठों को नीचे डाला और कहा, "यह बहुत गहरी है। अब उसका पीछा करने से कोई लाभ नहीं।" इसलिए वे मुड़ गये। किन्तु लड़की नदी पार कर चुकी थी और जब तक वह वलूवेला नहीं पहुंच गयी चलती रही और वहां जाकर वह लेट गयी। वहां उसके जुड़वां बच्चे हुए। सूअरों और कुत्तों ने उसे चूमा। यही कारण है कि सूअरों और कुत्तों के सन्तानें होती हैं। खच्चरों ने उसे नहीं चूमा। यही कारण है कि खच्चरों के सन्तानें नहीं होतीं।'[२]

सभी कहानियों में तीन तत्त्व होते हैं—पात्र, घटना और कथावस्तु (Plot);

---

२. ई० सी० पारसंस, १९१८, पृ० २५८-९।

यह तत्त्व स्वतंत्र रूप से परिवर्त्तनशील हैं और नये प्रकार से मिलाये या जोड़े जा सकते हैं। एक ही संस्कृति में विभिन्न पात्र एक ही कार्यों के क्रम को करते हुए पाये जाते हैं, जो कि उन घटनाओं का निर्माण करते हैं, जिनसे एक कथावस्तु बनी हैं। या एक ही पात्र एक कथा से अन्य कथाओं में जा सकता है और कई कथा-वस्तुओं की परिस्थितियों में अपने को उलझा सकता है। इसीलिए लोकवार्त्ताशास्त्री के कार्य में **अभिप्रायों** (Motifs) का सूचीकरण और **परिवर्तित रूपों** (Variants) का विश्लेषण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कथायें बड़ी घुमक्कड़ हैं। लोकवार्त्ता के अध्ययन में एक अत्यन्त आकर्षक व लाभदायक कार्य यह देखना है कि किस भांति अपनी यात्राओं में वह नये प्राकृतिक वातावरण व नयी सांस्कृतिक भूमि से मेल खाने के लिए बदल जाती हैं। कुछ "कथाओं का विस्तार तो अक्षरशः सारे संसार तक है। उदाहरण के लिए, "जादू की उड़ान" की कहानी यूरोप और एशिया, आदिवासी उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका व नयी दुनिया के नीग्रो में पायी जाती है। मूलतः कहानी का सम्बन्ध एक लड़की या दो बहनों से है, जिनका एक दुष्ट प्राणी पीछा करता है। इन लड़कियों के पास रक्षा के लिए केवल एक कंघा, एक शीशा और एक कोई और लाल कपड़े, जैसी चीज़ है, जिसमें जादुई शक्ति है। जैसे ही पीछा करने वाला भागने वाली लड़कियों के पास पहुंचता है और उसकी आवाज सुन पड़ती है, पहले कंघा फेंका जाता है जिससे एक जंगल उग आता है जिसे पार करने के लिए राक्षस को उसे काटना पड़ेगा। जैसे ही वह पुनः अपने कार्य में सफल हो जाता है, शीशा फेंक दिया जाता है और वह एक झील बन जाता है जोकि उसे अब पार करनी पड़ेगी। अन्त में वह अपने कार्य में असफल रहता है, तथा लड़की या बहनें शांति से रहती हैं।

उन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि लोक कथायें किन्हीं लोगों की साहित्यिक अभिव्यक्ति से कुछ अधिक अर्थ रखती हैं। वे बहुत सही अर्थों में उनका जनवृत्तशास्त्र (Ethnography) है। एक विद्यार्थी द्वारा क्रमबद्ध होने पर वह एक जीवन रीति का सूक्ष्म चित्र उपस्थित करती हैं। बोआस ने प्रशान्त उत्तर-पश्चिम के टिसिमशियन इण्डियनों के पुराणों के अपने अध्ययन में इस बात को दर्शाया है। इन पुराणों के विशाल संग्रह से टिसिमशियन लोगों की भौतिक संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक संरचना तथा धार्मिक विश्वासों के वर्णन; व्यक्ति के जीवनचक्र, गुप्त सभाओं और पोटलाश नाम से प्रसिद्ध आर्थिक अपव्यय को प्रतिष्ठा देने वाली प्रतियोगिताओं, नैतिक धारणाओं और उद्वेगात्मक जीवन के विवरण निकाले गये हैं।[1] इस प्रकार साहित्यिक अभिव्यक्ति, चाहे वह किसी भी रूप में हो, अपने निर्माताओं के अनुभव से सामग्री प्राप्त करती है और हमें बोआस के शब्दों में "कबीले की आत्मकथा देती है।" शब्दों के माध्यम का

---

१. एफ० बोआस, १९०९–१० ।

प्रयोग करने वाला कलाकार किसी भी अंश में उस कलाकार से भिन्न नहीं है जोकि रंगों से या लकड़ी या पत्थर पर कार्य करता है। वह भी उसी की तरह अपनी संस्कृति के जीव की भांति कार्य करता है; उसके प्रत्युत्तर हमेशा इसके औपचारिक प्रतिमानों के अनुसार होते हैं और उसके मूल्य इसके अन्तर्निहित मूल्यों को व्यक्त करते हैं।

एक लोककथा जिसमें उसके कहने वाले लोगों के इतिहास के प्रारम्भिक काल का ब्यौरा दिया गया हो, वह उसके प्रारम्भिक जीवन का विवरण प्रस्तुत करती है। प्यूब्लो इंडियनों की कहानियां जिनमें कि पात्र अपने कमरों के अन्दर और उनसे बाहर सीढ़ियों से जाते हैं, प्रारम्भिक काल के उन प्यूब्लो घरों का विवरण देती हैं जिनमें न दरवाजे थे, न खिड़कियां। बहुतसी विचित्र कहानियां जो हम राजाओं, रानियों, राजकुमारों और योद्धाओं के बारे में स्वयं कहते हैं, हमारी संस्कृति के एक प्रारम्भिक काल की जीवित वार्त्ता को बताती हैं। उदाहरण के लिए, इसका अनुमान लगाना मनोरंजक होगा कि "लिटिल रेड राइडिंग हुड" जैसी कहानी किस काल की है, जोकि अपने जंगल के वातावरण के कारण हमें यह अनुमान करने के लिए प्रेरित करती हैं कि शायद वह उत्तर प्रागैतिहासिक काल की देन हो।

एक जनसमूह के तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति होने के अतिरिक्त लोकवार्त्ता उनकी आकांक्षाओं, मूल्यों और लक्ष्यों को भी प्रकट करती है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जूनी इंडियनों ने सन्तति उत्पादन पर बल देने के लिए उसे अपनी बाइबिल की कहानी में व्यक्त किया है। अन्य भी अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां कि वह कहानियां विदेशी सम्पर्क का परिणाम नहीं हैं। प्रशान्त द्वीपवासियों के पुराणों में पद (Rank) पर, जोकि उनके जीवन में प्रधान है, जोर दिया गया है। मुखिया और सामान्य व्यक्ति के लिए भिन्न सम्बोधन अपनाये गये हैं। औपचारिकता के नियम धार्मिक और लौकिक सभाओं में प्रत्येक व्यक्ति के स्थान को निश्चित करते हैं। पौलिनेशियाई पुराणों ने ब्रह्मांड का विवरण इस बुनियादी प्रतिमान (Pattern) के अनुकूल दिया है। सृष्टि को एक व्यवस्थित विकासवादी प्रकार की प्रक्रिया माना गया है जिसमें प्रत्येक वस्तु और घटना अपने निश्चित क्रम में एक स्तरीकृत ब्रह्मांड बनाती है, जोकि प्रलय से शुरू हो कर वर्त्तमान सुव्यवस्था में व्यक्त होता है। इसके विपरीत, अधिकांश उत्तरी अमरीकी कबीलों में प्राणियों में ऊँचनीच नहीं है, कोई प्रलय नहीं है जिसे कि सृष्टा की इच्छा से आज की व्यवस्थित दशा प्राप्त हुई है। और यह मान लेना अनुचित न होगा कि यह उनमें शासक वर्ग के न होने से असम्बन्धित नहीं है।

छोटी कबाइली इकाइयों में संगठित होने के कारण इंडियनों का अपने साथियों के साथ अनौपचारिक व्यवहार भी उनकी कथाओं और कहावतों में उपदेशात्मकता के न होने से व्यक्त होता है। जबकि इसके विरुद्ध अफ्रीकी लोकवार्त्ता में

इन रूपों की प्रबलता है। विशेषकर पश्चिमी अफ्रीका में पुराण उन अन्तर्निहित धारणाओं तथा उद्देश्यों को, जोकि इस महाद्वीप की अत्यन्त एकीकृत सामाजिक संरचनाओं को सहारा देते हैं, प्रकट करते हैं। यहां भी मानव सम्बन्धों के प्रति कुछ कृत्रिम और सम्भवतः छिद्रान्वेषी धारणा व्यक्त होती है जोकि, दूसरों के कार्य के शत्रुतापूर्ण न होने पर भी उनके उद्देश्य की तह में जाना चाहती है। हम इस धारणा को अच्छी तरह समझते हैं, जबकि उदाहरण के लिए, हम डाहोमी में वह बहुप्रचलित पुराण सुनते हैं जो यह बताता है कि किस प्रकार स्रष्टा ने संसार को बनाया और बाद में उसको चलाने का काम उन छोटे देवताओं के सुपुर्द किया, जोकि उसके बच्चे समझे जाते हैं। उसने सब को पृथक्-पृथक् भाषायें दीं ताकि वह आपस में कोई साजिश कर उसके हाथ से अन्तिम शक्ति न छीन लें। या फिर यह जानना शिक्षाप्रद है कि यद्यपि स्रष्टा ने इन छोटे प्राणियों को विस्तृत शक्तियां, खासकर अनुशासन तथा विनाश की शक्तियां दीं, किन्तु सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति उन्हें कभी नहीं दी गयी ताकि कहीं वह भयंकर जीवों को पैदा कर मानव जाति को उनका शिकार न बना दें।

लोकवार्त्ता हमें सामाजिक स्वीकृतियों के प्रति छिपी हुई प्रतिक्रियाओं का संकेत भी देती है, जोकि बाहर से स्वेच्छा से मानी हुई नजर आती हैं। इसमें वस्तुतः हमें एक मनोविश्लेषणात्मक कार्यप्रणाली कार्य करती दिखाई देती है, जिसमें प्रचलित व्यवहार को प्रायः इस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा जाता है जिससे कि हमें, जिन इच्छाओं को सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए दमन करना आवश्यक है, उनका पर्याप्त पता चल जाता है। इस सम्बन्ध में इतना ही जिक्र कर देना काफी है कि इंडोनेशियाई तथा मैलेनेशियाई समूहों में जहां भाई-बहन के बीच यौन-संबंधों के कठोर टैबू हैं, सृष्टि-पुराणों में प्रायः भाई-बहन के अगम्यागमन संबंध से मानव जाति की उत्पत्ति बतायी जाती है।

पहले लोकवार्त्ताशास्त्रियों में ऐण्ड्रयू लांग इस घटना से कि जो कार्य मनुष्यों के लिए घृणित समझा जाता है उसे देवताओं के लिए बुरा नहीं माना जाता, इतना प्रभावित हुआ कि उसने पर्याप्त विस्तार से बहुत-से पुराणों के देव-पात्रों के पाशविक गुणों का विचार किया। यद्यपि वह जिस सिद्धान्त पर पहुंचा उसे अब अस्वीकार किया जा चुका है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत-से पुराणों के देवता उन आचार के नियमों का उल्लंघन करते हैं जिनका कि मनुष्यों को पालन करना पड़ता है। आज की दृष्टि से देखने पर यह कहानियां इस पूर्वकल्पना के लिए प्रभावशाली सामग्री प्रस्तुत करती हैं कि हमें अनजाने में ऐसे पात्रों के साथ, जोकि उन नियमों का उल्लंघन करते हैं जिन्हें हम नहीं तोड़ सकते, तादात्म्य स्थापित कर अत्यन्त सन्तुष्टि मिलती है।

एक अन्य उदाहरण जिससे यह पता लगता है कि किस भांति लोकवार्त्ता ऐसे संसार की सृष्टि करती है जहां वह बातें पूरी हो जाती हैं जोकि यथार्थ जगत् में पूरी नहीं हो पाती, उन कहानियों में मिलता है जहां कि दुर्बल प्रबल को काबू

में कर लेता है, जहां पाप को एक बदला लेने वाला मिल जाता है, या जहां जीवन की अप्रिय अवस्थाओं को इस प्रकार सुलझाया जाता है जिस प्रकार कि इस कर्ममय जगत् में नहीं होता। यह उस राहत से भिन्न नहीं है जोकि यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति में उपन्यास, नाटक या चलचित्र से प्राप्त होती है। स्त्री-पुरुषों को उस दुनिया में ले जाकर जहां समस्याओं का समाधान उस भांति होता है, जैसाकि सामान्य जीवन में होना बहुत कठिन है, लोकवार्त्ता ज्ञात व अज्ञात दोनों स्तरों में मनोवैज्ञानिक राहत और सृजनात्मक आत्म-अभिव्यक्ति का एक बहुमुखी साधन है।

२

जब हम लोकवार्त्ता की एक संस्कृति की एक साहित्यिक कलाओं या भाषा कलाओं के रूप में परिभाषा करते हैं, तो हम उसकी उस रूढ़ परिभाषा से, जोकि विशेषकर इंग्लैंड, यूरोपीय महाद्वीप और लैटिन अमेरिका में प्रचलित है और अपनी मूल व्याख्या के अर्थों के साथ जोर से चिपकी हुई है, पृथक् हो जाते हैं।

"लोकवार्त्ता" शब्द सर्वप्रथम एम्बरोज मैर्टन द्वारा हस्ताक्षर किये गये एक पत्र में जो लन्दन के **एथेनोम** में २२ अगस्त, १८४६ में प्रकाशित हुआ, प्रयुक्त हुआ। इसके लेखक ने, जिसने कि अपने असली नाम विलियम जे० टोम्स के लिए इस छद्मनाम का प्रयोग किया, इस बात पर बल दिया कि "पुराने समय की रीतियों, प्रथाओं, व्यवहारों, अन्धविश्वासों, गीतों, कहावतों इत्यादि के विवरणों को" लेखबद्ध किया जाना चाहिए, जिससे कि बाद के आनेवाले विद्यार्थी सूचनाओं के लिए इन अलिखित अतीत के मरणासन्न अवशेषों को देख सकें, जिन्हें कि "लोकप्रिय प्राचीन संग्रह (Antiquities) या लोकप्रिय साहित्य" कहा जाता है। यूरोप में, जहांकि कृषक जनसंख्याओं ने प्रारम्भिक समय के रिवाजों को सुरक्षित रखा था, ऐसी जीवन रीति के सिलसिलेवार व विद्वत्तापूर्ण अन्वेषण के लिए, जोकि अब नागरिक जनता में जीवित न थी, वास्तविक स्थान था। परन्तु सं० रा० अमरीका में कृषक-यूरोप के रिवाज पश्चिम की ओर सीमा विस्तार की झोंक में त्याग दिये गये थे।

इसलिए जब १८८८ में अमरीकी लोकवार्त्ता सभा की स्थापना हुई, तब "अमरीका की लोकवार्त्ता में से शीघ्र नष्ट होने वाले अवशेषों" की चार श्रेणियों में से जोकि अध्ययन के उद्देश्य से बनायी गयी थीं, केवल एक "पुरानी अंग्रेजी लोकवार्त्ता के अवशेष (गीत, कहानियां, अन्धविश्वास, बोली इत्यादि) ही, लोकवार्त्ता समझे जाते थे, जोकि पुरानी दुनिया में लोकवार्त्ता मानी जाती थी; "संघ के दक्षिणी राज्यों में नीग्रो लोगों की वार्ता" में वस्तुतः साहित्यिक रूप ही मुख्य थे और इसी प्रकार, कम-से-कम व्यवहार में, "फ्रांसीसी कनाडा और मैक्सिको की वार्ता" प्रभृति शीर्षकों के अन्तर्गत सामग्रियां एकत्रित की गई थीं। किन्तु दूसरी श्रेणी, "उत्तरी अमरीका के इंडियन कबीलों की वार्त्ता (पुराण, कथाएं इत्यादि)" ने संस्कृति के साहित्यिक और अन्य पहलुओं के बीच भेद को आवश्यक

बना दिया। मूल वक्तव्य में कहा गया है:

"यहां अन्वेषण को एक महाद्वीप पर बिखरे हुए सम्पूर्ण राष्ट्रों से निपटना होगा। बिखरे हुए दानों को चुगना जोकि एक अच्छी फसल के अवशेष हैं, किन्तु दुर्भाग्य से बरबाद होने के लिए छोड़ दिये गये हैं, खलिहान नहीं कहा जाता। तथापि, यदि मौलिक बहुतायत में नहीं तब भी काफी मात्रा में उसे इकट्ठा करना शेष है। पुराणों की प्रणालियां, अनुष्ठान, यज्ञ, भोज, धार्मिक प्रथायें, खेल, गीत, कथायें इतनी प्रचुरता में हैं कि प्रत्येक कबीले की वार्त्ता का संग्रह करने के लिए कई जिल्दों की जरूरत पड़ेगी।"[४]

लोकवार्त्ता के उन विद्यार्थियों ने भी, जोकि उसके प्रारंभिक क्षेत्र को ही मानते थे, ज्योंही वह संसार के उन भागों में गये जहां अनक्षर लोग अपनी आदि-कालीन प्रथाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे, उपर्युक्त निष्कर्ष की सत्यता को स्वीकार किया। इन उदाहरणों में उन जीवन रीतियों के चिह्न जोकि अब प्रचलित न रही हों, नहीं मिल सकते थे, जैसा कि यह यूरोप के ग्रामवासियों के सम्बन्ध में हो सकता था। मेपोल नृत्य, क्रिसमस का पेड़, नया चांद निकलने पर बधाई देना, जादूगरनियों और काली बिल्लियों के बारे में विश्वास, नींव रखने के समय के अनुष्ठान—यह सब प्रारम्भिक यूरोपीय विश्वास की अभिव्यक्तियां थीं जिन्हें वैध-रूप में "लोक-प्रथा" (Folk custom) कहा जा सकता था और एम्बरोज, मर्टन द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत इनका अध्ययन किया जा सकता था। किन्तु उत्तरी अमरीकी इंडियनों की भांति अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी सागरों में लोकवार्त्ता और संस्कृति के अन्य पहलुओं में भेद, अर्थात् लोकवार्त्ता और जनवृत्त में भेद आवश्यक था। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से उन रूपों में लोक-वार्त्ता के परिसीमन का यही आधार था जिनका कि इस अध्याय के आरंभ में निर्देश किया जा चुका है।

फिर भी इन रूपों—पुराण, कथा, कहावत, पहेली या पद्य को—किसी भी प्रकार अनक्षर लोगों का एकाधिकार नहीं माना जा सकता। सभी समाजों की अपनी लोकवार्त्ताएं होती हैं। जहां लेखन प्रचलित है और औपचारिक साहित्यिक मूल्यों की प्रभुता है, वहां भी ऐसी कथाओं की स्थिरता आश्चर्यजनक है। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध में अत्यन्त लोकप्रिय "मूर्खों" (Morons) की कथाओं पर विचार करें, जिसकी एक मिसाल निम्नलिखित है:

"दो मूर्ख मछली पकड़ रहे थे। उन्होंने बहुत सारी मछलियां पकड़ लीं। शाम को एक ने कहा, "बेहतर है तुम इस जगह निशान बना दो।" जब वह नाव के बाहर निकले, तख्ते पर बैठे, पहले ने पूछा, "तुमने निशान लगाया?"

---

४. इस विकास के विस्तृत विवरण के लिए देखिये, एम० जे० हर्सकोविट्स १९४६। यह उद्धरण 'जरनल आफ अमेरिकन फोकलोर,' जिल्द १ (१८८८), पृ० २-५ से लिये गये हैं।

"हां मैंने नाव के पार्श्व में मछली पकड़ने के छेद से जरा ऊपर निशान लगाया है।" "हे मूर्ख! तुझे कैसे पता है कि हमें यही नाव कल मिलेगी?"[५]

प्रायः बिल्कुल ऐसी ही कहानी ब्राजील में सुनने को मिलती है जहां बहुत सी मूर्खों की कहानियां पुर्तगालियों का मजाक उड़ाने के लिए सुनायी जाती हैं।

"जोआओ और मैनोयल मछली पकड़ने के लिए निकले और ऐसी जगह पहुंचे जहां मछलियां खूब थीं, "गौर से जगह पर निशान लगा दो जिससे कि हम कल फिर यहां आ सकें", जोआओ ने कहा। मैनोयल ने अपनी जेब से खड़िया का एक टुकड़ा निकाला और नाव की एक ओर बड़ा "×" का निशान बना दिया। जैसे ही वे किनारे पर लौट रहे थे, जोआओ ने पूछा, "क्या तुमने सावधानी से जगह पर निशान लगा दिया?" "हां, नाव की बगल में निशान देखो?" "ऐ मूर्ख, तुझे नहीं मालूम कि हमें कल दूसरी नाव मिलेगी?"

इन कहानियों पर हंसने वाले बहुत कम ही ऐसे लोग हैं जिन्हें इनकी आयु का एहसास है। फिर भी हम इसी कहानी को यूरोपीय "टिल यूलेन्सपीगल के चकमों" में पाते हैं जोकि मध्यकाल से लोकप्रिय है। इस मुकाबले के विवरण में, टिल एक आदमी को, जो सोचता है कि युद्ध के ढोल बज रहे हैं, फुसला लेता है और वह सोपनस्टाट के नगर में उसके साथ मिलकर एक झूठा खतरे का घंटा बजा देता है। नागरिक डरते हैं कि दरबार के अहाते का सुन्दर नया घंटा यदि शत्रुओं के अधिकार में आ गया तो वह उसे बन्दूक की नलियां बनाने के काम में लायेंगे। टिल सलाह देता है कि इसे समुद्र में डुबो दिया जाय।

एक दूसरा परिषद्-सदस्य बोला, "जब निकालने का समय आयेगा तो हम कैसे बता पायेंगे कि हमने उसे कहां डुबाया है।" "तुम्हें इस बारे में बिल्कुल चिन्ता करने की जरूरत नहीं", टिल ने उत्तर दिया। "मेरे साथ आओ में बताता हूं कि कैसे उस जगह पर निशान लगाया जाय।" सोपनस्टाट के सब लोग जमा होगये तथा कुछ ही समय में उन्होंने घंटे को खोल डाला। उन्होंने उसे एक नौका पर रखा और समुद्र के किनारे से कुछ आगे ले गये। यहां उन्होंने घंटे को उठाया और नौका के एक ओर नीचे किया। टिल ने कहा, "अब में तुम्हें बताऊंगा कि हम कैसे जगह पर निशान लगायेंगे।" उसने अपनी जेव से एक चाकू निकाला और नौका के पार्श्व में एक निशान बना दिया। "जब तुम घंटे को उठाना चाहो, तुम केवल यहां पर नौका को ले आओ और तुम्हें इस नौका के निशान के ठीक नीचे यह घंटा मिलेगा।"[६]

लोकवार्त्ता के अध्ययन में कई समस्यायें हैं, विशेषरूप से वह, जिनका सम्बन्ध इसके विशुद्ध संरचनात्मक मूल्यों से है। स्थानाभाव के कारण हम उनका

---

५. एल० जे० डेविडसन, १९४३, पृ० १०१।

६. टी० योस्सलोफ और एल० स्टर्की, १९४४, पृ० ५७-९।

संक्षेप में ही जिक्र करेंगे। एक समस्या जिसका सांस्कृतिक घटना के रूप में लोकवार्त्ता पर प्रभाव पड़ता है और जिसका अध्ययन उस संस्कृति को समझने में जिसका कि वह अंग है, विशेष सहायता देता है, कहानियों के विस्तार और उनके घटक अंशों से सम्बन्धित है। प्रत्येक कहानी जो अपने आप में ऐसे तत्त्वों का जमघट है जोकि स्वतंत्र रूप से परिवर्तित हो सकते हैं, यह समझने के लिए सामग्री प्रस्तुत करती है कि किसी सांस्कृतिक विशेषताओं का संकुल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने में किस प्रकार अन्य रूप धारण कर सकता है। पुनः लोकवार्त्ताओं की स्थिरता और अपरिवर्त्तनशीलता के कारण हमें अनक्षर लोगों के सम्पर्कों के पुर्नानर्माण में उन विधियों से बहुत मदद मिलती है जिनका कि हम ऐतिहासिक पुर्निनर्माण की चर्चा करते हुए विचार करेंगे।[7]

वितरणों के अध्ययन द्वारा हम संसार के प्रमुख लोकवार्त्ता क्षेत्रों की अवधारणा प्राप्त करते हैं, जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहां दी जा सकती है। यह क्षेत्र संख्या में तीन हैं—पुरानी दुनिया (अफ्रीका, यूरोप और एशिया), दक्षिणी सागर तथा उत्तरी और दक्षिणी अमरीका। इन तीन महान् क्षेत्रों में, जिनमें से प्रत्येक के अपने स्थानीय उपक्षेत्र हैं, लोकवार्त्ता की एकता बड़ी आश्चर्यजनक है। पहचान में आने वाले एक से धूर्त-पशुओं की या उपदेशात्मक कथाओं का सारी पुरानी दुनिया में वितरण इसका उदाहरण है। इतना ही महत्त्वपूर्ण कहावतें तथा पहेलियों का प्रयोग है जो कि इस प्रदेश को उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका और दक्षिणी सागरों से पृथक् करता है। पुरानी दुनिया के क्षेत्र की एक अन्य विशेषता यह अवधारणा है कि ब्रह्मांड का संचालन एक देवमाला करती है और यह देवता अलौकिक प्राणियों के एक परिवार के सदस्य हैं जैसा कि ग्रीक, रोमन, अफ्रीकी, नोर्स और एशियाई पुराणों से प्रकट होता है।

दक्षिणी सागरों के क्षेत्र की एक विशेषता सुविस्तृत, निश्चित संरचनायुक्त और बहुत लम्बे सृष्टि-पुराण हैं जिन्हें सुनाने के लिए विशेषज्ञों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। सम्भवतः अनक्षर जगत् में यही एक ऐसा क्षेत्र है जिसने कि ऐसी कविता को जन्म दिया है जिसे महाकाव्य (Epic-poetry) माना जा सकता है। जिन लोगों ने पौलिनेशियाइयों के साथ यूरोपियनों के सर्वप्रथम सम्पर्क के प्रारम्भ से इन कहानियों को लिपिबद्ध किया है, उनके मत में इनमें गम्भीर दार्शनिक तत्त्व भरे हुए हैं। मैलेनेशिया और दक्षिणी सागरों में सृष्टि में अधिक दिलचस्पी नहीं है और पौलिनेशिया की भांति वहां संस्कृति-नायक (Culture-hero) भी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। जादुई उद्देश्यों के लिए अल्प औपचारिक "परियों की कहानियों" का प्रयोग किया जाता है जबकि यहां पर ऐसी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार है जो कि दोहरे नायकों के साहसिक कार्यों का विवरण देती हैं, जिनमें से एक बुद्धिमान् दूसरा मूर्ख, एक भला तथा दूसरा दुष्ट होता है। इनको

७. मिलाइये, एस० टौमसन १९३२-३६।

जो महत्त्वपूर्ण स्थान यहां प्राप्त है वह, पौलिनेशिया में, यदि वहां ऐसी कहानियां हैं भी, तो प्राप्त नहीं हैं।[८]

अमरीकाओं में व्याख्यात्मक कथायें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। पुराणों में सर्वत्र ही स्वर्ग की घटनाओं की प्रधानता है। ठगों की, विशेष रूप से इस प्रकार के ठगों की जो रूप बदल लेते हैं, कथाओं की पश्चिमी उत्तरी अमरीका में बहुतायत है। बोआस ने अपने उत्तरी अमरीकी इंडियन लोकवार्ता[९] के विश्लेषण में विभिन्न क्षेत्रों के पुराणों को उनकी क्रमबद्धता की मात्रा के अनुसार पृथक् किया है। उसने एक नायक से सम्बद्ध पठारी कहानियों के शिथिल समूह या महाद्वीप के उत्तरी भाग में प्रवास की कथाओं के अभाव को, जहां लोग ऐसा समझते हैं कि वह सदा से ही वर्तमान निवास में रहते आये हैं, नोट किया है। उसने उन पात्रों—काला कौवा, ऊदबिलाव, नीली जे और भेड़िये—में भी भेद किया है जोकि विभिन्न क्षेत्रों में धूर्त का कार्य करते हैं। एक से सामान्य वर्गों—धूर्तों और सांस्कृतिक नायकों, मनुष्य से पशु बन जाने या पशु से मनुष्य बन जाने वालों—की कहानियों की दक्षिणी अमरीका में भरमार है। श्रेणियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। मैत्रो ने दक्षिणी अमरीका की इंडियन कथाओं के मुख्य प्रकारों को इस प्रकार दिया है :

"सृष्टि-पुराण, जिनमें सांस्कृतिक नायकों के जिन्होंने संसार को वर्तमान आकृति प्रदान की है, साहसिक वृत्तान्तों का विवरण है; प्रलय से सम्बन्धित पुराण, जो सांस्कृतिक नायक के चक्र से सम्बन्धित हो सकते हैं और नहीं भी; रूपान्तरण; ग्रहों के पुराण; संस्थाओं की उत्पत्ति को समझाने वाले पुराण; किसी अनुष्ठान या जंत्र या तावीज को उचित ठहराने वाले पुराण; पूर्वजों की कथायें; भूतों और प्रेतों की कथायें; ठीक अर्थों में पशु कथायें।"[१०]

अनक्षर लोगों की लोकवार्त्ता के साहित्यिक गुणों को समझने तथा उन्हें ठीक तरह आंकने के लिए किसी एक साहित्यिक रूप की अवधारणायें तथा मानदंड लेकर एक समाज के बहुत सारे पुराणों तथा कहानियों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इन अर्थों में कथावस्तु के विकास, अभिरुचि को कायम रखने और चरित्र को उभारने में अनक्षर लोग जिन साधनों का प्रयोग करते हैं वह किसी भी कुशल कथा-प्रवक्ता के साधन से, चाहे उसका माध्यम मौखिक लोककथा हो या लिखित विवरण, बहुत भिन्न नहीं हैं। फिर भी लिखित तथा अलिखित कथाओं के बीच शैलीगत रूढ़ियों का एक भेद किया जाना चाहिए। यह तथ्य कि लोक-कथा सुनायी जाती है उसे कुछ ऐसा महत्त्व प्रदान करता है जोकि लिखित कथा

८. मिलाइये, बी० डिक्सन, १९१६; के० लुओमला, १९४६।

९. एफ० बोआस, १९१४, १९४०, पृ० ४५१-९०; एस० टौमसन, १९२९, और ई० डब्ल्यू० वोगेलिन, १९४६, भी देखिये।

१०. ए० मैत्रो, १९४६ बी, जिल्द १, पृ० ८५१।

को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक उसी भांति लिखित कथा की कुछ विशेषतायें अनिवार्यतः मौखिक कथा में नहीं मिलतीं। बीच-बीच में रुकना, आवाज का उतार चढ़ाव, विस्मय, किसी शब्द पर बल देना, आदि बारीकियों को केवल फोनोग्राफ द्वारा ही उतारा जा सकता है; या हाथ के इशारों, चेहरे के भावों को चलचित्र द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। कत्थक साहित्य एक कुशल कथावादक के साधन के रूप में नाटकीय है। अनक्षर लोगों में नाटक पर विचार करते हुए हम इस पर भी विचार करेंगे।

३

अनक्षर समाजों में नाटक जीवन यापन की कुछ गंभीरतम स्वीकृतियों को परिपुष्ट करता है। सुनाये गये और अभिनीत पुराण, नृत्यों की आयोजना, ढोलों की लय, गाये व बोले गये पद, भाग लेने वालों और दर्शकों की उन प्रतिक्रियाओं का आवाहन करते हैं जोकि समूह के सदस्यों की मूल्य प्रणाली और उसमें उनके समायोजन को अत्यन्त प्रभावित करती हैं। वे उन्हें आश्वासन देते हैं कि वर्षा आयेगी, फसलें खूब ,अच्छी होंगी, कोई संकट नहीं पड़ेगा, समूह जीवित रहेगा। जब हम किसी हृदय को छूनेवाले नाटक को देखते हैं जोकि हमारे अनुभव के निकट है और जिसके द्वारा हम एक समस्या से एकात्मता का अनुभव करते हैं, तो हमारी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती है। किन्तु हमारी प्रतिक्रिया मुख्यतः दर्शक के रूप में होती है जबकि अनक्षर समाजों के सदस्य वास्तव में एक नृत्य समारोह में, पुराणों को सुनाने में या नाटक के अभिनय में स्वयं भाग ले सकते हैं।

नाटक में योगदान पूर्ण योगदान से लेकर प्रशिक्षित विशेषज्ञों द्वारा अभिनय तक हो सकता है, तब उनमें हमारे परिचित नाटकों से व्यवहारतः एक ही अन्तर रह जाता है कि वह थियेटर हाल में अभिनीत नहीं होते। हम इन दोनों का उदाहरण दे सकते हैं। आस्ट्रेलियाई मूलवासियों के दीक्षा संस्कार में केवल उम्मीदवार और दीक्षित व्यक्ति ही उसे देख सकते हैं और उसमें उन सबों को हिस्सा लेना पड़ता है। बाली के सूक्ष्म नृत्य अभिनयों में उच्च प्रशिक्षित पेशेवर कलाकार, जिनका सारा जीवन ही उसके लिए अर्पित होता है, भाग लेते हैं।

फिर भी नाटकीय अभिव्यक्ति के सभी रूपों में, चाहे वह सरल हों या जटिल, विशेषज्ञों द्वारा अभिनीत हों या सारे समूह द्वारा , चाहे अनक्षर लोगों की भांति खुली हवा में हों या आधुनिक थियेटर में, एक लक्षण सब में समान है। सभी अभिनयों में एक संरचना होती है और एकतायें होती हैं जोकि किसी भी कलात्मक कृति की विशेषतायें हैं। उनका प्रारम्भ और अन्त होता है। काल और घटनाओं में एक क्रम होता है। चाहे समूह की परम्परा प्रभाव को बढ़ाने या घटाने का आदेश दे या उसे अन्य भांति कल्पित करे, उसमें एक वृद्धि का—एक चरम सीमा का—भाव रहता है। इसके अतिरिक्त, यह सब अभिनय अनक्षर संस्कृतियों के अन्य पहलुओं के साथ कितने ही संयुक्त क्यों न हों, वह स्पष्ट ही सामान्य जीवन क्रम से पृथक् होते हैं। वह विशेष और प्रत्याशित होते हैं, उनके लिए

बहुत सामान और उत्सव का आडम्बर जुटाना पड़ता है। चाहे उनका विषय दुखान्त हो या सुखान्त, उनका प्रस्तुत किया जाना दिनचर्या में बाधा डालता है। यह केवल संयोग नहीं कि पश्चिमी अफ्रीका में अंग्रेजी-भाषी मूलवासी अपने नृत्यों को "खेल" कहकर पुकारते हैं, और इस क्षेत्र के नृत्यों की किसी भी किस्म को इन अभिनयों का एक संगठित नाटक कहा जा सकता है।

मान लें कि अशांति लोगों में यह पता चलता है कि कल तीसरे पहर नाच होगा। गांव छोटा है तथा दूर है; अन्य गांव से आने वाले दर्शकों के लिए नाचने के स्थान पर बहुत थोड़ा साया है। जैसे ही कोई पहुंचता है उसे ढोल बजते हुए मिलते हैं और नर्तक बाड़े में चक्कर लगाते हुए। वह शायद दस या बारह हैं, कुछ स्त्री और कुछ पुरुष। सभी ऐसी स्थिति में हैं या उसके निकट कि उनके ऊपर कोई दैवीय शक्ति चढ़ गयी है। एक चीख सुनायी देती है और एक स्त्री जमीन पर गिर जाती है, वह इधर-उधर लोटती है और उठने की कोशिश करती है। अन्य लोग उसकी सहायता करने आते हैं, पर वह एक डंडे के लिए इशारा करती है, फिर कष्ट से उठ, वह बाड़े में चारो तरफ रेंगना शुरू करती है और कठिनाई से एक पैर से चल पाती है। एक दूसरा व्यक्ति घेरे के चारों ओर हाथ फटकारते हुए, चेहरे की पेशियों को चलाते हुए, ढोलकों के सामने रुककर आगे-पीछे नाचते हुए और सदा वाद्यों की ओर मुँह कर, जिनकी आवाज देवता की आवाज है, भीषण रूप से नाच करता है। ढोलकों के वृन्दवादन की लय, गायकों की भरी हुई आवाजें, हाथ की तालियों की गड़गड़ाहट, दर्शकों के चमकते हुए रंगीन और सिल्क के कपड़े, जमीन की लाली तथा जंगल की पृष्ठभूमि की हरियाली, नर्तकों और सेवकों की निरन्तर गति और सब के ऊपर तीसरे पहर के सूरज की चमक, यह सब मिल कर आने वाली घटना की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

अब एक आदमी पर जोकि पुरोहित है देवता चढ़ जाता है। सभी उसके शानदार नृत्य का इतनी तन्मयता से अनुसरण करते हैं कि ऐसे तनाव अभीतक व्यक्त न हुए थे। वह नाचने के स्थान के चारों तरफ कई बार जाता है, ढोलकों के पास नाचता है, फिर चक्कर काटता है और फिर एक चीख मार कर घेरे से निकल गांव में भाग जाता है। कुछ लोग, परन्तु केवल वे ही जोकि इसके योग्य समझे जाते हैं, उसका पीछा करते हैं और उनकी ओर से एक जोर की चिंघाड़ आती है। और जैसे-जैसे ढोलों की ताल तेज होती जाती है, दर्शक भी उसका साथ देते हैं, और जो पीछे रह जाते हैं वह भी अधिकाधिक तेजी से नाचने लगते हैं। वह स्त्री जो हाथ में डंडा लिये हुए थी, डंडे को फेंक देती है और अन्य लोगों की भांति ही फुर्ती से नाचने लगती है। वह पुरोहित से जा मिलती है जोकि हाथ में कुछ चीज लेकर लौटता है और अन्य लोगों को ढोलों की ताल पर नाचने का नेतृत्व करता है और बाद में उसे पूजा घर (Cult-house) तक ले जाया जाता है। नाच रात भर चलता रहता है, किन्तु

पुरोहित पुनः नर्तकों में सम्मिलित नहीं होता और जब देवता सबके ऊपर से उतर जाते हैं, नृत्य समाप्त हो जाता है।

यह सीधा-सादा अनुष्ठान (Rite) है। पर यदि इसके बाहरी रूप के नीचे की तह में जाया जाय और इसके अर्थ को छूने का प्रयास किया जाय, तो यह नृत्य उस नाटक की एक घटना बन जाती है जिसमें कि उस पाप को जोकि गांव के लिए संकट था बाहर निकाला गया। इस नृत्य के होने से कुछ समय पहले इस समूह पर दुर्भाग्य छाया हुआ था। फसलें खराब थीं, घर जल रहे थे, बच्चे मर रहे थे। ओझागिरी (Divination) से पता चला कि इनके विरुद्ध किसी ने जादू किया है। यह नाच जिसमें पूजा करने वालों के सिर पर गांव के देवता चढ़ आये, उस पाप को बाहर निकालने के लिए किया गया था। जब पुरोहित का देवता उस पर चढ़ आया उसने उसे जिस जंत्र के द्वारा कि यह पाप प्रेरित हुआ था, उसके छिपने के स्थान को बता दिया। यही कारण था कि उसके चढ़ने के बाद इतना तनाव बढ़ा, और उसके नृत्य व अस्पष्ट बड़बड़ाहट से उत्सुकता बढ़ गई। और उस चीख को सुनकर जिसने घोषणा की कि पाप का संधान मिल गया है, पीछे छूटे हुए भक्तों ने उत्साह से नृत्य किया। बात बन गयी, कथावस्तु की ठीक समाप्ति हुई। किन्तु अपने सरल रूप और सीधे आकर्षण के साथ नृत्य का नाटकीय गुण उच्च कोटि का था। उसने अभिनेताओं को सम्मोहन की अवस्था में पहुंचा दिया तथा दर्शकों को उत्तेजना और आशा से हतप्रभ कर दिया।

कथावस्तु अपने संगठन की जटिलता में भिन्न हो सकती हैं। जहां पौलीनेशिया की भांति, अनुष्ठानों द्वारा जटिल पुराणों के अंशों का अभिनय किया जाता है, वहां वह अभिनय संगठन की जटिलता तथा चरित्र-चित्रण में उन अभिनयों का मुकाबला कर सकता है, जिनसे हम परिचित हैं। हमारे और अनक्षर समाजों के अभिनयों में एक मूल भिन्नता लेखन कला की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर आधारित है। आदिवासियों का नाटक जनता द्वारा विकसित हुआ है, जबकि हमारे लिए नाटक एक विशेषज्ञ द्वारा, अन्य विशेषज्ञों द्वारा अभिनीत होने के लिए लिखा जाता है। अनक्षर लोगों के नाटकों में अधिकांश अंश उन उत्सवों का होता है जो विभिन्न पुराणों को अभिनीत करते हैं या पहले दिनों के सामूहिक अनुभवों की याद दिलाते हैं, या मौजूदा विश्वासप्रणाली द्वारा जीवित रहने के लिए आवश्यक अनुष्ठानों के अंग हैं, जैसे कि वर्षा या सन्तानोत्पत्ति या लड़ाई में विजय को सुनिश्चित बनाने के लिए किये जाते हैं।

दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्तराज्य के इंडियनों में अतिविकसित रूप के, आनुष्ठानिक नाटकों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक सरल अनुष्ठान जिसमें नवाहो की नाटकीय अभिव्यक्ति की गयी है, इसे दर्शाने के लिए पर्याप्त है। वह है, रोग दूर करने का "गायन" या एक निजी रेत का चित्र। यह गायन सारी रात होता है और ऐसे घर में होता है जिसमें बहुत कम रोशनी होती है।



प्लेट १० आइफ, पश्चिमी नाइजीरिया, से प्राप्त कांसे के सिर, डब्ल्यू० आर० बैसकौम द्वारा संग्रहीत। स्त्री-सिर (ऊंचाई ९¾ इंच) और पुरुष-सिर (ऊंचाई, १२½ इंच)। देखिये पृ० २३१
(फोटोग्राफ मेरी मौडलिन, शिकागो)



क



ख



ग

प्लेट ११क एडमिरेल्टी द्वीप का प्याला। देखिये पृ० २४३। **प्लेट ११ख** माओरी नक्काशी हुई हड्डी की चीज़। देखिये पृ० २४५ (फोटोग्राफ ११क और ११ख शिकागो नैचुरल हिस्टरी म्युज़ियम के सौजन्य से।) **प्लेट ११ग** माओरी नक्काशी हुई मूर्ति, गुदना का डिजाइन दर्शाते हुए। देखिये पृ० २४५ (फोटोग्राफ रायल इथ्नोग्रैफिक, म्युज़ियम, कोपनहेगन के सौजन्य से।)

रोगी पुरोहित की ओर, जोकि गायन का संचालन करता है, मुंह करके बैठता है, बिना रुके यह गायन सवेरे तक जब कि इसकी चरम सीमा आती है, जारी रहता है, तब दरवाज़े खोल दिये जाते हैं और पुरोहित अन्तिम अनुष्ठान अकेले में करने के लिए बाहर चला जाता है। रेत के चित्रों की बैठकें भी इसी प्रकार अपनी चरम सीमाओं को पहुंचती हैं, जब कि रूढ़ शैली में बनायी हुई उन देवताओं की सुन्दर मूर्तियों को, जिनपर कि वह व्यक्ति जिसके लिए यह अनुष्ठान किया गया है, शक्ति पाने और प्रेतात्माओं की सहायता पाने के लिए बैठाया गया था, तोड़ दिया जाता है।

प्यूब्लो इंडियनों के अनुष्ठान में भी नाटक के प्रति वही भावना है। होपी का सर्प नृत्य सम्भवतः इन अनुष्ठानों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है, यद्यपि इसकी यह प्रसिद्धि इसे देखने के लिए इतने बाहरी दर्शकों को खींच लाती है कि द्रष्टा के लिए इस अनुष्ठान की कलात्मक एकता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। कलात्मक दृष्टि से इससे कहीं अधिक प्रभावशाली इससे पहले दिन होने वाला हरिण नृत्य है, जिसमें बाहरी लोगों की भीड़ नहीं होती। इसके परिवेश के सौन्दर्य का आनन्द लिया जा सकता है, गायन सुना जा सकता है, पुरोहित-नृत्य के चापों का अनुसरण किया जा सकता है।

आनुष्ठानिक नाटक या धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित दृश्यों पर विचार करते समय यह आवश्यक है कि ऐसे समय हम प्रायः प्रचलित इस मत को स्वीकार न करें, कि अनक्षर लोगों की सभी नाटकीय अभिव्यक्तियां आनुष्ठानिक हैं। इस पूर्वकल्पना को इतनी अधिक स्वीकृति क्यों मिली यह आसानी से समझा जा सकता है। एक तो इसलिए कि हमारे नाटकों के प्रारम्भिक काल में स्वयं आनुष्ठानिक अभिनयों का बाहुल्य था, फिर अनक्षर समाजों में लौकिक कार्यों की अपेक्षा धार्मिक अनुष्ठानों के साथ कहीं अधिक नाटकीय अभिव्यक्ति पायी जाती है। अन्त में, चूंकि इन समाजों के नाटकों में कार्य-कारण इतने घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं कि बहुत कम विद्वानों ने ही लौकिक, नाटक पर ध्यान दिया, हालांकि वह अध्ययन के विषय के रूप में नाटक के प्रति जागरूक थे।

बहुत बार तो किसी निर्दिष्ट अभिनय का वर्गीकरण करना बहुत कठिन हो जाता है। हम यहां पर अशांति लोगों के एक अन्य अनुष्ठान क्वासीडे पर विचार कर सकते हैं, जो अंशतः धार्मिक और अंशतः लौकिक है। यह महीने में एक बार होता है और इसका उद्देश्य एक ग्राम या एक प्रांत या सम्पूर्ण अशांति राज्य के शासक के स्टूल या सिंहासन को सुदृढ़ बनाना है। यहां ऐसी तड़क-भड़क होती है कि उसका विवरण देना सरल नहीं है—सोने के गहने और मुद्रायें, (Emblems) अलंकृत पालकी जिसमें कि मुखिया को बाजार में ले जाया जाता है, जबकि उसके ढोल उसके पूर्वजों की प्रशंसा की गत बजाते हुए उसके आगे-पीछे चलते हैं। जी खोल कर सजाये गये राजछत्रों को वाहक नर्तक घुमाते हैं; और मुखिया के अहाते के अन्दर होने वाले अनुष्ठान से बहिष्कृत

प्रजा की भीड़ रंग-बिरंगे कपड़ों में रास्ते में कतार में खड़ी हो जाती है या बाजार में जमा हो जाती है जहांकि आस-पास के नगरों तथा शहरों की नर्तक-मण्डलियां शासक की वाहवाही पाने के लिए एक-दूसरे से होड़ करती हैं। जोर के साथ यह युक्ति दी जा सकती है कि यह अनुष्ठान लौकिक है क्योंकि यह स्थानीय राजनैतिक जीवन का अभिन्न अंग है, परन्तु उतनी ही दृढ़ता के साथ इसे धार्मिक भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें पूर्वज-पूजा का विधान है। किन्तु पूर्वज-पूजा की यह विशेषता है कि इसमें लौकिक नृत्य और गायन को प्रमुख स्थान मिलता है और शक्तिशाली मृतों के विशेषाधिकार के रूप में नवीन रचनाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है। नाटक का विद्यार्थी स्वभावतः ऐसी समस्या को अपने अध्ययन का प्रमुख अंग नहीं बनाता। फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है, और किसी कारण से न भी सही तो इस कारण से कि वर्तमान स्थिति में लौकिक को छोड़ धार्मिक अनुष्ठानों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

यह सत्य है कि धार्मिक अभिनयों की तुलना में लौकिक नाटक प्रायः फीके रहते हैं। उनमें कम तड़क-भड़क होती और थोड़े लोग होते हैं; फिर भी वह नाटक तो हैं ही। हम लोकवार्त्ता की ओर मुड़ें और पश्चिमी इंडियन ग्राम की कथा सुनाने की एक शाम का एक उदाहरण लें। स्थान है, एक समुदाय के सदस्य का झोंपड़ा, सामने कथा सुनाने वाला और उसके श्रोता लोग बैठे हैं। उनमें से अधिकांश बच्चे हैं, कुछ दिये की हल्की रोशनी में या चटक चांदनी में बैठे हुए हैं। "क्रिक-क्रैक" नेता प्रारम्भ करता है और समूह के किसी सदस्य की ओर इशारा करता है जोकि एक "पहेली बुझाता है" तथा अपने पड़ोसी से उसका जवाब मांगता है। जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है सुनाने वाला उसकी कथावस्तु के प्रत्येक ब्यौरे का अभिनय करता है, उसकी आवाज़ ऊंची या कराहने जैसी बन जाती है, जबकि कठिनाई में पड़कर धूर्त सहायता की याचना करता है; वह कठोर हो जाती है जबकि संघर्ष में विजेता बोलता है। किन्तु चमकती हुई पुतलियों वाले श्रोता, श्रोता से अधिक कुछ ओर हैं। जोर की चिल्लाहट से और समय-समय पर किसी पात्र के गाने से, जिसके साथ श्रोता भी गाने लगते हैं कथा का तार टूट जाता है और इस प्रकार कहानी सुनाने वाले की एक आवाज में सब आवाजें मिल कर गूंज जाती हैं। यह एक सामान्य अवसर है, किन्तु इसमें थियेटर के सभी तत्त्व विद्यमान हैं, कहानी में कथावस्तु है और श्रेष्ठ अभिनय। कुछ तत्त्वों का अभाव अवश्य है, किन्तु वह खटकता नहीं, जैसे एक मधुर स्वर वाली गायिका नंगे रंगमंच पर खड़ी होकर श्रोताओं को अपने एकाकी मधुर गायन से मंत्रमुग्ध कर देती है, उसे रंगमंच की सजावट की जरूरत नहीं होती।

अनक्षर समाजों में नाटक के सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है। यहां जीवन के एकात्मक रूप ने नाटक को दिनचर्या का अभिन्न अंग बना दिया है, और इसी एकता ने नाटक कला को अन्य कलात्मक रूपों के साथभी अधिक दृढ़ता से संयुक्त कर दिया है। गान, नृत्य, पुराण, कविता, यह सभी देवताओं

की पूजा, मृतकों की समाधि, विवाह या जीवन चक्र की अन्य घटनाओं से घनिष्ठतया एकीकृत हैं। जिस भांति कविता के लिए शब्द तथा संगीत की आवश्यकता है और संगीत और शब्द नृत्य के आवश्यक अंग हैं, इसी प्रकार यह सब मिलकर अनक्षर लोगों के नाटकीय अभिनयों को उनका सौन्दर्यात्मक आकर्षण तथा कलात्मक सत्यता प्रदान करते हैं।

हमारे पास ऐसी कविताओं के अनेक उदाहरण हैं जिनसे नाटक अलंकृत हैं। पश्चिमी अफ्रीका के डाहोमियों के अनुष्ठानों से दो उदाहरण लिये जा सकते हैं। पहला पृथ्वी देवता के अनुष्ठान से तथा दूसरा अंत्येष्टि संस्कार से लिया गया है।[11]

तेरी ज़रूरत बड़ी है,
और बड़ी है हमारी ज़रूरत गाने की,
चूंकि संकट के दिन हम पर आये हैं।
अबोमी का बैल
काना से कहता है,
यह संकट का दिन है;
अनाज का ले जाने वाला,
नमक ढोने वाले से कहता है,
भाई तेरा बोझ भारी है,
और यह ले जाने का दिन है;
मुर्दे को ले जाने वाला,
कहता है सीढ़ी ले जाने वाले से,
यह बोझा ढोने का दिन है,
यह संकट का दिन है।

* * *

नेता : रोओ मत,
मृत्यु को कोई नहीं रोकता,
नहीं इसके आने के दिन को।

समवेत गान : मृत्यु हमें दुःखी करती है ओ!
मृत्यु हमें दुःखी करती।

जैसे मक्खियां हमारी कमर को कष्ट देतीं,
लौट कर, लौट कर,

ऐसे ही मृत्यु दुःखी करती हमें ओ!
मृत्यु हमें दुःखी करती।

---

११. एफ० एस० हर्सकोविट्स, १९३४, पृ० ७६, १९३५, पृ० ९५।

जैसे कबूतर उतरते
घर की छत पर,
और नाचते और नाचते
ऐसे ही मृत्यु नाचती-ओ!
मृत्यु नाचती!

ए—यो!
ए—यो—ओ!

संगीत, कविता और नृत्य के अतिरिक्त हमें अनक्षर समूहों के नाटक में चित्रकला तथा मूर्तिकला के योगदानों को—नाना प्रकार के नकली चेहरों, नाना रूपों की और विविध सामग्रियों से बनी वेशभूषाओं तथा नाना प्रकार के अन्य साजो-सामानों को नहीं भूलना चाहिए। इन सबों को कला के अन्य रूपों के साथ इस्तेमाल किया जाता है और यह वह गति और पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं जोकि नाटक के सम्पूर्ण अभिनय को सफल बनाती हैं।

४

यूरोपीय-अमरीकी सांस्कृतिक धारा से बाहर के लोगों के संगीत का वैज्ञानिक और वस्तुगत आधार पर तुलनात्मक, अध्ययन हमें संस्कृति की प्रकृति और कार्यों के संबंध में कुछ बहुत बुनियादी सत्य की ओर ले जाता है। गैर-यूरोपीय लोगों के संगीत के प्रति यात्रियों का और जिन्हें इसे सुनने का अवसर मिला है, उनका बहुत समय से आकर्षण रहा है। उदाहरण के लिए, अठारहवीं शताब्दी में अफ्रीका के अन्वेषक मूंगो पार्क ने सेनेगल नदी-क्षेत्र के कुछ गीतों को, जिन्हें उसने सुना, लिपिबद्ध कर प्रकाशित किया। यूरोपीय समूहों, अमरीकी इंडियनों तथा नीग्रो लोगों के लोक-संगीत को लिपिबद्ध किया जा चुका है। किन्तु आज हम यह जानते हैं कि गैर-यूरोपीय संगीत का लेखन उन्हें लिखने वालों द्वारा सुने गये गीतों तथा लयों का केवल अन्दाज़ मात्र (Approximation) है। हम संगीत की रचना की तरह उसका श्रवण भी उस सूक्ष्म प्रशिक्षण के प्रभाव में करते हैं जो कि हमारे संगीत बोध का निर्माण करता है।

किसी व्यक्ति के लिए अपने से भिन्न संगीत परम्परा के राग (Melody) को निकालने का प्रयत्न एक मनोरंजक अभ्यास है। उसकी संगीत शिक्षा जितनी अधिक होगी उतना ही कम वह उसमें सफल होगा, क्योंकि सर्वथा अज्ञातरूप से वह उसे अपनी शैली में ले जायेगा। रिकार्ड बनाने वाला फोनोग्राफ ही केवल उसे जिस तरह वह गाया गया है, उसी तरह उतार सकता है, या उस संगीतशैली की लयात्मक (Rhythmical) जटिलताओं को पकड़ सकता है, जिसमें राग की अपेक्षा लय की प्रधानता है। यूरोपीय अमरीकी संगीत को लिखने की प्रचलित पद्धति, जिसमें आकस्मिक (Accidentals) स्वरों के साथ आठ स्वरों (Notes) वाला ग्राम (Scale) होता है, और जिसमें श्रुति (Quarter tone) का कोई

स्थान नहीं होता, उसमें उस संगीत शैली को, जिसमें सूक्ष्म ठहरावों (Intervals) का नियम है, लिखने का प्रयत्न करने से पूर्व विशेष अनुकूलन की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये जाइलोफोन पर बजाये गये एक प्रबंध को जोकि बांये हाथ में ४/४ की ताल (Beat) और दाहिने हाथ में ५/४ की ताल पर बजाया गया है, और इस प्रकार उस ताल-इकाई (Measure) को बनाता है, जिसे कि यूरोपीय लोग एक इकाई के रूप में ले जाने के अभ्यस्त नहीं हैं, यदि यूरोपीय ताल अध्यायों (Time signatures) की अपेक्षाकृत सरल प्रणाली में, जिसमें कि निर्धारित ताल-इकाई होती हैं, बैठाया जाय तो वह संतोषजनक न होगा।

यूरोपीय-अमरीकी संगीत वस्तुतः इन अर्थों में प्रायः अद्वितीय है कि यह स्वर-स्थान (Pitch) पर बहुत जोर देता है। यह बात बहुत कुछ यांत्रिक विधि से ट्यून किये हुए वाद्यों, जैसे कि प्यानो की प्रभुता से उत्पन्न होती है जो हमें इस प्रतिक्रिया का अभ्यस्त बना देती हैं जिसमें स्वर एक-दूसरे से एक निश्चित क्रम में बंधे होते हैं। यूरोपीय लोग उचित इंटोनेशन को बहुत महत्व देते हैं, जहांकि निश्चित टोन मे व्यतिक्रम सम्भव है, जैसाकि गाने या वायलिन बजाने में होता है, यह इस परम्परा का अत्यन्त स्पष्ट पहलू है। अधिकांश संस्कृतियों में केवल निर्धारित स्वर में ही गाने का नियम नहीं है, बल्कि सही पिच से हट जाने पर श्रोताओं को कोई असुविधा अनुभव नहीं होती। अर्थात् गीत के ठहराव अपेक्षया, निरपेक्षरूप से वही नहीं रहते जबकि विभिन्न गायक उसे निकालते हैं, या वही गायक उसे दुहराता है। विभिन्न अवसरों पर जबकि गीत एक अन्य भिन्न स्वर से शुरू होता है उसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान में बदला जा सकता है।

स्वरों के मूल्यों में भिन्नतायें संगीत-शैली का एक तत्त्व है जोकि एक संस्कृति के संगीत में प्रशिक्षित व्यक्ति को अन्य संस्कृति के संगीत को समझने तथा सराहने में कठिनाई उत्पन्न करता है। इस प्रकार युरोपीय संगीत अपनी अवधारणा में ध्वनिबहुल (Polyphonic) है। एक वृन्दवादन, एक बैंड, या एक गायक-मण्डली कई इकाइयों से मिलकर बनती है, जिनमें से प्रत्येक इस प्रकार से बजती या गाती हैं कि एक निर्दिष्ट क्षण पर सबों के स्वरों में, जैसाकि हम कहते हैं, संगति (Harmony) रहती है। यह ध्वनियां ठहरावों द्वारा एक-दूसरे से पृथक् की जाती हैं, जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होते हैं, जोकि परिभाषा के अनुसार, एक समय सुने गये स्वरों की भिन्नताओं की सीमा के अन्तर्गत हो सकते हैं। इससे रागों (Tunes) के नाना उतार-चढ़ाव संभव होते हैं जोकि स्वरसमता (Symphony) के नाना रूपों में या यूरोपीय संस्कृति की सबसे अधिक परिष्कृत संगीतात्मक अभिव्यक्ति प्लावित (Fugue) को जन्म देते हैं।

एक क्षण के लिए हम यूरोपीय लयों की सरलता की ओर आते हैं। यूरोपीय संगीत में ताल नियमित और स्वर-भेद (Phrases) लघु होते हैं। जैसा कि वान हार्नबोस्टल ने कहा है, चम्पू (Syncope) में ताल-च्युति (Off-beat)

पर जोर है। (एक-**और** दो-**और** और इसी तरह आगे, बजाय इसके कि **एक**-और, दो-और...... जैसा कि मार्च ट्यून में होता है।) अफीकियों के लिए जो अति सावारण बात है, वह यूरोपियों के लिए बहुत बड़ी चीज है। वे दो, तीन, चार, छः, आठ और कभी-कभी जबकि ताल तेज होती है और समय की इकाइयां बहुत लघु होती है, तब बारह में गिनते हैं, जैसे कि १२/१६ मात्रा में जोकि वस्तुतः ३/४ में बदल जाती है। और भी अनेक सम्भावनायें रह जाती हैं, जिनका कि वे उपयोग ही नहीं करते। जो सिम्फानी साहित्य से अवगत हैं वे ५/४ मात्रा गिनने की कठिनाइयां जानते हैं जैसाकि टैंसेकोवस्की की एक सिम्फानी में है, जोकि वहुतों के लिए २/४ और ३/४ मात्रा में आ जाती है।

कोई भी इसकी सरल परीक्षा कर सकता है। हम जानते हैं किस भांति घड़ी की तरह की टिकटिक या पटरी पर चलती रेल से उत्पन्न खड़-खड़ को ताल इकाइयों (Measures) में तोड़ा जा सकता है। इन नियमित तालों को तीन "वाल्टज़ टाइम" या चार "मार्च-टाइम" की अपेक्षा पांच इकाइयों में तोड़ने का प्रयत्न मनोरंजक होगा। यह कठिन है, किन्तु किया जा सकता है। एक बार यह हो जाने पर, हमें इस नियमित ताल को ऐसे सुनने का प्रयास करना चाहिए जैसे कि वह सात इकाइयों में बंटी हुई हो। अधिकांश दशाओं में यह शीघ्र ही छः या आठ की इकाइयों में बंट जाती है, या यदि हम कोशिश कर उसे सात में ही रखें, तो वह तीन और चार का मेल बन जायेगी। अगला कदम और भी कठिन है। एक बार सात की इकाइयों में सुनने के अभ्यस्त हो जाने के बाद, उसे कोई धुन (Tune) निकालनी चाहिए जोकि इस लय के साथ चल सके, अर्थात् ऐसी धुन जिसमें ७/४ या ७/८ के ताल-अध्याय हों। ऐसा देखा गया है कि अत्यन्त दृढ़ संकल्पवाले परीक्षणकर्ता को छोड़, जोकि पुनः-प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त आवश्यक समय देने के लिए उद्यत हो, यूरोपीय अमरीकी संस्कृति में सभी लोग प्रायः इसमें असफल होते हैं।

अनक्षर समाजों में लय के महत्त्व को इससे समझा जा सकता है कि उनमें घर्षण द्वारा स्वर निकालने के वाद्ययंत्रों की संख्या थाप देकर बजाये जाने वाले वाद्ययंत्रों से कम है। प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि आवाज़ को छोड़ अन्य साधन से स्वर निकालना वहां एक अपवाद है। यही नहीं, इन समाजों में राग अपेक्षया बहुत सरल है। यह सर्वथा सत्य नहीं है, जैसा कि तुलनात्मक संगीतशास्त्र के कुछ विद्वानों ने दावा किया है, कि आदिकालीन लोगों में ऐसे गायन का अभाव है जिसमें कि व्यक्ति अलग गायें। यह दिखाने के लिए पर्याप्त लिखित उदाहरण हैं कि निश्चित अवधियों पर वहां लोग अकेले गाते हैं, और इससे उक्त मत का निराकरण हो जाता है। किन्तु यह मत इतनी अधिक दशाओं में सत्य है कि यह समझना सरल है कि इस सिद्धान्त पर कैसे पहुंचा गया। समवेत गायन अपवाद न होकर एक नियम है।

अनक्षर लोगों द्वारा बनाये गये बहुसंख्यक वाद्ययंत्रों की हम यहां संक्षेप में

चर्चा कर सकते हैं। इन्हें परिचित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—तार वाले, वायुवाले और थाप दिये जाने वाले—इनमें से पहले प्रकार का सबसे सीमित वितरण और अतिसीमित प्ररूप हैं, अन्त वालों का सर्वाधिक विस्तार और विभिन्न प्ररूपों की बड़ी संख्या है। केवल पुरानी दुनिया के मूलवासियों में पाये जाने वाले तार वाले वाद्यों को उंगली या धनुष से बजाया जा सकता है, उनमें हल्की ध्वनि के विस्तार के लिए एक गुंजाने की विधि रहती है। इसके लिये इनमें कद्दू या लकड़ी के खोल को वाद्य से जोड़ दिया जाता है, बजाने वाले की छाती से भी यह कार्य लिया जाता है। सबसे सरल एक-तार वाला वाद्य है, जिसमें कि एक तार को उंगली से बजाया जाता है, जबकि दूसरे हाथ से उस तार के गूंजने की लम्बाई को बदल स्वर के परिवर्तन पैदा किये जाते हैं। हार्प और लायर इसके अधिक जटिल रूप हैं।

वायु वाद्यों में अनेक प्रकार की बांसुरियां, नफीरी और तूतियां सम्मिलित हैं। वह विभिन्न चीजों लकड़ी, सींग, बांस, हड्डी, मिट्टी से बनायी जाती हैं। उनकी लचक में पर्याप्त विस्तार है, तूती का एक मुख्य स्वर और सीमित तानें होती हैं जिन्हें कि बिना छेदों के निकाला जा सकता है बांसुरी में पर्याप्त स्वरों का विस्तार होता है। वायु वाद्यों का केवल संगीत में ही प्रयोग नहीं होता। तूती (Trumpet) सूचना देने के काम में विशेषकर बहुत जगह प्रयोग में आती है। जिस भाषा में टोन और स्वराघात (Stress) के सार्थक प्रतिमान हैं, ढोल के साथ तूती संवाद देने के काम में आती है। दक्षिणी सागरों की नाक से बजायी जाने वाली बांसुरी में उन प्रविधियों का प्रयोग होता है जिससे यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वंशी (Pan-pipes) जो कि पुरानी और नयी दुनिया में फैली हुई है, इसे बजाने के लिए विशेष दक्षता की जरूरत पड़ती है, चूंकि इसमें उसके अन्दर फूंक न मार, ऊपर फूंक दी जाती है। यहां विभिन्न लम्बाई की बांसुरियों को प्रयोग में ला विभिन्न तानों को निकाल कर राग को प्राप्त किया जाता है।

स्वर वाले और थाप दिये जाने वाले वाद्यों के बीच अनेक "संक्रमण-कालीन" रूप हैं। इनमें से एक जाइलोफोन (मरिम्बा) है, दूसरा विभिन्न तानों वाली घंटियों का गुच्छा है। इस संक्रमण श्रेणी में "अफ्रीकी पियानो" या सांजा महत्त्वपूर्ण है। इस वाद्य में एक ध्वनि-उत्पादक के ऊपर धातु या बांस की भिन्न लम्बाई वाली खपचियां इस प्रकार लगी रहती हैं, कि जैसे ही उनमें से किसीका छोर अंगूठे से दबा कर छोड़ा जाता है, उसमें से भिन्न स्वर निकलते हैं।

जबकि हम केवल ढोल जैसे थाप दिये जाने वाले प्रकार पर विचार करते हैं, इसमें भी स्वर तत्त्व का सर्वथा अभाव नहीं होता। अफ्रीका के खोखली लकड़ी के ढोल जिन पर कि खाल चढ़ी रहती है, उनसे स्वर निकाला जाता है—और उन पर विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से थाप देकर एक ही ढोल पर कम-से-कम चार भिन्न स्वरों को निकाला जा सकता है। कांगो बेसिन और सम्भवतः अमेजन से निकला हुआ लकड़ी का कटा ढोल विभिन्न स्वर निकालता है, जो इस

पर निर्भर है कि थाप कहां पर दी जाती है। झांझ और नर्तकों के टखनों में पहने हुए मोतियों से, तुम्बड़ियों या लकड़ी के गट्ठों से, जिन पर दरार कटी होती हैं और जिन पर एक छड़ी रगड़ी जाती है, या अत्यधिक सरल और सार्वभौम रीति से हाथ से तालियां बजा कर लय उत्पन्न की जाती है।

यह स्पष्ट है कि अनक्षर लोगों और यूरोपियनों की संगीत संस्कृति में भेद उतना अधिक साधनों या अभिव्यक्ति की जटिलता का भेद नहीं हैं, जितना कि उस सीमा में है, जिसमें कि यह संगीत रचनेवालों, गानेवालों या सुननेवालों के लिए विश्लेषण का विषय है। जैसाकि हरजोग ने कहा है, कि अनक्षर लोगों के संगीत के सिद्धांत में "अपेक्षया अल्प विश्लेषणात्मक वक्तव्य और सामान्य पारिभाषिक शब्दावलि है—पृथक् की जाने वाली इकाइयां—हमारे जितनी बारीक नहीं हैं। वह प्रायः संगीत को उसके राग और लय की रचना की सामान्य भिन्नता के अनुसार पृथक् करते हैं, जोकि बाद में प्रयोग और सामाजिक कृत्य की भिन्नताओं से सम्बन्धित हो जाते हैं। जब ऐसे प्रश्न उठते हैं, कि संगीत का उद्गम और अन्तिम उद्देश्य क्या है, जिनका कि हम सरलता से उत्तर नहीं दे पाते, वे इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट और निश्चित हैं।"[१२]

चूंकि अब अलिखित संगीत को समुचित रूप से रिकार्ड करने के लिए यांत्रिक विधियां निकल आयी हैं और इस प्रकार इस संगीत का अधिक प्रभावकारी विश्लेषण सम्भव हो सका है, मानव व्यवहार के अपने अध्ययन में संस्कृति का विद्यार्थी भाषा के प्रतिमानों की भांति इन सामग्रियों का भी प्रयोग कर सकता है। भाषा की भांति संगीत के भी बुनियादी संरचनात्मक रूप हैं, जो तभी प्रकट होते हैं जबकि लोगों के दैनिक जीवन में उनकी अभिव्यक्तियों का वस्तुगत अन्वेषण किया जाय। विश्लेषण से पता चलता है कि वे जिन सांस्कृतिक कारकों से अपना अर्जित रूप और अर्थ ग्रहण करते हैं, वह प्रतिमान और प्रक्रिया दोनों को ही बहुत दूर तक स्पष्ट करते हैं। सर्वत्र मनुष्य गाता है और गाकर संतुष्टियां प्राप्त करता है जोकि आत्म-अभिव्यक्ति के सब रूपों से प्राप्त होती हैं। किन्तु गायन में भी वह सर्वथा अनजाने में वह मूल्यवान् सामग्री जुटाता है जिसके प्रयोग से संस्कृति का विद्यार्थी कलात्मक अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक विश्लेषण में रूपान्तरित कर मानव जीवन के हमारे ज्ञान और अनुभूति में विस्तार कर सकता है।

---

१२. जी० हरजोग, १९३८, पृ० ५।

अध्याय पन्द्रह

भाषा : संस्कृति की वाहक

निम्न परिभाषा में भाषा की प्रकृति और सामाजिक कार्य का निर्देश किया गया है : **एक भाषा मनमाने बोले जाने वाले प्रतीकों की एक प्रणाली है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग और अन्तःक्रिया करते हैं।**[1] इससे यह पता चलता है कि यह अपने संगठन में नियमित है अस्त-व्यस्त नहीं, अर्थात् यह एक प्रणाली है। अन्य सभी सांस्कृतिक घटनाओं की भांति प्रतीकों के एक क्रम के रूप में इसके अर्थों को सीखना पड़ता है। यह परिभाषा भाषा के सामाजिक कृत्य पर जोर देती है जिससे कि संस्कृति के एक पहलू के रूप में भाषा के महत्त्व को समझा जा सके। इसलिए हमें इसमें यह भी जोड़ना चाहिए, "...**और जिस के द्वारा सीखने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है और एक निर्दिष्ट जीवन-रीति निरंतरता और परिवर्तन दोनों को प्राप्त करती है।**"

बिना भाषा के ज्ञान के, वह संचय जो मनुष्य को अन्य पशुसमूहों से पृथक् करते हैं, न विकसित हो पाते और न कायम रह सकते। भाषा द्वारा मानव अपनी भौतिक और अभौतिक अनन्त सांस्कृतिक संस्थाओं को बना सका, जारी रख सका, और परिवर्तित कर सका। यदि किसी घटना की एक सांस्कृतिक संगति है, तो वह इसलिए कि विचार और व्यवहार में उसका **अर्थ** है। और यह इसलिए है कि मनुष्यों के पास इसके **अर्थ** को समझने तथा व्यक्त करने का भाषा का साधन है। संस्कृति के सृजनात्मक पहलुओं को प्रोत्साहित करने में भाषा का महत्त्व स्पष्ट है। यह मानने का भी पर्याप्त कारण है कि लोगों द्वारा कल्पित वास्तविकता का स्वरूप भी स्वयं उनके विचार की श्रेणियों का प्रतिबिम्ब है, वह श्रेणियां जो कि उनके भाषा के प्रयोगों से उद्भूत होती हैं।

बोली के अध्ययन में नवदीक्षित व्यक्ति को इस पर आश्चर्य होता है कि भाषा जन्मजात (Instinctive) नहीं है। निस्संदेह बोलने की कुछ क्रियायें जन्मजात **दीखती** हैं, जैसे कि जब हम एकदम घबराहट में विचित्र उद्वेगात्मक आवाज़ निकालते हैं। भाषा और मानव की औज़ारों को प्रयोग में लाने की क्षमता की तुलना की जा सकती है। सीधे खड़े होने की स्थिति और पकड़ने में काम आने के लिए हाथों के मुक्त हो जाने से मानव के लिए औज़ारों का प्रयोग करना सम्भव हुआ, किन्तु इस कारण यह कहना उचित न होगा कि जिन औज़ारों को मनुष्य प्रयोग में लाता है वह उसकी "औज़ार प्रयोग करने की जन्मजात

---

१. ई० एच० स्टुर्टवेंट, १९४७ पृ० २।

प्रवृत्ति (Instinct)" से संभव हुआ है। जैसा कि भाषा के सम्बन्ध में है, उसी प्रकार विविध प्रकार के औज़ार जो वह काम में लाता है, उन्हें प्रयोग में लाना उसे अपने समाज के उन पूर्वजों से सीखना पड़ता है, जिन्होंने कि उसे वह दिये हैं। इसलिए जन्मजात प्रवृत्ति की कल्पना ग़लत है।

इस बात पर भी ज़ोर देना होगा कि किसी भी बोली की प्रणाली का उसके बोलने वालों को पृथक् करने वाले शारीरिक लक्षणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी मानवप्राणी किसी भी ऐसी ध्वनि या ध्वनियों के मिश्रण को निकाल सकता है जिसे कि कोई अन्य व्यक्ति निकाल सकता है, चाहे वह किसी भी नस्ल का हो, बशर्ते कि उसे छोटी आयु में इसका अवसर मिले। चाहे होंठ पतले हों या मोटे, नाक चौड़ी हो या संकरी, किसी भाषा की कोई भी ध्वनि किसी भी व्यक्ति द्वारा निकालना सम्भव है।

अध्ययन के उद्देश्य से प्रत्येक भाषा को तीन भागों में बांटा जाता है। पहला उसकी ध्वनियां (Sounds) हैं जो कि उसकी ग्राम-प्रणाली (Phonemic system) को बनाती हैं। दूसरा ऐसी इकाइयों में ध्वनियों के मिश्रण हैं जिनके पृथक् अर्थ हैं, यह उसकी शब्दावलि (Vocabulary) है। तीसरा वह विधि है जिससे कि यह ध्वनि-मिश्रण स्वयं बड़ी इकाइयों में मिलाये जाते हैं, यह व्याकरण (Grammar) है। बोलने की कोई ऐसी प्रणाली नहीं जिसमें यह न हों।

संस्कृति के किसी अन्य पहलू की भांति भाषाओं को भी रूप और कृत्य दोनों दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिए। पहले प्रकार के विश्लेषण का, जिसमें यह खोजा जाता है कि भाषा क्या है, वही महत्त्व है जो कि संस्कृति के किसी अन्य पहलू के रूप के अध्ययन का है। इस सम्बन्ध में इसका महत्व इस तथ्य से और भी बढ़ जाता है कि बोली के रूप लोगों की आदतों में इतने बद्धमूल हैं कि वह समग्र रूप से एक संस्कृति की वस्तुगत अभिव्यक्तियों के अध्ययन के लिए खास तौर पर अच्छी सामग्री प्रदान करते हैं।

दूसरा दृष्टिकोण मुख्यतः इससे सम्बन्धित है कि भाषा क्या करती है, यह पद्धति की कई कठिनाइयां उपस्थित करता है। इस दृष्टिकोण में, जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, कि "बोली केवल अभिव्यक्ति की नहीं, कार्य की रीति की अवधारणा है," यह सम्मिलित है।[2] सापिर का भी यही तात्पर्य था जब उसने कहा था कि "भाषा का बुनियादी आधार केवल स्पष्ट ध्वनि प्रणाली का विकास ही नहीं, बल्कि अवधारणाओं के साथ बोली के तत्त्वों का निश्चित सम्बन्ध और समस्त प्रकार के सम्बन्धों की औपचारिक अभिव्यक्ति के लिए कोमल व्यवस्था है।"[3] मानवशास्त्रीय भाषाविदों की यह उल्लेखनीय सफलता कही जा सकती है कि उन्होंने जितना बल रूपों के अध्ययन पर दिया उतना ही कृत्यों पर भी दिया है।

---

२. जी० ए० डी लागुना, १९२७, पृ० २१ टिप्पणी।

३. ई० सापिर, १९२१, पृ० २२।

ब्लूमफील्ड की **बोली-समुदाय** की अवधारणा—"लोगों का एक समूह जो कि बोली के द्वारा अन्तःक्रिया करता है," ऐसी ही महत्त्वपूर्ण है।[४] ब्लूमफील्ड का मत है कि बोली-समुदाय "सबसे प्रमुख प्रकार का सामाजिक समूह है,' चूंकि "मानव के समस्त तथाकथित उच्च कार्य—विशेषरूप से हमारे मानवीय कार्य—व्यक्तियों के परस्पर समायोजन से उत्पन्न होते हैं, जिसे हम समाज कहते हैं, और यह समायोजन स्वयं भाषा पर आधारित है।" बोली-समुदाय अपने आकार में अत्यन्त भिन्न होते हैं और कभी-कभी वह एक-दूसरे में अदृश्यरूप से मिल जाते हैं, जैसा कि बोलियों की मामूली भिन्नता में होता है, जैसे कि संयुक्त राज्य में दक्षिण की बोली को मिडिलवैस्ट की बोली से पृथक् करते हैं।

२

बोली के मानवीय अंगों की ध्वनि निकालने की विधियों और उनकी ध्वनियों के कुल विस्तार के अध्ययन को ध्वनिशास्त्र (Phonetics) कहा जाता है। एक निर्दिष्ट भाषा में जिन महत्त्वपूर्ण ध्वनियों को अर्थ देने के लिए मिलाया जाता है वह ग्राम (Phonemes) कहलाते हैं। एक अर्थ में एक बोली-प्रणाली की ग्राम-संरचना का विलेषण भाषा की गवेषणा में अत्यन्त उपयोगी है, विशेषकर, चूंकि इसका संस्कृति के अध्ययन में बड़ा महत्त्व है। इसे समझाने के लिए हिन्द-यूरोपीय भाषाओं के प्रारम्भिक विद्वानों की रचनाओं का हवाला देना पर्याप्त है। ध्वनि-परिवर्तनों के तुलनात्मक अध्ययनों द्वारा बाहर से भिन्न दीखने वाली भाषाओं के बीच, जैसे कि रूसी और अंग्रेज़ी हैं, ऐतिहासिक सम्बन्ध ढूंढना सम्भव हुआ है। इससे यूरोप और उन अन्य क्षेत्रों की जिन्होंने कि इसमें योगदान किया है, संस्कृतियों के सम्पर्क द्वारा विकास की प्रक्रिया पर पुनर्विचार आवश्यक हुआ।

यह समझने के लिए कि किसी अवस्था में भाषा की अभिव्यक्ति की सम्भावनाओं का कितना विस्तृत क्षेत्र है, हमें अपने दृष्टिक्रम को विस्तृत करना होगा और साक्षर समाजों से बाहर निकलना होगा। ऐसा कर के ही हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य भिन्न साधन प्रयोग में लाते हैं। भाषा की भिन्नता का तथ्य इसलिए भी धुंधला पड़ जाता है, क्योंकि लिखने में प्रयोग आने वाले प्रतीक ग्रामों के सही चित्रण होने की अपेक्षा उनके रूढ़िगत अन्दाज़ (Approximation) होते हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ी में प्रतीक **ए** भिन्न ध्वनियों के लिए प्रयोग में आता है, जैसे कि फॉर (far), हैट (hat), केम (came), अबव (above) में ए। यही नहीं, एक ही ग्राम को भिन्न अक्षर के प्रतीकों से दर्शाया जा सकता है, जैसे कि उदाहरण के लिए फार में **ए**, वही ग्राम है जैसा कि मिडवैस्टर्न **हॉट** (hot) में **ओ** है। ब्लूमफील्ड द्वारा दी गई सूची इसे स्पष्ट करती है। "अंग्रेज़ी शब्द *oh, owe, so, sew, sow, hoe,*

---

४. एल० ब्लूमफील्ड, १९३३।

beau, though, सभी एक ही ग्राम से समाप्त होते हैं किन्तु लिखने में भिन्न प्रकार से दर्शाये जाते हैं; *though, bough, through, enough, tough, hiccough* भिन्न ग्रामों से समाप्त होते हैं किन्तु सभी एक ही वर्णों—(**Ough**) से लिखे जाते हैं।"[5]

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में विशेष प्रतीक प्रयोग में लाये जाते हैं जिससे कि प्रत्येक ध्वनि का एक खास चिन्ह होता है। यह एक विद्यार्थी के लिए, चाहे वह एक नई भाषा या एक स्थानीय बोली का अध्ययन कर रहा हो, बोली की ध्वनियों की लगभग समान आवाज़ निकालना सम्भव बनाता है जिससे कि एक प्रशिक्षित भाषाविद् इन चिह्नों को पढ़कर अपने विश्लेषण में या विभिन्न समूहों की बोली की आदतों की तुलना करते हुए उनके सही ध्वनि-मिश्रण निकाल सकता है।

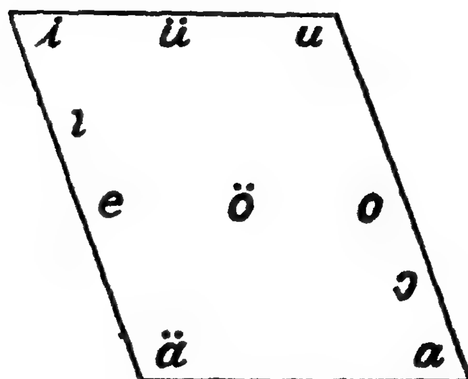
एक सरल अभ्यास यह बताता है कि किस प्रकार ध्वनियों का एक समूह जिसकी कि हम स्वर (**Vowels**) के रूप में पृथक् स्पष्ट कल्पना करते हैं, वस्तुतः एक निरंतर ग्राम (**Phoneme**) पर विभिन्न स्थान (**Points**) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। पहले होठों को ऐसे सिकोड़िये कि जिसमें यू (**You**) शब्द की ऊ (**u**) ध्वनि निकल सके। फिर सांस छोड़ कर और आवाज़ निकालने की नाड़ियों को निरंतर सक्रिय कर, धीरे-धीरे मुंह खोलिए, ओ जैसी ध्वनि निकलेगी और जो बाद में आ तक पहुंच जाएगी। इस प्रक्रिया को जारी रखिये और मुंह के छोरों को फैलाकर ए जैसी आवाज़ निकालने की कोशिश कीजिए जब तक कि ग्राम ई जैसी आवाज़ न सुनाई दे। अन्त में पुनः होठों को सिकोड़ने की स्थिति में लाइये पहले जर्मन यू (**ü=उ**) की आवाज़ निकलेगी और बाद में मूल अंग्रेज़ी (**u=ऊ**) जैसी।

अगले पृष्ठ पर स्वर चार्ट में इन रुकने के स्थानों को दर्शाया गया है। यह रुकने के स्थान पर्याप्त मनमाने हैं। किसी समूह की वास्तविक बोली में इन स्थानों की अनेक गौण भिन्नतायें मिलती हैं, किन्तु एक निर्दिष्ट भाषा बोलने वाले प्रायः इससे बेखबर होते हैं। पुनः ध्वनि के पूरे विस्तार को दोहराइये, किन्तु ओ और ए के बीच में रुक जाइये, इसके परिणामस्वरूप जो ध्वनि निकलेगी वह कॉट (**Caught**) के (**au**) के समान होगी परन्तु जिसे भाषा के विद्यार्थी ɔ लिखते हैं। ए और इ के लगभग बीच हम ऐ, जैसे कि हैट में पहुंच जाते हैं जिसे कि ध्वनिशास्त्र के विद्वान æ प्रतीक से दर्शाते है। ई और आइ के बीच इ (ɪ) ध्वनि है, जो कि जब हम हिट शब्द का उच्चारण करते हैं, निकलती है। यदि हम ए का पूरा उच्चारण न करें तब जो बीच की ध्वनि निकलती है (o→ö→e) वह अंग्रेज़ी या हिन्दी में नहीं हैं, किन्तु स्केन्डिनेवियाई भाषाओं में सुनी जाती है। अभ्यास द्वारा इच्छानुसार सूक्ष्म ध्वनियां निकाली जा सकती हैं और भाषाविदों ने देखा है कि इन में से अनेक ध्वनियों का महत्त्व है, अर्थात् उनका उन भाषाओं में ग्राम-मूल्य (**Phonemic value**) है जो कि हमारे उच्चारणक्रम के कुछ स्थानों की उपेक्षा करती हैं।

---

५. वहीं, पृ० ८५।

जब वाक्-यंत्र को प्रेरित करने वाली वायु मुँह से निकलती है और उसमें जीभ या स्थानीय (Glottis) कोई रुकावट नहीं डालते तब स्वर (Vowels)



निकलते हैं। जब सांस में रुकावट पड़ती है तव हम जिन ध्वनियों को निकालते हैं उन्हें व्यंजन (Consonants) कहते हैं। उनका भी एक विस्तार है जो कि किसी एक बोली की प्रणाली के प्रयोग का अतिक्रमण कर जाता है। उनका प्रथानुसार पांच में से एक शीर्षक के नीचे वर्गीकरण किया जाता है। पहले **विराम** (Stops) होते हैं, जव प्रवाह एक क्षण के लिए रोका जाता है तव विराम होते हैं। जब स्वर यंत्र से आवाज़ निकाली जाती है, तब **बी** या **डी** जैसे आवाज़वाले (Voiced) विराम निकलते हैं; यदि नहीं, तब उनसे मेल खाती हुई, यहां पर **पी** और **टी** जैसी, मूक ध्वनियां सुनी जाती हैं। अन्य एक श्रेणी में **संघर्षी** (Fricatives) या **ऊष्म** (Spirants) होते हैं जो कि जब सांस संकरे मार्ग से निकलती है बोले जाते हैं। इस वर्ग की आवाज़ करने वाली ध्वनियों में **वी** और **ज़ेड** हैं, इनके मूक रूप **एफ** और **एस** हैं। **ट्रिल** (Trills) लैटिन भाषाओं में प्रचलित लोड़ित (Rolled) आर (r) से; **पार्श्विक** (Laterals) एल से; और सानुनासिक (Nasals) एम और एन और उनके भिन्न रूपों से व्यक्त होते हैं। यह बोले जा सकते हैं और मूक भी हो सकते हैं परन्तु हिन्द-यूरोपीय भाषाओं में उनके बोले जाने वाले रूप ही महत्त्वपूर्ण हैं।

ग्रामों के अन्य तत्त्व भी हैं जो कि ऊपर की श्रेणियों में सम्मिलित नहीं हैं। इनमें दक्षिणी अफ्रीका की बुशमैन और होटेंटॉट भाषाओं का "क्लिक" वाला समूह उल्लेखनीय है। यह मानव बोली के अन्य सभी ग्रामों से इस अंश में भिन्न हैं कि यह मुंह में से हवा निकाल कर पुनः हवा खींच कर तेज़ ध्वनि से निकाले जाते हैं। जब वे होठों का प्रयोग करते हैं तब एक चुम्बन जैसी ध्वनि निकालती है। जब जीभ के मध्यभाग को तालु से लगाकर हटाते हैं, "टट्-टट्" जैसी तिरस्कारपूर्ण ध्वनि निकलती है। मध्य तालू में जीभ के छोर को लगाकर जल्दी से हटाने से एक तीसरी

आवाज़ निकलती है, जब जीभ के बीच और मध्य तालु से आवाज़ निकलती है वह ऐसी होती है जैसी कि घोड़े को हांकने के लिए निकाली जाती है। इस भाषा के ध्वनि-मिश्रण कितने जटिल हैं यह तभी स्पष्ट हो सकता है जबकि यह समझ लिया जावे कि यह क्लिक अन्य मूक और अमूक व्यंजनों और स्वरों, सानुनासिक या निरनुनासिकों से विभिन्न स्वर-स्तरों पर मिलकर अर्थ देने वाले शब्दों को बनाते हैं।

इसीसे पूरी कहानी समाप्त नहीं हो जाती। स्थानीय-विराम (Gtottal stop) जैसी विधियां पौलिनेशियाई भाषाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—अर्थात् उच्चारित किये जाने वाले स्वरों को पृथक् कर देना, जैसा कि जब मां अपने बच्चे को "ए-ए-ए-ए-ए-" कह कर डांटती है। अमरीका में हवाई द्वीप के नाम का उच्चारण **हवाया** है, जो कि वस्तुत, **हवाई**' ई Hawai' i) है। (द्विस्वरमिश्रित **आई** (ai) के बाद अपोस्ट्रोफी श्वास के विराम को सूचित करता है) अमरीकी उच्चारण **हवाया** यह संकेत करता है कि जिन बोली समुदायों में स्थानीय विराम का नियम नहीं होता वहां ऐसे रूप का क्या हो जाता है; वहां पर विराम तभी होते हैं जबकि दो शब्द एक ही व्यंजन से शुरू और समाप्त होते हैं, जैसे कि "दिस सौंग", इस वाक्यांश में इनका पृथक् उच्चारण होना चाहिए। स्वराघात (Stress), अवधि (Duration) और टौन (Tone) अन्य ग्राम-तत्त्व हैं। **सो** (So) के मेल में पहले व्यंजन **स** का लाइबेरिया की क्रू भाषा में अर्थ है "दो"; किन्तु जब स को दीर्घ कर दिया जाता है तब स. ओ (s. ō) शब्द का अर्थ होता है "सड़ा हुआ।" अन्य अफ्रीकी भाषा ईबो में एकवा, (ákwá) शब्द जिसमें प्रत्येक स्वर का दीर्घ उच्चारण होता है, अर्थ "चिल्लाना" है। जब पहला स्वर दीर्घ और दूसरा स्वर ह्रस्व है, जैसे एकव, इसका अर्थ "कपड़ा" है; जब पहला ह्रस्व और दूसरा दीर्घ है तब (एकवा) "अंडा" है, जब दोनों ह्रस्व हैं (एकव) तब "पुल" है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार विभिन्न भाषायें ध्वनि-समुच्चयों को बनाने के लिए, जिन्हें कि विशेष अर्थ दिये जाते हैं, विभिन्न ध्वनियों के क्रमों और अन्य सहायक विधियों का प्रयोग करती हैं। किन्तु हम यह भी देखते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक क्रम अपनी समग्रता में मानव प्राणी के वाक्-यंत्र द्वारा प्रस्तुत सम्भावनाओं का एक चुनाव मात्र है। यह हमें प्रत्येक भाषा की ग्राम-प्रणाली के दो प्रमुख तथ्यों, **संगति** (Consistency) और **सीमितता** (Limitation) की ओर ले जाता है। बोआस ने इस बात को इन शब्दों में कहा है: "मानव बोली के ध्वनि-शास्त्र से सम्बन्धित एक सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रत्येक पृथक् भाषा में निश्चित और सीमित ध्वनि में समूह हैं और किसी एक बोली में प्रयुक्त उनकी संख्या कभी भी बहुत अधिक नहीं है।"[६] यदि भाषा को संचार के साधन के रूप में कार्य करना है तो यह दोनों तत्त्व ही आवश्यक हैं। यही कारण है कि हम मानीकरण (Standardisation) का सामना करते हैं जो श्रोता को व्यक्तिगत उच्चारण की गौण

६. एफ० बोआस, १९११, पृ० १६।

विशेषताओं की उपेक्षा करने देता है और हम केवल उन सीमित संख्या की ध्वनियों को ही **"सुनते हैं"** जो कि उस सुन्दर प्रतिमान को बनाती हैं जिसे हम भाषा कहते हैं।

३

शब्द क्या है? इस अवधारणा की कई परिभाषायें दी गई हैं। बोआस ने शब्द की परिभाषा की है, "एक ध्वनि-समूह जिसे उसके रूप में स्थायित्व, अर्थ की स्पष्टता और ध्वनि-स्वातंत्र्य के कारण सम्पूर्ण वाक्य से तत्काल पृथक् किया जा सकता है।"[७] ऐसी अनेक भाषायें हैं जिनमें हमें ग्रामों के ऐसे मेल मिलते हैं जो शब्द की भांति दीखते हैं किन्तु हम उन्हें वाक्य ही कहेंगे, बावजूद इस तथ्य के कि इस सम्पूर्ण संकुल में कोई भी तत्त्व अंग्रेज़ी प्रत्यय (Suffix)-अड, (ed), जिसका अर्थ भूत काल है, (डिपार्ट, डिपार्ट-अड), की भांति अलग किया जा सकता है।

सपिर ने यूटाह के पायूट इंडियनों की भाषा से "शब्द-वाक्य" का एक उदाहरण दिया है। **वी-टी कुचुम-पुनकू-रुगानी-युगवी-वा-नतू-म (यू)**, जिसका अर्थ है "वे जो बैठने और चाकू से काली गाय (या बैल) काटने जा रहे हैं।" इसके तत्त्वों के क्रम में इसका शब्दशः अनुवाद है, "चाकू-काला-भैंस-बच्चा-कटा-हुआ-बैठेंगे।" सापिर ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या जिन अर्थों में हम शब्द, शब्द का प्रयोग करते हैं, यह वस्तुतः शब्द है, या इस प्रकार के किसी मेल को बोआस की परिभाषा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वह कहता है, "सच तो यह है कि कृत्यात्मक दृष्टिकोण से शब्द की परिभाषा करना असम्भव है, चूंकि शब्द एक पृथक् अवधारणा की अभिव्यक्ति है, जो मूर्त या अमूर्त या विशुद्ध सम्बन्धवाचक (जैसे कि का, या, के, में आदि) से लेकर एक सम्पूर्ण विचार तक की अभिव्यक्ति हो सकती है (जैसे कि लैटिन में **डिको** "मैं कहता हूं" या और अधिक सूक्ष्मता से नूटाका के एक क्रियारूप में जिसका अर्थ है कि "मैं बीस गोल वस्तुएं (उदाहरण के लिए सेब) खाने का अभ्यस्त रहा हूं, जबकि (यह या वह काम करने में) लगा होता हूं।') बाद के उदाहरण में शब्द वाक्य के समान बन जाता है।"[८]

भाषा के विश्लेषण में भाषाविदों ने **"सम्बन्ध-तत्त्व"** (Morpheme) की अवधारणा को अपनाया है। सम्बन्ध-तत्त्व भाषा-रूप की इकाई है, जिसमें ध्वनि की एक या उससे अधिक इकाइयां (ग्राम) और उसके साथ एक अर्थ की इकाई होती है। दो प्रमुख प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व माने गये हैं: "मुक्त सम्बन्ध-तत्त्व", जिन्हें कि शब्दों की भांति अलग प्रयोग किया जा सकता है और "संयुक्त सम्बन्ध-तत्त्व" जैसे कि उपसर्ग और प्रत्यय जो कि "असली भाषा-रूप हैं और एक अर्थ देते हैं, किन्तु—वह एक बड़े रूप के अंश के तौर पर ही रचना में आते हैं।"[९] संयुक्त सम्बन्ध-तत्त्वों का कभी भी वाक्य के रूप में प्रयोग नहीं किया

---

७. वहीं, पृ० २८।
८. ई० सापिर, १९२१, पृ० ३२-३।
९. एल० ब्लूमफील्ड, १९३३, पृ० १७७-८।

जाता। इसके उदाहरण काउन्टेस में **एस** या ग्रीनिश में **इश** या हैटस् में **स्**, हैं, जबकि इन्हीं शब्दों में काउन्ट ग्रीन और हैट मुक्त सम्बन्ध-तत्त्व हैं, चूंकि इनका पृथक् प्रयोग किया जा सकता है। पायूट और नूटका से ऊपर उद्धृत शब्द-वाक्यों के विश्लेषण की कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं जबकि हमारे विश्लेषण की इकाई सम्बन्ध-तत्त्व है, जिसे अनिवार्यत: वह "ध्वनि स्वातंत्र्य" प्राप्त नहीं होता जो कि एक शब्द को प्राप्त है।

इस प्रकार शब्द की परिभाषा "एक अल्पतम मुक्तरूप या एक मुक्त-रूप जो पूर्णतया (दो या अधिक) गौण मुक्त-रूपों से नहीं बना होता।" की जा सकती है।"[10] इस परिभाषा के अनुसार, शब्दों को मुख्य और गौण में बांटा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक के दो उपप्रकार हैं। गौण शब्द समास (Compound) या आगत (Derived) हैं। "हैट-रेक" जैसे समस्त शब्दों में एक से अधिक मुक्त सम्बन्ध-तत्त्व हैं, चूंकि हैट और रैक दोनों ही शब्दों का स्वतंत्र प्रयोग हो सकता है। आगत गौण-शब्द एक मुक्त सम्बन्ध तत्त्व और एक या एक से अधिक संयुक्त सम्बन्ध-तत्त्व से मिलकर बनते हैं, जैसे कि "बोय-इश" (Boy-ish)। प्रमुख शब्द वह हैं जिनमें संयुक्त सम्बन्ध-तत्त्व के साथ एक मुक्त सम्बन्ध-तत्त्व नहीं होता। वे "सम्बन्ध-तत्त्व-शब्द" हो सकते हैं, जैसे कि "मानव", "लड़का", "बिल्ली", "दौड़ना" या "देखना", जहां कि शब्द सम्बन्ध-तत्त्व के समान है; या वह आगत प्रमुख शब्द हो सकते हैं, जो कि दो या अधिक संयुक्त सम्बन्ध-तत्त्वों से मिलकर बनते हैं, जैसे "रि-सीव" (Re-ceive) या "रि-टेन" (Re-tain)।[11]

भाषा के अध्ययन में शब्द-रचना इतनी बुनियादी है कि भाषाविदों द्वारा भाषा के वर्गीकरण में प्रयुक्त बहुप्रचलित प्रणालियों में से एक प्रणाली के मानदंड के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। यह भाषाओं को आयोगा (Isolating), योगात्मक (Agglutinative), श्लिष्ट (Inflective) और संयोगात्मक (Poly-synthelic) मानती है। चीनी भाषा पहले का उदाहरण है, जिसमें जब अवधारणाओं के एक क्रम को व्यक्त किया जाता है, स्वतंत्र इकाइयां सिर्फ अनुसरण करती हैं। तथाकथित आयोगा बोली का एक उदाहरण पश्चिमी अफ्रीका की फोन भाषा से दिया जा सकता है, इसके **नामोमनावे** शब्द का अर्थ "पत्नी-विनिमय" है। इसे तोड़ने पर यह निम्न घटकों से बना है : **ना**—दो; **मो**—हमें; **या**—हम; **ना**—दो; **वे**—तुम—"दो-हमें-हम-देते-तुम्हें।" योगात्मक भाषायें उन पृथक् रूपों को जो एक दूसरे के बाद आते हैं या उपसर्ग और प्रत्यय के साथ प्रयोग होते हैं, शब्दों में बांधती हैं। श्लिष्ट भाषाओं में मुक्तरूपों के साथ उपसर्ग या प्रत्यय जोड़ कर अर्थ बदल जाते हैं; हिन्द-यूरोपीय भाषायें श्लिष्ट भाषायें हैं। संयोगात्मक भाषायें वह हैं जिनमें विचारों को बहुत अधिक

---

१०. वहीं, पृ० २०९।
११. वहीं, पृ० २०९।

मात्रा में संयोग कर व्यक्त किया जाता है। कुछ अमरीकी इंडियन भाषायें इसी श्रेणी में आती हैं और ऊपर दिये शब्द-वाक्य के उदाहरण इसे स्पष्ट करते हैं। यह वर्गीकरण शब्द-रूप या व्याकरण संरचना, या भाषा के किसी अन्य एक पहलू के आधार पर बनाये गये वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक संतोषनजनक नहीं हैं, यह आपत्ति अप्रासंगिक है। यहां हम भाषा के अध्ययन में शब्द-रचना के महत्व को बताने के लिए इसका ज़िक्र कर रहे हैं।

प्रत्येक भाषा में अर्थ देने की विधियों में बहुत अन्तर है, किन्तु प्रत्येक ही एक निश्चित और स्पष्ट प्रतिमानित व्यवहार का अनुसरण करती है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी उपसर्गों और प्रत्ययों में बहुत समृद्ध है, किन्तु इसमें मध्य-विन्यस्त (Infix)—एक ध्वनि मिश्रण जिसे कि एक रूप के बीच में उसका अर्थ बदलने के लिए जोड़ दिया जाता है, का प्रयोग नहीं है। उदाहरण के लिए, पुर्तगाली में **डिसर,** कहना क्रिया का भविष्यत्, अन्य पुरुष, एकवचन रूप डिरा है। इस काल में सर्वनाम का रूप भविष्यत् क्रिया के अक्षरों के बीच जोड़ दिया गया है, जिससे **डिर-दे-हा,** "वह उससे कहेगा", यह बनता है। फिलीपाइन की बौनटौक इगोरोट भाषा में जहां **टेनगाओ** का अर्थ **"छुट्टी मनाना",** है, **टुमेनगाओ-अक (ट-उम-एनगाओ-अक)** का अर्थ है "मैं छुट्टी मनाऊंगा।" सीऊ भाषा में **चटी** क्रिया "आग बनाना" से, **चेवाटी** "मैं आग बनाता हूं" निकला है, इसमें मध्य-विन्यस्त, **वा** का **अर्थ** "मैं" है।

पुनरावृत्ति (Reduplication) यद्यपि अंग्रेज़ी में बहुत कम प्रयुक्त होती है, फिर भी "सो-सो" या "बूम-बूम" जैसे रूपों में मिलती है। यह उन अंग्रेज़ी-भाषी बच्चों की बोली में अधिक प्रचलित है जो कि भाषा में दक्षता नहीं पा सके हैं, जैसे कि "फार, फार" का पर्याप्त फासला बताने के लिए प्रयोग किया जाना है। क्वाक्युत्ल इंडियनों की भाषा में पुनरावृत्ति नियमित रूप से एक कार्य के कभी-कभी दोहराने को व्यक्त करने के लिए प्रयोग की जाती है : **मेक्सा**="सोना" **मेक्समेक्सा**= "बारम्बार सोना" **हनला**="निशाना लगाना", **हन्ट-हनला**="बारम्बार निशाना लगाना।" सरमका बुश नीग्रोओं की बोली में पुनरावृत्ति एक क्रिया को संज्ञा में बदल देती है : **हेसी**="तेज चलना", **हेसीहेसी**="रफ़्तार", **नियाम**="खाना खाना", **नानियाम** या **नियामनियाम**="भोजन"।

अन्दर के स्वर को बदल कर प्रायः अर्थ को बदल दिया जाता है जैसे कि अंग्रेज़ी में "मैन—मेन" (man—men) या "सिंग—सैंग" मिलते हैं। व्यंजन परिवर्तन प्रायः कम होता है किन्तु कभी-कभी विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त होता है। जैसे कि अंग्रेज़ी में "राइज" (rise) का उच्चारण ज़ेड से किया जाता है, जबकि क्रिया के रूप में इसका प्रयोग होता है, परन्तु जब हम एक राष्ट्र नेता के उत्थान का जिक्र करते हुए, संज्ञा के रूप में (rise) का प्रयोग करते हैं, तो इसका उच्चारण एस से (राइस) होता है।

"महत्त्वपूर्ण टोन" का, जिसमें एक ही ध्वनि संकुल का भिन्न स्वर-स्तर से उच्चारण किया जाता है, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, उससे कहीं अधिक

विस्तृत प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ और व्याकरण दोनों में प्रयोग हो सकता हैं, जिससे एक शब्द का अर्थ बदल जाता है या वह निदर्शनार्थ प्रदर्शित क्रिया रूप (Paradigm System) का आधार बनते हैं। जब टोन का ज़िक्र किया जाता है तब प्रायः चीनी भाषा ध्यान में आती है, किन्तु अनेक अमरीकी इंडियन भाषाओं में भी महत्त्वपूर्ण टोन हैं और अधिकांश अफ्रीकी भाषाओं की स्वर-स्तर-भिन्नता प्रमुख विशेषता है जो उन्हें संगीतमय रूप प्रदान करती है। दक्षिणी अफ्रीका के शोना की भाषा में जहां **'एड्ज़ो'** का अर्थ (ऊंचे स्वर में) "छाल का रस्सा" है, वहां (नीचे स्वर में) उसका अर्थ "कबीला" है; **एड्ज़ा** का अर्थ "प्रयत्न करना है"; परन्तु समस्वर में उसका अर्थ "मछली" हो जाता है; इसी प्रकार टोन के भेद से **"रम्बा"** (Rambà) का अर्थ "नपुँसक करना" या Rambà "कूड़ा"; 'चूरो' (Chúro) का अर्थ "अनाथ" और (Churò) "रखना" होते हैं। एक पड़ौसी भाषा ज़ुलु में इसी प्रकार न्यागा (n'yga) का अर्थ "चन्द्रमा" और (nyàgà) डाक्टर हो जाते हैं।

४

शब्दों के रूपों और व्याकरण का अध्ययन भाषा की ध्वनियों के विश्लेषण से इस अंश में भिन्न है कि जहां ध्वनियां अपने आप में निरर्थक हैं, वहां शब्द तथा उनके मेल सदा अर्थ प्रदान करते हैं, इसीलिए भाषाविदों ने ग्रामों (Phoneme) के अध्ययन को व्याकरण से पृथक् कर दिया है। स्वयं व्याकरण शब्द-विज्ञान (Morphology) जिसका सम्बन्ध शब्द संरचना से है, और वाक्य-विज्ञान (Syntax), जो कि शब्द किस प्रकार वाक्यांशों और वाक्यों के बड़े समूहों में मिलाये जाते हैं इससे सम्बन्धित है, इन दो भागों में बंटा हुआ है।

संस्कृति के अन्य पहलुओं की भांति, एक भाषा की वाक्य-रचना उसके बोलने वाले को बहुत स्पष्ट, तर्कसंगत, पृथक् और अपरिवर्तनीय लगती है। अपनी भाषा ही वह साधन नज़र आता है जिससे कि अनुभवों को समझा जा सके और अन्य व्यक्तियों तक उन्हें संक्रमित किया जा सके। तथापि यहां पर हम लाइबेरियन भाषा क्रू में "काटना" क्रिया के रूपों पर विचार करते हैं। हम उक्त भाषा के मूल शब्दों को दिये बिना, अनुवाद से ऐसा कर सकते हैं, चूंकि हम यहां पर केवल श्रेणियां जानना चाहते हैं।

वर्तमान

मैं अब काटता हूं।
मैं अभी अभी काट चुका हूं।
मैं अभी काटना जारी रखे हुए हूं।

आसन्नभूत

मैंने कुछ ही देर पहले काटा।
मैंने कुछ ही देर पहले कई बार काटा।
मैं कुछ देर पहले काटता रहा।
मेरे मन में कुछ देर पहले काटने का विचार था किन्तु मैंने नहीं काटा।

पूर्णभूत

मैंने बहुत समय पहले काटा।

मैंने बहुत समय पहले कई बार काटा।

मैं बहुत समय पहले काटता रहा।

मेरे मन में बहुत समय पहले काटने का विचार था किन्तु मैंने नहीं काटा।

निकट भविष्यत्

मैं जल्दी ही काटूंगा।

मैं बारम्बार जल्दी काटूंगा।

मैं जल्दी काटता रहूंगा।

अनिश्चित भविष्यत्

मैं एक अनिश्चित समय में भविष्य में काटूंगा।

मैं बारम्बार भविष्य में अनिश्चित समय में काटूंगा।

मैं भविष्य में एक अनिश्चित समय में काटता रहूंगा।

वर्तमान आपेक्षक (Reflexive)

मैं अपने को काटता हूं।

मैं अपने को काटने के बीच में हूं।

मैं अपने को काटता जा रहा हूं।

आसन्नभूत आपेक्षक

मैंने कुछ ही देर पहले अपने को काटा।

मैंने कुछ देर पहले अपने को कई बार काटा।

मैं कुछ देर पहले अपने को काटता रहा।

प्रकार और कालों के इस क्रम में क्रिया की जिस प्रकार कल्पना की गई है वह अंग्रेज़ी या हिन्दी से स्पष्ट ही भिन्न है। यहां हमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् मिलते हैं जिनसे हम परिचित हैं, किन्तु यहां पर समय की दूरी को भी ध्यान में रखा गया है। यह भी बताया गया है कि कर्म जारी है या रुक रुक कर होने वाला है, या वह भविष्य में एक निर्दिष्ट समय पर होगा या एक अनिश्चित अवधि में, और एक रूप में इरादे का भी संकेत किया गया है। यह द्रष्टव्य है कि भविष्यत् रूपों में क्रिया का आपेक्षक रूप नहीं दिया गया है, यद्यपि अन्य क्रियाओं की भांति उसको भी भविष्यत् रूप में दिया जा सकता था। किन्तु उदाहरण में दी गई क्रिया-विशेष के साथ एक विशेष अर्थ जुड़ा हुआ है। इसका अर्थ "काटना" है, यह सत्य है, किन्तु इसमें इरादा निहित है। इसलिए क्रू के लिए एक व्यक्ति की यह घोषणा कि "मैं जानबूझ कर अपने को काटूंगा"—भविष्यत् आपेक्षक—कोई अर्थ नहीं रखता और इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

बोली के अन्य रूपों में भी इसी प्रकार की भिन्नताओं का विस्तार पाया जाता है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी में "दिस" और "दैट" (बहुवचन के साथ) निर्देशात्मक सर्वनाम पर विचार कीजिए, यह वास्तव में "समीप स्थित" व

"दूर स्थित" का निर्देश करते हैं। उत्तरी अमरीका के उत्तरी पश्चिमी तट की टिलिनगिट् भाषा में **'ही'** उस वस्तु का निर्देश करता है जो कि बहुत निकट तथा सदा विद्यमान है; **'या'** उस वस्तु का जो बहुत निकट और विद्यमान है, किन्तु कुछ दूरी पर है; **'यू'** उस चीज के लिए जो उससे भी दूर है, और प्रायः अनिश्चित अर्थों में, अंग्रेजी आर्टिकल 'दि चेयर, 'ए होर्स' की भांति प्रयुक्त होता है, जबकि 'वी' एक अत्यन्त दूर और प्रायः अदृश्य वस्तु के लिए प्रयोग में आता है।

लिंग (Gender) एक अन्य उदाहरण है जिससे अनुभव द्वारा श्रेणियों की भिन्नता व्यक्त होती है। यह अनुभव अंग्रेजी भाषाभाषियों को लिंग (Sex) के आधारपर भेद करने का आदेश देता है। परन्तु लिंग-वर्गीकरण का यही एकमात्र तरीक़ा नहीं है। पश्चिमी अफ्रीका की अनेक भाषाओं में लिंग भेद करने के लिए कोई शब्द नहीं है जैसे कि अंग्रेजी में "ही" (वह आदमी) "शी" (वह स्त्री), "इट्" (वह जड़ पदार्थ) हैं। विशेष अवस्थाओं में भिन्न शब्दों के द्वारा जैसे कि "पिता" या "माता," या "पुरुष" और "स्त्री" के लिए शब्दों को जोड़ कर लिंग भेद किया जाता है। किन्तु इन्हीं भाषाओं में वह रूप हैं जो "बड़े" और "छोटे" या जीवित या जड़ प्राणियों में, या व्यक्तियों और वस्तुओं में भेद करते हैं। यह अलगोनकी समूह की अमरीकी इंडियन भाषा फोक्स की भांति है, जिसमें कि वस्तुओं के अनुभव के वर्गीकरण में जीवित और जड़ रूपों की प्रभुता है। इस प्रकार **इनिग** "वे (जीवित)" है, जबकि **इनिन** "वे (जड़)" है। "कुत्ते" के लिए शब्द है **आनीमो,** "मेरा कुत्ता" है=**नेटानेमो-हेम**। इस भाषा में "चट्टान" है **आसेन,** "मेरी चट्टान" बन जाती है=**नेटासेनिम।** अंतिम स्वर, **ए** जीवित संज्ञाओं और—**इ** जड़ संज्ञाओं के साथ होता है।

व्याकरण की एक अन्य विधि जो कि वर्गीकरण (Classification) और साम्य (Concordance) के सिद्धान्तों को जन्म देती है उपसर्ग (Prefix) का सूक्ष्म प्रतिमान है। अफ्रीकी महाद्वीप में रहने वाले लाखों बांटू भाषायें बोलने वाले इसका प्रयोग करते हैं। वर्गीकृत प्रणाली में, जिसमें सब घटनायें एक विवरणात्मक मानदंड के अनुसार संमिलित हैं, उपसर्ग एक शब्द के स्थान को बताते हैं। इनमें से कुछ वर्गों में "मानव प्राणी (पुरुष); पेड़ और पौधे, लकड़ी की चीजें और लम्बी वस्तुवें; गोल भारी वस्तुयें, पत्थर और भाववाचक संज्ञा; पत्तियां और रेशे और उनसे बनी हुई वस्तुवें, और सामान्यतः चपटी और पतली वस्तुयें; पेड़ों की टहनियां, फूटी हुई शाखायें; मानव और पशुओं के हाथ-पैर" सम्मिलित हैं।[१२] **बांटू** शब्द स्वयं वर्गीकरण के सिद्धान्त को दर्शाता है: **नटू** का अर्थ है "एक जीवित प्राणी"; **मु-नटू** का "एक आदमी"; **बा-नटू,** "लोग।"

बांटू भाषाओं में उपसर्गों की विभिन्न संख्यायें बताई गई हैं, किन्तु किसी एक निर्दिष्ट बोली में इनकी पन्द्रह और बीस के बीच संख्या बताना ठीक होगा।

---

१२. ए० वार्नर, १९३०, पृ०३९-४०।

इस बात से उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है और प्रयोग सरल हो जाता है कि सामान्य बांटू शब्द का मूल दो अक्षरों का है, जिसमें कर्ता-सर्वनाम, काल और कर्म-सर्वनाम बनाने के लिये उपसर्ग, प्रत्यय और कभी-कभी मध्य-विन्यस्त भी जोड़ दिये जाते हैं। प्रत्यय का प्रयोग कितना लचकीलापन दे देता है यह निम्न रूपों से देखा जा सकता है, जो कि **कांगआ** "बांधना" क्रिया से निकले हैं: कांगेमा, "बंधा हुआ होना"; **कांगेला** "के लिए या के द्वारा बांधना", **कांगाना** "एक दूसरे को बांधना", कांगिया "बंधवाना", कांगोला "खोलना", कांगोमेला "के लिए बांधा जाना," **कांगेनेला** "प्रत्येक को बांधना," **कांगोलेला** "के लिए खोलना या से खोलना" और इसी प्रकार।

अनेक विभिन्न रीतियों में से यह कुछ रीतियां हैं जिनसे भाषा निश्चितता-पूर्वक अर्थ प्रदान करती है और संचार (Communication) को सुनिश्चित करती हैं। शब्दक्रम या स्वराघात के सिद्धान्त जिनकी कि सापिर ने "वाक्य रचना सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के लिए प्राथमिक साधनों के रूप में" कल्पना की है और जिनसे कि "विशिष्ट शब्दों और तत्त्वों के वर्तमान सम्बन्ध सूचक अर्थ, मूल्यों के बदल जाने मे गौण रूप धारण कर लेते हैं",[13] यह भाषा की प्रकृति को अधिक गहराई में समझने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु यह अभी तक नहीं हो सका है। संस्कृति के विद्यार्थी के लिए विश्व के दृष्टिक्रम में भाषा की घटना में भिन्नता का तथ्य और प्रत्येक भाषा द्वारा प्राप्त विशेष संरचना की नियमितता, बोली के व्याकरण, ग्राम और शब्दकोष के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं।

५

संस्कृति के एक पहलू के रूप में भाषा के अध्ययन की महत्ता इससे भी स्पष्ट है कि यह उन दो में से एक मानदंड है जो कि मानव को अन्य प्राणियों से अलग करता है, जैसे कि जब हम कहते हैं कि मानव ही अकेला भाषा और औज़ार प्रयोग में लाने वाला जीव है, तब हम यह अनुभव करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मानव ही अकेला प्राणी है जो कि अपने साथियों तक अपने भाव पहुंचा सकता है या दूसरों को भिन्न अर्थ प्रेषित कर सकता है। उदाहरण के लिए एक कुत्ता गुर्राकर पर्याप्त सफलता से सावधान करता है और उस के भौंकने का तरीका विनोदपूर्ण, मैत्रीपूर्ण या शत्रुतापूर्ण भी हो सकता है। पशुओं के पास ध्वनि द्वारा सूचना देने की सूक्ष्म प्रणालियां हैं जो कि व्यवहार में एक-दूसरे को अपने भाव व्यक्त करने का साधन हैं।

यद्यपि मानव अनेक अन्य प्राणियों की भांति संवाद दे सकता है तथापि उसके संवादवहन की रीति उनसे सर्वथा भिन्न है। जन्मजात न होने के कारण, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का चुनाव मनमाना (Arbitrary) है, किन्तु साथ ही वह अपनी रचना में नियमित है। इसके विपरीत,

---

१३. ई० सापिर, १९२१, पृ० ११९।

पशुओं की ध्वनियां निश्चित हैं, जन्म-जात हैं और अत्यन्त सीमित क्षेत्र को प्रदर्शित करती हैं। मानव से निचले प्राणियों के संवादवहन में भाषा का वही स्थान है जो कि अन्य पशुओं की सामाजिक संरचनाओं में मानव सामाजिक संस्थाओं का है। संस्कृति के अन्य समस्त पहलुओं की भांति भाषा में अत्यन्त भिन्नतायें ही नहीं हैं, परन्तु चूंकि यह सीखी जाती है इसलिए इसमें कालान्तर में उसी प्रकार का संचय होता रहता है जो कि समग्ररूप से संस्कृति में व्यक्त होता है।

संचय का यह कारक एक समस्या उत्पन्न करता है जो कि सामान्यतया उससे भिन्न नहीं है जोकि संस्कृति के किसी अन्य पहलू में परिवर्तन के विद्यार्थी के सम्मुख आती हैं। फिर भी एक बात है जिस पर हमें यहां पर विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि यह मुख्यतया, यद्यपि एकान्ततः नहीं, भाषा के प्रयोग की समस्या है। यह भाषा के परिवर्तन पर लेखनकला की विद्यमानता के प्रभाव का प्रश्न है। निस्संदेह याद रखने या स्मृति सहायक अन्य विधियों की अपेक्षा लेखनकला ज्ञान को संचित करने का कहीं अधिक प्रभावशाली साधन है, फिर भी लिखने द्वारा स्मृति में सहायक के रूप में लेखनकला एक साक्षर समाज में भाषा-परिवर्तन को बढ़ाती या घटाती है, इस प्रश्न से इसका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दीखता। यदि हम अपने इतिहास में अपेक्षाकृत अल्प काल में लौटें, तो हम देखते हैं कि यद्यपि हमारी संस्कृति अनेक शताब्दियों से साक्षर है, उसमें परिवर्तन सदा अधिक तेज़ नहीं रहा है। फिर भी आज पाई जाने वाली विभिन्न लिखित भाषाओं का विकास इस तथ्य को निःसंदेह दर्शाता है कि उनमें परिवर्तन होते हैं। इसके विपरीत, अलिखित भाषाओं की नियमितता अत्यन्त अधिक अंश में स्थिरता को भी बताती है। उनकी नियमितता इस विचार का खंडन करती है, कि चूंकि वह अलिखित हैं इसलिए लिखित भाषाओं की अपेक्षा उनका सांचा कम टिकाऊ होना चाहिए, जैसा कि उनसे अपरिचित कुछ लोगों का विचार है।

यह स्पष्ट है कि अलिखित भाषाओं में परिवर्तन को खोजने के लिए हमारे पास वह साधन नहीं हैं जो कि लिखित भाषाओं में परिवर्तन के अध्ययन के लिए सुलभ हैं। चूंकि वह अलिखित हैं अतः हमें प्रारम्भिक अन्वेषकों द्वारा लिखे गये शब्दों या वाक्यांशों (जो प्रायः बहुत ही अपूर्ण रीति से उतारे गये हैं) की विरल सामग्री का आश्रय लेना पड़ता है, या दूसरी ओर हमें वर्तमान भाषा से अतीत की भाषा का अधिक विश्वस्त पुनर्निर्माण करना होता है। किन्तु जहां लिखित भाषाओं का सम्बन्ध है वहां हम समस्या पर अभिलेखों और साथ ही पुनर्निर्माणों के द्वारा खोज कर सकते हैं। इस प्रकार हम ऐलीज़ाबेथ के काल में और आज प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के अर्थों की तुलना कर सकते हैं। उदाहरण के लिए तब "फिस्ट" शब्द का अर्थ केवल "हाथ" था। और इसलिए तब एक कवि "माइ लेडीज़ डेन्टी फिस्ट" पर एक सौनेट लिख सकता था। असंस्कृत भाषा (Slang) इसका एक अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार लिखित भाषा के पुराने शब्दों में नये अर्थों को पढ़ा जा सकता है, और जबकि पुराणपंथी वैयाकरण इस पर अपनी वेदना

प्रकट करते हैं कि वह "इट इज़ मी" "यह मैं हूं" जैसे अशुद्ध प्रयोगों को रोकने में असमर्थ हैं, यह भी इस प्रक्रिया का अन्य प्रमाण है। व्यापारिक बोलियां, विभिन्न बोली—समुदायों की भाषायें, जैसे कि थियेटर या जैज़-संगीत के अनुरागियों की शब्दावलि, लिखित भाषा में परिवर्तन के अन्य उदाहरण हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि लिखने की परिस्थिति भाषा के परिवर्तन को अपेक्षया कम ही प्रभावित करती है, यद्यपि जो साक्षर हैं वह लेखन-कला और भाषा दोनों को प्रायः पर्यायवाची मानते हैं। फिर भी लिखे जाने वाले रूपों से बोलने के रूप परे हैं, और बोली में व्यक्त होने वाली भाषा निरंतर बदलती रहती है। उच्चारण या शब्दों के प्रयोग की व्यक्तिगत भिन्नतायें अन्य लोगों द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं और इस प्रकार यह भिन्नतायें विभिन्न बोलियों और यहां तक कि परस्पर न समझेजाने वाली बोलियों में, जिन्हें कि हम भाषायें कहते हैं, विकसित हो सकती हैं। यद्यपि लेखनकला मानवजाति की एक महान् सफलता है, फिर भी वह उसका प्रयोग करने वालों की बोलने की आदतों के निर्धारण की अपेक्षा उनका अनुसरण करती है।

अर्थ की समस्या भाषा के कृत्य को समझने के लिए बुनियादी है, यहां तक कि संस्कृति में एक निर्णायक तत्व है। चूंकि ध्वनियों के सार्थक संकुलों के उच्चारण और परिणामस्वरूप उनके समझने से ही मनुष्य अपनी इच्छायें व्यक्त करते हैं, अपना ज्ञान दूसरों को देते हैं तथा अपने मूल्यों को सिखाते हैं। तथापि, तत्त्वतः, अनुभव के प्रतीक ध्वनि-संकुल और अनुभव के आरोपण इतने मनमाने होते हैं कि हम हैरत में पड़ जाते हैं कि किस प्रकार मनुष्यों ने निर्दिष्ट ध्वनियों के समूहों को अत्यन्त अमूर्त अवधारणाओं से संयुक्त किया और शब्दों के प्रयोग से विचारों को दूसरों तक पहुंचाया।

संस्कृति के विद्यार्थी के लिए अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भाषा अन्वेषण के समृद्ध साधन जुटाती है। संस्कृति के किसी अन्य पहलू के रूपों की भांति इसके विविध जटिल रूपों का उनकी संरचनाओं और परिवर्तन की रीतियों के प्रसंग में विश्लेषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त, भाषा के प्रतीकात्मक रूप एक प्रथा की संस्था में सबसे कम मूर्त तत्त्वों—उन मूल्यों, लक्ष्यों, व आदर्शों को जो कि आचार का निर्देशन करते हैं और परम्परा को नियंत्रित करते हैं—और साथ ही संस्कृति की गहरी जड़ों को प्रकट करते हैं, समझने में सहायक हैं। वस्तुतः इस प्रकार के प्रतीक हमें भाषा को, जैसा कि कहा गया है, "संस्कृति की एक देशना" और विस्तृततम अर्थों में संस्कृति का वाहक मानना उचित ठहराते हैं।

खण्ड तीन

संस्कृति

का

स्वरूप

अध्याय सोलह

संस्कृति की यथार्थता

संस्कृति की अनेक परिभाषायें हैं। क्रोबर और क्लकहान ने संस्कृति की परिभाषाओं और उनसे सम्बन्धित अवधारणाओं की समीक्षा करते हुए इस शब्द की एक सौ आठ विभिन्न परिभाषाओं को गिनाया है।[1] इस पर सामान्य सहमति है कि संस्कृति सीखी हुई वस्तु है, यह मनुष्य का प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण से अनुकूलन स्थापित कराती है, यह अत्यन्त परिवर्त्तनीय है, यह संस्थाओं, विचार-प्रणालियों तथा भौतिक वस्तुओं में व्यक्त होती है। प्रारम्भिक परिभाषाओं में सर्वश्रेष्ठ परिभाषा ई० बी० टाइलर ने दी है। उसने बताया है कि संस्कृति "वह समग्र संकुल है जिसमें समाज के सदस्य की हैसियत से मनुष्य द्वारा ग्रहण किये गये ज्ञान, विश्वास, कला, कानून, रिवाज़ और अन्य योग्यताओं और अभ्यास का समावेश है।"[2]

इस अवधारणा का संक्षिप्त तथा उपयोगी चित्रण यह है: **संस्कृति वातावरण का मानव द्वारा निर्मित अंश है।** यहां यह अन्तर्निहित है कि मानव जीवन एक प्राकृतिक आवास और सामाजिक "वातावरण" में बिताया जाता है। इसमें यह भी निहित है कि संस्कृति केवल प्राणिशास्त्रीय घटना नहीं है। संस्कृति में मानव की वह सब परिपक्व प्राप्तियां सम्मिलित हैं जो कि उसने अपने समूह से बोधपूर्वक व नियंत्रण में रहकर सीखी हैं—विभिन्न प्रकार की प्रविधियां, सामाजिक और अन्य संस्थायें, विश्वास और व्यवहार की व्यवस्थित रीतियां। संक्षेप में, संस्कृति को उन बाहरी और अन्दरूनी कच्ची सामग्रियों से जिनसे वह उत्पन्न होती है, पृथक् किया जा सकता है। प्राकृतिक जगत् द्वारा प्रदत्त साधनों को वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है, जबकि जन्मजात गुण ऐसे ढाले जाते हैं कि वह अन्तर्निहित योग्यताओं से वह प्रतिक्रियायें ग्रहण करते हैं, जोकि व्यवहार की बाह्य अभिव्यक्ति में प्रधान हैं।

मानव के अध्ययन में एक साधन के रूप में प्रयुक्त संस्कृति की अवधारणा प्रचलित संस्कृत (Cultured) शब्द के अर्थ से भिन्न है, इसलिए एक लकड़ी की खेंती (Digging stick) या एक पकवान के नुस्खे के लिए संस्कृति की अवधारणा का प्रयोग करने के लिए सोचने की विधि में कुछ संशोधन आवश्यक हो जाता है। संस्कृति की लोकप्रिय अवधारणा बहुत कुछ उसके अंतर्गत

---

१. ए० एल० क्रोबर और सी० क्लकहॉन. १९५२।
२. ई० बी० टाइलर, १८७४, जिल्द १, पृ० १।

आती है जिसे कि छात्रावास की परिभाषा कहा जाता है, और वह "सभ्य व्यवहार" (Refinement) के समानार्थक है। इस परिभाषा में यह अन्तर्निहित है कि वह व्यक्ति जिसमें "संस्कृति" है उसमें सभ्यता की उन वस्तुओं को प्राप्त और प्रयुक्त करने की योग्यता है जोकि मुख्यतः उन व्यक्तियों की सम्पत्ति है जिनके पास उन्हें सीखने के लिए पर्याप्त अवकाश है।

किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए प्रचलित अर्थों में "संस्कृत व्यक्ति" (Cultured person) हमारी संस्कृति का केवल एक विशेषीकृत अंग है। वह उसके लिये एक किसान, राज, इंजीनियर, नाली खोदने वाले, डाक्टर या अध्यापक से विशेष भिन्न नहीं है। प्रथाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। छोटे और पृथक्कृत समूहों में उस सामाजिक स्तरीकरण की गुँजाइश नहीं, जिसका होना ज़रूरी है, यदि प्रचलित अर्थों में एक संस्कृत व्यक्ति अपने आपको इन सांस्कृतिक कार्यों में लगाता है, ताकि उसे अपने गुज़ारे के लिए आवश्यक आर्थिक साधन प्राप्त हो सकें।

२

संस्कृति की मूल प्रकृति को समझने के लिए कुछ प्रकट विरोधाभासों का समाधान करना होगा, जो इस प्रकार हैं:

१. मानव के अनुभव में संस्कृति सार्वभौम है किन्तु इसकी प्रत्येक स्थानीय या प्रादेशिक अभिव्यक्ति अद्वितीय है।

२. संस्कृति स्थिर है किन्तु गतिशील भी है और निरन्तर और स्थायी परिवर्त्तन को व्यक्त करती है।

३. संस्कृति हमारे जीवनक्रम को व्याप्त करती और मुख्यतः निर्धारित करती है, फिर भी हमारे चेतन विचारों में यह बहुत ही कम प्रवेश करती है।

यह हम बाद में देखेंगे कि इन स्थापनाओं द्वारा कौन-सी बुनियादी समस्यायें खड़ी की गयी हैं और उनके प्रतीत होने वाले विरोधों को सुलझाना कितना कठिन है। यहां हम उन पर उसी अंश तक विचार करेंगे जहांतक कि वे संस्कृति की यथार्थता के तात्कालिक प्रश्न को छूते हैं।

१. यह अवधारणा कि मनुष्य ही एक अकेला जीव है जोकि संस्कृति निर्माता पशु है, इस बात को स्वीकार करती है कि संस्कृति सार्वभौम है और यह सभी मानव प्राणियों का गुण है। यदि निरपेक्ष रूप से विचार किया जाय, तो सभी संस्कृतियों में कुछ ऐसे सीमित पहलू हैं, जिनमें कि अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें बांटा जा सकता है, जैसा कि इस पुस्तक के पहले भाग में दिखा चुके हैं, जहां उन पहलुओं पर एक-एक कर विचार किया गया था। यहां संक्षेप में हम उन पहलुओं की पुनः समीक्षा करते हैं ताकि हम समझ सकें कि किस भांति संस्कृति की सार्वभौमता की अवधारणा में मानव अनुभव के सभी उप-विभाग अनिवार्यतः सम्मिलित हैं। पहले तो हमने यह देखा कि सभी लोगों के पास प्रौद्योगिक साधन हैं, जिनका कि वह अपने प्राकृतिक वातावरण से जीवन यापन

करने और दैनिक कार्यों के चलाने के साधनों की प्राप्ति में प्रयोग करते हैं। वह जो कुछ इस प्रकार पैदा करते हैं, उसे वितरित करने के लिए उनकी एक अर्थ-व्यवस्था है जो कि उन्हें उन "सीमित साधनों" से, जिनका मितव्यय आवश्यक है, अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की क्षमता देती है। सभी में परिवार की संस्था या विभिन्न प्रकार की विस्तृत रिश्तेदारी की संरचनाओं और रक्त-बंधनों के अतिरिक्त अन्य संबंधों पर आधारित समुदायों को औपचारिक स्थान मिला है; उनमें से कोई भी अराजकता की अवस्था में नहीं रहतीं, प्रत्युत किसी-न-किसी प्रकार के राजनैतिक नियमों को कायम रखती हैं। सब में जीवन का कोई दर्शनशास्त्र अर्थात् धार्मिक प्रणाली है। सौंदर्य, संगीत, नृत्य और कथा, सौन्दर्यात्मक तृप्ति के लिए चित्रकला व मूर्तिकला के रूप, विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा और जीवन को सार्थकता और तीव्रता प्रदान करने के लिए स्वीकृतियों और आदर्शों की प्रणाली के साथ हमने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के संक्षेप को समाप्त किया है, जोकि समग्र संस्कृति की भांति सभी मानव समूहों के समान गुण हैं।

फिर भी कोई व्यक्ति जिसका कि अपने से भिन्न जीवन-रीति वाले व्यक्तियों से, थोड़ा भी सम्पर्क है, चाहे वह समूह उसके ही देश के दूसरे भाग में रहने वाला हो, यह जानता है कि दो समूहों की प्रथायें अपने व्यौरे में बिल्कुल एक-सी नहीं हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति अपनी जनसंख्या के वर्तमान व अतीत अनुभव का परिणाम है और परम्परा की प्रत्येक रचना को अतीत का जीवित प्रतिनिधि समझना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि जब तक हम संस्कृति के अतीत को ध्यान में न रखें, ऐतिहासिक साधनों की सभी प्राप्त विधियों का प्रयोग न करें, और उसकी पृष्ठभूमि तथा विकास को समझने के लिए अन्य जीवन-रीतियों तथा पुरातत्व की साक्षियों का प्रयोग न करें, संस्कृति को नहीं समझा जा सकता।

वास्तव में हमारा पहला विरोधाभास तभी सुलझ सकता है जबकि हम उसकी दोनों शर्तों को स्वीकार करें। संस्कृति की सार्वभौमता मानव सत्ता का गुण है। जहां कहीं भी संस्कृतियों का अध्ययन हुआ है, वहां इसका कुछ पहलुओं की श्रेणी में विभाजन भी सिद्ध हुआ है। दूसरी ओर कोई भी दो संस्कृतियां एक समान नहीं हैं, इसे भी वस्तुगत रीति से सिद्ध किया जा सकता है। जब इस तथ्य के निष्कर्षों को काल के विस्तार में व्यक्त किया जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना एक अद्वितीय विकास हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति के सार्वभौम तत्त्व उस ढांचे को जुटाते हैं जिसमें कि एक जनसमूह के विशेष अनुभव उसकी प्रथाओं के विभिन्न विशेष रूपों द्वारा व्यक्त होते हैं।

२. जब हम सांस्कृतिक परिवर्तन के विरुद्ध सांस्कृतिक स्थिरता को आंकते हैं, हमें सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि उपलब्ध साक्षी सिद्ध करती है कि

संस्कृति गतिशील है। पूर्णतया स्थिर संस्कृतियां वही हैं, जो कि मर चुकी हैं। परिवर्तन को समझने के लिए हमें अपने ही अनुभव पर ध्यान देना होगा। हमारे ऊपर परिवर्तन प्रायः इतने धीरे-धीरे आता है कि हम उसे, जब तक कि हम वर्तमान को अतीत में न देख सकें, जान ही नहीं पाते, अपना कुछ ही साल पुराना फोटो हमें देखने में मज़ा आता है, चूँकि वेशभूषा की शैली इस बीच में बहुत बदल गयी है। किन्हीं भी लोगों में इसका अध्ययन किया जा सकता है। उनकी संस्कृति के छोटे-छोटे ब्यौरों में ही, जैसे कि स्वीकृत डिजाइनों के परिवर्तन या खाना पकाने की नयी विधियों में, यह परिवर्तन व्यक्त होता है। किन्तु यदि एक लम्बे काल तक किन्हीं लोगों का अध्ययन किया जा सके और उनकी संस्कृति के अवशेषों को जमीन से खोद कर निकाला जा सके या उनकी रीतियों को किसी ऐसे पड़ौसी समूह की रीतियों से मिलाया जा सके जिनसे कि सामान्यतः उनकी संस्कृति मिलती है पर फिर भी उसके ब्यौरे में भिन्नता है, तो कुछ परिवर्तन सदा स्पष्ट दिखाई देगा।

इस प्रकार हम अपने दूसरे बाह्य विरोधाभास से मुक्त होते हैं। संस्कृति स्थिर और सदा परिवर्तनशील **दोनों है। सांस्कृतिक परिवर्त्तन को केवल सांस्कृतिक स्थिरता की समस्या के अंश के रूप में ही अध्ययन किया जा सकता है सांस्कृतिक स्थिरता की तभी समझा जा सकता है जबकि परिवर्त्तन को स्थिरता-प्रवृत्ति (Conservatism) के विरुद्ध मापा जा सके।** इसके अतिरिक्त, दोनों घटनाओं को एक-दूसरे के साथ मिलाकर समझना चाहिए। किसी निर्दिष्ट संस्कृति से सम्बन्धित स्थायित्व तथा परिवर्त्तन के निष्कर्ष बहुत अंश तक इस पर निर्भर हैं कि एक द्रष्टा किस अंश तक संस्कृति की स्थिरता-प्रवृत्ति या लचकीलेपन पर जोर देता है।

इस विषय का तात्कालिक महत्त्व है, क्योंकि यह सामान्य धारणा है कि अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा यूरोप तथा अमरीका की संस्कृति परिवर्त्तन के लिए अधिक उद्यत है। यह दृष्टिकोण कितना सापेक्ष है, यह उन मतों की अभिव्यक्तियों से जाना जा सकता है, जोकि विभिन्न प्रकार से यह व्यक्त करते हैं कि परिवर्तन आवश्यक है या यह खेद का विषय है। यूरोपीय सभ्यता की समकालीन विचार प्रणाली सामान्यतः भौतिक पहलुओं के परिवर्तन को अच्छा समझती है। इसके विपरीत, संस्कृति के ऐसे तथ्यों, जैसे कि नैतिक विधान, पारिवारिक संरचना या आधारभूत राजनीतिक स्वीकृतियों में किन्हीं भी परिवर्त्तनों को बुरा माना जाता है। परिणामतः प्रौद्योगिक विकासों पर इतना अधिक जोर दिया जाता है कि इस क्षेत्र में परिवर्त्तनों को सम्पूर्ण संस्कृति के परिवर्त्तन का प्रतीक समझने की प्रवृत्ति हो गयी है। इस प्रकार यूरोपीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा प्रौद्योगिक परिवर्त्तन की ग्रहणशीलता के आधार पर भिन्न है, और इसलिए इसकी स्थिरता को इसकी परिवर्त्तन की प्रवृत्ति के मुकाबले में न्यूनमतम करके बताया जाता है।

३. तीसरे विरोधाभास के समाधान में, कि संस्कृति हमारे जीवन में व्याप्त है, किन्तु हम बहुत अंशों में उससे बेखबर हैं, हमें कुछ बुनियादी तथा दार्शनिक प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। हमें इस मनोवैज्ञानिक समस्या को समझना पड़ेगा कि मानव प्राणी कैसे अपनी संस्कृतियों को सीखता तथा किस भांति समाज के सदस्य की हैसियत से कार्य करता है, और इस दार्शनिक प्रश्न का भी जो यह पता लगाना चाहता है कि क्या संस्कृति मानव मनोवृत्ति का कार्य है या वह उससे पृथक् व स्वतंत्र रूप से विद्यमान है, उत्तर ढूंढना होगा।

यहां हमें इस समस्या का मुकाबला करना पड़ता है, कि जहां संस्कृति एक मानव गुण होने के नाते मानव तक सीमित है, वहां समग्र रूप से संस्कृति या कोई भी एक संस्कृति किसी भी एक मानव व्यक्ति की पहुंच से बाहिर है। अतः संस्कृति के अध्ययन का एक यह भी पक्ष हो सकता है कि उसका इस भांति अध्ययन किया जाय कि मानो वह मानव से स्वतंत्र है। पर इतना ही प्रबल दूसरा पक्ष भी हो सकता है जिसके अनुसार संस्कृति मनोवैज्ञानिक यथार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह व्यक्ति के मन में कल्पित विचारों की एक शृङ्खला है। दार्शनिक दृष्टि से यहां यथार्थवाद तथा अध्यात्मवाद (Idealism) का पुराना विवाद है, यह विवाद संसार तथा मनुष्य की प्रकृति की अवधारणा और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में बुनियादी मतभेद को व्यक्त करता है। दोनों ही दृष्टिकोणों में बहुत सी ऐसी बातें हैं जोकि संस्कृति को समझने के लिए आवश्यक हैं तथा हम दोनों ही मतों के समर्थकों की युक्तियों की परीक्षा करेंगे।

२

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव प्राणियों को ध्यान में रखे बिना भी संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है। निर्दिष्ट लोगों की जीवन रीति के अधिकांश पुराने विवरण एकान्ततः संस्थाओं के प्रसंग में लिखे गये हैं। अधिकांश प्रसार-अध्ययन (Diffusion-studies) जिनमें कि संस्कृति के निर्दिष्ट तत्त्व के भौगोलिक विस्तार की चर्चा की गयी है, उनमें उन व्यक्तियों का जोकि उन वस्तुओं को प्रयोग करते हैं या निर्दिष्ट प्रथाओं का पालन करते हैं, कोई वर्णन नहीं किया गया है। मनोवैज्ञानिक दिशा में अत्यन्त उन्मुख मानव-व्यवहार के विद्यार्थी के लिए भी ऐसी गवेषणा के महत्त्व से इनकार करना मुश्किल है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि, लोग जैसा व्यवहार करते हैं वह वैसा क्यों है, तो हमें संस्कृति की संरचना को समझना आवश्यक है, जबतक कि प्रथा की संरचना पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता, व्यवहार निरर्थक होगा।

यदि यह मान भी लिया जाय कि एक प्रथा का इस प्रकार अध्ययन करना संभव है कि उसकी कोई वस्तुगत यथार्थता है, तो भी संस्कृति की वस्तुगत यथार्थता के पक्ष में युक्ति—यह रूप धारण कर लेती है कि संस्कृति अति-मानव या "अधिजैविक" (Superorganic) होने के कारण मानव के नियंत्रण के परे है और अपने ही नियमों से चलती है। यहां हम कई निर्णायकवादों में से, जिन्हें

कि संस्कृति की प्रकृति को समझने के लिए प्रस्तुत किया जा चुका है, **सांस्कृतिक निर्णायकवाद** (Determinism) का विश्लेषण कर रहे हैं।

हम इस वक्तव्य पर विचार करेंगे कि "कोई भी संस्कृति किसी अकेले मानव प्राणी की पहुँच से परे है।" आजकल हमारे समाज में लाखों लोग ऐसी सीमाओं में व्यवहार करते हैं जिनके विषय में पहले से बताया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम "हां" शब्द को एक प्रश्न के सहमतिसूचक उत्तर के रूप में मानते हैं, या हमारे खेतों में बहुत ही असाधारण परिस्थितियों को छोड़ स्त्रियां कभी भी हल नहीं चलायेंगी। 'हां' का अर्थ सदियों से सहमति सूचक रहा है। अनन्त काल से हल चलाने को पुरुषों का कार्य माना गया है, और यही बात बहुत-सी अन्य बातों पर लागू होती है। पर यह स्पष्ट है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसने दो सौ वर्ष पूर्व 'हां' शब्द का सहमतिसूचक अर्थ में प्रयोग किया या अपने खेत को जोता आज जीवित नहीं है।

जिनका यह मत है कि संस्कृति स्वतंत्र रूप से जीवित रहती है, वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि किसी निर्दिष्ट व्यक्ति के जीवन काल का हवाला दिये बिना, जीवन की परम्परागत रीतियां पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी रहती हैं। ऐसी युक्ति निःसन्देह प्रभावोत्पादक है। हम बहुत-कुछ दो वस्तुओं की कल्पना कर सकते हैं— मानव प्राणियों का एक सदा परिवर्तनशील समूह जो जन्म लेता, अपना जीवन बिताता और मर जाता है; और प्रथा का एक ठोस विधान जोकि अपने स्वरूप को लेकर जीवित रहता व जारी रहता है। कट्टर से कट्टर निर्णायकवादी भी इससे इनकार न करेगा कि जनता और संस्कृति के बीच अन्तःसम्बन्ध हैं, ठीक उसी भांति जिस प्रकार कि वह लोग जो यह मानते हैं कि संस्कृति उन व्यक्तियों के मन के विचारों में ही विद्यमान है जोकि उसमें रहते हैं, वह भी उसके संस्थागत रूपों के अध्ययन की स्वीकृति देते हैं। इसलिए यहां इस बात पर अधिक जोर देने की जरूरत नहीं कि हम विकल्पों की अपेक्षा बल देने पर विचार कर रहे हैं।

केवल अनेक शताब्दियों के रूप में विचार कर के ही संस्कृति को मनुष्यों से बड़ा नहीं दिखाया जा सकता, बल्कि इतिहास के एक निर्दिष्ट क्षण में एक निर्दिष्ट समूह में, कोई भी व्यक्ति अपने समूह की जीवन रीति में सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इससे भी अधिक, एक व्यक्ति चाहे वह छोटे-से-छोटे कबीले का, जिसकी संस्कृति अति सरल है, सदस्य क्यों न हो, पूर्णतः अपनी सांस्कृतिक विरासत को नहीं जानता। इसके एक बहुत ही स्पष्ट उदाहरण के लिए हमें स्त्री-पुरुषों के स्वीकृत व्यवहारों से अधिक दूर जाने की ज़रूरत नहीं। स्त्री-पुरुषों के बीच न केवल सर्वत्र आर्थिक श्रम-विभाजन दिखायी देता है, प्रत्युत हम अधिकांश संस्कृतियों में देखते हैं कि परिवार में, धार्मिक कार्यों में या सौन्दर्यात्मक संतुष्टियों के प्रकारों में भी स्त्री और पुरुषों के कार्य बंटे हुए हैं। कई बार यह एक आदत की बात है। पश्चिमी अफ्रीका में स्त्रियां बर्तन बनाती हैं और पुरुष कपड़े सीते हैं, जबकि हमारे यहां पुरुष बर्तन बनाते हैं और स्त्रियां कपडे

सीती हैं; इनमें कोई भी बात न कम न ज्यादह युक्तिसंगत है। पर यह विभाजन ऐसा भी हो सकता है जिसे कि समझबूझ कर पालन किया जाता है और उल्लंघन करने पर दंड दिया जाता है, जैसे कि ग्रास्ट्रेलियाई ग्रादिवासियों में ग्रलौकिक शक्तियों का ग्रनधिकृत प्रयोग करने या हमारे समाज में पुरुष द्वारा स्त्री के वस्त्र धारण करने पर होता है।

उन समाजों में जिनकी जनसंख्या बड़ी है, जिनमें पर्याप्त ग्रधिक विशेषीकरण है ग्रौर वर्गसंरचना है, किसी एक व्यक्ति के लिए ग्रपनी सम्पूर्ण संस्कृति को जानना उसकी क्षमता के बाहर है। उन्नीसवीं शताब्दी के चीनी किसान ग्रौर मंडारिन विद्वान् दोनों ही समान संस्कृति के ग्रादेशों के ग्रनुसार जीवन बिताते थे, किन्तु वह ग्रपने पृथक् मार्गों पर चलते थे, प्रत्येक ग्रपने तरीके से जीवन बिताता था ग्रौर संभवतः किसी को यह चिन्ता न थी कि उनके जीवन ग्रौरों से कितने भिन्न हैं। जहां पुरोहित सामान्य लोगों से, शासक प्रजा से ग्रौर ग्रौद्योगिक विशेषज्ञ, जैसे कि पूर्वी ग्रफ्रीका के ग्रादिवासी लुहार या पौलिनेशियाई डोंगी-निर्माता ग्रन्य धंधे करने वालों से पृथक् हैं, वहां बावजूद इस तथ्य के कि व्यक्ति की समग्र संस्कृति उस दिशा की ग्रोर निर्देश करती है, जिसके ग्रनुसार उसका समुदाय समष्टिरूप में उनके प्रतिदिन के कार्यों का नियंत्रण करता है, व्यक्ति ग्रपनी सम्पूर्ण संस्कृति के केवल एक छोटे-से भाग को ही जानता है।

संस्कृति मानव से बड़ी है, इस दृष्टिकोण से यह जड़, जैविक ग्रौर ग्रधि-जैविक के विकास में तीसरी मंजिल है, जिसे हर्बर्ट स्पेंसर ने सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। इससे ग्राधी शताब्दी से भी ग्रधिक समय के बाद क्रोबर ने इस तथ्य पर ज़ोर देने के लिए कि चूँकि संस्कृति ग्रौर प्राणिशास्त्रीय योग्यतायें, परस्पर संबद्ध होने पर भी, पृथक् घटनायें हैं, ग्रौर इसलिए संस्कृति को स्वतंत्र रूप से विद्यमान समझा जाना चाहिए, पुनः ग्रधिजैविक (Superorganic) शब्द का प्रयोग किया। क्रोबर कहता है :

"इस्लाम—एक सामाजिक घटना—ने चित्र ग्रौर मूर्तिकला की ग्रनुकरणात्मक सम्भावनाग्रों को दबाकर स्पष्ट ही ग्रनेक लोगों की सभ्यता को प्रभावित किया है, किन्तु इसने एक हजार वर्षों में तीन महाद्वीपों में पैदा होने वाले ग्रनेक व्यक्तियों के जीवन क्रम को भी बदला होगा।"

या पुनः "हमारी राष्ट्रीय रूप से सीमित सभ्यता के क्षेत्र में भी ऐसे परिणामों का होना ग्रनिवार्य है। एक जन्मजात तर्कशास्त्री या शासक जोकि मछुए या भंगी की जाति में पैदा हुग्रा है, वह कदापि जीवन में वह संतोष व सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, जोकि उसके माता-पिता के ब्राह्मण या क्षत्रिय होने पर उसे प्राप्त होती; ग्रौर जो चीज़ ग्रौपचारिक दृष्टि से भारत के विषय में सही है वही बहुत कुछ यूरोप के विषय में भी सत्य है।"[३]

---

३. ए० एल० क्रोबर, १९५२ पृ० ४७–८ में पुनः मुद्रित।

जिस समय क्रोबर ने यह निबन्ध लिखा, उसकी तुलना में आज उसके मत को पुष्ट करने के लिए बहुत-से लिपिबद्ध विवरण प्राप्त हैं, किन्तु उसके उदाहरण अभी भी उसके मत को समझाने के लिए पर्याप्त हैं। डार्विन की विकासवादी अवधारणा की खोज जोकि दूसरी दुनिया में वालेस द्वारा उसके साथ ही हुई, इसका ज्वलन्त उदाहरण है। डार्विन के विषय में क्रोबर कहता है :

"कोई भी आज बुद्धिपूर्वक यह विश्वास नहीं कर सकता कि डार्विन की महानतम सफलता, प्राकृतिक चुनाव द्वारा विकासवादी सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय, उसे प्राप्त हो सकता यदि वह पचास वर्ष पहले या बाद में पैदा हुआ होता। यदि वह बाद में होता, तो निश्चित ही वालेस उसकी बात को पहले कह चुका होता, और यदि वालेस का पहले देहान्त हो गया होता, तो अन्य लोगों द्वारा वह बात कही गयी होती।"

ग्रेग्री मेंडल के आनुवंशिकता पर किये गये कार्य का उदाहरण भी उतना ही ज्ञात है। उसके कार्य पर भी इस दृष्टिकोण के अनुसार उस समय इसलिये ध्यान नहीं दिया गया, चूंकि यूरोप की संस्कृति उसके लिए तैयार न थी। १८६५ में प्रकाशित हो कर १६०० तक यह रचना उपेक्षित रही, जबकि तीन विद्वानों ने स्वतंत्र रूप में कुछ हफ्तों के हेर-फेर से मेंडल की खोज को पाया और इस प्रकार प्राणिविज्ञान को एक नया मोड़ दिया।

क्रोबर और रिचार्डसन द्वारा स्त्रियों की वेषभूषा की शैली का अध्ययन, जोकि इसी विषय पर क्रोबर[4] के एक प्रारम्भिक अध्ययन पर आधारित है, संस्कृति के किसी एक विशिष्ट तत्त्व के परिवर्त्तन के विश्लेषण पर अभी तक अत्यधिक सावधानी से किया गया सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। विभिन्न फैशन-निर्देशिकाओं से स्त्रियों के वस्त्रों के नमूनों के विभिन्न माप और कुछ खास विशेषताओं के अनुपातों का १७८७ से १९३६ तक प्रति वर्ष हिसाब लगाया गया। १६०५ से लेकर १७८७ की अवधि के लिए भी उन्होंने उपलब्ध न्यासों से यही सूचनायें एकत्रित की। उन्होंने स्कर्ट (Skirt) की लम्बाई और चौड़ाई, कमर की स्थिति और व्यास, गले की लम्बाई और चौड़ाई का विश्लेषण कर एक नियमित क्रम में परिवर्त्तन पाया, जोकि केवल संयोग के कारकों को अतिक्रान्त करता प्रतीत होता है। फिर पेरिस के उन वस्त्र डिजाइनरों के कार्यों का क्या महत्त्व है जिन्होंने कि हर साल वस्त्रों में नये आविष्कार करने को अपना व्यवसाय बना लिया है तथा एक ऊँचे दर्जे तक उन प्रविधियों में भी प्रवीणता प्राप्त करली है जिनसे कि वह स्त्रियों को वस्त्रों में इच्छित परिवर्त्तन स्वीकार कराने में सफल होते हैं! चूंकि इस घटना में जानबूझकर किये गये आयोजन तथा चुनाव का इतना अधिक महत्त्व था इसीलिए इसे एक परीक्षण के नमूने के तौर पर चुना गया। इसी कारण इसके परिणाम भी इस तथ्य की साक्षी के रूप में अत्यन्त प्रभावशाली हैं

४. ए० एल० क्रोबर०, १९५२, पृ० ३३२-६, ३५८-७२ में पुनर्मुद्रित।

कि किस भांति व्यक्ति अपनी संस्कृति की ऐतिहासिक धारा के प्रवाह में, चाहे वह चाहे या नहीं, बह जाता है।

४

संस्कृति की मनोवैज्ञानिक यथार्थता का पक्ष मुख्यतः मानवीय अनुभव को इस भांति बांटने की अनुचितता पर आधारित है, जिसमें मानव शरीर को उसके व्यवहार के उन पहलुओं से अलग कर दिया जाता है जोकि उसके जीवन में "अधिजैविक" तत्त्वों का निर्माण करते हैं। प्रत्येक संस्कृति में दीर्घकाल तक देखने पर एक जीवन शक्ति दिखायी पड़ती है जोकि एक समूह के किसी भी सदस्य के जीवन को, जो उसे वह प्रकट करता है, अतिक्रांत कर जाती है। पर बिना मनुष्य के संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। अतएव एक ऐसी घटना को वस्तुगत करने का प्रयास, जोकि मानव विचार व कर्म को छोड़कर अभिव्यक्त नहीं हो सकती, उस वस्तु के पृथक् अस्तित्व के लिए पैरवी करना है जो कि वस्तुतः केवल विद्यार्थी के मन में ही विद्यमान है।

संस्कृति की "अधिजैविक" अवधारणा और सामूहिक मन की पूर्वकल्पना जिसे कि प्रारम्भिक वर्षों में ला बौन और ट्राटर ने प्रसिद्ध बना दिया था, इन दोनों की तुलना की जा सकती है। उदाहरण के लिए, सामूहिक मन में, एक भीड़ को बनाने वाले सभी सदस्यों की प्रतिक्रियाओं से कुछ अधिक कल्पित किया गया था। चूंकि यह कहा गया था कि समूह को बनाने वाले सदस्यों की प्रतिक्रियाओं का योग समूह से भिन्न था, अतः सामूहिक मन के स्थान के प्रश्न ने इस अवधारणा को अग्राह्य बना दिया, चूंकि यह चीज वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अपेक्षित प्रमाण से सिद्ध न हो सकती थी।

मनोवैज्ञानिक शब्दों में संस्कृति की स्पष्टतम परिभाषा यह है : **संस्कृति मानव व्यवहार का सीखा हुआ अंश है।** यहां "सीखा हुआ" शब्द अनिवार्य है। सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि संस्कृति के घटक कोई भी रूप हों, यदि उन्हें विनष्ट नहीं होना है तो आनेवाली पीढ़ियों द्वारा उन्हें ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा यह मानना आवश्यक होगा कि मनुष्य केवल संस्कृति निर्माण के जन्मजात चालकों से युक्त पशु ही नहीं, प्रत्युत उसमें ऐसे चालक भी हैं जोकि उसके व्यवहार को एक निश्चित दिशा में ले जाते हैं। "मूल-प्रेरणावादी" मनोवैज्ञानिकों ('Instinct-psychologists) का यही मत था। उन्होंने उन प्रतिक्रियाओं की व्याख्या के लिए जोकि बाद में ऐसी सात्मीकृत प्रतिक्रियायें पायी गयीं कि स्वाभाविक बन गयीं, एक के बाद एक मूल प्रेरणाओं की कल्पना प्रस्तुत की।

मूल-प्रेरणावादी सम्प्रदाय की युक्तियों ने प्रभावित किया, चूंकि मानव प्राणी वस्तुतः अपनी संस्कृतियों को अच्छी तरह सीखते हैं और उस प्रक्रिया द्वारा जोकि बहुव्याप्त तथा पूर्ण है। जब हम निर्देशित शिक्षा का जिक्र करते हैं तभी "शिक्षा" शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु सभी समूहों में अधिकांश संस्कृति उस प्रक्रिया द्वारा सीखी जाती है जिसे कि अभ्यस्तीकरण या अनुकरण या शायद सबसे

बेहतर अचेतन सीखना (Unconscious conditioning) कहते हैं, जोकि अन्य अन्य प्रकारों से, जहां चेतन (Conscious) प्रशिक्षण प्रयोग में आता है, सम्बन्धित है।

यह प्रक्रिया असाधारण रूप से सूक्ष्म हो सकती है। इस प्रकार, यद्यपि मानव प्राणी को समय-समय पर जैविक कारणों से कार्यविरत होना आवश्यक है, किन्तु वह किस प्रकार विश्राम करे यह संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। जहां लोग जमीन पर चटाई बिछा कर सोते हैं, वहां उनके लिए मुलायम गद्दों के बिस्तर पर सोना असह्य है। इससे उल्टी बात भी उतनी ही सही है। जहां सिर के नीचे लकड़ी के तकिये प्रयोग में लाये जाते हैं वहां मुलायम तकिये कष्टदायक हो जाते हैं। यदि परिस्थिति पुनरनुकूलन के लिए बाध्य करती हैं तब **दुबारा सीखने** की या रिकंडीशनिंग की प्रक्रिया व्यक्ति को नयी परिस्थितियों के अनुकूल बना देती है।

भाषा में ऐसे अनन्त उदाहरण मिलते हैं जो दिखाते हैं कि कितनी बारीकी से हमारी बोली सीखी हुई होती है। प्रादेशिक विभिन्नतायें जैसे कि क्लीवलैंड के कोमल **ए** के विरुद्ध बोस्टन का कठोर **ए** या सामाजिक स्थितिजनित भिन्नतायें जैसे कि साधारण लंदन वासी की बोली के मुकाबिले में एक उच्चवर्गीय लंदन-वासी की बोली, इसके अच्छे उदाहरण हैं। कुछ रूप तो इतने हल्के होते हैं कि उन्हें जब तक कि बहुत ही ध्यान से और संवेदनशील कान से न सुना जाय, वह सुनाई ही नहीं पड़ते, जैसे कि शिकागो में मिडलवैस्टर्न का कोमल **ए कैब** (Cab) शब्द को छोटी इ के साथ केब (Keb) बना देता है। अन्य उदाहरणों में चलने या बैठने के तरीके, अभ्यास के दो ऐसे दृष्टान्त हैं जिन्हें यह दिखाने के लिए उद्धृत किया जा सकता है कि मनुष्य बिना प्रक्रिया पर विचार किये हुए तथा बिना नियोजित शिक्षा के, किस भांति अपनी संस्कृति को सीखता है।

इसलिए वह प्रभावशीलता जिससे कि मनुष्य प्रविधियों, स्वीकृत व्यवहार की रीतियों तथा विभिन्न विश्वासों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करता है, संस्कृति को एक ऐसी स्थिरता प्रदान करती है जिससे कि उसका पृथक् अस्तित्व दिखाई देने लगता है। फिर भी जो हस्तान्तरित होता है, वह इस कठोरता से निर्दिष्ट नहीं होता कि व्यक्ति की कोई पसन्द ही न रहे। सांकृतिक परिवर्त्तन का एक प्राथमिक कारण वह भिन्नता है जोकि प्रत्येक समाज अपनी निर्दिष्ट व्यवहार प्रणाली में स्वीकृत करता है। यूरोपीय संस्कृति में अधिकांश लोग आदतन कुर्सी पर बैठकर आराम करते हैं किन्तु कुछ कुर्सियां मुलायम होती हैं, अन्य कठोर, कुछ हिलती हैं कुछ नहीं, कुछ की पीठ सीधी होती है और कुछ की गोल। तथापि वह सामान्यतः नीची मेजों पर चौकड़ी मार कर या छोटे स्टूलों पर बैठ कर और या एक ही पैर पर खड़े होकर आराम नहीं करते।

क्या परम्परा द्वारा व्यवहार के प्रशिक्षण की अवधारणा पुनः यह युक्ति नहीं देती कि मनुष्य अपनी संस्कृति की सन्तान है? इसका उत्तर स्वीकृत भिन्नताओं में मिलता है। यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि प्रत्येक संस्कृति में,

यहांतक कि सरलतम और अत्यन्त अनुदार समूहों में भी सदैव चुनाव और पसन्द की गुँजायश रहती है। यद्यपि मनुष्य का अधिकांश व्यवहार स्वचालित (Automatic) है, किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि मनुष्य एक स्वचालित यंत्र है। जब उसकी संस्कृति के किसी ऐसे पहलू को जिसे कि वह सदैव मानता चला आ रहा है—जैसे कि किसी विशेष देवता में विश्वास या किसी खास तौर से किसी व्यापार को करने का औचित्य, या शिष्टाचार का कोई अंग—चुनौती दी जाती है, तो वह उद्वेग के साथ उसकी रक्षा करता है, जोकि उसकी भावना को व्यक्त करता है।

इससे यह पता चलता है कि संस्कृति **सार्थक** (Meaningful) है। यद्यपि व्यवहार स्वचालित हो सकता है और स्वीकृतियों को ऐसे ही मान्यता दे दी जाती है, फिर भी एक संस्कृति में कोई भी स्वीकृत कर्म या विश्वास का रूप तथा कोई भी संस्था "अर्थ रखती है।" यही उन लोगों की प्रधान युक्ति है जो यह मानते हैं कि अपने आप में स्वतंत्र होने की अपेक्षा, संस्कृति जनसमूह के विश्वासों, आदतों तथा दृष्टिकोणों का योग है। **अनुभव संस्कृति द्वारा प्रभावित होता है**, जिसका अभिप्राय है कि उन लोगों के लिए संस्कृति में अर्थ है जो उसके अनुसार रहते हैं। भौतिक वस्तुओं तक के लिए भी परिभाषा जरूरी है। मेज जैसी वस्तु का लोगों के जीवन में तभी कोई स्थान है जबकि वह उसे उस रूप में स्वीकार करें। न्यूगिनी के पृथक्कृत कबीले के एक सदस्य के लिए वह इतनी ही अजीब और समझ में न आने वाली चीज है जैसा कि हमारे लिए उनके डिजाइनों का प्रतीकवाद। वस्तुतः मानव व्यवहार को एक "प्रतीकात्मक व्यवहार" परिभाषित किया गया है। प्रतीकवाद के कारक पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि प्रतीकों का प्रयोग जीवन को **अर्थ** प्रदान करता है। उन्हींके द्वारा मनुष्य संस्कृति में अपने अनुभव को अर्थ देता है और जिस समूह में वह जन्म लेता है, उसके अनुसार सीखने की प्रक्रिया द्वारा अपनी जीवन रीति को व्यवस्थित कर उसका एक पूर्ण कारगर सदस्य बन जाता है।

५

क्या हमें इन दो दृष्टिकोणों में से, कि संस्कृति अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई है जोकि मानव को बिना ध्यान में रखे हुए आगे बढ़ रही है, और दूसरे यह कि संस्कृति मानव के मन की ही अभिव्यक्ति है, एक का चुनाव करना होगा? या इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई समझौता सम्भव है?

एक व्यक्ति के मानव व्यवहार में उसके सीखे हुए संस्कार इतने गहरे बैठ जाते हैं, उसकी प्रतिक्रियायें इतनी स्वाभाविक होती हैं और एक संस्कृति में अनेक वर्षों में होने वाले परिवर्त्तनों को दिखाने वाली ऐतिहासिक रेखा इतनी बारीक होती है कि संस्कृति को मनुष्य से पृथक् न समझना कठिन है। इसे अन्दर ही अन्दर स्वीकार किये बिना संस्कृति के विषय में कुछ कहना या लिखना भी कठिन है। फिर भी जैसा कि हम देख चुके हैं जब संस्कृति का सूक्ष्म विश्लेषण

किया जाता है, तो एक निर्दिष्ट समूह के सदस्यों के व्यवहार में कुछ विशिष्ट स्पष्ट प्रतिक्रियायें मिलती हैं। अर्थात् हम देखते हैं कि **लोग** प्रतिक्रिया कर रहे हैं, **लोग** व्यवहार कर रहे हैं, **लोग** सोच रहे हैं, **लोग** कैफियत दे रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जो कर रहे हैं वह स्थूल रूप दे हेर हैं, अर्थात् एक निर्दिष्ट समय में एक समूह के व्यक्तियों के अनुभवों को वस्तुगत तथा ठोस रूप प्रदान कर रहे हैं। इन्हें समग्रता में संग्रह कर, हम इन्हें उनकी संस्कृति कहते हैं। और **अध्ययन के उद्देश्य के लिए** यह सर्वथा उचित है। खतरे का क्षण तब आता है जबकि हम व्यवहार की उन सदृशताओं को, जोकि एक समान वातावरण में व्यक्तियों के एक समूह के एक समान प्रशिक्षण से उत्पन्न होती हैं, एक ऐसी वस्तु का रूप देते हैं, जो कि मनुष्य से बाहिर है, या अधिजैविक है।

इसका यह अर्थ नहीं कि कुछ मानवशास्त्रीय समस्याओं के अध्ययन के लिए हम संस्कृति को वस्तुगत सत्ता मानकर उसके अध्ययन की उपयोगिता से इनकार करते हैं। किन्तु एक पद्धतिशास्त्रीय आवश्यकता को स्वीकार करते हुए हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हम एक कल्पित नमूने (Construct) का उपयोग कर रहे हैं और सभी विज्ञानों की भांति हम इस नमूने को अपने चिन्तन के मार्गदर्शक और विश्लेषण के सहायक के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं।

अध्याय सत्रह

संस्कृति और समाज

मानव और उसके कार्यों के अध्ययन में यह आवश्यक है कि हम संस्कृति और उसके सहयोगी शब्द "समाज" में भेद को समझें। **संस्कृति लोगों की जीवन रीति है, जबकि समाज व्यक्तियों का एक संगठित, अन्तःक्रिया करने वाला समूह है जो कि एक निर्दिष्ट जीवन रीति का अनुसरण करता है।** और भी सरल शब्दों में, **समाज लोगों से मिल कर बना है; उनके व्यवहार की रीति उनकी संस्कृति है।**[1] क्या हम इस प्रकार उस मनुष्य से जिसके पास संस्कृति है, सामाजिक प्राणी-रूपी मानव को पृथक् कर सकते हैं? क्या सामाजिक व्यवहार वस्तुतः सांस्कृतिक व्यवहार नहीं है? क्या हम नहीं देख चुके हैं कि मानव के अध्ययन में उसके विचारों, संस्थाओं यहां तक कि उन भौतिक वस्तुओं से भी, जो कि मानव के उन समूहों में जिन्हें कि हम "समाज" कहते हैं संगठित हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं, बढ़कर अन्तिम उद्देश्य मानव ही है? हम इन तीनों प्रश्नों पर क्रम से संक्षेप में विचार करेंगे।

यह कहकर कि मानव एक सामाजिक जीव है जोकि केवल संगठित समूहों में रहता है, हम उसकी सत्ता के उस पहलू को छूते हैं, जैसा कि हम देखेंगे, जिसमें कि प्राणिशास्त्रीय जगत् के बहुत-से अन्य जीव भी भागीदार हैं। कुछ उन उदाहरणों को छोड़ जिनका महत्त्व स्पष्ट नहीं है, मानव ही अकेला प्राणी है जिसने संस्कृति प्राप्त की है। एक बार यदि हम यह अनुभव कर लें कि मानव अन्य सामाजिक जीवों के साथ समूहों में रहने की प्रवृत्ति का साझीदार है, किन्तु वह अकेला ही संस्कृति-निर्माता जीव है, तो "समाज" और "संस्कृति" शब्दों का भेद तत्काल स्पष्ट हो जाता है। परिणामतः इसे समझने के लिए दोनों पर पृथक् रूप से और उनके अन्तःसंबंधों पर भी विचार करना होगा।

बहुत कुछ यही युक्ति दूसरे प्रश्न पर विचार करते समय लागू होती है, कि क्या सामाजिक व्यवहार सांस्कृतिक व्यवहार भी नहीं है। यहां भी जब हम कहते हैं कि मानव सामाजिक जीव है तो हमें यह जान लेना चाहिए कि यहीं सारी कहानी शेष नहीं हो जाती। सामाजिक संस्थाओं में विस्तृत अर्थों में आर्थिक

---

१. एस० एफ० नडेल (१९५१, पृ० ७९-८०) ने इस भेद को इस प्रकार व्यक्त किया है "जहां तक मैं समझता हूं समाज का अर्थ सम्पूर्ण सामाजिक तथ्यों का सम्बन्धों और समूहों के आयाम पर आरोपण है जब कि संस्कृति उसी सम्पूर्णता का कर्म के आयाम पर।"

और राजनैतिक गतिविधियों तथा साथ ही रिश्तेदारी और स्वेच्छा से निर्मित समितियों पर आधारित संस्थायें भी सम्मिलित हैं। किन्तु कठिनाई से ही उन्हें इतना विस्तृत किया जा सकता है कि उनमें धर्म, कलाओं और भाषा को सम्मिलित किया जा सके, समस्त आचार में अन्तर्निहित मौन स्वीकृतियों का तो कहना ही क्या। मानव सामूहिक जीवन के उस बुनियादी पहलू को जिसमें कि वह संस्थायें सम्मिलित है, जिनमें कि और सब सामाजिक तथा व्यक्तिगत व्यवहार निश्चित होता है, मानवशास्त्रीय पारिभाषिक भाषा में सामाजिक संगठन कहते हैं। इस तथ्य को स्वीकार करना कि मानव अपने साथियों के साथ अन्तःक्रिया करते हुए, इन अन्य प्रकार की संस्थाओं को कार्य करने का स्थान देता है इसका यह अर्थ है कि व्यवहार की स्वीकृत रीतियों को उन मूल प्रेरणाओं से, जिनसे वह उत्पन्न हुई हैं, पृथक् किया जा सकता है।

किन्तु क्या अन्ततोगत्वा लोग—या समाज—उनकी जीवन रीति की अपेक्षा अधिक यथार्थ नहीं हैं? क्या यह बाद के अदृश्य तत्व केवल उस देखे हुए व्यवहार से निकाले हुए निष्कर्ष मात्र नहीं है जो कि जब हम किसी एस्किमो, अफ्रीकी या फ्रांसीसी, समुदाय को देखते हैं और उनमें लोगों के आने-जाने, और उनकी एक-दूसरे पर प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं और इस प्रकार उनके व्यवहार को नियमित करने वाली संस्थाओं का पता लगाते हैं, तब दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः बात यही है; और लोगों के निरीक्षण की प्रक्रिया जिसे कि क्षेत्रीय गवेषणा कहा जाता है, वह यंत्र है जिसकी सहायता से जनवृत्तशास्त्र अपने प्राथमिक न्यास संकलित करता है।

तथापि, इन अर्थों में, "समाज" की अवधारणा का प्रयोग करते समय उन सब सावधानियों को बरतना ज़रूरी है जोकि "संस्कृति" की अवधारणा के प्रयोग के समय बरती गई थीं। जिस भांति संस्कृति व्यक्तिगत व्यवहारों की स्थूल अभिव्यक्ति है, इसी प्रकार कोई भी मानव समाज एक समूह को बनाने वाले मानव प्राणियों के वंश-क्रम से स्थूल रूप धारण करता है। यह बात स्मरण होगी कि संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में क़ायम रहने के कारण, उस व्यक्ति से जो उसमें रहता है, कहीं अधिक बड़ी है। इसी प्रकार एक समाज सदैव एक ही लोगों से नहीं बना रहता। जन्म तथा मृत्युएं निरन्तर उसके सदस्यों को बदलती रहती हैं। एक पीढ़ी के गुज़र जाने पर जो कुछ समाज को अतीत से बांधे रहता है, वह व्यवहार की वह रीतियां हैं जो कि वर्तमान लोगों को उनसे प्राप्त हुई हैं। यह स्पष्ट है कि सामाजिक निरंतरता को मानते समय हमें यथार्थता से पृथक् होने के उन्हीं पद्धति-शास्त्रीय अपवादों की सहायता लेनी होगी, जिनका कि हमने संस्कृति की निरंतरता को मानते समय आश्रय लिया था।

हम पहले यह देख चुके हैं कि समाज का अध्ययन हमारे लिए इस लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह समझना आवश्यक है कि किस भांति मनुष्य का संगठित समूहों में रहना उसके व्यवहार को प्रभावित करता है। हमें केवल उन सामा-

जिक संस्थाओं को ही नहीं जिन्हें कि मानव ने मानवीय समाजों के कार्यों को चलाने के लिए बनाया है, प्रत्युत उन चालकों को भी जो कि उसे इन समूहों को बनाने के लिए प्रेरित करते हैं, और उस रीति को भी जिसके द्वारा व्यक्ति जिस समाज में जन्म लेता है उससे अपने को एकीकृत करता है, ध्यान में रखना होगा। इन बाद की बातों की इस अध्याय में चर्चा होगी, चूँकि उनका समाज व संस्कृति के परस्पर सम्बन्धों पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव है।

२

मनुष्य में अन्य पशु रूपों की भांति सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति कितनी अधिक मात्रा में है इसे सामान्यतः अनुभव नहीं किया जाता। पशु-समाजशास्त्र का क्रमबद्ध अध्ययन अभी बहुत नया है। ऐली, जिसने कि सम्भवतः इस विषय का सबसे अधिक विस्तार से प्रतिपादन किया है, बताता है कि क्यों यह इतने धीरे-धीरे विकसित हुआ। १८७८ में फ्रेंच वैज्ञानिक इस्पिनास ने "पशुओं का समाज" शीर्षक रचना प्रकाशित की, जिसमें उसने यह घोषणा की कि, "कोई भी जीवित प्राणी एकाकी नहीं है, प्रत्युत छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े तक प्रत्येक ही किसी-न-किसी प्रकार के सामाजिक जीवन में डूबा हुआ है।"[२] यह मानते हुए भी कि इस्पेनास का वक्तव्य तथ्यों को देखते हुए अतिशयोक्ति पूर्ण था, वह महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि "उस समय वैज्ञानिक जगत्—इस विचार के सम्मोहन से अभिभूत था कि जीवित रहने के लिए व्यक्तिगत संघर्ष इतना प्रचलित व महत्त्वपूर्ण और तीव्र है कि उसमें किन्हीं अन्य कोमल दर्शन-शास्त्रों के लिए कोई स्थान नहीं।"[३]

मारकाट के इस दर्शन की प्रतिक्रिया-स्वरूप क्रोपटकिन ने विकासवाद में—एक कारक के रूप में परस्पर सहयोग पर बल दिया।

"मैंने अपनी जवानी में पूर्वी साइबेरिया तथा उत्तरी मंचूरिया में जो यात्राय कीं उनमें पशु-जीवन के दो पहलुओं ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। उनमें से एक था, अधिकांश पशु जातियों को क्रूर प्रकृति के विरुद्ध कठोर जीवन संघर्ष करना पड़ता है—और दूसरा था, कि उन थोड़े से स्थानों में भी जहां पशु-जीवन की प्रचुरता थी, **मैं एक ही जाति के पशुओं में** जीवन के साधनों के लिए वह कटु संघर्ष ढूंढने में असमर्थ रहा,—यद्यपि मैं उसकी तलाश में था, जोकि अधिकांश डार्विन-अनुयायियों (यद्यपि स्वयं डार्विन द्वारा सदैव नहीं) द्वारा जीवन के संघर्ष का प्रबल लक्षण व विकासवाद का प्रधान कारक माना जाता था।"

१८८० में सेन्ट पीटर्सबर्ग में रूसी प्राणिशास्त्री केस्लर के एक भाषण को सुनकर क्रोपटकिन अपने बाद के विचारों को व्यवस्थित रूप देने के लिए प्रेरित हुआ। जैसा कि क्रोपटकिन ने बताया है, केस्लर का कहना था, "कि प्रकृति में

---

२. डब्ल्यू० सी० ऐली १९३८, पृ० २५।
३. वहीं, पृ० २६।

परस्पर संघर्ष के **सिद्धान्त** के अतिरिक्त **परस्पर सहयोग** का सिद्धान्त भी है, जोकि जीवन-संघर्ष की सफलता तथा विशेषकर जीव जातियों के प्रगतिशील विकास के लिए परस्पर संघर्ष के सिद्धान्त से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[४]

यद्यपि बाद में प्रशिक्षित लोगों को अनेक कारणों से क्रोपटकिन के न्यास अस्वीकृत हुए, किन्तु उसकी खोज का यह तत्त्व बाद की खोजों के बाद भी क़ायम रह सका कि एक ही जीव-जाति के सदस्यों के बीच कितना अधिक सहयोग है, तथा प्राणिशास्त्रीय जगत् में कितने नीचे तक इस सामाजिक व्यवहार के उदाहरण फैले हुए हैं। चींटी और मधुमक्खियां बहुत काल से अपने सामाजिक गुणों के लिए प्रसिद्ध रही हैं, इसीलिए उन्हें "सामाजिक कीट" कहा गया है। यही बात भेड़ियों के झुण्ड और बिसन के रेवड़ों पर लागू होती है। बाद की गवेषणाओं से यह पता चला कि लेडी बर्ड बीटल या नर मिज, जैसे असामाजिक जीव समूहों में इकट्ठे होकर सुस्ती में जाड़ों के दिन बिताते हैं या गर्भाधान ऋतु में मादाओं की प्रतीक्षा करते हैं। इसी प्रकार पशु एक विस्तृत परिस्थितिशास्त्रीय समुदाय का अंग बन सकते हैं जिसमें किसी निर्दिष्ट प्रदेश के रहने वाली विभिन्न जीव जातियां ही नहीं, पौधे भी सम्मिलित हैं।

पशुओं के लिए सामाजिक जीवन कितना महत्त्वपूर्ण है इसे ऐली द्वारा सुनहरी मछलियों पर किये गये परीक्षण से देखा जा सकता है। उनपर अकेले में और दस-दस के समूहों में निश्चित मात्रा में कोलोयडल सिल्वर डाला गया, जबतक कि वह मर न गई। दस के समूहों में मारी गई मछलियां उस अकेली मछली की तुलना में अधिक देर तक जीवित रहीं, चूंकि साथ में रहते हुए उन्होंने एक चिकना द्रव्य छोड़ा जिसने कि उक्त रसायन के ज़हर को कम कर दिया, जिससे कि अकेली मछली जल्दी ही मर गई थी। सफ़ेद चूहों के समूह छोटे समूहों में अकेले या अत्यधिक भीड़ की तुलना में शीघ्र बढ़ते हैं। जबकि चूहे के सिर की खाल में घाव हो जाते हैं तो उन्हें केवल चाटकर ठीक किया जा सकता है। अकेला चूहा तब तक ठीक नहीं हो पाता जब तक कि उसे ऐसे पिंजड़े में न रख दिया जाय जहां उसके साथी उसे चाट सकें। यह तथ्य कि तापमान कम होने पर वह एक-दूसरे के खूब पास आ जाते थे, इससे उनकी वृद्धि बढ़ गई चूंकि इस प्रकार वह एक-दूसरे को अधिक गरम रख सकते थे और इस तरह जो शक्ति अपने को गरम रखने में व्यय हो जाती, वह बच गई तथा उससे उनकी वृद्धि अधिक बढ़ गई।[५]

जब हम पशु-समाजों का अध्ययन करते हैं, हमें मानव समाजों के साथ बहुत-सी सदृशतायें देखने को मिलती हैं। उनमें प्रभुता और आज्ञाकारिता की कार्यप्रणाली, एक समूह के अन्दर और विभिन्न समूहों में प्रतियोगिता तथा सहयोग के

---

४. पी० क्रोपटकिन, १९१६, पृ० १-३।

५. डब्ल्यू० सी० एेली, १९३८।

कारक, उनके सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता, सभी उन के सफलतापूर्वक कार्य करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। प्रभुता और आज्ञाकारिता का सबसे नाटकीय उदाहरण शेजेलडरप-ऐबे की विभिन्न चिड़ियों पर की गई गवेषणा में मिलता है। उसने लिखा है कि इन जीवों में, "पहल पाने या सामाजिक प्रतिष्ठा का एक निश्चित क्रम—विद्यमान है," जो कि उसके मत में, "निरंकुशता की कुछ अवस्थाओं पर आधारित सिद्ध हुआ है।"[६] इसका नाम **चंचु-क्रम** (Peck-order) पड़ गया है। जैसे ही पशु बाल्यावस्था को पार कर लेता है "निरंकुशता" की स्थिति आती है। बच्चों में यद्यपि भोजन के लिए प्रतियोगिता रहती है, किन्तु चंचु-प्रहार नहीं होता। बाद में यह "प्रतियोगिता की भावना", जिसे कि इस विद्वान् ने इनकी जन्मजात प्रवृत्ति कहा है "ईर्ष्या में बदलने लगती है," विशेषकर जबकि उन्हें अपने झुण्ड के अधिक ताकतवर और अच्छी तरह जमे हुए प्रौढ़ सदस्यों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इस प्रकार बड़े छोटों पर, नर मादाओं पर शासन करते हैं। कुछ ऐसे कारक जैसे कि ऋतु, रोग, और पशुओं के बीच परिचिति की घनिष्ठता भी अपना कार्य करते हैं।

मुर्गियों के चंचुक्रम का सावधानी से विश्लेषण किया गया है। इस समस्या का अध्ययन करते समय हर मुर्गी पर निशान लगा दिये गये ताकि झुण्ड के अन्य सदस्यों से उसके सम्पर्क को लिपिबद्ध किया जा सके। परिणामों से कई बार पता चला कि एक से अधिक मुर्गी के हाथ में भी शक्ति रहती है, या एक मुर्गी जो अधिकांश अन्यों पर शासन करती है अपेक्षतया एक कमज़ोर मुर्गी से भी दब जाती है। ऐसा तब होता है जब कि पहली भेंट के समय ताक़तवर मुर्गी बीमार थी और दूसरी उस समय अपनी प्रभुता जमा बैठी। एक ही लिंग के अठारह बत्तखों के झुण्ड में—जिनका कि शेजेलडरप-ऐबे ने अध्ययन किया, चंचुप्रहार सोपानक्रम (Heirarchy) स्पष्ट था :

१	बत्तख़ ने	१७	अन्यों	पर	चंचुप्रहार	किया
१	,,	१६	,,	,,	,,	,,
१	,,	१५	,,	,,	,,	,,
१	,,	१४	,,	,,	,,	,,
१	,,	१३	,,	,,	,,	,,
१	,,	१२	,,	,,	,,	,,
१	,,	११	,,	,,	,,	,,
१	,,	१०	,,	,,	,,	,,
२	बत्तख़ों ने	८	,,	,,	,,	,,
१	बत्तख़ ने	७	,,	,,	,,	,,
१	,,	६	,,	,,	,,	,,

६. टी० शेजेलडरप–ऐबे, १९३५, पृ० ९४९।

२ बत्तखों ने ५ अन्यों पर चंच प्रहार किया
२ " ३ " " " "
१ बत्तख ने १ " " " "
१ " ० " " " "[7]

सबसे नीची हैसियत वाली चिड़ियों का भाग्य खोटा है। "वे एकान्त स्थानों में समय काटती हैं, अन्यों का पेट भर जाने के बाद खाती हैं और सावधानी से इधर-उधर देखकर औरों से नज़र बचाकर निकलने की कोशिश में रहती हैं। सब से निम्न हैसियत की चिड़ियायें दुबली दीखती हैं और उनकी कलगी अस्त-व्यस्त रहती है, चूंकि उन्हें उसे ठीक करने का कम ही समय मिलता है।"[8]

ऐसा न समझा जाना चाहिए कि इस प्रकार की प्रभुता सामाजिक समूहों का नियम है। यहां तक कि चिड़ियों में पाये जाने वाली सामाजिक प्रणालियां भी एक जीव-जाति से दूसरी जीव-जाति में पृथक्-पृथक् हैं। ऐली का कहना है कि उसके द्वारा अध्ययन की गई अन्य जीव-जातियों की तुलना में मुर्गी का चंचु-प्रहार-क्रम सबसे अधिक कठोर है। कबूतरों पर की गई गवेषणा के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है, "यह निर्णय करना प्रायः कठिन हो जाता है कि सामाजिक क्रम में कौन-सा पंछी अधिक ऊंचा है।" यद्यपि "मुर्गियों में सामाजिक सोपानक्रम प्रायः निरपेक्ष चंचु-प्रहार के अधिकार पर आधारित है, जिसमें कि निरंकुशता की तेज़ गंध आती है, जैसा कि शेजेलडरप-ऐबे ने लिखा है, कि, इन अन्य पक्षियों का संगठन निरंकुश चंचु-प्रहार-अधिकार की अपेक्षा चंचु प्रभुता पर आधारित है।" अर्थात्, "यद्यपि हम इस सम्बन्ध में प्रायः निश्चित हो जाते हैं कि कौन पक्षी—अधिकांश सम्पर्कों में प्रभुता दिखायेगा— किन्तु उनमें से दो की अगली भेंट में क्या परिणाम होगा, इसके बारे में जब तक वह भेंट न हो जाय, निश्चितता से कुछ नहीं कहा जा सकता।"[9]

इस प्रकार पशुओं के समूह **संगठित** हैं, यद्यपि संगठन की सीमा व विस्तार भिन्न हैं। कुछ तो इतने ढीले-ढाले तथा इतने अनियमित रूप से संगठित होते हैं कि उनके लिए बहुत सोच समझकर ही "समाज" नाम दिया जा सकता है। किन्तु अन्य कई केवल अपने संगठन में ही नहीं, प्रत्युत अपने कृत्य में भी पूर्णतः एक सामाजिक इकाई हैं। चूंकि मानव समाजों की भांति यह ऐसे समूह भी एकीकृत समूहों को बनाते हैं जिनके सदस्य अपने आंतरिक और बाह्य दोनों सम्बन्धों में एक निर्दिष्ट स्थान के साथ तादात्म्य स्थापित करके परस्पर "सम्बन्धित होने" की भावना रखते हैं और अपने साथी सदस्यों को वैसा ही मानते हैं तथा अपरिचितों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हैं।

---

७. वहीं, पृ० ९६५-६।
८. डब्ल्यू० सी० ऐली, १९३८, पृ० १८२।
९. वहीं, पृ० १८६-९।

ऐसे सामाजिक समूह की सदस्यता कम-से-कम उसके कुछ सदस्यों की स्वीकृति पर निर्भर है। अधिकांश दशाओं में यह स्वीकृति केवल उस समूह में जन्म लेने और उसके साये में परिपक्वता पाने के संयोग में ही पायी जाती है। किन्तु बच्चा समूह में केवल परिपक्वता ही प्राप्त नहीं करता, बल्कि उसके अन्य साथियों से क्या सम्बन्ध होंगे, यह भी उसके लिये निर्धारित किया जाता है। कारपेन्टर ने गिबनों पर किये गये अपने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर लिखा है:

"ऐसा माना जाता है कि प्रधानकों (Primates) का समूहों में एकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें कि प्रशिक्षण या शिक्षा द्वारा संशोधित और निश्चित बना दिये गये, पारस्परिक रूप से गृहीत व प्रदत्त प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों की जरूरत होती है। व्यवहार का प्रायः प्रत्येक पहलू जिसकी प्रधानक में क्षमता थी, कुछ अंश तक उसकी "सामाजिकता" और उसके जटिल सामाजिक व्यवहार के गुणों का निर्णय करता है।"[१०]

सभी समाजों में व्यक्तियों के बीच विद्यमान सम्बन्ध आयु, शक्ति, लिए गये दायित्व, और प्राप्त पद के अनुसार बदलते रहते हैं। मां बनने के बाद एबीसीनियाई बैबून की मां के व्यवहार में हुआ परिवर्तन, मां जोकि जुकरमैन के अनुसार बनने से पहले के व्यवहार के विरुद्ध है, इसे स्पष्ट करता है। मादा बैबून प्रायः अत्यन्त ही उदासीनता से व्यवहार करती है, जबकि नर उसके लिए लड़ रहे होते हैं; किन्तु एक सन्तान हो जाने के बाद, खतरे का संकेत पाते ही वह अपने बच्चे को छीन कर सुरक्षित स्थान पर चली जाती है।[११]

इस दिशा में परीक्षण अभी बहुत आगे नहीं बढ़े हैं कि यह निश्चित किया जा सके कि पशु-समाजों में समूह के साथ एकीकरण स्थापित करने में किस अंश तक व्यक्ति मूल प्रेरणात्मक चालकों का अनुसरण करता है या किस सीमा तक वह यर्केस और यर्केस के शब्दों में, अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों के विस्तार के लिए "सामाजिक उद्दीपन" की सहायता लेता है। इस बात की पर्याप्त साक्षी हैं कि मानव-सम (Anthropoid) लंगूर को वह चीजें खाना सिखाया जा सकता है जो कि उसकी सामान्य खुराक से भिन्न हैं। ऐसी दशाओं में सम्भवतः अनुकरण इसका कारण है, हालांकि यह मानने का भी आधार है कि बन्दर तथा लंगूर उतने नक़लची नहीं हैं जितना कि प्रचलित धारणा के अनुसार उन्हें समझा जाता है। यह द्रष्टव्य है कि मानवसम वानर के व्यवहार के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष परीक्षणात्मक परिस्थितियों से लिये गये हैं। कहां तक यह प्रवृत्ति जंगल में भी कार्य करेगी, यह बताना मुश्किल है।

सामाजिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण कारक व्यक्ति का अपने समूह के साथ तादात्म्य (Identification) है। इसका यह अर्थ है कि बाहरी व्यक्ति को जब तक

---

१०. सी० आर० कारपेन्टर, १९३४, पृ० १९९।

११. एस० जुकरमैन, १९३२, पृ० २३७-२६०।

स्वीकार नहीं किया जाता, पर्याप्त कठिनाई का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। कोहलर ने अपने शिम्पांजी के प्रसिद्ध अध्ययन में इस प्रक्रिया का बहुत ही सजीव विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है, कि उसका समूह **"एक-दूसरे के अभ्यस्त"** व्यक्तियों का "अल्प संगठित समुदाय था"। वह आगे कहता है :

"एक दिन एक नई खरीदी हुई मादा शिम्पांजी आई और पहले उसे सफाई के नियंत्रण की दृष्टि से, अन्यों से कुछ फ़ीट की दूरी पर एक विशेष पिंजड़े में रखा गया। उसने बड़े पशुओं में तत्काल बहुत दिलचस्पी पैदा की, जिन्होंने सींखचों के बीच से खपचियां और पोरे घुसेड़ कर यह प्रदर्शित कर दिया कि उसके साथ कोई विशेष मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं है, एक बार तो नवागंतुक की जाली पर एक पत्थर भी फेंका गया। जब कुछ सप्ताह बाद नवागन्तुक को बड़े पशुओं के मैदान में लाया गया, कुछ क्षण वह पत्थर की तरह मौन खड़े रहे, किन्तु उन्होंने कुछ क्षण ही अनिश्चितता से उसका घूरती हुई आंखों से पीछा किया होगा कि एक मूर्ख किन्तु अन्यथा हानि-रहित पशु राणा ने उनकी ओर से क्रोधभरी आवाज़ की, जिसमें और सब भी एकदम बड़े जोश के साथ सम्मिलित हो गये। अगले ही क्षण नवागन्तुक आक्रान्ताओं की भीड़ में छिप गई, जिन्होंने अपने दांत उसके शरीर में गाड़ दिये, और जिन्हें बड़ी मुश्किल से हमारी मौजूदगी में, उससे अलग किया जा सका। कुछ दिनों के बाद भी उनमें से सबसे वयोवृद्ध और खतरनाक पशु ने हमारी उपस्थिति में अनेक बार उस अपरिचित के पास जाने की कोशिश की और जब भी हम समय पर न देख सके, उसने उसके साथ क्रूर दुर्व्यवहार किया। वह बेचारी दुर्बल जीव थी, जिसमें कभी भी लड़ने की तनिक भी इच्छा न दिखाई दी और उसकी तरफ से उनके क्रोध को उद्दीप्त करने का भी इसके अतिरिक्त कोई कारण न था, कि वह अपरिचित थी।"[१२]

इसके बाद का अंश भी इतना ही दिलचस्प है :

"सुल्तान को जिसने कि उपरोक्त आक्रमण में सबसे कम हिस्सा लिया था, सर्वप्रथम इस नवागंतुक मादा के साथ अकेला छोड़ा गया। वह तत्काल अपने को उसके साथ व्यस्त करने लगा, किन्तु अपने साथ हुए दुर्व्यवहार के बाद वह वस्तुतः अत्यन्त शर्मीली थी। फिर भी, वह उससे मैत्री करने का प्रयत्न करता रहा और अन्त में वह उससे क्रीड़ा करने और आलिंगन करने और कुछ-कुछ शर्माकर उसके बाल सुलभ यौन आमंत्रणों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई। जब अन्य शिम्पांजी उसके पास आते और वह उनसे कुछ फ़ासले पर होता, वह बड़ी व्यग्रता से उसे अपने पास बुलाती—जब कभी वह डर जाती, वे तत्काल एक-दूसरे के गले में हाथ डाल देते। दो अन्य मादा लंगूरों ने भी जल्दी ही उस बड़बड़ाने वाले समूह का साथ छोड़ दिया और वह नवागन्तुक के साथ खेलने लगीं—जब तक कि आखिर में चिका और ग्रांडे, जिन्होंने अभी तक एक दूसरे के प्रति कोई

१२. डब्ल्यू० कोहलर, १९२५, पृ० ३०१।

मैत्री नहीं दर्शाई थी, पारस्परिक घृणा से संयुक्त हो...बाड़े से दूर स्थानों में नवागन्तुक और भगोड़ों से दूर अपना समय बिताने लगी।"[१३]

वह क्या कारण हैं जिनसे कि समाज बनते हैं, इसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं, जहां यह दर्शाया जा चुका है कि किस प्रकार पशुओं के समूह जीवित रह सकते हैं जबकि अकेले पशु के लिए यह सम्भव नहीं। उनके यह सामुदायिक संगठन किस अंशतक प्राणि-शारीरिक कारणों, जैसे कि बच्चों की रक्षा की आवश्यकता या अन्य कारकों से निर्धारित होते हैं, इसमें इस समय पड़ने की हमें जरूरत नहीं। हम तो यह जानते हैं कि समाजों में रहने की प्रवृत्ति ऐसी है जो कि अन्य पशुओं की भांति मनुष्य में भी है।

३

मानव और मानव से निचले समाजों में रूप और कार्य, दोनों में पर्याप्त समानतायें हैं। समूह का एक स्थान पर रहना, उसमें आयु, या आकार या किसी अन्य गुण के आधार पर विभेदीकरण, उसका सहयोगी पहलू, अन्तः-समूह के सदस्यों में उससे बाहर के लोगों के विरुद्ध एक तादात्म्य, यह सब मानव और पशु दोनों ही समूहों की विशेषतायें हैं। ऐसे कार्य जैसे कि बच्चों की रक्षा, शत्रु के विरुद्ध संरक्षण, समुदाय में पैदा हुए बच्चों का या प्रौढ़ रूप में बाहर से स्वीकार किये गये सदस्यों का समुदाय के साथ एकीकरण, उन सभी के लक्षण हैं।

एक बात जो कि मानव समाजों को अन्यों से पृथक् करती है वह यह है कि मनुष्य ही अकेला जीव है जिसके पास संस्कृति है। इस भिन्नता को जुकरमैन ने विशेष स्पष्टता से रखा है :-

"अन्त में सांस्कृतिक घटनायें शरीर-क्रियात्मक घटनाओं से बिलकुल भिन्न सिद्ध नहीं हो सकतीं। किन्तु पशु के शरीर-क्रियात्मक प्रत्युत्तरों तथा मानव के सांस्कृतिक व्यवहार में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। पशुओं के व्यवहार में अन्तर्निहित प्रभावशाली उद्दीपन मुख्यतः तात्कालिक शारीरिक घटनाओं में निहित होते हैं, जो कि किसी भी प्रकार उस जाति के उससे पहले जीवित पशुओं की क्रियाओं का परिणाम नहीं होते। इसके विपरीत, मानव बोली के द्वारा अनुभव संचय करता है और मानव व्यवहार में अन्तर्निहित प्रभावशाली उद्दीपन मुख्यतः उससे पहले जीवित रहे लोगों के जीवन के परिणाम होते हैं। वह वातावरण जिसके अन्तर्गत मानव प्राणी रहते हैं, मुख्यतः पहली पीढ़ियों के कार्यों का संचय है। इन अर्थों में संस्कृति मूलतः मानवीय घटना है।"[१४]

यही मत शेनीरला ने व्यक्त किया है, जिसने बताया है कि चींटियों में "सीखने की प्रक्रिया पिटीपिटाई और रटने के प्रकार की है और एक प्रक्रिया के रूप में एक और व्यक्ति निर्दिष्ट परिस्थिति तक सीमित है" जोकि मानव समाजों

१३. वहीं, पृ० ३०१-२।
१४. एस० जुकरमैन, १९३२, पृ० १९।

से भिन्न है, जहां कि ज्ञान संचयात्मक है, और इसीलिए "प्रत्येक समाज की विशिष्ट सिखाई उसी के साथ मर जाती है।" इसी कारण शेनीरला यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि हमें "मानव-स्तर पर गुणात्मक दृष्टि से भिन्न, व्यक्तिगत समाजीकरण (Socialisation) की प्रक्रिया की उपस्थिति को स्वीकार करना चाहिए जो कि सांस्कृतिक प्रतिमान तथा सामाजिक विरासत के अनुसार मनो-वैज्ञानिक कारकों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रभावित होती है, बजाय इसके, जैसाकि कीटस्तर पर होता है कि उसे आनुवंशिक शारीरिक साधनों के प्रत्यक्ष कार्य पर निर्भर माना जाय।"[१५]

यह वक्तव्य संस्कृति के अद्वितीय मानवीय गुण को व्यक्त करते हैं, या जैसा कि हमने इसे प्रस्तुत किया है, इस तथ्य को कि मानव ही अकेला संस्कृति-निर्माता पशु है। यहां पर हमने समाज और संस्कृति के भेद को भी स्पष्ट किया है, समाज व्यक्तियों का समूह है, और संस्कृति उस सीखे हुए व्यवहार का विधान है जिसके अनुसार व्यक्ति जीवन-यापन करते हैं। पर इतना ही काफ़ी नहीं है। हमें उन प्रक्रियाओं में जोकि व्यक्ति को समाज के साथ एकीकृत करने में अन्तर्निहित हैं, और जब कि वह उन प्रथासम्मत सोचने व कार्य करने की रीतियों को सीखता है जोकि उस संस्कृति को बनाती है, जो उसके समाज को अन्य मानव समूहों से पृथक् करती है. तब क्या होता है, इन दोनों के बीच विद्यमान भेद को अधिक स्पष्ट करना चाहिए।

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा एक व्यक्ति समाज के साथ एकीकृत होता है, **समाजीकरण** (Socialisation) कहलाती है। इसमें व्यक्ति का समूह के अन्य सहयोगियों के साथ अनुकूलन संनिहित है, जो बाद में उसे एक पद (Status) देता है, और समुदाय के जीवन में उसे जो भूमिका अदा करनी है, उसका निर्देश करता है। वह विभिन्न अवस्थाओं में से गुज़रता है, प्रत्येक अवस्था में कुछ स्वीकृत और निषिद्ध व्यवहार होते हैं, जैसे बच्चों में खेल-कूद तथा बड़ों में शक्ति का प्रयोग। जैसे ही यौन परिपक्वता प्राप्त होती है, वह पुनः पारिवारिक समूह में भाग लेता है, किन्तु इस बार एक माता-पिता, रक्षक और शिक्षक के रूप में। वह कुछ अन्य समूहों का सदस्य भी बनता है जोकि रिश्तेदारी पर नहीं, बल्कि लिंग या आयु के भेदों पर आधारित हैं।

चूंकि अकेले मनुष्य में ही सीखे हुए व्यवहार को विकसित करने और दूसरों तक पहुंचाने की क्षमता है, उसकी सामाजिक संस्थाओं में किसी भी अन्य **जीव-जाति** की अपेक्षा अधिक विविधता और जटिलता विद्यमान है। अपने साथियों के साथ बोली के प्रतीकात्मक व विचारात्मक रूपों के द्वारा संचार की योग्यता के कारण, वही अकेला ऐसा प्राणी है, जिसने कि परिवार जैसी बुनियादी सामाजिक संरचता में भी अनेक परिवर्तन किये हैं। यदि हम मानव से निचली किसी भी

---

१५. टी० सी० शेनीरला, १९४३, पृ० ९९०-१।

जीव-जाति के सामूहिक जीवन पर विचार करते हैं, हम देखते हैं कि उनकी सामाजिक संरचनायें अधिक एक-समान हैं और इस प्रकार उनमें मानव की अपेक्षा अधिक सरलता से पूर्वोक्ति (Prediction) की जा सकती हैं, चूंकि उनकी हरेक पीढ़ी केवल उतना ही सीखती है जितना कि उनके समकालीनों का व्यवहार है, जबकि मनुष्य अपने से पहले गुजरे हुए लोगों के अनुभव के आधार पर निर्माण करता है।

पशुओं और मानव दोनों में सीखना विस्तृततम अर्थों में एक अनिवार्य अन्तर्निहित प्रक्रिया है। पशु भी सीख सकते हैं। अनेक परीक्षणों से देखा गया है यक अन्य चिड़ियाओं के साथ पाली गई कनारी चिड़ियाओं का गीत बदल जाता है, या बिल्लियों को ऐसे सिखाया जा सकता है कि वह चूहों को मारने के बजाय उनके साथ खेलें। इस दूसरी प्रकार के एक परीक्षण में कुओ ने बिल्लियों को ऐसा सिखाया कि वह चूहों से डरने लगीं; चूहा मारनेवाली बिल्लियों से वे पृथक् पाली गई बीस बिल्लियों में से नौ स्वयं चूहा मारनेवाली हो गईं।[१६] किन्तु फिर भी चेतन प्रशिक्षण के महत्त्व को एक कारक के रूप में बिलकुल अस्वीकार नहीं किया जा सकता और सामान्य परिस्थितियों में पले बिल्ली के बच्चों पर उनकी मां का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

बड़े पशु छोटों को सिखाते हैं, यह तथ्य वैज्ञानिक अन्वेषण के क्षेत्र से बाहर भी स्वीकृत है। डच गायना से प्राप्त निम्न प्रकार की कथा यह दर्शाती है कि पशुओं में सिखाने तथा सीखने के कारक को किस घरेलू तरीके से व्यक्त किया जा सकता है।

"बिल्ली का बच्चा और छोटा चूहे का बच्चा पक्के दोस्त थे। रोज वह साथ खेलने जाते थे। पर चूहे को पता नहीं था कि वह बिल्ली का प्रिय भोजन है और बिल्ली को भी पता न था कि चूहा उसका प्रिय भोजन है। पर एक दिन जब चूहा घर आया, उसकी मां ने उससे पूछा, "तुम किस के साथ खेलते हो"? उसने कहा, "अपनी दोस्त बिल्ली के साथ।" और उसी समय जब बिल्ली अपने घर पहुंची, उसकी मां ने उससे पूछा, "तुम किस के साथ खेलते हो?" उसने कहा, "छोटे चहे के साथ।" चूहे की मां ने उससे कहा, "तुम अब बिल्ली के साथ कभी मत खेलना, क्योंकि तुम उसके प्रिय भोजन हो," और उसी समय बिल्ली की मां अपने बच्चे से कह रही थी, "हे मूर्ख, तुझे नहीं मालूम कि वह तेरी चटनी है? जब तुम उसके साथ खेलो, तुम उस पर वार कर देना।" अगले दिन जैसे ही सड़क पर आकर बिल्ली ने अपने दोस्त चूहे को बुलाया और कहा' "क्या तुम मेरे साथ खेलने नहीं आ रहे हो?" तत्काल चूहे के बच्चे ने जवाब दिया, "हां भाई! तुम्हारे गांव में बुद्धिमान् लोग हैं, पर मेरे गांव में भी बुद्धिमान् लोग हैं।"[१७]

---

१६. जे़ड० आई० कुओ, १९३०।
१७. एम० जे० और एफ० एस० हर्सकोवित्स, १९३६, पृ० २८१।

पशुओं की अपेक्षा स्पष्ट ही मनुष्यों का समाजीकरण अधिक जटिल है, चूंकि मानवीय सामाजिक संस्थायें कितने ही विविध और परिवर्तित रूप धारण करती हैं। इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया उस प्रक्रिया का एक अंश मात्र है जिसके द्वारा कि मनुष्य अपने साथियों से, उस सम्पूर्ण—आर्थिक, सामाजिक, प्रौद्योगिक, धार्मिक, सौन्दर्यात्मक और भाषा-सम्बन्धी—परम्परा को जिसके कि वह उत्तराधिकारी हैं, क्रियान्वित करने में समायोजन स्थापित करते हैं। यहां सीखना एक विशेष महत्त्व धारण कर लेता है जिसे कि, लोगों की जीवन रीति को ढालने में हमें उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य को समुचित रूप से समझने के लिए पूरी तरह से जानना चाहिए।[१८]

४

सीखने के अनुभव के वे पहलू जोकि मानव को अन्य जीवों से पृथक् करते हैं और जिनके द्वारा वह अपनी संस्कृति में दक्षता प्राप्त करता है, उसे **संस्कृतीकरण** (Enculturation) कहा जा सकता है। यह साररूप में ज्ञात या अज्ञात प्रशिक्षण की प्रक्रिया है जो कि निर्दिष्ट प्रथाओं के विधान की स्वीकृति के अन्तर्गत कार्यान्वित होती है। इस प्रक्रिया से सामाजिक जीवन में सब समायोजन ही नहीं, बल्कि वह संतुष्टियां भी जो कि सामाजिक अनुभव का अंग हैं और जोकि समूह के अन्य सदस्यों के साहचर्य की अपेक्षा व्यक्तिगत अभिव्यक्ति से निकली हैं, प्राप्त होती हैं।

प्रत्येक मानव प्राणी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से गुज़रता है, क्योंकि बिना अनुकूलन के जोकि इसके अन्तर्गत है, वह समाज के सदस्य की भांति नहीं रह सकता। मानव व्यवहार की किसी भी अन्य घटना के समान यह प्रक्रिया भी बहुत जटिल है। व्यक्ति के जीवन के आरम्भिक सालों में यह मुख्यतः बुनियादी प्रशिक्षणों—खाने की आदतें, सोने, बोलने, व्यक्तिगत सफ़ाई—तक सीमित रहती है, इनका सिखाना व्यक्तित्व के निर्माण और बाद के प्रौढ़ जीवन की आदतों को बनाने में महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी बाल्यकाल समाप्त हो जाने पर यह संस्कृतीकरण का अनुभव बन्द नहीं कर दिया जाता। जैसे-जैसे व्यक्ति बाल्यावस्था से किशोरावस्था तथा प्रौढ़ पद की ओर बढ़ता है, निरन्तर उसे सीखने की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है, जो कि यह कहा जा सकता है कि उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है।

प्रारम्भिक वर्षों और बाद के संस्कृतीकरण के अनुभव की प्रकृति में यह अन्तर है कि जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, व्यक्ति की बोधपूर्वक स्वीकृति या अस्वीकृति का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता जाता है। किन्तु जिस समय तक एक स्त्री और पुरुष परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वह इतना अधिक प्रशिक्षित हो जाता है

---

१८. इस समस्या पर मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक वक्तव्यों के लिए, एन० ई० मिलर और जे० डोलार्ड, १९४१।

कि वह सरलता से समूह द्वारा निर्धारित व्यवहार की स्वीकृत सीमाओं में ही कार्य करता है। इसके बाद उसके सामने व्यवहार के जो नये रूप उपस्थित होते हैं, वह अधिकांशतः वे होते हैं जो संस्कृति-परिवर्तन के अन्तर्गत होते हैं, जैसे कि नये आविष्कार या खोजें या वह नये विचार जो बाहर से उसके समाज में आये हों और जिनके बारे में एक व्यक्ति के नाते उसे "कुछ निश्चय करना आवश्यक है," और इस प्रकार अपनी संस्कृति को नई दिशा देने में अपनी भूमिका अदा करनी है।

सत्य तो यह है कि हम यहां पर संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के सबसे अधिक बुनियादी पहलू पर विचार कर रहे हैं; वह पहलू जिसका पूर्ण महत्त्व तभी समझा जा सकता है जब कि हम व्यक्ति का संस्कृति से सम्बन्ध या संस्कृति में अनुदारवाद (Conservatism) तथा परिवर्तन पर विचार करते हैं। यह स्मरणीय है कि इसके समाधान द्वारा ही हम संस्कृति के समझने में उपस्थित ज़ाहिरा विरोधी तर्क का निराकरण कर सकते हैं। फिर भी **बुनियादी सिद्धान्त स्पष्ट है: व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में संस्कृतीकरण वह प्रधान कार्य-प्रणाली है जो सांस्कृतिक स्थिरता लाती है, परन्तु जब यह प्रक्रिया अधिक परिपक्व जनों पर काम करती है, तो यह परिवर्तन लाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।**

प्रारम्भिक संस्कृतीकरण के शिक्षण के कारण ही, जैसा कि हम बता चुके हैं, "मानव प्राणी अपनी संस्कृतियों को इतनी अच्छी तरह सीख लेते हैं कि उनका अधिकांश व्यवहार बहुत कम ही चेतन स्तर पर आ पाता है।" अपने प्रारम्भिक वर्षों में हमें निरन्तर सहमत होने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है, चाहे वह दंड की प्रविधि द्वारा हो या पुरस्कार के द्वारा, जैसे कि समाज के नैतिक विधान की शिक्षा के सम्बन्ध में होता है; या अनुकरण द्वारा, जैसे कि हावभाव के प्रदर्शन या बोली के उतार-चढ़ाव को सीखने में अंगों की गति में होता है। बाल विरोध, जैसे कि जब बच्चा बोलना सीखने से इन्कार कर देता है, अनुपस्थित नहीं है। किन्तु ऐसे विरोध व्यक्तिगत हैं, जो कि बालक के व्यवहार स्वातंत्र्य पर लगाये गये बन्धनों के विरुद्ध हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि यह बाल-विरोध युक्ति का सहारा नहीं लेता। यह ऐसा हो भी नहीं सकता, चूंकि बालक का भाषा का—अर्थात् प्रतीकात्मक साधन इस योग्य नहीं होता।

दूसरे शब्दों में, समाज में नये सदस्य को संस्कृतीकरण के अनुशासन की शिक्षा, उसके सामाजिक समूह के सदस्य की हैसियत से कार्य करने के लिए अनिवार्य है, और यह सामाजिक स्थिरता और सांस्कृतिक निरन्तरता में योग दान देती है। जैसे ही व्यक्ति बड़ा होता जाता है यह प्रारम्भिक प्रशिक्षण इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि वह उसके दैनिक व्यवहार का अभिन्न अंग बन जाते हैं। तब यह निरन्तर जारी संस्कृतीकरण बहुत अंशों में चेतन स्तर पर पुनः प्रशिक्षण प्रक्रिया बन जाती है। एक स्त्री या पुरुष उन व्यवहार रीतियों को जानते हैं जो कि उनके समूह में एक निर्दिष्ट स्थिति में परम्परा द्वारा स्वीकृत हैं,—जैसे कि एक समाज में उन्हें अपने पास से गुज़रते हुए बुज़ुर्ग के प्रति सम्मान दिखाने के लिए

धीरे से हट कर उसकी ओर अपनी पीठ कर लेनी चाहिए, और दूसरे समाज में, एक मृत व्यक्ति की सम्पत्ति को जला देना चाहिए।

पर यदि वह ऐसे अन्य लोगों के सम्पर्क में आता है, जो यह मानते हैं कि बड़े के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उसकी ओर मुँह किया जाता है, न कि हटाया जाता है, तब चुनाव की अधिकतम स्वतंत्रता के साथ भी उसके सामने एक विकल्प उपस्थित हो जाता है जिसका उसे समाधान करना होगा। यदि वह स्वयं नई रीति स्वीकार करे तो घर पर उसका विरोध हो सकता है, किन्तु जब तक कि उसे सम्मान प्रदर्शित करने की इस नई रीति से रोक ही न दिया जाय, उसकी दृढ़ता उसे एक ऐसा केन्द्र बना देगी जिससे कि एक शिष्ट व्यवहार के स्वीकृत रूप से संभावित विच्युति प्रसारित होती है, और उसके साथियों के सामने सदैव चुनाव का वह विकल्प रहेगा जो कि वह कर चुका है।

संसार में यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के विस्तार के फलस्वरूप आर्थिक व्यवहार में हुए संशोधन और तज्जनित विरोध यह दर्शाते हैं कि किस प्रकार यह प्रक्रिया कार्य करती है। हमारी संस्कृति में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति या अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति के विनाश को निन्दित समझा जाता है। आदिवासियों के ऊपर उनके शासकों द्वारा जो कि इस सम्पत्ति के विनाश के सामाजिक महत्त्व को नहीं समझते, ऐसे रिवाजों को बदलने के लिए बड़ा ज़ोर डाला गया है। वे इस में सफल हुए या नहीं, परन्तु इस नये आदेश के साथ आदिवासियों के समायोजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया उस प्रारम्भिक प्रशिक्षण की प्रक्रिया से भिन्न है, जिसमें कि वही व्यक्ति बाल्यकाल में गुज़रे थे।

बाद के जीवन के संस्कृतीकरण के अनुभव में निरन्तरता का अभाव रहता है। इस प्रकार यह बाल्यकालीन निरन्तर प्रशिक्षण से भिन्न है। न ही प्रौढ़ व्यक्ति के लिए संस्कृतीकरण की ये परिस्थितियां संस्कृति के उतने अधिक अंशों तक व्याप्त हैं जितना कि बच्चे के लिए। प्रौढ़ व्यक्ति अपनी भाषा, व्यवहार को नियंत्रित करने वाली शिष्टाचार की प्रणालियां, अलौकिक तत्त्वों से निपटने की रीतियां, अपनी संस्कृति की संगीत शैलियां, वह सभी बातें जो कि बच्चा सीखता है, जानता है। एक प्रौढ़ के लिए सिवाय, जहां कि नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, संस्कृतीकरण पूर्ण हो चुकता है। वह अपनी संस्कृति द्वारा प्रदत्त ज्ञान के आधार पर दैनिक निर्णय लेता है। इससे प्रौढ़ मानव प्राणी को, उस रास्ते को दुबारा तय किये बिना जो कि वह तय कर चुका है, संस्कृति द्वारा प्रस्तुत स्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी होती है। इस प्रकार संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिससे अधिकांश व्यवहार को चेतन विचार के स्तर के नीचे कार्यान्वित करना सम्भव है। ग़ैरपारिभाषिक भाषा में, यह ऐसे ही है जैसे कि यूरोपीय लोग बिना ननुनच के अपनी संस्कृति की मोटर, बिजली, सिम्फॉनी, ऑरकेस्ट्रा जैसी जटिल अभिव्यक्तियों को स्वतः ही स्वीकार कर लेते हैं, लेखन-कला या पहिए जैसी बुनियादी प्रौद्योगिक विधि का तो कहना ही क्या।

अध्याय अठारह

संस्कृति और व्यक्ति

संस्कृतीकरण की अवधारणा, एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में विद्यमान संस्कृति, और वह संस्कृति, जो कि उन व्यक्तियों का सम्पूर्ण व्यवहार है जिनके द्वारा कि वह अपने को व्यक्त करती है, इन दोनों के बीच एक पुल का कार्य करती है। हम देख चुके हैं कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में एक व्यक्ति समूह द्वारा स्वीकृत आचार की रीतियां सीखता है। वह इस कार्य को इतनी खूबी से करता है कि उसके विचार, उसकी मान्यतायें तथा उसके कार्य बहुत ही कम अवसरों पर समाज के अन्य सदस्यों से विरोध व्यक्त करते हैं। परिणामतः समूह के जीवन को ऐसी अनेक संस्थाओं में रूपान्तरित किया जा सकता है जिनका कि ऐसा वस्तुगत विवरण दिया जा सके, मानो कि वह उन लोगों से, जो कि उनके अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं, स्वतंत्र रूप से क़ायम हैं।

संस्कृति के अधिकांश जनवृत्तशास्त्रीय अध्ययन इसी तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण के लिए, यह कहना सम्भव है कि पूर्वीय अफ्रीका में ढोर पद और सम्पत्ति के प्रतीक माने जाते हैं, और उन्हें खाने के लिए नहीं मारा जाता, या कुछ दक्षिणी अमरीकी इंडियन संस्कृतियों में जब किसी की पत्नी के बच्चा होता है, तो स्वयं पुरुष बिस्तर पर लेट जाता है। तथापि इस प्रकार के वक्तव्य केवल विशेषताओं के योग हैं और इस प्रकार इन परिस्थितियों में लोगों के प्रत्याशित व्यवहार को बताते हैं। पूर्वी अफ्रीका का आदमी अपने ढोरों को गर्व से देखता है या अपने उस पड़ौसी से ईर्ष्या करता है जिसके पास उससे अधिक ढोर हैं, एक दक्षिणी अमरीकी स्त्री बच्चा जनने के बाद अपने कार्य पर चली जाती है जबकि उसके पति की बिस्तरे में सेवा होती रहती है। संक्षेप में, किसी भी संस्था पर विचार करते समय व्यक्ति को आंखों से ओझल न होने देना चाहिए।

संस्कृतीकरण के अनुभव की अवधि में व्यक्ति को वही रूप देने का प्रयत्न किया जाता है जैसा कि उसका समूह उचित समझता है। इसमें पूर्ण सफलता कभी भी नहीं मिलती, कुछ व्यक्ति अन्यों से अधिक नमनीय होते हैं, कुछ अन्यों की अपेक्षा इस संस्कृतीकरण के अनुशासन का अधिक विरोध करते हैं। फिर भी मोटे तौर से सभी बहुत कुछ एक से हो जाते हैं, और जब एक व्यक्ति पृथ्वी की यात्रा करता है, तो वह देखता है कि जैसे संस्कृतियां एक-दूसरे से भिन्न हैं उसी प्रकार लोग भी एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न दिखाई देते हैं।

संस्कृति के अध्ययन में यहां एक कठिन समस्या की जड़ है—कि किस प्रकार संस्कृतीकरण पृथक् व्यक्तियों के विकास को प्रभावित करता है। क्या एक

निर्दिष्ट समाज में बड़े होने की प्रक्रिया आक्रमणात्मक चालकों को प्रोत्साहित करती है जिसमे कि समूह के अन्दर प्रतियोगिता और अन्य समूहों से युद्ध एक व्यक्ति को सर्वाधिक लाभ पहुंचाते हैं? या कोमल कार्यप्रणालियां उपयुक्त मानी जाती हैं, जिनसे कि सबसे अधिक सहयोगी व्यक्ति, समूह के साथ समायोजन में सर्वाधिक सफल होता है और बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क में कूटनीति तथा समझौते का आधिपत्य रहता है। क्या एक समाज के अन्दर स्वीकृत व्यवहार में असंगति नैराश्य उत्पन्न करती है, या संस्थायें इस प्रकार संतुलित रूप से समन्वित होती हैं जिससे कि अल्पतम आंतरिक विरोध के साथ व्यक्ति एक समायोजित जीवन व्यतीत कर सकता है?

इस प्रकार के प्रभावों के प्रति कितनी गहरी प्रतिक्रियायें होती हैं, इसे समझने के लिए हमें संयुक्त राज्य अमरीका में दो विरोधी प्रतिमानों पर क्षण भर विचार करना होगा। एक ओर एक अमरीकन ऐसे समाज में जन्म लेता है जो कि अवसर की समानता की अवधारणा पर आधारित है और जो प्रायः-प्रयुक्त इस विश्वाससूचक वाक्य में व्यक्त होती है, कि "प्रत्येक लड़के को यह अवसर प्राप्त है कि वह राष्ट्रपति बन सके", या लोकप्रिय साहित्य में भी सफलता की कहानियों में मुख्यतया इसी की अभिव्यक्ति है। किन्तु आर्थिक या सामाजिक वर्गीय भेदों या जातीय या नस्ली उद्गम की परिस्थितियों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं मे इन्कार नहीं किया जा सकता। सीधे-साधे व्यक्तियों के लिए, जिनमें कि अवसर की समानता का सिद्धान्त कूट-कूट कर भर दिया गया है, यह विरोध आदर्श तथा अनुभव में संघर्ष प्रस्तुत करता हैं जिससे कि अच्छी स्थिति में एक उत्पीड़ित छिद्रान्वेषण की भावना और बुरी स्थिति में एक भीषण मानसिक विकृति उत्पन्न होती है जो कि व्यक्ति द्वारा अनुभव किये गये नैराश्यों का परिणाम है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के प्रसंग में संस्कृति और व्यक्ति का सम्बन्ध यह दर्शाता है कि मानव प्राणि में अत्यन्त नमनीयता है। यहां हम देखते हैं कि प्राणिशास्त्रीय विरासत द्वारा मानव को संभावित व्यवहार के क्षेत्र में कितनी छूट है। इससे भी हम यह सिद्धान्त निकालते हैं कि मानव प्राणी किसी भी संस्कृति का उसके सूक्ष्मतम पहलुओं में भी अभ्यास कर सकता है, बशर्ते कि उसे सीखने का मौका दिया जाय।

किन्तु यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि इस प्रक्रिया में व्यक्ति एक-मात्र निष्क्रिय तत्त्व है। उसके प्रारम्भिक संस्कृतीकरण के विषय में तो यह सत्य है, जबकि सदा इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि व्यक्ति समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार-प्रतिमानों के अनुरूप अपने को ढाल रहा है। फिर भी वह सुरक्षा की भावना जो कि उसे बाल्यावस्था में प्राप्त देख-रेख से मिलती है, या उपेक्षित होने पर वह जो असुरक्षा अनुभव करता है, या अपने शरीर क्रियात्मक व्यापारों के संचालन में जिस सीमा तक उसे कठोर परिश्रम करना पड़ता है या इसमें उसे जितनी स्वाधीनता मिलती है—यह सब भिन्नतायें व्यक्ति के विकास में समाज के

लिए गम्भीर परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। जिस बच्चे की सुरक्षा की भावना इस अनुभूति से, कि उसे स्वीकार नहीं किया जा रहा है, आक्रान्त हो जाती है, वह इस कमी को पूरा करने के लिए बाद में रास्ता ढूंढेगा। वह जो कोई भी साधन उसे उपलब्ध हों, उनसे अपनी इच्छा को दूसरों पर थोपने की कोशिश कर सकता है, और जुलू मुखिया चाका की भांति एक अत्याचारी बन सकता है।[1] वह सिद्धान्त, जिसके अनुसार लोगों का इतिहास समय-समय पर प्रकट होने वाले प्रबल व्यक्तियों द्वारा निर्माण किया जाता है—इतिहास के "महान् पुरुष" का सिद्धान्त—ऐसे ही तथ्यों पर आधारित था। यह सिद्धान्त अब ग्राह्य नहीं रहा है, क्योंकि इसमें एक जटिल प्रक्रिया को बहुत सरल रूप दे दिया गया है। परन्तु हम देख सकते हैं कि इस सिद्धान्त ने व्यक्ति और उसके समूह के बीच हुई अन्तःक्रियाओं के परिणामों में बिल्कुल अनजाने में ही कितना कुछ ले लिया है, चूंकि यह संस्कृतीकरण की अवधि में उसके समूह के आचार के मानों, उसकी मूल्य प्रणाली, उसके व्यवहारों के संस्थागत रूपों के असम्बन्ध में उसके अनुभव से निर्धारित होता है।

यह स्मरण होगा कि इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में मानवशास्त्र और मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्ध पर ज़ोर दिया गया था। यह इस ओर संकेत करना है कि हमें इस सूत्र पर जो कि बहुत समय तक स्वीकृत रहा है और अभी भी सुनने में आता है, कि मानवशास्त्र समूहों से, और मनोविज्ञान व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं, पुर्नविचार करना चाहिए। इस सूत्र के अन्तर्गत मानवशास्त्री द्वारा संस्कृति का संस्थाओं की एक श्रेणी के रूप में अध्ययन किया जाता था और उसमें व्यक्ति के कार्य तथा स्थान का कोई जिक्र नहीं होता था। यह माना जाता था कि मनोवैज्ञानिकों की केवल पृथक् मानव प्राणियों में दिलचस्पी है, जिनकी मानसिक प्रक्रियाओं का, जिस सांस्कृतिक परिवेश में वह पायी गई हैं उसका कोई निर्देश न करते हुए, या नाममात्र निर्देश करते हुए, उन्हें विश्लेषण करना है।

यहां पर हम दोनों की समान दिलचस्पी के इस क्षेत्र पर जो चिरकाल से उपेक्षित रहा है, विचार करेंगे। प्रेरणा (Motivation) और समायोजन जैसी बुनियादी प्रक्रियाओं को, जिन परिस्थितियों में वह हुई हैं, उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता, और न ही उन्हें उन व्यक्तियों का हवाला दिये बिना अध्ययन किया जा सकता है जोकि प्रेरित हैं, और जिन्हें समायोजन करना है। किन्तु जब व्यक्ति प्रशंसा से आकर्षित होते हैं, सुरक्षा चाहते हैं, स्वीकृत व्यवहारों की रीति के साथ चलना चाहते हैं, या प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, तो उनकी संस्कृति यह आदेश करती है कि वह किन उद्देश्यों को चाहेंगे तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। संक्षेप में, यहां हमारी दिलचस्पी **संस्कृति के मनोविज्ञान** या जैसा कि उसे कहते हैं, **मनोजनवृत्तशास्त्र** (Psychoethnography) में है, जोकि व्यक्ति

---

१. टी० मोफोली, १६३१।

का जैसे-जैसे वह समाज का सदस्य बनने पर उसमें विद्यमान और स्वीकृत व्यवहार रीतियों को सीखता है, अध्ययन है।

२

मनोविज्ञान के वे सम्प्रदाय जिन्होंने सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति के अध्ययन को सर्वाधिक प्रोत्साहित किया है ये हैं, व्यवहारवाद (Behaviorism) और गैस्टाल्ट या संरूपात्मक (Configurational) दृष्टिकोण और मनोविश्लेषण। अन्य प्रभावों को भी ढूंढा जा सकता है। १९२० ई० से पहले विभिन्न मानवशास्त्री, जैसे फ्रैंज बोआस, ए० ए० गोल्डनवीज़र, सी० जी० सेलिग्मैन और डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स ने मनोविज्ञान पर ध्यान देने पर बल दिया। व्यवहारवादी सम्प्रदाय ने, जिसने प्रशिक्षित प्रत्युत्तर के (Conditioned response) सिद्धान्त पर ज़ोर दिया, मानवशास्त्रियों को वह अवधारणात्मक और पद्धतिशास्त्रीय साधन दिये, जिन्हें उन्होंने तत्काल ग्रहण कर लिया और प्रयोग में लाने लगे।

किस हद तक मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण में व्यवहारवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है, इसे पिछले अध्याय में हमारी संस्कृतीकरण की विवेचना में देखा जा सकता है। बड़े अनुपात में सीखने की प्रक्रिया एक प्रशिक्षणात्मक प्रक्रिया है या बाद के सालों में, पुनःप्रशिक्षण की। यदि ऐसा न होता, तो एक मानवप्राणी कोई कार्य न कर पाता, चूंकि उसका सारा समय प्रत्येक नयी परिस्थिति को आंकने में ही बीत जाता, बजाय इसके कि जैसा हम कहते हैं, वह "बिना सोचे" उसका प्रत्युत्तर देता। इसे देखने के लिए हम एक भीड़ से भरी सड़क पार करने की समस्या पर विचार कर सकते हैं। यह खतरनाक कार्य है और जब हमें एक अंशतः संस्कृतीकृत बच्चे को रास्ता बताना होता है तो हम उसके खतरे को समझते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति बिना सोचे-विचारे सड़क से निकल जाते हैं, जबतक कि वे ऐसे देशों में यात्रा नहीं करते जहां कि यातायात उससे विपरीत दिशा में चलता है जिससे कि वह अभ्यस्त हैं, जैसे कि बांये के बजाय दाहिने हाथ। केवल ऐसी ही परिस्थितियों में सांस्कृतिक प्रशिक्षण की प्रभावशीलता और कुशलता तथा स्वाधीनता जो कि वह हमें देती है, समझ में आती है। गेस्टाल्ट या संरूपात्मक मनोविज्ञान जो कि व्यवहारवाद के बाद आया है और एक मायने में उसीसे उत्पन्न हुआ है, बावजूद इसके कि उसने मानवशास्त्रियों के चिन्तन को पर्याप्त प्रभावित किया है, उसका उन्होंने निश्चित रूप से बहुत कम प्रयोग किया है। इसका मुख्य आधार किसी मानव अनुभव की सारभूत एकता पर ज़ोर देना है। मानवशास्त्र के लिए जो निरंतर प्रत्येक संस्कृति के एकीकरण का अधिकाधिक अनुभव कर रहा था और इस एकीकरण को पूरी तरह ध्यान में लाये बिना संस्कृति को उप-इकाइयों में बांटने की कृत्रिमता पर अधिकाधिक ज़ोर दे रहा था, यह दृष्टिकोण विशेष रूप से अनुकूल था। गेस्टाल्ट, या बाद में "क्षेत्रीय सिद्धान्त", (Field-theory) मनोविज्ञान ने लेविन और ब्राउन के कार्य द्वारा इस बात पर विशेष बल दिया कि व्यक्ति को उसकी संस्कृति से पृथक् करने से

अनिवार्यतः हमें व्यवहार के सम्बन्ध में एक विकृत तस्वीर मिलती है। प्रभावशाली होने के लिए, उन सभी तत्त्वों पर जो कि एक निर्दिष्ट क्षण में एक व्यक्ति या एक समूह के सम्पूर्ण परिवेश में आते हैं, विचार किया जाना चाहिए। इसमें वस्तुतः वह संस्कृति जिसमें कि व्यक्ति अपना जीवन बिताता है, सर्वाधिक महत्त्व का स्थान ले लेती है।

सिगमंड फ्रायड और उसके शिष्यों की रचनाओं ने संस्कृति में व्यक्ति के मानवशास्त्रीय अध्ययन को अत्यन्त प्रभावित किया। फ्रायड और उसके समर्थकों ने मानव व्यक्तित्व के निर्माण में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के अनुभवों की भूमिका पर बहुत जोर दिया था, इसने मानवशास्त्रियों को अनक्षर समाजों में बच्चों के प्रशिक्षण का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। फ्रायड ने यूरोपीय अमरीकी संस्कृति के उन्नीसवीं और प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी के चिन्तन में यौन-व्यवहार के विवेचन के निषेध को मानने से इन्कार किया, परिणामतः मानवशास्त्रियों ने यौन आदतों के महत्त्व को समझा और उनके अध्ययन को गवेषणाओं के कार्यक्रम में सम्मिलित किया। फ्रायडवादियों ने मूल प्रेरणा (Motivation) की समस्या पर जो प्रकाश डाला, उसने व्यवहार के अनेक रूपों की, जोकि उन उद्देश्यों के "युक्तिकरणों" (Rationalisations) को व्यक्त करते हैं, जिनका असली गुण पहले स्वीकार नहीं किया जाता था, पुनःपरीक्षा को प्रोत्साहित किया।

मानवशास्त्रियों ने फ्रायड की रचनाओं को बहुत धीरे-धीरे ही स्वीकार किया। इसका एक कारण उसका स्वप्नों के प्रतीकवाद पर ज़ोर देना था। फ्रायड के उत्साही शिष्यों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वीयना की (जहां फ्रायड ने काम किया था) रूढ़ियों से प्राप्त प्रतीकवाद को आदिवासी चिन्तन पर बैठाने का प्रयास किया, इससे उन व्याख्याओं की अस्वीकार्यता और भी स्पष्ट हो गई। मानवशास्त्रियों को इस प्रकार की युक्तियों का लम्बा अनुभव था, चूंकि अनेक संस्कृतियों के अध्ययन ने उन्हें यह सिखा दिया था कि किसी भी संस्था का कोई विशेष रूप सार्वभौम नहीं है।

मज़े की बात है कि एक ही पुस्तक **"टोटम और टैबू"**, जिसमें कि फ्रायड ने मानवशास्त्रीय सामग्रियों का उपयोग किया है, उसने मानवशास्त्रियों को फ्रायड-वादी मनोविज्ञान का सबसे अधिक विरोधी बना दिया। फ्रायड ने देखा था कि एक माता का अपने लड़के के लिए जो आकर्षण है, जिसे उसने (Oedipus complex) नाम दिया है, वह अचेतन के स्तर पर पिता के प्रति दोहरी धारण में व्यक्त होता है। फ्रायड की विश्लेषणात्मक सामग्रियों में यह भली-भांति लिपि-बद्ध था। उसने दिखाया कि यह माता के साथ पिता के सम्बन्ध के प्रति बच्चे की ईर्ष्या से पैदा होता है; यह ईर्ष्या भी किसी मायने में अमिश्रित नहीं है, चूंकि उस समय भी पिता और पुत्र के बीच स्नेह के अनेक बन्धन विद्यमान होते हैं। इन खोजों के परिणामस्वरूप फ्रायड ने अपनी सर्वाधिक मूल्यवान् परस्पर-

विरोधी-भावना (Ambivalence) की अवधारणा प्रस्तुत की, जो बताती है कि किस प्रकार एक निर्दिष्ट क्षण पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक साथ आकर्षित भी हो सकता है और उससे विकर्षित भी, प्यार भी कर सकता है, साथ-ही-साथ घृणा भी।

मानव मन को समझने के लिए इस कार्य-प्रणाली की जटिलताओं से प्रभावित होकर फ्रायड इसकी सार्वभौमता की परीक्षा करने के लिए और इसके उद्गम को ढूंढने के लिए सामग्रियां संकलित करने के उद्देश्य से अन्य संस्कृतियों की ओर मुड़ा। किन्तु अपने समाज के अतिरिक्त अन्य किसी समाज का घनिष्ठ ज्ञान न होने के कारण, और बिना यह जाने कि अनक्षर लोगों के कौन-से अध्ययन उसकी समस्या पर प्रभाव डालेंगे वह गौण स्रोतों, प्रशिक्षित तथा अप्रशिक्षित लेखकों द्वारा किये गये संकलनों की ओर अग्रसर हुआ। इसके अतिरिक्त उसने इन रचनाओं में तुलनात्मक सामग्री नहीं ढूंढी, बल्कि उद्गमों की साक्षियां ढूंढीं, जिस खोज को अब असम्भव समझा जाता है।

उसने माना कि पिता और उसके पुत्र के बीच प्रतियोगिता उस परिस्थिति से उत्पन्न हुई जोकि उसके विश्वास के अनुसार पृथ्वी पर मानव के प्रारम्भिकतम दिनों में विद्यमान थी। प्राचीनतम परिवार में "बूढ़ा पुरुष" पाशविक शक्ति के ज़ोर से निरंकुश शासन करता था और गिरोह की सभी स्त्रियां उसकी थीं। जैसे ही उसके पुत्र बड़े हुए, उन्होंने विद्रोह किया और एक दिन उन्होंने मिलकर अपने पिता को क़त्ल कर डाला। इसके अतिरिक्त उन्होंने उसके शरीर का नरभक्षी भोज किया जिससे कि रहस्यवादी रीति से उसकी शक्तियां उन्हें प्राप्त हो जायें। ऐसी स्थिति में स्त्रियों के मन में उनके कार्य के लिये, जिसे उन्होंने स्वयं करने में मना कर दिया था, ग्लानि हुई, और उन्होंने, जो उन्होंने किया था इसके लिए एक पशु को पवित्र मान कर उसका प्रतीक बनाया जो इस प्रकार पिता का "स्वाभाविक और उपयुक्त" स्थानापन्न बन गया, जिसका खाना निषिद्ध है। इसी लिए मानव के मन में परस्पर विरोधी भावनायें मिलती हैं जो कि विस्तृत सामाजिक क्षेत्रों में अनेक लोगों के टोटमी प्रतीकों द्वारा व्यक्त होती हैं, चूंकि टोटम ऐसा प्रतीक है जो कि एक साथ ही पवित्र भी है तथा प्रिय भी, पर फिर भी निषिद्ध (Tabooed) है, और इसलिये उससे बचना चाहिए; और इसी प्रकार अगम्यागमन के विरुद्ध निषेध हैं, जोकि मानव समाजों में सर्वत्र मिलते हैं।

संस्कृति के मनोविज्ञान में बी० मैलिनोवस्की की मुख्य देन यह दर्शाना था कि फ्रायड की खोजें उस देश तथा काल को व्यक्त करती हैं जिसमें कि उसने कार्य किया, और कुछ प्रकार के पारिवारिक सम्बन्धों में ओडीपस कम्प्लेक्स, जैसा कि फ्रायड ने उसकी व्याख्या की है, विद्यमान नहीं था।[२] उसने देखा कि मैलेनेशियाई ट्रोब्रिआंड द्वीप के आदिवासियों में पारिवारिक संरचना ऐसी है कि जहां

२. बी० मैलिनोवस्की, १९२७।

माता की ओर से वंश चलता है। इस प्रकार बच्चों का पिता के परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और बड़ा मामा लड़के की देखभाल करता है और इस तरह पिता को उसका एक मित्र और साथी बनने के लिए मुक्त छोड़ देता है। मामा, जो कि यूरोपीयन-अमरीकन परिवारों के पिता की भांति बच्चे की इच्छाओं को ठुकराता है, और उन्हें दंड देता है, उसके विरुद्ध मैलिनोवस्की को ओडीपस प्रकार की प्रक्रियाओं के अनेक उदाहरण मिले, किन्तु पिता के विरुद्ध एक भी नहीं।

इस अध्ययन का यह महत्त्व नहीं था कि इसने फ्रायडवादी प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को अनियमित ठहराया, बल्कि धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि इस और इसके बाद आनेवाली गवेषणाओं ने फ्रायडवादी प्रणाली को एक विस्तृत संगति प्रदान की है जोकि वैसे शायद उसे न मिल पाती। डी० इगन द्वारा किये गये, होपी इंडियन के स्वप्नों के एक विस्तृत क्रम के विश्लेषण में इसका अच्छा उदाहरण है, जिसमें कि उसने उस मनोविश्लेषणात्मक प्रविधि का उपयोग किया है, जिसका कि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सांस्कृतिक परिवेश के प्रभाव का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों ने बहुत कम उपयोग किया है। वह निर्देश करती है कि इस उपेक्षा का कारण "स्वप्न-व्याख्या में प्रयुक्त प्रतीकों के जाहिरा तौर पर मनमाने प्रयोग" के प्रति मानवशास्त्रियों की प्रतिक्रिया और इस प्रकार के न्यासों के उपयुक्त संकलन तथा विश्लेषण के लिए अपेक्षित समय और प्रशिक्षण की मात्रा थी। फिर भी, जैसा कि वह कहती है, "यदि....यह कल्पना सही है कि स्वप्न मानसिक क्रिया के सम्भावित सार्वभौम रूप हैं, जो कि एक साथ ही व्यक्ति की विशिष्टता से भी व्यक्त हैं और संस्कृति द्वारा ढाले हुए भी—", तब स्वप्नों का, उनमें व्यक्त अन्तर्वस्तु के अर्थों में विश्लेषण जोकि स्वप्नद्रष्टा की संस्कृति से ली गई है, उन "सांस्कृतिक दबावों और सहारों को" दर्शाता है, जोकि जिन परिस्थितियों में वह जीवन बिताता है, उनके प्रति उसकी समग्र प्रतिक्रिया को शक्ल देते हैं। स्वप्नों के रूप, यद्यपि फ्रायड द्वारा प्रयुक्त रूपों से सर्वथा भिन्न काल्पनिक रूपों में व्यक्त हो सकते हैं, फिर भी वे यह सिद्ध करते हैं कि किस भांति निरीक्षित "स्वप्न कार्य प्रणालियां—उन समस्याओं को प्रभावित करती है जिनका कि व्यक्ति के लिए क्षणिक महत्त्व नहीं है," और अन्य बातों के साथ, "व्यक्त स्तर पर फ्रायडवादी प्रतीकों की बारम्बारता—और समूह द्वारा महत्त्व प्राप्त प्रतीकों के विस्तार" को भी प्रकट करते हैं।[3]

फ्रायड की यह स्थापना कि व्यक्तित्व की संरचना गतिशील है, न कि स्थिर, व्यक्ति के सम्पूर्ण अनुभव का परिणाम है, और यह मूलतः उपयुक्त है। मैलिनोवस्की की खोजें और अन्य अध्ययन, जैसे कि इगन का, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, केवल इसी तथ्य के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं कि फ्रायड द्वारा खोजे गये व्यक्तित्व

---

३. डी० इगन, १९४८, पृ० १७७–८ और १९५२, पृ० ४७७, ४८४ और अन्यत्र।

की विश्रृंखलता के रूप और उनकी क्षतिपूरक कार्य प्रणालियां जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के वियना के समाज के कुछ वर्गों में विद्यमान थीं, उन्हें अन्तःसांस्कृतिक सत्यता के सार्वभौम तत्त्वों में नहीं गिना जा सकता, किन्तु मानव व्यक्तित्व को समझने के लिए बाल्यकाल की स्मृतियों में गहरे पैठने की आवश्यकता की अनुभूति उसकी एक प्रमुख देन है, और जैसा कि हम कह चुके हैं, उसने इस समस्या को सुलझाने के लिए बाल-रक्षा और बाल-विकास के अध्ययनों को प्रोत्साहित किया। किन्तु यह अनुभव किया गया, कि अन्य अध्ययनों की भांति उनका अध्ययन भी केवल उनके पूर्ण सांस्कृतिक प्रसंग में ही किया जा सकता है, चूंकि मानव प्राणी की किसी भी प्रतिक्रिया को उसके सांस्कृतिक ढांचे का हवाला दिये बिना नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार संस्कृति द्वारा स्वीकृत अनेक व्यवहारों की प्रकृति को भी हम तभी समझ सकते हैं जब कि हम उनके अनुसार कार्य करने वालों के समान अनुभव का हवाला देकर उसे देखें।

मानव अनुभव की एकता को स्थापित करने में यहां पर मनोविश्लेषण और गेस्टाल्ट मनोविज्ञान आपस में मिल गये हैं और इस प्रकार इस निश्चय को पुष्ट करते हैं कि वस्तुतः संस्कृति को लोगों से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानवशास्त्र में इस आन्दोलन के प्रवर्तक और व्यक्ति का उसकी संस्कृति के प्रसंग में अध्ययन करने पर ज़ोर देने वालों के अग्रणी, सापिर ने इसे बड़े आकर्षक ढंग से रखा है :

"संस्कृति की प्रायः घोषित नवैंयाक्तिकता (Impersonality) के बावजूद, किसी एक समुदाय या किसी एक समूह से "संचालित होने" से कहीं दूर,—यह कुछ व्यक्तियों केवल एक विशिष्ट गुण के रूप में देखी जाती है—जोकि इन सांस्कृतिक वस्तुओं पर अपनी छाप छोड़ते हैं, वस्तुतः यह गम्भीर तथ्य है कि संस्कृति तनिक भी "प्रदत्त" (Given) नहीं है। यह केवल शिष्ट भाषा की परम्परा में ही ऐसी है। जैसे ही हम अपने को संस्कृति ग्रहण करने वाले बच्चे के स्थान पर रखते हैं,—सब चीजें बदल जाती हैं। तब संस्कृति कुछ दी हुई चीज़ नहीं रह जाती, बल्कि कुछ ऐसी चीज़ हो जाती है, जिसे धीरे-धीरे और टटोल कर खोजा जाता है।"[४]

३

व्यक्ति और सांस्कृतिक परिवेश की अन्तःक्रिया के अध्ययन में तीन दृष्टिकोणों को पृथक् किया जा सकता है। पहला **सांस्कृतिक संरूपात्मक** (Configurational) दृष्टिकोण है जो कि संस्कृतियों के एकीकरण करने वाले, मुख्य प्रतिमानों को प्रोत्साहित करना चाहता है जो विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्वों के विकास को प्रोत्साहित करते हैं। दूसरा **मोडल व्यक्तित्व** (Modal personality) का दृष्टिकोण है जो कि जिस सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति जन्म लेता है उसके प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं पर ज़ोर देता है। इस पद्धति को अपनाने वालों का उद्देश्य एक निर्दिष्ट समाज में विशिष्ट व्यक्तित्वों की संरचनाओं को जानना है। तीसरा

४. ई० सापिर, १९४९, पृ० ५९४–५, ५९६।

आरोपणात्मक (Projective) दृष्टिकोण है, जिसमें एक निर्दिष्ट समाज में व्यक्तित्व की संरचनाओं के विस्तार को स्थापित करने के लिए विश्लेषण की विभिन्न आरोपणात्मक पद्धतियों को, विशेष रूप से रोशा-क्रम (Rorschach series) के स्याही के धब्बों को अपनाया जाता है।

ये तीनों दृष्टिकोण एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं पर ज़ोर देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। सम्भवतः यह कहना उचित होगा कि यह संस्कृति में व्यक्ति की भूमिका और मानव व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभाव के विश्लेषण में क्रमिक क़दम हैं। इनकी भिन्नताओं को संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, (१) **सांस्कृतिक संरूपात्मक दृष्टिकोण मूलतः जातिशास्त्रीय** (Ethnological) है। यहां सदैव संस्थाओं, और उन सांस्कृतिक प्रतिमानों का हवाला दिया जाता है जो कि उस ढांचे को रचते हैं जिसमें कि समूह की प्रबल व्यक्तित्व-संरचनायें विकसित होती है। (२) **मोडल व्यक्तित्व का दृष्टिकोण व्यक्ति पर ज़ोर देता है।** यह सामाजिक समायोजन की विस्तृत समस्याओं के तुलनात्मक अध्ययन पर मनो-विश्लेषण के प्रयोग से निकला है। इन दो दृष्टिकोणों के बीच विद्यमान भिन्नतायें उनके स्रोतों से निकली कही जा सकती हैं, पहली रूढ़िगत जातिशास्त्र (Ethnology) से, दूसरी कट्टर फ्रायडवाद से। (३) **जहां आरोपणात्मक प्रविधियां प्रयुक्त होती हैं वहां व्यक्ति तथा संस्कृति दोनों ही उपस्थित होते हैं।** एक प्रमाणित परीक्षण का प्रयोग जिससे सभी परिणामों की तुलना की जा सके, एक ऐसा पद्धतिशास्त्रीय साधन है जिससे कि एक निर्दिष्ट समूह के पृथक् सदस्यों के व्यक्तित्वों की संरचना को, इन अर्थों में कि वह किस सीमा तक अपनी संस्कृति की संस्थाओं तथा मूल्यों से संस्कृतीकृत हुई हैं, आंका जा सकता है।

प्रायः ऐसा सोचा जाता है कि आर० बेनेडिक्ट और एम० मीड की रचनायें सांस्कृतिक संरूपात्मक दृष्टिकोण की मुख्य उदाहरण हैं, यद्यपि इसका सबसे प्रारम्भिक और सूक्ष्म तथा स्पष्ट वक्तव्य ई० सापिर का है, जिससे कि अधिकांश मानवशास्त्रियों को व्यक्ति का उसकी संस्कृति के साथ अध्ययन करने की प्रेरणा मिली है। वह कहता है :

"व्यक्तित्व गुणों के समाजीकरण द्वारा संचयात्मक रूप से संसार की संस्कृतियों में विशिष्ट मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहों के विकास की आशा की जा सकती है। इस प्रकार अधिकांश उत्तरी अमरीकी इंडियन संस्कृतियों के विरुद्ध एस्कीमो संस्कृति बहिर्मुखी है, हिन्दू संस्कृति समग्ररूप में अन्तर्मुखी, चिन्तन के संसार से मेल खाती है, संयुक्त राज्य की संस्कृति अपने गुण में निश्चित ही बहिर्मुखी है, जिसमें अनुभूति की अपेक्षा चिन्तन और अन्तर्दृष्टि पर अधिक ज़ोर है, और उत्तरी यूरोप की संस्कृतियों की अपेक्षा भूमध्यसागरीय क्षेत्र की संस्कृतियों में संवेगात्मक मूल्यांकन अधिक स्पष्ट है।"[५]

---

५. ई० सापिर, १९४९, पृ० ५६३

यद्यपि वह यहां कहता है कि "अन्ततः...संस्कृति की ऐसी मनोवैज्ञानिक विशेषतायें अपरिहार्य तथा आवश्यक हैं तथापि" बाद में जैसे ही सापिर की दिलचस्पी सम्पूर्ण संस्कृतियों को मनोवैज्ञानिक अर्थों में वर्गीकृत करने से हटी, उसने इस दृष्टिकोण को त्याग कर व्यक्तित्व रचना की गतिशीलता को ग्रहण किया।

मीड की देनें मुख्यतः उसकी दक्षिणी पश्चिमी प्रशान्त की क्षेत्रीय गवेषणाओं से ली गई हैं।[६] उसने बताया कि न्यूगिनी के तट से दूर स्थित मानुस द्वीप पर व्यक्ति का सामाजिक प्रशिक्षण बाल्यकाल और प्रौढ़ व्यवहार प्रतिमानों के बीच तीव्र व्याघात उपन्न करता है और इन तनावों को इसलिए उत्पन्न किया जाता है कि वहां बहुत विरोधी परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करना आवश्यक है। बाद में उसने तीन न्यू गिनी समाजों में स्त्री पुरुषों के व्यक्तित्व-प्ररूपों का अध्ययन किया। यहाँ यह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि स्त्री-पुरुषों के बीच प्रभुता और आज्ञापालन के जिन प्रतिमानों को पहले प्राणिशास्त्र द्वारा निर्धारित माना जाता था, वस्तुतः उन्हें संस्कृति ने निर्धारित किया था। यह माना जाता था कि व्यक्ति उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों का परिणाम था जिनके बीच वह रहता था, और इस प्रकार समूह में विलीन हो जाता था।

बेनेडिक्ट की गवेषणाओं में भी विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न मनोवैज्ञानिक समुच्चयों में व्यक्ति के विलीन हो जाने की प्रवृत्ति, प्रकट होती है।[७] जिन प्ररूपों का उसने वर्णन किया है उनके उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये संस्कृति के गुणों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उसमें उसने दक्षिणी पश्चिमी अमरीका के जूनी इंडियनों में की गई अपनी गवेषणा, मीड की खोजों, बोआस के अध्ययन और फौरचून द्वारा किये गये डोबू के आदिवासियों के अध्ययन से सहायता ली है। इन प्ररूपों को उसने एपोलोनियन, जोकि सापिर के अन्तर्मुखी प्ररूप के समान है, और डायोनीसियन, जोकि बहिर्मुखी के समान है, यह संज्ञायें दी। जूनी इंडियनों को पहले प्ररूप का उदाहरण बताया गया है। व्यक्तिगत सम्बन्धों में उनका संयम, समूह के अन्दर व्यक्ति का विलीन हो जाना, कठिनाई से गुस्सा आना और धार्मिक अनुष्ठानों में अत्यधिक उत्तेजना का अभाव, कुछ ऐसे गुण हैं जो कि उन्हें इस प्रकार की संस्कृति को अपनाने के कारण पृथक् करते हैं। इसके विपरीत, क्वाक्युत्ल का क्रोध और डोबुओं की संदेहशीलता, नैराश्य की परिस्थिति से मनोवैज्ञानिक समायोजन स्थापित करने के लिए क्वाक्युत्ल का पोलटाश के समय अनुष्ठानों का आडम्बर और आर्थिक अपव्यय, और व्यक्तित्व के विस्तार और अहं की स्थापना के लिए डोबू में बगीचे के जादू का प्रयोग, ऐसे लक्षण हैं जोकि इन संस्कृतियों को डायोनीशियन श्रेणी में रखते हैं।

सभी अग्रगी प्रयासों की भांति इस स्थिति के गुण ही इसके दोष सिद्ध

---

६. एम० मीड, १९३९।

७. आर० बेनेडिक्ट १९३४।

हुए। यह बताया गया कि सांस्कृतिक प्ररूपों पर ज़ोर देने से संस्कृति द्वारा स्थापित का स्वीकृतियों की सीमा के अन्दर व्यक्तिगत व्यवहार की भिन्नता ओझल हो गई। प्रश्न उठाया गया कि क्या किसी संस्कृति की सभी संस्थायें एपोलोनियन-डायोनीशियन वर्गीकरण है या किसी अन्य ऐसी ही प्ररूपशास्त्रीय योजना द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण प्रतिमान के अन्तर्गत आ सकती हैं या नहीं। इन वर्गीकरणों में संस्कृतियों को रखते समय यह पूछा गया कि क्या अवलोकनकर्ता की पूर्ववारणाओं और उससे प्रभावित उसके देखने के चुनाव ने उसके निर्णय को प्रभावित नहीं किया?[८] जूनी पर ली आन-चे, क्वाक्युत्ल पर बोआस, अरापेश पर फौरचून के निबन्धों में इन शंकाओं को लिपिबद्ध किया गया।[९] चीनी मानवशास्त्री ली ने, जिसकी शारीरिक आकृति उसके लिए इंडियनों के बीच आसानी से घुलने-मिलने में सहायक थी, देखा कि उनकी तस्वीर उससे कहीं भिन्न थी जैसाकि गोरे विद्वानों ने उन लोगों को प्रस्तुत किया था। बोआस ने देखा कि क्वाक्युत्ल मुखिया जोकि पोटलाश के बारे में बड़े आवेश से डींग मारता था, अपने परिवार में उस बच्चे के सामने जो उसका उत्तराधिकारी होगा अपने को छोटा बना सकता था। फौरचून ने बताया कि मीड द्वारा न्यू गिनी के अध्ययन किये गये कबीलों में से, अरापेश कबीले के बारे में इस अवधारणा में कि उनमें स्त्री या पुरुषों में बहुत कम आक्रमणात्मकता है, उन प्राप्ति सामग्रियों के प्रकाश में आने पर जिनसे मालूम होता है कि इन लोगों में युद्ध के सुस्थापित प्रतिमान है विद्यमान हैं, संशोधन अपेक्षित हैं।

तथापि, इस क्षेत्र के अगले विकास में सांस्कृतिक संरूपात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है, जिसमें कि जैसा संकेत किया जा चुका है, भिन्न जीवन रीतियोंवाले समाजों में रहने वाले लोगों के व्यक्तित्वों की भिन्नताओं को समझाने के लिए कुछ मनोविश्लेषणात्मक अवधारणाओं का प्रयोग किया गया था। कार्डिनर-लिंटन की "बुनियादी व्यक्तित्व संरचना" की स्थापना, जिसे कि प्रत्येक समाज में विद्यमान माना गया है, बेनेडिक्ट-मीड की पूर्वकल्पना का विस्तार तथा संशोधन समझी जा सकती है। बुनियादी व्यक्तित्व रचना को एक मान्य मान (Norm) समझा जाता है, न कि एक प्ररूप, और यह व्यक्ति के अध्ययन पर बल देने से निकली है। फिर भी विभिन्न संस्कृतियों की विभिन्न संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में जो विविध प्रभाव डाले जाते हैं, उन पर ज़ोर देकर यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार इस प्रारम्भिक रचना ने मनोविश्लेषक कार्डिनर को मानव संस्थाओं में विविधता से परिचित कराया, जो कि लोगों की भिन्नता की व्याख्या करने में, प्राथमिक कारक है।[१०]

---

८. यहां उठी पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं के लिए देखिये अध्याय २८ के नीचे।

९. देखिये ली आन-चे, १९३७, पृ० ६२–९; एफ० बोआस, १९३६, पृ० २६७; १९३८, पृ० ६८४–५; आर० एफ० फौरचून, १९३९, पृ० ३६–८।

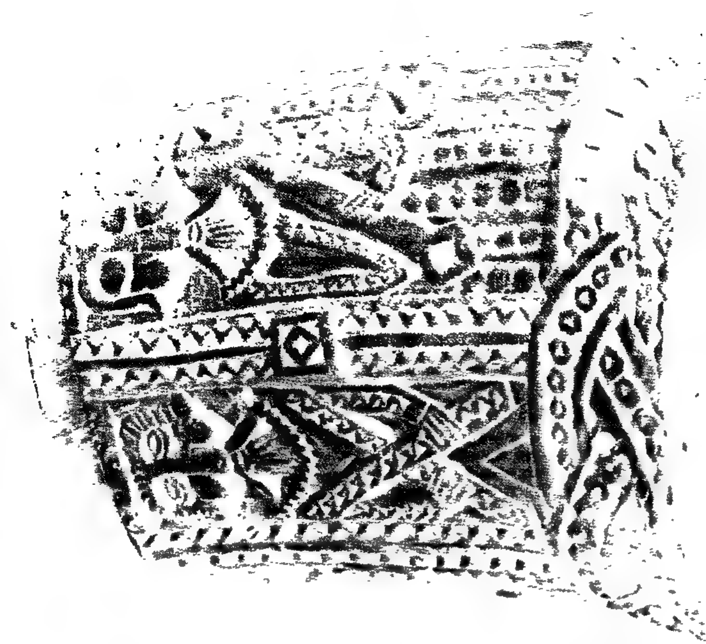
१०. देखिये कार्डिनर, १९४४, पृ० ७।

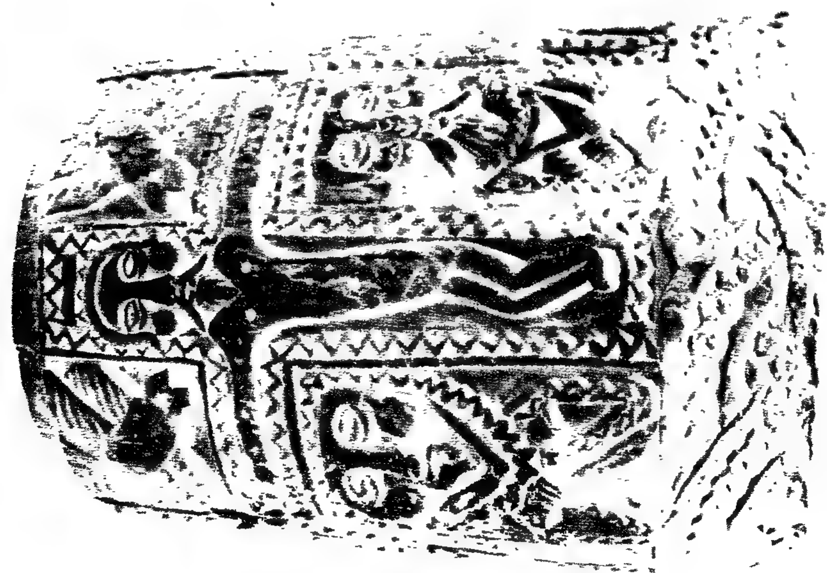
कार्डिनर ने संस्था की यह परिभाषा दी है, "व्यक्तियों के एक समूह द्वारा मान्य, सोचने व व्यवहार करने की एक निश्चित रीति" जिसे हस्तान्तरित किया जा सकता है और जिसका उल्लंघन व्याघात उत्पन्न करता है। इस परिभाषा को सामान्यतः स्वीकार किया गया है। संस्था के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया को ,जो कि तज्जनित व्यवहार को उत्पन्न करती है, हम व्यक्तित्व कहते हैं। संस्थाओं को प्राथमिक और माध्यमिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है। प्राथमिक संस्थायें "उन अवस्थाओं से उत्पन्न होती हैं जिन्हें व्यक्ति नियंत्रित नहीं कर सकते,"—जैसे कि भोजन की खोज, यौन रिवाज़ और प्रशिक्षण के विभिन्न अनुशासन हैं। माध्यमिक संस्थायें प्राथमिक संस्थाओं द्वारा उत्पन्न आवश्यकताओं की संतुष्टि और तनावों के दूर होने से उत्पन्न होती हैं, और देवता इसका उदाहरण है जो एक जनसमूह के लिए निरन्तर खाद्यपूर्ति की चिन्ता को दूर करने का आश्वासन देता है। इस और इससे पहले दृष्टिकोण का मुख्य अन्तर इसका गत्यात्मक गुण है, चूंकि इसमें संस्थाओं और एक के बाद दूसरी संस्कृति में लोगों पर उनके प्रभाव के विश्लेषण द्वारा बुनियादी व्यक्तित्व संरचना को प्राप्त किया गया है।

कार्डिनर द्वारा इस पूर्वकल्पना को लिपिबद्ध करने के लिए प्रयुक्त न्यास विभिन्न क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं के क्षेत्रीय अनुभव से प्राप्त किये गये थे जोकि उनके द्वारा अध्ययन किये गये लोगों के व्यक्तित्वों पर प्रकाश डालते थे। ऐसी सामग्रियां प्रत्येक क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं के पास होती हैं, किन्तु वह बहुत कम ही उन्हें प्रकाशित करता है, जैसे कि बच्चों को पालने की रीतियां, एक आदमी ने झगड़े में कैसा व्यवहार किया, बच्चों के खिलौने, एक दम्पति जिनकी गांव में चर्चा है, विवाह में प्रचलित समायोजन स्थापित करने में क्यों असफल रहे। भोजनप्राप्ति, सामाजिक संरचना और यौन प्रथाओं पर केन्द्रित संस्थाओं पर ज़ोर देना, परम्परागत मनोविश्लेषणशास्त्र की इस अन्तिम श्रेणी तक सीमित न्यासों में व्यस्तता की अपेक्षा एक प्रगतिशील क़दम था। हालांकि संस्कृति की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं तथा खाद्यप्राप्ति और पारिवारिक निरन्तरता से असम्बद्ध संस्कृति के तत्वों की, जैसे कि सौन्दर्यात्मक पहलुओं या धर्म की उपेक्षा के विरुद्ध आपत्ति उठाई गई थी।

दुबौय द्वारा[११] आलोर द्वीप में किये गये क्षेत्रीय कार्य को इस प्रकार आयोजित किया गया कि उससे प्राप्त न्यासों को "मनः-सांस्कृतिक विश्लेषण" (Psycho-cultural synthesis)—"सांस्कृतिक विश्लेषण के साथ विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय की सुस्थापित मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के समन्वय" के द्वारा बुनियादी व्यक्तित्व की पूर्वकल्पना की परीक्षा में प्रयोग किया जा सके। उसे सम्पन्न करने के लिए आलोरी लोगों की प्रथाओं में सामान्य जनवृत्तशास्त्रीय गवेषणा के अतिरिक्त शिशुरक्षा, शुरू व बाद के बचपन और किशोरावस्था, विवाह, यौन व्यवहार, और धर्म के

११. सी० दुबौय, १९४४, पृ० ५।





प्लेट १२ वेनिन, पश्चिमी अफ्रीका मे प्राप्त तराश कर बनाया हुआ हाथीदांत का डिब्बा (ऊंचाई, ३$\frac{१}{८}$ इंच)। (क) एक पार्श्व में ईसा को सूली पर, होली घोस्ट की प्रेतात्मा (कबूतर), मेरी और सेंट जान को दर्शाते हुए; (ख) उल्टी तरफ सेंट एंड्रयू और सेंट पीटर को दर्शाते हुए। देखिये पृ० २४५-६ (फोटोग्राफ मेरी मौडलिन, शिकागो)

क





ख













ग





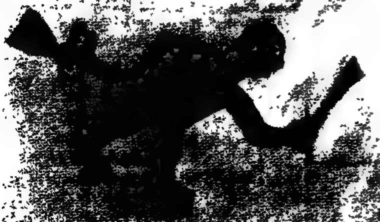
घ













प्लेट १३ डाहोमी एप्लिक कपड़ा, कपड़ा सीनेवालों की चार पीढ़ियों में डिज़ाइन के परिवर्तनों को (क से घ तक) दर्शाता हुआ। देखिये पृ० २४८–९।

मनोवैज्ञानिक पहलुओं से सम्बन्धित ब्यौरों का अध्ययन किया गया। चार स्त्री और चार पुरुषों से, जिन्हें रोज़ जनवृत्तशास्त्री के सम्मुख अपने स्वप्नों को बताने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था, आठ आत्मकथायें भी प्राप्त की गईं। बच्चों के रेखाचित्र संग्रहीत किये गये और विभिन्न परीक्षण जिनमें सैंतीस रोशा परीक्षण भी थे, किये गये। इन न्यासों के आधार पर कार्डिनर ने अपने सूचनादाताओं के व्यक्तित्वों का उनके सांस्कृतिक-परिवेश में मूल्यांकन किया और उसके निष्कर्ष रोशा विश्लेषण के एक अन्य विशेषज्ञ द्वारा स्वतंत्र रूप से जांचे गये। संस्कृति-व्यक्तित्व समीकरण के अध्ययन में संलग्न क्षेत्रीय कार्यकर्ता के न्यासों के स्वतंत्र मूल्यांकनों में अनेक समताओं का निकलना भावी गवेषणा में मानवशास्त्र और मनोविश्लेषण के उपयोगी सहयोग की ओर संकेत करता है। यह मनोसांस्कृतिक संश्लेषण पद्धति द्वारा अपेक्षित गवेषणा और विश्लेषण की विभिन्न अवस्थाओं को एक ही व्यक्ति द्वारा पूरा करने के लिए अन्तःशास्त्रीय प्रशिक्षण की उपयोगिता की ओर भी संकेत करता है।

और यहां पर रोशा और शायद अन्य "आरोपणात्मक" प्रविधियां, जैसे कि थीमाटिक एपरसिप्शन परीक्षा (Thematic apperception test) बहुत प्रभावशाली सिद्ध होंगी। हैलोवैल ने इनमें से पहली प्रविधि का बहुत क्रमबद्ध उपयोग किया है। और हम विभिन्न संस्कृतियों में व्यक्तियों के अध्ययन में उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में उसी की व्याख्या दे सकते हैं, जिसमें उसने संक्षेप में इस पद्धति की प्रकृति, इसके प्रयोग की विधि और व्यक्तित्व व संस्कृति के सम्बन्ध के अध्ययन में उसकी संभावित देन को बताया है।[12]

"रोशा-प्रविधि में परीक्षित व्यक्ति को दस अनिश्चित आकृतिवाले किन्तु एक समान तरीके से सोख्ते कागज़ पर डाले गये स्याही के धब्बों को एक निश्चित क्रम में एक के बाद एक दिखाकर, उसके जबानी प्रत्युत्तर प्राप्त कर व्यक्तित्व के मूल्यांकन के न्यास प्राप्त किये जाते हैं। पांच धब्बे बिल्कुल काले होते हैं, किन्तु उनके रंग में तेजी व हल्केपन की दृष्ट से भिन्नता होती है, तीन रंगीन होते हैं, दो में काला और लाल रंग मिला होता है—एक प्रारम्भिक सुझाव से सूचनादाता को उसको दिखाई गई आकृतियों में कुछ देखने के लिए सुझाव देकर प्रेरित किया जाता है, ताकि वह उन्हें निरर्थक रूप या कोरे डिज़ाइन न समझे। जो कुछ वह कहता है, परीक्षणकर्ता उसे लिख लेता है।"

व्याख्या करने की यह प्रक्रिया बहुत कुछ ऐसी ही है जैसे कि कुछ लोग ग्रीष्म ऋतु के आकाश के बादल में घोड़े का सिर देखते हैं, यह स्याही के धब्बे सूचनादाता को अपनी इच्छानुसार अपने विचार व्यक्त करने की छूट देते हैं, अर्थात् "वह ही वस्तुगत दृष्टि से निरर्थक रूपों में अर्थ आरोपित करता है। वही कम या ज़्यादा उत्तर देता है, पूरे कार्ड को या उसके थोड़े अंश को व्याख्या के लिए

१२. ए० आई० हैलोवेल, १६४५ बी, पृ० १२८–६।

चुनता है, रंग का उपयोग करता है या उसकी उपेक्षा करता है।" इसीलिए यह परीक्षण आरोपणात्मक (Projective) कहे जाते हैं। यह अन्यथा निरर्थक रूपों में अर्थ आरोपित करने की प्रक्रिया अन्वेषक को परिणामों का विश्लेषण कर, जिन व्यक्तियों का वह अध्ययन कर रहा है, उनके व्यक्तित्व की संरचना के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में सहायता देती है।

अनेक संस्कृतियों में इस पद्धति के प्रयोग से हम केवल विभिन्न समूहों की विशिष्ट व्यक्तित्व संरचनाओं को ही नहीं, बल्कि प्रत्येक समाज में इन संरचनाओं की भिन्नता के सम्बन्ध में भी जानकारी पाने की आशा कर सकते हैं। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, चूंकि मनोवैज्ञानिक प्रत्युत्तरों में एक विविधता की अनुभूति होने पर हमें सामान्य (Normal) और असामान्य (Abnormal) व्यवहार की समस्याओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त हो सकेगा। जैसा कि हेलोवैल ने निर्देश किया है, रोशा जैसे परीक्षण इन दो प्रश्नों को सुलझाने में सहायक हो सकते हैं। वह संक्षेप में कहता है, "यह अन्य दृष्टिकोण की पद्धतियों का स्थानापन्न नहीं, प्रत्युत् यह उनका अच्छा पूरक है।" रोशा और इस प्रकार के अन्य परीक्षण उन प्रविधियों में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि है जिनके द्वारा हम व्यक्ति और उन परिस्थितियों, जिनसे कि वह समायोजन या विषमायोजन प्राप्त करता है, के बीच विद्यमान अन्तःक्रिया की समस्या को समझने में सहायता ले सकते हैं।

४

संस्कृति में व्यक्ति की समस्या पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना मानव के अध्ययन में एक प्रमुख प्रगति है। किन्तु इस क्षेत्र में किया गया कार्य केवल शुरूआत को दर्शाता है और इसकी पद्धतियां और लिपिबद्ध करने के तरीके भी अभी अपने शैशवकाल में हैं। हम संक्षेप में बतायेंगे कि क्या किया जा चुका है, क्या करना बाकी है, और उन सावधानियों की ओर संकेत करेंगे जो कि जैसे-जैसे मानवशास्त्र मानव के अध्ययन के इस पहलू की ओर आगे बढ़ा, उसके अनुभव ने हमें सुझाई हैं।

इस समस्या को अच्छी तरह प्रस्तुत किया जा चुका है और इसके महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। मनुष्य का जीवन एक है, "संस्कृति" एक कल्पित नमूना (Construct) है जोकि एक निर्दिष्ट समाज को बनानेवालों में समान आचार की रीति को बताता है; और अन्तिम विश्लेषण में, चाहे हम उसे कितने ही सामान्यीकृत शब्दों में रखें, व्यवहार सदैव व्यक्तियों का ही व्यवहार है, यह कुछ तरीके हैं, जिनमें इस स्वीकृति को व्यक्त किया गया है। यद्यपि यह प्रारम्भिक गवेषणाओं की अपेक्षा संस्कृति के अध्ययन को और भी अधिक जटिल बना देता है, पर हमें यह अनुभव करने के लिए उत्साहित करता है कि यह स्पष्ट ही यथार्थता की दिशा में सही क़दम है।

यह एक और भी लाभ है कि समस्या पर विभिन्न पद्धतियों से विचार हो रहा है और इसमें प्रयुक्त शब्दावलि निरन्तर संशोधित हो रही है। निर्दिष्ट

संस्कृतियों में व्यक्तित्व **प्ररूप** (Personality types) प्रदान करने का स्थान समाज में व्यक्तित्वों की **भिन्नताओं के विस्तार** (Range) के अध्ययन ने ले लिया है। बुनियादी (Basic) व्यक्तित्व को **मोडल** (Modal) व्यक्तित्व समझा जाने लगा है। और यह भी स्वीकार किया गया है कि एक संस्कृति में भी, एक निर्दिष्ट समूह में विभिन्न भूमिकायें अदा करनेवाले व्यक्तियों के जीवन विभिन्न परिस्थितियों में विशिष्ट व्यक्तित्व के उपप्ररूपों को विकसित कर सकते हैं। इन्हें ही लिंटन ने **पद व्यक्तित्व** (Status personalities) कहा है और उनकी "पद-संयुक्त प्रत्युत्तर संरूप"[१३] कहकर परिभाषा की है।

मानस-चिकित्सा और मनोविश्लेषण की प्रविधियों के अतिरिक्त, जोकि अधिकांश अध्ययनों में प्रयुक्त हुई हैं, अन्य विधियों से भी संस्कृति में व्यक्ति के अध्ययन की अभी आवश्यकता है, विशेषकर जहां कि उसका मानव व्यवहार के प्रत्यक्ष बोध (Perception), मूल प्रेरणा (Motivation) और स्मृति जैसे ग़ैर-मनोचिकित्सक पहलुओं से सम्बन्ध है, विभिन्न संस्कृतियों में उनकी भिन्नताओं के विस्तार का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। यह दृष्टिकोण कितना महत्त्वपूर्ण है यह हैलोवैल की केवल प्रत्यक्ष बोध[१४] के क्षेत्र में इसके निहितार्थों की संक्षिप्त चर्चा से ही स्पष्ट है। मानस-चिकित्सा और मनोविश्लेषण की अवधारणाओं के द्वारा हुई महान् प्रगति की ओर संकेत किया जा चुका है, किन्तु इसकी देनों ने जिस उत्साह को पैदा किया है, उसके आवेश में इसकी सीमितताओं की उपेक्षा की प्रवृत्ति रही है। फिर भी यह स्वीकार न करना अवास्तविक होगा कि मनो-चिकित्सक प्रविधियां व्यक्तियों पर प्रयोग करने और उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करने के उद्देश्य से बनाई गई हैं। उन्हें ऐसे समाजों के अध्ययन के अनुकूल बनाने के लिए जिनमें कि समायोजित (Adjusted) तथा विषमायोजित (Maladjusted) दोनों ही प्रकार के व्यक्ति हैं, एक नई दिशा देनी होगी; यह कार्य अभी तक नहीं हो पाया है। उस नई दिशा देने की आवश्यकता को सम्पूर्ण सस्कृतियों को पैरानॉयड (Paranoid) या स्कीजॉयड (Schizoid) जैसे मनोरोगनिदान-शास्त्री नामों के वर्गीकरणों में देखा जा सकता है। इसे स्नायुक (Neurotic) रोग अवस्थाओं के अध्ययन से प्राप्त अवधारणाओं के शब्दों में व्यवहार मानों के विवरण में भी देखा जा सकता है। इसे संस्कृतियों के उस विश्लेषण में भी देखा जा सकता है, जिसमें कि उनके अन्दर प्राप्त नैराश्यों और प्रत्येक जीवनरीति में समायोजन के प्राप्त मार्गों की तुलनात्मक उपेक्षा पर असाधारण बल दिया जाता है।

हैलोवैल द्वारा रोशा परीक्षणों के आधार पर दिये गये अपने सौलटेओ ग़ैर-यूरोपीय समूह के सूचनादाताओं के समायोजन की भिन्नता का वर्गीकरण, जिस बात का कि हमने अभी ज़िक्र किया है, इसे अच्छी तरह स्पष्ट करता है। इन

---

१३. आर० लिंटन, १९४५, ़० १३०।
१४. ए० आई० हैलोवैल, १९५१।

लोगों में, जिन्हें गोरे लोगों के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होने वाले नैराश्यों के कारण असाधारण कठोर समायोजन करने पड़े, यह प्रतिशततायें थीं :

सुसमायोजित (Well adjusted)	१०·७%
समायोजित (adjusted)	३३·३
अल्प समायोजित (Poorly adjusted)	४४·१
विषमायोजित (Maladjusted)	११·७

तुलना में, अन्दर के भागों में रहने वाले इंडियनों में, जिनके कि गोरे लोगों से सबसे कम सम्पर्क थे, ५० प्रतिशत "समायोजित" और "सुसमायोजित" श्रेणी में पाये गये। उनमें से जिनके सबसे अधिक सम्पर्क थे ६० प्रतिशत अल्प समायोजित या विषमायोजित थे, और इस समूह में ऐसे उग्र उदाहरण भी थे जो कि अनुकूलन में सर्वथा असफल रहे।[१५] व्यक्ति और उसके सम्पूर्ण परिवेश के बीच विद्यमान अन्तःक्रिया को समझने की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि समायोजन के अध्ययन की प्रक्रिया पर ज़ोर देना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उन परिस्थितियों को खोजना जो कि विषमायोजन उत्पन्न करती हैं।

५

क्या मानवशास्त्री स्वयं अपना मनोविश्लेषण कराये बिना अनक्षर समाजों में व्यक्तित्व की समस्या का अध्ययन कर सकता है, इसकी काफ़ी चर्चा हुई है। किन्तु यह बात उतनी अधिक नहीं सुनी गई कि अन्तःसांस्कृतिक अध्ययनों से सम्बद्ध मनोविश्लेषक को स्वयं उन समाजों का प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए, जिनके आदर्श, उद्देश्य और प्रेरणाओं और नियंत्रण की प्रणालियां उसके समाज से सर्वथा भिन्न हैं। असलियत यह है कि ऐसे बहुत कम मनोविश्लेषक हैं, जिन्होंने कि इन समस्याओं में दिलचस्पी दिखाई और स्वयं अपनी पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा करने के लिए यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के दायरे से बाहर कोई गवेषणा की है। यह बात संस्कृति के मनोविज्ञान के उन विद्यार्थियों पर भी, जिनका दृष्टिकोण पाठ्य-पुस्तक के मनोविज्ञान का रहा है, उतनी ही लागू है जितनी कि उन पर जोकि विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय की प्रविधियों और अवधारणाओं को उपयोग में लाते रहे हैं।

एक सुझाव दिया गया है, जिससे कि इस समस्या की कठिनाइयों का, जो कि दोनों विज्ञानों के छोरों पर फैली हुई हैं, साधारण बुद्धिगम्य समाधान हुआ दीखता है। यह कहा गया है कि "तत्काल कोई समझौता" होना चाहिए "जिसमें कि मानवशास्त्री और मनोवैज्ञानिक दोनों ही यथासंभव एक-दूसरे से अधिकाधिक सीखने के लिए उद्यत होंगे और तदनुसार अपनी समस्याओं तथा पद्धतियों को स्पष्ट करेंगे।"[१६] इस सीमा तक कि कुछ मानवशास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिक

---

१५. ए० आई० हैलोवैल, १९४५ बी, पृ० २०८।

१६. एफ़० सी० बार्टलेट, १९३७, पृ० ४०२।

प्रयोगशालाओं में कार्य किया है या उन्होंने अपना विश्लेषण कराया है, और कुछ मनोवैज्ञानिकों ने, जो विशेष रूप से शैक्षणिक परम्परा में रहे हैं, क्षेत्रीय गवेषणाओं में अपनी पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा की है, यह "तात्कालिक समझौता" कार्यान्वित हुआ है। इस बाद की श्रेणी के उदाहरणों के रूप में, डेनिस के होपी बच्चों के अध्ययन या कैम्पबैल के वर्जिन द्वीपों के नीग्रो के अध्ययन को उद्धृत किया जा सकता है।

यह भी महत्त्वपूर्ण है कि संस्कृति में व्यक्ति के अध्ययन का प्रारम्भिक प्रयास, जिस प्रथाओं के विधान में वह रहता है, उसके सम्पूर्ण संरूप को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। ओपलर ने इस दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यक्त किया है :

"क्षेत्र में जातिशास्त्री (Ethonologist) की यात्राओं से दो प्रकार की समस्यायें और दो प्रकार की अभिरुचियें उत्पन्न हो रही हैं। एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमानों से, उन सामान्यीकृत और व्यापक (Inclusive) वक्तव्यों से संबंधित है, जिन्हें कि समूह का प्रत्येक सदस्य, चाहे उसका अपना कोई भी व्यवहार तथा व्यक्तित्व हो, स्वीकार करेगा कि यह उसके लोगों की परम्पराओं और स्वीकृत चलन को व्यक्त करते हैं। अन्य अभिरुचि वह है जोकि...संस्कृति के वृहत्तर प्रतिमान और व्यक्ति द्वारा अपने लिए निर्मित अन्तरंग अर्थों, बन्धनों और व्यवहार प्रतिमानों के संसार के बीच विद्यमान सम्बन्धों को समझना चाहती हैं।"[१७]

सांस्कृतिक दिशानिर्धारण (Orientation) का दृष्टिकोण भी बहुत उपयोगी है और व्यक्ति के अध्ययन पर एकांगी ज़ोर देकर उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

सांस्कृतिक दिशानिर्धारणों के समझ लेने से वृद्धि की प्रक्रिया में संस्कृति द्वारा स्वीकृत निरन्तरताओं और अनिरन्तरताओं का महत्त्व प्रकट होता है। हमारी संस्कृति में ऐसा विरोध, जैसा कि अपने कार्य के लिए प्रौढ़ का उत्तरदायित्व और बच्चे के लिए उत्तरदायित्व का न होना, यह भिन्नता उस प्रतिमानित अनिरन्तरता को दर्शाता है जो कि सभी संस्कृतियों में नहीं मिलती। यह उस अवस्था को बनाता है जिसमें कि हमारे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को कठिन समायोजन स्थापित करना पड़ता है। इसी प्रकार बच्चों पर पिता की प्रभुता जोकि हमारे यहां भी नियम है, उसे उस रूढ़ि से भिन्न दिखाने की आवश्यकता है जिस में पिता तथा बच्चों को सापेक्ष समता का दर्जा प्राप्त है। पिता पुत्र की समानता की परिस्थिति बच्चे के बड़ा होने पर वह अनिरंतरता नहीं उत्पन्न करती, जोकि उस परिस्थिति में उत्पन्न होती है, जहांकि पिता की प्रभुता है। इस अन्तर को हम उन व्यक्तित्वों में प्रतिबिम्बित पायेंगे जो कि एक समाज के मनोवैज्ञानिक वातावरण से पृथक् अन्य समाज में रहते हैं।[१८]

किस प्रकार सांस्कृतिक परिवेश का अध्ययन उन मनोवैज्ञानिक कार्यप्रणालियों

---

१७. एम० ई० ओपलर, १६३७, पृ० २१८।

१८. आर० बेनेडिक्ट, १६३८।

को व्यक्त करता है, जोकि व्यक्तिगत व्यवहार को निर्धारित करती और आक्रमक-प्रवृत्तियों को नियमित व अनुशासित अभिव्यक्ति देती हैं, इसे गोल्ड कोस्ट के अशांति द्वारा मनाये जाने वाले **आपो** उत्सव जैसी संस्था में देखा जा सकता है। **आपो** का उत्सव मनाते समय इसकी केवल अनुमति ही नहीं होती, बल्कि यह अनिवार्य होता है कि जो व्यक्ति सत्ताधारी हैं, अपनी प्रजा पर किये गये अन्यायों के लिए उनका उपहास, निन्दा और बुरा भला सुनें। अशांति का विश्वास है कि इससे शासकों की आत्माओं को, जिन्हें उन्होंने नाराज़ किया है, उनकी दबी हुई घृणा के कारण कोई हानि नहीं पहुंचेगी, जोकि अन्यथा इकट्ठी होकर उन्हें कमज़ोर बना सकती और यहां तक कि मार भी सकती हैं। दमन (Repressions) को दूर करने में इस स्पष्टतः फ्रायडियन कार्य-प्रणाली की प्रभावशीलता के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। यह इसे स्पष्ट करती है कि किस प्रकट व्यवहार के संस्थागत रूप संबंधित पृथक् व्यक्तित्वों के विकास के असंतुलन को ठीक करते हैं।"[१९]

इसीसे मिलते-जुलते तरीके से, डच गायना के नीग्रो द्वारा मान्य **फियो-फियो** की अवधारणा समायोजन के उस प्रकार को स्पष्ट करती है जोकि यह लोग सामूहिक जीवन के कुछ तनावों को दूर करने में काम लाते हैं। यहां यह माना जाता है कि सम्बन्धियों या घनिष्ठ परिचितों में हुआ झगड़ा जो निपटा न हो, उसके ज़ाहिरा तौर पर भूल जाने पर भी उसका असर बहुत बाद तक रहता है। ऐसी दशा में झगड़ने वाला कोई पक्ष यदि दूसरे पक्ष से कोई उपहार या कृपा ग्रहण कर ले, तो उस पर या दोनों पक्षों पर कोई रोग या दुर्भाग्य आयेगा। और जब तक कि ओझा से परामर्श कर उसका कारण पता नहीं चलता और **पुव मोफो** "मुंह से पीछे हटो" नाम का सार्वजनिक पीछे हटने का उत्सव सम्पन्न नहीं होता, संकट दूर नहीं होता। अन्यथा ऐसा विश्वास है कि मृत्यु हो जाती है। "आदिवासी कहता है, कि ईमानदारी की नापसन्दगियां स्वाभाविक हैं, इनसे आदमी को कोई नुकसान नहीं पहुंचता, पर जब झगड़ों को दिखावटी दोस्ती से छुपाया जाता है तथा एक पुरानी घृणा को दिल में रखा जाता है, तब एक-दूसरे को चीजें देना या स्नेह की अभिव्यक्ति को स्वीकार करना खतरनाक है।"[२०]

समाज द्वारा स्वीकृत ऐसी विधियां जो कि दबी हुई भावनाओं को छूट देती हैं और विरोधों को मिटाती हैं, वह साधन हैं जिनसे कि बहुत अंश तक व्यक्ति समायोजन प्राप्त करता है। यह विश्वास और व्यवहार के वह सर्वस्वीकृत पहलू हैं जोकि संस्कृति के तत्त्व के रूप में उस रचनास्थल का निर्माण करते हैं जिसमें व्यक्तियों की व्यक्तित्व संरचनायें विकसित होती है और जिसमें उकार्य करना चाहिये।

---

१९. आर० एस० रैटरे, १९२३, पृ० १५१-६१।
२०. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३४, पृ० ८२।

अध्याय उन्नीस

सांस्कृतिक सापेक्षवाद और सांस्कृतिक मूल्य

सभी लोग अपने से भिन्न लोगों की जीवन-रीति के बारे में कुछ धारणायें बनाते हैं। जहां क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है, वहां तुलना से वर्गीकरण किया जाता है। विद्वानों ने जीवन रीतियों के वर्गीकरण की कई योजनायें बनायी हैं। विभिन्न लोगों के व्यवहार को निर्देशित करने के नैतिक सिद्धान्तों और उन्हें ढालने-वाली मूल्य-प्रणालियों के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय किये गये हैं। उनकी आर्थिक तथा राजनीतिक संरचनाओं और धार्मिक विश्वासों को उनकी जटिलता, कुशलता तथा औचित्य के अनुसार निश्चित स्थान दिया गया है। उनकी कला, संगीत और साहित्यिक शैलियों को आंका गया है।

यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि ऐसे मूल्यांकन पूर्वावयवों (Premises) की स्वीकृति पर ही टिके हुए हैं। इसके अतिरिक्त अनेक मानदंड, जिन पर कि यह निर्णय आधारित हैं, परस्पर-विरोधी हैं, अतः क्या उचित है, इस सम्बन्ध में एक परिभाषा से निकले निष्कर्ष दूसरी परिभाषा से मेल नहीं खाते।

एक सरल उदाहरण से इसे दर्शाया जा सकता है, एक प्राथमिक परिवार की रचना की कुछ रीतियां हैं। एक पुरुष एक स्त्री के साथ रह सकता है, एक स्त्री के कई पति हो सकते हैं, एक पुरुष की कई पत्नियां हो सकती हैं। किन्तु यदि हम इन रूपों को उनके समूह को जीवित रखने के कार्य के अनुसार आंकें, तो यह स्पष्ट है कि यह अपने मूल कार्य को सम्पन्न करते हैं। अन्यथा वह समाज जिनमें वह विद्यमान हैं, जीवित न रहते।

परन्तु ऐसा उत्तर उन सब को संतोष न देगा जिन्होंने कि सांस्कृतिक मूल्यांकन का कार्य अपने हाथों में लिया हुआ है। उदाहरण के लिए, बहुविवाह के विरुद्ध एकविवाह के रिवाज में व ऐसे घरों में पाले गये बच्चों के समायोजन में कैसे होगा जिनकी मातायें अपने बच्चों के लिए एक समान पति की कृपा के लिए सदैव प्रतियोगिता करती रहती हैं कौन-से नैतिक प्रश्न अन्तर्निहित हैं, ? यदि एक-विवाह को विवाह का उचित रूप मान लिया जाय, तो इन प्रश्नों के उत्तर पूर्व-निर्धारित होंगे। किन्तु यदि हम इन प्रश्नों पर बहुविवाही समाजों में रहने वाले लोगों के दृष्टिकोण से विचार करें, तो क्या उचित है, इसकी भिन्न अवधारणा पर आधारित भिन्न उत्तर दिये जा सकते हैं।

उदाहरण के लिए, हम पश्चिमी अफ्रीका के डाहोमी[1] की संस्कृति के

---

१. देखिये एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३८, बी, जिल्द १, पृ० १३७–५५, ३००-५१।

बहुल परिवार (Plural family) के जीवन पर विचार करें। यहां एक ही अहाते के अन्दर पति और उसकी पत्नियां रहती हैं। पति का अपना अलग घर होता है और उसकी प्रत्येक स्त्री और बच्चों के अलग घर होते हैं, जोकि इस बुनियादी अफ्रीकी सिद्धान्त पर आधारित हैं कि दो पत्नियां एक ही घर में सफलता-पूर्वक नहीं रह सकतीं। प्रत्येक पत्नी बारी-बारी से अपने समान पति के साथ चार दिन का स्थानीय सप्ताह बिताती है, उसका खाना पकाती है, उसके कपड़े धोती है, उसके घर में सोती है और फिर दूसरी के लिए रास्ता छोड़ देती है। उसके बच्चे अपनी मां के झोंपड़े में ही रहते हैं । गर्भवती हो जाने के बाद वह इस क्रम से पृथक् हो जाती है और आदर्शतः अपने और अपने बच्चे के स्वास्थ्य के हित में वह तब तक अपने पति के पास नहीं जाती जब तक कि बच्चा जन्म न ले ले और उसका दूध न छूट जाय। इसका अर्थ है तीन या चार वर्ष की अवधि, चूंकि यहां पर बच्चों को दो साल या उससे भी अधिक दूध पिलाया जाता है।

इन घरों से बना हुआ अहाता एक सहकारी इकाई है। स्त्रियां जो बाजार में समान बेचती हैं या बर्तन बनाती हैं या जिनके बगीचे हैं, उसके चलाने में मदद करती हैं। इस पहलू का यद्यपि बड़ा आर्थिक महत्त्व है फिर भी यह बड़ी इकाई जो प्रतिष्ठा है, उसकी अपेक्षा गौण है। यही कारण है कि प्रायः एक पत्नी अपने पति को दूसरी पत्नी लाने के लिए प्रेरित ही नहीं करती, प्रत्युत उधार तथा उपहार दे उसकी सहायता कर यह संभव बनाती है।

बड़े अहाते में रहने वाली स्त्रियों के बीच तनाव भी होते हैं। इस समाज में विवाह करने की तेरह पृथक् रीतियां पायी गयी हैं। और एक बड़े कुनबे में एक ही प्रकार से विवाहित पत्नियां अन्यों के विरुद्ध संगठित हो जाती हैं। पति की कृपा पाने के लिए प्रतियोगिता भी एक कारण है, जबकि अनेक पत्नियां अपने पुत्रों के पक्ष में उत्तराधिकारी के चुनाव को प्रभावित करने का प्रयत्न करती हैं। फिर भी एक अहाते के सभी बच्चे साथ-साथ खेलते हैं और एक मां और उसके बच्चों के बीच मजबूत संवेगात्मक बन्धन एक ही पिता और विभिन्न माताओं से उत्पन्न भाई-बहिनों के झगड़ों के मुकाबले में अधिक प्रबल होते हैं। पत्नियों के बीच सहयोग किसी भी प्रकार एक रस्ममात्र नहीं है। बहुत-से समान कार्य मिल कर मैत्रीपूर्वक पूरे किये जाते हैं और जब स्त्रियों के अधिकारों के हित पर या जहां कि समान पति के पद पर कोई आंच आती है, वहां एकता व्यक्त होती है।

अब हम एकविवाही (Monogamous) परिवारों के विरुद्ध बहुविवाही (Polygamous) परिवारों के सम्बन्ध में दिये गये नैतिक मानदंडों पर विचार कर सकते हैं। डाहोमी के परिवार की संरचना स्पष्ट ही एक जटिल संस्था है यदि हम बहुत-से सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्भवित व्यक्तिगत सम्बन्धों पर विचार करें, तो हम स्पष्ट देखते हैं कि डाहोमी परिवार में परस्पर कर्त्तव्य और अधिकार

की कितनी अधिक शाखायें हैं। डाहोमी परिवार की प्रभावशीलता फिर भी स्पष्ट है। अज्ञात पीढ़ियों से इसने बच्चों को पालने का कार्य सम्पन्न किया है, इससे भी अधिक, इस समूह का आकार ही इसे वह आर्थिक साधन और तज्जनित स्थिरता प्रदान करता है जिससे कि भिन्न पारिवारिक संगठन की प्रणालियों में रहने वाले लोग सहज ही ईर्ष्या कर सकते हैं। नैतिक मूल्यों को स्थापित करना सदैव कठिन है, किन्तु इस समाज में कम-से-कम विवाह को स्पष्ट रूप से अनियमित यौन सम्बन्धों और वेश्यावृत्ति से पृथक् माना गया है, तथा विवाह करने वाले को विवाह की अलौकिक स्वीकृतियों और उससे प्राप्त प्रतिष्ठा तथा पत्नी और भावी सन्तान के प्रति आर्थिक कर्त्तव्यों को स्पष्ट ही स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार के समूह में समायोजन की अनेक समस्यायें अवश्य उत्पन्न होती हैं। एक बड़े अहाते के मुखिया की इस शिकायत को समझने में अधिक दिमाग लड़ाने की जरूरत नहीं पड़ती जब वह कहता है, "जब किसी के पास कई पत्नियां हों तो उसे बहुत कुछ कूटनीतिज्ञ होना पड़ता है।" फिर भी प्रवंचक कहावतों, और गीतों का सहारा लेते हैं, और खुले झगड़ों में वहां पर एक ग्राम्य समुदाय की अपेक्षा, जहां लोगों को लम्बे समय के लिए साथ-साथ छोड़ दिया जाता है, अधिक कष्ट नहीं सहना पड़ता। सहपत्नियों के झगड़े पड़ोसियों के झगड़ों से बहुत भिन्न नहीं होते। और डाहोमी जोकि यूरोपीय संस्कृति को जानते हैं, जब अपनी व्यवस्था की वकालत करते हैं तो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि यह एक पत्नी को इस प्रकार अपने बच्चे जनने की अवधि के बीच अन्तर डालने को सम्भव बनाती है जो कि आज की स्त्री-रोग-चिकित्सा की श्रेष्ठ शिक्षाओं के अनुरूप है।

इस प्रकार बहुविवाह को, यदि उनके दृष्टिकोण से जो उसे करते हैं, देखा जाय, तो उसमें ऐसे मूल्य देखे जा सकते हैं जोकि बाहर से नहीं दीख पड़ते। जबकि भिन्न पारिवारिक संरचना में संस्कृतीकृत (Enculturated) व्यक्ति एक-विवाह पर आक्षेप करते हैं, तब भी यही कहा जा सकता है। और जो संस्कृति के एक ऐसे विशेष पहलू के लिए सत्य है, वह अन्य पहलुओं के लिए भी सत्य है। मूल्यांकन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार सापेक्ष है।

२

सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Relativism) साररूप से संस्कृति में मूल्यों की प्रकृति तथा भूमिका के प्रश्न पर विचार करने का एक दृष्टिकोण है। इसके द्वारा ताज़े अन्त:सांस्कृतिक न्यासों की सहायता से, जोकि अभीतक विद्वानों को प्राप्त न थे, और जो अत्यन्त भिन्न प्रथाओं वाले समाजों में अन्तर्निहित मूल्य प्रणालियों के अध्ययन से प्राप्त किये गये हैं, एक पुरानी दार्शनिक समस्या पर एक वैज्ञानिक आगमनात्मक (Inductive) प्रणाली से विचार किया जाता है। **सांस्कृतिक सापेक्षवाद** का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है: **निर्णय अनुभव पर आधारित हैं, और प्रत्येक व्यक्ति अपने संस्कृतीकरण के शब्दों में अनुभव**

को व्याख्या करता है। जो स्थिर मूल्यों को मानते हैं, उन्हें अन्य समाजों में ऐसी सामग्रियां मिलेंगी जोकि उनकी मान्यताओं में पुनरन्वेषण को आवश्यक बनाती हैं। क्या कोई निरपेक्ष नैतिक मान हैं या नैतिक मान केवल वहीं तक कारगर है जहां तक कि वे इतिहास की एक निर्दिष्ट अवधि में किन्ही निर्दिष्ट लोगों की विचार के यहां अनुकूल हैं हम वास्तविकता (Reality) के अन्तिम स्वरूप के प्रश्न पर भी पहुंच जाते हैं। कैसीरर[2] का मत है कि वास्तविक सत्ता को केवल भाषा के प्रतीकवाद द्वारा अनुभव किया जाता है। तब क्या वास्तविकता मानव जाति की अनन्त भाषाओं के निरन्तर परिवर्तनशील प्रतीकवादों से परिभाषित और पुनःपरिभाषित नहीं होती ?

ऐसे प्रश्नों के उत्तर संसार में मानव के स्थान के विश्लेषण में मानव-शास्त्र की एक सबसे गम्भीर देन को दर्शाते हैं। जब हम सोचते हैं कि ऐसे अदृश्य तत्त्व, जैसे कि सत्य और असत्य, सामान्य और असामान्य, सुन्दर और सादा, ग्रहण किये जाते हैं जबकि एक व्यक्ति जिस समूह में वह जन्म लेता है, उस समूह की रीतियों को सीखता है, तब हम देखते हैं, कि हम यहां एक प्राथमिक महत्त्व की प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं। यहां तक कि भौतिक संसार के तथ्य भी संस्कृतीकरण के चश्मे से देखे जाते हैं, और काल, दूरी, वजन, आकार, और अन्य "वास्तविकताओं" के बोध को भी किसी समूह की रूढ़ियां प्रभावित करती हैं।

फिर भी कोई भी संस्कृति ऐसे कठोर ढांचे की बन्द प्रणाली नहीं है जिसमें कि समाज के सभी सदस्यों का व्यवहार बिल्कुल एक-सा हो। संस्कृति की मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर ज़ोर देते हुए यह स्पस्ष्ट कर दिया गया था कि स्वयं अपने आप में संस्कृति कुछ नहीं कर सकती। यह केवल एक समाज के बनाने वाले सदस्यों के व्यवहार और अभ्यस्त विचार रीतियों का योग है। यद्यपि सीखने और अभ्यास के द्वारा ये व्यक्ति जिस समूह में जन्म लेते हैं उसकी रीतियों का पालन करते हैं, फिर भी जीवन की सामान परिस्थितियों के प्रति उनकी प्रतिक्रियायें भिन्न होती हैं। वे इस बात में भी भिन्न होते हैं कि वे किस अंश तक परिवर्तन चाहते हैं, चबकि सम्पूर्ण संस्कृतियां परिवर्तित होती हैं। यह एक अन्य रीति है जिससे हम देखते हैं कि संस्कृति नमनीय है और इसके ढांचे में चुनाव की बहुत सी संभावनायें विद्यमान हैं, और किन्हीं निर्दिष्ट लोगों द्वारा मूल्यों को स्वीकार करना किसी भी तरह यह अर्थ नहीं रखता कि ये मूल्य उसी समूह की आने वाली पीढ़ियों के जीवन में भी एक स्थिर कारक बने रहेंगे।

किस प्रकार लोगों के विचार भौतिक जगत् के सम्बन्ध में भी उनके दृष्टि-कोण को प्रभावित करते हैं इसे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। संयुक्त राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में रहने वाले इंडियन चार के बजाय छः

---

२. ई० कैसीरर, १९४४, पृ० २५।

दिशाओं के प्रसंग में सोचते हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व व पश्चिम के अतिरिक्त वह ऊपरी तथा निचली दिशायें भी निश्चित करते हैं। इस दृष्टिकोण से कि ब्रह्मांड तीन आयामोंवाला (Three dimentional) है, यह इंडियन सर्वथा यथार्थवादी हैं। हम लोगों में भी हवाई जहाज के चलाने में, जहां कि तीन आयामों से निपटना पड़ता है, जोकि जिन्हें केवल पृथ्वी की सतह पर चलना है, उन्हें नहीं करना पड़ता, हम यंत्रों में दिशा को ऊंचाई से और स्थिति के सम्बन्ध में अपने सोचने से पृथक् कर देते हैं। हम अवधारणात्मक दृष्टि से दो पृथक् स्तरों पर चलते हैं। एक दिगंतसम (Horizontal) है—"हम पूर्व-उत्तर-पूर्व में चल रहे हैं।" एक लम्बसम (Vertical) है—"अब हम आठ हजार फुट की ऊंचाई पर उड़ रहे हैं।"

या ध्वनि के प्रतिमानीकरण (Patterning) की एक समस्या लीजिये। हम वायु तरंग की लम्बाई की अवधारणा को स्वीकार करते हैं, और यंत्रवत् निश्चित ग्राम (Scale) के अनुसार पियानो के सुर मिलाते हैं और इस प्रकार हम एक स्वरस्थान (Pitch) के अभ्यस्त हो जाते हैं। हम कहते हैं कि कुछ व्यक्तियों के पास पूर्ण स्वर हैं, अर्थात् उनके द्वारा यों ही निकाला या गाया गया कोई भी सुर तत्काल ग्राम में अपना स्थान प्राप्त कर लेगा—"यह कोमल है।" एक निर्दिष्ट सुर-क्रम में सीखा हुआ गीत स्वर-च्युत (Transposed) होने पर ऐसे व्यक्ति को बहुत कष्ट देगा, यद्यपि वे जोकि संगीत में प्रशिक्षित हैं, पर जिनके पास असली स्वर नहीं है, यदि एक सुर का अन्य सुरों से सम्बन्ध नहीं बिगाड़ा गया है, इस स्वर-च्युत गीत से आनन्द पायेंगे। हम यह मान लें कि यह अध्ययन करने का प्रस्ताव है कि क्या किसी सुर को पहचानने की यह योग्यता, जोकि विभिन्न समाजों में बहुत थोड़े ही लोगों में भिन्न अनुपात में पायी जाती है, एक जन्मजात गुण है। ऐसे प्रश्न पर विचार करने की कठिनाई तत्काल प्रकट होती है, ज्यों ही हमें यह पता लगता है कि बहुत थोड़े ही लोगों में निश्चित ग्राम हैं और यूरोपीय लोगों को छोड़ किन्हीं में पूर्ण स्वर की अवधारणा नहीं है। जो ऐसी संस्कृतियों में रहते हैं जहां यंत्रों द्वारा सुर मिलाये गये और असली साज नहीं हैं, वे उन सुरों का भी आनन्द ले सकते हैं जिन्हें कि श्रुति से च्युत कहा जा सकता है। जहां तक उन आरोहों का सम्बन्ध हैं जिनमें कि किसी संगीत परम्परा के विशिष्ट ग्राम और शैलियां बंधी होती हैं, ऐसी प्रणालियों की संख्या जिनमें से प्रत्येक ही अपनी सीमाओं में संगत है, अनिश्चित है।

यह सिद्धान्त कि निर्णय अनुभव से प्राप्त होते हैं इसकी दृढ़ मनोवैज्ञानिक बुनियाद है। शेरिफ ने अपने "सामाजिक मान्य माप" (Social norm) की पूर्वकल्पना के विकास में इसे अच्छी तरह व्यक्त किया है। उसके परीक्षण बुनियादी हैं और उसकी "चिन्तन-आधार" (Frame of reference) की सहायक अवधारणा, वह पृष्ठभूमि जिससे अनुभव को सम्बन्धित किया जाता है, समाज-मनोविज्ञान में मान्य बन गयी है। सांस्कृतिक भिन्नताओं को समझने में इसके महत्त्व के कारण, हम

संक्षेप में उसके उस कार्य का विवरण देंगे, जोकि उसने "अनुभव सदा सम्बन्धों पर आश्रित प्रतीत होता है," इस पूर्वकल्पना की परीक्षा के लिए किया था।

पात्रों को एक अंधेरे कमरे में ले जाया गया जहां कि एक हल्की रोशनी एक बिजली के बटन को दबाने से प्रकट होती और ग़ायब हो जाती थी। कुछ पात्रों को पहले अकेले और बाद में समूह के सदस्यों के रूप में कमरे में लाया गया, जबकि औरों को अकेले परीक्षा करने से पहले सामूहिक स्थिति में रखा गया था। यद्यपि रोशनी स्थिर थी, किन्तु ऐसी परिस्थिति का स्वचालित प्रत्युत्तर (Autokinetic response) ऐसा है कि पात्र जहां गति नहीं है, वहां भी गति देखता है, चूंकि ऐसे कमरे में होने के कारण जहां कि घुप अंधेरा है, उसके पास कोई ऐसा स्थिर बिन्दु नहीं जहां से कि वह गति का निर्णय कर सके। प्रत्येक पात्र से पृथक्-पृथक् प्राप्त किये गये निर्णयों ने यह सिद्ध किया कि जब उन्हें कोई वस्तुगत मान प्राप्त नहीं, तब व्यक्ति मन-ही-मन में (subjectively) उस "सीमा में जो कि व्यक्ति के लिए विशिष्ट है, एक विस्तार की सीमा और बिन्दु (एक मान या मान्य माप)." स्थापित कर लेते हैं और परीक्षण के दोहराये जाने पर वह स्थापित सीमा क़ायम रहती है। सामूहिक परिस्थिति में रोशनी की गति के विस्तार के व्यक्तिगत निर्णयों की विविधता क्रमशः कम हो गयी। किन्तु प्रत्येक समूह अपने लिए एक विशिष्ट मान्य माप स्थापित करता है, जिसके बाद प्रत्येक पृथक् सदस्य "उस सीमा और मान्य माप के प्रसंग में परिस्थिति को देखता है, जो कि वह सामूहिक परिस्थिति से लाया है।"

इन परिणामों और अन्य सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर प्रस्तुत इस सामान्य सिद्धान्त को शेरिफ के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है :

"पूर्वाग्रहों (Stereotypes), फैशनों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मूल्यों जैसे स्थापित सामाजिक मान्य मापों (Norms) का मनोवैज्ञानिक आधार व्यक्तियों के सम्पर्क के फलस्वरूप समान "चिन्तन-आधार" की रचना है। एक बार व्यक्ति में एसे चिन्तन-आधार स्थापित और अन्तर्निहित हो जाने पर, वे उन परिस्थितियों के प्रति जिनका कि वह बाद में सामना करेगा—सामाजिक और कभी-कभी ग़ैर-सामाजिक भी, विशेषकर यदि उद्दीपन का क्षेत्र सुसंरचनायुक्त नहीं है—उसकी प्रतिक्रियाओं को निर्धारित या संशोधित करने में महत्त्वपूर्ण कारक होंगे।"[३]
—अर्थात् यदि अनुभव ऐसा है जिसमें कि अभ्यस्त व्यवहार के पहले उदाहरण का अभाव है।[४]

---

३. एम० शेरिफ, १९३६, पृ० ३२, ९२–१०६।

४. एस० ई० एश, १९५२, पृ० ३६४–८४; लेखक ने गेस्टाल्ट मनोविज्ञान से सापेक्षवाद के मनोवैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत किया है। उसने इस सम्बन्ध में ऊपर उद्धृत शेरिफ के महत्त्वपूर्ण परीक्षण पर विचार नहीं किया और ऐसा लगता है कि वह (१) संस्कृति के अन्तर्गत और अन्तःसांस्कृतिक सापेक्षवाद, और (२) निरपेक्ष मूल्य और संस्कृति के सार्वभौम पहलुओं के भेद को ठीक तरह नहीं समझ पाया है।

अन्तःसांस्कृतिक कारक के अर्थ में शेरिफ की स्थिति का विस्तार करते हुए सामान्यतः प्रत्यक्ष बोध (Perception) की प्रक्रिया पर संस्कृति के प्रभाव पर बल देते हुए हैलोवैल ने कहा है:

"गत्यात्मक अर्थों में प्रत्यक्ष बोध समग्र रूप में किसी प्राणी के लिए जारी समायोजन प्रक्रिया का एक बुनियादी अभिन्न कार्य है—अतएव हमारी जीव-जाति में दूसरे समाज की तुलना में, एक समाज में जो कुछ सीखा जाता है और अर्जित अनुभव की अन्तर्वस्तु उन व्यक्तियों के व्यवहार को, जिन्हें कि कर्म की समान तैयारी प्राप्त हुई है, पूरी तरह समझने और समझाने में महत्त्वपूर्ण भिन्न कारक हैं।"[5]

और वह मनोवैज्ञानिक बार्टलेट के निबन्ध से भी उद्धृत करता है: "अब हर एक यह अनुभव करता है कि प्रत्यक्ष बोधात्मक अर्थ जिनका कि सामाजिक जीवन पर अत्यन्त प्रभाव है, एक सामाजिक परिवेश से दूसरे सामाजिक परिवेश में बदल जाते हैं, और क्षेत्रीय मानवशास्त्री के पास इस भिन्नता की सीमाओं और महत्त्व का अध्ययन करने का स्वर्ण अवसर है।"[6]

शेरिफ द्वारा प्रस्तुत मान्य-मान किस प्रकार बदल जाते हैं, मानवशास्त्रीय साहित्य में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। वे इतने शक्तिशाली हैं कि, बाहरी शक्ति को जो सर्वथा स्पष्ट, वस्तुगत रीति से जांचे गये तथ्य लगते हैं, ये वहां भी फलते-फूलते हैं। इस प्रकार जबकि सन्तानोत्पत्ति में पिता और माता दोनों की भूमिका को स्वीकार किया जाता है, फिर भी अनेक लोगों में रिश्तेदारी की रूढ़ियां हैं जोकि परिवार के एक पक्ष से वंश को गिनती हैं। इन समाजों में अगम्यागमन (Incest) की सीमायें इतने मनमाने तरीके से निर्धारित की गयी हैं कि जिन्हें यूरोपीय लोग "पहले कज़िन" कहते हैं, माता के वंश में एक दूसरे को भाई-बहिन कहते हैं और परस्पर विवाह को भीषण पातक समझते हैं। किन्तु पिता के वंश में उसी श्रेणी की प्राणिशास्त्रीय रिश्तेदारी में विवाह केवल अच्छा ही नहीं माना जाता, बल्कि कभी-कभी अनिवार्य भी होती है। यह इसलिए होता है कि इस प्रकार सम्बन्धित व्यक्तियों को परिभाषानुसार समरक्त रिश्तेदार नहीं समझा जाता।

क्या सामान्य (Normal) है या क्या असामान्य (Abnormal) इसकी परिभाषा भी स्वयं सांस्कृतिक चिन्तन-आधार के अनुसार सापेक्ष है। इसके उदाहरण के रूप में हम अफ्रीकी और नयी दुनिया के नीग्रो लोगों में पायी जानेवाली देवताओं के चढ़ने (Possession) की घटना को ले सकते हैं। उनके धर्म की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति चढ़ने की वह मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसमें कि जब भक्त के सिर पर देवता आता है तब उसका व्यक्तित्व भग्न हो जाता है। तब व्यक्ति की

---

५. ए० आई० हैलोवैल, १९५१, पृ० १६६–७

६. वहीं, पृ० १९०।

ही स्वयं देवता मान लिया जाता है। जिन विद्वानों का दृष्टिकोण ग़ैर-मानवशास्त्र है, उन्होंने चिकित्सकों, मनोवैज्ञानिकों, मानसरोगशास्त्रियों के विवरणों से बाहरी सदृशता को देख इस घटना को रोग के रूप में बताया है। हिस्टीरिया के समान समाधियों को, जिनमें व्यक्ति कस कर आंखें बन्द कर लेता है, और बिना किसी ज़ाहिरा उद्देश्य या लक्ष्य के उत्तेजित होकर घूमता है, या ज़मीन पर लोटता है और निरर्थक शब्दों को बड़बड़ाता रहता है या ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है जबकि उसका शरीर बिल्कुल कठोर हो जाता है, यूरोपीय अमरीकी समाज में स्नायु रोगों और मानसिक रोगों की असामान्य अभिव्यक्तियों से मिला देना कठिन नहीं है।

पर यदि हम इस व्यवहार के नीचे उसके अर्थ में जायें और इस प्रकार के ज़ाहिरा आकस्मिक कार्य को उनके सांस्कृतिक चिन्तन-आधार में रखें, तो ऐसे निष्कर्ष नहीं टिक सकते। चूंकि **जिस परिवेश में देवता चढ़ने के अनुभव घटित होते हैं, उससे सापेक्ष होने के कारण उन्हें तनिक भी असामान्य नहीं समझा जा सकता,** और मानस-रोगशास्त्रीय तो बिल्कुल भी नहीं। यह **संस्कृति द्वारा** निर्धारित हैं और प्रायः अभ्यास तथा अनुशासन से सीखे जाते हैं। एक देव चढ़े व्यक्ति के नृत्य और अन्य कार्य इतनी निश्चित शैली में होते हैं कि जो इस धर्म को जानता है वह व्यक्ति के व्यवहार को देखकर बता सकता है कि भक्त पर कौन-सा देवता चढ़ा है। इसके अतिरिक्त देव चढ़ने का अनुभव उद्वेगात्मक दृष्टि से अस्थिर चित्त व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं दीखता। जिन पर "देवता आता है," वे समूह में पाये जाने वाले सभी व्यक्तित्व-पुरुषों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन व्यक्तियों के निरीक्षण से जोकि प्रायः गुह्य पंथों (Cults) में जाते हैं, परन्तु पूजा के मुहावरे में "जिनके सिर में कुछ नहीं है" और इसलिए उन्हें कभी देव चढ़ने का अनुभव नहीं होता, यह प्रतीत होता है कि वह उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिन पर देवता चढ़ता है, उसके लिए अनुपयुक्त हैं। अन्ततः इन संस्कृतियों में देव चढ़ने का अनुभव इतना अनुशासित है कि यह भक्त के ऊपर केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही आ सकता है। पश्चिमी अफ्रीका तथा ब्राज़ील में देवता केवल उन्हीं लोगों पर आते हैं जिन्हें कि पहले से ही उनके समूह का पुरोहित उनके सिर पर हाथ रखकर इसके लिए मनोनीत कर देता है। हैटी में यदि एक दीक्षित व्यक्ति उस पारिवारिक समूह का सदस्य नहीं है जोकि एक उत्सव पर देव चढ़ाने का अनुष्ठान करता है, तो उसे सामाजिक दृष्टि से अत्यंत बुरा तथा आध्यात्मिक दुर्बलता का चिन्ह और इस बात की साक्षी समझा जाता है कि देवता अपने भक्त के नियंत्रण में नहीं है।

केवल विवरण देने के उद्देश्य से मानवरोगशास्त्र की शब्दावलि कुछ उपयोगी हो सकती है। किन्तु उसके साथ जुड़ा हुआ मानसिक अस्थिरता, उद्वेगात्मक असंतुलन और सामान्यता से विच्युति का अर्थ ऐसे अन्य शब्दों के प्रयोग की सिफ़ारिश करता है जिनके साथ सांस्कृतिक वास्तविकता की विकृति का ऐसा कोई

भाव जागृत न हो। इन नीग्रो समाजों में लोगों के लिए ऐसे अनुभव का अर्थ सर्वथा समझ में आने योग्य, पहले से बताया जा सकनेवाला और सामान्य (Normal) व्यवहार है। इस व्यवहार को सभी सदस्य जानते और स्वीकार करते हैं कि यह अनुभव उनमें से किसी को हो सकता है और यह स्वागत योग्य है, केवल इसलिए नहीं कि इससे मनोवैज्ञानिक सुरक्षा मिलती है, बल्कि इसलिए भी कि यह भक्त को पद, आर्थिक लाभ, सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति तथा उद्वेगात्मक मुक्ति प्रदान करता है।

३

संस्कृति के मूल्यांकन को निर्धारित करने की प्राथमिक प्रणाली संस्कृत्यभिमान (Ethnocentrism) है। संस्कृत्यभिमान यह दृष्टिकोण है कि अपनी जीवन-रीति अन्य सब लोगों से अच्छी समझी जानी चाहिए। यह प्रारम्भिक संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है और अपनी संस्कृति के विषय में अधिकांश व्यक्ति जिस प्रकार अनुभव करते हैं, चाहे वह उसे शब्दों में व्यक्त करें या नहीं, उसे व्यक्ता करत है। यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति की धारा से बाहर, विशेषकर अनक्षर लोगों में इसे स्वतःसिद्ध मान लिया गया है, और व्यक्तिगत समायोजन तथा सामाजिक एकीकरण का कारक मान लिया गया है। अहं को पुष्ट करने के लिए अपने समूह के साथ, जिसकी रीतियां सर्वोत्तम मान ली गयी हैं, तादात्म्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवल तभी, जबकि संस्कृत्यभिमान को उचित ठहरा कर अन्य लोगों को हानि पहुंचाने वाले कार्यक्रमों का आधार बनाया गया, जैसा कि यूरोपीय अमरीकी संस्कृति में हुआ, यह गंभीर समस्याओं की सृष्टि करता है।

अनक्षर लोगों का संस्कृत्यभिमान उनके पुराणों, लोककथाओं, कहावतों और भाषासंबंधी आदतों में व्यक्त होता है। यह अनेक ऐसे क़बायली नामों में भी प्रकट होता है, जिनका कि उनकी भाषा में "मानव प्राणी" अर्थ होता है। तथापि यह अनुमान कि जिन लोगों के लिए यह नाम प्रयोग में नहीं आता, वह इस श्रेणी से बाहर हैं, यह विरले ही कभी स्पष्ट रूप से कहा जाता है। जब सुरीनेम बुश नीग्रो को एक टार्च दिखायी गयी, उसने उसकी प्रशंसा की और फिर यह कहावत उद्धृत की : "गोरे आदमी का जादू काले आदमी का जादू नहीं है," तो यहां वह केवल अपनी संस्कृति में अपनी श्रद्धा को पुष्ट कर रहा है। वह इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि यह अपरिचित अपने सब यांत्रिक साधनों के होते हुए भी, बुश नीग्रो मित्रों की सहायता के बिना, गायना के जंगल में खो जायेगा।

ग्रेट स्मोकी पर्वत के चेरोकी इंडियनों का मानव नस्लों की उत्पत्ति का सुनाया गया पुराण इस प्रकार के संस्कृत्यभिमान का एक अन्य उदाहरण है। स्रष्टा ने सबसे पहले एक चूल्हा बना कर उसमें आग जलाकर आदमी बनाया और आटे से तीन मानव मूर्तियां घड़ीं। उसने उन्हें चूल्हे में रख दिया तथा तैयार होने की

इंतजार की, किन्तु सृजन के इस महत्त्वपूर्ण परीक्षण के परिणाम को देखने के लिए वह इतना व्यग्र था कि उसने पहली मूर्ति को बहुत जल्दी निकाल लिया, यह बहुत कच्ची रह गयी थी, इसका रंग पीला और अनाकर्षक था और इसीसे गोरे लोगों का वंश चला। उसकी दूसरी मूर्ति अच्छी रही, वह ठीक समय पर निकाली गयी, वह खूब भूरी थी, और इसे इंडियनों का पूर्वज बनना था, इससे वह हर प्रकार से संतुष्ट हुआ। उसने इसे इतना सराहा कि उसे चूल्हे से तीसरी मूर्ति को निकालने का ध्यान ही न रहा जब तक कि उसमें जलने की गंध न आने लगी। उसने ढक्कन खोला और देखा कि वह जलकर कोयला हो गयी थी और काली थी। यह दुःख की बात थी, पर अब किया ही क्या जा सकता था, यह पहला नीग्रो था।[७]

संस्कृत्यभिमान का अधिकांश लोगों में प्रायः प्रचलित रूप अपने समूह के अच्छे गुणों को बताने का विनम्र आग्रह है। इस धारणा को कार्यक्षेत्र में फैलाने की कोई प्रवृत्ति नहीं दीखती। इस दृष्टिकोण से जब अपना समूह अन्य लोगों के लक्ष्यों, व्यवहार की स्वीकृत रीतियों और मूल्य प्रणालियों के सम्पर्क में आता है, तब उन्हें उनकी उपयुक्तता (Desirability) को देखकर, बिना किसी निरपेक्ष मान का संकेत करते हुए स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। समानतया इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों को स्वीकार किया जाता है और उनके औचित्य अनौचित्य के विषय में कोई निर्णय देने की जरूरत नहीं समझी जाती, इससे यूरोपीय-अमरीकी परम्परा की चिन्तन प्रणाली में विशेष सुधार अपेक्षित है, चूंकि इस परम्परा में विश्वास या व्यवहार की भिन्नता को प्रायः निकृष्ट या कम उचित और बदलने योग्य समझा जाता है।

यह मान्यता कि अनक्षर लोगों की संस्कृतियां निकृष्ट प्रकार की हैं, यूरोपीय-अमरीकी बौद्धिक इतिहास की एक लम्बी परम्परा का परिणाम है। प्रायः यह नहीं याद किया जाता कि यूरोपीय-अमरीकी चिन्तन प्रणाली में प्रगति की धारणा जो इतनी मजबूत एक हाल की ही घटना है। वस्तुतः, यह उनकी संस्कृति की एक अद्वितीय उपज है। यह उसी ऐतिहासिक धारा का अंश है जिसने कि बौद्धिक परम्परा तथा मशीन को विकसित किया, और इस प्रकार सांस्कृतिक श्रेष्ठता के वाद-विवादों में यूरोप और अमरीका को अन्तिम निर्णय देने का अधिकार प्रदान किया। डाहोमी कहावत है, "जो बारूद बनाता है उसीके हाथ में शक्ति है।" एक तोप तानकर दी गयी युक्ति का मुकाबला वह नहीं कर सकते, जिनके पास अपनी रक्षा के लिए भाले या तीर कमान, या बहुत हुआ तो देशी बन्दूक के अलावा और कुछ नहीं है।

---

७. यह अप्रकाशित पुराण असेल्स के एफ० एम० ओलब्रेक्ट्स् को चेरोपी में क्षेत्रीय कार्य करते समय बताया गया था। इसे उपलब्ध कराने के लिए उनका आभार प्रदर्शित किया जाता है। एफ० वोगेट द्वारा प्राप्त सूचना के अनुसार, इसी प्रकार की एक कथा मूस फैक्टरी में एल्बानी क्री से लिपिबद्ध की गयी है।

जीवन के प्रौद्योगिक पहलू के संभावित अपवाद को छोड़कर, इस स्थापना को कि चिन्तन या कार्य की एक रीति दूसरी से श्रेष्ठ है, किसी सार्वभौम मानदंड का आश्रय लेकर स्थापित करना बहुत कठिन है। उदाहरण के तौर पर खूराक को ही लें। विभिन्न संस्कृतियों की खाद्य उत्पादन की क्षमतायें भिन्न हैं, इसलिए कुछ लोग औरों से अधिक खाते हैं। गुज़ारे के स्तर की संस्कृतियों पर भी, ऐसे कोई लोग नहीं हैं जोकि कुछ खाद्य सामग्रियों को मनुष्य के खाने के लिए अयोग्य न समझते हों। दूध जोकि हमारी खूराक में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अनेक जनसमूह भोजन के रूप में अस्वीकार करते हैं। गोमांस, जोकि यूरोपीय अमरीकी भोजन में मूल्यवान् समझा जाता है, हिन्दुओं द्वारा घृणित समझा जाता है। आवश्यकताओं की प्रबलता भी सदैव इतनी अधिक नहीं होती। पूर्वीय अफ्रीका के ऊंचे मैदानों में विचरण करनेवाले हजारों ढोर भोजन के एक साधन के रूप में नहीं, प्रत्युत प्राथमिक सम्पत्ति के रूप में संरक्षित किये जाते हैं। केवल मरी हुई गाय को खाया जाता है। यह रिवाज़ यद्यपि यूरोपीयों के लिए घृणित है, पर उन लोगों को जोकि पीढ़ियों से इसे अमल में ला रहे हैं, ज़ाहिरा तौर पर इसने कोई नुकसान नहीं पहुंचाया है।

टोटमी तथा धार्मिक टैबू या निषेध उपलब्ध खाद्य सामग्री पर और बन्धन लगा देते हैं, जबकि अन्य अनेक खाद्य और पोषक चीजों को न खाने में संस्कृतीकरण के प्रशिक्षण का हाथ होता है। यह प्रशिक्षण इतना प्रबल होता है कि यदि अनजाने में भी निषिद्ध भोजन खा लिया जाय, तो उससे उल्टी होने जैसी शरीर-क्रियात्मक प्रक्रिया हो सकती है। सभी छोटे पशुओं का मांस स्वादिष्ट होता है, किन्तु एक मुसलमान की सूअर के बच्चे के मांस के प्रति घृणा किसी भी अंश में यूरोपियनों की 'एक पिल्ले की बोटी या घोड़े के बच्चे के मांस' की लौकिक अस्वीकृति से अधिक तीव्र नहीं है। चीटियां, लार्वा, छोटे कीट, टिड्डियां—इन सभी में कैलोरी मूल्य और विटामिन तत्त्व हैं, अनेक लोग इन्हें भून कर, पका कर या यों ही कच्चे खा लेते हैं और उन्हें बहुत स्वादिष्ट समझते हैं। यद्यपि वह हमें भी प्राप्त हैं, किन्तु हम उन्हें कभी नहीं खाते। दूसरी ओर, वही लोग जो इन्हें बड़े चाव से खाते हैं, टिन के डिब्बों से निकले खाद्य पदार्थों को मनुष्य के खाने के अयोग्य समझते हैं।

४

कभी-कभी "सभ्य" और "आदिकालीन" (Primitive) नाम देकर संस्कृतियों का मूल्यांकन किया जाता है। 'इन नामों में एक भ्रान्ति उत्पादक सरलता है और इनमें निहित भिन्नताओं को लिपिबद्ध करने के प्रयास अप्रत्याशित कठिनाई के सिद्ध हुए हैं। इन दो विरोधी नामों में अन्तर्निहित भेद हमारे लिए विशेष महत्त्व के हैं। "आदिकालीन" वह शब्द है जिसे उन लोगों को बताने के लिए प्रयोग में लाया जाता है जिनसे कि मानवशास्त्रियों का प्रायः परम्परागत सम्बन्ध रहा है तथा जिन समूहों के अध्ययन ने सांस्कृतिक मानवशास्त्र को उसके अधिकांश न्यास दिये हैं।

"आदिकालीन" शब्द उस समय प्रयुक्त हुआ जबकि मानवशास्त्रीय सिद्धान्तों पर विकासवादी दृष्टिकोण की प्रभुता थी और उसके अनुसार यूरोपीय संस्कृति की धारा से बाहर रहने वाले लोगों को पृथ्वी के प्रथम निवासी मानवों के समान मान लिया गया था, और शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से जिन्हें "आदिकालीन" कहना उपयुक्त ही था। वर्तमान लोगों को उसी नाम से पुकारना बिल्कुल भिन्न चीज़ है। दूसरे शब्दों में, **किसी भी जीवित समूह को अपना समकालीन पूर्वज मानने का कोई भी औचित्य नहीं है।**

इस प्रयोग में अन्तर्निहित अवधारणा उन देशीय लोगों की जीवन रीति के बारे में, जिनसे कि यूरोप तथा अमरीका के विस्तार होने के बाद मानव-शास्त्रियों का सम्पर्क हुआ, हमारे अनेक निर्णयों को दूषित कर देती है। जब हम अमरीकी इंडियन या अफ्रीका या दक्षिणी सागरों के लोगों की जीवित परम्पराओं के बारे में ऐसा कहते या लिखते हैं कि वे हमसे पुरानी हैं, तब हम उनकी संस्कृतियों को ऐसा समझ रहे हैं कि मानो वे अपरिवर्त्तनीय थीं। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं संस्कृति के विषय में यह एक सामान्य बुनियादी निष्कर्ष है कि प्रथाओं का कोई भी विधान स्थिर नहीं है। एक जनसमूह कितना ही अनुदार क्यों न हो, पर हम खोज करने पर पाते हैं कि उनकी जीवन रीति वही नहीं है जो कि पहले समय में थी। अतीत की खुदाइयों के अवशेष इस बात की प्रचुर साक्षियां देते हैं कि निरन्तर, यद्यपि सम्भवतः मन्द, परिवर्त्तन एक नियम है। अतः हमें यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि कोई भी समूह जो आज जीवित है, वह न अपने पूर्वजों की और न हमारे पूर्वजों की भांति रहता है।

समय के साथ "आदिकालीन" शब्द के साथ नये अर्थ जुड़ गये, जोकि विवरणात्मक की अपेक्षा अधिक मूल्यांकनात्मक हैं। कहा जाता है कि आदिकालीन लोगों की संस्कृतियां सरल हैं। एक बहुस्वीकृत पूर्वकल्पना के अनुसार, वे एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रिया के अर्थों को छोड़, सोचने में असमर्थ हैं। सम्भवतः इन सब के योग के रूप में यह घोषणा की जाती है कि आदिकालीन संस्कृतियां ऐतिहासिक सभ्यताओं से गुणों में हीन हैं। इन्हीं अर्थों में उनके लिए "आरण्यक" (**Savage**) या "बर्बर" (**Barbarous**) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो कि "आरण्यक", "बर्बरता" तथा "सभ्यता" (Civilisation) के कल्पित विकास-वादी क्रम से निकले हैं।

इतिहासकार ए० जे० टॉयनबी द्वारा सभ्यता के स्वरूप तथा प्रक्रियाओं में परिवर्तन के विस्तृत अन्वेषण से एक उदाहरण लिया जा सकता है। वह "आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रीय समुदाय" की "आधार रेखा" (Base line) के बाहर के लोगों को "बाहर का सर्वहारा" (Proletariat') कहता है, जिनके सम्पर्क "सभ्यता" को पतित करते हैं। संयुक्त राज्य में इंडियन 'बाहर का सर्वहारा" था। यूरोपीय प्रथाओं के "बर्बरीकरण" द्वारा जैसा कि उसने शब्द प्रयोग किया है, अमरीकी सीमावासी की जीवन रीति में इंडियनों ने अपना प्रबल

प्रभाव डाल, जो संशोधन उत्पन्न किये, उनसे टॉयनबी को आश्चर्य हुआ है। ऐसे अनेक उदाहरण, जैसे कि आधुनिक कला पर "पश्चिमी अफ्रीका के बर्बरों' का प्रभाव उसकी चिन्ता के कारण हैं।

"अमरीका के उत्तरी राज्यों तथा यूरोप के पश्चिमी देशों में नीग्रो कला की यह विजय बर्बरवाद की महत्त्वपूर्ण जीत को दर्शाती है—एक सामान्य द्रष्टा की आंखों में यह बेनिन (अफ्रीकी कला का एक केन्द्र) को पलायन, और बाइजेंटियम को पलायनवाद के काल के पाश्चात्य कलाकार को उसकी खोयी हुई आत्मा की पुन:प्राप्ति की ओर ले जाने की आशा व्यक्त नहीं करती।"[८]

टॉयनबी की बृहत् रचना की दार्शनिक गहराइयों और विशाल विद्वत्ता के बावजूद, यह स्पष्ट है कि उसकी यह धारणायें लेखक के पूर्वाग्रहों को दर्शाती हैं। दूसरों से लेना सांस्कृतिक आदान-प्रदान की बुनियादी क्रिया है और लोगों के सम्पर्कों का अनिवार्य परिणाम है। प्रायः शासक समूह भी उन लोगों के रिवाजों से, जिन पर कि वह शासन करते हैं, अत्यन्त प्रभावित होते हैं। टॉयनबी का आश्चर्य इस पर आधारित है, जिसे कि वह "यूरोप से आनेवालों" और इंडियनों के बीच "आध्यात्मिक संस्कृति में प्रारम्भिक विषमता" कहता है। इसकी विस्तृत साक्षियां उपलब्ध हैं कि आरण्यक का यह चित्रण कि वे ऐसे जीव हैं जो अराजकता की अवस्था में रहते हैं, जिनमें नैतिक संयम और संवेदनशीलता का अभाव है, एक भोंडी विकृति है। अमरीका में जो कुछ हुआ वह संस्कृति के वैज्ञानिक विद्यार्थी को "आश्चर्यचकित" नहीं करता। समूहों के आकार, और शक्ति में भिन्नता और आक्रमण होने पर उनके जीवित रहने की क्षमता में भिन्नता के बावजूद, उपनिवेश संस्थापकों द्वारा इंडियनों की प्रथाओं को ग्रहण करना तथा इंडियनों द्वारा यूरोपीय प्रथाओं को ग्रहण करना स्वाभाविक माना जाना चाहिए।

"आदिकालीन" या "आरण्यक" जीवन रीति को बताने वाले कुछ लक्षण अत्यन्त आपत्तिजनक हैं। उदाहरण के लिए, "सरल" संस्कृति क्या है? आस्ट्रेलिया के आदिवासी प्रायः पृथ्वी पर सबसे अधिक आदिकालीन माने जाते हैं। उनकी रिश्तेदारी की शब्दावलि और उस पर आधारित रिश्तेदारी जानने की पद्धति इतनी जटिल है कि बहुत वर्षों तक विद्वान् उसके विश्लेषण में सफल न हो सके। इसने यूरोपियों की सरल रिश्तेदारी की शब्दावलि को नीचा दिखा दिया, जिसमें कि पितृपक्ष और मातृपक्ष के बाबा-दादी, नाना-नानी या छोटे या बड़े भाई के भेद को नहीं बताया जाता और अक्षरशः दर्जनों सम्बन्धियों को एक ही शब्द "कज़िन" द्वारा पुकारा जाता है। स्पेनी आक्रमण से पूर्व, पेरू के आदिवासी इतने सुन्दर बुने और ऐसे रंगों में रंगे, जोकि बहुत कम फीके पड़ते थे, पर्दों के कपड़े बनाते थे जोकि बहुप्रशंसित गोबेलिन के कपड़ों से कम न थे। अफ्रीकी लोगों की विश्व-कल्पना (World-view), जोकि ग्रीक लोगों की विश्व-कल्पना

८. ए० जे० टॉयनबी, १९३४, ३९, जिल्द ५, पृ० ३७३, ४७९–८०, ४८२।

से बहुत मिलती-जुलती है, या पौलिनेशियायियों के महाकाव्यमय पुराण उन सभी को अपनी जटिलताओं से प्रभावित करते हैं जोकि उन्हें जानने का कष्ट उठाते हैं। यह और अन्य अनन्त उदाहरण यह दर्शाते हैं कि आदिवासी जनों की जीवन रीतियां अनिवार्यतः सरल नहीं हैं। यह उदाहरण यह भी दर्शाते हैं कि "आदिकालीन लोग" न तो बालवत् हैं, न ही बुद्धू, न ही भोलेभाले; हम यहां पर कुछ ही प्रिय विशेषण उद्धृत कर रहे हैं, जोकि प्रायः वे व्यक्ति प्रयोग में लाते हैं जिन्हें या तो इन लोगों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है या जिन्होंने उनकी जीवन रीति के समकालीन विवरणों को पढ़ने का कष्ट नहीं उठाया है।

फ्रांसीसी दार्शनिक एल० लेवी-ब्रूल द्वारा प्रस्तुत किया गया यह सिद्धांत भी, कि आदिकालीन लोग वास्तविकता तथा अलौकिक के बीच भेद नहीं करते, जोकि उनकी "प्राक्-तर्क मनोवृत्ति" (Prelogical mentality)[१] को सूचित करता है, अब तथ्यों द्वारा उतना ही भ्रान्त सिद्ध हुआ है। क्योंकि अनेक संस्कृतियों के बारे में संकलित तथ्य यह दर्शाते हैं कि कभी-कभी सभी लोग वस्तुगत रीति से सिद्ध होने वाले कार्य कारण के अर्थों में सोचते हैं, ठीक उसी प्रकार कभी-कभी वे ऐसी व्याख्याओं का सहारा लेते हैं जोकि किसी तथ्य को जाहिरा कारण से जोड़ती हैं। अनेक लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क पर आधारित संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन ने यह सिखाया है कि सभी लोग कुछ पूर्वावयवों (Premises) को सही मानकर सोचते हैं। एक बार पूर्वावयवों को सही मान लेने पर, तर्क से नहीं बचा जा सकता।

किन्हीं लोगों का अधिकांश जीवन इस स्तर पर बीतता है, जहां कार्य-कारण के विचार या ब्रह्मांड की व्याख्या के प्रश्न बहुत कम ही उठते हैं। जीवन के घरेलू पहलू में, जैसा कि हम कहते हैं, वास्तविकता "ठोस की भावना" व्यक्त होती है। इसलिए नामों को छोड़कर, एक नवाहो इंडियन की आत्मकथा का निम्न उद्धरण, जिसमें कि सुनाने वाला अपने पिता की पिछली बीमारी का जिक्र कर रहा है, यांत्रिक परम्परा की तर्कप्रणाली के अभ्यस्त कानों को बहुत ही परिचित-सा लगेगा।

"बूढ़े आदमी हैट ने कहा, "मैं नहीं सोचता कि मैं ठीक हो पाऊंगा। मैं नहीं सोचता कि मैं अधिक दिन जीवित रह सकूंगा। जैसा मैं दीखता हूं, मुझे

---

१. लेवी-ब्रूल, १९२३–१९२६। यह इस विद्वान् की बौद्धिक ईमानदारी और महानता का प्रमाण है कि जब वह तथ्यों द्वारा इस अवधारणा की असत्यता से सहमत हो गया, वह इसको त्यागने के लिए तैयार रहा, यद्यपि बहुत वर्षों तक उसका नाम इसके साथ जुड़ा रहा। १९४० में अपनी मृत्यु से पहले उसने वह कारण बताया कि वह क्यों अब "आदिकालीन मनोवृत्ति" के विचार को सत्य नहीं मानता। इसे उसने अपनी नोटबुक में लिखा जहां उसने अपनी नयी पुस्तक की रूपरेखा दी है, जोकि उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई। (लेवी-ब्रूल, १९४९, पृ० ४९–५०, ६१–२, १२९, १५७)

अपने बारे में ऐसा ही अनुभव होता है। मैं अपनी ओर देखता हूं, मेरे ऊपर कुछ भी नहीं रह गया है, कोई मांस अब नहीं बचा है, केवल खाल तथा हड्डी रह गयी है। इसीलिए मैं सोचता हूं कि मैं ज़्यादा दिन जीवित नहीं रह सकता, खाने के बारे में तुम जानते हो कि मैं कोई सख्त चीज़ नहीं खा सकता, मैं केवल कोई मुलायम चीज़ ही निगल सकता हूं। किन्तु मैं दो-तीन कौर से अधिक नहीं खा सकता। पर मैं ढेर-सा पानी पीता हूं।" चौकलेस किसमैन ने कहा, "हालांकि तुम ऐसे हो, मेरे बड़े भाई! अच्छा हो यदि तुम बराबर खाते रहो। ऐसा करने से तुम्हें ताक़त मिलेगी। यदि तुम यह नहीं करते तो तुम सचमुच कमजोर हो जाओगे। हालांकि तुम अब इतने कमज़ोर हो कि खा नहीं सकते, कुछ खाने और निगलने की कोशिश करो। किसी-न-किसी तरह तुम्हारी यह बीमारी ठीक हो जायेगी। अगर तुम खाना छोड़ दोगे तब तो तुम सचमुच ही चल दोगे।" उसने यह कहा और फिर वह चला गया और मैं भी रेवड़ लेकर निकल गया।"[१०]

इस उद्धरण में हम तत्काल सामान्य बुद्धि के तर्क को देख सकते हैं। हम एक अन्य उदाहरण पर विचार करें जहां घटना की कैफ़ियत, जिसे हम वैज्ञानिक तथ्य समझते हैं, उससे भिन्न पूर्वावयव पर आधारित है। हम उदाहरण के रूप में पश्चिमी अफ्रीका के इस बहुविस्तृत विश्वास को लें, कि सबसे छोटा बच्चा अपने बड़े भाई-बहनों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण-बुद्धि का होता है। यह विश्वास इस अवलोकन पर आधारित है कि बच्चे अपने मां-बाप से मिलते-जुलते हैं और यह भी देखा गया है कि जैसे-जैसे स्त्री-पुरुष आयु में बढ़ते हैं, उनका अनुभव बढ़ता है। ये तथ्य हमें असम्बद्ध लग सकते हैं, किन्तु पश्चिमी अफ्रीकी को नहीं। वह तर्क देता है कि बड़ी आयु उन्हें अपने छोटे बच्चे, और विशेषकर सबसे छोटे बच्चे को, अधिक निश्चित जानकारी प्रदान करने की सामर्थ्य देती है। अतः यह आशा की जाती है कि ऐसा बच्चा अपने बड़े भाई-बहिनों को बुद्धिमत्ता में पछाड़ देगा। इस कैफ़ियत का तर्क निर्दोष है। यदि हम निष्कर्ष को चुनौती देना चाहते हैं, तो हमें **पूर्वावयवों** से असहमत होना होगा।

वस्तुतः यह मानना होगा कि कभी-कभी सभी मानव प्राणी "प्राक्-तर्क रीति से" सोचते हैं।[११] वैज्ञानिक चिन्तन की रीति जिस पर हमें इतना गर्व है, हमारी संस्कृति में भी अपेक्षया बहुत ही कम लोगों द्वारा अनुसरण की जाती है, न ही वे लोग भी सदा तार्किक रीति से सोचते हैं। जब वे वास्तव में अपनी प्रयोगशालाओं में काम करते हैं, वे विज्ञान के कठोर तर्कशास्त्र का प्रयोग करते

---

१०. डब्ल्यू० डिक, १९३८, पृ० २६९।

११. यह दृष्टिकोण लेवी-ब्रूल ने भी स्वीकार किया था, जिसने अपनी मृत्यु के बाद प्रकाशित नोटबुकों में लिखा : "कठोर तार्किक दृष्टि से, हमारी और आदिकालीन मनोवृत्ति में कोई भी भिन्नता स्थापित नहीं की जा सकती।"—एल० लेवी-ब्रूल, १९४९, पृ० ७०।

हैं। किन्तु उसके बाहर, अन्य प्रकार की कफ़ियतें आ जाती हैं, जैसे कि जब एक वैज्ञानिक शक्ति या शांति के प्रतीकात्मक किसी प्रतिनिधि को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, या वह किसी सामाजिक साहसिक कार्य को "भाग्य" के अर्थों में सोचता है।

यह मान्यता कि "आदिकालीन" या "आरण्यक" है। लोगों में बहुत-से ऐसे समान लक्षण हैं, जोकि "सभ्य" कहे जाने वाले लोगों में नहीं हैं, संस्कृति को आंकने में एक नयी प्रवृत्ति है। वास्तव में "आदिकालीन" कहे जाने वाले लोगों के व्यवहार में सभ्य कहे जाने वाले लोगों के व्यवहार से कहीं अधिक भिन्नतायें हैं। इस प्रकार हम कुछ "आदिकालीन" लोगों को सभ्य लोगों की भांति मुद्रा अर्थ-व्यवस्थाओं में, अन्यों को अदल-बदल का व्यवहार करते और अन्यों को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर और बिल्कुल भी व्यापार न करने वाले पायेंगे। "आदिकालीन" समाजों में विवाह और पारिवारिक प्रकारों के भी अनेक रूप, जिसमें एक-विवाह भी सम्मिलित है, पाये जाते हैं। कुछ में टोटमवाद है, किन्तु अधिकांश में नहीं हैं। कुछ में गोत्र प्रणाली है, बहुतों में नहीं। कुछ अमरीकनों की तरह माता-पिता दोनों की ओर से वंश गिनते हैं, कुछ केवल पिता की ओर से और कुछ केवल माता की ओर से गिनते हैं, और इसी प्रकार हम सब प्रकार की संस्थाओं और अधिकांश प्रथासम्मत व्यवहार के बारे में कह सकते हैं, जहां सदा ही विविधता मिलती है। इसलिए "आदिकालीन" शब्द का कुछ भी अर्थ क्यों न हो, इसमें किसी प्रथा, परम्परा, विश्वास या संस्था की एकता को नहीं बांधा जा सकता।

मानवशास्त्रीय रचनाओं में "आदिकालीन" या "आरण्यक" शब्द का वह अर्थ नहीं है, जोकि टॉयनबी की रचना में या अन्य ग़ैरमानवशास्त्रीय रचनाओं में मिलता है। मानवशास्त्री "आदिवासी" या "आरण्यक" शब्द का प्रयोग केवल उन लोगों को बताने के लिए करते हैं जो यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति की धारा के बाहर हैं और जिनके पास लिखित भाषायें नहीं हैं। इस अर्थ को दोहरा कर यह आशा की जाती थी कि अब यह सरल या मूर्ख या ऐसे ही कुछ और भाव व्यक्त न करेगा, और साइबेरिया के रेंडियर चरानेवालों या कांगों के लुण्डा साम्राज्य जैसी भिन्न सभ्यताओं के बारे में, जिन में केवल एक ही चीज़ समान थी, और वह थी लेखन-कला का अभाव, इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग न होगा।

"आदिकालीन" को बदलने के लिए कई शब्द सुझाये गये हैं। "अनैतिहासिक" उनमें से एक है, इसमें यह अन्तर्निहित है कि लिखित इतिहास का अभाव बिल्कुल इतिहास न होने के बराबर है, जोकि वस्तुतः एक काल में रहने वाले किन्हीं लोगों के बारे में नहीं कहा जा सकता। "प्राक्-अक्षर" (Pre-literate) अधिक पसन्द किया गया है, किन्तु यहां यह आपत्ति है कि "समकालीन पूर्वज" की अवधारणा से ग्रहण किये गये **प्राक्** उपसर्ग में यह अंतर्निहित है, कि बिना लिखित भाषाओं वाले लोग उस अवस्था से पूर्ववर्ती अवस्था में हैं, जिसमें कि यह माना जाता है कि वे या तो लिपि का आविष्कार करेंगे या कम-से-कम

उसे ग्रहण करेंगे। तीसरा शब्द, **"अनक्षर"** (Non-literate) केवल यह बताता है कि इन लोगों के पास लिखित भाषायें नहीं हैं। कई बार इसे भ्रमवश "निरक्षर" (Illiterate) समझ लिया जाता है, किन्तु इस शब्द के प्रयोग से बचना चाहिए, चूंकि इसमें भी योग्यता या अवसर या दोनों की ही हीनता का भाव है। "अनक्षर" रंगरहित है, अतः अपने अर्थ को स्पष्ट व्यक्त करता है और अपने द्वारा व्याख्या किये जाने वाले तथ्यों पर सरलता से लागू किया जा सकता है। इसलिए अन्य जिन शब्दों पर हमने विचार किया है उनकी तुलना में इसे तरजीह दी जानी चाहिए।

अन्ततोगत्वा यह प्रश्न मन में उठता है कि क्या लेखन-कला की उपस्थिति या अनुपस्थिति जैसा एक मापदंड उन अनेक लोगों के वर्णन के लिए पर्याप्त है जोकि इसके अन्तर्गत आते हैं। इसकी पर्याप्तता इसकी उपयोगिता से सिद्ध है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि कोई भी एक लक्षण सम्पूर्ण संस्कृतियों को बताने के लिए पूर्णतः संतोषजनक नहीं है। यह समझ लेना चाहिए कि लेखन-कला की अनुपस्थिति के साथ कुछ अन्य लक्षण भी प्रायः जुड़े हुए हैं। अवलोकन द्वारा यह पाया गया है कि अनक्षर लोग अपेक्षया अधिक पृथक्कृत है, उनकी अल्प जनसंख्यायें हैं, और वे लेखन-कला वाले जनसमूहों की अपेक्षा अपनी स्वीकृत व्यवहार रीतियों में द्रुत परिवर्तन के कम अभ्यस्त हैं। हाल की पीढ़ियों में, यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति को केवल अनक्षर संस्कृतियों से ही नहीं, बल्कि यूरोप और अमरीका के बाहर की साक्षर संस्कृतियों से भी पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि यूरोपीय और अमरीकी संस्कृति में शक्तिचालित मशीन और वैज्ञानिक परम्परा पर आधारित टैक्नोलाजी की प्रभुता है। पर यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इनमें से कोई भी अन्तर, संभवतः आखिरी अन्तर को छोड़कर, लेखन-कला की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति की भांति स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं है।

५

इससे पहले कि हम सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Relativism) के अपने विवेचन को समाप्त करें, यह महत्त्वपूर्ण है कि हम उन कुछ प्रश्नों पर विचार करें जो सांस्कृतिक सापेक्षवादी स्थिति को प्रस्तुत करते समय उठाये जाते हैं। यह युक्ति दी जाती है, "यह सच हो सकता है कि मानव प्राणी अपने द्वारा सीखी हुई रीतियों के अनुसार जीवन बिताते हैं। उनके द्वारा इन रीतियों को सर्वोत्कृष्ट समझा जा सकता है। लोग इन रीतियों के प्रति इतने अनुरक्त हो सकते हैं कि वह उनके लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जायें। जीवित रहने के अर्थों में, उनकी प्रभावशीलता को स्वीकार किया जा सकता है, चूंकि उनके अनुसार जीवन बिताने वाला समूह निरन्तर जीवित रहता है। परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि नैतिक मूल्यों की सभी प्रणालियां, सत्य और मिथ्या की सभी अवधारणायें, ऐसी लचर नींव पर खड़ी हुई हैं कि नैतिकता, उचित व्यवहार और आचार संहिताओं की कोई आवश्यकता नहीं है? क्या सापेक्षवादी दर्शन में वस्तुतः इन सबका निषेध नहीं है?"

यह मानना कि चूंकि मूल्य देश और काल के अनुसार सापेक्ष हैं, अतः वह विद्यमान ही नहीं है, उस भ्रांति का शिकार होना है जोकि सापेक्षवादी स्थिति के योगदान को न समझने का परिणाम है। सांस्कृतिक सापेक्षवाद वह दर्शन है जो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक समाज अपने जीवन के मार्गदर्शन के लिए मूल्य निर्धारित करता है, और जो उन के अनुसार जीवन बिताते हैं, उनके महत्त्व को समझता है, हालांकि वह हमारे मूल्यों से भिन्न हो सकते हैं। निरपेक्ष मानों (Norms) से भिन्नताओं पर ज़ोर देने के बजाय, जोकि चाहे वह कितनी ही वस्तुगत रूप से स्थापित की गयी हों, फिर भी एक निर्दिष्ट देश तथा काल की उपज हैं, सापेक्षवादी दृष्टिकोण लोगों के लिए उनके प्रत्येक मान और उनके मूल्यों की सत्यता को सिद्ध करता है।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद पर विचार करते हुए यह ज़रूरी है कि हम निरपेक्ष (Absolutes) और सार्वभौम तत्वों (Universals) में भेद करें। निरपेक्ष निश्चित हैं, और जहांतक रूढ़ि का सम्बन्ध है, उनमें एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति या एक काल से दूसरे काल में भिन्नतायें स्वीकार नहीं की जातीं। दूसरी ओर, सार्वभौम तत्त्व वह अल्पतम समान तत्त्व है जो प्राकृतिक या सामाजिक जगत् की सभी घटनाओं की भिन्नताओं के विस्तार में से निकाले गये हैं। यदि हम अपने प्रश्न में उठाये गये मसलों पर इन दो अवधारणाओं के भेद को लागू करें, तो इन आलोचनाओं में दम नहीं रह जाता। यह कहना कि मूल्यों तथा नैतिकता का यहां तक कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, देश या काल का भी कोई निरपेक्ष मानदंड नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे मानदंड भिन्न रूपों में मानव संस्कृति में सार्वभौम तत्त्वों का समावेश नहीं करते। नैतिकता सार्वभौम है और इसी प्रकार सौन्दर्य के आनन्द और सत्यता का कोई मानदंड सार्वभौम है। वे अनेक रूप जो ये अवधारणायें धारण करती हैं, उन्हें व्यक्त करने वाले समाजों के विशेष ऐतिहासिक अनुभव की उपज हैं। प्रत्येक समाज में ही यह मानदंड निरन्तर चर्चा तथा निरन्तर परिवर्त्तन का विषय हैं। किन्तु बुनियादी अवधारणायें विचारों को दिशा देने और आचार को निर्देशित करने तथा जीवन को अर्थ प्रदान करने के लिए क़ायम रहती हैं।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद पर विचार करते हुए हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि इसके तीन पृथक् पहलू हैं, जिनकी अधिकांश चर्चाओं में उपेक्षा की जाती है। इनमें से एक पद्धतिशास्त्रीय है, एक दार्शनिक, और एक व्यावहारिक। इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है:

"एक पद्धति के रूप में सापेक्षवाद में हमारे विज्ञान का यह सिद्धान्त समाविष्ट है कि एक संस्कृति के अध्ययन में यथासम्भव अधिक-से-अधिक वस्तुगतता प्राप्त करने की कोशिश की जाती है, हम जिन जीवन रीतियों का वर्णन करते हैं, उन पर निर्णय नहीं देते, न ही उन्हें बदलने का प्रयत्न करते हैं। इसके बजाय हम संस्कृति के अन्दर स्थापित सम्बन्धों के प्रसंग में व्यवहार की

स्वीकृतियों को समझने का प्रयास करते हैं और उन व्याख्याओं को करने से बचते हैं जो कि हमारे पूर्वनिर्धारित चिन्तन-आधार से उत्पन्न हुई हैं। एक दर्शन के रूप में सापेक्षवाद सांस्कृतिक मूल्यों की प्रकृति और उससे परे, विचार तथा व्यवहार को ढालने में संस्कृतीकरण की प्रशिक्षण प्रक्रिया की शक्ति की स्वीकृति से उत्पन्न ज्ञानशास्त्र की जटिलताओं से सम्बन्धित है। इसके व्यावहारिक पहलू में, इस पद्धति से प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत अन्तःसांस्कृतिक मंच पर व्यवहार में प्रयोग होता है।"

हम इस तर्क का आगे भी अनुसरण कर सकते हैं।

"इन अर्थों में सांस्कृतिक सापेक्षवाद के तीन पहलुओं को एक तर्कसंगत क्रम माना जा सकता है, जिसका कि विस्तृत अर्थों में, विचार के ऐतिहासिक विकास ने भी अनुसरण किया है। अर्थात्, पद्धतिशास्त्रीय पहलू, जिससे कि ज्ञान-शास्त्रीय प्रस्थापनाओं के लिए न्यास संग्रह तथा व्यवस्थित किये जाते और आंके जाते हैं, सबसे पहले आया। चूंकि सांस्कृतिक सापेक्षवाद के क्रमबद्ध सिद्धान्त को...केवल जीओ और जीने दो...के सामान्य विचार की पृष्ठभूमि में समझना तब तक कठिन है, जब तक मानवशास्त्री सारे संसार में संस्कृतियों की समताओं और भिन्नताओं से सम्बद्ध विशाल जनवृत्त को लिपिबद्ध नहीं करते। इन्हीं न्यासों से दार्शनिक स्थिति बनी और दार्शनिक स्थिति से आचार के लिए इसके निहितार्थों का चिंतन प्रारम्भ हुआ।"[१२]

सभी दशाओं में सांस्कृतिक सापेक्षवाद को व्यक्तिगत व्यवहार की सापेक्षता की अवधारणा से जोकि आचार पर समस्त सामाजिक नियंत्रणों का निषेध करती है, सर्वथा पृथक् समझा जाना चाहिए। जीवन में किसी प्रकार की नियमितता के लिए समूह के विधान से सहमति आवश्यक है, फिर भी यह कहने का, कि हम अपने लिए अपनी आज की विधान संहिता से सहमति की आशा कर सकते हैं, यह अर्थ नहीं है कि हम उन व्यक्तियों से, जोकि दूसरे विधानों के अनुसार रहते हैं, अपने विधान से सहमत होने की आशा करें या उन पर उसे लादें।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद का मुख्य आधार ही वह सामाजिक अनुशासन है जोकि भिन्नता का सम्मान करने—परस्पर सम्मान से पैदा होता है। जीवन की एक ही नहीं, अपितु अनेक रीतियों के महत्व पर बल देना प्रत्येक संस्कृति में मूल्यों को घोषित करना है। इस ज़ोर देने का उद्देश्य लक्ष्यों को समझना और उनमें संतुलन स्थापित करना है, न कि जो हम से मेल नहीं खाते उनके बारे में निर्णय करना या उन्हें नष्ट करना है। सांस्कृतिक इतिहास सिखाता है कि यद्यपि मानव सभ्यताओं में समताओं को खोजना तथा उनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, किन्तु मानव के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ईजाद की गई विभिन्न विधियों को खोजना तथा उनका अध्ययन करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

---

१२. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९५१, पृ० २४।

जिस प्रकार के प्रश्न उठाये गये, उन पर विचार करना आवश्यक हुआ, यह संस्कृतीकरण के उस अनुभव को व्यक्त करता है जिसमें प्रचलित नैतिकता की प्रणाली को जानबूझकर लोगों को सिखाया ही नहीं जाता, बल्कि उसकी एकान्त उत्कृष्टता पर भी ज़ोर दिया जाता है। उदाहरण के लिए ऐसी बहुत संस्कृतियां नहीं हैं जहां कि, हमारी तरह पाप व पुण्य का कठोर विभाजन किया गया हो तथा उस पर आग्रह किया जाता हो। इसके बजाय यह माना जाता है कि पाप तथा पुण्य निरन्तर बदलने वाले पैमाने के दो छोर हैं जोकि बीच में विभिन्न अंशों में उनके मिश्रण को दर्शाता है। इस प्रकार हम पुनः पहले प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त पर लौटते हैं कि "निर्णय अनुभव पर आधारित है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने संस्कृतीकरण के प्रसंग में अनुभव की व्याख्या करता है।" ऐसी संस्कृति में जहां निरपेक्ष मूल्यों पर ज़ोर दिया जाता है, उस संसार का सापेक्षवाद, जिसमें अनेक जीवन रीतियां व्याप्त हैं, समझना मुश्किल होगा। इसके बजाय यह उन मूल्य के निर्णयों के लिए खुली छूट दे देगा, जोकि इस बात पर आधारित होंगे कि किस अंश तक निर्दिष्ट प्रथाओं का एक विधान यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति से मिलता है या पृथक् है।[१३]

एक बार समझ में आने पर और मानव के वैज्ञानिक विद्यार्थी की क्षेत्रीय पद्धतियों का प्रयोग कर, और उसके साथ अत्यन्त भिन्न प्रथाओं के विधानों से प्राप्त सन्तुष्टियों से अवगत हो, यह स्थिति हमें संस्कृत्यभिमान के दलदल से, जिसमें कि बहुत समय से अन्तिम मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा चिन्तन फंसा रहा है, बाहर निकलने का मार्ग दिखाती है। सभी प्रकार की भिन्न सांस्कृतिक धाराओं की गहराई को खोजने और विभिन्न लोगों की जीवन रीतियों के महत्त्व पर पहुंचने के साधनों के द्वारा हम पुनः उस ताज़ी दृष्टि और तटस्थता के साथ अपनी संस्कृति पर विचार कर सकते हैं, जोकि अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

---

१३. दार्शनिक आधारों पर सापेक्षवाद के त्यागने के कई उदाहरण उन लेखकों में मिलते हैं जोकि निरपेक्ष मूल्यों के सिद्धान्त को ज्ञात प्रणालियों की विविधता से मिलाने का प्रयास करते हैं, जैसे कि ई० विवास, १९५०, पृ० २७–४२, और डी० बिडने, १९५३ ए०, पृ० ६८९–९५, १९५३ बी०, पृ० ४२३–९। इन दोनों ही चर्चाओं में उस भ्रान्ति के उदाहरण मिलते हैं जो कि सापेक्षवाद के पद्धतिशास्त्रीय दार्शनिक और व्यावहारिक पहलुओं के बीच भेद न करने से उत्पन्न होती है। इन भेदों को स्वीकार करने वाले सापेक्षवाद के समीक्षात्मक चिन्तन के लिए देखिये, आर० रेडफील्ड, १९५३, पृ० १४४।

अध्याय बीस

जनवृत्तशास्त्री की प्रयोगशाला

क्षत्र सांस्कृतिक मानवशास्त्री की प्र ोगशाला है। अपने क्षेत्रीय कार्य को करने के लिए वह उन लोगों के पास जाता है जिन्हें उसने अध्ययन के लिए चुना है। उनकी संस्कृति का एक संतुलित चित्र पाने के लिए या उसके किसी पहलू के विश्लेषण के लिए जब वह उनकी जीवन रीति में प्रवेश करता है, वह उनके वार्तालाप को सुनता है, उनके घर जाता है, उनके अनुष्ठानों में सम्मिलित होता है, उनके प्रचलित व्यवहार को देखता है, और उनकी परम्पराओं के विषय में प्रश्न पूछता है। इस कार्य में वह जनवृत्तशास्त्री है, उन न्यासों का संचय करने वाला है, जिनका कि वह क्षेत्र से लौटने के बाद विश्लेषण करेगा और उनका अन्य सामग्रियों से सम्बन्ध स्थापित करेगा।

परम्परानुसार मानवशास्त्री ने अनक्षर आदिकालीन लोगों में, जो कि यूरोपीय-अमरीकी ऐतिहासिक धारा या अन्य साक्षर संस्कृतियों से बाहर रहे हैं, अपने क्षेत्रीय अध्ययन किये हैं। यह अनक्षर लोग प्रायः पृथ्वी के सुदूर भागों में रहते हैं और उनके पास पहुंचने के लिए एक विद्यार्थी को यातायात, रोग या शारीरिक हानि की कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। किन्तु सांस्कृतिक मानवशास्त्री के कार्य के इस पहलू पर इसके रोमाण्टिक तत्त्वों की भांति जो दैनिक जीवन की समस्याओं से पलायन करने वाले सामान्य व्यक्ति को आकर्षक लगते हैं, अत्यधिक ज़ोर दिया जा चुका है। मूलतः क्षेत्रीय कार्य अन्य सब वैज्ञानिक कार्यक्रमों की भांति हैं। अत्यन्त उत्साहवर्धक होने के साथ-साथ यह वैज्ञानिक के धैर्य, दृढ़ता और विनोदप्रियता की कठोर परीक्षा है।

मानवशास्त्री जिन लोगों में कार्य करता है उनका अध्ययन इसलिए करता है कि वह ऐसे न्यास प्राप्त कर सके जो संस्कृति की मूल समस्याओं की प्रकृति और कार्य और मानव के सामाजिक व्यवहार पर प्रकाश डाल सकें। हमें समस्त पृथ्वीतल पर ऐसे न्यास एकत्रित करने चाहिएं, क्योंकि इसी प्रकार हम मानव संस्कृति पर जलवायु, नस्ल, जन्मजात मानसिक योग्यताओं या अन्य पहलुओं के, प्रभाव की समस्याओं का अध्ययन कर सकते हैं। विवरणात्मक न्यासों के विस्तृत आधार के स्थापित हो जाने के बाद ही हम मानव व्यवहार की रचना में संस्कृति की प्राथमिकता को देख सकेंगे, जोकि हमारे विज्ञान की एक सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता है।

मानवशास्त्री द्वारा अभी तक अत्यन्त भिन्न प्रकार के लोगों का अध्ययन किये जाने के कारण यह नहीं कहा जाता कि सांस्कृतिक मानवशास्त्र की यह

परिभाषा की जा सकती है कि यह वह विज्ञान है जो "आदिकालीन" लोगों का अध्ययन करता है। मानवशास्त्रियों ने ग़ैर-यूरोपीय लोगों का अध्ययन इसलिए किया कि तुलनात्मक सामग्रियों की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जा रही थी। किन्तु यदि "मानव तथा उसके कार्यों के अध्ययन" को अपने औचित्य को सिद्ध करना है, तो वह इस प्रकार के सीमा-बन्धन से संतुष्ट नहीं हो सकता। अन्वेषण की धारा में परिभाषाओं की दीवारों का अतिक्रमण हो ही जाता है। न्यास जहां कहीं भी मिलें, उन्हें प्राप्त किया जाना चाहिए। इसने हाल के वर्षों में देश और विदेश में साक्षर जनता के अध्ययन में मानवशास्त्र की पद्धतियों के उपयोग को अधिकाधिक बढ़ा दिया है। इस चहारदीवारी में पहली दरार १९२० में पड़ी जबकि समाजशास्त्री रौबर्ट और हेलन लिंड के अमरीकी मिडवैस्ट समुदाय के विश्लेषण की प्रस्तावना मानवशास्त्री क्लार्क विस्लर[1] ने लिखी, जिसमें कि उसने बताया कि यह रचना हमारे साक्षर मशीनी समाज की एक इकाई पर मानव-शास्त्रीय पद्धति का प्रयोग है। इसके बाद जो बहस हुई उससे हमें यहां मतलब नहीं है; तथ्य यह है कि इस परीक्षण ने, एक प्रवृत्ति को जन्म दिया, जिससे कि आज मानवशास्त्री प्रायः साक्षर समूहों का अध्ययन करते हैं और अनेक उन्हीं प्रविधियों और अवधारणाओं का उपयोग करते हैं जिनका कि ग़ैर-यूरोपीय समाजों के अध्ययन में उपयोग किया गया था।

एक जनवृत्तशास्त्री का, जो सफलतापूर्वक अपनी क्षेत्रीय गवेषणा करना चाहता है, पद्धतिशास्त्रीय सापेक्षवाद पर पूरा अधिकार होना आवश्यक है। इस पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता कि जनवृत्तशास्त्रीय गवेषणा की बुनियादी मांग वैज्ञानिक तटस्थता का प्रयोग है, जिसके लिए मूल्य के निर्णयों से दूर रहना जरूरी है। जिस प्रकार कि रसायनशास्त्री अपने द्वारा विश्लेषण किये जाने वाले तत्त्वों और एक-दूसरे से उनके सम्बन्ध के व्यवहार का अध्ययन करता है, उन पर निर्णय नहीं देता, उसी प्रकार संस्कृति के विद्यार्थी को अपने द्वारा अध्ययन किये गये लोगों को देखना चाहिए, उनका विवरण देना चाहिए, और उनकी परम्पराओं का विश्लेषण करना चाहिए। यह करना सरल नहीं है और इसके लिए विशेष अभ्यास की जरूरत है। जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारे संस्कृत्यभिमान की यह मांग है कि हम अपने से भिन्न रीतियों का मूल्यांकन और निर्णय उन तरीकों से करें जोकि हमें एकमात्र सही और सम्भव लगते हैं और जो अपनी रीतियों से भिन्न दिखाई देते हैं, उन्हें अपने को एकमात्र ठीक प्रतीत होनेवाले प्रतिमानों में ढालने की कोशिश करें। किन्तु मानवशास्त्री को क्षेत्र में यह समझने के लिए तैयार होना पड़ता है कि जीवन यापन की ऐसी भी रीतियां हैं जिनमें कि मशीन टैक्नोलौजी को कोई स्थान नहीं और कभी-कभी उसमें न कृषि और न ही पशु-पालन भी मिलता है। इससे भी कठिन कार्य यह है कि अपने अनुभव के

---

१. आर० एस० और एच० एम० लिंड, १९२९, पृ० ६।

आधार पर घृणित लगने वाली बालवध, मानव-सिरों के शिकार, विभिन्न अप्रिय भोजन और शौच की आदतों, जैसी प्रथाओं को वह जिन लोगों का अध्ययन कर रहा है, उनके मूल्यों के अनुसार उनका वर्णन करे और तदनुसार अपनी प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित करे।

२

यद्यपि पद्धतिशास्त्र[२] की प्राविधिक समस्याओं पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है, फिर भी मानवशास्त्रियों द्वारा क्षेत्र में प्रयुक्त पद्धतियों के वास्तविक विवरण बहुत विरल हैं। चूंकि सांस्कृतिक मानवशास्त्र अपनी पद्धति में ही विज्ञान को अपनी एक सबसे महत्त्वपूर्ण देन देता है और चूंकि वैज्ञानिक कार्यपद्धति की यह बुनियादी मान्यता है कि जिन साधनों द्वारा हम संकलित सामग्रियों को प्राप्त करते हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए, अतः इस कमी का विश्लेषण रुचिकर होगा। जनवृत्तशास्त्री के लिए विशिष्ट क्षेत्रीय कार्य में प्रयुक्त पद्धतियों का विवरण देने में एक कठिनाई प्रयोगशाला के वैज्ञानिक की और उसकी सामग्रियों के बीच भिन्नता से उत्पन्न होती है। प्रारम्भिक दिनों में मानव संस्कृति के विद्यार्थी के पास विवरण देने के बहुत कम ही साधन थे। सभी दशाओं में उसकी सफलता बहुत कुछ उपस्थित मानव परिस्थितियों के प्रति उसकी संवेदनशीलता पर निर्भर है, बजाय इसके कि वह किस कुशलता से परीक्षण-नलिकाओं या तराजुओं या उष्णता प्रदान करने वाले उपकरणों को प्रयोग में लाता है। वस्तुतः उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये न्यासों का कोई भी विवरण किसी एक समय में संकलित सामग्री पर आधारित न होगा, प्रत्युत उसे विभिन्न परिस्थितियों को एकत्रित किये गये न्यासों के विवरण के साथ-साथ चलना होगा, चूंकि उसकी हर एक मद विभिन्न परिस्थितियों में एकत्रित की गयी है। संक्षेप में, इसके लिए एक पृथक पुस्तक की आवश्यकता है।

हम देखें यह कैसे व्यवहार में आता है। इसके लिए हम एक ऐसी पुस्तक से जो कि, जनवृत्तशास्त्री के न्यासों को एकत्रित करने के अनुभवों के विवरण द्वारा एक पद्धति को प्रस्तुत करने के एक परीक्षण के रूप में लिखी गयी है, एक उद्धरण देंगे। इस उद्धरण से एक अध्याय शुरू होता है जिसमें यह बताया गया है कि उत्तरी दक्षिणी अमरीका के डच गायना के जंगलों में रहने वाले बुश नीग्रो के सरामका कबीले की रिश्तेदारी की संरचना से सम्बन्धित सूचनायें, जोकि प्रायः "सामाजिक संगठन" शीर्षक के अन्तर्गत एक क्षेत्रीय विवरण की पुस्तक में दी जाती हैं, किस प्रकार संकलित की गई थीं।

"रात को कहानियां सुनने के बाद हम बहुत ही जल्द जगा दिये गये। इससे पहले कि सूरज निकले और फसल गाहने के लिए रोशनी हो, स्त्रियां इधर-उधर चल रही थीं तथा सबेरे का खाना ले जा रही थीं। उन्हें बहुत काम करना बाकी था। तीसरे पहर देरी से वे अपने गांव को लौटेंगी, चूंकि अगला दिन

---

२. देखिये ए० एल० क्रोबर (सं०), १९५३, "प्रक्रियाओं की समस्याएं"।

धरती माता के लिए पवित्र है और खेतों में तब कोई काम नहीं किया जा सकता। आज फसल गाहने के अलावा गांव लौटने की तैयारियों का काम भी बढ़ जायेगा। इस सप्ताह में जो धान कटा है उसे वहां सुखाने और उड़ाने के लिए ले जाना होगा, और याम और मूंगफलियां और फलियां भी लानी होंगी...।"

जसे ही हम अपने बिस्तरे से उठे, हमारे लोगों ने भी उठना शुरू किया, बेयो और अंगिता भी हमारे अहाते में घुसे। वह अभी-अभी पाबा से नाच कर लौट रहे थे...अंगिता के साथ एक आदमी था, जिसे हमने पहले नहीं देखा था। उसके हाथ में एक छोटा बच्चा था।

"यह मेरा साला अविंगु है, अंगिता ने कैफ़ियत देते हुए कहा।" उसकी आंखों में तकलीफ है, मैं दवा के लिए इसे तुम्हारे पास लाया हूं।"

शिष्टाचार के आदान-प्रदान के बाद हमने बच्चे की ओर ध्यान दिया।

"अविंगु, क्या यह तुम्हारा बच्चा है?" हमने पूछा।

उसने तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, यह मेरा बच्चा नहीं है। यह मेरी पत्नी का बच्चा है। मैंने इसे बनाया है।"

यहां एक बारीक भेद था। उसने उसे बनाया है, किन्तु बच्चा उसका नहीं है।

उसी समय हमारा रसोइया बच्चे के लिये एक छोटा उपहार लेकर आया, पर क्योंकि वह उसे न तो उसके हाथ से और नहीं हमारे हाथों से ले रहा था, अंगिता ने वह उसे दिया।

"धन्यवाद, पिता," उसने अंगिता से कहा।

अंगिता ने बच्चे की ओर प्यार से देखा। "दो-तीन साल और हैं अविंगु और यह अपने पिता के पास गांकवी को जाने तथा रहने को तैयार हो जायेगा। तुम्हें गांकवी में अपने पिता की याद है? उसी ने तुम्हें सरकण्डे से बन्दूक बनाना सिखाया था और तुमने उसे अच्छी तरह बनाया था...।"

तब, यहां एक दूसरा पिता प्रकट हुआ, चूंकि यह स्पष्ट था कि अंगिता ने जब गांकवी के पिता का जिक्र किया, जिसने कि बच्चे को खेलने की बन्दूक बनाना सिखाया था, तब वह अपने बारे में नहीं कह रहा था।

अपने आप में यह सब एक दर्शक के लिए चकराने वाला था, किन्तु कोई बहुत विचित्र घटना न थी। विभिन्न लोगों की रिश्तेदारी क़ायम करने की अपनी स्वीकृतियां हैं, और रिश्तेदारी सम्बन्धों के अपने नाम हैं। शहर में हमें इन बुश नीग्रो लोगों की जीवन रीति की अनेक कहानियां सुनायी गयी थीं। और "मातृसत्ता" (Matriarchate) माता से वंश गिनने की प्रथा का नाम, प्रायः इन लोगों की चर्चा में आया था।

"उनमें केवल माताओं का महत्त्व है, क्योंकि जंगलियों में कौन बता सकता है कि कौन असली पिता है? यही कारण है कि बच्चा बहुत-से पुरुषों को "पिता" कहता है", हम यह विभिन्न व्याख्यायें सुन चुके थे।

किन्तु यहां एक आदमी था जिसने बिना संकोच के कहा, "नहीं, यह मेरा बच्चा नहीं है। यह मेरी पत्नी का बच्चा है, मैंने इसे बनाया है।" और दूसरे ही क्षण बच्चे ने अंगिता को पिता कहा, और अंगिता ने एक-दूसरे आदमी का पिता के रूप में जिक्र किया जो कुछ सालों में बच्चे को अपने साथ ले जायेगा तथा उसे यौवन के लिए शिक्षा देगा।

हमारे मन में अनेक प्रश्न उठे, पर पौ फटने के समय एक-दूसरे गांव में बुवाई के खेत में आया अपरिचित व्यक्ति बोलने के लिए बहुत अनिच्छुक होता है।

"अविंगु, यह तुम्हारा बच्चा नहीं," हमने उससे बिदा लेते समय कहा, "फिर भी ऐसा लगता है कि यह तुम्हें बहुत पसन्द करता है।"

"मां, तिये! मां नेनगे!—सब नीग्रोओं की मां! तुम क्या चाहते हो? मैं उसका पिता हूं!"

इस आदमी ने अपने चेहरे के भाव से यह स्पष्ट किया कि वह अपने गांव में सुनाने के लिए एक किस्सा ले जा रहा है। केवल एक अपरिचित के प्रति शिष्टाचार की भावना ने ही इस विचित्र प्रश्न पर अविंगु और अंगिता को कहकहा मारकर हँसने से रोका। किन्तु अविंगु चिन्तनशील प्राणी था। उसने तनिक रुक कर कहा, "मुझे बताओ, तुम गोरों के देश में क्या बच्चे अपने पिताओं की परवाह नहीं करते?"[3]

इसके बाद इस उद्धरण में यह वर्णन है कि किस प्रकार विभिन्न अवसरों पर तीन विभिन्न स्त्रियों ने अंगिता नाम के पुरुष को, जो कि एक सुन्दर लकड़ी की मूर्ति बनाने वाला था, अपना पुत्र होने का दावा किया और किस प्रकार इस प्राणि-शास्त्रीय दृष्टि से असम्भव बात का सामाजिक वास्तविकता ने समाधान किया और इस प्रकार बुश नीग्रो रिश्तेदारी पर नयी जानकारी प्रदान की।

"अगले दिन जब हमारी नाव अंगिता की डोंगी से आगे निकल गयी, हमने उससे पूछने का मौक़ा न चूका।

हम बोले, "अंगिता, जिस स्त्री ने हमें चावल दिया है, क्या वह तुम्हारी मां है?"

उसने सिर झुकाकर स्वीकृति दी।

"किन्तु टिटा का क्या हुआ, जिसने कहा था कि वह भी तुम्हारी मां है!"

वह तीक्ष्ण-बुद्धि छोकरा था, वह तत्काल समझ गया कि हमारे मन में क्या है। उसने हँसकर कहा, "तुम मेरी असली, असली मां के बारे में, जिसने कि मुझे बनाया है पूछ रहे हो, वह यह नहीं है, वह टिटा भी नहीं है, जिसने कि मुझे बनाया है। वह कुटाई है।"

---

३. एम० जे० और एफ० एस० हर्सकोवित्स, १६३४, पृ० १२४–६।

"किन्तु यह अन्य दो कौन हैं ?"

"यह उसकी बहनें हैं।"[४]

इन जटिल तरीकों से जनवृत्तशास्त्री एक तथ्य के बाद दूसरा तथ्य संग्रह करता है। क्षेत्र से लौटकर उन्हें पचाने के बाद, यह अनुभव वह इस प्रकार के वक्तव्य के साथ अपने ग्रंथ में लिखेगा : "बुश नीग्रोओं का सामाजिक संगठन एकपक्षीय (Unilateral) है, वंश मां की ओर से गिना जाता है। परिवार में मां के सबसे बड़े भाई का नियंत्रण होता है। रिश्तेदारी की नामावलि वर्गीकृत है, मां और मां की बहनों को "मां" नाम से, पिता तथा पिता के भाइयों को "पिता" के नाम से पुकारा जाता है। प्राणिशास्त्रीय माता-पिताओं का कोई पृथक् नाम नहीं होता, बच्चा उन्हें 'उसको बनानेवाले' माता-पिता के रूप में पहचानता है।"

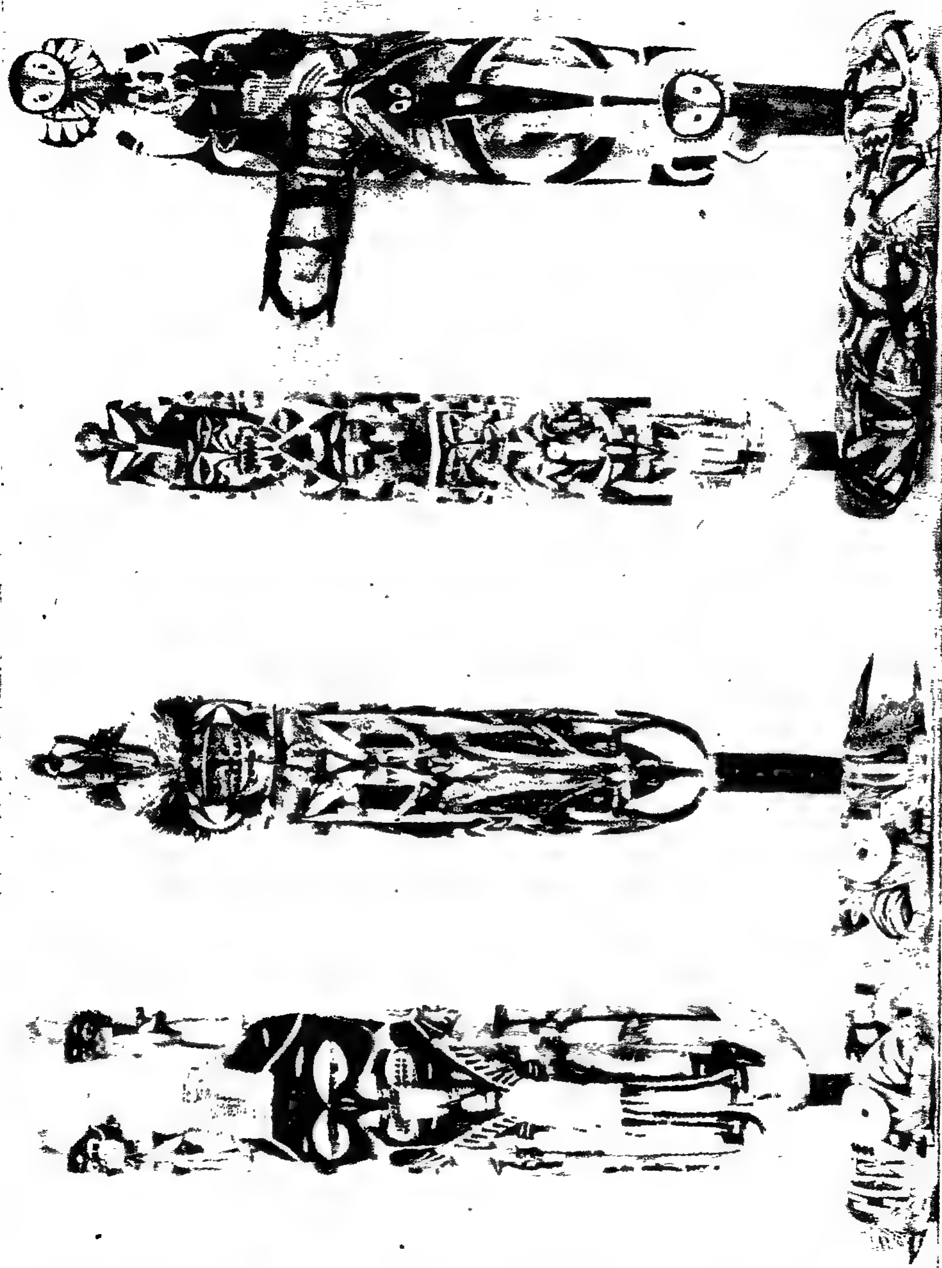
१९२२ में बी० मैलिनोवस्की ने अपनी प्रारम्भिक कृति, "दि आर्गोनौट्स आफ दि वैस्टर्न पैसिफ़िक" में पहली बार इस बात की आवश्यकता को स्पष्ट किया कि क्षेत्रीय कार्य के परिणामों के प्रतिवेदन में उसकी क्षेत्रीय कार्यप्रणाली का विवरण भी होना चाहिए। इस पुस्तक में मैलिनोवस्की ने "भागग्राही अवलोकन-कर्त्ता" (Participant observer) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—"अर्थात् जनवृत्तशास्त्री को प्रधानतः··ठीक आदिवासियों के बीच··रहना चाहिए।" यह अनेक प्रारम्भिक विद्वानों के कार्य करने की रीति का त्याग था, जोकि यद्यपि क्षेत्र में जाते थे पर वह किसी द्वीप की राजधानी, एक मिशनरी अहाते या एक सरकारी विश्राम गृह में रहकर संतुष्ट थे, और वह आदिवासियों से, जिन्हें पारिभाषिक भाषा में "सूचनादाता" कहा जाता था, उनकी जीवन रीतियों के बारे में प्रश्न पूछते थे, जोकि यदि वह बाहर जाते तथा उन्हें देखते तो वह उनके दरवाज़े के सामने ही फैली हुई थी और देखी जा सकती थी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मैलिनोवस्की केवल एक समाज के अनुभव के आधार पर प्राप्त कुछ निष्कर्ष दे रहा था। इस समाज में लोगों ने उसे उनके जीवन में भाग लेने की अनुमति दी थी, यद्यपि यहां भी लोगों ने कभी भी पूर्णतः उसे स्वीकार नहीं किया था। जैसा कि उसने कहा है : "—उन्होंने मुझे अपने जीवन का एक अपरिहार्य पाप या विघ्न समझकर छुट्टी ली, जोकि तम्बाकू के दान से कुछ कम हो जाता था।"[५]

यह स्पष्ट है कि यहां भी, जहां कि लोग उसकी उपस्थिति के आदी हो गये थे, वह एक अपरिचित, एक विदेशी तत्त्व ही रहा, कहने को, वह उनके सामाजिक शरीर में बदहज़मी पैदा करता रहा होगा। अन्य समाजों में, जहां बाहरी व्यक्ति द्वारा उनके जीवन में हिस्सा लेना बुरा समझा जाता है, यह भागग्राही

---

४. वहीं, पृ० १२७–८।

५. बी० मैलिनोवस्की, १९२२, पृ० ६–८।



प्लेट १४ न्यू आयरलैंड से प्राप्त तराशी हुई आनुष्ठानिक काष्ठ मूर्तियां। देखिये पृ० २५५
(शिकागो नैचुरल हिस्टरी म्युज़ियम के सौजन्य से)





प्लेट १५ (क) बुश नीग्रो कंघा; (ख) कपड़ा पीटने की थपकी; (ग) तश्तरी। देखिये पृ० २५५।

अवलोकनकर्त्ता की प्रविधि कार्य में नहीं लायी जा सकती। इस अन्तर को इवांस-प्रिचर्ड ने, जिसने कि पूर्वी अफ्रीका के न्वार और बाद में उसी क्षेत्र में रहनेवाले दूसरे कबीले अजान्दे का अध्ययन किया, अपने क्षेत्रीय कार्य के प्रतिवेदन में अच्छी तरह दर्शाया है :

"चूंकि न्वारों में मेरा तम्बू सदैव उनके घरों या वायु-पटों (wind-screens') के बीच में रहता था, मेरी पूछताछ सब के सामने होती थी, मुझे गोपनीय बातचीत करने का बहुत कम मौका मिलता था और मैं कभी भी सूचनादाताओं को इस तरह तैयार करने में सफल न हो सका कि वह मुझे ब्यौरेवार विवरण और टीकाटिप्पणी लिखाते जायें। किन्तु उस आत्मीयता से, जो मुझे मजबूरन न्वारों के साथ स्थापित करनी पड़ी, इस असफलता की क्षतिपूर्ति हो गयी। चूंकि मैं नियमित सूचनादाताओं के द्वारा काम करने की सरल और कम समय लेने वाली विधि को प्रयोग में ला सका, मुझे प्रत्यक्ष अवलोकन और लोगों के दैनिक जीवन में भाग लेना पड़ा। अपने तम्बू के दरवाजे से मैं देख सकता था कि पड़ाव या गांव में क्या हो रहा है और मेरा प्रत्येक क्षण न्वारों की संगति में बीतता था। इस प्रकार छोटे-छोटे कणों में सूचना मिलती थी, और मैं जिस न्वार से मिलता था मुझे उसे ही अपनी ज्ञान-वृद्धि का साधन बनाना पड़ता था, लेकिन मुझे कभी खंडों में सूचना नहीं मिली, जोकि चुने हुए प्रशिक्षित सूचनादाताओं द्वारा ही सम्भव थी। चूंकि मुझे न्वारों के इतने घनिष्ठ सम्पर्क में रहना पड़ा, इसलिए मैं उन्हें अजान्दे से, जिनके बारे में मैं अधिक विस्तृत विवरण लिखने में समर्थ हूं, कहीं अधिक आत्मीयता से जानता था। अजान्दे मुझे अपना बनाकर नहीं रहने देंगे; न्वार मुझे अन्य प्रकार नहीं रहने देंगे। अजान्दों में मुझे मजबूरन समुदाय से बाहर रहना पड़ा, न्वारों में मुझे उनका सदस्य बनने पर मजबूर होना पड़ा। अजान्दे ने मुझसे एक उच्च की तरह व्यवहार किया, न्वार ने बराबरी का।"[६]

चूंकि क्षेत्रीय परिस्थिति में जनवृत्तशास्त्री केवल एक कारक है, अतः वह सदैव आदर्श पद्धति को ही नहीं अपना सकता। जिस समूह का अध्ययन करना हो उस पर ध्यान देना जरूरी है, क्योंकि उनकी पूर्व-अवधारणायें, उनके पूर्वाग्रह, उनके भय यहां पर प्रबल होंगे। विद्यमान धारणा एक ऐसा कारक है, जिसके प्रति जनवृत्तशास्त्री बहुत अधिक संवेदनशील नहीं हो सकता। उसके अध्ययन में मानव तत्त्व का सार होने के कारण उसे यथासंभव बड़ी सावधानी से व्यवहार करना होगा। वह इसे अपने उद्देश्य की ईमानदारी से प्राप्त करता है, जो कि उसके प्रत्येक कार्य में व्यक्त है। वह सच्चाई का व्यवहार करता है और संयम बरतता है। वह वहां नहीं जाता जहां उसका स्वागत नहीं है। किसी घर में घुसने से या किसी अनुष्ठान में सम्मिलित होने से पहले वह इजाजत लेता है। वह अनुभव

---

६. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४०, पृ० १५।

करता है कि यद्यपि मृत्यु के संस्कार और मृत व्यक्ति से सम्बन्धित विश्वास उसकी गवेषणा के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु परिवार के सदस्य की मृत्यु जीवित सम्बन्धियों के लिए बहुत दुःखदायी होती है, और इसलिए, जब तक कि उसे चाहा नहीं जाता,वह मृत्यु संस्कार से दूर रहता है। यदि वह बुद्धिमान् है, वह जानता है कि इन संयमों को बरतने से वह दीर्घकाल में लोगों का सम्मान और विश्वास पा लेगा, और उसकी इस संवेदनशीलता से अन्ततः उसकी सामग्री अधिक समृद्ध होगी। सबसे बड़ी बात यह है कि एक समुदाय में रहते समय वह उस समुदाय द्वारा उसे दिये गये स्थान का सम्मान करेगा।

जनवृत्तशास्त्री अपने द्वारा अध्ययन किये जाने वाले लोगों की इच्छानुसार उनके जितना समीप हो सके एक तम्बू लगायेगा या एक घर लेगा। किन्तु वह उनके कितने पास आ सकता है और उनके जीवन को देखने के लिए उसमें कितना भाग ले सकता है, इसका निर्णय उसकी इच्छायें नहीं, बल्कि उनकी प्रतिक्रियायें करेंगी। एक वैज्ञानिक की हैसियत से वह इन निरीक्षणों को अपनी संस्कृति की अवधारणा और अपनी समस्याओं की प्रकृति के अनुसार अपने नोटों और प्रकाशित प्रतिवेदनों में स्थान देगा। जिन परिस्थितियों में उसने उन्हें एकत्र किया है, यदि उन्हें प्रकाशित न भी किया जाय तो भी कम-से-कम वह उसके नोटों में होनी चाहिए, ताकि यदि किसी अनिर्णीत प्रश्न की चर्चा में पद्धति के प्रश्न उठें तो उनका हवाला दिया जा सके। उसके कार्य के परिणाम अन्य मानवशास्त्रियों को सांस्कृतिक व्यवहार की भिन्नता के अध्ययन में नया संकेत बिन्दु दे सकेंगे और उसी प्रदेश में क्षेत्रीय गवेषणा की योजना बनाने वाले इस बात के सम्बन्ध में कि उन्हें अपने अन्वेषणों में किन-किन बातों के मिलने की संभावना है, एक उपयोगी विचार पा सकते हैं।

शायद चूंकि अभी मानवशास्त्री बहुत कम उपलब्ध हैं और अभी भी ऐसे समाजों की बड़ी संख्या है जिनकी जीवन रीति का अध्ययन बाकी है, एक विद्यार्थी के अन्वेषण से प्राप्त न्यासों की दूसरे विद्यार्थी द्वारा उसी घटना की दुबारा स्वतंत्र जांच की वैज्ञानिक कार्यप्रणाली अभी अपनी शैशव काल में है। फिर भी इस प्रकार के अध्ययनों की आवश्यकता को अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है और संस्कृतियों के कई पुनरन्वेषण किये जा चुके हैं। इनमें सबसे विस्तृत रेडफील्ड द्वारा टैपोज्टलान के मैक्सिकी ग्राम में १९२६ में और उसी जगह बीस वर्ष बाद की गयी ल्यूइस की गवेषणा है।[७] इन दोनों विद्वानों की खोजों के परिणामों की भिन्नतायें कुछ प्राथमिक महत्त्व की पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं को, जिनकी कि बाह्य स्वीकृति ही अपने आप में मानवशास्त्रीय विज्ञान के लिए एक बड़ा लाभ है, प्रस्तुत करती हैं। इन समस्याओं में से, ल्यूइस ने "व्यक्तिगत कारक", एक समुदाय में दो दशकों में हुए परिवर्त्तन, और "सैद्धान्तिक दिशा और पद्धतिशास्त्र"

---

७. ओ० ल्यूइस, १९५१।

की भिन्नताओं का, जो अपने आप में "तथ्यों के चुनाव और विस्तार को" और यह तथ्य कैसे संगठित किये जाते हैं, इसको प्रभावित करती हैं, ज़िक्र किया है।[८] क्षेत्रीय गवेषणा में ऐसे भिन्न तत्त्वों को तथा अन्य पूर्वाग्रहों को भी, जो कि अन्वेषण और निष्कर्षों के विश्लेषण में आ सकते हैं, आंकना चाहिए। निस्संदेह इन पर अधिकाधिक विचार किया जायेगा विशेषकर तुलनात्मक अध्ययनों में, जहांकि न्यासों की सत्यता इतना महत्त्व धारण कर लेती है। ऐसे संकेतों की भी कमी नहीं है कि इन पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं का क्षेत्रीय पद्धति के शिक्षण और जनवृत्तशास्त्रीय गवेषणा के आयोजन में अधिकाधिक विश्लेषण हो रहा है।

३

अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर तथा अपने गांव में बस जाने के बाद जनवृत्तशास्त्री के सामने यह समस्या उत्पन्न होती है कि वह किस प्रकार अपनी सामग्रियों को संग्रहीत करे। चाहे वह दक्षिणी सागरों के द्वीप के आदि-वासियों या मध्य पश्चिमी अमरीकी समुदाय में कार्य कर रहा, है, समूह के अन्दर प्रवेश पाना गवेषणा में सबसे कठिन तथा महत्त्वपूर्ण कदम है। यह सम्भव है कि किसी समूह के सदस्य या बाहरी मित्र के परिचय के साथ आया जा सके, जोकि किसी पद और प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति के पास जनवृत्तशास्त्री की सिफ़ारिश कर सके और इस प्रकार उसे प्रारम्भिक सहयोग दिला सके। यह आदर्श स्थिति है; परन्तु दूसरे छोर पर वह विद्यार्थी है जिसे कि अकेले ही अपना रास्ता ढूंढना है, सम्भव है कि उसके पास उसकी सहायता करने के लिए दुभाषिया भी न हो और उसे अकेले ही उदासीनता और विरोध को दूर करना है।

प्रश्न कारगर मानव सम्बन्ध स्थापित करने का है, जोकि अत्यन्त अनुकूल परि-स्थितियों में भी बहुत कठिन है। हम सभी को एक अपरिचित समुदाय में, एक ऐसे परिवेश में जोकि हमारे परिचित परिवेश से थोड़ा ही भिन्न है। पर फिर भी हम जानना चाहते हैं कि यहां क्या हो रहा है और हमारे आस-पास से यह कौन लोग गुजर रहे हैं। यदि हम अपने को ऐसी परिस्थिति में कल्पित कर सकें जहां कि भौतिक वातावरण हमसे भिन्न है, भाषा समझ में नहीं आती, भोजन, कपड़े, घर, यहां तक कि लोगों की शारीरिक आकृति भी हमारे लिए विचित्र है, तो हम जनवृत्तशास्त्री की प्रारम्भिक समस्याओं में कुछ अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। एक उष्ण कटिबंध की राजधानी के बाजार में चलने का साधारण-सा अनुभव बहुत कष्टकर हो सकता है। यह अनुभव अभीतक पृथक् नहीं किया गया है। विद्यार्थी एक ऐसी स्थिति के प्रति, केवल एक अपरिचितता अनुभव करता है, जिसमें कि उसका अतीत उचित व्यवहार को या अन्यों के व्यवहार को समझने में कोई मदद नहीं देता। क्या यह वादविवाद जिसे वह साक्षीरूप में देखता है, एक हिंसात्मक झगड़े की शुरूआत है, या वह केवल सौदा करने का प्रचलित तरीक़ा है? क्या वह बाज़ार की औरत उसे देखकर हँस

८. वहीं, पृ० ४३१।

रही है या जो कुछ उसकी पड़ोसिन ने उसे अभी कहा है, उस पर ?

यह **पृथक् करने की प्रक्रिया** (Sorting out process) क्षेत्रीय कार्य की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक व्यवहार की अपेक्षा यह लोगों पर भी किसी क़दर कम लागू नहीं होती। नये आये हुए जनवृत्तशास्त्री को एक समुदाय के व्यक्तित्व धुंधले दिखायी देते हैं, और बाद में ही वह उनमें स्पष्ट भेद कर सकता है। प्रचलित अभ्यास निरर्थक हैं जब तक कि हम एक दिखाई देने वाले कार्य के उद्देश्य को न समझ सकें, पर लोगों की जीवन-रीति से कुछ परिचय पाने के बाद उनमें अर्थ दीखने लगता है। इस समय विद्यार्थी के मित्र बनने लगते हैं, उसे लोग पसन्द या नापसन्द करने लगते हैं। क्षेत्रीय अनुभव हमें शीघ्र ही सिखा देता है कि लोग अपने शारीरिक प्ररूप या सांस्कृतिक परम्परा में कितने ही भिन्न क्यों न हों, उनमें सदैव कुछ ऐसे व्यक्ति रहेंगे जिनके प्रति उसका स्नेहयुक्त रुझान होगा तथा जिनके साथ उसके सम्बन्ध घनिष्ठ तथा सार्थक होंगे। किन्तु ऐसे लोग भी होंगे जो उसे निराश करेंगे और जिन्हें वह प्रतिकूल पायेगा। और यह प्रतिक्रियायें पारस्परिक होंगी। इनसे डरने या बचने की जरूरत नहीं, क्योंकि यह जनवृत्तशास्त्री को इन व्यक्तियों के व्यक्तित्व और समूह में व्याप्त तनावों के बारे में कुछ सिखाते हैं। प्रायः वह स्त्री या पुरुष जिसका विश्वास पाना सबसे कठिन होता है, विद्यार्थी को अत्यन्त मूल्यवान् अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, यद्यपि नकारात्मक प्रतिक्रियायें उसके धैर्य की परीक्षा लेती हैं, फिर भी वह नोटबुक के लिए उपयोगी हैं।

सूचनायें किस प्रकार पायी जाती हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि किस प्रकार का अध्ययन किया जा रहा है, जिनका अध्ययन किया जा रहा है, वह कौन लोग हैं और वह किस प्रकार का जीवन बिताते हैं। दूसरों से सूचनायें प्राप्त करने के विरुद्ध एकान्ततः अवलोकन का प्रयोग उचित नहीं है, न ही सूचनादाता पर पूरा भरोसा किया जाना चाहिए। सबसे पहले तो वह लोगों को दिखायी पड़ना चाहिए। गांव के बीच या उसके बाहर घूमना एक समुदाय में प्रारम्भ के दिनों में सहायक है। उत्सुकतावश कुछ निवासी उसके निवास-स्थान पर आयेंगे, सम्पर्क स्थापित हो जायेगा। उन समाजों में जहां कि लोगों को यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति का अनुभव है, एक देशवासी को दिन में निश्चित घंटों के लिए बात करने के लिए, जो श्रम वह करने का आदी है, उसके पारिश्रमिक की दर पर आने को तैयार किया जा सकता है। उन समाजों में जहां कि ऐसा सम्पर्क नहीं हुआ है, अवलोकन और आकस्मिक बातचीत ही कुछ सप्ताहों के लिए सूचना का एकमात्र साधन हो सकती है। संस्कृति का एक सामान्य ज्ञान पाने के लिए सूचनादाता आवश्यक है। क्षेत्रीय यात्रायें अनिश्चित काल की नहीं होतीं और न ही संस्कृति की सूचि की सभी घटनायें एक दीर्घकालीन क्षेत्रीय कार्य की अवधि में भी घटित होना संभव है। एक छोटे समुदाय में एक जन्म, विवाह, और अंत्येष्टि संस्कार जनवृत्तशास्त्री के रहने की अवधि में नहीं भी हो सकते, या यदि वह हों भी तो उन्हें उसे देखने की अनुमति नहीं भी मिल सकती। फिर

भी ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान और इन अनुष्ठानों में परिवर्त्तन लाने वाली अवस्थाओं का किसी भी संस्कृति के विवरण में सम्मिलित होना आवश्यक है।

इस प्रकार की कठिनाइयों को सूचनादाता से ही दूर किया जा सकता है। सूचनादाता का सर्वोत्तम उपयोग देखी हुई घटनाओं का, विशेष रूप से जोकि उसके साथ देखी गयी हैं, विवेचन करना है। धीरे-धीरे लोगों के जीवन की उन घटनाओं के विवरणों पर, जो कि स्वयं नहीं देखी गई हैं, और जो उदाहरण के लिए, यदि क्षेत्रीय कार्य ग्रीष्म ऋतु में हो रहा है, शीत काल में घटित होती हैं, भरोसा किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा जब सूचनादाता तथा जनवृत्तशास्त्री के बीच घनिष्ठ आत्मीयता हो जाती है, तो कार्य प्रायः परस्पर आदान-प्रदान का रूप धारण कर लेता है। सूचनादाता नये संकेत देता है और चर्चाओं में आये या जनवृत्तशास्त्री द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अपने परिवार में या बाहर प्रतिष्ठित लोगों से उनके उत्तर प्राप्त करने जाता है।

क्योंकि प्रत्येक संस्कृति के अनेक पहलू हैं और एक ही समाज में अनेक लोग अपनी समान जीवन रीति को भिन्न रूप में देखते हैं, अतः यह कहने की ज़रूरत नहीं कि चाहे यह अनिवार्य क्यों न हो, कि एक या दो लोग ही इस कार्य में अन्यों की अपेक्षा अधिक योग दें, किसी एक सूचनादाता पर पूरा भरोसा करना कभी भी उचित नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि विभिन्न सूचनादाताओं द्वारा एक ही अनुष्ठान को अलग-अलग बताया जाय और तब उसे तीन या चार बार स्वयं अलग देखा जाय, तो यह पता चलेगा कि वह केवल अपनी रूपरेखा में ही मिलते हैं। यह दर्शाता है कि हमें क्षेत्रीय कार्य में किस हद तक संस्कृति में भिन्नता के कारक पर निरन्तर ध्यान रखना चाहिए, जिसका इस पुस्तक में बाद में महत्व स्पष्ट होगा।

इतनी ही महत्त्वपूर्ण यह अनुभूति है कि एक सूचनादाता केवल घटनाओं की सूचना ही नहीं देता, बल्कि उससे एक दृष्टिकोण, मत की अभिव्यक्ति, जिससे मूल्य-प्रणालियां प्रकट होती हैं, निर्णय के आधार और समाज द्वारा स्वीकृत प्रेरणायें जो कि व्यवहार को अनुप्रेरित करती या समझाती हैं, प्राप्त होती हैं। यह एक और कारण है जिससे कि अवलोकन कभी भी अपने आप में पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। ऐसे अनेक अप्रशिक्षित व्यक्ति हैं जो देशीय लोगों के अनुष्ठानों को जानते तथा उनका आनन्द लेते हैं। उनसे जोकि उसके बाह्य रूप को इतनी अच्छी तरह बता सकते हैं, यह जानना शिक्षाप्रद है कि लोगों के लिए इन अनुष्ठानों का क्या अर्थ है। अनिवार्यतः उन्हें नहीं सूझता कि वह क्या उत्तर दें। हमारी अपनी ही संस्कृति में व्यवहार से बहुत कम ही उसकी प्रेरक शक्ति प्रकट होती है, अजनबी संस्कृति में तो ऐसा कभी भी नहीं होता।

बहुत सालों तक क्षेत्रीय कार्य की यह एक स्वतःसिद्ध सूक्ति समझी जाती थी कि केवल बुज़ुर्ग ही विद्यार्थी को संस्कृति की "सही" तस्वीर दे सकते हैं। आज हम बेहतर जानते हैं। संस्कृति वह है जो संस्कृति करती है, और जहां

एकरूपता आवश्यक नहीं, वहां व्यवहार में स्वीकृत भिन्नता पुरुषों को स्त्रियों से, तरुण लोगों को बड़ों से भिन्न व्यवहार करने की अनुमति देती है। इसलिए सर्व-श्रेष्ठ कार्यप्रणाली स्त्री और पुरुषों. तरुणों और बूढ़ों दोनों से बातचीत करने, और यथासम्भव अधिकाधिक परिस्थितियों में बहुत भिन्न प्रकार के व्यक्तियों को देखने की है। एक पश्चिमी अफ्रीकी समुदाय में एक प्रमुख पुरोहित द्वारा एक वर्णित देवमाला के देवताओं के नाम तथा कार्य बहुत अंशों में पूजा में एक नव-दीक्षित के द्वारा दिये गये विवरण से भिन्न थे और स्वयं यह विवरण एक साधारण व्यक्ति के विवरण से भिन्न था। पर जहां तक बताने वालों का सम्बन्ध था, यह सभी सही थे। यह सिद्धान्त कि संस्कृति को समझने के लिए बाहरी सूचनायें उतनी ही आवश्यक हैं जितनी कि गोपनीय—अर्थात् सामान्य ज्ञान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि गुप्त रखा जाने वाला—बहुत वर्ष पहले प्रतिपादित किया गया था। किन्तु गोपनीय को उद्घाटित करने की चुनौती का प्रतिरोध करना कठिन है, और सर्वसामान्य का मूल्य हाल ही में समझा गया है।

अवलोकन की कमी को पूरा करने के लिए तथा सूचनाओं के छूटे हुए, तोड़े-मरोड़े या मिथ्या अंशों को जांचने के लिए यथासम्भव अधिकाधिक सूचना-दाताओं का उपयोग महत्त्वपूर्ण है। यह स्मरणीय है कि सभी समाजों में व्यक्ति अधिक बोलने तथा चुप रहने के गुण व्यक्त करते हैं। ग़लत वक्तव्य, भय, या सतर्कता या रोज़मर्रा की अति साधारण और न कहने योग्य समझी जाने वाली घटनाओं के भूल जाने की प्रवृत्ति का परिणाम हो सकते हैं। एक अति कुशल जनवृत्तशास्त्री ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है :

"हालांकि विशिष्ट प्रथायें मुझे प्रायः बतलाई गयीं ताकि कहीं मैं उन्हें देखना न भूल जाऊं, दूसरी ओर जो प्रथायें लुप्त हो रही थीं उनका जिक्र केवल उदासीनतावश नहीं किया गया। ऐसी प्रथायें उन कुछ थोड़े स्त्री-पुरुषों की रीतियां या विश्वास थे जो लक्ष्य करने योग्य न थे। एक अनुदारवादी गोपनीय समाज में सामाजिक गुप्तचर छिपाने के प्रयत्नों से बहुत कुछ सीखता है। मिटला में मैंने यह सीखा था कि व्यक्तिगत जीवन की भांति सामाजिक जीवन में यह विचार कि कोई बात छिपाने लायक नहीं है, इसका परिणाम पूर्ण गोपनीयता हो सकती है।"[९]

एक व्यक्ति जो भूल गया है वह दूसरे को याद पड़ जाता है। या जहां एक समाज मौन धारण का आदेश देता है, वहां जिसे एक व्यक्ति सोचता है कि यह नहीं कहना चाहिए, उसे दूसरा व्यक्ति प्रकट कर देता है। एक अच्छा प्रश्न उस व्याख्या को प्रदान करता है जिसे कि वही व्यक्ति अन्य अवसर पर बड़ी होशि-यारी से बचा जाता है। यथासंभव अधिक व्यक्तियों से पूछताछ बहुमुखी सामग्री प्रदान करती है। ऐसी पद्धति को, यदि सावधानी से अपनाया जाय, तो हमारे

---

९. ई० सी० पारसंस, १९३६, पृ० १४–५।

ज्ञान की गहराई बढ़ती है और वह अन्तर्दृष्टि तीक्ष्ण होती है जिससे स्वीकृत व्यवहार के रूपों के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्ष बनाये जाते हैं।

४

यद्यपि थोड़े ही मानवशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि उन्होंने विशिष्ट क्षेत्रीय यात्राओं में क्या कुछ किया है, फिर भी क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रस्तुत की गयी क्षेत्रीय कार्य की कुछ प्रविधियों को उपयोगी स्वीकार किया जा चुका है। उस पद्धति की भांति जिसमें जनवृत्तशास्त्री भागग्राही अवलोकन-कर्त्ता बनता है, जिसका कि हम पहले जिक्र कर चुके हैं, ये पद्धतियां क्षेत्रीय गवेषणा में परीक्षा और भूल सुधार से उत्पन्न हुई हैं। जैसा कि भागग्राही अवलोकनकर्त्ता पद्धति में है, इन प्रविधियों की उपयोगिता क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता की परिस्थितियों की भिन्नता, वह किस प्रकार की संस्कृति का अध्ययन कर रहा है, और उसकी क्या समस्या है, इसके अनुसार बदलती रहती है।

इनमें से सबसे पुरानी पद्धति को **नोट और प्रश्नों** (*Notes and Queries*) का दृष्टिकोण कहा जा सकता है। इसका यह नाम उस पुस्तक के शीर्षक पर पड़ा है जो कि प्रारम्भ में 'रायल एंथ्रोपोलौजिकल इंस्टीट्यूट फौर दि ब्रिटिश असोसियेशन फौर दि एडवांसमेंट आफ साइंस' की एक समिति द्वारा तैयार की गयी थी और सर्वप्रथम १८७५ में प्रकाशित हुई। इसके पांच संशोधन हो चुके हैं, और छठा संस्करण १९५१ में निकला है। संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक सभी पहलुओं को सम्मिलित कर एक विस्तृत प्रश्नावलि मूलतः निम्न कल्पनाओं की धारणा पर बनायी गयी: कि अनक्षर लोगों की सभ्यताओं के लुप्त होने का खतरा है और जब तक कि वह कायम हैं, हम यह चाहते हैं कि उनके बारे में अधिकाधिक सूचना एकत्रित करें; इस कार्य को करने के लिए बहुत कम प्रशिक्षित मानवशास्त्री उपलब्ध हैं, इसलिए औपनिवेशिक अधिकारी, पादरी, व्यापारी और यात्रियों जैसे अप्रशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं को यथासंभव अधिकाधिक प्रभाव-शाली रूप में उपयोग में लाना चाहिए। मानवशास्त्रीय प्रशिक्षणहीन अवलोकन-कर्त्ता द्वारा तथ्यों के संग्रह करने की यह पद्धति इस बारे में बहुत कम सूचना दे पाती है कि यह तथ्य सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे में किस प्रकार अन्तःसम्बद्ध हैं या लोगों के दैनिक जीवन में क्या मानवीय तत्त्व हैं। फिर भी प्रशिक्षित मानवशास्त्री के हाथ में **नोट और प्रश्न** छूटी हुई बातों को जानने के लिए एक उपयोगी साधन हैं और इसके इसी गुण ने छठे संस्करण के सम्पादकों को इसे "क्षेत्रीय कार्य करने वाले प्रशिक्षित मानवशास्त्री के लिए एक सहायक और सुलभ याददाश्त की किताब" की संज्ञा देने और साथ ही अपने पहले उद्देश्य को पूरा करने वाली रचना बताने के लिए प्रेरित किया है।[10]

एक विशेष प्रविधि जिसका कि प्रभावशाली उपयोग हुआ है, **वंशावलि**

---

१०. रायल एंथ्रोपोलौजिकल इंस्टीट्यूट, १९५१, पृ० २७।

पद्धति (Genealogical method) है, जोकि डब्ल्यू०एच०आर० रिवर्स के नाम के साथ, जिसने कि पिछली शताब्दी के अन्त में इसकी सर्वप्रथम व्याख्या की, संयुक्त है।[11] इसकी सरलता के बावजूद, यह पद्धति उपयोगी सिद्ध हुई है, क्योंकि यह अध्ययन किये जाने वाले लोगों की सामाजिक संरचनाओं तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के विषय में विस्तृत सूचनायें प्रदान करती है। इसको प्रयोग में लाते समय केवल सरलतम रिश्तेदारी के सम्बोधन प्रयोग में लाये जाते हैं—पिता, माता, बच्चा, पति, पत्नी। सूचनादाता से पूछा जाता है कि उसका जिनसे यह सम्बन्ध है, उनके क्या नाम हैं। यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि इसका अर्थ प्राणिशास्त्रीय रिश्तेदारी से है और उनसे नहीं जो कि कथित वर्गीकृत प्रणाली में कज़िन की श्रेणी में "भाई" या "बहन" कहे जाते हैं। उससे पूछा जाता है कि वह प्रत्येक को क्या कहकर, और उसे वे व्यक्ति क्या कह कर पुकारते हैं। इस प्रकार रिश्तेदारी की शब्दावलि तैयार की जाती है। फिर इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के निर्दिष्ट नाम का प्रयोग कर इस प्रक्रिया को दोहराया जाता तथा प्रणाली को विस्तृत किया जाता है।

रिवर्स ने बताया है कि इसके प्रयोग से कौन-से उद्देश्य पूरे हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की "सामाजिक अवस्था को" और प्रत्येक व्यक्ति "किस बस्ती... में रहता है" लिख कर हमें वर्गीय वंशक्रम और स्थानीय समूहों का पता चलता है, किस प्रकार वे विवाह सम्बन्ध में व्यक्त होते हैं और वह कौन-सी बातें हैं जो बस्तियों को मिलाती या अलग करती हैं। गोत्र (Clan) के संगठन को स्पष्ट दिखाया जाता है और यह भी बताया जाता है कि वंश पिता या माता, या दोनों की ओर से गिना जाता है। इससे स्वयं यह प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार अगम्यागमन (Incest) की सीमायें बनती हैं। रिवर्स कहता है :

"वंशावलि पद्धति अमूर्त समस्याओं का एक विशुद्ध ठोस आधार पर अन्वेषण संभव बनाती है। और इसके द्वारा लोगों के जीवन को नियमित करनेवाले उन नियमों को बताया जा सकता है, जोकि सम्भवतः उन्होंने स्वयं कभी नहीं बनाये थे, कम-से-कम उस स्पष्टता और निश्चितता से कदापि नहीं, जोकि उनके सम्बन्ध में एक अधिक जटिल सभ्यता द्वारा प्रशिक्षित मन में है।"

सूचनादाता से यह पूछने के बजाय कि एक कल्पित व्यक्ति अपने बड़े भाई की छोटी लड़की को क्या कहेगा, हम केवल उस शब्द को लिख देते हैं जो कि एक व्यक्ति जिसका कि बड़ा भाई है और जिसकी एक से अधिक लड़कियां हैं, वह अपनी छोटी लड़की के लिए कहता है। यदि यह शब्द निश्चित है, तो वह सदैव उसी प्रकार प्रकट होगा। यदि नहीं, तो प्रयोग की भिन्नता सूची में लिखी भिन्नताओं से प्रकट होगी।

जैसा कि अन्य प्रविधियों के साथ है, यह वंशावलि प्रविधि भी सर्वत्र

---

११. डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, १९१०।

प्रभावकर या काम की सिद्ध न होगी। रिवर्स ने स्वयं ही कहा है, कुछ समाजों में एक बाधा "मृत व्यक्तियों के नाम लेने पर निषेध है और कभी-कभी उसे कठिनाई से ही दूर किया जा सकता है।" उन समूहों में जहांकि किसी प्रकार की गणना से डरते हैं, चाहे वह जादुई या राजनैतिक कारणों से हो, वंशावलि प्राप्त करने का प्रयत्न सन्देह और प्रतिरोध उत्पन्न करेगा। यह पद्धति मैलेनेशियाई द्वीप की छोटी पृथक् बस्तियों या एक अमरीकी इंडियन कबीले के अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त है, न कि इंडोनेशिया या अफ्रीका के बड़े समूहों के लिए जहां विवाह-वंशों और अन्य अन्तःसम्बन्धों की इतनी जटिलतायें हैं, कि किन्हीं निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए आवश्यक जनसंख्या के संतोषजनक नमूनों को प्राप्त करना, यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

काल्पनिक स्थिति (Hypothetical situation) की प्रविधि का प्रयोग विद्यार्थी के लिए संस्कृति के उन अनेक तथ्यों के सम्बन्ध में जिनके विषय में कि लोग बताने के अनिच्छुक होते हैं या उन्हें इतना साधारण समझ बैठते हैं कि, वे किसी सम्बन्धित घटनाओं के क्रम के प्रसंग को छोड़ उनका जिक्र ही नहीं करते, जानकारी प्राप्त करने में सहायक है। परिभाषा के अनुसार इस पद्धति में "लोगों के जीवन में संस्कृति के प्रचलित प्रतिमान के अनुरूप काल्पनिक व्यक्तियों, सम्बन्धों और घटनाओं से बनाकर सूचनादाताओं और अध्ययन किये जाने वाले समूह के सदस्यों के साथ की गयी चर्चा को चलाने और उसे विशिष्ट अर्थ प्रदान करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।"[११] इस प्रकार जहां कि घटनाओं को संभावित भयंकर जादुई महत्त्व का समझा जाता है, जैसे कि बच्चा होने की दशा में, या जहां कि अपने या अन्य सम्बन्धित व्यक्ति के आर्थिक प्रश्नों के तथ्यों के सम्बन्ध में व्यक्ति नहीं बताना चाहता, वहां परिभाषानुसार उसके विद्यमान न होने के कारण, खुल कर चर्चा हो सकती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि काल्पनिक परिस्थितियों और व्यक्तियों की चर्चा में प्रायः वास्तविक परिस्थिति और व्यक्ति के और बहुधा सूचनादाता के अपने अनुभव में घटी घटनाओं के विवरण आ जाते हैं। सभी दशाओं में काल्पनिक रूप से प्रस्तुत की गयी समस्याओं पर समाज के सदस्यों के मूल्यांकन में संस्कृति के मूल्य और लक्ष्य प्रकट हो जाते हैं। वशावली की पद्धति की कठिनाइयों को दूर करने में इस प्रविधि का किस प्रकार उपयोग हो सकता है, यह स्पष्ट है, किन्तु इसकी नमनीयता और परिस्थितियों का विस्तृत क्षेत्र, जिनमें कि इसका प्रयोग हो सकता है, इसकी उपयोगिता को बढ़ा देते हैं।

गांव के मानचित्र बनाने में समुदाय के एक सदस्य के अन्य प्रत्येक सदस्य से क्या सम्बन्ध हैं, केवल यही नहीं दर्शाया जाता, किन्तु परिस्थितिशास्त्रीय परिवेश और वह वंशक्रम जिनसे शारीरिक सम्पर्क होता है, उसका भी संकेत किया

१२. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९५०, पृ० ३२।

जाता है। आदर्श रूप में, प्रत्येक घर, प्रत्येक सामुदायिक इमारत, प्रत्येक खत्ती या अन्य सहायक इमारत, प्रत्येक सार्वजनिक खुला स्थान जहां कि समूह एकत्रित होते हैं, प्रत्येक पूजा का स्थान, प्रत्येक खेत, प्रत्येक औद्योगिक केन्द्र, जैसे कि भट्टी या बर्तन बनाने का स्थान दिखाया जाता है। बड़ी बस्ती के लिए यह पद्धति भी अव्यावहारिक है, यह उतना ही स्पष्ट है जितना कि जहां यह प्रयोग में आ सकती है, इससे सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी सूचनायें मिल सकती हैं।

क्षेत्रीय अन्वेषण की चर्चा के समय **देशीय भाषा के प्रयोग** का प्रश्न प्रायः उठाया जाता है, कि जो लोग क्षेत्रीय कार्य करने जायें उन्हें भाषा का कम-से-कम इतना ज्ञान हो कि वह लोगों के नाम और स्थानों, देवताओं, विभिन्न प्रकार की पदवियों और आवाहन के मंत्रों या गीतों को सही-सही उत्तार सकें। क्षेत्रीय पद्धतिशास्त्र को अमरीकी मानवशास्त्रियों का यह प्रमुख योगदान था, जिन्होंने ए० बोआस के नेतृत्व में देशीय इंडियन भाषाओं में प्रभावोत्पादक मूल पाठ्य सामग्रियां एकत्रित कीं। इस प्रकार का कार्य विद्यार्थी को बातचीत करने या सुनी हुई बातचीत को समझने की सामर्थ्य नहीं देता। यहां उसे मुहावरों, रूपकों, विचार शैली की बारीकियों, संकेतों और संक्षेपों का सामना करना पड़ता है। जनवृत्तशास्त्री को जिस भाषा में वह गवेषणा करना चाहता है, उस पर उसका कितना अधिकार है, इसके बारे में निश्चित होना चाहिए, अन्यथा वह विचारों की ऊपरी सतह पर ही रह जायेगा और प्रायः बतायी या सुनी हुई बातों की ग़लत व्याख्या करेगा।

संसार के अनेक भागों में विकसित हुई "मिश्रित" (Pidgin) बोलियां एक अच्छा माध्यम पायी गयी हैं। प्रायः इन्हें सीखना अपेक्षया सरल है और यह सूचनादाताओं से प्रश्न पूछने तथा सामान्य बातचीत करने के लिए पर्याप्त समृद्ध हैं। उन लोगों में जहां कि ऐसी बोलियां विद्यमान हैं, शायद ही कोई ऐसा इक्का-दुक्का गांव हो जहां कि उसका कोई भी बोलने वाला न हो। यह बोलियां प्रायः हिन्द-यूरोपीय भाषाओं से निकली हैं, जैसे कि मैलेनेशियाई-पिजिन, नीग्रो-इंग्लिश या नीग्रो फ्रेंच। पर जहां ऐसा नहीं भी है जैसा कि स्वाहिली (बांटू-अरबी) में या चिनुक (उत्तरी अमरीका के उत्तरी-पश्चिमी तट) पर, यह बोलियां, उन लोगों की जटिल भाषाओं की अपेक्षा, जोकि अपनी भाषा के अतिरिक्त सहायक रूप में इन मिश्रित या संकर बोलियों को बोलते हैं, सरल हैं।

अन्य दूसरा विकल्प दुभाषिया (Interpreter) है। दुभाषिये के प्रयोग की कई समस्यायें हैं। जनवृत्तशास्त्री को उसे तैयार करना पड़ता है, उसे केवल यही नहीं जानना चाहिए कि उसे क्या करना है, बल्कि उसे अपने काम के बारे में उत्साह होना चाहिए। अनुवाद एक कठिन कार्य है और इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न बहुत स्पष्ट हों, उन्हें सही रखा जाय और उनके उत्तरों का सही उल्था हो। एक दुभाषिया स्वयं एक अत्यंत उपयोगी सूचनादाता बन

सकता है, वह उत्तर की व्याख्या कर सकता है और स्वयं महत्त्वपूर्ण सूचना दे सकता है। एक से अधिक दुभाषियों का स्वतंत्र प्रयोग अनिवार्य है, चूंकि इससे अनुवाद द्वारा प्राप्त सामग्री की अधिक अच्छी चर्चा हो जाती है और संस्कृति के विश्वास और व्यवहार की भिन्नता भी अधिक स्पष्ट हो जाती है।

आदर्श रूप में, किसी भी उपलब्ध भाषा के साधन का प्रयोग किया जाता है। विद्यमान होने पर मिश्रित बोली का प्रयोग किया जाता है, साथ-ही-साथ देशीय भाषा पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि दुभाषियों का प्रयोग न किया जाय, वह भी सहायक हो सकते हैं। सभी दिशाओं में योग्यता बढ़ानी पड़ती है। देशीय भाषा के कुछ मुख्य शब्दों का ज्ञान दुभाषिये की सत्यता को जांचने में उपयोगी है। मिश्रित बोली में किया गया प्रश्न अस्पष्ट विषय को स्पष्ट कर सकता है, जोकि केवल देशीय भाषा के प्रयोग से स्पष्ट न हो पाता। एक क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता ने इसे इस प्रकार कहा है: "मैंने तब तक दुभाषिये का प्रयोग किया जब तक कि मैं स्वयं उसकी भाषा में अपनी समस्याओं की चर्चा न कर सका। तब मैंने यह महसूस किया कि मैं अब खुद चल सकता हूं।" अन्ततः उद्देश्य यह है कि न्यासों को यथासम्भव संतोषजनक रीति से लिपिबद्ध किया जाय। जो कोई प्रविधियां इनमें सहायक हों, उनका प्रयोग उचित है।

आदिवासियों की जीवनियां और आत्मकथायें एक संस्कृति के विषय में अनेक बातें बताती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि संस्थाओं के साथ अत्यधिक व्यस्तता के दोष का वह सुधार करती हैं। सांस्कृतिक व्यवहार संस्थागत हैं, किन्तु यदि संस्था और संस्कृति को सन्तुलित कर देखना है, तो व्यक्तिगत व्यवहार में स्वीकृत भिन्नता का विश्लेषण भी होना चाहिए। समाज में भिन्न व्यक्तित्वों से सम्बन्धित इन लेखों में मूल्य, लक्ष्य और अन्य प्रेरक चालकों जैसे अदृश्य तत्त्व स्पष्ट होते हैं।

हम ऐसी एक आत्मकथा के उद्धरण से विचार की सहज प्रक्रियाओं को पहले ही दर्शा चुके हैं। ऐसी अनेक संक्षिप्त और विस्तृत रचनायें हैं, उनका सावधानी से अध्ययन आवश्यक है। यही जीवनियों की सामग्रियों के सम्बन्ध में भी सत्य है, विशेष कर ऐसी दशा में जैसे कि जुलू शासक चाका की[१३] जीवनी का लेखक उसके नायक के कबीले से सम्बन्धित समूह का सदस्य है। संक्षेप में यहां विद्यार्थी के लिए एक अन्य यंत्र है जिसकी सहायता से वह सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति के जीवन में प्रवेश कर सकता है और इस प्रकार संस्कृति के कार्य और अर्थ का पूर्णतम मूल्यांकन कर सकता है।

५

हमें यहां क्षेत्रीय पद्धति के ब्यौरे जानने की जरूरत नहीं। ऐसे मामले जैसे कि कब नोटबुकों को प्रयोग में लाया जाय और कब नहीं, किस प्रकार नोटों

---

१३. टी० मोफोलो, १९३१।

को संगठित किया जाय और क्या क्षेत्र में उन्हें संशोधित करना चाहिए या नहीं, क्षेत्रीय डायरी का प्रयोग, चल और अचल चित्रों के कैमरा और रिकार्डिंग के यंत्रों का उपयोग--यह विशेषज्ञ के काम हैं और गवेषणाओं के प्रतिवेदनों में इनको अधिकाधिक प्रस्तुत किया जा रहा है।[१४] ऐसी चीज़ें भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानों की प्रयोगशालाओं में काम करने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा नलियों और अणु-वीक्षण यंत्र के समकक्ष हैं। एक गवेषक कार्यकर्त्ता किस प्रकार अपनी समस्या को विचार करता है और उसके समाधान के लिए उसका क्या दृष्टिकोण है, इन बुनियादी अर्थों में इनका महत्त्व स्पष्ट है।

जनवृत्तशास्त्रीय क्षेत्रीय कार्य में यह अवधारणा तथा दृष्टिकोण इस बात से निकले हैं कि समस्या मूलतः मानवीय है। इसीलिए जनवृत्तशास्त्री के लिए उद्देश्य की ईमानदारी इतनी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जिन लोगों का वह अध्ययन करने आया है उससे अधिक गहराई से वे उसे देखते हैं और एक भी ग़लत कदम तत्काल पकड़ में आ जाता है। इसीलिए अत्यन्त संवेदनशीलता भी अनिवार्य है। जहां पर कि उसके अन्वेषण के प्रति विरोध उत्पन्न हो गया हो, वहां भी लोगों के मूल्यों के सम्बन्ध में जागरूकता, ठीक क्षण पर सज्जनतापूर्वक हट जाना, आचार के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान और शिष्टता से कठिनाई हल की जा सकती है और अन्ततोगत्वा लाभ उठाया जा सकता है। यहां विनोदप्रियता भी बड़ी उपयोगी है चूंकि जब सर्वत्र अन्धकार दीखता है, यह प्रकाश देती है।

अतएव सब कठिनाइयों तथा निराशाओं के होते हुए भी, ईमानदारी, संवेदनशीलता और विनोदप्रियता से क्षेत्रीय कार्य एक रोमांचक साहसिक अभियान बन जाता है। ऐसे कम ही जनवृत्तशास्त्री होंगे जोकि जिन लोगों में उन्होंने काम किया है उनमें अपने मित्रों के बारे में स्नेहपूर्वक बात न करें । वे अपने क्षेत्रीय अध्ययन के कालों का भावुकतापूर्वक स्मरण करते हैं, कि वहां उन्हें वह अनुभव हुआ जिसने उन्हें केवल एक संस्कृति के बिषय में ही नहीं, बल्कि समग्ररूप से मानव संस्कृति के सम्बन्ध में उनके ज्ञान का विस्तार किया। इसका कोई तर्कयुक्त कारण नहीं कि तुलनात्मक संस्कृति का एक विद्वान्, जो कभी अपने अध्ययन-कक्ष से बाहर नहीं निकलता, सांस्कृतिक संस्थाओं की प्रकृति को समझने में अपना योगदान क्यों न करे, किन्तु जहां पर संस्कृति की जीवन्त वास्तविकता और ऐसे लोगों से, जोकि सम्पूर्ण परिवेश की पृष्ठभूमि में देखे जाने पर कभी अजीब व्यवहार करते नज़र नहीं आते, सम्पर्क नहीं होता, वहां इस प्रकार के विश्लेषण के परिणाम मुख्यतः असंतोषजनक सिद्ध हुए हैं ।

---

१४. क्षेत्रीय कार्य में यांत्रिक साधनों की चर्चा के लिए देखिये, एच० रो, १९५३; पृ० ३७५-४००।

खण्ड चार

सांस्कृतिक संरचना
और
सांस्कृतिक गतिशास्त्र

अध्याय इक्कीस

सांस्कृतिक गुण, संकुल और क्षेत्र

एक निर्दिष्ट संस्कृति में पहचानी जानेवाली सबसे छोटी इकाई के रूप में सांस्कृतिक गुण (Trait) का विचार पहले-पहल बहुत सरल दीखता है, किन्तु तनिक असावधान होने पर इसकी जटिलताओं के जाल में फंसने का भय है। चूंकि अपनी समग्रता या अपने किसी एक पहलू में संस्कृति इतनी अधिक एकीकृत है कि यह जानना अत्यन्त कठिन है कि कब, एक "सबसे छोटी पहचानी जानेवाली इकाई को" उसके वस्तुगत रूप के कारण या इसलिए कि कुछ लोग उसे एक बड़े सम्पूर्ण का अविभक्त भाग मानते हैं, ऐसा मानना उचित है। संक्षेप में, यह प्रश्न उस सापेक्षवाद के, एक अन्य पहलू को छूता है, जिसका किसी परिभाषा के सम्बन्ध में महत्त्व हम पहले देख चुके हैं।

हमारे दैनिक जीवन के एक उदाहरण से यह दर्शाया जा सकता है कि किस प्रकार यह कठिनाई उत्पन्न होती है तथा किस प्रकार उसको दूर किया जा सकता है। परिवार के रहने के स्थान में भौतिक और अभौतिक दोनों पहलू हैं। भौतिक तत्त्वों में वह कमरे हैं जिनमें कि घर बंटा हुआ है; ज़ीना, विभिन्न प्रकार की सजावट के सामान तथा खाना बनाने, नहाने तथा घर साफ़ करने के अन्य उपकरण भी इसके अन्तर्गत हैं। अभौतिक गुणों में घर में रहनेवाले सदस्यों की एक-दूसरे के प्रति और बाहर के संसार के प्रति धारणायें हैं; ऊपर बताये गये भौतिक साधनों को निर्दिष्ट कार्यों में प्रयोग करने की कुशलता और परिवार के प्रत्येक सदस्य द्वारा अपने अन्तरंग संचार या मनोरंजन की व्यवहार शैलियां भी इसमें सम्मिलित हैं।

इसमें से अब हम एक तत्त्व को लें, एक मेज़ और छः कुर्सियां, जो भोजनालय का फर्नीचर सैट है। जिस प्रकार घर में खाने का कमरा एक इकाई है उसी प्रकार यह भी एक इकाई हैं, अर्थात् प्रत्येक एक बड़े संकुल (Complex) का एक गुण है और एक सम्पूर्ण से एक भाग के रूप में सम्बन्धित होने के कारण इसे वस्तुतः ऐसा ही माना जाना चाहिए। यह तथ्य कि मेज़ और उसके साथ जुड़ी कुर्सियां एक ही वाक्यांश—हमारे भोजन के कमरे का सैट भोजन के कमरे में है, से परिलक्षित हैं—इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। यूरोपीय संस्कृति के गुणों की एक "पूरी" फेहरिस्त तैयार करने में क्या खाने के कमरे को घर के संकुल का और खाने के कमरे के सैट को खाने के कमरे के संकुल का एक भाग समझा जायेगा ?

दोनों सम्भावनाओं के प्रति आपत्तियां की जाती हैं। हम स्मरण करते हैं कि यद्यपि जब सैट के रूप में सोचा जाय तो मेज़ और कुर्सियों का समूह एक

इकाई है; परन्तु यह तथ्य कि इसमें एक मेज़ और छः कुर्सियां सम्मिलित हैं, इसे किसी भी मायने में इस प्रसंग में सबसे छोटी पहचानी जानेवाली इकाई नहीं ठहराता। अवसर आने पर कुर्सियों को मेज़ से केवल भौतिक रूप में ही पृथक् नहीं किया जाता, किन्तु मेज़ और कुर्सी के योग की एकता से कोई अमूर्त या मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी घटाया जा सकता है, जैसाकि जब रहने के कमरे में बहुत सारे मेहमानों को बैठाना हो और उस समय इस उद्देश्य के लिए खाने के कमरे की कुर्सियां भी प्रयोग में लायी जाती हैं, तब किया जाता है।

एक क्षण के लिए हम मेज़ को एक पृथक् इकाई मान लें। यहां कम-से-कम एक सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ है जिसे कि ऐसा ही पहचाना जा सकता है। किन्तु अक्षरार्थ ढूंढनेवाला तर्कशास्त्री कहता है, यद्यपि मेज़ एक इकाई है, पर क्या यह स्वयं उप-इकाइयों का संग्रह नहीं है? हम उन अंशों की उपेक्षा कर सकते हैं जोकि हटाये जा सकते हैं, जैसे कि जब अधिक बैठने की जगह बनानी हो तो मेज़ को बढ़ाने के लिए उसमें तख़्ते जोड़ दिये जाते हैं। परन्तु मेज़ की शक्ल भौतिक इकाई के रूप में उसमें अभी भी लकड़ी के अलग अलग टुकड़े हैं जिन्हें कि कीलों और खांचों, और सरेस से जोड़ा गया है और वार्निश से ढक दिया गया है। क्या इस प्रकार इनमें से एक कील या खांचा या वह विधि जिससे कि मेज़ के आधे हिस्से अलग हो जाते हैं, स्वयं एक गुण नहीं हैं?

यहां दी गयी इस समस्या का सामना किया जा चुका है और जिन विद्वानों ने सांस्कृतिक गुण की अवधारणा का प्रयोग किया है उन्होंने उसे यथास्थान रखा है और इसका विवेचन किया है। ड्राइवर और क्रोबर कहते हैं :

"एक गुण के अनिवार्य भागों को वस्तुतः पृथक् गुण नहीं गिना जाता—एक नाव का पिछला भाग, एक धनुष की डोरी इत्यादि। यहां तक कि धनुष और बाण एक ही गुण है जब तक कि एक बाणविहीन धनुष का प्रश्न नहीं है। और ये हमारे पास दो गुण हैं, पत्थर फेंकने का धनुष, बाण छोड़ने का धनुष। इसी प्रकार जबकि धनुष के साथ बंधी हुई कमानी स्वतंत्र रूप से स्थित नहीं, हम सादे धनुषों और कमानीवाले धनुषों में भेद कर सकते हैं, और इसी प्रकार एक मोड़वाले और दो मोड़वाले धनुषों, आड़े और सीधे पंखयुक्त बाणों और खुंडे, गोल या नोकीली पूंछवाली पालदार डोंगियों इत्यादि में भी।"[1]

या, जैसा कि एक बाद की चर्चा में क्रोबर ने कहा है, एक गुण को "संस्कृति का अल्पतम परिभाषित तत्व"[2] समझा जाना चाहिए।

जब एक गुण ऐसे अल्पतम अंश को माना जाता है तो उसमें दो प्रकार के मूल्यांकन सम्मिलित होते हैं। एक निर्दिष्ट उदाहरण में निर्णय समस्या के विशेषज्ञ द्वारा अध्ययन का परिणाम होना चाहिए, जिसमें कि जिस संस्कृति का

---

१. एच० ई० ड्राइवर और ए० एल० क्रोबर, १९३२, पृ० २१२–३।
२. ए० एल० क्रोबर, १९३६, पृ० २०१।

अध्ययन किया जाता हो उसके अनुसार रहनेवाले व्यक्तियों के अव्यक्त मत को ध्यान में रखा गया हो और यह भी अनुभव किया गया हो कि इस प्रकार दी गई एकता भी सम्पूर्ण के बदलने पर, जिसका कि वह एक भाग है, बदल जाती है। **इस प्रकार एक निर्दिष्ट समय में एक गुण जो रूप धारण करता है वह उसमें अन्तर्निहित किसी गुण की अपेक्षा, उसके प्रसंग से निर्धारित होता है।**

यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि किस प्रकार अधिकाधिक व्यौरों पर ध्यान देने से गुणों की सूची बढ़ती जाती है। इस उद्देश्य के लिए हम गुण की अवधारणा (Trait-concept) पर आधारित कैलीफोर्निया संस्कृति-तत्त्व अध्ययन के एक विस्तृत गवेषणा कार्यक्रम पर विचार कर सकते हैं। १९३५ में प्रकाशित पहली कैलीफोर्निया गुण सूचियों में क्लीमेक ने चार सौ तीस मदें शामिल कीं। "शिकार और मछली पकड़ने" के शीर्षक के अन्तर्गत उसने चौबीस तत्त्व दिये: "मृत्यु और शोक" के अन्तर्गत सत्रह।[3] बाद के अध्ययनों में देखे गये गुणों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी।

	कुल योग	शिकार और मछली पकड़ना	मृत्यु
क्लीमेक (१९३५)	४३०	२४	१७
गिफोर्ड और क्रोबर (१९३७)	१,०९४	१०२	४८
एसीन (१९४२)	२,१७४	२०२	११०

अन्य स्थान पर स्टीवर्ट ने[4] यूटे और पूर्व की ओर दक्षिणी पायूट पट्टी में ४,६६२ तत्त्व बताये; ई० वोगेलिन ने[5] उत्तरी-पूर्वी कैलीफोर्निया के कबीलों के लिए ५,२६३ की फेहरिस्त दी; जबकि रे ने[6] उत्तरी और पूर्वी कैलीफोर्निया के क़बीलों में काम करते हुए इस संख्या को ७,६३३ तक बढ़ा दिया।

यदि हम घर जैसे एक अकेले सांस्कृतिक तत्त्व पर हुई विवेचना पर विचार करें तो हमें पता चलेगा किस भांति इस गवेषणा के कौशल और स्पष्ट लक्ष्यों के परिणामस्वरूप गुणों की सूची बढ़ गई। पोमो के लिए गिफोर्ड और क्रोबर ने यह श्रेणियां निश्चित कीं:

सभा या नाचघर	(१४ तत्त्व)
रहने का घर	(११ तत्त्व)
मजदूरों का घर	(२० तत्त्व)

कुछ वर्ष बाद एसीन ने इस विषय को इस प्रकार बांटा:

---

३. एस० क्लीमेक, १९३५, पृ० २३–९।
४. ओ० सी० स्टीवर्ट, १९४२।
५. ई० डब्ल्यू० वोगेलिन, १९४२।
६. वी० एफ० रे, १९४२।

संरचनात्मक लक्षण

ढांचा	(१२ तत्त्व)
छाजन	(६ तत्त्व)
आने-जाने के द्वार	(१७ तत्त्व)
अंगीठी	(३ तत्त्व)
मज़दूरों का घर	(३२ तत्त्व)
रहने का स्थान	(६ तत्त्व)

इस प्रकार अनुभव से केवल वृद्धि ही नहीं हुई, प्रत्युत सूक्ष्मता तथा स्पष्टता भी आ गयी। रे ने इस प्रक्रिया का अच्छा विवरण दिया है। प्रथम क्षेत्रीय यात्रा करने से पहले उसने प्रस्तावित संस्कृतियों के अध्ययन के प्रयोग के लिए कैलीफोर्निया की गुण-सूची में संशोधन किये। इन संशोधनों की क्षेत्र में परीक्षा की गयी और उन्हें पुनः ठीक किया गया जिससे कि "उनका अधिक तर्कसंगत क्रम बन सके" और उन्हें सरलता से बढ़ाया जा सके। इस प्रकार प्रयोग के लिए नयी सूची तैयार हो गयी। किन्तु "इसका पहले विस्तार किये जाने पर भी, सूची बराबर बढ़ती रही। प्रायः पृष्ठों या सम्पूर्ण भागों को हटाना और पुनः उनकी नकल करना आवश्यक हो गया ताकि बीच में जोड़े हुए तत्त्वों को अधिक तर्कयुक्त क्रम में रखा जा सके।"[7] रे ने अनुमान लगाया कि उसके अन्तिम प्रतिवेदन में प्रकाशित संस्कृति-तत्त्व सूची में, उस सूची की जोकि वह पहले क्षेत्र में ले गया था ४ या ५ प्रतिशत से भी कम मदें आ सकीं।

इन समीक्षाओं के बावजूद, संस्कृति के अध्ययन में से संस्कृति-गुण या ऐसी ही समकक्ष अवधारणा को त्यागना कठिन है। चाहे हम संस्कृति को बाहरी ढांचे या आन्तरिक अर्थ के दृष्टिकोण से देखें, उसे एक ऐसी वस्तु के रूप में देखना पड़ेगा जिसका कि एक रूप है। संस्कृति के रूपों के विश्लेषण के लिए यह मानना पड़ेगा कि यह रूप उसकी संरचना में अन्तर्निहित है। यह मान्यता पुनः यह आवश्यक बना देती है कि संरचनाओं में उसके बनानेवाले तत्त्वों को देखा जाये। अतएव यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पुरातत्त्व का समस्त क्षेत्र संस्कृति-गुणों के विस्तार और विकास के अध्ययन से, जिनके पारस्परिक सम्बन्धों का अनुमान ही किया जा सकता है, सम्बन्धित है। ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्री, जो कि इस अवधारणा को अस्वीकार करते हैं, वे भी अध्ययन की जानेवाली संरचनाओं को छोटी इकाइयों में उपविभाजित करते हैं।

सांस्कृतिक गुणों के अध्ययन में दिये गये कुछ पहले उदाहरणों का जिक्र किया जा सकता है। टाइलर ने जब संस्थाओं के विकास को समझने के लिए सांस्कृतिक तत्त्वों के बीच सहसम्बन्ध के सिद्धान्त का प्रयोग किया[8] तब उसने

७. वहीं, पृ० १००।
८. ई० बी० टाइलर, १८८९।

विभिन्न संस्कृतियों का विश्लेषण इसी दृष्टिकोण से किया। बोआस का इस समस्या का अन्वेषण कि किस प्रकार लोगों के पुराण उनकी जीवन रीति को प्रतिबिम्बित करते हैं[९], जिसे कि उसने ब्रिटिश कोलम्बिया के टिसिमशियन इंडियनों से संकलित सामग्रियों से लिपिबद्ध किया है, कभी भी पूरा न हो पाता यदि वह उनकी संस्कृति का व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध विवरण देने के लिए पुनर्व्यवस्थित करने से पहले उन कहानियों को भागों में न तोड़ देता। स्वीडिश स्कूल के नौर्डेसक्योल्ड, लिडबौम और अन्यों के तुलनात्मक जनवृत्तशास्त्रीय अध्ययनों में भी इस बुनियादी विचार को स्वीकार किया गया है कि संस्कृतियां ऐसे तत्त्वों से मिलकर बनी हैं जिनकी पृथक् विवेचना की जा सकती है। दक्षिणी अमरीका की ग्रान चाको संस्कृतियों के लिए नौर्डेसक्योल्ड ने फावड़े, पशु-पदार्थों से बनाये जानेवाली धनुष की डोरियां, "पक्षीवाण", गुलेल, मिट्टी की गोली छोड़ने का धनुष—आदि[१०], चवालीस गुणों का अलग अलग विस्तार चित्रित किया है, जिनमें हम केवल पांच ही यहां गिना रहे हैं। इसी प्रकार लिडबौम और उसके सहयोगियों ने अफ्रीका के अनेक पृथक् सांस्कृतिक तत्त्वों के विस्तार का पृथक् विश्लेषण किया है, इनमें गुलेल, पैर टेक कर चलने के डंडे, लड़ने के कड़े, तीलीवाले पहियेदार जाल, खाटें और रस्सी की मूर्तियां भी सम्मिलित हैं।[११]

सांस्कृतिक गुणों के अध्ययनों को अनक्षर संस्कृतियों की कल्पित "सरलता" की मिथ्या धारणाओं को दूर करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। हम कैलिफोर्निया के पठार और ग्रेट ब्रिटेन के इंडियन कबीलों की संस्कृति में ही, जो अपनी अल्प जनसंख्या, भौतिक वस्तुओं की कमी, तथा अपनी आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों की सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं, सात हजार पृथक् मदों को देख सकते हैं। केन्द्रीय अमरीका या पश्चिमी अफ्रीका या इंडोनेशिया के लोगों में इनकी कितनी बड़ी संख्या होगी, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। पर जितनी भी सामग्री हमारे पास है, वह यह बताती है कि, जब केवल उनके सांस्कृतिक साधनों की कच्ची फेहरिस्त ही ध्यान में रखी जाती है, तब भी "सरलतम" संस्कृतियां कितनी जटिल हैं। यह बताने की जरूरत नहीं कि यदि यह आंका जाय कि यह मदें किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, तो इससे यह जटिलता कितनी बढ़ जायेगी।

२

संस्कृति-संकुल (Culture-complex) की प्रकृति को ई० सी० पारसंस द्वारा प्यूब्लो इंडियन धर्म के अनुष्ठान की चर्चा के विश्लेषण के एक उदाहरण से बहुत अच्छी तरह समझाया जा सकता है।

---

९. एफ० बोआस, १९०९–१०, पृ० ३९३।

१०. ई० नौर्डेसक्योल्ड, १९१९।

११. के० जी० लिडबौम, सं०, १९२६—।

पारसंस लिखता है, "प्यूब्लो अनुष्ठान (Ritual) बहुरंगी है। अनेक प्रकार के आनुष्ठानिक प्रतिमान या उत्सव हैं और...वे अनेक रीतियों से आपस में मिल जाते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से, अपेक्षाकृत स्थिर मेल के द्वारा अनुष्ठानों के एक समह से एक संस्कार (Ceremony) बन सकता है, इसमें कभी कोई नाटकीय विचार भी कारण हो सकता है....पर कभी उसके बिना भी ऐसा होता है... प्रत्येक अनुष्ठान या कर्मकांड के तत्त्व को अंशतः एक तार्किक और अंशतः एक अनुष्ठान के प्रयोग के विस्तार से सुझाये गये क्रम में एक पृथक् तत्त्व, या एक इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए।"[१२] इसका ब्यौरा बताने में कि किस प्रकार प्रत्येक तत्त्व बनता है, उसे पवित्रता प्राप्त होती है और उसका प्रयोग किया जाता है, कई पृष्ठ लग जायेंगे। इस प्रश्न का उत्तर कि "किस प्रकार इस पचपन से अधिक आनुष्ठानिक तत्त्वों से बनी सूची के अनुष्ठान मिलकर एक संस्कार बन जाते हैं?" इन शब्दों में दिया जाता है कि किस प्रकार प्रत्येक मद सम्पूर्ण में उपयुक्त स्थान पाता है और यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक गुण उन बड़ी एकताओं में योगदान देता है जिन्हें कि हम संस्कृति-संकुल कहते हैं।

संस्कृति-संकुल के इस विशिष्ट एकीकरण को लोककथाओं से बेहतर और कहीं नहीं देखा जा सकता। विभिन्न पात्र, पृष्ठभूमियां और घटनायें जोकि स्वतंत्र परिवर्त्तनीय तत्त्व हैं, किन्हीं दो विवरणों में एक समान न होते हुए भी, प्रत्येक विवरण को एक सम्पूर्ण एकरूपता प्रदान करती हैं। यूरोपीय-अमरीकी क्षेत्र में अधिकांश व्यक्ति सिंडरेला की कहानी से परिचित हैं; एक पुराने अध्ययन में उसके लगभग तीन सौ पचास भिन्न रूप प्रकाशित किये गये हैं।[१३] यदि हम केवल एक मुख्य घटना को, जहां कि सिंडरेला अपने जूते खो बैठती है, देखते हैं तो कभी यह घटना एक नृत्य के बाद अर्धरात्रि में और कभी दोपहर को जबकि राजकुमार एक गिरजे में पूजा कर रहा होता है, तब वहां से भागते हुए घटित होती है। किन्तु सर्वत्र ही कथा द्वारा व्यक्त सम्पूर्णता के संकुल को पहचाना जा सकता है। यह कथावस्तु के लिए एक आकस्मिक महत्त्व की बात है कि उसके अन्तर्धान हो जाने के पश्चात् सिंडरेला की सौतेली बहन के पैरों में उसका जूता ठीक नहीं बैठता या जब सौतेली मां उस जूते को ठीक पहनाने के लिए अपनी हरेक लड़की की एड़ियों को काट कर छोटा कर देती है। चाहे सिंडरेला के घर पर जाकर राजा के प्रहरी उसको जूता पहना कर देखें, या राज्य की सभी तरुण स्त्रियां राजमहल में जाकर इसकी परीक्षा करें, पर वह उपेक्षित और पीड़ित छोटी लड़की ही उसकी स्वामिनी सिद्ध होती है।

जिस भांति गुण के विस्तार का अध्ययन सम्भव है, उसी प्रकार एक विस्तृत क्षेत्र में एक क़बीले से दूसरे क़बीले में एक निर्दिष्ट संकुल की अभिव्यक्ति

---

१२. ई० सी० पारसंस, १९३९, जिल्द १, पृ० २६८।

१३. एम० आर० कौक्स, १८९२।

का अनुसरण किया जाता है। इसका एक उदाहरण बेनेडिक्ट द्वारा किया गया उत्तरी अमरीका में अभिभावक प्रेतात्मा (Guardian spirit) के चारों ओर केन्द्रित अनुष्ठान और विश्वास के संकुल का अध्ययन है।[१४] उन सभी अनेक लोगों में जहांकि यह संकुल संस्कृति का एक भाग है, कोई दो अभिव्यक्तियां एक-सी नहीं हैं, फिर भी सभी में एक केन्द्रीय अवधारणा के चारों ओर एक समूह दिखायी देता है जोकि उसे एक के बाद दूसरे क़बीले में और एक के बाद दूसरे क्षेत्र में पृथक् पहचाने जानेवाला रूप और आन्तरिक एकता प्रदान करता है।

अभिभावक प्रेतात्मा की अवधारणा के इस संगठनात्मक विचार को विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न अनुष्ठानों द्वारा कार्यान्वित तथा विभिन्न कृत्यों द्वारा जिन्हें यह पूरा करता है, प्रमाणित किया जाता है। टाम्पसन नदी के इंडियनों में कबीले के सभी युवक उपवास कर और पर्वतों में एकान्तवास द्वारा "अभिभावक प्रेतात्मा से अलौकिक सम्पर्क स्थापित करने और इलहाम (Vision) में उसके नाम और शक्ति और गान की प्राप्ति" का प्रयत्न करते हैं। उत्तरी-पश्चिमी तट के क्वाक्युल्ल इंडियनों में अभिभावक प्रेतात्मा "एक पैतृक जाति चिन्ह था।" जिसे उत्तराधिकार या विवाह या पहले स्वामी को मार कर स्थापित किये गये अधिकारों के अनुसार प्राप्त किया जाता था। "जब तक कि उसका परिवार उसके परम आनन्द (Ecstasy) की कीमत नहीं चुकाता" उसे अपने इलहाम में अभिभावक न दीखने का भय है; विवाह उसी स्त्री के साथ तय होना चाहिए जिसे कि 'चिन्ह' (Crest) को हस्तान्तरित करने का पैतृक अधिकार प्राप्त हो; इसके अलावा परिषद् में एकत्रित हुए बड़ों ने सहमति भी दे दी हो।"

कैलीफोर्निया के इंडियनों और मैदानों के इंडियनों के कुछ समूहों में प्रेतात्मा के चढ़ने (Possession) के गुण और उनकी प्राप्ति की विधि अभिभावक-प्रेतात्मा संकुल में और भी भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। शास्ता लोगों में यह प्रेतात्मायें चिकित्सकों, शमनों और ऐसे स्त्री-पुरुषों का, जिनमें "एक निश्चित प्रकार के स्वप्नों द्वारा इस पेशे के प्रति सहज-प्रवृत्ति" व्यक्त होती है, विशेषाधिकार हैं। इसके विपरीत, मैदानों के क्रो लोगों में अभिभावक के इलहाम को पाने के सम्बन्ध में कोई पद, लिंग या आयुभेद की पाबन्दी नहीं है। प्रायः उसके लिए "एकान्तवास, उपवास और आत्म-पीड़न करना पड़ता है", हालांकि कभी-कभी भाग्यशाली माध्यम पर यह बिना कष्ट दिये आ जाती है। इलहाम का होना सफलता के मार्ग को प्रशस्त करता है और प्रेतात्मा की भेंट स्वरूप साधक अपनी एक उंगली काट देता है। फिर भी क्रो लोगों में, "अभिभावक प्रेतात्मा को पाने की अपेक्षा— इलहाम पाने की संस्था अधिक सामान्य रूप से व्याप्त है।" सभी अवसरों पर अन्य प्रकार के इलहाम देखने की कोशिश की जाती है। अधिकांश इलहामों में

१४. आर० बेनेडिक्ट, १९२३, यहां पर उद्धृत अंश, पृ० ९–१६ से लिये गये हैं।

जो प्राणी प्रकट होते हैं, वह अभिभावक प्रेतात्मा की भांति एक गीत देते हैं, व्यक्ति को विशिष्ट शक्तियां देते हैं और या ऐसा प्रतीक बताते हैं जिसे कि व्यक्ति को ढूंढ कर बाद में अपने पास रखना चाहिए। संक्षेप में ओ अभिभावक-प्रेतात्मा संकुल में जो इलहाम की खोज व्यक्त होती है वह केवल उसी संकुल तक सीमित नहीं है, बल्कि वह दैनिक जीवन के अन्य अनेक पहलुओं के साथ, बहुधा ग़ैरधार्मिक पहलुओं के साथ पायी जाती है।

चाहे कोई भी आकस्मिक गुण बाहर से उसके निर्माता प्रतीत हों, एकीकरण का कारक सांस्कृतिक संकुल को उसकी एकता प्रदान करता है। वह विद्यार्थी जोकि इस बात की विशुद्ध तर्कसंगत व्याख्या ढूंढ रहा है कि क्यों कुछ तत्त्व, जो साथ मिलते हैं, मिलाये गये हैं, वह उनके इस मिलन में ज़ाहिरा तर्क के अभाव से प्राय: चकरा जाता है। हम पूछते हैं, कि क्यों एक क़बीले में अभिभावक प्रेतात्मा केवल चिकित्सक द्वारा, दूसरे में पद द्वारा, तीसरे में कष्ट सह कर और आत्म-संयम द्वारा प्राप्त की जाती है?

पश्चिमी अफ्रीका के डाहोमी में पुरुषों का सहकारी कार्य करनेवाला समुदाय एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक संस्था है जिसे **डोक्पवी** कहते हैं, इसे एक संस्कृति-संकुल माना जा सकता है और इसका उसे बनानेवाले अनेक गुणों में विश्लेषण किया जा सकता है। इन समूहों का सदस्य होने में पुरुष जो गर्व अनुभव करते हैं, उनका संगठन जिसमें कि एक मुखिया और कई उपमुखिया होते हैं, खेत खोदने तथा मकान छाजने में वह जो कार्य करते हैं, यह सब ऐसी ही मदें हैं। उनके कार्य के भुगतान में लिया गया भोज, काम करते समय पाये जानेवाले गीतों की किस्में, एक सहकारी समूह में विद्यमान प्रतियोगी इकाइयां ऐसी ही अन्य मदें हैं। इसके अलावा और यह परम्परायें हैं, जैसे किसी सदस्य के अस्वस्थ होने पर यह समूह बिना क्षतिपूरक भोज के उसके खेत को जोतता है, या एक बड़ी हैसियत का आदमी जिसकी कई पत्नियां हैं अपने सास-श्वसुरों के प्रति अपने दायित्व का पालन करने के लिए **डोक्पवी** सहकारी श्रम की सहायता ले प्रत्येक पत्नी के पिता के वार्षिक खेती के कार्य को करता है और प्रत्येक पत्नी की माता के घर की छत को छाने का काम कराता है। भौतिक क्षेत्र में केवल ज़मीन खोदने में प्रयुक्त होने वाले कुदाल ही नहीं, बल्कि ढोल, झांज और मंजीरे जिनके साथ कुदालों की ताल मिलायी जाती है और इस काम के साथ गाये जानेवाले गीतों को भी हमें ध्यान में लेना चाहिए।

डोक्पवी संकुल और उसका निर्माण करने वाले गुणों में क्या तर्क अन्तर्निहित है, यह उसके आर्थिक कृत्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। एक गर्म देश में जहां कि गर्मी के बाद तत्काल वर्षा ऋतु आ जाती है, ज़मीन को बोने के लिए तैयार करने का आवश्यक कार्य केवल सामूहिक प्रयत्न से ही ठीक समय में हो सकता है। जबकि, जैसाकि बहुपत्नीक कुनबे में होता है, बहुत-से खेत खोदने होते हैं, या जबकि एक आदमी के पास बड़े खेत हों, पर्याप्त श्रम की

प्राप्ति के बिना इस समस्या को सुलझाना असम्भव हो जाता है। मुआवज़ा केवल भोज के रूप में ही दिया जाता है, इससे ऐसा लगता है कि आर्थिक मांग का तर्क यहां कार्य नहीं कर रहा है, पर ऐसा तभी तक प्रतीत होता है जबतक कि हम यह नहीं जान पाते कि **डोक्पवी** के प्रत्येक सदस्य को जिन्होंने उसके लिए कार्य किया है, उनके लिए भी उतना ही काम देर या सवेर करना पड़ता है। गीतों और ढोलों की ताल की कैफ़ियत यह दी जाती है कि डाहोमी में लोग ऐसा मानते हैं कि लयात्मक संगत से ज़्यादा काम होता है और सामुदायिक श्रम में थकान कम होती है।

और यह **डोक्पवी** संकुल केवल आर्थिक क्षेत्र में ही कार्य नहीं करता प्रत्युत यह डाहोमियों के अंत्येष्टि संस्कारों का भी अभिन्न भाग है। **डोक्पवी** सदस्य ही वह, अनेक महत्त्वपूर्ण नृत्य करते हैं जिनसे कि अंत्येष्टि के समय मृत व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। इनमें से कुछ नृत्यों के लिए बहुत कौशल अपेक्षित है और जो अच्छा नाचते हैं, उन्हें बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। एक नृत्य में छः नवयुवक, तीन-तीन हाथ में हाथ डाल कर एक-दूसरे के सामने खड़े होते हैं और शव उनके फैले हुए हाथों पर रखा रहता है। अपनी बांहों को कस कर बांध वह इस प्रकार अपने शरीर को आगे फेंकते हैं कि उनकी कमर पर बंधे हुए कपड़े के गांठदार छोर ऊपर उछल कर ठीक समय पर ताल के साथ उनके कानों पर लगते हैं। **डोक्पवी** का प्रत्येक सदस्य हिस्सा लेने की होड़ करता है, और बाद में जब कि **डोक्पवी** द्वारा शव को उन स्थानों से विदा दिलाने के लिए जहां कि जीवित व्यक्ति प्रायः जाता था, ले जाया जाता है, वह शव को ले जाने में मदद करता है। पुनः शव को गड्ढे में रखने के बाद वह कब्र को भरने में सहायता करते हैं।

डोक्पवी उत्पादन चक्र के साथ और मृत्यु के संस्कारों के साथ भी जुड़ा हुआ है; इसमें श्रम संगीत और नृत्य के साथ संयुक्त है; डाहोमियों की दृष्टि में इसमें कोई विरोध नहीं है। उन्हें यह स्वाभाविक और ग्राह्य प्रतीत होता है। यह "पृथ्वी पर विघ्न डालने" के अधिकार की प्राचीन स्वीकृति है। जैसा कि बेनेडिक्ट ने अभिभावक-प्रेतात्मा संकुल के सम्बन्ध में कहा है: "वे विविध गुण जोकि विभिन्न केन्द्रों में इसकी रचना में प्रवेश करते हैं, उनमें से कोई भी न तो अवश्यम्भावी अग्रणी है, न ही अवश्यम्भावी परिणाम है, या अवधारणा का अवश्यम्भावी सहयोगी है, प्रत्युत प्रत्येक की स्वतंत्र निजी सत्ता है और इस संकुल से बाहर एक विस्तृत वितरण है।"[१५]

अतएव संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलुओं में से एक यह तथ्य है कि वे पृथक् तत्त्व जिनके वितरण को पृथक्-पृथक् ढूंढा जा सकता है एक निर्दिष्ट बुनियादी अवधारणा में इस प्रकार मिलकर और पुनः मिलकर इतनी भिन्न अभिव्यक्तियां प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्येक संकुल या संग्रह एक एकीकृत सम्पूर्ण बनाता है

१५. वहीं, पृ० ८४।

जिसका प्रत्येक भाग. उन लोगों द्वारा जिनकी संस्कृति में यह मिलता है, न केवल स्वीकार किया जाता है, अपितु प्रतीकात्मक दृष्टि से अनिवार्य माना जाता है।

सम्भवतः संस्कृति-गुण और संस्कृति-संकुल का यही प्रधान भेद है। दोनों ही संस्कृति के वस्तुगत वैज्ञानिक अध्ययन को आगे बढ़ाने की उपयोगी विधियां हैं। किन्तु जहां तक कि संस्कृति में अर्थ है, और अर्थ ही संस्कृति को वास्तविकता प्रदान करता है, संकुल की अपेक्षा गुण कहीं अधिक प्रविवेक है। एक तम्बू, तम्बू ही है, पर जो तम्बुओं की बात सोचते हैं, वह उसके खंभों की संख्या या उसे ढकनेवाली खाल की किस्म या गुण, या उसकी सजावट पर विचार नहीं करते। उनकी चिन्तन प्रणाली में गुण-संकुल "तम्बू" एक इकाई है, और इस हैसियत से उसमें एक सम्पूर्ण चित्र की एकता है। फिर भी यदि परिवार-संकुल में एक रहने के स्थान के रूप में तम्बू एक गुण है, तब इसकी पृथक् मनोवैज्ञानिक सत्ता परिवर्तित हो जाती है और वह उन अन्य गुणों में विलीन हो जाती है जो अब उस संकुल को बनाते हैं, जिसका कि यह अब एक हिस्सा बन गयी है।

अब हम इस समस्या पर एक अन्य दृष्टिकोण से, समग्र रूप से क़बायली संस्कृतियों के लिए बनायी गयी गुण सूची से एक निर्दिष्ट संकुल के ढांचे में बनायी गयी गुण-सूचियों की तुलना कर, विचार कर सकते हैं। क़बायली गुण-सूची विद्यार्थी की संस्कृति के संगठन की अवधारणा को पूरा करती है। एक सूचिपत्र की भांति एक गुण के बाद दूसरा गुण दिया रहता है। यहां पर एक गुण का दूसरे गुण से वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि एक पुस्तकालय में उसकी अनुक्रमणिका में, जोकि वर्णानुक्रम के अनुसार है, विषयानुसार नहीं है, एक कार्ड का दूसरे कार्ड से होता है। संस्कृति-तत्त्व सूची में एक ऐसा शीर्षक जैसे कि "चम्मच" जिसके नीचे हमें यह बर्तन दिये हुए मिलते हैं, "चीड़, देवदार, कपास की लकड़ी. . .अन्य लकड़ियां, लम्बा दस्ता, छोटा दस्ता, कटा हुआ, कामदार, जड़ाऊ" वह वर्णानुसार अनुक्रमणिका से, जिस ढांचे में इसे रखा गया है, सिर्फ उसी में भिन्न हैं। दोनों में ही संकुल में दिये गये गुणों से भिन्नता देखनी चाहिए, जहांकि यद्यपि वे विरोधी दिखाई दे सकते हैं, किन्तु उनमें से प्रत्येक केन्द्रीय विचार के अर्थों में सम्पूर्ण की एकता में योगदान करता है, और वह विचार उस संकुल को, जिनकी संस्कृति में वह पाया जाता है, उनके लिए अर्थ प्रदान करता है।

३

जैसे ही हम महाद्वीप के एक भाग से दूसरे भाग में जाते हैं, हम देखते हैं कि किन्हीं दो जनसमूहों की संस्कृतियां एक समान नहीं हैं, फिर भी उन समूहों की अपेक्षा जो दूर रहते हैं, पास रहने वाले समूहों की प्रथाओं में अधिक सदृशता मिलती है। यह सत्य है कि संस्कृति के कुछ गुण अन्यों की अपेक्षा अधिक दूर तक फैले होंगे, फिर भी एक समान सांस्कृतिक मदों की पृष्ठभूमि, उन सम्पूर्ण संकुलों में, जिनके कि वे भाग हैं, विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न होगी।

यह सरल तथ्य इस बुनियादी सिद्धान्त से निकला है कि चूंकि संस्कृति सीखी जाती है, इसलिए भिन्न तरीके से सोचने या कार्य करने की रीति के प्रभाव में आने से व्यक्ति या व्यक्तियों के कोई भी समूह अन्यों से किसी तत्त्व को ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जो लोग एक-दूसरे के अधिक पास रहते हैं, उन्हें दूर बसे हुए लोगों की अपेक्षा एक-दूसरे से कुछ ग्रहण करने के अधिक अवसर हैं। इसीलिए जब संस्कृतियों को वस्तुगत रीति से देखा जाता हैं, तो वह एक प्रकार के ऐसे पर्याप्त एकतत्त्वीय से गुच्छों को बनाती दिखाई देती हैं कि जिन प्रदेशों में वह मिलते हैं उन्हें मानचित्र पर एक सीमा के अन्तर्गत दिखाया जा सकता है। **वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियां पायी जाती हैं एक संस्कृति क्षेत्र (Culture-area) कहलाता है।**

संस्कृति-क्षेत्र अवधारणा का इस रूप में सर्वप्रथम क्रमबद्ध रीति से विस्लर ने प्रयोग किया है, जबकि उसने अमरीकी इंडियन संस्कृतियों के अध्ययन में इसे अपनाया। उसकी परिभाषा, यद्यपि बाद में अधिक पैनी की जा चुकी है, पर अभी भी उपयोगी है। विस्लर कहता है, "यदि नयी दुनिया के आदिवासियों को उनके संस्कृति-गुणों के अनुसार समूहों में रखा जा सके," तो इससे हमें "खाद्य-क्षेत्र, वस्त्र-क्षेत्र और भांड-क्षेत्र इत्यादि मिलेंगे··और यदि हम सभी गुणों पर साथ-साथ विचार करें और अपनी दृष्टि को सामाजिक या क़बायली इकाइयों पर केन्द्रित कर दें, तो हम पर्याप्त निश्चित समूह बना सकते हैं। इससे हमें संस्कृति-क्षेत्र या संस्कृति गुणों के अनुसार सामाजिक समूहों का वर्गीकरण मिल सकेगा।"[१६]

परन्तु जैसाकि पहले-पहल दिखाई देता है, सम्पूर्ण संस्कृतियों को इस प्रकार या अन्य किसी प्रकार वर्गीकृत करना इतना सरल नहीं है। पृथक् गुणों का, जिनमें कि किसी संस्कृति को वस्तुगत विश्लेषण के उद्देश्य से तोड़ा जा सकता है, एक-सा या भिन्न विस्तार हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि हम अफ्रीकी संस्कृति के कुछ तत्त्वों के वितरण पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है। एक संस्कृति-क्षेत्र के रूप में पूर्वी अफ्रीका में मुख्यतः वहां के लोगों के जीवन में ढोरों के स्थान के आधार पर उसकी सीमायें खींचनी होंगी, कांगो को उसकी कृषक, राजनैतिक और कलात्मक विशेषताओं के अनुसार बांटना होगा। फिर भी इन दोनों क्षेत्रों में वर द्वारा वधू के पिता को पत्नी प्राप्त करने के लिए कुछ सम्पत्ति देनी पड़ती है। अन्य बातों के साथ इसका उद्देश्य यह विश्वास दिलाना भी होता है कि उस स्त्री का पति उसकी उचित देखभाल करेगा। परिवार के दोनों पक्षों से गिने जाने के बजाय वंश एक ही ओर से गिना जाता है। अफ्रीका के धर्म प्रायः दो श्रेणियों में बंटे हुए हैं, एक में पूर्वजों पर ज़ोर दिया जाता है, दूसरे में प्राकृतिक देवताओं की बहुलता है। यहां हम पूर्वी अफ्रीका से कांगो को पृथक् कर सकते हैं, किन्तु कांगो को गिनी तट या पश्चिमी सूडान से नहीं।

---

१६. सी० विस्लर, १९२२, पृ० २१८।

फिर भी यह तथ्य इस अनुभव को नहीं काटते कि यदि समग्र रूप से विचार किया जाय तो एक क्षेत्र की संस्कृतियां "एक-दूसरे का साथ देती हैं।" बोआस ने चेतावनी दी है कि चूंकि संस्कृति-क्षेत्र प्रायः भौतिक संस्कृति के गुणों के आधार पर बनाये जाते हैं, अतः "धर्म, सामाजिक संगठन, या संस्कृति के किसी अन्य पहलू में अभिरुचि रखने वाला विद्यार्थी शीघ्र ही देखता है कि भौतिक संस्कृति पर आधारित संस्कृति क्षेत्र उसके अध्ययनों के निष्कर्षों से मेल नहीं खाते।"[१७] फिर भी यह द्रष्टव्य है कि स्वयं बोआस ने उत्तरी अमरीका की इंडियन लोककथाओं के वर्गीकरण में अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं और प्रबल पात्रों को उन क्षेत्रों में रखा है जोकि महाद्वीप की प्रचलित संस्कृति-क्षेत्र योजना से मोटे तौर से मेल खाते हैं।[१८] "मानव कथा" के सम्बन्ध में हमें वस्तुतः यह बताया गया है कि "इस बात की पूरी सम्भावना है कि भावी अध्ययन यह बतायेगा कि इसकी मुख्य विशेषताओं को महाद्वीप के सांस्कृतिक क्षेत्रों के अनुसार परिभाषित किया जा सकता है।"[१९] रौबर्ट्स ने भी आदिवासी उत्तरी अमरीका के संगीत के रूपों के वितरण का अध्ययन करते समय यह देखा कि वाद्ययंत्र और कंठसंगीत दोनों तरह के संगीत-क्षेत्र "अन्य सांस्कृतिक गुणों पर आधारित क्षेत्रों से मेल खाते हैं।"[२०]

उत्तरी और दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका के महाद्वीपों में संस्कृति क्षेत्रों को औपचारिक रूप से मानचित्र में दिखाया जा चुका है। विस्लर द्वारा अमरीकी संस्कृति-क्षेत्रों के मूल मानचित्र में निम्न सूची दी गयी थी :

उत्तरी अमरीका

१. मैदान
२. पठार
३. कैलिफोर्निया
४. उत्तरी प्रशांत तट
५. एस्किमो
६. मैकंजी
७. पूर्वी वुडलैंड
   (क) इराक्वीयन
   (ख) केन्द्रीय अलगोनकिन
   (ग) पूर्वी अलगोनकिन

दक्षिणी अमरीका

११. चिबचा
१२. इंका
१३. गुआनाको
१४. अमेजन
   कैरीबियन
१५. एंटीलस[२१]

---

१७. एफ० बोआस, १९३८, पृ० ६७१।
१८. एफ० बोआस, १९१४, पृ० ३८७–४०० (१९४०, पृ० ४६५–७९)
१९. वहीं, पृ० ३९९ (१९४०, पृ० ४७८)।
२०. एच० एच० रौबर्ट्स, १९२५, पृ० ३९।
२१. सी० विस्लर, १९२२, पृ० २१७–५७।



रेखाचित्र ५६—उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के संस्कृति क्षेत्र
(क्रोबर के अनुसार १९३३, पृ० ३३७)।

८. दक्षिणी-पूर्वी
९. दक्षिणी पश्चिमी
१०. नाहुआ

इस पहले मानचित्र में संस्कृति-क्षेत्र मुख्यतः संस्कृति के केन्द्रीकरणों या संस्कृति-केन्द्रों को पृथक् करने के लिए बनाये गये थे। यही कारण था कि "अधिक निश्चित वक्र गोलाकार रेखायें" प्रयोग में नहीं लायी गयीं। विस्लर ने लिखा था, "वास्तव में यह सीमायें केवल मोटी रूपरेखायें हैं, जिनका उद्देश्य केवल यह स्थिति दिखाना है कि संस्कृति की सीमारेखा समीपवर्ती केन्द्रों के बीच में पड़ती हैं।"

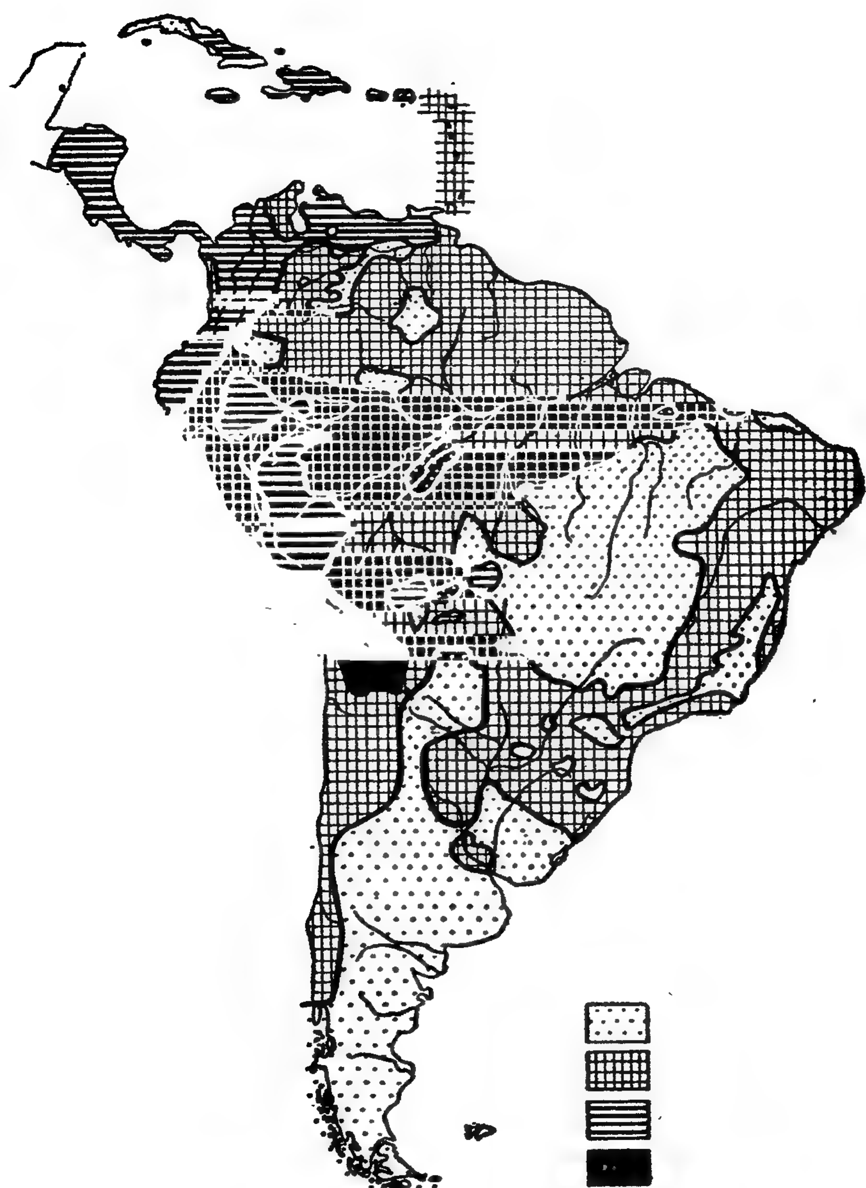
सात वर्ष बाद क्रोबर अधिक "निश्चित वक्र गोलाकार रेखाएं" देने से नहीं डरा, जैसाकि रेखाचित्र ५६ के संस्कृति-क्षेत्र मानचित्र में देखा जा सकता है। क्षेत्रों को व्यवस्थित करने में उसने विस्लर के विभाजनों की संख्या तो नहीं बदली, किन्तु उसने उनके नये नाम रखे। क्रोबर की संशोधित सूची में निम्न क्षेत्र दिये गये हैं:

१. आर्कटिक या एस्किमो : तटीय
२. उत्तरी-पश्चिमी या उत्तरी प्रशांत तट : एक तटीय पट्टी भी।
३. कैलिफोर्निया या कैलीफोर्निया का ग्रेट बेसिन।
४. पठार : उत्तरी अन्तःपर्वतीय प्रदेश।
५. मैकंजी-यूकोन : उत्तरी आन्तरिक वन और ऊसर भूमि प्रदेश।
६. मैदान : हमवार या अन्दर के ढालू घासयुक्त मैदान :
७. उत्तरी-पूर्वी या उत्तरी वुडलैंड : वन प्रदेश।
८. दक्षिणी-पूर्वी या दक्षिणी वुडलैंड : इमारती लकड़ी वाले भी।
९. दक्षिणी-पश्चिमी : दक्षिणी पठार, अर्धशुष्क।
१०. मैक्सिको : उष्ण कटिबंध से लेकर निकारागुआ तक।

विस्लर के दक्षिणी अमरीका के क्षेत्रों को अपरिवर्तित छोड़ दिया गया है, केवल उनके नाम बदल दिये गये हैं। उन्हें क्रमशः कोलम्बिया या चिबचा, एंडियन या पेरूवियन, पैंटागोनिया, ट्रौपिकल वन, और एंटीलियन कहा गया है। उत्तरी अमरीका के संस्कृति क्षेत्रों के एक और बाद के संशोधन में क्रोबर ने अब तक किये गये प्रयास की तुलना में संस्कृति और परिस्थितिशास्त्र में अधिक निश्चित सहसम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया। उसने पृथक् इकाइयों की कहीं अधिक जटिल श्रेणी तैयार की, पर साथ ही एक सम्पूर्ण सरलता भी प्राप्त की, जोकि उसके या विस्लर के मूल मानचित्रों में न थी, जिनमें कि क्षेत्र और उपक्षेत्र कही जाने वाली चौरासी इकाइयां सात "विशाल क्षेत्रों"[२३] का निर्माण करती थीं।

---

२२. ए० एल० क्रोबर, १९२३, पृ० ३३५–९।
२३. ए० एल० क्रोबर, १९३९।



रेखाचित्र ५७—अमरीका के सांस्कृतिक प्ररूप (हंडबुक आफ साउथ अमरीकन इंडियन्स के अनुसार)

परन्तु उत्तर अमरीकी मूल निवासियों की संस्कृतियों के लिए यह विभाग अत्यधिक सामान्य हैं जबकि चौरासी उप-इकाइयां वर्गीकरण की उपयोगिता की दृष्टि से संख्या में बहुत अधिक हैं। इस प्रकार पृष्ठ ३९५ पर उद्धृत क्रोबर द्वारा संशोधित विस्लर का मूल मानचित्र संस्कृति-क्षेत्र वर्गीकरण के प्रयोग के लिए बहुत संतोष-जनक सिद्ध होगा।

'हैंडबुक आफ साउथ अमेरिकन इंडियंस' के तैयार करने के लिए किये गये गहन अध्ययनों तथा संकलित ताज़ी सूचनाओं द्वारा दक्षिणी अमरीकी इंडियन संस्कृतियों के वर्गीकरण का और अधिक संशोधन सम्भव हुआ। मानचित्र (रेखाचित्र ५७) में चार मुख्य प्रकार दिखाये गये हैं, उनके वितरण को संस्कृति-क्षेत्रों के समकक्ष माना जाता है। वे हैं:

(१) सीमांत (बिन्दीदार)
(२) उष्ण वन (चारखानेदार)
(३) सरकम—कैरीबियन (चौड़ी पट्टियां)
(४) इंडियन (काला)

इस प्रकार उनकी जटिलता बढ़ जाती है और ये मुख्यतः परिस्थितिशास्त्रीय आधार और साथ ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को मद्धेनजर रखते हैं। और वे पुनः इस बात का संकेत करते हैं कि किस प्रकार अधिक पूर्ण सूचनायें मिलने पर, संस्कृति-क्षेत्र मानचित्र का मूलतः अनुभवसिद्धता का लक्षण उसमें निरन्तर संशोधन को प्रोत्साहित करता है तथा उसे संस्कृतियों के वर्गीकरण का एक अधिक प्रभावशाली साधन बनाता है। स्टीवार्ड ने[२४] इस मानचित्र के बनाने में प्रयुक्त श्रेणियों को अमरीकाओं के सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निमाण के उद्देश्य से उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका की समान प्रकार की संस्कृतियों को दिखानेवाला बताया है। यह इस ओर संकेत करता है कि किस प्रकार संस्कृति-क्षेत्र के वर्गीकरण का उपयोग कर न्यासों को ऐसे अध्ययनों में प्रयुक्त किया जाता है जहां कि लम्बा काल अपेक्षित है।

अफ्रीका के संस्कृति-क्षेत्रों का मानचित्र १९२४[२५] में खींचा गया। यद्यपि इससे पहले रेटजल और डाउड ने महाद्वीप के कुछ प्रदेशों की संस्कृतियों के बीच भिन्नताओं को स्वीकार किया था। रेटजल ने केवल ढोर पालने वाले लोगों को कृषक लोगों से पृथक् किया था, और डाउड ने विभिन्न खाद्य अर्थ-व्यवस्थाओं के आधार पर संस्कृति के वितरणों का उल्लेख किया था। जर्मन विद्वान् एंकर्मन और फ्रोबीनियस ने भी ऐसा विवरण दिया जोकि मूलतः संस्कृति-क्षेत्र से सम्बन्धित था, यद्यपि उनके अध्ययनों का उद्देश्य विवरण देना न होकर ऐतिहासिक पुनर्निर्माण था। संस्कृति-क्षेत्रों के परिसीमन के इस प्रथम प्रयास में विस्लर की कार्यप्रणाली के

---

२४. जे० एच० स्टीवार्ड, १९४७।
२५. एम० जे० हर्सकोवित्स, १८२४।

अनुसार पूर्वी अफ्रीका के न्यासों का अन्वेषण किया गया था और यह वास्तव में दूसरे महाद्वीप की संस्कृति पर विस्लर की कार्यप्रणाली के प्रयोग की उपयोगिता के परीक्षण के रूप में था। कुछ वर्षों बाद[२६] इस मानचित्र का संशोधन किया गया, ताकि प्रथम प्रयास के सम्बन्ध में दिये गये सुझावों और समीक्षाओं के अनुरूप उसमें कुछ परिवर्तन सम्मिलित किये जा सकें। १९३७ ई० में हैम्बली ने[२७]



रेखाचित्र ५८—अफ्रीका के सांस्कृतिक-क्षेत्र (हर्सकोवित्स के आधार पर १९४६)

"सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण" से वर्गीकरण को लक्ष्य मानकर, प्रत्येक संस्कृति की एक गतिदायक या चालक शक्ति के रूप में सांस्कृतिक विशेषता (Ethos) को स्वीकार कर एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, और आठ क्षेत्र चित्रित किये, जिनकी

२६. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३०।

२७. डब्ल्यू० डी० हैम्बली, १९३७। उसका संस्कृति क्षेत्र मानचित्र पृ० ३२४, खंड १ के सामने है।

"अनिश्चित सीमायें" सीधी रेखाओं की अपेक्षा हल्की छाया से" दिखायी गयी थीं। जो भी हो, यह प्रथम प्रयासों से बहुत भिन्न नहीं थे। मूल मानचित्र का नवीनतम संशोधन[२८] पिछले पृष्ठ पर उद्धृत किया गया है। अन्य मानचित्रों से इसके परिवर्त्तनों की ओर संकेत किया जा सकता है। होटेंटौट और बुशमैनों में अनेक पहलुओं की एकता होने के कारण, उन्हें एक ही नाम के समूह "खोईसान" के नीचे "जोकि दो होटेंटौट शब्दों, **खोई-खोइन** की धातु का मिश्रित शब्द है, रखा गया है; होटेंटौट नाम उन्हीं के लिए और सान, बुशमैनों के लिए है, जिन्हें वे इस नाम से पुकारते हैं, और जिनके पास जनसमूह के रूप में अपने लिए कोई विशेष नाम नहीं है।" तथापि इन दोनों समूहों की भिन्नताओं ने, इनके कुछ भेदों को क़ायम रखना उचित ठहराया और इस प्रकार इस क्षेत्र को ऐसे प्रस्तुत किया गया :

१. खोईसान
(क) बुशमैन
(ख) होटेंटौट

अन्य प्रधान परिवर्त्तन कांगो और गिनी तट का दो पृथक् क्षेत्रों में विभाजन है; दूसरे क्षेत्र के प्रदेश को कुछ उत्तर की ओर बढ़ा दिया गया है। पहले मानचित्रों के प्रकाशित होने के बाद हुई वैज्ञानिक गवेषणाओं ने इसे उचित ठहराया है। ऊपर दिये गये क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र यह हैं :—

२. पूर्वी अफ्रीकी ढोर क्षेत्र (Cattle area)
३. पूर्वी हार्न
४. कांगो
५. गिनी तट
६. पश्चिमी सूडान
७. पूर्वी सूडान
८. मरुस्थली क्षेत्र
९. मिस्र।

जैसा कि पहले मानचित्रों में है, उत्तरी अफ्रीका के तट की पट्टी को, उसका यूरोप और निकटपूर्व से घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध होने के कारण, पृथक् कर दिया गया है।

एशिया को छः सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटा गया है।

१. साइबेरियन (पुरा-साइबेरियन)
२. दक्षिणी-पश्चिमी (दक्षिणी पश्चिमी एशिया की आरामतलब संस्कृतियां)
३. मैदानी (Steppe) केन्द्रीय और दक्षिणी एशिया की पशुपालक खाना-बदोश संस्कृतियां)

---

२८. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९४५ सी०, पृ० ९।

४. चीन (आरामतलब चीनी)
५. दक्षिण-पूर्वी एशियाई इंडोनेशियाई (जो दक्षिण चीन में उत्पन्न हुई लगती हैं तथा चीन से सम्बन्धित हैं)
६. आदिकालीन खानाबदोश (दक्षिण-पूर्वी एशियाई पृथक्कृत प्रदेशों में पायी जाती है)[२९]

इसके अतिरिक्त "सांस्कृतिक-मिश्रण (Culture-blend) के चार प्रमुख क्षेत्र" स्वीकार किये गये हैं। "जहां कि दो या अधिक पृथक् संस्कृतियों के विलयन के फलस्वरूप नई संस्कृतियां विकसित हुई।" यह हैं कोरियन, जापानी, भारतीय और तिब्बती।[३०]

संस्कृति-क्षेत्र की अवधारणा को मैडागास्कर पर सफलतापूर्वक लागू किया गया, यहां तक कि इसकी संस्कृति को बहुत समय तक "समस्त द्वीप में एक-सी" माना जाता रहा। परन्तु बाद में सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चला कि उसमें "सामान्य मिश्रित संस्कृति के सीमान्त कबीलों के साथ...प्रायः स्पष्ट दीखने वाले तीन संस्कृति-क्षेत्र हैं।" यह क्षेत्र जोकि "सामान्य रूप से द्वीप के प्रमुख भौगोलिक और जलवायु के विभाजनों से मेल खाते हैं," इनका नाम पूर्वी तट, अन्दर का पठार, और पश्चिमी तट और सुदूर दक्षिण है।[३१] आदिवासी न्यू जीलैंड का भी मानचित्र बनाया गया है। माओरी की संस्कृति में आठ क्षेत्र पृथक् किये गये हैं; इनमें "भौतिक संस्कृति" के गुण "अधिक प्रबल हैं"।[३२]

इस बात पर विचार करना मनोरंजक है कि वह समुद्री प्रदेश जहां कि समुद्र बाधा की अपेक्षा एक जलमार्ग का कार्य करता रहा है, किस प्रकार संस्कृति क्षेत्रों में बांटे जाते हैं। प्रशान्त, आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया, पौलिनेशिया, माइक्रोनेशिया, मैलेनेशिया और इंडोनेशिया के विशाल प्रदेशों को संस्कृति-क्षेत्रों के समान समूह माना जा सकता है। जैसाकि होइजर ने कहा है,[३३] क्रमबद्ध विश्लेषण से निस्सन्देह इनकी अपेक्षा अधिक निश्चित श्रेणियों की, विशेषकर मैलेनेशिया तथा इंडोनेशिया में, आवश्यकता प्रकट होगी। न्यू गिनी के उपमहाद्वीप के लिए भी पृथक् चर्चा की आवश्यकता होगी।

४

मानचित्रों में दिखाये गये क्षेत्रों की संस्कृतियों का विवरण यहां देना न सम्भव ही है और न उपयुक्त ही। सहज उपलब्ध और पुस्तक के अन्त में दी

---

२९. क्षेत्रों की यह सूची ई० बेकन और ए० ई० हडसन, १९४५ और ई० बेकन, १९४६ का मिश्रण है।

३०. ई० बेकन, १९४६, पृ० १२१।

३१. आर० लिंटन, १९२८, पृ० ३६३।

३२. एच० डी० स्किनर, १९२१।

३३. एच० होइजर, १९४४, पृ० ३२, पृ० ४०।

गयी ग्रन्थ-सूची में सम्मिलित पुस्तकों में से विभिन्न प्रदेशों की निर्दिष्ट संस्कृति के ब्यौरेवार विवरणों को पढ़कर उसका एक अच्छा अनुमान किया जा सकता है। बिना उचित पृष्ठभूमि के संस्कृति-क्षेत्रों को बताने के लिए दिये गये संक्षिप्त विवरण भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हमारा वास्ता संस्कृति की संरचना से है और इस प्रसंग में संस्कृति-क्षेत्र महत्त्वपूर्ण है, चूंकि यह दिखाता है कि किस प्रकार आन्तरिक संगठन की भांति भूमि के विस्तार में भी मानव सभ्यता की एकतायें क़ायम रहती हैं।

अब हम संस्कृति-क्षेत्र के कुछ अन्य पहलुओं की ओर मुड़ते हैं जो हमें संस्कृति के सामान्य अध्ययन में उसकी प्रकृति तथा महत्त्व को समझने में सहायक सिद्ध होंगे। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जबकि समस्त क्षेत्र में संस्कृतियों के विस्तार के बारे में तथ्य प्राप्त हो सके, केवल उसके बाद ही क्षेत्रों को बनाया जा सका। इस पर अधिक विचार करना उपयोगी होगा। आदर्श रूप में विद्यार्थी एक प्रदेश में एक के बाद दूसरे गुण का वितरण देखता है और खोजता है कि किन संस्कृतियों में इनमें से अधिकांश गुण मिलते हैं। यह केन्द्रीकरण बहुत स्पष्टता से संस्कृति-प्ररूपों को पृथक् करते हैं। विद्यार्थी के लिए यह सांस्कृतिक पर्वतों की चोटियां हैं जिनके चारों ओर ये क्षेत्र संगृहीत हैं।

विस्लर की कार्यप्रणाली इसे स्पष्ट करती है। उसने अमरीकी आदिवासी संस्कृति के परिसीमन को खाद्य क्षेत्रों की चर्चा से प्रारम्भ किया। उसके बाद उसने ऐसे शीर्षकों के अन्तर्गत पृथक् सांस्कृतिक गुणों के वितरण पर विचार किया, जैसे कि यातायात की प्रणालियां, वस्त्र और बर्तनों की किस्में, सजावट के डिज़ाइन, वास्तुकला, पत्थर और धातु का काम, ललित कलायें, सामाजिक संस्थायें, कर्मकांड तथा पुराण। फिर उसने इस बात पर विचार किया कि कहां पर एक समान गुणों के अधिकाधिक घने संग्रह मिलते हैं, और यही उसके क्षेत्रों के केन्द्र बने। वह कहता है कि गुण निषेधात्मक या भावात्मक हो सकते हैं। किसी क्षेत्र में एक क्षेत्र के विशिष्ट गुणों का अभाव और दूसरे क्षेत्र के गुणों की भावात्मक अभिव्यक्तियां उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। जब हम एक क्षेत्र में व्याप्त संस्कृति का विवरण देते हैं, तब भी इन दोनों श्रेणियों में संतुलन करना पड़ता है। जब हम केन्द्र को छोड़ क्षेत्र की सीमाओं को ढूंढते हैं, तब निषेधात्मक और भावात्मक दोनों ही गुणों को ध्यान में रखना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

मैदानी क्षेत्र में विस्लर ने इकतीस क़बायली समूह गिनाये हैं। इनमें से उसने ग्यारह को "क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति को व्यक्त करनेवाले" माना है, जो इस प्रकार हैं: एसिनबोइन, अरापाहो, ब्लैकफुट, चेयेन, कोमांशे, क्रो, ग्रोस वेंत्रे, किओवा, किओवा-अपाशी, सरसी और टेटोन-डकोटा। मोटे तौर पर यह परिसीमित मैदानी क्षेत्र की ऊपरी-दक्षिणी ध्रुवरेखा के बीच से एक रेखा बनाते हैं। उनके पूरब की ओर "अधिकांश भावात्मक गुणों वाले लगभग चौदह कबीले हैं......और इसके अलावा इनमें कुछ निषेधात्मक गुण भी हैं, जैसे कि मिट्टी के बर्तनों और बेंत के काम का सीमित प्रयोग; कुछ थैलों का कातना और बुनना;

अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत कृषि; टिपि के स्थान पर घास, छाल या मिट्टी से छाये हुए अधिक बड़े तथा अधिक स्थायी घर; पानी ले जाने के कुछ प्रयास; और सूर्य-नृत्य न करने की प्रवृत्ति है, पर उसके स्थान पर यह मक्का के उत्सवों, शमन-वादी कार्यक्रमों और ग्रेट लेक्स कबीलों के मिडेविन को मनाते हैं।"

ध्रुवरेखा के पश्चिम में अन्य कबीले हैं, जिनमें "भांड कला" (Pottery) का अभाव है, पर वे ऊंचे किस्म का बेंत का सामान तैयार करते हैं, वे भैंसों पर बहुत कम, किन्तु हिरणों और छोटे पशुओं पर अधिक आश्रित हैं। वह जंगली घास के बीजों या अनाजों का अधिक प्रयोग करते हैं, टिपियों के स्थान पर खस या चटाई से ढके सायबान बनाते हैं और समग्र-रूप से अपने पूर्वी पड़ौसियों के सूर्य-नृत्य और अन्य आनुष्ठानिक व्यवहारों की ओर प्रवृत्त नहीं हैं।"[३४]

कबीलों के इन तीन समूहों की संस्कृतियों में भिन्नताओं के बावजूद पर्याप्त सदृशतायें हैं। केन्द्रीय ध्रुवरेखा की संस्कृति से, उसके साथ लगे हुए क्षेत्रों के गुणों में भिन्नतायें मुख्यतः स्पष्ट हैं। इसी कारण उन्हें सीमान्त संस्कृतियां कहा गया है—संस्कृतियां जोकि उन लोगों की संस्कृतियों से जिनकी जीवन-रीतियों को केन्द्रीय या विशिष्ट समझा जाता है, पर्याप्त रूप में मिलती हैं, किन्तु जैसे-जैसे वह केंद्रीय क़बीलों से दूर होती जाती हैं, उनकी भिन्नता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। यह, जैसा कि हम पहले बता भी चुके हैं, इस तथ्य को व्यक्त करता है, कि सहवर्तिता दूसरी संस्कृतियों से अधिक ग्रहण करने को प्रोत्साहित करती है।

क्षेत्रों को स्थापित करने और उनके विशिष्ट लक्षण बताने में यह आवश्यक नहीं है कि हम "विशिष्ट" गुणों से अधिक-से-अधिक मेल खानेवाली बातों को ढूंढें। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक निर्दिष्ट क्षेत्र में बसनेवाले क़बीले का जीवन एक विशेष दिशा में ऐसा ढला होता है कि यह अभिरुचि का केन्द्रीकरण ही उसे पृथक् क्षेत्र में रखने के लिए पर्याप्त होता है। ऐसी दशाओं में एक संकुल की प्रबल भूमिका, एक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के लिए उनकी जीवन-रीति को एक लक्ष्य और युक्ति प्रदान करती है और उनके अस्तित्व में एक प्रधान और एकता लाने वाली शक्ति है।

पूर्वी अफ्रीका के ढोर-संकुल में एक ऐसा ही प्रबल तत्त्व मिलता है। ढोर ही आदमी की हैसियत को बताते हैं, जैसाकि बाहिमा लोगों में था कि मुखियाओं को निर्दिष्ट प्रदेश के बजाय निर्दिष्ट ढोरों की संख्या पर शासन करने के लिए नियुक्त किया जाता था, या जैसाकि ज़ुलू में है, जहांकि एक व्यक्ति की माता के विवाह के अवसर पर दिये गये ढोरों की संख्या से पद निर्धारित होता है। बा-इला लोगों में आदमी के पास एक बैल होता है जिसे कि वह अपने प्रिय बच्चे की भांति पालता है, वह उसे अपने झोंपड़े में सुलाता है तथा उसका नाम लेकर

---

३४. सी० विस्लर, १९२२, पृ० २१८–२०।

पुकारता है। जब यह आदमी मर जाता है, तो उस बैल की खाल उसका कफ़न बनती है और उसका मांस उसके मृत भोज में प्रयुक्त होता है।

इस क्षेत्र की भाषा में ढोरों की प्रतिष्ठा के महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, इवांस-प्रिचर्ड ने एक विशेष किस्म की गाय या बैल के लिए चालीस भिन्न शब्द गिनाये हैं[३५] जिनमें से प्रत्येक एक बैल या गाय के भिन्न रंग का सूचक है। इस क्षेत्र में रहनेवाले लोगों की कविता के रूपक ढोरों के संकेतों से परिपूर्ण हैं। यहां एक डिंडिगा सैनिक गीत उद्धृत किया जा रहा है। यह युद्ध से पहले पूर्णिमा के चांद की मनौती के अनुष्ठान का अंश है, जिसका अनुवाद जे० एच० ड्रिबर्ग ने किया है :

स्वर्ग की श्वेत गाय तुम चरी हो समृद्ध चरागाहों में
और जो तुम छोटी थी बन गयी महान् हो।
स्वर्ग की श्वेत गाय, तुम्हारे सींग हैं पूरे मुड़े
वृत्त में, और जुड़े हुए हैं एक हो।
स्वर्ग की श्वेत गाय, हम फेंकते हैं तुम्हारी ओर वह धूलि
तुम्हारे चरणों ने जिसे है कुचला हमारे ग्रामों में।
स्वर्ग की श्वेत गाय, ग्रामों को अपना आशीर्वाद दो
जिन्हें तुमने ऊंचे से देखा है हमारी गायों के स्तन
भारी हों और जिससे हमारी स्त्रियां आनन्दित हो सकें।[३६]

ढोरों के महत्त्व का यह अर्थ नहीं है कि गुणों की वह एकता जो किसी एक संस्कृति-क्षेत्र को दूसरे से पृथक् करती है, यहां पर नहीं है। ढोर-संकुल के प्रभाव से बाहर पड़ने वाले अनेक गुणों का विश्लेषण दिया जा सकता है, जिस प्रकार कि विस्लर ने उत्तरी अमरीका की मैदानी इंडियन संस्कृतियों के भावात्मक और निषेधात्मक गुणों की सूचियां बनायी हैं। यदि एक निर्दिष्ट प्रदेश में भावात्मक तथा निषेधात्मक गुणों की एक साथ उपस्थिति एक संस्कृति-क्षेत्र को मानने के लिए आवश्यक समझी जाय, तो निस्संदेह पूर्वी अफ्रीका का प्रदेश इसके उपयुक्त है। इसके अलावा, उन क़बीलों को पृथक् करना सम्भव है जहां कि यह गुण प्रबल ढोर-संकुल के साथ उतनी ही तीव्रता से पाये जाते हैं जितना कि संस्कृति-केन्द्र के लिए अपेक्षित है। ऐसा है कि पूर्वी अफ्रीका का लम्बा संकरा क्षेत्र बीच में एक भूमि की पट्टी से, जिसमें टिसीटिसी मक्खी रहती है, बंट गया है। अतः यहां ढोरों का रहना असम्भव है और यहां पर पायी जाने वाली संस्कृतियों को इस पट्टी के उत्तर दक्षिण की संस्कृतियों की अपेक्षा हमें कम प्रतिनिधित्व करने वाली वर्गीकृत करना होगा। किन्तु केन्द्रीय ध्रुवरेखा के साथ-साथ न्वार, लांगो, बुनियोरो, अंकोले, नन्दी, मसाई और सुक जैसे कबीले "विशिष्ट" ढोर-संस्कृतियों की उत्तरी

---

३५. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४०, पृ० ४१–५।
३६. जे० एच० ड्रिबर्ग, १९३०, पृ० ४४।

श्रेणी को बनाते हैं और दक्षिण की ओर इला, मशोना, बसूटो और जुलू तथा अन्य कबीले एक दूसरा संस्कृति-केन्द्र बनाते हैं।

हिन्द महासागर के तट की ओर पूर्वी अफ्रीकी संस्कृतियां "सीमांत" (Marginal) बन जाती हैं। उत्तर की ओर पूर्वी अफ्रीकी क्षेत्र के गुण इतने अदृश्य रूप से पूर्वी हार्न और पूर्वी सूडान में घुलमिल जाते हैं कि उनके लिए कोई विशेष सीमा ठहराना कठिन है। पश्चिम की ओर भिन्न स्थिति है जहांकि कांगो के वन और दक्षिणी मरुस्थल ढोरों पर आधारित संस्कृति के विस्तार में कठिन बाधायें पैदा करते हैं और इस प्रकार एक स्पष्टतः निश्चित सीमा को दिखाना सम्भव बनाते हैं।

अतएव हमारे पास भौगोलिक दृष्टि से एक परिसीमित क्षेत्र है और इसकी सांस्कृतिक अन्तर्वस्तु भी इस प्रकार से निश्चित है, जोकि परिभाषा की सभी मांगों को पूरा करती है। उसके अतिरिक्त, यहां पर लोगों के लिए ढोर का महत्त्व एक ऐसे संकुल को उपस्थित करता है जोकि लोगों के चिंतन में सर्वोपरि है। इस प्रकार इस क्षेत्र की संस्कृतियों को वर्गीकृत करने में इस संकुल का उतना ही प्रभावशाली उपयोग हो सकता है जितना कि गुणों के प्रचलित संग्रह का जोकि वितरण के रूप में कितने ही तर्कसंगत क्यों न हों, तथापि जिन लोगों की संस्कृति का हम अध्ययन करते हैं उनके मन में उनका कोई स्थान नहीं है, जैसाकि हम अब देखेंगे।[३७]

५

संस्कृति-क्षेत्र के सम्बन्ध में कुछ चेतावनियां दे देना भी जरूरी है, चूंकि नासमझी से इस उपयोगी यंत्र का प्रयोग गंभीर भ्रान्तियां उत्पन्न कर सकता है। सबसे पहले तो यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि संस्कृति-क्षेत्र मूलतः एक युक्ति है जोकि विद्यार्थी द्वारा अपने न्यासों को संगठित करने और एक विस्तृत पृष्ठभूमि में, एक महाद्वीप या एक द्वीप प्रदेश में संस्कृतियों के विस्तार को दिखाने के लिए प्रयोग में लायी जाती है। इसका अर्थ है कि अपने आप में यह क्षेत्र केवल विद्यार्थी के मन में विद्यमान है, और उसमें रहने वाले लोगों के लिए इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। इस प्रकार संस्कृति-क्षेत्र कोई "प्रारम्भिक राष्ट्रीयता" नहीं है, जैसा कि इसे कहा गया है। यह कोई जानबूझकर बनाया गया समूह नहीं है। इसके बजाय यह एक काल्पनिक रचना है, जोकि जिन लोगों पर लागू की जाती है, प्रायः सबसे पहले वही उसे अस्वीकार करते हैं। इसके लिए एक विस्तृत परिवेश की—जिसमें कि उनकी जीवन रीतियां विद्यमान हैं, जानकारी जरूरी है, जोकि किन्हीं भी लोगों को प्राप्त नहीं होती। इसके लिए एक संस्कृति के उन व्यौरों के बजाय जिन्हें कि उसके निकटतम रहने वाले देखते हैं, संस्कृतियों के बीच सदृशताओं तथा भिन्नताओं पर आंख रखना जरूरी है। जब ध्यान सूक्ष्म व्यौरों पर केन्द्रित होता है, क्षेत्र निश्चित मदों की राशि में छिप जाता है।

---

३७. इन न्यासों के पूर्ण विवेचन के लिए देखिये, एम० जे० हर्सकोवित्स १९२६।

दूसरी चेतावनी "सांस्कृतिक केन्द्र" (Cultural Centre) और "सीमांत संस्कृति" की अवधारणाओं की प्रकृति से संबंधित है। संस्कृति-क्षेत्र की भांति यह भी काल्पनिक रचनायें हैं। इस की भांति उनमें भी वही जनवृत्तशास्त्रीय सत्यता है और मनोवैज्ञानिक यथार्थता का अभाव है। यही वह निषेधात्मक तत्त्व है जो कि इन दो विचारों की सीमितता को समझने की आवश्यकता बताता है। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि संस्कृति-केन्द्र वह स्थान है जहांकि गुणों का संग्रह पाया जाता है, न कि वह स्थान जहांकि किसी क्षेत्र के लोग सबसे समृद्ध जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत, एक सीमांत संस्कृति वह है जहांकि पड़ोस के क्षेत्र के गुणों को पहचाना जा सकता है।

संस्कृति-क्षेत्र के विचार को यूरोपीय अमरीकी समूहों पर लागू करने में कई कठिनाइयां अनुभव की गयी है। अनुभव ने बताया है कि जहां लोगों के बीच भौगोलिक भेदों का वितरण बड़ी जनसंख्याओं में अत्यन्त विशेषीकरण के फलस्वरूप स्तरीकरण से आक्रान्त है, वहां यह उपयोगी नहीं है। क्षेत्र संस्कृतियों और विशेषतः उप-संस्कृतियों में भेद दिखाने के लिए प्रयोग में आने वाले कई मानदंडों में से एक मानदंड है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य में औद्योगिक केन्द्र कृषि क्षेत्रों से भिन्न हैं, फिर भी उनमें इतनी अधिक सांस्कृतिक सदृशतायें हैं कि संस्कृति-क्षेत्रों के क्रम में उनकी भिन्नतायें अपेक्षाकृत छिप जाती हैं। यहां पर किसी सामाजिक वर्ग या पेशेवाले समूह का विशिष्ट व्यवहार महत्त्वपूर्ण है। ऐसे उदाहरणों में स्थानीय भिन्नताओं के आधार पर बनी भेद की श्रेणियां स्पष्टतः अव्यावहारिक हैं, और उनके स्थान पर कृत्यात्मक रूप से संगत श्रेणियां व्यवहार में लायी जानी चाहिएं।

अन्तिम बात, जिसकी चेतावनी देना आवश्यक है, वह एक गत्यात्मक युक्ति के रूप में संस्कृति-क्षेत्र के प्रयोग से सम्बन्धित है। प्रारम्भ में यह पूर्णतः विवरणात्मक था और एक निर्दिष्ट समय पर पायी गयी संस्कृतियों के वर्गीकरण में इसका प्रयोग होता था। कालभेद के अभाव पर जोर दिया जाता था तथा इससे इस अवधारणा की उपयोगिता की मूलतः पुष्टि होती थी। यहां पर संस्कृतिशास्त्रीय विचारधारा के संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय के "संस्कृति-वृत्त" (Culture Circle) को संस्कृति-क्षेत्र से पृथक् समझना चाहिए। यह सम्प्रदाय न केवल "संस्कृति-संकुल" के भौगोलिक वितरणों की ही कल्पना करता है, प्रत्युत् विभिन्न क्षेत्रों में इन तत्त्वों के कल्पित स्तरीकरण के अध्ययन द्वारा सांस्कृतिक विकास के इतिहास की भी सूक्ष्म परीक्षा करने का प्रयत्न करता है।

क्रोबर ने भी एक सीमित पैमाने पर और न्यासों पर कहीं अधिक नियंत्रण के साथ संस्कृति-क्षेत्र के अध्ययन में काल के अंश को लाने का प्रयास किया है। उसके इस मत से कोई भी असहमत न होगा कि केवल विवरण, जोकि संस्कृति-क्षेत्र अवधारणा का उद्देश्य रहा है, अपने आप में लक्ष्य नहीं है। यदि हमें संस्कृति की प्रकृति और कार्य को समझना है, तो उसकी प्रक्रिया का विश्लेषण

भी होना चाहिए। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने क्षेत्र की अवधारणाओं में सांस्कृतिक गहनता (Intensity) और चरम सीमा (Climax) की अवधारणा भी जोड़ दी हैं। जिस रीति से संस्कृतियां और क्षेत्र अपना कथित स्तर (Level) प्राप्त करते हैं, वह रीति गहनता में प्रकट होती है।

"एक अल्प-गहन संस्कृति की तुलना में एक अधिक-गहन संस्कृति में प्राय केवल अधिक सामग्री—अधिक तत्त्व या गुण—ही नहीं, बल्कि अपने लिए अधिक विशिष्ट सामग्री और साथ ही सामग्रियों के बीच अधिक निश्चितता और स्पष्टता से स्थापित अन्तःसम्बन्ध भी होते हैं। समय की सही गणना, धार्मिक पुरोहित शासन क्रम (Religious hierarchy) सामाजिक वर्गों का एक समूह, विस्तृत सम्पत्ति कानून, इसके उदाहरण हैं।"[३८]

"चरम सीमा" को विवरणात्मक शब्द "संस्कृति-केन्द्र" का गत्यात्मक पर्याय माना जा सकता है। यह क्षेत्र का वह भाग है जहां कबीलों की "संस्कृति की "अन्तर्वस्तु (Content) की अधिकता है और संस्कृति की अन्तर्वस्तु का अधिक विकसित तथा विशेषीकृत संगठन है—दूसरे शब्दों में, संख्या में कहीं अधिक तत्त्व हैं और अधिक स्पष्टता से व्यक्त अन्तःसम्बन्धित प्रतिमान (Patterns) हैं।"[३९] "औसत से अधिक विकासों" को वह केन्द्र मानता है जिनसे कि सांस्कृतिक उद्दीपन प्रवाहित हुए हैं और जैसे-जैसे सीमांत प्रदेश के पास में आते जाते हैं, उनकी गहनता कम हो जाती है और अगले केन्द्र के उद्दीपनों का सामना करना पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि चरम-सीमा का विचार संस्कृति-क्षेत्र की सबसे कठिन समस्या, सीमाओं के बनाने के हल में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। क्या "गहनता" को भी लोगों के मूल्यों को वस्तुगत रीति से व्यक्त करने और इन मूल्यों को एक-दूसरे के विरुद्ध संतुलित करने में प्रयुक्त किया जा सकता है या नहीं, यह दूसरी बात है। इसी प्रकार यह प्रश्न है कि क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध के विश्लेषण में संस्कृति-क्षेत्र की अवधारणा की उपयोगिता को विस्तृत किया जा सकता है। यह लिखते समय तक ऐसी समस्याओं के अध्ययन में इसके उपयोग को अभीतक स्वीकृत किया गया नहीं समझा जा सकता।

---

३८. ए० एल० क्रोबर, १९३९, पृ० २२२।

३९. ए० एल० क्रोबर, १९३९, पृ० ११४।

अध्याय बाईस

संस्कृति में प्रतिमानीकरण और एकीकरण

प्रतिमान (Pattern) के तथ्य और घटना पर विचार करते हुए, हमें इसके दो भिन्न पहलुओं का सामना करना पड़ता है, जिन्होंने पर्याप्त वाद-विवाद को जन्म दिया है; परन्तु वास्तव में यह दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। प्रतिमान का पहला अर्थ वह रूप है जो कि किसी संस्कृति की संस्थायें विशेषरूप से धारण करती हैं, जैसे कि अमरीकन कहते हैं कि हमारी संस्कृति का प्रतिमान है कि उसमें गिरजे की खिड़कियां सादे शीशे के बजाय रंगीन शीशों की होती हैं। दूसरा अर्थ मनोवैज्ञानिक है, जैसेकि जब वे कहते हैं कि गिरजे के व्यवहार के प्रतिमान के अन्तर्गत हल्की आवाज़ में बातचीत करनी चाहिए। प्रतिमान अवधारणा का यह दोहरा अर्थ हमें संस्कृति के वस्तुगत, संरचनात्मक पहलुओं से लेकर मनोवैज्ञानिक मूल्यों तक का अध्ययन करते समय इस शब्द के प्रयोग की अनुमति देता है।

इसलिए हमें प्रतिमान की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जिसमें हमारी समस्या के दोनों पहलू प्रतिबिम्बित हो सकें। हम ऐसा मानते हैं कि प्रतिमानित संरचना को बताया जा सकता है, चूंकि समस्त संरचना का एक रूप होता है और प्रत्येक रूप की विवरण सीमायें हैं। पर हम यह भी मानते हैं कि प्रतिमानित व्यवहार तथा स्वीकृत प्रत्युत्तर वह उपादान हैं जिनसे संरचनात्मक रूप बनते हैं। जब हम सांस्कृतिक प्रतिमानों को **संस्कृति के तत्त्वों द्वारा ग्रहण किये गये डिजाइनों के रूप में सोचते हैं, जो कि एक समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमानों की एकमतता (Consensus) से इस जीवन रीति को संगति, निरन्तरता और विशिष्ट रूप देते हैं,** तब हम इन दोनों पहलुओं को ध्यान में रखते हैं।

व्यवहार की एकमतता जो संस्कृति की विशेषता है, उसका किस निश्चितता से वर्णन किया जा सकता है, इसे दो समाजों में संस्कृति के एक विशिष्ट पहलू विवाह को नियंत्रित और स्वीकृत करने वाले प्रतिमानों के विवरण से स्पष्ट किया जा सकता है। हम यहां पर अनिवार्यतः विच्युतियों की उपेक्षा कर, क्षेत्र में संस्कृति का अध्ययन करने वाले जनवृत्तशास्त्री की भांति स्वीकृत परम्पराओं का ही विवरण देंगे।

हम सबसे पहले पूछ सकते हैं कि संयुक्त राज्य में रहने वाले योरोपीय-अमरीकी समाज के विशिष्ट भाग में विवाह का क्या प्रतिमान है? सबसे पहले तो समग्ररूप से विवाह दो संविदा-पक्षों (Contracting parties), प्रायः युवकों का निजी मामला है, और दो पारिवारिक समूहों के बीच व्यवस्था नहीं है। व्यक्तिगत पसन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है, और बाह्यतः आर्थिक अवस्था को स्वीकृति

नहीं दी जाती। साथी के चुनाव में रिश्तेदारी या आयु या वर्ग की बाधायें अपेक्षतया कम हैं। विवाह प्रतिमान के अन्य तथ्यों को भी इसी स्पष्टता से बताया जा सकता है। विवाह से पहले "सगाई" की औपचारिक घोषणा होती है, इसमें पुरुष स्त्री को उपहार के रूप में एक कीमती अंगूठी देता है। यहां पर सगाई एक प्रकार की अन्तरिम अवधि है जिसमें कि दोनों व्यक्ति अपने अवकाश के समय के उपयोग में पारस्परिक प्राथमिकता देते हैं। समूहों में या अधिकृत रूप को छोड़, स्त्री-पुरुषों का मिलना स्वीकृत नहीं है। सगाई हुए दम्पतियों के बीच यौन सम्बन्ध भी अस्वीकृत हैं; नैतिक विधान का यह नियम अनेक अन्य समाजों की रीतियों से भिन्न है।

यह सगाई की अवधि पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए विशेष महत्त्व की होती है, और इसमें कुछ सामाजिक आनुष्ठानिक उत्सव होते हैं जो कि "न्यौछावर" (Showers) कहलाते हैं; अतिथियों द्वारा लाये गये निर्दिष्ट उपहार के अनुसार इनके विशेष नाम हैं जैसे कि "कपड़े की न्यौछावर", "रसोई की न्यौछावर"। यह प्रतिष्ठा का चिह्न है कि सगाई हुई तरुण स्त्री के सम्मान में कई न्यौछावरें दी जायें और इससे उसे भौतिक लाभ भी है। सगाई की अवधि में, दोनों पक्षों के अपने भावी जीवन साथियों के परिवारों के प्रति, विशेषतः उनके माता-पिताओं के प्रति, पारस्परिक कर्त्तव्य हो जाते हैं। परस्पर एक-दूसरे के यहां आया-जाया जाता है, जन्म-दिवस और त्यौहार दिवसों पर उपहार या शुभ-कामना के पत्र भेजने की उपेक्षा नहीं की जाती।

विवाह-संस्कार हो जाने के बाद वैवाहिक स्वागत के लिए निमंत्रण भेजे जाते हैं और यह नियम है कि उन्हें पानेवाले दम्पति को एक उपहार दें। रस्म हो जाने के बाद भेजी गई विवाह की सूचना पर ऐसे उपहारों की आवश्यकता नहीं होती। विवाह प्रधानतः एक धार्मिक संस्कार है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष विवाह की रस्में धार्मिक विवाह की अपेक्षा सरल होती हैं और उन्हें प्रतिमान की विच्युति माना जाता है। संस्कार के समय वधू द्वारा पहने गये वस्त्र वर के वस्त्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। जालीदार परदे और फूलों का गुच्छा जो वह हाथ में लेकर जाती है, और सफेद रंग का (पहले विवाह की दशा में) प्रतीकवाद बड़ा महत्त्व धारण कर लेता है। संस्कार के बाद भोज होता है, जिसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता वर और वधू द्वारा विधिपूर्वक केक का काटा जाना है। संस्कार समाप्त होने के बाद वर-वधू को कुछ तंग करने का भी रिवाज़ है, जैसे कि जब विवाहित दम्पत्ति आवश्यक कार्यों को पूरा कर निवृत्त हो एकान्त में जाने लगते हैं उनके ऊपर चावल और अन्य चीज़ें फेंकी जाती हैं। इस अवधि को "हनीमून" कहा जाता है और इस प्रकार इन घटनाओं के क्रम की समाप्ति होती है।

विवाह के इस प्रतिमान की हम दूसरे प्रतिमान से तुलना करें, जिसका कि इसी प्रकार के संस्थागत अर्थों में विवरण दिया जा सकता है। हम बूगैनविल के

उत्तर में बूका पैसेज के पास के प्रदेश में एक जलडमरूमध्य के सोलोमन द्वीप[1] में बसे हुए मैलेनेशियाई लोगों में प्रचलित प्रतिमान को चुन सकते हैं। यहां पर विवाह मुख्यतः परिवारों का दायित्व है और जब दोनों पक्ष छोटे ही होते हैं— लड़की एक बच्ची, लड़का भी सात या आठ साल से कम आयु का रहता है, सगाई हो जाती है, लड़के का पिता अपने पुत्र को बताये बिना, लड़की की मां से प्रारम्भिक बातचीत शुरू कर देता है। बाद में होने वाले विवाह की भांति, सगाई में भी वर के परिवार की ओर से वधू के परिवार में वस्तुओं का देना होता है; स्पष्ट ही इस लेन-देन में इन बच्चों की कोई दिलचस्पी नहीं होती।

यहां हम विवाह तक होने वाली घटनाओं की एक तालिका दे रहे हैं। यह स्पष्टतः दर्शाती हैं कि सब प्रबन्ध एक निश्चित योजना के अनुसार किये जाते हैं। हर कदम पर आनुष्ठानिक विनिमय, जो इन रस्मों के क्रम को अर्थ प्रदान करते हैं, विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अवसर	लेनदेन
१. सगाई, जब दोनों बच्चे होते हैं, लड़की प्रायः शिशु होती है।	लड़के का पिता लड़की की मां को एक भाला जिसमें बेरोआन (सीपों की तश्तरियों से बनी उत्सवों में प्रयुक्त मुद्रा) की एक डोरी लटकी होती है, भेंट करता है। पान का मसाला चबाया जाता है।
२. लड़के की मां का लड़की की मां के पास प्रथम आगमन। सगाई के शीघ्र ही बाद।	लड़के की मां लड़की को सजाने के लिए सुगन्धित पौधे लाती है। पान का मसाला चबाया जाता है।
३. लड़के की मां का लड़की को पहली बार लाने के लिए जाना। जब लड़की ७ या ८ वर्ष की होती है।	लड़के की मां लड़की के सिर पर लेप करने के लिए रंग लाती है। पान का मसाला चबाया जाता है।
४. लड़की की मां का तृतीय अनुष्ठान के ३ या ४ दिनों बाद, अपनी लड़की को उसकी सास के झोंपड़े में देखने के लिए आना।	लड़के की मां द्वारा लड़की की मां और उसकी साथी स्त्रियों के लिए भोजन और सुपारी दी जाती है।
लड़की अपनी सास के साथ एक महीना या उससे अधिक रहती है।	यदि लड़की भाग जाय तो उसकी मां को मेनक (टारो और नारियल की उत्सव में प्रयुक्त मिठाई) बनाकर लड़के की मां को देनी होती है और लड़की को भी वापस लाना पड़ता है।
५. उत्सव की मुद्रा देने की प्रार्थना, यह लड़की की मां की मर्जी पर है, पर	लड़की की मां लड़के की मां के लिए भोजन भेजती है, जिसमें सूअर का मांस भी होता

१. बी० ब्लैकवुड, १९३५, अध्याय ३, पृ० ८२–१३१।

प्रायः स्तन बढ़ने के पहले चिह्नों पर।	है, यह इसका संकेत है कि मुद्रायें देने का समय आ गया है।
६. लड़के की मां अपने भाई और अन्य पुरुष सम्बन्धियों से उत्सव की मुद्रा संग्रह करती है।	लड़के की मां उन सम्बन्धियों के पास सूअर के मांस के टुकड़ भेजती है जिनसे कि मुद्रा की सहायता पाने की आशा की जाती है।
७. जैसे ही पर्याप्त मुद्रा संग्रह हो जाती है, लड़के के पक्ष के लोग लड़की के पक्ष के लोगों को मुद्रा देने और लम्बी अवधि के लिए लड़की को वापिस लाने जाते हैं।	उत्सव मुद्रा की तय की हुई रक़म लड़की के सम्बन्धियों में बांटने के लिए दे दी जाती है, लड़के की मां द्वारा लड़की की मां को निजी भेंट के रूप में छिपा कर एक डोरी मुद्रा दी जाती है। एक डोरी मुद्रा लड़की की मां द्वारा लड़के के सम्बन्धियों को "लड़के का भुगतान करने के लिए" दी जाती है।
८. अगले कुछ सालों में लड़की अपना अधिकांश समय अपनी सास के साथ बिताती है, कभी-कभी अपनी मां से मिलने लौट जाती है।	
९. लड़की और उसके सम्बन्धियों का लड़के की मां को **टेगोआन** का (घर का बाहिरी छोर जिसमें बरामदा होता है, जो प्रायः पुरुषों के लिए सुरक्षित रहता है और स्त्रियां केवल विवाह से सम्बन्वित रस्मों के विशेष आनुष्ठानिक अवसरों पर ही उसका प्रयोग कर सकती हैं) भुगतान करने के लिए आना।	लड़की की मां और अन्य सम्बन्धी लड़के के सम्बन्धियों के लिए **मैनक** और एक ज़िन्दा सूअर और कुछ उत्सव में प्रयोग आनेवाली मुद्रा लाते हैं।
१०. विवाह संस्कार। (प्रायः तब तक नहीं जब तक कि लड़का **उपी** (किशोरावस्था में लड़कों द्वारा सिर पर पहने जाने वाला विशेष शिरस्त्राण) न उतार दे और लड़की पहले मासिक धर्म की रस्म पूरी न कर ले।	टारो की टोकरियों का रस्मी विनिमय। वधू की मां द्वारा वर के सम्बन्धियों के लिए बहुत-सा भोजन दिया जाता है।[2]

हम यहां पर वैवाहिक प्रतिमान के अन्तिम संस्कार के तत्त्वों का ब्यौरा न देंगे, यद्यपि इसकी भी रूपरेखा बहुत-कुछ ऐसे ही लम्बे क्रम में दी जा सकती है, जैसे कि उन घटनाओं की दी गई है, जिनकी परिणति लड़के या लड़की के

---

२. वहीं, पृ० ६५-७।

विवाहित व्यक्तियों के पद तक पहुंचने में होती है। फिर भी इस प्रतिमान के कुछ सामान्य पहलुओं पर विचार करना चाहिए। बहुविवाह का नियम नहीं है, फिर भी वह स्वीकृत है। इन समाजों में कुछ वर्गभेद भी हैं, इसीलिए "लड़के का पिता जो कि **ट्सुनौन** (गांव में सबसे महत्त्वपूर्ण कुल का सदस्य है) अपने लड़के के लिए प्रथम पत्नी के रूप में अपनी हैसियत के बराबर लड़की चुनता है, पर इस विषय में कोई कड़ा नियम नहीं दीखता। यदि उसकी मां तैयार हो, तो एक **ट्सुनौन** लड़की की एक साधारण सदस्य से भी सगाई हो सकती है।" इसका कारण प्रतिमान के एक अन्य पहलू पर जोर देता है, चूंकि "इसमें बातचीत की अन्तिम मंज़िल में एक सामान्य सदस्य की स्थिति की अपेक्षा अधिक मात्रा में उत्सव की मुद्रा दी जाती है।"[3] विवाह के समय लड़की का कौमार्य अक्षत माना जाता है। चूंकि जब वह बहुत छोटी ही होती है, उसकी सगाई हो जाती है। जहां तक लड़कों का प्रश्न है, जबतक वे विवाह की आयु तक नहीं पहुंचते, वे टैबुओं और निषेधों के सूक्ष्म क्रम से घिरे रहते हैं, यह प्रतिबन्ध उन्हें लड़कियों के पास पहुंचने से रोकने में सफल होते हैं।

हम आचार के दो प्रतिमानों पर विचार कर चुके हैं जो कि विभिन्न समाजों में एक ही लक्ष्य को पूरा करते हैं। यदि समाजों को क़ायम रखना हो तो उन्हें इसकी व्यवस्था करनी चाहिए, फिर भी समान लक्ष्यों को पूरा करने में प्रयुक्त साधन इतने भिन्न हैं कि वह केवल अपने ध्येय और पूर्ति में ही मिलते हैं। एक में विवाह का चुनाव व्यक्ति करते हैं, दूसरे में परिवारों द्वारा इसका निर्णय होता है। एक में विवाह की आयु में बहुत विस्तृत भिन्नतायें हैं, दूसरे में वर-वधू की आयु अपेक्षया निश्चित हैं। एक समाज में सगाई तथा विवाह के समय कीमती वस्तुओं का देना गौण और अनौपचारिक है; दूसरे में अनिवार्य और अत्यन्त नियमबद्ध है। फिर भी प्रत्येक में, "उचित" रीति स्पष्टतः स्वीकृत है, और इससे भी बड़ी बात यह है, कि पूछे जाने पर प्रत्येक समाज के सदस्य इस "उचित" रीति को बता सकते हैं।

इस प्रकार का प्रतिमानीकरण हम सभी संस्कृतियों में तथा उनकी सभी विभिन्न अवस्थाओं में पाते हैं। प्रतिमानीकरण कोई कठोर सांचा नहीं है, न ही यह ऐसी ऊंची दीवार है जो कि निकटवर्ती सांस्कृतिक क्षेत्रों में विचरण करने से रोकती है, यह एक आदर्श नमूना है जिसकी रूपरेखा में लोच है और परिवर्त्तन किया जा सकता है, और जिसमें अनुभव सार्थक रूप धारण करते हैं।

२

अब हम एक क्षण के लिए समाज में व्यक्ति की ओर मुड़ते हैं। अपने संस्कृती-करण के अनुभव से उसने समाज द्वारा स्वीकृत अनेक व्यवहार-प्रतिमानों को सीखा है जो कि परिवर्त्तन की स्वीकृति देते हुए भी उसके कार्यों को उसकी संस्कृति की

---

३. वहीं, पृ० ८३।

परिधि में रखते हैं। इस प्रकार समाज ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बना है जिनका व्यवहार, उनकी दैनिक परिस्थितियों में जिनमें से वे गुज़रते हैं, बहुत कुछ एक-सा होता है। फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई भी समाज सर्वथा एक-तत्त्वीय नहीं है। यह स्त्री और पुरुषों से मिलकर बना है। आयुभेद भी भिन्न प्रकार के व्यवहारों को निर्धारित करते हैं, इसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक, या पेशेगत भेद भी।

जीवन के बहुत प्रारम्भ में ही विभिन्न रुचियों, लक्ष्यों और अर्थों को लेकर व्यवहार के प्रतिमानों का प्रशिक्षण प्रारंभ हो जाता है। शैशव अवस्था समाप्त होते ही लड़के लड़कियों की वेषभूषा पृथक् हो जाती है और बाल रखने के तरीके भी बदल जाते हैं। छोटी लड़कियों को गुड़ियों से, छोटे लड़कों को हथियारों व यांत्रिक साधनों से खेलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। छोटी लड़कियां रस्सी से कूदती हैं या गिट्टे खेलती हैं, छोटे लड़के फुटबाल खेलते या ऊंची कूद लगाते हैं। हालांकि सदा ही कुछ ऐसे लड़के रहते हैं जो लड़कियों के खेल पसन्द करते हैं और ऐसी लड़कियां भी जो फुटबाल खेलती हैं। किन्तु बहुत कम लड़के ही लड़कियों की तरह रस्सी पर कूद सकते हैं या बहुत कम लड़कियां ही गेंद के खेल में व्यस्त रह सकती हैं। जो कौशल सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होने के कारण जारी रहने वाले निरन्तर अभ्यास से आता है, वह यहां नहीं है।

बाद के जीवन में विशिष्ट कार्यों में नियमित भिन्नतायें प्रकट होती हैं। किशोरावस्था और किशोरावस्था के बाद के वर्षों के अतिरिक्त जबकि अन्य प्रभाव पड़ने लगते हैं, शाम को मनोरंजन के लिए इकट्ठे हुए व्यक्तियों के समूह दो में बंट जाते हैं। पुरुष अपने मतलब की और स्त्रियां अपने मामलों की चर्चा करती हैं। किसी अवसर पर वह कुछ समय के लिए, जबकि किसी समान रुचि के विषय की चर्चा हो, जैसे कि किसी नागरिक कार्य की, तब वह साथ इकट्ठे हो जाते हैं। किन्तु पुरुष पिता होते हुए भी बच्चों को खिलाने या उनके वस्त्रों की चर्चा में बहुत देर नहीं रुकते, जबकि स्त्रियां कर-नीति या खेलकूद की बातचीत में फंस जाने पर उसे उतना ही अरुचिकर पाती हैं।

आयुभेद के स्तर पर, एक लड़के या लड़की के लिए अपने पिता या माता के मित्र से बातचीत करना दूभर हो जाता है; उन्हें भी अपने मित्र के बच्चे के साथ अकेले छूट जाने पर ऐसी ही असुविधा होती है। बातचीत में यह कठिनाई केवल समान रुचि के अभाव पर बल देती है। यह इस बात को भी सुझाती है कि जब एक नई पीढ़ी अपने से पहली पीढ़ी द्वारा अनुसृत कार्यप्रणाली के प्रतिमान में तब्दीली करती है, तो एक प्रकार का सांस्कृतिक परिवर्त्तन होता है, जिससे कि परस्पर ग़लतफहमी और द्वेष पैदा होता है, विशेषतः जबकि नैतिक मूल्यों का प्रश्न हो। जहां कोई उद्वेगात्मक सम्बन्ध नहीं है, वहां पर भी, विश्वासों, रुचियों और पसन्दों के परिवर्तित प्रतिमान दो पीढ़ियों के बीच तनाव पैदा करते हैं। संगीत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। नवयुवतियों और नवयुवकों का जैज़, स्विंग और बूगीवूगी

से अतिशय प्रेम, उनके माता-पिता को जोकि अन्य प्रकार की "लोकप्रिय" संगीत-शैली में दीक्षित हैं, अत्यन्त अरुचिकर लगता है। इससे कुछ भिन्न स्तर पर कुछ बेसुरे आलाप, जो कि एक युवा संगीतज्ञ सहज ही सीख लेता है और जिनसे तरुण श्रोता अत्यन्त प्रभावित होते हैं, पुरानी पीढ़ी के लोगों को बहुत बुरे लगेंगे।

इसी प्रकार पेशे या वर्ग के भेद विभिन्न प्रतिमानीकरणों को प्रभावित करते हैं। बोली सामाजिक स्थिति को सूचित हो सकती है, और एक "निम्न वर्ग के उच्चारणवाला" व्यक्ति यदि समाज में ऊंचा उठने की आकांक्षा रखता है तो वह इसका ध्यान रखेगा कि उसका उच्चारण का तरीका सुधर जाय। विभिन्न परिस्थितियों के प्रति विशिष्ट भिन्न प्रतिक्रियाओं द्वारा अनिवार्यतः आर्थिक भेद व्यक्त होते हैं। एक खाई खोदनेवाले, और एक साहूकार, एक वकील और उसके दफ़्तर को साफ़ करने वाले भंगी के खाने की आदतें उतनी ही भिन्न होंगी जितने भिन्न कि उनके काम, उन्हें प्राप्त होनेवाला पारिश्रमिक या उनके द्वारा पहने जानेवाले कपड़े हैं। यह असंभव नहीं कि अपनी पत्नियों के प्रति उनके व्यवहारों और अपने बच्चों को सुधारने के लिए प्रयुक्त उनकी विधियों में भी प्रतिमानित भिन्नतायें होंगी, निस्संदेह उन के घर की सजावट, उनके खाली समय का उपयोग और उनके क्लबों व आमोद-गृहों में भी भिन्नतायें होंगी।

किसी निर्दिष्ट समाज में प्रतिमान के इस विभेदीकरण का विस्तार समूह के आकार पर निर्भर है जोकि पुनः इसकी विशेषीकरण की मात्रा को प्रभावित करता है। एस्किमो, आस्ट्रेलियन, बुशमैन, टियरा डेल फ्यूगो या उत्तरी अमरीका के ग्रेट बेसिन के निवासियों में, जिनकी संख्या थोड़ी है, जिनकी टेक्नोलाजी सरल है या जिनका वातावरण कठोर है, उनमें कोई वर्ग या पेशेवार प्रतिमान नहीं हैं, चूंकि उनके समाजों में कोई वर्ग संरचना नहीं है और उत्पादन में कोई विशेषीकरण नहीं है। उनके उपसमूह केवल लिंग और आयु के सार्वभौम भेद पर आधारित हैं। अन्य समाजों में, जहां अधिक साधन स्तरीकरण को सम्भव बनाते हैं, विशेषीकृत प्रतिमान पाये जाते हैं। यह तथ्य कि हम इन समूहों में भेद करते हैं, इसमें यह अन्तर्हित है कि हम उनकी रीतियों में उन स्थायी भेदों को स्वीकार करते हैं जो कि एक निर्दिष्ट समाज में एक समूह को दूसरे समूह से पृथक् करते हैं।

इस प्रकार डाहोमी पश्चिमी अफ्रीकी संस्कृति में स्त्रियों और पुरुषों ने अपने लिये शारीरिक कौशलों, शिष्टाचार के विधानों तथा परिवार और राजनैतिक परिषदों और आर्थिक कार्यों में योगदान की मात्रा को स्पष्ट रूप से पृथक् कर लिया है। पुरुष लोहे का काम, बुनने और कपड़ा सीने का काम करते हैं; वे शिकारी और लकड़ीतराश हैं, वे ज़मीन तोड़ने का कठोर कृषि कार्य करते हैं तथा समुद्र तट पर मछली पकड़ते हैं। स्त्रियां बच्चों की रक्षा करती हैं, बढ़ती फसलों की देखभाल करती हैं, खाना पकाती हैं, बाज़ारों में सामान बेचती हैं तथा मिट्टी के बर्तन बनाती हैं। या एक अन्य उदाहरण लें, किसी बुज़ुर्ग पुरुष से एक पशु-कथा (वह काल्पनिक कथा जिसमें एक उपदेश रहता है) सुनाने के लिए

कहिये, तो वह उत्तर देगा कि ऐसी कहानियां बच्चे सुनाते हैं, और वह जो जानता था, उन्हें बहुत पहले ही भूल चुका है। वस्तुतः वे उसे याद हैं, किन्तु वह अपने पोते-पोतियों को छोड़ अन्य किसी को उन्हें न सुनायेगा। एक प्रौढ़ व्यक्ति को उन्हें सुनाने के लिए कहना उसकी आयु के लिए लज्जाजनक है।

डाहोमी समाज में वर्गभेद प्रतिमानित व्यवहार में भी ऐसी ही भिन्नतायें उत्पन्न करते हैं। निम्न कोटि का व्यक्ति एक उच्चवर्गीय के सामने लेटकर प्रणाम करता है, उच्च ही केवल जूते पहन सकता है, छतरी की छाया में चल सकता है, उस लम्बी चिलम को पी सकता है जो कि उस के पद का प्रमाण है। उच्चवर्गीय डाहोमी अपनी भाषा में संयत और सावधान है, उसकी मुद्रा गंभीर होती है और जिस प्रकार वह अपने चोगेनुमा कपड़े को पहनता या अपने राजदंड को धारण करता है वह बड़ा गर्वीला दीखता है। वह सामान्य व्यक्ति की भांति तेज़ लुभावनी तालों पर नहीं नाचता। डाहोमियों में कहावत है कि मनुष्य जैसे-जैसे समाज में ऊंचा उठता जाता है, उसका नाच संयत और मन्द गति पर होता है।

इस प्रकार किसी एक संस्कृति को पृथक् करने के लिए एक ही प्रतिमान बताना अनुचित है। ऐसी काल्पनिक रचना लिंग, आयु, वर्ग, पेशे या अन्य के भेदा द्वारा निर्धारित व्यवहार के भिन्न रूपों के भम्भड़ में खो जाती है। फिर भी यदि सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाय, तो व्यवहार के अल्पतम समान निर्देशक प्रकट होते हैं। फुटबाल के खेल में दिलचस्पी रखनेवाले पुरुष कमरे के एक कोने में, उनकी पत्नियां बच्चे को खिलाने की विधि की चर्चा करती हुई दूसरे कोने में, सभी एक भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। उन्हें एक से ही भोजन पसन्द हैं, वे एक प्रकार के ही घरों में रहते हैं, एक ही प्रकार के समाचारपत्र पढ़ते हैं; वस्तुतः उनके जीवन की एकताएं उनकी भिन्नताओं से कहीं अधिक हैं। इसी प्रकार डाहोमी मुखिया और सामान्य नागरिक एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, एक ही प्रकार की संगीत शैलियों का आनन्द लेते हैं, ब्रह्मांड को शासित करने वाली एक ही शक्तियों का सम्मान करते और उन्हें स्वीकार करते हैं, एक ही अर्थ-व्यवस्था के ढांचे में रहते हैं।

सांस्कृतिक प्रतिमान की मनोवैज्ञानिक घटना को स्वीकार करने वाले पहले विद्वानों में से सापिर ने यह घोषित कर कि "समस्त सांस्कृतिक व्यवहार प्रतिमानित हैं", एकीकृत करने वाले तत्त्वों के महत्त्व को दर्शाता है। वह निर्देश करता है:

"जब तक कि हम व्याख्या की उन मनमानी रीतियों को यूंही स्वीकार न कर लें जोकि सामाजिक परम्परा हमारे जन्म के क्षण से ही निरन्तर हमें सुझा रही हैं; यह बताना असम्भव है कि एक व्यक्ति क्या कर रहा है। जो कोई इसमें संदेह करता है वह किसी कार्य में लगे हुए आदिवासी समूह के, जिसकी सांस्कृतिक कुंजी का उसे पता न हो, कार्यों का एक सूक्ष्म विवरण बनाने का परीक्षण करे। यदि वह कुशल लेखक है, तो वह जो-कुछ देखता है और सुनता है या सोचता है कि वह देख रहा है या सुन रहा है, उसका एक सजीव विवरण

देने में सफल हो सकता है, किन्तु जो कुछ हुआ है उसके सम्बन्ध के विषय में आदिवासियों द्वारा समझे जाने योग्य और उन्हें स्वीकार्य विवरण देने की सम्भावना उसके द्वारा प्रायः शून्य ही है।"[४]

इस प्रकार की भ्रान्त व्याख्या के अनेक दृष्टान्त हैं। उदाहरण के लिए, हमें पूर्वी अफ्रीका के किकूयू लोगों के प्रारम्भिक अन्वेषकों का ध्यान आता है जिन्होंने बड़ी प्रसन्नता से लिखा कि, उनकी श्रेष्ठ स्थिति को स्वीकार करते हुए पूरे आडम्बर के साथ सैनिक उन्हें उस स्थान पर ले गये जहां कि मुखिया उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उन्हें यह मालूम न था कि यह शत्रुता का चिह्न था और एक सैनिक क़दम था। अर्थात् इन लोगों में मैत्रीपूर्ण मेलजोल के सर्वथा भिन्न रूप हैं। ग्राम में आगन्तुक के आगमन पर बड़ी उदासीनता बरती जाती है। व्यक्ति चुपचाप आराम से अपने मित्र के पास बैठा रहता है, जो कि कुछ काम कर रहा हो, वह उसे समाप्त करके आखिर में सामान्य रीति से उसका स्वागत करता है। प्रारम्भिक योरोपियनों के स्वागत में किकूयू ग्राम के सभी निवासी सैनिक प्रदर्शन में सम्मिलित नहीं हुए थे। न तो स्त्रियां, न बच्चे, न बुजुर्ग पुरुषों ने उसमें भाग लिया था। किन्तु उनके लिए यह कार्य निश्चित रूप से उनकी संस्कृति के प्रतिमानों का एक अंश था, और इस भांति वह समझ में आने योग्य, महत्त्वपूर्ण और पहले से बताया जा सकने वाला था।

यहां यह समझना विशेष महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक समाज में उस समाज के सब लोग उसके उप-प्रतिमानों को जानते और स्वीकार करते हैं तथा उनसे निपट सकते हैं। पुरुष को बच्चों को दूध पिलाने की बोतल के बनाने के सूत्रों के जानने की ज़रूरत नहीं। पर यदि मौक़ा पड़े तो वह उन्हें दूध दे सकता है। हो सकता है कि उसकी पत्नी फुटबाल में इतनी दिलचस्पी न रखे कि वह उसे बातचीत का मुख्य विषय बनाये, किन्तु वह भी ऐसे खेल को देखने में आनन्द ले सकती है। एक डाहोमी बुजुर्ग पशु-कथायें सुनाने की परवाह न करे, पर वह बच्चों को शिक्षा देने में उनके उपयोग को जानता है। मुखिया ज़ोर से नहीं नाचेगा, किन्तु वह सामान्य नागरिकों के नृत्य का आनन्द लेगा और जिनका नृत्य उत्कृष्ट होगा उन्हें पुरस्कृत करेगा।

यदि दो चीजें ध्यान में रखी जायें, तो व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमानों की एकमतता के रूप में संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। पहली तो यह कि जब हम किन्हीं लोगों की संस्थागत जीवन रीतियों की जांच कर रहे हों तो जबतक कि हम अनेक अर्थों में न सोचें, यह अवधारणा स्पष्ट करने के बजाय भ्रान्ति पैदा करती है। दूसरी स्मरणीय चीज़ यह है कि व्यवहार प्रतिमान का अर्थ बाह्य-व्यवहार से अधिक विस्तृत है। इसमें केवल कार्य ही नहीं, बल्कि कार्यों के कारण, वह मूल्य जो कि कार्य की प्रेरणा देते हैं, और

४. ई० सापिर, पृ० ५४६-७।

कार्य द्वारा प्रदत्त अर्थ भी सम्मिलित हैं। इस विस्तृत अर्थ में, हम संस्कृति की ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि यह प्रतिमानों की एक श्रेणी से बनी है, जोकि एक समाज को बनानेवाले सब व्यक्तियों के अभ्यस्त वैयक्तिक प्रत्युत्तरों—प्रेरक, शाब्दिक व विचारात्मक—को व्यक्त करती है। तब हम बिना कठिनाई के यह सोच सकते हैं कि संस्कृति में प्रतिमान का तथ्य, जिस संस्कृति में लोग जन्म लेते हे, उसमें रहनेवालों के व्यक्तिगत व्यवहार के समान तत्त्वों की अभिव्यक्ति है।

३

यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि संस्कृति की संरचना, जिसका विवरण कि पिछले पृष्ठों में दिया गया है, केवल विद्यार्थी के लिए ही विद्यमान है। जबकि स्त्री-पुरुष अपने ही समूह के प्रथासम्मत व्यवहार पर सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं, या अपनी संस्कृति की संस्थाओं का औचित्य सिद्ध करने के लिए युक्ति देते हैं, तो वे अपने जीवन रीति को संभालने वाले संरचनात्मक ढांचे को उसी भांति नहीं समझते जिस भांति कि वे व्याकरण के उन नियमों से, जोकि उनकी भाषा को एक विशिष्ट रूप देते हैं या स्वर, ताल और राग की उस प्रणाली से जोकि उनके संगीत को नियंत्रित करती है, अपरिचित होते हैं।

चूंकि प्रत्येक समूह का जीवन उन लोगों के लिए जो उसमें रहते हैं एकीकृत है, अतः यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि एक संस्कृति में किस प्रकार समन्वय होता है और इस एकता को उसके भागों में बांटने की क्या उपयोगिता है। किसी व्यक्तिगत जीवन रीति पर विचार करते समय हमें उसे समग्ररूप से देखना चाहिए, जोकि उसके भागों के जोड़ से अधिक है; किन्तु जब हम मानवीय सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण करते हैं, तो हम अर्थ से रूप को, और कर्म से स्वीकृति को पृथक् कर सकते हैं। हम सूक्ष्म ब्यौरे के साथ एक इमारत की संरचना को बता सकते हैं, कि वह कैसे बनती है, किन के द्वारा और किन सामग्रियों से, और इस प्रकार गुणों का एक संग्रह हो जाता है जिनके विस्तार को उनके कार्यों का हवाला दिये बिना ढूंढा जा सकता है। या उनके घटक तत्त्वों की उपेक्षा कर हम उन विभिन्न प्रयोगों का अध्ययन कर सकते हैं जिनमें कि लोग इन संरचनाओं को काम में लाते हैं तथा बता सकते हैं कि इनमें से कुछ में रहा जाता है, कुछ में सामान रखा जाता है, कुछ में पूजा के स्थान और कुछ में सरकार के केन्द्र हैं। तब हम कह सकते हैं कि घरों के कार्यों में भिन्नता का विस्तार यहां पर विस्तृत, यहां पर संकीर्ण है, और फिर अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। किन्तु वे मानव प्राणी जिनके व्यवहार से यह संरचनायें निकली हैं, उनका हमारे अध्ययन में कोई स्थान न होगा।

पहले गुणों (Traits) और संकुलों (Complexes) और फिर प्रतिमानों (Patterns) में संस्कृति के विश्लेषण ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि क्या प्रतिमानों को उससे भी अधिक विस्तृत, मनोवैज्ञानिक सूत्रों—संरूप (Configurations) या मूल विषय (Themes) या अन्य स्थापनाओं—के अन्तर्गत

नहीं रखा जा सकता जिन्हें समग्र संस्कृतियों या एक संस्कृति के बड़े विभागों की अल्पतम समान संज्ञाएं समझा जाता है, जोकि एक जनसमूह के व्यवहार के गंभीर स्रोतों का संधान देती हैं। क्या वे संस्थाओं, मूल्य प्रणालियों या लोगों के लक्ष्यों के समूहों की विश्वस्त कुंजी हैं या नहीं, इस पर अभीतक कोई भी सहमति नहीं है। बाद में इस अध्याय में हम ऐसे दृष्टिकोण की उपयोगिता और सत्यता के विषय में दी गई युक्तियों की समीक्षा करेंगे।

फिलहाल हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सांस्कृतिक एकीकरण (Integration) की समस्या के दो पहलू हैं, एक **कृत्यात्मक** (Functional) दृष्टिकोण है जो कि संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करता है, दूसरा **संरूपात्मक** या थीमयुक्त (Configurational या Thematic) दृष्टिकोण है, जोकि सांस्कृतिक एकीकरण के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को दर्शाता है और लक्ष्य और संतुष्टियों के उन सूत्रों को ढूंढ़ने का प्रयास करता है जोकि संस्थात्मक एकता को एक विशेष गुण, वह विशिष्ट "अनुभूति" प्रदान करते हैं, जोकि प्रत्येक व्यक्ति जब वह एक संस्कृति की दूसरी संस्कृति से तुलना करता है, अनुभव करता है।

बी० मैलिनोवस्की ने, जिसका नाम कृत्यात्मक दृष्टिकोण की पद्धति के साथ घनिष्ठतया सम्बन्धित है, इस दृष्टिकोण का विवरण देते हुए लिखा है कि "इसका उद्देश्य मानवशास्त्रीय तथ्यों को विकास के सभी स्तरों पर उनके कृत्यों से, संस्कृति की एकीकृत प्रणाली में उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों से, उस रीति से जिससे कि वह प्रणाली के अन्तर्गत एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, और उस रीति से जिससे कि यह प्रणाली अपने भौतिक वातावरण से संयुक्त है, समझाना है।"

कृत्यात्मक पद्धति के शब्दों में, "संस्कृति की वास्तविक पहचानें इसके अवयवों के जविक सम्बन्ध में, उस कार्य में जोकि उसकी योजना के अन्तर्गत एक ब्यौरा पूरा करता है, और योजना, वातावरण और मानवीय आवश्यकताओं के बीच सम्बन्ध में व्यक्त होती हैं। निरर्थक ब्यौरे समाप्त हो जाते हैं, आकृति, अर्थ और कार्य से सजीव हो जाती है और असम्बद्ध रूप बेकार होकर गिर जाते हैं।"[५]

यह पद्धति उस क्षेत्रीय गवेषणा में जोकि एक पृथक् संस्कृति को समझना चाहती है और उन सम्बन्धों को समझने में जोकि समग्ररूप से संस्कृति के अध्ययन में प्रयुक्त होते हैं, व्यवहार में लाई जाती है।

कृत्यात्मक सिद्धान्त के कई तत्त्वों पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। उदाहरण के लिए, मैलिनोवस्की की प्रणाली में संस्कृति के प्रधान उप-विभाग या पहलू प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता से लिए गये हैं और इनकी पूर्ति ही संस्कृति का अन्तिम कार्य माना गया है। उसने एक ही समय-स्तर पर संस्कृति के अध्ययन पर ज़ोर दिया है और अलिखित इतिहास के पुनर्निर्माण के विरुद्ध युक्ति दी है। हम बाद में

---

५. बी० मैलिनोवस्की, १९२६, पृ० १३२, १३९।

इन बातों पर विचार करेंगे। किन्तु इस बात के निर्धारण की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता कि किस भांति संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व अपने से सम्बन्धित दूसरे तत्त्वों को प्रभावित करता और उन तत्त्वों से प्रभावित होता है।

दक्षिणी अमरीका के डच गायना के बुश नीग्रो की अपेक्षया सरल संस्कृति हमें इस प्रकार के अध्ययन के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करती है।[६] उनकी संख्या थोड़ी है, उनके गांव संयुक्त हैं, उनकी अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्ष हैं जिसमें उत्पादन व उपभोग के कार्यों के बीच मध्यस्थ दखल नहीं देते। उनकी सामाजिक संरचनाओं में एक तात्कालिक परिवार, विस्तृत परिवार और सिब का ऊंचा उठता हुआ सोपानक्रम (Hierarchy) है; **सिब** पर ही सरकारी-संस्थायें आधारित हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मांड एक प्राकृतिक देवताओं की श्रेणी से शासित है, जिनकी गीत और नृत्य से पूजा की जाती है। इनमें अलौकिक शक्तियों के साधनों के रूप में जादू और मृतकों की शक्तियों को भी जोड़ दिया जाता हैं। उनकी कला जोकि प्रधानतः लकड़ी के अत्यन्त अलंकृत उपकरणों में अभिव्यक्त हुई है, अत्यन्त उत्कृष्ट है। मौखिक कलाओं में उनके पास पुराणों और कथाओं का पूरा भंडार है; उनके गायन और ढोल बजाने की विविधता और विस्तार उनके समृद्ध संगीत कोष को दर्शाते हैं। यह संस्कृति जीवित है और तट की पट्टी के यूरोपियनों या भीतर बसनेवाले इंडियनों से बहुत कम प्रभावित है। यहां हम इसके एकीकरणों पर ज़ोर देने के लिए, इसके अफ्रीकी मूल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या जिन दो संस्कृतियों से बुश नीग्रो का सम्पर्क रहा है, उनसे ग्रहण की गई बातों को ध्यान में न रखते हुए, कृत्यात्मक रीति से इस पर विचार कर रहे हैं।

प्रारंभ करने के लिए हम रहने के स्थान जैसे सरल सांस्कृतिक तत्व को ले सकते हैं। बुश नीग्रो का घर अपनी भौतिक आकृति में एक आयताकार ढालू संरचना है जिसमें प्रवेश करने का द्वार इतना नीचा है कि झुकना पड़ता है। उसकी दीवारें ताड़ की पत्तियों के सुन्दर टोकरी बुनने के डिज़ाइनों से बुनी गई हैं, छत छाजी हुई हैं; और उसमें न खिड़कियां हैं, न चिमनी; हवा बुने हुए टट्टों के छिद्रों से आती है और धुआं छप्पर की छत से निकल जाता है। यहां आवास के साथ अनुकूलन के अर्थों में हम सोद्देश्य कृत्य देखते हैं। बिना खिड़की की बुनी हुई दीवारों से इतना प्रकाश मिल जाता है कि हम देख सकें कि कोई क्या कर रहा है, फिर भी घर में ठंडक और अंधेरा रहता है जो कि उष्ण कटिबन्ध की तेज़ धूप से रक्षा करता है। आग का धुआं कीड़े, पतंगों को भगाने का अच्छा साधन है जो कि अन्यथा छप्पर में भरे रहते, और इससे मच्छर भी दूर रहते हैं।

घर के अन्दर बहुत-सा घरेलू, विशेषकर स्त्रियों का, भौतिक सामान रहता है। कोने में सोने के लिए बुनी हुई चारपाइयां पड़ी रहती हैं। नीचे

---

६. एम० जे० और एफ० एस० हर्सकोवित्स, १९३४।

तराशे हुए स्टूल बैठने के काम आते हैं और इन्हें लोगों के इकट्ठा होने पर सरलता से बाहर भी ले जाया जा सकता है। दीवार के छेदों में छोटी-छोटी चीज़ें, जैसे कि अलंकृत कंघे और खाना हिलाने की करछियां, रखी जाती हैं। दीवार के साथ सजाये हुए कद्दू के खोल रखे होते हैं जिनमें कपड़े, चावल या कसावा या तात्कालिक उपयोग के लिए मक्का जैसी चीज़ें रखी रहती हैं। कोनों में डोंगियों की अलंकृत पतवारें रखी रहती हैं और छत के नीचे की कड़ियों में और तुम्बे लटके रहते हैं जिनमें कि ऐसी चीज़ें रखी रहती हैं जो रोज़ काम नहीं आतीं। दरवाज़ों और उनके खम्भों पर पच्चीकारी की हुई रहती है; गांव के मुखिया के दरवाज़े पर उसके गोत्र का प्रतीक या अन्य प्रतीकात्मक डिज़ाइन बने रहते हैं।

घर निवास स्थानों और अन्य सहायक संरचनाओं के संकुल का एक अंश है, ऐसे अनेक संकुल मिलकर गांव का निर्माण करते हैं। इनमें से कुछ संरचनाओं पर क्षण भर के लिए विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। इनमें से एक **गुडू-वोसु**—वह घर है जहां कि एक आदमी अपनी सम्पत्ति रखता है। यह रहने के घर से भिन्न प्रकार से बना होता है, इसकी दीवारें जालीदार होती हैं जिससे कि लोग इनके बीच से शहर से लाई हुई वस्तुओं, अलंकृत ढालों, चाकुओं और अन्य सामानों को, जोकि उसके मालिक को समुदाय में प्रतिष्ठा और पद देते हैं, देख सकें और उनकी प्रशंसा कर सकें। इसका फ़र्श ज़मीन से ऊंचा उठा हुआ और लटठों के ऊपर टिका हुआ लकड़ी का होता है, इसका दरवाज़ा एक **कंडू**-तावीज़ से संरक्षित होता है, और पितृपक्ष के सम्बन्धी को छोड़ कोई भी व्यक्ति, जिसे अपनी सम्पत्ति, स्वास्थ्य या जीवन प्यारा है, इसे नहीं छुयेगा। इस प्रकार का घर, जो स्त्रियों के लिए निषिद्ध है, पुरुषों को अपनी चीज़ें छुपाने और साथ ही प्रदर्शित करने की अनुमति देता है और इसकी टीका करते हुए आदिवासी दोनों लाभों को बताना नहीं भूलते। चूंकि इस प्रकार एक सम्पत्तिशाली पुरुष हर समय मांगनेवाली पत्नियों से अपनी रक्षा करता है। और वह पुरुष जिसका **गुडू वोसु** यह नहीं बताता कि उसमें क्या है या क्या नहीं, वह छिद्रान्वेषी और परेशान करनेवाली पत्नियों से संरक्षित रहता है।

गांव की एक अन्य दर्शनीय इमारत **कुटु-वसु** है। यह सबके मिलने का स्थान है जो किसी की मृत्यु होने पर लम्बे और सूक्ष्म अंत्येष्टि संस्कारों का केन्द्र बन जाता है। यह छाया हुआ, चारों ओर से खुला एक ढांचा होता है। यहां पर दिन में स्त्री-पुरुष समान अभिरुचि के विषयों की चर्चा और गपशप करते हैं और जब सार्वजनिक विषयों का निर्णय होता है तब यहीं पर ग्राम-परिषद् इकट्ठी होती है। यह घर गांव के बीच में होता है। इसके सामने एक खुला चौड़ा अहाता होता है, उसकी रेत हर रोज़ अच्छी तरह साफ़ कर दी जाती है। मृत्यु होने पर यहां पर शव को एक टूटी हुई डोंगी पर एक या दो दिन रखने के लिए जब तक कि उसके लिए मंजूषा (ताबूत) बनकर तैयार न हो जाय, लाया जाता

है। उसके बाद सप्ताह के बाकी दिन वह अपने ताबूत में रखा जाता है। इसी घर से कब्र खोदनेवाले मज़दूर रोज़ जाते हैं और यहीं पर वह "शव ले जाने के लिए" लौटते हैं, और ताबूत को अपने सिरों पर रखते हैं जब तक कि मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा से उसकी मृत्यु का कारण पूछा जाता है या मृत व्यक्ति को इस अभियोग से छूटने की सफाई देनी होती है कि उसने हानिकर जादू किया है। यहां भी बूढ़े पुरुष सारा दिन मृत व्यक्ति के पास बैठकर नाना प्रकार से तख्ते के छेद में बारम्बार बीजों को अदल-बदल या मिलाकर डालते हुए निरन्तर **अदजी-बोटो** का खेल खेलते हैं; और जबतक शव यहां पर रहता है सारा गांव हर रात इकट्ठा होकर उसके सम्मान में नाचता है या धूर्त अनासी की कहानियां सुनाता है, जोकि उसकी आत्मा को आनन्द देती हैं।

हम बुश नीग्रो संस्कृति के उस सरल तत्त्व से, जिससे हमने यह चर्चा शुरू की थी, दूर चले आये। हमने कला, प्रतिष्ठा के आर्थिक आधार, स्त्री-पुरुषों के बीच सम्बन्धों के एक पहलू, राजनैतिक प्रणाली, अंत्येष्टि संस्कारों, खेलों, नृत्यों और लोककथाओं का ज़िक्र किया। यहां पर "ज़िक्र किया" वाक्यांश पर जोर देने की ज़रूरत है, क्योंकि यहां पर हमें कार्य करती हुई संस्कृति की एक क्षणिक झलक मात्र ही मिली है।

यहां पर यह बताने के लिए कि किस प्रकार इस संस्कृति में प्रत्येक तत्त्व एक संतोषजनक और एकीकृत जीवन रीति को बनाने के लिए अन्य तत्त्वों को प्रभावित करत है, इस विवरण को जारी रखना अनावश्यक है। संस्कृतिशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित संस्कृति के अनेक प्रधान विभाजन इस विवरण में आ गये हैं। उक्त संस्कृति के गुण पृथक् रूप से और उन संकुलों में जिनसे वह सम्बन्धित हैं स्पष्ट दिखाई देते हैं। फिर भी जब हम गांव में खड़े होकर जीवन को देखते हैं, तो वह एक ही धारा की भांति बहता है। अपने अवलोकन से उत्पन्न "संस्कृति" की सामान्य कल्पना असम्बद्ध और आकस्मिक नहीं है। रेखायें एक दूसरे को काटती हैं, पर बहुत कम ही वह एक-दूसरे में उलझती हैं। समस्त व्यवहार अर्थपूर्ण है प्रत्येक चेष्टा से कुछ कार्य होता है, प्रत्येक वस्तु का स्थान है और उसकी उपयोगिता है।

४

संस्कृति के गर्भ में जड़ी हुई, साधारणतया अन्तर्हित मौन स्वीकृतियों की अपेक्षा व्यवहार में व्यक्त संस्कृति के तत्त्वों के सम्बन्धों को खोजना और उनका विश्लेषण करना कहीं अधिक सरल है। बेनेडिक्ट, जिसने कि संरूपात्मक दृष्टिकोण का सबसे अधिक विचारयुक्त विश्लेषण दिया है, कहती है।

"किसी भी सभ्यता का सांस्कृतिक प्रतिमान संभावित मानवीय उद्देश्यों और प्रेरणाओं के एक बड़े मेहराब के विशिष्ट भाग का उपयोग करता है, जिस भांति कि... कोई संस्कृति कुछ चुनी हुई भौतिक प्रविधियों या सांस्कृतिक गुणों का उपयोग करती है... चुनाव पहली आवश्यकता है। बिना चुनाव के किसी भी संस्कृति को नहीं समझा जा

सकता और उसके द्वारा चुने हुए उद्देश्य, जिन्हें कि वह अपनाती है, उसके द्वारा इसी भांति चुने हुए प्रौद्योगशास्त्र या वैवाहिक रूपों के विशेष ब्यौरे से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।"[७]

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृतियों में चुनाव उनके चिन्तन में कितना महत्त्वपूर्ण है, जो कि उनके "व्यवहार की हज़ारों मदों को संतुलित और तालयुक्त प्रतिमान"[८] में ढालता है। जब एक सर्वोपरि सिद्धान्त के अन्तर्गत सब मदों को चुना जाता है, एकीकरण घटित होता है।

बेनेडिक्ट ने यह स्पष्ट किया है कि जिस भांति विभिन्न समाजों में विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृतियों के संरूपों को विकसित किया जाता है, उसी भांति एकीकरण की विभिन्न मात्रायें हैं। इसका एक कारण विभिन्न संरूप-वाले समाजों से सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति—"विरोधी प्रभावों के प्रभाव में आना है," जैसा कि स्पष्टतः परिसीमित सांस्कृतिक क्षेत्रों की सीमाओं पर पाया जाता है। या एक प्रवासी क़बीला जोकि "अपने साथियों से छूट कर एक भिन्न सभ्यता के क्षेत्र में अपना स्थान बनाता है", बुनियादी चालकों में इसी प्रकार के दिशा-परिवर्तन को अनुभव करता है।

अब हम संरूपात्मक दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। बेनेडिक्ट द्वारा "सांस्कृतिक प्रतिमान" वाक्यांश का प्रयोग, अन्य मानवशास्त्रियों की गई, इसकी व्याख्याओं से अत्यन्त भिन्न है, जैसा कि हम इस अध्याय के प्रथम भाग में बता चुके हैं। इन भिन्न अवधारणाओं को पृथक् करने के लिए विभिन्न नाम देने के अनेक सुझाव दिये गये हैं। एक ऐसा शब्द जो कि इन पृष्ठों में उपयोगी सिद्ध हुआ है, स्वीकृति (Sanction) है। लोगों की प्रतिक्रियाओं को शासित करनेवाले अन्तर्हित चालकों, प्रेरणाओं "अर्थों की अचेतन प्रणाली को" उनकी संस्कृति की स्वीकृतियां माना जा सकता है। अन्य नाम भी प्रस्तुत किये गये हैं, जो कि अर्थों की भिन्नताओं के बावजूद, उपयुक्त हैं। क्लकहॉन ने सांस्कृतिक घटनाओं को "व्यक्त" (Overt) और "गुप्त" (Covert) पहलुओं में बांटने का सुझाव दिया है। व्यक्त रूप वे संस्थायें और प्रकट तत्त्व हैं जिनके लिए कि वह "पारिभाषिक शब्द प्रतिमान (Pattern) का प्रयोग कठोरतापूर्वक सीमित करने की" पैरवी करता है। गुप्त संस्कृति में वह स्वीकृतियां सम्मिलित हैं जोकि चिन्तन के अचेतन स्तर पर हैं। इनके लिए वह "संरूप" (Configuration) शब्द का प्रयोग करता है। वह कहता है, कि 'एक प्रतिमान इसका सामान्यीकरण है कि लोग क्या करते हैं या उन्हें क्या करना चाहिए; और एक संरूप एक अर्थ में इसका सामान्यीकरण है कि वह 'क्यों' कुछ विशेष कार्य करते हैं या उन्हें 'क्यों' कुछ विशेष कार्य करने चाहिएं।"[९]

---

७. आर० बेनेडिक्ट, १९३४, पृ० २३७।

८. वहीं, पृ० २२३।

९, सी० क्लकहॉन, १९४१, पृ० १२४-८।

दूसरी ओर ओपलर "मूल विषय" (Themes) शब्द के प्रयोग को पसन्द करता है, जो कि आचार या विश्वास में व्यक्त हो "अभिव्यक्तियों" (Expression) को जन्म देते हैं—जोकि "रूढीकृत" और "व्यवस्थित" होने पर "औपचारिक" (Formalised) या जब "संस्कृति द्वारा उनका सही लक्षण, समय या स्थान सावधानी से परिभाषित न हो", तो "अनौपचारिक" होते हैं। वे अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में "प्राथमिक" (Primary), किन्तु लक्षणात्मक या अन्तर्हित अभिव्यक्ति में "प्रतीकात्मक" (Symbolic) हो सकते हैं, और इसी प्रकार "भौतिक" (Material) या "अभौतिक" (Nonmaterial) हो सकते हैं।[10]

यह चर्चायें उस हलचल को बताती हैं जो कि शब्दावलि और दृष्टिकोण में ऐसे संशोधन की इच्छा के बाद शुरू हुई जिससे कि इस तथ्य की व्याख्या हो सके कि संस्कृति, व्यवहार की अभिव्यक्तियों या संस्थाओं में व्यवहार के कार्यान्वित होने से अधिक बड़ी चीज़ है। उन्होंने सांस्कृतिक रहस्यवाद की ऐसी अभिव्यक्तियों, जैसे कि "संस्कृति की प्रतिभा" या उसकी "आत्मा" या उसकी "अनुभूति" का अनुसरण किया है जिसने कि सांस्कृतिक भिन्नताओं और ऐसी स्थापनाओं के आधारभूत कारकों की सिलसिलेवार जांच पर ज़ोर दिया है। सुझाये गये शब्द वस्तुतः केवल नामों से कहीं अधिक महत्त्व रखते हैं। वह हमारी गवेषणा के अवधारणात्मक औज़ारों के दस्ते हैं, इन्हीं पर उनकी सत्यता निर्भर होनी चाहिए। हम ज़रा देखें कि उनका किस प्रकार प्रयोग हुआ है या हो सकता है।

हम यहां पर पहले एक संरूपात्मक अध्ययन पर विचार कर सकते हैं जिसमें कि संस्कृति के एक पहलू, इस उदाहरण में चिकित्सा का, विश्लेषण किया गया है। एक अमरीकी इंडियन, एक मैलिनेशियाई और एक अफ्रीकी संस्कृति के न्यासों का एक विस्तृत संरूप के भाग के तौर पर उपयोग किया गया है। प्रत्येक उदाहरण में इलाज करने का प्रतिमान संस्कृति की विस्तृत आधारभूत स्वीकृतियों से मेल खाता है। इस तरह चेयेन में रोग का प्रमुख कारण "कुओं की प्रेतात्माओं, खच्चर-हिरणों और अन्य प्रेतात्माओं द्वारा छोड़े गये अदृश्य तीर हैं", और उसकी चिकित्सा एक "छोटा अनुष्ठान" है, जिससे यह आशा की जाती है कि वह अनधिकृत रूप से प्रविष्ट हुई वस्तु को बाहिर निकाल देगा। मैलेनेशिया के डोबू किसी अलौकिक प्राणी को रोग का कारण नहीं मानते, किन्तु वे भूत-प्रेत-विद्या (Witchcraft) को उसका कारण बताते हैं। इसलिए वह अपने इलाकों को ऐसा रखते हैं जोकि उन अलौकिक ख़तरों का, जो उनकी संस्कृति में बुनियादी चालकों की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं, मुक़ाबला कर सकें। इसके विपरीत, दक्षिणी अफ्रीका के ठोंगा रोग को मुख्यतः "एक टैबू-परिस्थिति का परिणाम," पूर्वजों द्वारा निर्दिष्ट नियम के उल्लंघन का परिणाम मानते हैं। इन विभिन्न संरूपों के आधार पर यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है :

---

१०. एम० ई० ओपलर, १९४५, पृ० १९८-२००।

"आदिकालीन चिकित्साशास्त्रों के बीच—उनके द्वारा बनाये गये और उनके सांस्कृतिक प्रतिमान से मूलतः प्रभावित चिकित्सा "प्रतिमान" की भिन्नताओं की अपेक्षा "तत्त्वों" की भिन्नतायें कहीं कम हैं. . .रोग को उसकी संकीर्णतम शरीर-क्रियाशास्त्रीय सीमाओं के अन्दर माना जा सकता है. . .या वह प्रकृति द्वारा या उस समाज के सदस्यों द्वारा समाज को आतंकित करनेवाले खतरों का प्रतीक बन सकता है। यह एक साधारण घटनामात्र दीख सकता है या एक देवी का पद प्राप्त कर सकता है। इतिहास के प्रवाह में समाज अज्ञातरूप से रोग को ये विभिन्न स्थान प्रदान करता है।"[११]

क्लकहॉन "गुप्त संस्कृति" (Covert culture) शब्द के अर्थ को उदाहरण द्वारा इस प्रकार दर्शाता है कि वह किस प्रकार नवाहो इंडियनों में अपनी गवेषणा के प्रारम्भिक दिनों में ग्यारह व्यक्तियों के पास भूत-प्रेत-विद्या के सम्बन्ध में सूचना लेने के लिए गया। सात लोगों का उत्तर था, "किसने कहा कि मैं प्रेत-विद्या के बारे में जानता हूं ?" बाद में उसने पच्चीस सूचनादाताओं के सामने यह प्रश्न दोहराया। इनमें से सोलह के उत्तरों ने यही रूप धारण किया। इस प्रतिमान की उपस्थिति को स्थापित कर, उसने बाहर से असम्बद्ध दीखनेवाले, अन्य विशेष परिस्थितियों के उत्तरों के साथ उसे मिला दिया। इनमें से एक यह है कि नवाहो अपने मल, या अपने शरीर से निकलनेवाली अन्य वस्तुओं जैसे कि, नाखूनों, बालों या थूक को छिपाने में सावधानी बरतते हैं। दूसरा यह है कि वे व्यक्तिगत नामों के सम्बन्ध में गोपनीयता रखते हैं। यह सब साथ रखे जाने पर एक संरूप का निर्माण करते हैं जिसे कि क्लकहॉन ने "अन्य व्यक्तियों की दुष्ट इच्छाओं का भय" कहा है। हमें बताया गया है कि यह बहुत कम ही नवाहो की चेतना का अंश बनता है कि वह कह सके कि "यह सब औरों के कार्यों के सम्बन्ध में हमारे चिन्ता प्रकट करने की रीतियां हैं।"[१२]

मूल विषय (Themes) की अपनी अवधारणा को लिपिबद्ध करने के लिए ओपलर ने चिरिकाहुआ अपाशी का उदाहरण दिया है। वह बताता है कि इस संस्कृति का एक मूल विषय यह है कि पुरुष शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टि से स्त्रियों से श्रेष्ठ हैं। इसलिए यदि गर्भस्थ बच्चा पेट के अन्दर बहुत "सक्रियता" दिखाता है तो यह माना जाता है कि वह लड़का होगा। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को कम विश्वसनीय और गृह-कलह का कारण माना जाता है। ऐसा भी विश्वास है कि वह यौन प्रलोभनों से या प्रेत-विद्या के जाल में, अधिक आसानी से फंस जाती हैं। क़बायली परिषदें पुरुषों के लिए हैं, क़बायली नेता भी पुरुष हैं। रास्ते में पुरुषों को प्राथमिकता मिलती है, भोजों में पुरुषों के लिए विशेष स्थान होते हैं, जबकि स्त्रियां जहां-तहां खा लेती हैं। मासिक धर्म की अवधि में स्त्री को

---

११. ई० एच०, एकर्नेक्ट, १९४२।

१२. सी० क्लकहॉन, १९४१, पृ० १२४-५।

पुरुषों के स्वास्थ्य और नर घोड़ों के कल्याण के लिए खतरनाक समझा जाता है। एक अन्य मूल विषय वृद्धावस्था का महत्त्व है, जोकि ऐसे संस्कारों में प्रत्यक्ष होता है जैसे कि कन्या के यौवन प्राप्ति के अनुष्ठानों में, वृद्धों को दिये जाने-वाले सम्मान में, इस विश्वास द्वारा उत्पन्न चिन्ताओं में कि दुष्टात्माओं से आयु छोटी हो जाती है, इत्यादि। फिर भी यह कहा गया है कि इन मूल विषयों का प्रभाव इतना अधिक नहीं है कि वह समाज को असंतुलित कर उसके कार्य को कठिन बना दें। वृद्धावस्था के मूल विषय के प्रभाव को बुद्धिमत्ता और अनुभव के विरुद्ध कार्य को दिये गये महत्त्व से नियंत्रित किया जाता है—ओपलर ने ने इस मूल विषय को "योगदान द्वारा स्वीकृति" (Validation by participation) कहा है; पुरुष की प्रभुता स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में अन्तर्हित दैनिक मानवीय परिस्थितियों से उत्पन्न "नियामक कारकों" द्वारा नियंत्रित रहती है।[13]

जिसे कि हमने "स्वीकृति" (Sanction) कहा है, पर जिसे अभी उद्धृत अन्य शब्दों द्वारा भी उसी प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, इसका एक उदाहरण परोक्ष निर्देशन (Indirection) के सिद्धान्त के अनुसार अनेक भिन्न परिस्थितियों में, पश्चिमी अफ्रीका और नई दुनिया के नीग्रो के प्रत्युत्तरों से लिया जा सकता है। "बहिर्मुखी" (Extrovert) नीग्रो की सहज स्वीकृत पूर्वधारणा के विरुद्ध, यह स्वीकृति उनके व्यवहार को शासित करती है और उस सावधानता को निर्धारित करती है जिससे कि वह अपना जीवन बिताते हैं। परोक्ष निर्देशन अनेक रूप धारण करता है। रूपकों या वक्रोक्ति का प्रयोग जोकि सामान्य बातचीत में, या अदालत में मुक़दमे की पैरवी करते हुए, या बच्चों को उचित व्यवहार सिखाने में और कहावतों के निरन्तर प्रयोग में विशेष रूप से व्यक्त होता है, इसका एक उदाहरण है। हैटीवासी जब किसी की सद्भावना पर सन्देह करता है, वह कहता है, "पहाड़ के पीछे पहाड़ है।" जब बुश नीग्रो दूसरे के प्रति अपना सन्देह व्यक्त करता है, वह कहता है, "कीड़े निरर्थक ही एक करवट से दूसरी करवट नहीं रेंगते," या जब वह एक भावुक व्यक्ति को सावधान करता है, वह कहता है "जिसके उंगलियां नहीं वह मुट्ठी नहीं बना सकता।" पश्चिमी अफ्रीका में प्रायः गानों के द्वारा झगड़े किये जाते हैं, इनमें विरोधी का नाम नहीं लिया जाता, किन्तु वह रूपक और लक्षणा द्वारा अपना अपमान और घृणा पहुंचा देते हैं। पुनः कोई व्यक्ति सीधा प्रश्न नहीं पूछता। जबतक कि तथ्य पर आधारित कोई बात भावी सूचना पाने का रास्ता नहीं खोलती, वह प्रतीक्षा करता और देखता है। डाहोमी के देशी राजाओं की कर-प्रणाली संस्थागत रूपों में व्यक्त स्वीकृति का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। यहां किसी से सीधे यह नहीं पूछा जाता था कि उसकी कितनी सम्पत्ति है, या उसका कितना बड़ा परिवार है, या पिछले साल उसने कितनी बुआई की। परोक्ष पड़ताल से शाही नौकरशाही द्वारा राजस्व एकत्रित करने के

---

१३. एम० ई० ओपलर, १९४५।

सम्बन्ध में अपेक्षित सूचनायें प्राप्त कर ली जाती थीं और राजकीय खज़ाने के लिए किन्हीं भी आय के स्रोतों की उपेक्षा नहीं की जाती थी।[१४] केवल गायना में ही इस संयम को, जोकि परोक्ष निर्देशन की स्वीकृति को रूप देता है, अप्रतीकात्मक भाषा में रखा गया है। एक व्यक्ति ने अपनी संस्कृति के एक सामान्य तत्त्व की चर्चा कुछ समय तक करने के बाद कहा, "मैं अधिक नहीं कह सकता। बहुत पहले हमारे पूर्वजों ने हमें सिखाया है कि जितना जानते हो उसके आधे से अधिक न बताओ, मैं कहीं अधिक कह चुका हूं।"

इसी प्रकार संस्कृति द्वारा सीखे हुए व्यवहार में अन्तर्हित गूढ़ चालकों को खोजते हुए शू ने चीनी और अमरीकी समाजों को उनके विशिष्ट प्रत्युत्तर प्रतिमानों के अनुसार विभक्त किया है, पहले को उसने "परिस्थिति-केन्द्रित", दूसरे को "व्यक्ति-केन्द्रित" की संज्ञा दी है। अपनी पूर्वकल्पना को लिपिबद्ध करने में उसने "कला, विशेषकर चित्रकला, कथा-साहित्य, स्त्री-पुरुषों के व्यवहार-प्रतिमान और विकृत व्यवहार के कुछ रूपों, जैसे कि मद्यपान या अफ़ीम की लत, मानसिक रोगों और आत्महत्या की" जांच की है। शू इस बात पर ज़ोर देता है कि दो जनसमूहों की कलाओं और साहित्य के न्यासों के प्रयोग का उपयोग इस तथ्य पर आधारित है कि "अन्यों की भांति स्रष्टा व्यक्ति भी एक विशेष सांस्कृतिक रचना की कृति है," अतः संस्कृति के यह दो पक्ष बुनियादी तौर से स्रष्टा व्यक्ति से सम्बद्ध समाज के दर्पण, या जैसा कि मनोविश्लेषक कहता है, आरोपण पट (Projective screens) कहे जा सकते हैं। चूंकि यौन व्यवहार और विकृत व्यवहार कला और साहित्य के प्रिय विषय हैं, अतः उनकी "आरोपण पट और वास्तविकता में" पाये जाने वाले सम्बन्धित दृश्यों से तुलना की जाती है जिससे कि अनेक "भिन्न मानसिक जगतों की सही तस्वीर" को और उसके द्वारा उन दोनों के सम्मुख प्रस्तुत परिस्थितियों के प्रति उनकी भिन्न प्रतिमानित प्रतिक्रियाओं को समझा जा सके।[१५]

५

चाहे हम एक संस्कृति की वस्तुगत अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करें या उसकी बुनियादी स्वीकृतियों या उद्देश्यों के विस्तृत दृष्टिकोण से उस पर विचार करें, अपने न्यासों को स्पष्ट करने के लिए और उन्हें एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा के प्रसंग में रखने के लिए हम किसी भी शब्दावलि का प्रयोग करें, सांस्कृतिक एकता तथा सांस्कृतिक एकीकरण का तथ्य पुष्ट होता है। उसके वाह्य रूप आन्तरिक अर्थ का निर्माण करते हैं, स्वीकृतियां आचार को ढालती हैं और जीवन समग्र रूप से चलता रहता है जो मानव प्राणियों को खोजने और पूर्णता प्राप्त करने की अनुमति देता है।

---

१४. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३८ बी, जिल्द १, पृ० १०७-३४।
१५. एफ० एल० के० शू, १९५३, पृ० १०, ५१-१७ :

जिस भांति जीवित प्राणियों का विद्यार्थी अपने नमूनों को काट कर पृथक् करता है उसी प्रकार संस्कृति के विद्यार्थी को एक वैज्ञानिक की हैसियत से अपने न्यासों को श्रेणियों में बांट लेना चाहिए। संस्कृति एक जीवित शरीर नहीं है, इसलिए इस सदृशता पर अधिक ज़ोर नहीं देना चाहिए। यह पर्याप्त है कि अपनी प्रयोगशाला में प्राणिशास्त्री की भांति संस्कृतिशास्त्री यह स्वीकार करे कि जब वह विषय का उसके विभिन्न भागों में अध्ययन कर रहा है, वह जीवित समग्रता नहीं है। वह इस प्रकार अपनी वैज्ञानिक स्वाधीनता का प्रयोग करता है कि जब वह पुनः कार्य करनेवाले सम्पूर्ण पर आता है, वह कम-से-कम यह जान सकता है कि यह भाग क्या हैं, किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा किस प्रकार वह एक-दूसरे से मिलकर सम्पूर्ण को बनाते हैं। इन्हीं अर्थों में उसे संरचना व वितरण का अध्ययन करना चाहिए। और इसी भावना को लेकर वह पुनः अन्य क्षेत्र में संस्कृति को औपचारिक पहलुओं में—उन संस्थाओं में जिन्हें कि हम पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए सब संस्कृतियों में देख सकते हैं, बांटता है, और एक निर्दिष्ट उद्देश्य को पूरा करने की एक रीति की दूसरी रीति से तुलना करता है, तथा एक ही लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मानवजाति द्वारा प्रयुक्त विभिन्न साधनों का मूल्यांकन करता है।

अध्याय तेईस

सांस्कृतिक उद्‌गम की समस्या

जब १८७७ ई० में ल्यूइस एच० मार्गन ने मानव संस्थाओं के विकास के अपने अध्ययन "प्राचीन समाज" को लिखा, उसने एक पूर्वकल्पना प्रस्तुत की जोकि बाद में सामाजिक या सांस्कृतिक विकासवाद (Cultural evolution) के नाम से प्रसिद्ध हुई। मार्गन की भूमिका का पहला वाक्य था, "पृथ्वी पर मानव जाति की अत्यन्त प्राचीनता निर्विवादरूप से स्थापित हो चुकी है।" वह आगे कहता है, "अब यह ज्ञात है कि हिमीकरण की अवधि में यूरोप में मानव जाति विद्यमान थी और बहुत सम्भव है कि वह उसके भी पहले, उससे पहले भूगर्भ युग में प्रकट हुई है।" फिर वह कहता है जिसे कि उसकी पूर्वकल्पना का सार कहा जा सकता है: "वास्तव में यह ज्ञान आरण्यकों (Savages) के बर्बरों (Barbarians) के साथ और बर्बरों के सभ्य मनुष्यों के साथ सम्बन्धों के बारे में प्रचलित विचारों को बहुत-कुछ बदल देता है। विश्वसनीय साक्षी के आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि मानव जाति के सभी क़बीलों में आरण्यक अवस्था उसी भांति बर्बर अवस्था से पहले आई, जिस भांति सभ्यता से पहले बर्बरवाद आया। मानव नस्ल के इतिहास का स्रोत एक है, उसका अनुभव एक है, उसकी प्रगति एक है।"[1]

इस उद्धरण में एक अन्य उद्धरण भी जोड़ा जा सकता है जो उस दृष्टिकोण को बताता है जिसका कि मार्गन और वैसा ही मत रखने वाले अन्य लोगों को इस पूर्वकल्पना को प्रस्तुत करते समय, कि मानव अपनी वर्तमान स्थिति पर निम्न अवस्थाओं से उच्चतर अवस्था में होता हुआ पहुंचा है, मुक़ाबला करना पड़ा। वह कहता है:

"जानता हूं कि यहां पर प्रस्तुत विचार सदियों से सामान्यतया स्वीकृत एक मान्यता का खंडन करते हैं। यह मानव-पतन की पूर्वकल्पना है जो कि बर्बरों और असभ्यों की उपस्थिति की, जोकि मूल मानव के कल्पित मान से शारीरिक और मानसिक रूप में कहीं अधिक नीचे पाये गये हैं, व्याख्या करती है। परन्तु यह कभी भी तथ्यों द्वारा पुष्ट वैज्ञानिक प्रस्थापना नहीं थी।"
"आर्य और सामी क़बीले जोकि मानव प्रगति की प्रधान धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं," ऐसा इसलिये करते हैं, "चूंकि वह अभी तक प्राप्त उच्चतम स्थान तक उसे ले गये हैं।" किन्तु इन लोगों से पहले उनके पूर्वज थे, "और यह मानने के उचित कारण हैं...कि वे बर्बरों के समूह का अभिन्न अंग थे।" अतएव,

---

१. एल० एच० मार्गन, पृ० ५-६।

"जब यह क़बीले स्वयं अपने से बहुत पहले बर्बर और उससे भी पहले आरण्यक पूर्वजों से पैदा हुए, तो सामान्य (Normal) और असामान्य (Abnormal) नस्लों का भेद छिन्न-भिन्न हो जाता है।"[२]

सांस्कृतिक विकासवाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्राणिक विकासवाद की, जिससे कि उसे प्रायः उद्भूत माना जाता है, प्रतिच्छाया मात्र न मानकर, उससे अधिक समझा जाय। टेगार्ट ने बताया है कि किस भांति डार्विन की कृति 'जीवजातियों का उद्गम' (*The Origin of Species*) जो १८५९ ई० में प्रकाशित हुई, "वह इतनी देरी से आई कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृतिशास्त्रीय अध्ययन के विकास पर उसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा।" वह कृतियां जिन्होंने इस विकास का प्रारम्भ किया, जैसे कि जर्मन विद्वान् वैट्ज़, बेस्टियन और बैखोफन या अंग्रेजी विद्वान् मेन, मैक्लीनान, और टाइलर की कृतियां, १८५९ और १८६५ ई० के बीच प्रकाशित हुई। इसका अर्थ है कि जिस समय डार्विन अपनी गवेषणाएं कर रहा था और अपने निष्कर्षों को संगठित कर लिख रहा था, लगभग उसी समय वे भी आयोजित हो रही थीं और लिखी जा रही थीं। टेगार्ट ने यह भी दर्शाया है कि सांस्कृतिक और प्राणिशास्त्रीय विकासवाद कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अर्थों में भी भिन्न हैं। वह बताता है कि "१८७३ ई० में टाइलर और १८७६ ई० में मैक्लीनान डार्विन के ऊपर निर्भरता का खंडन कर रहे थे और प्रगति या विकासवाद की उससे पहली परम्परा के साथ अपना सम्बन्ध क़ायम रख रहे थे। वस्तुतः जातिशास्त्र (Ethnology) में प्रस्तुत विकासवाद की अवधारणा डार्विन की रचनाओं में प्रस्तुत विकासवादी अध्ययन के प्रकार से भिन्न है।"[३] टेगार्ट ने इस भेद को संक्षेप में इस तरह स्पष्टता से प्रस्तुत किया है :

"डार्विन-पूर्व परम्परा में "विकासवाद" शब्द "प्रगति" का पर्याय है, और जीवजातियों की निश्चितता के सिद्धान्त से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। जातिशास्त्र ने "विकासवाद" के अध्ययन में कोम्त का अनुसरण किया है जोकि मानव जाति की प्रगति के मार्ग और "विचार क्रम" (Ideal series) की रचना से सम्बन्धित है।"

सांस्कृतिक विकासवाद की चर्चा में यह हमारे सामने एक और महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित करता है जिसकी कि प्रायः उपेक्षा की जाती है। मानव के वह अधिकांश विद्यार्थी, जिन्होंने इस रोचक खोज में भाग लिया कि मानव अपनी प्रारम्भिक आरण्यक अवस्था से किस प्रकार ऊंचे चढ़ा और आगे भी श्रेष्ठतर संसार में बढ़ता रहेगा, प्रसिद्ध सद्भावनावाले व्यक्ति थे। उन्होंने कभी यह कल्पना नहीं की कि सीढ़ी की निचली पैड़ी वाले लोग जो कि अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों में पिछड़ गये हैं, उनकी क्षमता में कोई अन्तर्हित हीनता है। संक्षेप में, उनकी यह स्थिति थी कि **सांस्कृतिक भिन्नताओं में जन्मजात नस्ली भिन्नतायें अन्तर्निहित नहीं हैं।**

---

२. वहीं, पृ० ५१३-१४।

३. एफ० जे० टेगार्ट, १९४१, पृ० ११०-११।

परन्तु हम पूछते हैं, कि क्या सांस्कृतिक श्रेष्ठता व हीनता को मानना और विशेषरूप से इन भिन्नताओं के नस्ली आधार से इन्कार करना तर्कविरुद्ध नहीं है ? यदि केवल शारीरिक प्ररूप और संस्कृति की एकता प्रस्तुत की जाती तब ऐसा ही होता। इन विद्वानों ने अपने बाद के विद्वानों की भांति यह अनुभव किया कि व्यवहार के सीखे हुए गुणों और जन्मजात शारीरिक लक्षणों में एक बुनियादी भिन्नता है, यद्यपि उन्हें वह अवधारणायें सुलभ नहीं थीं कि वह इस रूप में इन सिद्धान्तों को रख सकते। कुछ उदाहरणों में, जैसे कि स्पेंसर की प्रणाली में, जिसमें कि कल्पित विकासवादी रेखा निर्जैविक (Inorganic) से जैविक (Organic) और उससे अधिजैविक (Superorganic) (सांस्कृतिक) घटना की ओर बढ़ी, नस्ल और संस्कृति के बीच भेद नहीं किया गया। पर जब मार्गन कहता है, कि "एक बुद्धि और एक मानव रूप के सिद्धान्त और समान उद्‌गम के कारण मानव अनुभव के परिणाम समान नस्ली स्तर पर सभी कालों और क्षेत्रों में समान हुए हैं,"[४] उसने "मानवरूप" का प्रयोग जिन अर्थों में हम "शारीरिक प्ररूप" या "नस्ल" शब्द का प्रयोग करते हैं किया है। और उसके वाक्यांश "नस्ली स्तर" का अर्थ "सांस्कृतिक स्थिति" है।

२

किसी भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की भांति सामाजिक और सांस्कृतिक विकासवाद का सिद्धान्त भी अनेक मस्तिष्कों का कार्य था और उसने अनेक रूप धारण किये। उसके बहुविदित व्याख्याताओं ने विस्तृत क्षेत्र पर कार्य किया और मानव-सभ्यता के विकास को उसकी समग्रता में बताने का प्रयास किया। अन्यों ने अपने प्रयासों को संस्कृति के विशिष्ट पहलुओं तक सीमित रखा और कला या राज्य या धर्म के विकासवाद पर विचार किया।

इन विद्वानों ने संस्कृति के भिन्न पहलुओं का ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि अपनी स्थिति को पुष्ट करने के लिए प्रयुक्त तथ्यों की व्याख्याओं में भी यह भिन्न-मत थे। यहां स्मरण कराना आवश्यक है कि प्राग्-इतिहास (Pre-history) की अपनी चर्चा में हमने यह बताया था कि अभौतिक संस्कृति की प्रारम्भिकतम अभिव्यक्तियां निर्विवाद रूप से लुप्त हो गई हैं। भाषा, परिवार का स्वरूप, राजनैतिक संरचना, धार्मिक विश्वास, मूल्य प्रणालियां, संगीत और लोकवार्ता वे अदृश्य तत्त्व हैं जिनके सही रूपों को एक अलिखित परम्परा का दूसरी परम्परा द्वारा स्थान लेने पर पुनःप्राप्त नहीं किया जा सकता।

सामाजिक और सांस्कृतिक विकासवादी अपनी प्राचीन उच्च स्थिति को सुरक्षित न रख सके, चूंकि अधिक संशोधित प्रविधियों और अधिक पूर्ण न्यासों के संग्रह ने उनकी बुनियादी पूर्वकल्पनाओं को असत्य ठहरा दिया। आओ हम देखें कि वह कौन-सी सिद्धान्त व पद्धति की स्थापनायें थीं। सांस्कृतिक विकासवाद

---

४. एल० एच० मार्गन, पृ० ५६२।

के अध्ययनों में सदैव विद्यमान तीन उल्लेखनीय तत्त्वों को पृथक् कर हम सर्वोत्तम रीति से उनकी विस्तृत रूपरेखा पर विचार कर सकते हैं :

१. यह स्थापना कि मानव जाति का इतिहास संस्थाओं और विश्वासों का एकमार्गी क्रम (Unilinear sequence) दर्शाता है, जिनके बीच आज देखी जानेवाली सदृशतायें **मानव की मनोवैज्ञानिक एकता** के सिद्धान्त को व्यक्त करती हैं।

२. **तुलनामत्क पद्धति** जिसके द्वारा मानवीय संस्थाओं और विश्वासों के विकासवादी क्रम को विद्यमान लोगों की अभिव्यक्तियों से, जिन्हें उन **पहली सांस्कृतिक अवस्थाओं** के जीवित व्याख्याता माना गया है, जिनमें से कि अधिक उन्नत समाज गुज़रे हुए माने जाते हैं, तुलना कर स्थापित किया जाता है।

३. अपने विकास में अधिक उन्नत समझे जाने वाले लोगों में पुरानी प्रथाओं के जीवित रहने की अवधारणा; इन **उत्तरजीविताओं** (Survivals) को इसकी साक्षियां समझा जाना चाहिए कि यह समाज उन अवस्थाओं से गुज़रे हैं जिनकी प्रथायें उनकी वर्तमान जीवन रीति में अवशेष के रूप में प्रकट हुई है।

१. सांस्कृतिक विकासवाद के प्रत्येक व्याख्याता ने अपने द्वारा कल्पित वह काल्पनिक रूपरेखा प्रस्तुत की जिससे कि वह मानव जाति का विकास हुआ मानता था। इनमें से कोई भी मार्गन के "प्राचीन समाज" में दी गई रूपरेखा के समान निश्चित नहीं है। मार्गन ने मानवीय सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की तीन अवधियों—आरण्यक (Savagery) बर्बरता, (Barbarism) और सभ्यता (Civilization) को पृथक् किया है। इनमें से पहली दो, प्रथम, मध्यम और अन्तिम इन तीन अवधियों में बंटी हुई हैं और उनमें समाज की वह अवस्थायें बताई गई हैं जिनके लिए आरण्यक व बर्बरता के निम्न, मध्य और उच्च स्तर नाम प्रयुक्त किये गये हैं।

मार्गन द्वारा स्वीकृत अपवादों के बावजूद, वह इस प्रणाली को इसलिए न्यायसंगत मानता था कि इससे वह, केवल इन श्रेणियों की प्रारम्भिक अवधि को छोड़, जिसे कि आरण्यक का निम्न स्तर कहा गया है, और जो कि इन अर्थों में काल्पनिक भी था कि इस शीर्षक के अन्तर्गत कोई भी जीवित लोग विद्यमान नहीं हैं, वह संसार के विभिन्न भागों की संस्कृतियों को इनमें से किसी एक श्रेणी में आसानी से रख सकता था। अन्य श्रेणियों में क़बीलों की तुलनात्मकता उस,

"संचित साक्षी का अंश मानी गई जो कि यह दर्शा रही थी कि मानव जाति की प्रधान संस्थायें विचारों के कुछ प्राथमिक सूक्ष्म तत्त्वों से विकसित हुई हैं; और उनके विकास का मार्ग और रीति पूर्वनिर्धारित हैं, और मानव मस्तिष्क के तर्क और उसकी शक्तियों की आवश्यक सीमितताओं द्वारा भिन्नता की संकीर्ण सीमाओं में परिसीमित है।"[५]

हम सांस्कृतिक विकासवाद के पहले सिद्धान्त, मानव जाति की मनोवैज्ञानिक

---

५. वहीं, पृ० १८।

एकता के परिणामस्वरूप विकास की निश्चित अवस्थाओं की कल्पना की इससे अधिक स्पष्ट व्याख्या की आशा नहीं कर सकते।

मार्गन की अपेक्षा टाइलर ने इस दृष्टिकोण को कहीं अधिक परीक्षणात्मक रूप से प्रस्तुत किया है:

"वह सिद्धान्त जिसको मैं सीमाओं के अन्तर्गत सिद्ध करने का साहस कर रहा हूं, वह सरलरूप से यह है कि आरण्यक स्थिति कुछ अंशों में मानव जाति की प्रारम्भिक अवस्था को दर्शाती है, जिससे कि उच्चतर संस्कृति क्रमशः विकसित या उद्विकसित हुई है। यह प्रक्रिया पहले की भांति आज भी नियमित रूप से जारी है, जिसका परिणाम यह दर्शाता है कि समग्र रूप से प्रतिगामिता के ऊपर प्रगति हावी रही है।"[6]

टाइलर की युक्ति में सर्वत्र यह विशेषण मिलता है कि उसके निष्कर्ष अभी काल्पनिक प्रकार के ही हैं:

"उन विद्यार्थियों को भी जो कि दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि आरण्यकों से लेकर हम तक नस्लों के पैमाने पर सभ्यता का सामान्य मार्ग मानव जाति के कल्याण की दिशा में प्रगति है, अनेक अपवाद स्वीकार करने पड़ते हैं। औद्योगिक और बौद्धिक संस्कृति अपनी समस्त शाखाओंमें किसी भी तरह एक समान उन्नति नहीं करती और वस्तुतः उसके विभिन्न ब्यौरों में उत्कृष्टता प्रायः उन अवस्थाओं में पायी जाती है जो कि समग्र रूप से संस्कृति को पीछे रखती हैं... कई जनसमूहों के बीच मानसिक और कलात्मक संस्कृति की तुलना करने में भी भलाई और बुराई का संतुलन करना सरल नहीं है।"[7]

विकासवादी पूर्वकल्पना के प्रयोग में स्पेंसर का दृष्टिकोण कहीं कम नमनीय है; जो हमें अन्तिम उदाहरण देता है। अपने दृढ़ संस्कृत्यभिमान के अन्तर्गत, जो कि उसके चिंतन की विशेषता है, वह कहता है, "कि बच्चों की-सी तुच्छ कल्पनाओं और विकृत निष्कर्षों की व्यक्त अराजकता जो सर्वत्र विद्यमान अन्धविश्वासों के विपुल भंडार का निर्माण करती है, वह इस प्रकार व्यवस्थित हो जाती है, जबकि हम उस पर अपने उन्नत दृष्टिकोण से विचार करने के बजाय, आदिकालीन मानव के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।" अपने प्रारम्भिक पृष्ठों में विस्तारपूर्वक चर्चा किये गये "अन्धविश्वासों" का संक्षेप देकर वह कहता है, "इन विश्वासों का उद्गम कितना व्यवस्थित है, इसे इस प्रकार निरीक्षण द्वारा जाना जा सकेगा कि विकासवाद का नियम इनमें ठीक उसी प्रकार लागू है, जसे कि अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं में। मेरे कहने का तात्पर्य केवल यही नहीं कि अन्धविश्वासों की प्रणाली निरंतर वृद्धि से उत्पन्न होती है, जिसकी प्रत्येक अवस्था अगली अवस्था की ओर ले जाती है, किन्तु मेरे कहने का तात्पर्य है कि विकास-

---

६. ई० बी० टाइलर, १८७४, जिल्द, १, पृ० ३२।

७. उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७-२८।

वाद का सूत्र, घटित परिवर्तन से मेल खाता है।" इस प्रकार पिण्ड (Mass) और संगति की वृद्धि के साथ, अनिश्चित से निश्चित में विश्वास का एकीकरण होता है जिससे कि "इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता...कि अन्य वस्तुओं की भांति अन्धविश्वासों की प्रणाली भी विकसित होती है।"[८]

२. **तुलनात्मक पद्धति**—विकासवादियों की प्रणाली में दूसरे तत्त्व की यह मान्यता थी कि जीवित अनक्षर लोग मानव की प्रारम्भिक अवस्था की साक्षी देते हैं। इसी पद्धति के क्रमबद्ध प्रयोग से हम "आदिकालीन" मानव को अपना समकालीन पूर्वज मान लेते हैं। विकासवादियों के मत में यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि "आदिकालीन" (Primitive) मानव "प्राचीनतम" (Primeval) था। उसके रुद्ध सांस्कृतिक विकास ने विद्यार्थियों द्वारा समग्र रूप से मानवजाति के प्रारम्भिक जीवन के उदाहरण देने के लिए "आरण्यक" लोगों की प्रथाओं के विवरण देना सम्भव बनाया।

टाइलर ने तुलनात्मक पद्धति की कार्य प्रणालियों के उपयोग का ब्यौरेवार वर्णन किया है। वह लिखता है:

"सभ्यता के अध्ययन में पहला क़दम उसे ब्यौरों में बांटना और उन्हें उनके उपयुक्त समूहों में वर्गीकृत करना है। इस प्रकार हथियारों की जांच करते समय, उन्हें भाले, डंडे, गुलेल और तीर-कमान इत्यादि श्रेणियों में वर्गीकृत करना चाहिए; वस्त्र-कलाओं में चटाई, जाली, और सूतों को बनाने और बुनने की कई श्रेणियां बनानी चाहिएं; पुराणों को ऐसे शीर्षकों के अन्तर्गत बांटा जाता है जैसे कि सूर्योदय और सूर्यास्त के पुराण, ग्रहण लगने के पुराण, भूचाल-पुराण, स्थानीय-पुराण जो कि किसी काल्पनिक कथा द्वारा स्थानों के नामों को बताते हैं, नामदाता पुराण जो कि एक क़बीले के नाम को किसी काल्पनिक पूर्वज के नाम में बदल कर उस क़बीले की पूर्वजता को बताते हैं...सैकड़ों की सूची में से यह कुछ विविध उदाहरण हैं, और यह जनवृत्तशास्त्री का कार्य है कि वह भूगोल और इतिहास में उनके वितरण तथा उनके बीच विद्यमान सम्बन्धों को जानने के उद्देश्य से ऐसे ब्यौरों का वर्गीकरण करे।"[९]

ये उद्धरण यह स्पष्ट करते हैं कि विकासवादियों की सामग्रियों के विश्लेषण का नामकरण करने के लिए "तुलनात्मक पद्धति" शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है। यह भी स्पष्ट है कि यह पद्धति बाद के इस दृष्टिकोण से, कि संस्कृतियां जीवन की एकीकृत रीतियां हैं, और कि यह सर्वथा भिन्न टुकड़ों के ढेर नहीं है, जिन्हें कि संस्कृति के प्रसंग की उपेक्षा कर अध्ययन किया जा सकता है, भिन्न है। धनुषों को वर्गीकृत किया जा सकता है, और उदाहरण के लिए सभी धनुषों को उनकी जटिलता के क्रम से संग्रहालय के एक कमरे में सजाकर धनुष के विकास

---

८. हरबर्ट स्पेंसर, १८९६, जिल्द ७, पृ० ४२३, ४३२-४।

९. उद्धृत ग्रन्थ पृ० ६–८।

और संस्कृति के एक पहलू के उद्विकास के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। हम एक निर्दिष्ट लोगों के संग्रहों को एक साथ इकट्ठा कर सकते हैं, और अन्य लोगों के धनुषों से उनकी समानता और भिन्नता का कोई ख्याल न करते हुए, धनुष का उक्त क़बीले के जीवन में क्या योगदान है, यह बताने के लिए उसका प्रयोग कर सकते हैं। विकासवादियों ने प्रक्रिया के बजाय रूपों के अध्ययन की पद्धति को अपनाया है, और इस अध्याय के अन्त में जब हम उनकी पूर्वकल्पनाओं के विरूद्ध की गई आलोचनाओं की चर्चा करेंगे, तो उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह उनकी बड़ी कमज़ोरी थी।

३. **उत्तरजीविता** (Survival) की अवधारणा अमरीकन विकासवाद की अपेक्षा यूरोपीय विकासवाद की अधिक मुख्य विशेषता थी। टाइलर ने, जिसका ध्यान धर्म, लोकवार्ता, और संस्कृति के अन्य अभौतिक पहलुओं पर केन्द्रित था, इसे एक उपयोगी यंत्र पाया है। इसके अन्तिम महान् व्याख्याता फ्रेज़र ने इसे अत्यन्त विस्तार के साथ विकसित किया। अमरीका में उत्तरजीविता की अवधारणा का अधिक प्रयोग नहीं हुआ। यह होना स्वाभाविक ही था क्योंकि टाइलर, फ्रेज़र और उनके अन्य साथियों से, कल्पित प्रारम्भिक सांस्कृतिक अवस्थाओं के जीवित प्रति-निधि सुदूर देशों में बसे हुए थे और उनकी प्रथायें इंग्लैंड के ग्रामों की प्रथाओं का स्मरण कराती थीं। टाइलर के लिए, इंग्लैंड और यूरोपीय महाद्वीप में यह प्रथायें बौद्धिक क्षेत्रों द्वारा त्यागे हुए अतीत के निष्क्रिय अवशेष थें, जोकि उसके द्वारा बताई गई प्रणाली में एक खिलती हुई जीवन रीति के विकास को दर्शाते थे, जिसे कि वह "सभ्यता" के नाम से पुकारता है। दूसरी ओर मार्गन और उसके अमरीकी समकालीनों के लिए "आदिकालीन मानव" कोई दूर का प्राणी न था, बल्कि उन्हीं का देशवासी था। उन्हें "चाबी ओर बाइबल की दिव्य परीक्षाओं... मिडसमर बौनफायर....मृत प्रेतात्माओं के लिए ब्रेटन किसानों के औल सोल्स सपर"[१०] के अर्थों में प्रारम्भिक अवस्थाओं के विश्वास को लिपिबद्ध करना आवश्यक न था। यही कारण हो सकता है, जैसा कि इस अवधारणा के एक विद्वान् ने कहा है: "जब मार्गन ने उत्तरजीविताओं का बहुत ही कम प्रयोग किया है... वे टाइलर की भांति विकास क्रम में आदिकालीन मानव के पुनरुद्धार के उद्देश्य से सभ्य मानव के व्यवहारों और विचारों में नहीं ढूंढी गई थीं। इसके विपरीत वे एकान्ततः एक आदिकालीन लोगों, हवाईवासियों की संस्कृति में पाई गयी थीं...और उससे भी कहीं अधिक प्राचीन एक अवस्था को स्थापित करने के लिए प्रयोग में लाई गई थी।[११]

उत्तरजीविता के सिद्धान्त ने अनेक रूप धारण किये। इसकी जीवनी शक्ति वस्तुतः इसकी पर्याप्त सत्यता में निहित है। इस तथ्य में कि संस्कृति एक नैरन्तर्य

---

१०. ई० बी० टाइलर, उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६।

११. एम० टी० हौडगन, १९३६, पृ० ८८।

है जोकि बराबर बदलती रहती है, यह अन्तर्हित है कि एक निर्दिष्ट संस्कृति में कुछ तत्त्वों की प्रभुता है जो कि उसके इतिहास के प्रथम चरणों से बाद के चरणों में ले जाये गये हैं। वास्तविक पद्धतिशास्त्रीय कठिनाई तब उपस्थित होती है जब संसार के एक भाग की किसी जीवित प्रथा को दूसरे भाग की एक "सांस्कृतिक विचित्रता" (Social curiosity) का सही समकक्ष मान लिया जाता है। "सामाजिक उद्‌गमों" (Social origins) की अवधारणा का इसी आधार पर समर्थन किया गया था और इसी आधार पर उसे त्यागना पड़ा। तथापि इसका कोई कारण नहीं कि हम इस विवाद में सांस्कृतिक उत्तरजीविताओं या अवशेषों के विचार की, वास्तविक उपयोगिता को मानने से इन्कार करें।

३

जब हम पूछते हैं कि मानव के इतने अधिक विद्यार्थियों ने विकासवाद को अस्वीकार क्यों किया, तब हमें केवल पद्धति के प्रसंग में ही अपना उत्तर नहीं देना चाहिए, प्रत्युत हमें उस काल के बदलते हुए जनमत को भी, जिसमें यह विरोध पनपा, ध्यान में रखना चाहिए। जैसे ही योरोपीय संसार विक्टोरियन काल से बाहर निकला और अमरीकी सीमायें प्रशान्त तक पहुंचीं, प्रगति की उस सर्वांगीण अवधारणा के प्रति सन्देह प्रकट होने लगे, जोकि उस काल में जबकि विकासवाद का प्रभुत्व था मानव विचारों पर छाई हुई थी।

विकासवाद के सिद्धान्त को राजनैतिक क्षेत्र में ले जाया गया, जहां वह अन्य किसी लोकप्रिय वैज्ञानिक पूर्वकल्पना की तरह कठोर हो गया। कार्ल मार्क्स ने मार्गन की रचना को पढ़ा था और इस समय उस पुस्तक के ऊपर उसकी जो टिप्पणियां यूरोप में प्रायः अप्राप्य थीं, वह बाद में मार्क्स के साहित्यिक उत्तराधिकारी फ्रेड्रिक ऐंजिल्स द्वारा लिखित समाजवादी प्रसिद्ध रचना "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति" का आधार बनीं। अवस्थाओं की पूर्वकल्पनाओं को अधिकारच्युत लोगों की आशा के सिद्धान्त में रूपान्तरित कर दिया गया। इस राजनैतिक अर्थ में, सामाजिक विकासवाद का यह अर्थ है कि समाजवादी व्यवस्था में आर्थिक प्रजातन्त्र का मार्ग आरण्यक से बर्बरता के द्वारा और आधुनिक पूंजीवादी औद्योगिक समाजों से भी परे ढूंढना होगा।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक विकासवाद के इतिहास की इस घटना का मानवशास्त्रीय चिंतन पर कम ही प्रभाव पड़ा। सभी वैज्ञानिकों की भांति मानवशास्त्री अधिक प्रभावशाली क्षेत्र-अन्वेषण प्रविधियों के प्रयोग से संकलित नये न्यासों के आधार पर विद्यमान पूर्वकल्पनाओं की खोज करते रहे। उदाहरण के लिए, इन खोजों ने सांस्कृतिक हीनता और श्रेष्ठता की कल्पना को अधिकाधिक असत्य सिद्ध किया। इसने उस संस्कृत्यभिमान की जड़ पर प्रहार किया जो कि किसी निर्दिष्ट संस्कृति द्वारा प्राप्त विकास की "अवस्था" (Stage) का निर्णय करने में बुनियादी तत्त्व था। यही एक बात है जिस पर कि हम उन कारणों पर विचार करते हुए जिन्होंने कि बीसवीं शताब्दी के अधिकांश मानवशास्त्रियों

को अन्ततोगत्वा उन तीनों प्रस्थापनाओं में से प्रत्येक को छोड़ने के लिए बाध्य किया, विचार करेंगे।

१. सांस्कृतिक आदान (Borrowing) के महत्त्व पर अधिकाधिक ज़ोर दिये जाने से विकासवाद की वह एकमार्गी प्रस्थापना, जिसके अन्तर्गत मानव संस्कृति के समस्त पहलुओं को एक निश्चित क्रम में से गुज़रते हुए कल्पित किया गया था, बहुत कुछ नष्ट हो गई। प्रसार (Diffusion) को, जो कि इस सांस्कृतिक परिवर्त्तन की कार्यप्रणाली को नाम दिया गया, किन्हीं भी लोगों की आविष्कार क्षमता की अपेक्षा प्रत्येक संस्कृति में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण पाया गया और "अछूते" (Untouched) समाजों की जीवन रीतियों की तुलना से विकास क्रमों को बताना पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से अग्राह्य समझा जाने लगा। पूछा गया, कि "अछूता" समाज क्या है? यदि दूसरों से ग्रहण करना मानव अनुभव में इतना सार्वभौम है, तो क्या समकालीन लोगों की उन संस्कृतियों के अध्ययन से, जोकि विकास की एक विशिष्ट अवस्था में पहुंच गई समझी जाती है, निश्चित रूप से यह मानना सम्भव था कि यह सदृशतायें प्रसार का परिणाम न होकर स्वतन्त्र विकास का ही परिणाम हैं? वस्तुतः प्रारम्भिक विकासवादी ग्रहण करने के अस्तित्व या अपनी पूर्वकल्पनाओं के लिए उसके निहितार्थों से बेखबर न थे, फिर भी इन विद्वानों और विकासवादी सम्प्रदाय के अन्य लोगों ने जो यह अनुभव किया कि ग्रहण किये गये तत्त्वों के बावजूद, वह मानव प्रगति के मार्ग की रेखा को ढूंढ सकते हैं, इसे बाद में प्राप्त हुए ज्ञान के आधार पर पद्धति शास्त्रीय दृष्टि से अनुपयुक्त कहा जा सका। परन्तु इससे इस इन्कार का औचित्य सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने इस समस्या को देखा और अपनी पूर्वकल्पना के प्रकाश में उसका मुक़ाबला किया।

जहां तक मानव की मनोवैज्ञानिक एकता के शास्त्रीय सिद्धान्त का प्रश्न है, वह इस बढ़ती हुई अनुभूति के विरुद्ध नहीं खड़ा रह सकता कि मानव व्यवहार इस प्रकार प्रशिक्षित है कि जन्मजात व्यवहार से सीखे हुए व्यवहार को पृथक् करना, यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हम देख चुके हैं कि मानव संस्कृति में अवश्य कुछ सार्वभौम तत्त्व हैं, और उनमें से यद्यपि सब को नहीं पर कुछों को अवश्य, मानव शरीर की आवश्यकताओं के साथ देखा जा सकता है। इसके आगे हम यह भी देख चुके हैं कि संस्कृति के इन सार्वभौमों की अभिव्यक्तियां इतनी भिन्न हैं, कि अध्ययन के उद्देश्य से संस्कृति की सदृशताओं को बांटना हमें केवल एक ढांचामात्र प्रदान करता है, जिसपर कि हम लोगों के व्यवहार को संगठित कर सकते हैं, जबकि हम एक विद्यार्थी की हैसियत से इस व्यवहार को संस्थाओं और पहलुओं के रूप में कार्यान्वित करते हैं। इस बाद के अर्थ में मानव की मनोवैज्ञानिक एकता निःसन्देह एक स्वीकार्य अवधारणा है। किन्तु यह अवधारणा सांस्कृतिक गतिशास्त्र के अध्ययन में, जिसमें कि सांस्कृतिक विकासवादियों ने इसका प्रयोग किया है, हमें कहीं भी नहीं ले जाती।

२. तुलनात्मक पद्धति को इसलिये त्याग दिया गया, क्योंकि यह माना

जाने लगा कि यह सांस्कृतिक यथार्थता से इन्कार करना है। सामान्यतः इसमें सांस्कृतिक प्रसंग से पृथक् कर और उनके अर्थों पर बहुत कम ध्यान दे, तथ्यों की तुलना की जाती थी। ऐसा नहीं सोचा जाना चाहिए कि तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग केवल विकासवादियों तक ही सीमित था। उत्तरजीविता की अवधारणा की भांति विकासवाद के कुछ सबसे बड़े विरोधियों ने भी इसे ग्रहण किया है। लेवी-ब्रूल ने जो कि सामाजिक विकासवादी न था, अपनी आदिकालीन मनोवृत्ति की पूर्वकल्पना को लेखबद्ध करने में इस पद्धति का प्रयोग किया है। कट्टर अंग्रेज व जर्मन प्रसारवादियों ने भी इसका निरन्तर उपयोग किया है; बहुत बार तो उन्होंने सामाजिक विकारवादियों की अपेक्षा कहीं कम सावधानी से इसका प्रयोग किया है। तथापि यह प्रसारवादियों के हाथ में भी उतना ही असंतोष-जनक है जितना कि कल्पित सामाजिक विकासवादी क्रम को लेखबद्ध करने में। सामग्रियों का कोई भी प्रयोग जिसमें सांस्कृतिक प्रसंग और अर्थ को मान्यता नहीं मिलती है, त्याग देना चाहिए।

३. सांस्कृतिक विकासवाद के विरुद्ध प्रबल युक्तियां विकासवादियों द्वारा देश और काल के उन कारकों का विचार करने से इन्कार करने के कारण दी गई हैं, जोकि जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृति के गतिशास्त्र के किसी भी अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार मार्गन के अनुसार, मातृवंशीय प्रणाली जोकि "जेंस" (Gens) (अर्थात् माता को सिब) के साथ सम्बन्धित है, आस्ट्रेलियावासियों की विशेषता थी, और वह "कुछ अपवादों को छोड़ कर अमरीकी आदिवासियों में आरण्यक के उच्चस्तर और बर्बरता के निम्न स्तर में क़ायम रही।" मध्य बर्बरता में इंडियनों में "जैसे-जैसे इस काल के बहुविवाही परिवार एकविवाही रूप धारण करने लगे, मातृपक्ष से पितृपक्ष में वंश परिवर्तन करना प्रारम्भ हुआ"। उच्च बर्बरता की अवधि में "ग्रीसियन क़बीलों में वंश पितृपक्ष में परिवर्तित हो गया।" ऐसा माना जाता है कि पैतृकता को सुनिश्चित करके उसके द्वारा सम्पत्ति के उत्तराधिकार को नियमित करने की आवश्यकता के कारण एकविवाही परिवार बाद में विकसित हुआ। "वंशों के दो नियमों द्वारा प्रदर्शित दो छोरों के बीच, तीन भिन्न जाति-शास्त्रीय अवधियां आ जाती हैं जो कई हज़ार वर्षों में फैली हुई हैं।"[१२]

इस संस्था के लिए मार्गन द्वारा बताया गया विकास क्रम निम्न प्रकार है (इसे नीचे से ऊपर की ओर पढ़ा जाता है)।

आधुनिक सभ्यता (एकविवाही), जिनमें पिता से वंश चलता है।

↑

ग्रीसियन क़बीले, जिनमें पिता से वंश चलता है।

↑

अमरीकी इंडियन, जिसमें माता के पक्ष से पिता के पक्ष में वंश बदल जाता है।

↑

आस्ट्रेलियावासी के (जेंस) जिनमें माता के पक्ष से वंश माना जाता है।

---

१२. एल० एच० मार्गन, पृ० ६७।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह क्रम सर्वथा काल्पनिक है, चूंकि इसमें से केवल बाद की दो मदें ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बन्धित हैं। वास्तविक कालक्रम के प्रसंग में इस क्रम को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:

आधुनिक सभ्यता अमरीकी इंडियन आस्ट्रेलियाई

↑

ग्रीसियन क़बीले

इस प्रकार रखने पर, यह तत्काल देखा जा सकता है कि यह कोई क्रम नहीं है, बल्कि एक निर्दिष्ट काल के स्तर पर विद्यमान न्यासों की तुलना है, जिसे कि पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार रखा गया है।

मार्गन की अपेक्षा टाइलर ने इस तथ्य को अधिक अच्छी तरह समझा है। सभ्यता के "माप के साधनों" के रूप में प्रयुक्त मानदंडों की चर्चा करते हुए उसने अपने समय की सामान्य बुद्धि से इस मामले को निपटाया है। "यूरोप और अमरीका का शिक्षित जगत् व्यवहारतः सामाजिक क्रम के एक छोर पर अपने राष्ट्रों और दूसरे छोर पर आरण्यक क़बीलों को रख कर एक मानदंड निर्णय करता है, और बाकी मानव जाति को, जिस अंश तक वह आरण्यक या सभ्य जीवन से कम या अधिक सदृश हैं, उन दोनों सीमाओं के बीच में रखता है।"[१३] सांस्कृतिक विकासवाद के किसी भी समालोचक ने अपनी समालोचना को टाइलर की अपेक्षा अधिक पैने शब्दों में नहीं रखा, जिसमें उसने स्वीकार किया है कि "प्रगति" को मापने का आधार संस्कृत्यभिमान था। हम एक बार इस संस्कृत्यभिमान को त्याग दें, तो इससे प्राप्त पद्धति अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होगी।

४

प्रारम्भिक विकासवादियों द्वारा संस्कृति के अध्ययन में दी गई भावात्मक देनों को प्रायः ऐसे स्वतः स्वीकृत मान लिया जाता है कि विशिष्ट पद्धति की समस्याओं और विकासवाद के दर्शन पर होने वाले वादविवादों में वह ध्यान से ओझल हो जाती हैं। विवाद की कोई भी सैद्धान्तिक समस्यायें हों, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों की निम्न सफलतायें थीं:

१. उन्होंने **संस्कृति** की अवधारणा को विकसित किया और यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि मानव समाजों की जीवन रीति के अध्ययन में संस्कृति और नस्ल को आपस में नहीं मिला देना चाहिए।

२. उन्होंने संस्कृति के उन उपविभागों को पृथक् किया जिन्हें हम आज **पहलू** (Aspect) कहते हैं और संस्कृति के अध्ययन में इन अनेक उपविभागों में अन्तर्गत आने वाली समस्याओं पर पृथक् रूप से विचार करने की उपयोगिता प्रदर्शित की।

३. उन्होंने **नैरन्तर्य** (Continuity) और संस्कृति के क्रमबद्ध विकास के

---

१३. उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २६।

सिद्धान्त को, वह सिद्धान्त जो कि सांस्कृतिक गतिशास्त्र के किसी भी यथार्थवादी विश्लेषण में विद्यमान रहना चाहिए, स्थापित किया।

अन्य विद्वानों व मुख्यतः ह्वाइट द्वारा विकासवाद का पुनरुद्धार इस पूर्व-कल्पना की[१४] सजीवता का एक अन्य प्रमाण है। ह्वाइट ने विकासवादी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए ज़ोरदार आन्दोलन किया। अपनी चर्चाओं में उसने विकासवादियों की अवधारणा को अधिक पैना और संशोधित किया। उसका कहना है कि जिन लोगों ने विकासवाद पर आक्रमण किया है उनकी मौलिक भूल यहाँ है कि वह **लोगों के सांस्कृतिक इतिहास से संस्कृति के विकासवाद** को पृथक् करने में असफल रहे हैं। वह संस्कृति के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को असंगत बताता है। उसने मानव की रीतियों का, मनोवैज्ञानिक कारकों का हवाला दिये बिना, "संस्कृतिशास्त्र" (Culturology) के विज्ञान द्वारा अपने आप में अध्ययन करने पर ज़ोर दिया। एक ग्रंथ की समीक्षा करते हुए ह्वाइट ने उसे महत्त्वपूर्ण कहा, चूंकि "यह **संस्कृति** का अध्ययन है व्यक्तित्व या मानव शरीर की प्रति-क्रियाओं का नहीं; संक्षेप में यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बजाय एक संस्कृति-शास्त्रीय अध्ययन है।"[१५]

यह प्रश्न अब भी रह जाता है कि सांस्कृतिक गतिशास्त्र के विद्यार्थी के लिए संस्कृति के विकासवाद के अध्ययन की क्या उपयोगिता है? एकमार्गी विकास स्थापित किया जाय या नहीं, सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर तर्कसंगत क्रमों की कल्पना क्या प्रकाश डालती है? निश्चित अतीत के क्रमों की उपस्थिति से इन्कार करना, विशेषतः भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में, अत्यन्त अयथार्थवादी होगा। किन्तु वह कौन-सा तर्क या तथ्य है जो कि इस पूर्वकल्पना की पुष्टि करता है कि मूलतः वंश पिता की अपेक्षा माता की ओर से ही गिना जाता था? एक अन्य उदाहरण के रूप में हम स्मरण करा सकते हैं कि अपने धर्म की विवेचना में हमने यह देखा है कि किस प्रकार बाद की खोजों ने धर्म के विकास के निश्चित मार्ग की पूर्वकल्पनाओं को एक के बाद एक करके असत्य ठहराया है।

हमारे वर्तमान विषय से सम्बन्धित एक अन्य बात का भी ज़िक्र किया जा सकता है, यद्यपि इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए हमें एक बाद के अध्याय तक प्रतीक्षा करनी होगी। वैज्ञानिक प्रयास का उद्देश्य विश्लेषण और पूर्वोक्ति (Prediction) है। कोई भी यह पूछ सकता है कि अतीत की घटनाओं को उन मनोवैज्ञानिक-गत्यात्मक कारकों से पृथक् कर, जो कि हम देख चुके हैं कि उन्हें इतना अधिक प्रभावित करते हैं, एक निर्दिष्ट संस्कृति की प्रवृत्तियों को या समग्ररूप से संस्कृति को प्रकट करना और इस प्रकार सत्य पूर्वोक्ति करना कैसे संभव

---

१४. एल० ह्वाइट, १९४९।

१५. एल० ह्वाइट, १९४६, पृ० ८५।

है। विकासवाद की पद्धति में इस नये दृष्टिकोण की, जो कि मानव की मनोवैज्ञानिक कार्य-प्रणाली से सम्बद्धता से इन्कार करता है, और यदि काल के नहीं तो स्थान के कारक की उपेक्षा करता है, वैज्ञानिक मानवशास्त्र के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, सीमित ही उपयोगिता होगी।

यह हर मायने में खेदजनक है कि संस्कृति का अध्ययन "विकासवाद" शब्द पर केन्द्रित वादविवाद में उलझ गया था। यह प्रयोग अपने आप में प्रायः गवेषणा के साधन की अपेक्षा एक युद्ध-घोष बन गया है। इसलिए इसके ऐतिहासिक अर्थ को छोड़, इस पुस्तक में आगे इसका प्रयोग न होगा। टाइलर द्वारा "विकासवाद" के पर्याय के रूप में प्रयुक्त **प्रगति** (Development) शब्द उतना ही उपयोगी कार्य करेगा और उन साहचर्यों से मुक्त होगा जो कि विस्तृत पैमाने पर सांस्कृतिक परिवर्तन में संभावित क्रमों के विश्लेषण को चर्चा के लिए एक बहुत कठिन विषय बना देते हैं।

अध्याय चौबीस

सांस्कृतिक अनुदारता और परिवर्तन

कोई भी जीवित संस्कृति स्थिर नहीं है। आचार के नियम कठोर हो सकते हैं, इन नियमों का पालन कराने के लिए कठोरतम स्वीकृतियों की सहायता ली जा सकती है; उनके पालन पर किसी प्रकार की आपत्ति करने की स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। फिर भी एक समाज का अवलोकनकर्ता यह देखेगा कि जहां अत्यन्त अनुदारता (Conservatism) रही है, वहां भी पर्याप्त दीर्घ अवधि में परिवर्तन घटित हुए हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन के पक्ष में विपुल साक्षियां हैं। पुरातत्त्व की खोजों ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार एक ही स्थान पर रहने वाले लोगों द्वारा छोड़े गये अवशेष निरन्तर बदलते रहते हैं। निम्न और प्रारम्भिक स्तरों में प्राप्त सामग्रियां उच्च और अधिक हाल के स्तरों में प्राप्त सामग्रियों से सदैव भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, एक निर्दिष्ट इंडियन थूहे में उसकी चोटी के पास प्रचुरता में पाये गये एक प्रकार के मिट्टी के बर्तन अपनी मात्रा में धीरे-धीरे घटते जाते हैं और जैसे-जैसे उस स्थान पर अधिक खुदाई होती है वह समाप्त हो जाते हैं। किन्तु मिट्टी के बर्तन स्वयं समाप्त नहीं होते; एक विशेष स्तर पर एक नया प्रकार छितरा हुआ मिलता है और अन्ततोगत्वा वह उसका स्थान ले लेता है जिसकी कि सबसे ऊँचे स्तर पर प्रधानता थी। इन प्राप्तियों का यही अर्थ है कि जब उस स्थान पर लोगों ने रहना बन्द कर दिया उसके सबसे ऊपर मिले बर्तन उनके उस समय के प्रधान बर्तनों के प्रकार को दर्शाते हैं। निम्न स्तरों पर उनका छितरापन उनकी विकसित प्रभुता और जब तक वह स्थान बसा रहा, उस पर इस सांस्कृतिक तत्व में हुए परिवर्तनों को बताता है।

परिवर्तन की सार्वभौमता के सम्बन्ध में एक अन्य प्रकार की साक्षी को लिया जा सकता है जो कि अपने समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार के प्रति नई पीढ़ियों के सदस्यों के बीच भिन्न धारणाएं दर्शाती है। उन समूहों में भी जिनकी अनुदारता प्रसिद्ध है मानवशास्त्रियों द्वारा इस तथ्य का अवलोकन एक सामान्य बात है। ऐसी कम ही संस्कृतियां है जहां कि बड़े-बूढ़े तरुणों द्वारा पहली पीढ़ियों की परम्पराओं से दूर हटने की निन्दा न करते हों, या जहां तरुण लोग किन्हीं अर्थों में बूढ़े लोगों द्वारा स्वीकृत व्यवहार से दूर न हटते हों, चाहे वह अभिवादन के तरीके ही हों या नये नृत्य, या किसी अनुष्ठान को तूल देने या सरल करने की विधि हो। बुजुर्गों द्वारा उसी सांस्कृतिक मार्ग पर तरुणों को चलाने का प्रयास किया जाता है जिनपर वह स्वयं चले थे पर तरुण उस लगाम

को तोड़ने की कोशिश करते हैं; मानव के सामाजिक जीवन का यह एक स्थायी तत्त्व है। यह बुजुर्ग भूल जाते हैं कि वस्तुतः वह कितने सफल हैं, चूंकि उनकी संस्कृति की स्थिरता उनके ध्यान से ओझल हो जाती है और वह नई पीढ़ी द्वारा लाये गये अपेक्षया गौण परिवर्तन पर खीज उठते हैं। उनके परिवर्तन का विरोध कितना अप्रभावकर है, यह सबक कभी भी नहीं सीखा जाता।

परिवर्तन के तथ्य को उपलब्ध ऐतिहासिक विवरणों द्वारा भी लेखबद्ध किया जा सकता है। यह केवल साक्षर लोगों के न्यासों पर ही लागू नहीं होता, किन्तु जहां वर्तमान अनक्षर लोगों द्वारा पहले बिताये गये जीवन की झलक की साक्षी मिलती है उसके विषय में भी उतना ही सत्य है। कभी-कभी एक सांस्कृतिक तत्त्व जो कि बाहर से देखने में लोगों की प्रथाओं में बहुत गहरा नज़र आता है, बहुत हाल ही का पाया जाता है। उदाहरण के लिए उत्तरी पश्चिमी प्रशान्त के इंडियनों की संस्कृति की प्रमुख विशेषता उनका टोटम स्तंभ, एक प्रकार का ऐसा चिह्न है जो कि टौटमी समूह के रहस्यवादी अतीत का प्रतीक है। यह असम्भव सा लगता है कि उत्तरी पश्चिमी तट के प्रारम्भिक यात्रियों ने इन लम्बे अलंकृत स्तंभों का ज़िक्र जानबूझ कर न किया हो, किन्तु उनकी रचनाओं में इनका कोई विवरण नहीं मिलता। इस क्षेत्र में अध्ययन करने वाले संस्कृतिशास्त्री बहुत सालों तक यह मानते रहे कि वह एक प्राचीन प्रतिमान को दर्शाते हैं, जब तक कि गवेषणा ने यह नहीं बताया कि टौटमी स्तंभ का इनकी संस्कृतियों में प्रारम्भिक समय से होना तो दूर, किन्तु यह उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का विकास था, जो कि यूरोपियों के सम्पर्क द्वारा नयी प्रौद्योगिक विधियों के प्रवेश के परिणामस्वरूप विकसित हुआ और जिससे प्रारम्भिक कालों में अप्राप्य सम्पत्ति का संचय और रहन-सहन का स्तर प्राप्त हुआ।

हम एक ही सामान्य संस्कृति की विभिन्न प्रादेशिक भिन्नताओं में प्रकट होने वाले अन्तिम परिणामों पर विचार कर के भी इस परिवर्तन को लिपिबद्ध कर सकते हैं। अपने समग्र लक्षणों में एक निर्दिष्ट प्रदेश के सभी समूहों की जीवन रीतियां एक सदृश हैं। तथापि इनमें से प्रत्येक व्यवहार के कुछ व्यौरों में अपने पड़ोसियों से भिन्न है। सामान्य मूल विषय की यह भिन्नतायें एक अध्ययन किये गये स्थान पर घटित होने वाले परिवर्तनों के विशेष क्रम का अन्तिम परिणाम हैं। इस प्रकार के अन्वेषणों के लिए स्थानीय बोलियां एक समृद्ध क्षेत्र हैं। यह इस बात की अनेक साक्षियां जुटाती हैं कि वह परिवर्तन, जो कि सूक्ष्म, यहां तक कि अकेली भिन्नताओं के संचय से कई सालों में घटित हुए, एक ही स्थान पर हस्तान्तरित हुए, दूसरे में नहीं।

एक संस्कृति में अधिकांश नये तत्त्व समूह के बाहर से प्रवेश करते हैं। यह ग्रहण किये हुए सांस्कृतिक तत्त्व ग्रहीताओं के जीवन में इतने अधिक एकीकृत हो सकते हैं कि एक अत्यन्त कठोर विद्यार्थी को भी, जो कि अध्ययन किये जाने वाली संस्कृति में विदेशी उद्गम के तत्त्वों का निर्णय कर रहा है, चकरा देते हैं।

अफ्रीका में मक्का का उदाहरण इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। हम देख चुके हैं कि अमरीकाओं में इस पौधे का पालतूकरण हुआ था। हम जानते हैं कि इसके यूरोप में आने के बाद यूरोपीय यात्रियों ने इसका अफ्रीका में प्रवेश कराया। अफ्रीकनों द्वारा मक्का की स्वीकृति ने उनकी खाद्य अर्थ-व्यवस्था और खूराक में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाये होंगे, यद्यपि हम जानते हैं कि लोगों की भोजनों की आदतों की अपेक्षा संस्कृति के ऐसे बहुत कम ही पहलू हैं जिनमें इतनी अधिक अनुदारता व्यक्त होती हो। अफ्रीका के अनेक भागों में आज मक्का न केवल प्रधान भोजन है, अपितु देवताओं पर चढ़ाये जाने वाले प्रसाद का भी मुख्य भाग बन गई है। इस प्रकार उसने संस्कृति के दूसरे पहलू—कर्मकांड के एक क्षेत्र पर भी, जहां कि परिवर्तन बहुत अनिच्छापूर्वक स्वीकार किये जाते हैं, आक्रमण किया है।

संसार में यूरोपीय संस्कृति और विशेषकर उसके मशीन प्रोद्योगशास्त्र की वस्तुओं के विस्तार से पुराने कामों को नई रीति से करने, या पुरानी रीतियों में संशोधनों की स्वीकृति या दूसरों से ग्रहण कर नये परिवर्तनों की स्वीकृति की रफ़्तार बराबर बढ़ रही है। यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इस विस्तार द्वारा प्रस्तुत तत्वों को अनक्षर लोगों ने बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया है या बिना संशोधन के यूरोपीय सांस्कृतिक तत्वों को ले लिया है। इसके विपरीत, उन्होंने वही किया है जो कि सभी मानव समूह किसी नई चीज़ के प्रस्तुत हो जाने पर करते हैं। उन्होंने अपने पूर्व अनुभव के आधार पर नई वस्तुओं के प्रति प्रतिक्रिया की है, जो उन्हें लाभकर लगा उसे स्वीकार किया है और जो अव्यावहारिक या अलाभकर प्रतीत हुआ, उसे त्याग दिया है।

हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफ़ा है। चूंकि देशीय समूहों द्वारा यूरोपीय-अमरीकनों से ग्रहण करने को अन्तःकबीली ग्रहण करने के उदाहरणों की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से बेहतर लिपिबद्ध किया जा सकता है, अतः हम इस विशेष प्रकार के सम्पर्क के उदाहरणों को बहुत अधिक प्रयुक्त करते हैं। यूरोपीय और अमरीकन लोग जिन लोगों के सम्पर्क में आये, उनसे अनेक बातें ग्रहण करने के कारण यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति में जो विस्तृत परिवर्तन हुए, उनपर विचार कर दृष्टिक्रम को कुछ सुधारा जा सकता है। इन सम्पर्कों के परिणामस्वरूप सोलहवीं शताब्दी से उनकी वेष-भूषा उनकी खाने की आदतें, भाषा, संगीत—यदि हम उन्हीं जीवन के उल्लेखनीय पहलुओं को गिनायें जहां यह प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है—बहुत बदल गये हैं।

जब हम प्रक्रिया के रूप में परिवर्तन का अध्ययन और विद्यमान ग़ैर-ऐतिहासिक संस्कृतियों का विश्लेषण कर यह देखते हैं कि किन्हीं भी दो समूहों की प्रथाओं का विधान बिल्कुल एक-सा नहीं है, तो हम सांस्कृतिक परिवर्तन की सार्वभौमता को स्वीकार करते हैं। स्पष्ट ही उन लोगों में, जो कि एक-दूसरे के निकट रहते हैं या जिनके आधुनिक आस्ट्रेलिया में अंग्रेजों और उनके वंशजों की भांति घनिष्ठ ऐतिहासिक सम्पर्क हैं, उन लोगों की अपेक्षा जो कि दूर रहते हैं

और बहुत कम ही एक-दूसरे की संस्कृति को जानने का अवसर पाते हैं, अधिक समानतायें होंगी। इसका यही अर्थ है कि जो समूह निकट सम्पर्क में रहते हैं उन्हें दूरस्थ समाजों से नये सांस्कृतिक तत्त्व लेने की अपेक्षा एक-दूसरे से नवप्रवर्तन (Innovations) लेने के अधिक अवसर हैं। पर चूंकि एक समूह में प्रवेश कराये जाने वाली प्रत्येक वस्तु उसके द्वारा नहीं ले ली जाती, अतः हम संस्कृति की स्थानीय भिन्नताओं की गत्यात्मक व्याख्या के आधार पर पहुंचते हैं।

चाहे अधिक हों या कम, देखी गई भिन्नतायें कार्य-कारण की ऐतिहासिक शृंखला में वह कड़ियां हैं जो कि एक निर्दिष्ट समय में किसी संस्कृति में व्यक्त हुई हैं। चूंकि अनक्षर समाजों में परिवर्तन को बहुत कम लिपिबद्ध किया जा सकता है, यह इस तथ्य का खंडन नहीं करता कि परिवर्तन घटित हुए हैं। हमारे पास ऐतिहासिक संस्कृतियों की बहुत सी ऐसी साक्षियां हैं, और अनक्षर लोगों के साथ सम्पर्क के बहुत-से ऐसे विवरण हैं, जिनकी कि जब उन्हीं लोगों की विद्यमान प्रथाओं से तुलना की जाती है तब यह पता चलता है कि उन लोगों में भी जो कि अपनी अनुदारता के लिए प्रसिद्ध हैं वस्तुतः कितने परिवर्तन घटित हुए हैं।

इस प्रकार परिवर्तन एक सार्वभौम सांस्कृतिक घटना है, और एक काल की अवधि में परिवर्तन की प्रक्रिया संस्कृति का गतिशास्त्र है। सांस्कृतिक परिवर्तन का एक पृथक्कृत घटना के रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता, चूंकि परिवर्तन को जबतक एक निर्दिष्ट काल और प्रकृति में मानव व्यवहार की आधार रेखा के प्रसंग में न देखा जाय, परिवर्तन अपने आप में निरर्थक है। सबसे बढ़कर, इसे सदा इसके विरुद्ध घटना, सांस्कृतिक स्थिरता की घटना से, जिसे कि उसके मनोवैज्ञानिक पहलुओं में अनुदारता कहा जाता है, पृथक् करना चाहिए।

परिवर्तन या स्थिरता का मूल्यांकन केवल इन दोनों को ध्यान में रखने पर ही निर्भर नहीं, बल्कि इसपर भी निर्भर है कि अवलोकनकर्ता जिस संस्कृति में परिवर्तन या स्थिरता का अध्ययन कर रहा है वह उससे कितना तटस्थ है। एक विद्यार्थी एक संस्कृति से जितना ही घनिष्ठ होता है उतना ही अधिक उसमें घटित परिवर्तन को सही पहचानने और पृथक् करने में उसका बोध धुंधला होता है। अध्ययन किये जाने वाले समूह के सदस्यों की भांति उसकी प्रतिक्रिया भी संस्कृति के प्रति भिन्न नहीं होती। पर यदि प्रबल प्रतिमान के रूप में स्थिरता पर ज़ोर दिया जाता है, तो वह अनजाने में ही परिवर्तनों की उपेक्षा कर बैठता है। यदि संस्कृति परिवर्तन पर ज़ोर देती है, जैसा कि यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति में है, वहां घटित होने वाले परिवर्तनों के नीचे छिपे स्थिरता प्रदान करने वाले अनेक तत्त्वों की, जो कि जीवन रीति को निरन्तरता देते हैं, उपेक्षा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

दृष्टिक्रम की सीमितता की अत्यन्त उल्लेखनीय अभिव्यक्ति को हमने तरुण पीढ़ी के व्यवहार के प्रति बुजुर्गों की धारणा और समाज के तरुण सदस्यों के नये व्यवहार के ऊपर लगाये गये प्रतिबन्धों के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया से

दर्शाया था। एक बाहरी व्यक्ति के दृष्टिकोण से न तो बड़े और न ही छोटे महत्त्वपूर्ण मामलों में अपनी शिकायतें करते हैं। किन्तु पास से देखने पर गौण भेद बड़े दीखते हैं। संस्कृति को अधिक दूरी से देखने पर ही उसकी पूरी तस्वीर दिखाई देती है। परन्तु तटस्थ अवलोनककर्ता की मनोवैज्ञानिक दूरी के रहने पर भी, विद्यार्थी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्रशिक्षित जनवृत्तशास्त्री के लिए भी अपने से नये समाज में व्यक्तिगत व्यवहार की भिन्नताओं को मापना आसान काम नहीं है। वह जो देखता है, वह एकमतता और प्रतिमान हैं। विच्युतियां बाद में ही पहचानी जाती हैं। फिर भी परिवर्तन के प्रति जागरूक संस्कृति के विद्यार्थी को भिन्नताओं और प्रतिमानों को भी समझना चाहिए। **चूंकि एक निर्दिष्ट क्षण पर यह भिन्नतायें प्रक्रिया में परिवर्तन की अभिव्यक्ति है।**

संस्कृति के विद्यार्थियों ने स्थिरता के विश्लेषण की अपेक्षा परिवर्तन के अध्ययन पर अधिक ध्यान दिया है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक कारण विद्वानों द्वारा मानव विज्ञान के प्रारंभिक काल में विद्वानों द्वारा अनक्षर लोगों की अत्यन्त अनुदारता के विचार का ऐतिहासिक विकास है। दूसरा कारण समस्या में ही अन्तर्हित है। क्योंकि पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से स्थिरता की अपेक्षा परिवर्तन का अध्ययन अधिक सरल है। सांस्कृतिक गतिशास्त्र की समस्याओं को समझने के लिए इन दोनों कारणों को ध्यान में रखना चाहिए। हम बारी-बारी से इन पर विचार करेंगे।[१]

अनक्षर समाजों की संस्कृतियों में परिवर्तन से इन्कार करने वाले मत के संशोधन के लिए मानवशास्त्रियों ने परिवर्तन पर ज़ोर दिया। यह युक्ति दी जाती थी कि "आदिकालीन" (Primitive) मानव आदत का गुलाम है, वह ऐसी निश्चित जीवन-रीति पालन करता है कि उसकी संस्कृति उसे एक प्रकार से निष्क्रिय, पूर्णतः अनुकरण करनेवाला प्राणी बना देती है, उसमें वह आकांक्षायें नहीं रह जातीं जो कि निरन्तर सुधार के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। हरबर्ट स्पेंसर ने इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया है:

"आदिकालीन मानव अत्यन्त अनुदार है। यहां तक कि अपेक्षाकृत उच्च नस्लों का भी एक-दूसरे से मुकाबला करने पर और एक ही समाज के विभिन्न वर्गों का भी मुकाबला करने पर यह देखा गया है कि अल्पतम विकसित लोग परिवर्तन के प्रति सर्वाधिक विमुख हैं। सामान्य लोगों में एक सुधरी हुई पद्धति का प्रवेश कराना कठिन है, यहां तक कि नये किस्म के भोजन को भी प्रायः नापसन्द किया जाता है। इस प्रकार असभ्य मानव अधिक अंशों में विशिष्ट है। उसका सरल नाड़ी-संस्थान शीघ्र ही अपनी नमनीयता खो कर संशोधित कार्य की

---

१. परिवर्तन के विश्लेषण के लिए जिसमें कि नवप्रवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध को ध्यान में रखा गया है, देखिये एच० जी० बार्नेट, १९५३, पृ० २९१–४१०।

रीति को अपनाने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए, वह जो-कुछ स्थापित है उससे अचेतन और चेतन रूप से चिपटा रहता है।"[२]

सर हेनरी मेन ने लिखा है: "बृहत् जनसंख्यायें, जिनमें से कइयों की पर्याप्त विकसित किन्तु विशिष्ट सभ्यतायें हैं, जिसे कि पश्चिम की भाषा में सुधार कहा जाता है, उससे घृणा करती हैं—अफ्रीका के विशाल महाद्वीप में बसे हुए अनेक काले लोग इससे घृणा करते हैं और मानव जाति के वह बृहत् भाग, जिन्हें कि हम बर्बर या आरण्यक श्रेणी में रखने के अभ्यस्त हैं, वह भी इससे घृणा करते हैं। इस तथ्य के साथ कि परिवर्तन के प्रति उत्साह अपेक्षया विरल है, यह तथ्य भी जोड़ देना चाहिए कि यह अत्यन्त आधुनिक है। यह मानव जाति के एक छोटे से अंश को ज्ञात है और उस अंश को भी अगणित दीर्घकाल के इतिहास की एक छोटी-सी अवधि में ही यह ज्ञात है!"[३]

वस्तुतः ऐसे वक्तव्य सद्भावना से दिये गये थे, किन्तु यह पुस्तकों पर आधारित थे, आदिवासी लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव पर नहीं। वह विद्यार्थी जो कि अपने देश के ज्ञात व्यक्तियों की भांति आदिकालीन लोगों को व्यक्तियों की हैसियत से जान सके, इन भूलों को सुधारने के लिए प्रेरित हुए। उन्होंने निर्दिष्ट लोगों की प्रथाओं में हुए उन परिवर्तनों की ओर निर्देश कर, जो कि उन्हें प्रथाओं के निरीक्षण द्वारा मालूम था कि घटित हुए हैं, और जोकि एक निर्दिष्ट संकुल के एक क्षेत्र में प्रसारित हो जाने पर उसके भिन्न रूपों में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं, परिवर्तन के तथ्य पर जोर दिया। उनके लिए "आदिकालीन" मानव कोई स्वचालित यंत्र न था। यह दर्शाया गया कि आदिकालीन समाज सुदूर आवास, अल्पसंख्या और अपेक्षया सरल प्रोद्योगशास्त्र के बावजूद परिवर्तन से गुजरे हैं।

मानवशास्त्रियों ने अपने आप में सांस्कृतिक स्थिरता या अनुदारता के विश्लेषण पर कम ध्यान क्यों दिया, इसका विश्लेषण करना बाक़ी है। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है सांस्कृतिक स्थिरता की भांति, निषेधात्मक शब्दों में प्रस्तुत समस्या के अध्ययन में पद्धतिशास्त्रीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि हम परिवर्तन को सदैव विद्यमान स्वीकार करें, तब स्थिरता को **परिवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध** माना जा सकता है। पर जब तक कि एक मानवशास्त्री उस समय मौके पर मौजूद न हो जबकि, जिस अनक्षर समूह का वह अध्ययन कर रहा है उसके सामने कोई नया विचार, एक वस्तु या एक प्रविधि या एक कला शैली रखी गई हो, और वह यह न देख सके कि किस प्रकार पहले एक, फिर दूसरे और फिर अन्य व्यक्ति उसे ग्रहण नहीं करते, वह नहीं जान सकता कि प्रस्तुत विचार, वस्तु, प्रविधि, या कला शैली दी गई थी जो अस्वीकृत

---

२. हरबर्ट स्पेंसर, १८६६, जिल्द, १, पृ० ७१।

३. सर एच० एस० मेन, १६६०, पृ० १३२–३४।

हो गई है। अन्यथा किस प्रकार वह स्थिरता की उस सक्रिय शक्ति को देख सकता, जो कि नये को हटाती और पुराने को संजोती रही ?

कभी-कभी इस तथ्य की देशीय साक्षियां प्राप्त की जा सकती हैं कि नवीनतायें क्यों अस्वीकार की गईं। नवाहो में रात्रिकालीन जप सूक्ष्म अनुष्ठानों का एक संग्रह है जो कि केवल इलाज करने में ही नहीं, बल्कि वर्षा कराने और समुदाय के कल्याण के लिए भी प्रयोग में आता है। कुछ नवाहो अवश्य इस नृत्य का एक अंश ग्रीष्म ऋतु में या उसके उचित स्थान की उपेक्षा कर, या शब्दों में हेरफेर कर या हल्की गति से नाचते हुए या उसका नाम बदल कर करते हैं। फिर भी, हिल ने जिसने कि उन कारणों का विश्लेषण किया है कि परिवर्तनों को निन्दा की दृष्टि से क्यों देखा जाता है, निम्न उद्धरण दिया है जो बताता है कि क्यों इस अनुष्ठान में "इस उत्सव के पीछे विद्यमान सामान्य विचारधारा में हेरफेर उचित नहीं समझा जाता।"

"अनुष्ठानों में कोई नई चीज़ जोड़ते हुए तुम्हें सावधानी बरतनी चाहिए। एक जप करने वाले ने सोचा कि वह ऐसा कर सकता है; उसने रात्रि जाप किया, वह अधिक बूढ़े लोगों को चाहता था, इसलिए उसने नर्तकों को बूढ़े लोगों की तरह नाचने और खांसने दिया। वह बहुत-से आलू चाहता था, इसलिए उसने नर्तकों के शरीर पर आलू चित्रित करवाये। वह चाहता था कि प्रचुर भोजन मिले, इसलिए उसने नर्तकों को खूब नचवाया और उन्हें उनके नक़ली चेहरों में से उल्टी करवाई जिससे ऐसा लगे कि उन्होंने बहुत खा लिया है। उन्हें अवश्य ही उनका पुरस्कार मिला। खांसने के अभिनय में अनेक लोगों को काली खांसी हो गई और वह मर गये। दूसरे परिवर्तन से लोगों के शरीर पर आलू जैसे चकत्ते पड़ गये जो कि खसरा, चेचक और घाव थे। उस अंश में जहां वह सब प्रकार का खाना मांगते हैं, अनेक लोग दस्त, उल्टी और पेट दर्द से मर गये। जप करने वाले ने सोचा था कि उसे चीज़ों में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त है, पर हरेक जान गया कि यह उसकी भूल थी। यह एक भूल थी और आज कोई भी किसी नये अनुष्ठान को प्रारम्भ करने का प्रयास नहीं करेगा। आज हम कुछ भी नहीं जोड़ते!"[४]

जहां ऐतिहासिक लेख मिलते हैं, वहां सांस्कृतिक स्थिरता का विश्लेषण किया जा सकता है, जैसे कि हमारी अपनी ही संस्कृति में विचारों के प्रतिरोध में अभिरुचि रखने वाले कुछ समाजशास्त्रियों ने किया है। इस प्रकार स्टर्न ने चिकित्सकों द्वारा अपने क्षेत्र में हुए नवप्रवर्तनों (Innovations), जैसे कि चिकित्सा प्रवधि के रूप में शव छेदन, टीका देने, पास्तुर तथा रोग के कीटाणु-विनाश के सिद्धान्तों के विरोध का लम्बा विवरण दिया है। विरोध के प्रमुख कारकों में उन लोगों के स्वार्थ जिन्हें कि नवप्रवर्तनों से भय था, **विद्यमान स्थिति**

---

४. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हिल, १९३९, पृ० २५९-६०।

से लगाव, प्रचलित चिकित्सा शिक्षा प्रणाली की अनुदार शक्ति, स्थापित आदत-प्रतिमानों द्वारा उपस्थित किया गया प्रतिरोध, और टीके की भांति प्रयोग में लाई जाने वाली कष्टदायक नई प्रविधियों के विरुद्ध रोगियों की प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं थीं।[५]

जहां तक अनक्षर लोगों का सम्बन्ध है, जब तक सम्पर्क में आनेवाली संस्कृतियों का अध्ययन नहीं हुआ तब तक परिवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध की समस्या का विश्लेषण नहीं किया जा सका। जहां अनक्षर समूह साक्षर समूहों के सम्पर्क में आये, उनके सम्मुख प्रस्तुत तत्त्वों को देखा जा सकता था और अस्वीकृति के तथ्य को स्थापित किया जा सकता था। और इसके आधार पर नवप्रवर्तनों के स्वीकार करने से इन्कार करने की प्रक्रियाओं के अध्ययन को प्रारम्भ किया जा सकता था। फिलहाल जबतक हम परसंस्कृतीकरण (Acculturation) का अध्ययन नहीं करते, हम इसे यहीं छोड़ते हैं। इस समय हम पुनः केवल इस बात पर जोर देंगे कि परिवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध का अध्ययन, अर्थात् सांस्कृतिक स्थिरता या सांस्कृतिक अनुदारता का अध्ययन, सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन का ही एक पहलू है।

परिवर्तन के साथ स्थिरता के संतुलन में एक और बात उठाई जानी चाहिए। इसका सम्बन्ध संस्कृति के एक पहलू की अपेक्षा दूसरे पहलू में परिवर्तन की भिन्न दरों से है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या एक संस्कृति के लिए यह कहना उचित है कि वह समग्ररूप से दूसरी संस्कृति की अपेक्षा जो कि परिवर्तन के लिए समग्ररूप से उद्यत है, अधिक अनुदार है। तथ्य यह है कि चाहे हम परिवर्तन, तथा परिवर्तन के प्रतिरोध को ऐतिहासिक दृष्टि से लिपिबद्ध करें, या उसके वितरणों से उसका अनुमान करें, हमें कहीं भी ऐसी संस्कृतियां नहीं मिलतीं जो कि सारे मोर्चे पर एक ही दर से आगे बढ़ें। आस्ट्रेलियन मूलवासी जिन्हें कि अनुदार लोगों का प्रमुख उदाहरण माना जाता है, सामाजिक संगठन और धर्म की अपेक्षा अपनी भौतिक संस्कृति में अधिक अनुदार हैं। अतः हम उन्हें समग्र रूप से अत्यन्त अनुदार तभी कह सकते हैं, यदि हम उनके अतीत में किसी समय विद्यमान सामाजिक संरचनाओं और अलौकिक जगत् से सम्बन्धित विचारों के सम्बन्ध में परिवर्तन की ग्रहणशीलता की उपेक्षा करें। इसके विपरीत, यूरोपीय संस्कृति जिसे "प्रगतिशील" और परिवर्तन के लिए प्रस्तुत माना जाता है, जब हम उस पर एक इकाई के बजाय वस्तुगत रीति से उसके पहलुओं पर विचार करते हैं, तो वह अभौतिक संस्कृति के क्षेत्र में अप्रत्याशित प्रतिरोध दर्शाती है। इस प्रकार परिवर्तन काल, संस्कृति और संस्कृति के पहलू के अनुसार बदलता रहता है। सांस्कृतिक गतिशास्त्र के अध्ययन और संस्कृति की संरचना और रूपों के विश्लेषण में इसे सदैव ध्यान में रखने की जरूरत है।

---

५. बी० बे० स्टर्न, १९२७।

२

संस्कृति में अनुदारता और परिवर्तन वातावरणीय, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक कारकों की अन्तःक्रीड़ा का परिणाम हैं। सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय इन सब पर विचार करना चाहिए। आवास (Habitat) उन सम्भावनाओं को प्रदान करता है जिन्हें कि एक निर्दिष्ट प्रदेश में रहनेवाले प्रयोग में ला सकते हैं और नहीं भी। यह उन सीमाओं को क़ायम करता है जोकि अधिकाधिक प्रभावशाली प्रोद्योगशास्त्र के सामने नमनीय हैं। इसलिए प्रायः कहा जाता है कि संचार में प्राकृतिक बाधायें परिवर्तन की विरोधी शक्तियां बन सकती हैं, जबकि सम्पर्क सरल होने से परिवर्तन में सुविधा होती है। और इस प्रकार यह ठीक ही प्रतीत होता है कि जो लोग संसार के एकान्त प्रदेशों में रहते हैं, वे वस्तुतः सबसे अनुदार समूह हैं, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे उल्टा भी सही है। सुदूर पूर्व की सभ्यताओं को प्रायः सांस्कृतिक अनुदारता के उदाहरणों के रूप में बताया जाता है, किन्तु वह किसी भी प्रकार पृथक्कृत नहीं हैं—अर्थात् वह प्रगतिशील यूरोपीय संस्कृति के दृष्टिकोण से देखे जाने के अतिरिक्त, पृथक्कृत नहीं हैं।

पृथक्करण (Isolation) अपने आप में बहुत कम समझा जा सकता है। क्या दक्षिणी अमरीका के छोर या ध्रुव प्रदेश या कांगो बेसिन के इटूरी वनों की गहराई में रहने वाले पृथक्कृत लोगों की संस्कृतियां इसलिए स्थिर हैं कि यह लोग पृथक्कृत हैं, या इसलिए कि इनकी जनसंख्या कम है और इनके प्रौद्योगिक साधन बहुत सरल हैं, जो परिवर्तन के लिए बहुत थोड़ा आधार जुटाते हैं? या एस्किमो इसलिए अनुदार हैं कि वह पृथक्कृत हैं या इसलिए कि उनका कठोर आवास वह प्रतिबन्ध लगाता है जो परिवर्तन का दमन करते हैं? और मिस्रवासियों की भांति संसार के चौराहों पर बसने वाले उन लोगों के विषय में क्या कहें, जिन्हें कि परिवर्तन के अनेक अवसर मिलते हैं पर वह उनका त्याग ही करते हैं?

इस प्रकार के सम्बन्धित प्रश्न इसलिए नहीं उठाये जाते कि वह इस दावे का खंडन करते हैं कि सांस्कृतिक स्थिरता या परिवर्तन को समझाने में भौगोलिक स्थिति पर विचार करना चाहिए, बल्कि इसलिए कि उचित दृष्टिक्रम में इनका मूल्यांकन किया जा सके। पृथक्करण एक कठिन अवधारणा है, चूंकि यह एक सापेक्ष शब्द है। अमरीकाओं का अधिकांश क्षेत्र हज़ारों वर्षों तक बाक़ी संसार से पृथक् था। किन्तु अमरीकाओं के दृष्टिकोण से इन महाद्वीपों में अनेक इंडियन क़बीले एक-दूसरे को उत्साहित करते थे। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि नई के बजाय पुरानी दुनिया ही पृथक्कृत थी। यूरोपियनों द्वारा पंद्रहवीं शताब्दी में अमरीकाओं की खोज के बाद यूरोपीय संस्कृति के खाद्य साधनों और भोजन की आदतों में हुए परिवर्तन इसका पर्याप्त प्रमाण हैं। केवल अमरीकाओं के सम्पर्क से प्राप्त उत्तेजना के बाद ही यूरोपीय रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठने लगा।

सांस्कृतिक परिवर्तन को प्रेरित करने और घटाने में, जहां तक आवास के

अन्य तत्त्वों, तापमान, बैरोमीटर का दबाव, आर्द्रता, ऊंचाई इत्यादि का प्रश्न है, बहुत कम साक्षियां उपलब्ध हैं, और यह इतना विवादास्पद है कि हम यहां पर इसकी चर्चा नहीं करेंगे। अवश्य ही एक अत्यन्त कठोर आवास जिसके साथ लोगों ने समायोजन स्थापित कर लिया है, प्रोद्योगशास्त्र के क्षेत्र में परीक्षण को प्रोत्साहित नहीं करता। चाहे वह पश्चिमी अफ्रीका के ऊपरी नील नदी के दलदलों में बसनेवाले न्वार हों या ध्रुव प्रदेश के साइबेरियावासी हों, या यूटाह और नेवाडा के ग्रेट बेसिन मरुस्थलों के पायूट; ऐसी आदिकालीन अवस्थाओं में जीवन यापन की स्थापित रीतियों के साथ परीक्षण को बहुत कम प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु हमें यहां यह दोहराने की जरूरत नहीं कि यह अनिवार्यतः सांस्कृतिक अनुदारता की समस्या नहीं है, यह संस्कृति के प्रौद्योगिक पहलू में अनुदारता है। जहां आवास कम कठोर है, वहां इस या अन्य किसी पहलू में परीक्षण हो भी सकता है और नहीं भी। संक्षेप में, जब हम सब प्राप्त साक्षियों पर ध्यान देते हैं किसी भी प्राकृतिक वातावरण के तत्त्व के साथ अनुदारता या परिवर्तन के प्रति सार्वभौम या संगत प्रवृत्तियों का भी सहसम्बन्ध सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

प्राकृतिक वातावरण द्वारा स्थापित सीमाओं के अन्तर्गत, संस्कृति अनेक प्रस्तुत मार्गों में से ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार किसी एक का अनुसरण कर सकती है। यहां हमें दो प्रक्रियाओं, सांस्कृतिक मोड़ (Drift) और ऐतिहासिक संयोग (Accident) पर ध्यान देना चाहिए, जिनकी बाद में हम कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे। सांस्कृतिक मोड़ उन क्रमों का विवरण है जो कि एक संस्कृति के संगठन की रीति, समाज के सदस्यों के स्वार्थ और उनकी संस्कृति द्वारा स्वीकृत उनके मूल्यों और लक्ष्यों के तर्कसंगत परिणाम हैं। ऐतिहासिक संयोग वाक्यांश का प्रयोग लोगों के जीवन की घटनाओं के उन क्रमों के लिए किया जाता है जिन्हें कि पहले से नहीं देखा जा सकता और संस्कृति में अन्तर्हित तर्क के अनुसार, जिनके विषय में कोई पूर्वोक्ति नहीं की जा सकती। यह परिवर्तनों को नई दिशा देते हैं, जोकि उनके इतिहास के मार्ग को निर्दिष्ट करते हैं और इस प्रकार जिन क्रमों की अन्यथा आने की आशा की जाती थी, वह बदल जाते हैं।

ऐसे उद्दीपन समूह के अन्दर से या बाहर से भी प्राप्त हो सकते हैं। उपयोगी स्वीकार की जानेवाली एक आकस्मिक खोज परिवर्तन ला सकती है, या परिवर्तन के प्रति विरोध को दृढ़ कर अनुदारता का साधन बन सकती है। समाज के सदस्य द्वारा की गई यात्रा उन नई विधियों या विचारों को प्रकट कर सकती है जो कि वह अपने लोगों को लौटकर बताता है; और इसके भी तदनुरूप भावात्मक और निषेधात्मक परिणाम हो सकते हैं। विजय द्वारा भी सांस्कृतिक तत्त्वों का अन्तःपरिवर्तन हो सकता है; या विजेता या विजित साथ-साथ रहते हुए भी अपनी पृथक् जीवन रीति को जारी रख सकते हैं। भिन्न संस्कृतियों वाले

विजित लोगों पर शासक समूह द्वारा अपनी संस्थाओं और मानों (Standards) को थोपने के फलस्वरूप वह अपनी निषिद्ध प्रारम्भिक रीतियों पर दृढ़ हो सकते हैं और उससे वह परसंस्कृतीकरण-विरोधी (Contra-acculturative) आन्दोलन जन्म लेते हैं जोकि प्रायः विदेशी शासन के अन्तर्गत प्रकट होते हैं।

इतिहास की यह परिस्थितियां किन्हीं भी लोगों के विकास को एक ऐसी कथा बना देती हैं जिसे कि कभी भी सही तौर से न तो उनके ही द्वारा न अन्य किसी समूह द्वारा दोहराया जा सकता है। और यह सदा परिवर्तित होने वाली ऐतिहासिक धारायें ही समाजों की धारणाओं और दृष्टिकोणों को व्यक्त करती और ढालती हैं, और अन्ततः उस सीमा को निर्धारित करती हैं जिस सीमा तक लोग प्रत्येक नवप्रवर्तनों का स्वागत या विरोध करेंगे। इस प्रकार यह तीसरा कारक है जिसका कि हमें संस्कृति के गतिशास्त्र का अध्ययन करते समय ध्यान रखना होगा। इसमें सामान्यतः मानव व्यवहार में अन्तर्हित अनेक मनोवैज्ञानिक कार्य-प्रणालियां सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का एक विशेष पहलू है जोकि संस्कृति के स्वरूप को और यह समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण है कि किस प्रकार मानव प्राणी जिस समाज में वह जन्म लेते हैं उसकी जीवन रीति के अभ्यस्त हो जाते हैं।

यह स्मरण होगा कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सारे जीवन काल में अपने समूह की परम्पराओं को ग्रहण करता है और उनके अनुसार कार्य करता है। यद्यपि इसमें बुनियादी रूप से सीखने की प्रतिक्रिया अन्तर्हित है, फिर भी यह बताया गया है कि संस्कृतीकरण दो स्तरों पर होता है, एक प्रारम्भिक जीवन में, दूसरा समाज के परिपक्व सदस्यों में। प्रारम्भिक जीवन में एक व्यक्ति अपनी संस्कृति के बुनियादी प्रतिमानों में प्रशिक्षित हो जाता है, वह भाषा को बनाने वाले शाब्दिक प्रतीकों का प्रयोग सीख जाता है, वह स्वीकृत शिष्टाचार के रूपों में दक्षता प्राप्त कर लेता है, अपने साथियों द्वारा स्वीकृत जीवन के उद्देश्यों से अनुप्रेरित होता है, अपनी संस्कृति की स्थापित संस्थाओं से समायोजन करता है। इस सबमें उसकी बहुत कम आवाज़ होती है। वादक की अपेक्षा वह एक वाद्ययंत्र होता है।

बाद के सालों में संस्कृतीकरण में प्रशिक्षण की अपेक्षा पुनःप्रशिक्षण होता है। जहां प्रस्तुत चीज़ को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है, सीखने की प्रक्रिया में चुनाव किया जा सकता है। जैसा कि सुझाया गया था, एक समाज की स्वीकृत कार्यप्रणालियों में परिवर्तन, एक नई अवधारणा, एक नया दृष्टिकोण तभी आ सकता है जब कि लोग परिवर्तन के औचित्य से सहमत हों। यह चर्चा का, जिन व्यक्तियों को इसे स्वीकार कर अपने सोचने व कार्य करने की रीति में परिवर्तन करना है, या जो स्थापित प्रथा को तरजीह देने व इसे त्यागने के पक्ष में युक्ति दे सकते हैं, उनके विचार का परिणाम है।

इस प्रकार संस्कृतीकरण (Enculturation) की कार्यप्रणाली हमें संस्कृति

में अनुदारता और परिवर्तन की समस्या की तह में पहुंचा देती है। इसका प्रारम्भिक प्रशिक्षण स्तर वह साधन है जोकि प्रत्येक संस्कृति को स्थिरता प्रदान करता है, अत्यन्त द्रुत परिवर्तन की अवधियों में भी इसे छिन्न-भिन्न होने से रोकता है। अपने बाद के पहलुओं में जहां कि संस्कृतीकरण चेतन स्तर पर कार्य करता है, यह परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करता है, वैकल्पिक सम्भावनाओं की परीक्षा करता है और नई विचार और आचार की रीतियों में पुनःप्रशिक्षण की अनुमति देता है।

३

विस्तृत रूप से विचार करने पर सांस्कृतिक परिवर्तन को दो पृथक् श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वह सब परिवर्तन सम्मिलित हैं जो कि समाज के अन्दर से होने वाले नवप्रवर्तनों (Innovations) से जन्म लेते हैं, दूसरे में वह सब परिवर्तन हैं जोकि बाहर से आते हैं। इस अध्याय के बाक़ी अंश में हम अन्दर से आने वाले परिवर्तनों की प्रथम श्रेणी पर विचार करेंगे, जिसमें कि खोज और आविष्कार की प्रक्रियायें सम्मिलित हैं। दूसरी श्रेणी, आदान (Borrowing) पर हम बाद के पृष्ठों में विचार करेंगे।

किसी भी संस्कृति में आंतरिक नवप्रवर्तन (Innovation) की दो कार्य प्रणालियों, खोज (Discovery) और आविष्कार (Invention) के बीच भेद करना कठिन है। कार्यात्मक रूप से और प्राप्त परिणामों के दृष्टिकोण से आविष्कार और खोज का भेद बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि दोनों ही संस्कृति को अन्दर से बदलने के साधन हैं और उन नवप्रवर्तनों से जोकि ग्रहण किये जाने से पूर्व दूसरी जगह प्रचलित हैं, भिन्न हैं।

डिक्सन ने, जिसने इस पारिभाषिक शब्दावलि की कठिनाई पर विचार किया है, "उद्देश्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति" के आधार पर खोज और आविष्कार की अवधारणाओं में "मुख्य भेद" बताया है। वह कहता है कि "खोज पहले से बिना सोची हुई किसी नई चीज़ को पाने तक सीमित है, जबकि आविष्कार को सोद्देश्य खोज कहा जा सकता है।" फिर भी अन्य सबों की भांति जिन्होंने इस प्रश्न पर विचार किया है, डिक्सन भी यह स्वीकार करता है कि दोनों रूप,

"किसी पहले से अज्ञात वस्तु से अचानक टकराने, उसके लिए कुछ कम या अधिक कष्ट उठाकर खोज करने तथा उपलब्ध सामग्री से सोद्देश्य परीक्षण कर सर्वथा नई चीज़ को बनाने, जो कि बिना चेतन मानवीय प्रयास के न बन पाती, इनके बीच में पड़ते हैं। एक खाद्य पौधे की अचानक खोज पहले का उदाहरण है, नये और मजबूत किस्म के वनस्पति रेशे की खोज दूसरे का उदाहरण है, जबकि धनुष के बनाने में लकड़ी की लचक का उपयोग तीसरे को दर्शाता है।"

इसको ध्यान में रखते हुए वह अपनी पहली परिभाषा को पुनःसंशोधित करता है कि "अधिक सही तौर से "खोज की परिभाषा पहले से अदृष्ट किसी

वस्तु की आकस्मिक प्राप्ति है, जबकि आविष्कार एक सर्वथा नई चीज़ का सोद्देश्य निर्माण है।"[६]

डिक्सन के अनुसार, खोज और आविष्कार दोनों के लिए आवश्यकता प्रधान है और यह वही पुल है जिससे हम एक से दूसरी की ओर जाते हैं। यह मानकर कि वातावरण में किसी वस्तु को किसी निर्दिष्ट उद्देश्य ("अवसर") के लिए उपयोग में लाया जा सकता है और इसकी उपयोगिता उसके द्वारा स्वीकृत होती ("अवलोकन") है जिसमें इसके मूल्य को समझने की योग्यता ("सराहना", "प्रतिभा") है, यह प्रेरणा जोकि मानव को नये ज्ञान की ओर ले जाती है, आवश्यकता है। इसलिए "यद्यपि एक नये भोजन या सामग्री की आकस्मिक खोज उसके प्रयोग को प्रेरित कर सकती है, किन्तु यदि उपयोग में आनेवाले भोजन अपर्याप्त हैं और पूर्ति के नये साधनों की आवश्यकता है, तो उत्सुकता को प्रबल प्रेरणा मिलती है और सोद्देश्य खोज की संभावना होती है। वस्तुतः आवश्यकता प्रायः आविष्कार की जननी है और इसी प्रकार यह खोज की भी जनक है। आवश्यकता के इस कारक के पुष्ट होने पर हम अधिकाधिक निश्चित रूप से आविष्कार के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, जिसमें कि आवश्यकता को किसी अप्रयुक्त चीज़ को काम में लाकर नहीं, बल्कि कोई नई और बुनियादी रूप से श्रेष्ठ चीज़ का सृजन कर पूरा किया जाता है।"[७]

यदि हम आविष्कार की प्रक्रिया को संस्कृति के केवल दृश्य तत्त्वों पर लागू होने की अपेक्षा समस्त संस्कृति पर लागू मानें, तो वर्तमान यूरोपीय अमरीकी संस्कृति की चिंतन प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन आवश्यक है। हम नये विचारों और नयी अवधारणाओं के आविष्कर्ता के कार्य की उपेक्षा कर बैठते हैं और प्रत्येक संस्कृति के ऐतिहासिक विकास में होनेवाले परिवर्तनों में उसके कार्य को उचित महत्व नहीं देते।

"आविष्कर्ता" शब्द का सामान्य प्रयोग इस सम्बन्ध में हमारे सोचने के तरीक़े को बताता है। एक आविष्कर्ता वह व्यक्ति है जोकि एक नई मशीन या एक नई यांत्रिक प्रक्रिया का आविष्कार करता है। वह व्यक्ति जोकि नई आर्थिक प्रणाली के लिए सुझाव देता है, या नई राजनैतिक योजना बनाता है, या ब्रह्मांड के सम्बन्ध में नई अवधारणा विकसित करता है, हमारी दृष्टि में आविष्कर्ता नहीं है। हम उसे एक सैद्धान्तिक, एक दार्शनिक, एक स्वप्नद्रष्टा या कम संमाननीय शब्दों में क्रांतिकारी कह सकते हैं।

फिर भी मानव के जीवन को ढालने में वस्तुओं की अपेक्षा विचार कम शक्तिशाली नहीं हैं। यह सिद्ध करना कठिन है कि वे आविष्कर्ता—यहां हम इस शब्द का संस्कृतिशास्त्रीय और कृत्यात्मक अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं—जिन्होंने

६. आर० बी० डिक्सन, १६२८ पृ० ३४–५।

७. वहीं, पृ० ३६–७।

परिवार के एक पक्ष से वंश गिनने की पद्धति चलाई, या जिन्होंने बाद की रिश्तेदारी शब्दावलि की वर्गीकृत प्रणालियों को विकसित किया, उनकी तुलना में खाल के तम्बू या छोटी पालदार डोंगी, या लोहा बनाने में काम आने वाली फुंकनी और धौंकनी के आविष्कर्ता का मानव संस्कृति के विकास पर अधिक प्रभाव पड़ा।

एक संस्कृति में नये गुणों के प्रवेश की चर्चा करते हुए भौतिक वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति को केवल प्रचलित मत से ही, जिसकी यह अभिव्यक्ति है, बढ़ावा नहीं मिलता, बल्कि इसे इस पद्धतिशास्त्रीय तथ्य से भी सहारा मिलता है कि अनक्षर संस्कृतियों के अध्ययन में अभौतिक सांस्कृतिक तत्वों की अपेक्षा भौतिक तत्वों पर विचार करना अधिक सरल है। इस दृष्टिकोण से हम डिक्सन के मानदंडों—अवसर, अवलोकन और 'प्रतिभा का एक अंश'—पर, जिस प्रकार कि वह अनक्षर समाजों पर लागू हो सकते हैं, विचार करें।

यह मानदंड स्पष्ट ही अभौतिक सांस्कृतिक तत्वों की अपेक्षा भौतिक क्षेत्र में आविष्कार पर अधिक लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, किन्हीं लोगों में अभी तक न प्रयोग में लायी गई संगीत में स्वर के उतार-चढ़ाव की रीति को, जिस प्रक्रिया द्वारा खोजा जा सकता है उसे, अत्यन्त सामान्य तरीक़े को छोड़, इन निश्चित श्रेणियों में रखना बहुत कठिन है। वस्तुतः संगीत की खोजों को डिक्सन के अतिरिक्त कारकों में से अन्यतम कारक उत्सुकता के रूप में कल्पित करना अधिक स्वीकार्य है। इसके विपरीत, आवश्यकता की प्रस्थापना हमारी कोई सहायता करती नहीं दीखती। यह पूछा जा सकता है कि एक नई संगीत शैली को खोजने की क्या आवश्यकता है ?

खोज और आविष्कार में आवश्यकता के कारक को जिस एक निर्णायक भूमिका को अदा करते हुए कल्पित किया गया है, वह भी अभौतिक सांस्कृतिक तत्वों की अपेक्षा भौतिक तत्वों के लिए अधिक संगत है। भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में भी आविष्कार की प्रक्रिया में आवश्यकता को उचित से अधिक महत्व दिया जा सकता है। यह पैरवी करना आसान है कि लोगों की जीवन-रीति के लिए कुछ औज़ारों, कुछ हथियारों, कुछ प्रविधियों का होना अनिवार्य है। किन्तु भौतिक वस्तु के सम्बन्ध में भी आवश्यकता सांस्कृतिक व्याख्या से निर्धारित है। एक समाज के दृष्टिकोण से जो खोज और आविष्कार एक अत्यन्त तीव्र आवश्यकता को पूरा करता है, वह एक भिन्न समूह के सदस्यों को प्रायः निरर्थक और असंगत लगता है। प्रत्येक क्षेत्रीय कार्यकर्ता अपने क्षेत्रीय उपकरणों के प्रति आदिवासियों की प्रतिक्रियाओं में इसकी पुष्टि खोज सकता है। विद्यार्थी को यह स्वतः सिद्ध-सा लगता है कि इनमें से कुछ चीज़ें आदिवासियों को अत्यन्त उपयोगी लगनी चाहिएं, परन्तु किसी भी नवीनता की भांति वह उनकी उत्सुकता को जगाती हैं। यह उदाहरण वस्तुतः खोज या आविष्कार की अपेक्षा प्रसार की घटना से अधिक सम्बन्धित है, किन्तु यह सिद्धान्त सही है। अन्य निश्चित प्रतीत होनेवाली

अवधारणाओं की भांति आवश्यकता सापेक्ष है। किन्हीं लोगों द्वारा अपनी संस्कृति के ढांचे में आवश्यकताओं की अवधारणा के अन्तर्गत ही आवश्यकता विद्यमान होती है।

इस प्रकार संस्कृति के भौतिक पहलुओं में भी यह कहावत "आवश्यकता आविष्कार की जननी है," अंशतः ही सत्य है। थौर्स्टाइन वैबलन के द्वारा इसका उल्टा कथन "आविष्कार आवश्यकता की जननी है" भी उतना ही सही है। एक बार हम संस्कृति के अदृश्य क्षेत्र में प्रवेश करें और अपने पिछले अध्यायों में प्रस्तुत सामग्रियों के विस्तार का अध्ययन करें तो यह प्रचलित मत, कि आवश्यकता आविष्कार को निर्धारित करती है, बिल्कुल अव्यावहारिक प्रतीत होगा। एकतरफ़ा वंश-प्रणाली की क्या आवश्यकता है जो कि वंश के प्राणिशास्त्रीय तथ्य के सर्वथा विरुद्ध है? वह कौनसी आवश्यकता है जो कि एक नई कला-शैली या नई नृत्य शैली को निर्धारित करती है?

उन विशेषज्ञों के मस्तिष्क में जो नई चीजें बनाते हैं और जिन्हें कि हमारी संस्कृति में आविष्कर्ता कहते हैं, आवश्यकता सर्वप्रमुख हो सकती है। किन्तु ऐसे विशेषज्ञ मशीन-युग की अनुपम विशेषता है। इनके सम्बन्ध में भी यदि हम क्षणभर उन अनेक आविष्कारों पर विचार करें जो कि "चल नहीं पाते" तब हमें यह मालूम होगा कि जिसे "आविष्कर्ता ने" आवश्यकता समझा, उसे समूह के अन्य सदस्य अनिवार्यतः ऐसा नहीं मानते।

डिक्सन द्वारा खोज (और आविष्कार) के एक कारक के रूप में बताये गये प्रतिभा की भी परीक्षा अपेक्षित है। विभिन्न खोजों और आविष्कारों को करनेवाले व्यक्तियों की भिन्न योग्यताओं से इन्कार करना अयथार्थवादी होगा। किन्तु इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय कि एक निर्दिष्ट आविष्कार या खोज के लिए "प्रतिभा का एक अंश" अपेक्षित है, यह प्रश्न ऐसी पद्धतिशास्त्रीय कठिनाई वस्तुत करता है जिसका समाधान तबतक संभव नहीं, जबतक कि हम "प्रतिभा" शब्द की इस घुमावदार परिभाषा को प्रयोग में न लायें, कि जो कोई भी खोज या आविष्कार करता है, उसमें यह है। किसी भी अवस्था में एक मान-दंड के रूप में इसके प्रयोग की उपयोगिता संदेहयुक्त है। अनेक अन्य उदाहरणों की भांति जहां संस्कृति के विवरण और विश्लेषण में मूल्यांकन भी सहायक होता है, सापेक्षवादी दृष्टिकोण का प्रयोग करना चाहिए। और किसीलिए न भी सही तो इसलिए कि कोई दो संस्कृतियां एक-सी नहीं हैं, प्रत्येक लोगों में आविष्कारक प्रतिभा का कुछ अंश मानना चाहिए। कुछ लोगों में भौतिक आविष्कार प्रधान हो सकते हैं, अन्यों में यह सृजनात्मक प्रेरणा कला या धर्म या सामाजिक या राजनैतिक संस्थाओं में प्रकट होती है।

खोज या आविष्कार के लिए बताई गई अपेक्षित परिस्थितियों में आंशिक सत्यता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु चाहे भौतिक या अभौतिक वस्तुओं का क्षेत्र हो, इनमें से किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती, न ही

उनकी गणना से सम्भावनाओं की सूची समाप्त हो जाती है। आविष्कार और खोज दोनों ही संस्कृति के गतिशास्त्र में बुनियादी हैं। दोनों ही सांस्कृतिक परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं का परिणाम और प्रतिबिम्ब हैं, जिनका कि हम इस समय ज़िक्र कर रहे हैं। और इसलिये अब हम इन प्रक्रियाओं पर विचार करेंगे।

४

मानवशास्त्रीय सिद्धान्तों में एक प्रश्न जिसपर बहुत ध्यान दिया गया है, वह स्वतंत्र आविष्कार बनाम प्रसार (Diffusion) का है। सारांश में, यह प्रश्न मानव की आविष्कार क्षमता से सम्बन्धित है। जब हम संसार के सुदूर भागों में एक ही प्रकार के औज़ार या संस्थायें या अवधारणायें देखते हैं, तब क्या हम यह मान लें कि यह सिर्फ एक बार आविष्कृत हुई और फिर उन प्रदेशों में प्रसारित हो गई जिनमें कि हम उन्हें देखते हैं, या हम यह अनुमान करें कि वह इन प्रदेशों में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई हैं।

जहां तक अधिकांश संस्कृतियों का सम्बन्ध है, इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्दर से उत्पन्न तत्त्वों की अपेक्षा बाहर से ग्रहण किये गये तत्त्वों की प्रधानता है। यह कहा गया है कि मानव ऐसा प्राणी है कि उसके लिए स्वयं समाधान ढूंढने की अपेक्षा किसी अन्य द्वारा बनाई गई वस्तु को ले लेना सरल है। निकटस्थ सुलभ वस्तुओं पर निर्भर होने की मानवीय प्रवृत्ति के बावजूद यह सम्भव नहीं कि किसी भी संस्कृति का सारा अंश अन्य लोगों से ग्रहण किया गया हो।

हैरीसन ने इस बात को बहुत अच्छी तरह रखा है: "कहानी जितनी जटिल होती है उसके विकास में उतनी ही अवस्थायें होती हैं, और जितनी जल्दी वह पूर्ण हो जाती हैं उतनी ही कम इस बात की संभावना रहती है कि अन्य क्षेत्रों में यह प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से दोहराई जाएगी।"[८] यदि हम पुनः प्रागैतिहसिक काल की पत्थर के काम की प्रविधियों पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है। पश्चिमी यूरोप और सुदूरपूर्व दोनों में ही खड़ (Core) के औज़ार और कतरनें (Flaking) पाई जाती हैं। जब उनका ब्यौरेवार अध्ययन किया जाता है तब दोनों उद्योगों की भिन्नताओं को तत्काल देखा जा सकता है। फिर भी यह खोज, कि पत्थरों के विविध प्रयोग हो सकते हैं, और कुछ प्रकार के पत्थरों का औज़ार बनाने में प्रयोग उनकी प्रभावशालिता को बढ़ा देता है, इतनी सामान्य है और इसमें जटिलता का इतना अभाव है कि इस विस्तृत संकुल के लिए एक ही उत्पत्ति स्थान को मानना कठिन है।

सांस्कृतिक नवप्रवर्तनों (Innovation) को समझाने की तीसरी संभावना की कार्य-प्रणाली को **एकपातिता** (Convergence) कहा जाता है। एक समय आविष्कार की प्रक्रिया को समझने के लिए एकपातिता को महत्वपूर्ण माना जाता था, चूंकि इसमें एक सामान्य घटना की दो सर्वथा भिन्न अभिव्यक्तियों में

---

८. एच० एस० हैरीसन, १९२६, पृ० ११८।

गौण विकासों के क्रम को सम्मिलित माना जाता था। ऐसा समझा जाता था कि यह विकास ऐसे परिणामों को लाते हैं जो बाहर से एक-से दीखते हैं। प्राणिशास्त्रीय विज्ञानों में यह सिद्धान्त भलीभांति ज्ञात है। उदाहरण के लिए, मरुस्थल के पौधों की छाल मोटी होती है और उनकी पत्तियां कंटीली होती हैं। "कंटीले पौधों" के एक वर्गीकरण की कल्पना की जा सकती है किन्तु इसका बिल्कुल दिखावटी महत्त्व होगा। चूंकि कांटेदार मरुस्थलीय पौधे आवश्यकरूप से एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि अनेक विभिन्न जातियों से सम्बन्धित हैं, जोकि मरुस्थल के बाहर पाये जाने पर सर्वथा भिन्न हैं।

एकपातिता की अवधारणा का प्रयोग करते हुए गोल्डनवीजर ने **सीमित संभावनाओं** का एक सहायक सिद्धान्त विकसित किया। उसने बताया कि एक निर्दिष्ट सांस्कृतिक रूप के विकास में "संभावनाओं की सीमितता" विविधता को नियंत्रित करती है। इसका अर्थ है कि एक निर्दिष्ट सांस्कृतिक तत्त्व के विकास की संभावनायें जितनी कम होंगी, उतनी ही अधिक यह संभावना होगी कि भिन्न क्षेत्रों में उसके आविष्कार या खोज होने के बाद होनेवाले परिवर्तन एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप से एक-से ही मार्ग का आश्रय लेंगे। अर्थात्, "जहां कहीं भी उद्गम और विकासों में अन्तिम परिणामों की सीमितता के साथ विविधता का अधिक विस्तृत विस्तार मिलता है, वहां विविधता और असमता में कमी होगी और सदृशता या एकपातिता में वृद्धि होगी।"[९] इसका एक उदाहरण पतवार है जो कि यद्यपि अनेक विभिन्न सामग्रियों से व विविध शक्लों में बनायी जा सकती है, किन्तु "यदि आप एक **अच्छी** पतवार चाहते हैं" तो वह न तो बहुत लंबी, न बहुत छोटी होनी चाहिए; उसका फलक चपटा होना चाहिए और वह बहुत भारी न होनी चाहिए। इन सीमितताओं में "देर या सवेर से, एक प्रकार से या अन्य प्रकार से" पतवारों को "उनके प्रभावशाली प्रयोग की उपयोगिता द्वारा निर्धारित अपेक्षया कुछ निश्चित विशेषताओं वाले औज़ारों के रूप में विकसित होना पड़ा।" इस प्रक्रिया के अन्य उदाहरण भी सोचे जा सकते हैं। एक को लें, वंश को गिनने की तीन सम्भव रीतियां—दोतरफ़ा (Bilateral), या पिता की ओर से या माता की ओर से। इनमें से किसी एक प्रणाली का एक ही उद्गम मानना, विशेषकर जबकि हम देखते हैं कि पश्चिमी अफ्रीका जैसे अपेक्षया सीमित क्षेत्र में कई पितृवंशीय लोगों के पड़ौसी मातृवंशीय समूह हैं, जल्दबाज़ी होगा। इस प्रकार एकपातिता ने संस्कृतियों में समानता को समझाने के लिए प्रसार और स्वतंत्र आविष्कार के बीच एक विकल्प उपस्थित किया। फिर भी इससे एक आंशिक उत्तर ही मिला, चूंकि कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों को छोड़, अधिकांश उदाहरणों में निश्चित अभिलेखों का अभाव था। और इसलिए वह तथ्य की अपेक्षा संभावनाओं के ही कथन हैं।

---

९. ए० ए० गोल्डनवीज़र, १९३३, पृ० ४५–६।

"उद्दीपन-प्रसार" (Stimulus-diffusions) की अवधारणा को प्रस्तुत कर क्रोबर ने हमारी समस्या का एक अन्य पहलू बताया है। उसके अनुसार इसके अंतर्गत "एक प्रणाली या प्रतिमान को अपने प्रसार में स्वयं किसी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ता। किन्तु प्रणाली की ठोस अंतर्वस्तु (Content) के संक्रमण में कठिनाइयां होती हैं।" उसने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में पोर्सलीन बर्तनों के आविष्कार का एक उदाहरण दिया है। क्रोबर ने बताया कि लगभग दो सौ वर्षों से यूरोप में चीन के पोर्सलीन के बर्तन ज्ञात और प्रशंसित थे। आयात के व्यय से बचने की इच्छा ने परीक्षण को प्रोत्साहित किया जिससे अन्त में इच्छित वस्तु बन सकी।

"परिणाम यह है कि यहां पर एक वस्तु है जो कि एक दृष्टिकोण से आविष्कार से कम नहीं है। ऊपरी तौर से संस्कृतिशास्त्र की पारिभाषिक भाषा में यह एक "समानान्तर" है। पर यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि जहां तक यूरोपियों का सम्बन्ध है, यह आविष्कार मौलिक होते हुए भी वस्तुतः स्वतंत्र न था। एक अन्य संस्कृति में पहले से विद्यमान वस्तु द्वारा एक लक्ष्य या ध्येय निर्णीत था, मौलिकता केवल उस कार्यप्रणाली की प्राप्ति तक सीमित थी जिससे कि यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। यदि चीनी पोर्सलीन पहले से विद्यमान न होती और यूरोप में न पहुंचती, तो यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि यूरोपीय लोग अठारहवीं शताब्दी में और संभवतः बहुत बाद तक भी पोर्सलीन का आविष्कार कर पाते।"[१०]

आविष्कार, खोज और तज्जनित परिवर्तन की प्रक्रियायें कितनी जटिल हैं, यह इस विषय के विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट है। जैसा प्रायः माना जाता है, उसकी अपेक्षा मानव में अधिक आविष्कार-वृत्ति है, यह तथ्य हमें संस्कृति के गतिशास्त्र को समझने में सहायता देता है। चूंकि यदि किसी संस्कृति में इन छोटे और बड़े परिवर्तनों की बाहर से लिये गये से भी तुलना की जाय, तब भी इनका जोड़ बहुत बैठता है। वस्तुतः यहीं पर आविष्कार, खोजें और प्रसारित तत्त्व मिल जाते हैं और उन्हें **नवप्रवर्तनों** की श्रेणी में रखा जा सकता है। प्रत्येक नवप्रवर्तन चाहे वह खोजा गया, या आविष्कृत या प्रवेश कराया गया हो, चेतन मानवीय परीक्षण की प्रवृत्ति और मानवीय कौशल की अभिव्यक्ति है। एक नवप्रवर्तन के तत्काल बाद छोटे परिवर्तन शुरू हो जाते हैं और परिवर्तन की प्रक्रिया कभी भी बन्द नहीं होती।

---

१०. ए० एल० क्रोबर, १९५२, पृ० ३४४–५।

अध्याय पच्चीस

प्रसार और परसंस्कृतीकरण

सांस्कृतिक संक्रमण या सांस्कृतिक आदान (Borrowing) की समस्या की क्रमबद्ध खोज लगभग बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से शुरू हुई। उससे पूर्व, जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृति के अध्ययन में सांस्कृतिक विकासवाद की प्रभुता थी। जबतक कि इस सिद्धान्त की सत्यता की पुनःपरीक्षा नहीं हुई, तब तक प्रसार (Diffusion) की कार्यप्रणाली को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और उसके निहितार्थों की खोज नहीं की गई।

तीन "सम्प्रदायों" (Schools) ने सांस्कृतिक इतिहास या सांस्कृतिक गतिशास्त्र (Dynamics) या दोनों के प्रतिपादन और अध्ययन में प्रसार को अपना आधार बनाया है। हम पहले अंग्रेज़ी समूह का नाम ले सकते हैं जिसमें इलियट स्मिथ, डब्ल्यू० जे० पेरी और उनके समर्थक हैं, जिन्हें कि कभी-कभी "सर्व मिस्री" (Pan-Egyptian) या "सूर्य-पाषाण" (Heliolithic) सम्प्रदाय कहा जाता है। यह मानवशास्त्रीय रंगमंच पर सबसे बाद में आया और सबसे पहले विदा हो गया, और मानवशास्त्र के इतिहास में इसने भीषण वादविवाद को जन्म दिया। अगला समूह जर्मन-आस्ट्रियन "सांस्कृतिक-ऐतिहासिक" (Culture-historical) सम्प्रदाय है। कोलोन संग्रहालय के एफ० ग्रेबनर और ई० फ़ौय ने इसे स्थापित किया था; बाद में यह उन विद्वानों द्वारा, जिन्होंने मुख्यतः अपनी रचनायें पेटर डब्ल्यू० शिमिट और उसके सहयोगियों डब्ल्यू० कौपर्स और एम० गुसिंडे के नेतृत्व में आस्ट्रियन पत्रिका **एंथ्रोपोस** में प्रकाशित कीं, जारी रहा। यूरोप के महाद्वीप पर मानवशास्त्रीय विचारधारा के सम्प्रदायों में यह अग्रणी है, किन्तु अंग्रेज़ी-भाषी मानवशास्त्रीय क्षेत्रों में इसे कभी कोई स्वीकृति नहीं मिली।

तीसरा समूह अमरीकी है, जिसे कि कठिनाई से ही एक सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसका दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। यह अखिल विश्व के स्तर पर तुलनात्मक अध्ययनों की अपेक्षा, जोकि पिछले दो दृष्टिकोणों की विशेषतायें हैं, क्षेत्रीय गवेषणा और इतिहास के सीमित पुनर्निर्माण पर ज़ोर देता है। प्रायः यह एफ़० बोआस के नाम से संयुक्त है। क्रोबर, लौवी, गोल्डनवीज़र, सापिर, स्पीयर और उसके अन्य शिष्यों ने इसकी अवधारणाओं को विकसित और इसकी क्षेत्रीय गवेषणाओं को पूरा किया। इस दृष्टिकोण के बहुत निकट स्कैंडीनेवियन हैं; स्वीडन में नौर्डनस्कयोल्ड और लिंडब्लोम, डेन्मार्क में थैलबिट्ज़र और बर्केट-स्मिथ का यह दृष्टिकोण है। फ्रांस, बेल्जियम और हालैंड में भी इसकी पद्धतियों को सहानुभूति से अपनाया और प्रभावपूर्ण रीति से प्रयोग में लाया गया।

प्रसार की कोई भी चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि हम प्रसार-विरोधी कृत्यात्मक (Functionalist) सम्प्रदाय की स्थिति की, जोकि मुख्यतः बी० मैलिनोवस्की के नाम से जुड़ी हुई हैं, समीक्षा न करें। सांस्कृतिक एकीकरण की चर्चा में हम देख चुके हैं कि कृत्यवादियों की दिलचस्पी इसमें है कि किस प्रकार एक ही काल-स्तर पर कार्य करती हुई संस्थायें एक ही सांस्कृतिक सम्पूर्ण के भाग के रूप में एक-दूसरे को पुष्ट करती हैं। इस प्रकार कृत्यवादी केवल यह समझना चाहते हैं कि किस प्रकार संस्कृति का प्रत्येक पहलू प्रत्येक अन्य पहलू से सम्बन्धित है।

इलियट स्मिथ की भांति मैलिनोवस्की उग्र विवादों में पड़नेवाला लेखक था और प्रसार के विरुद्ध उसकी आलोचनायें उतनी ही कटु थीं जितनी कि प्रसार-वादियों की विकासवादियों के विरुद्ध। किन्तु वह सिद्धान्त की अपेक्षा पद्धति का अच्छा समालोचक था। "प्रसारवाद" पर आक्रमण करते हुए उसने ग्रैबनर और बोआस या क्रोबर या शिमिट को एक में मिला दिया और इस बात की सर्वथा उपेक्षा की कि बोआस और ग्रैबनर या क्रोबर और शिमिट के बीच असहमति का क्षेत्र उतना ही चौड़ा है जितना कि इनमें से किसी एक विद्वान् और मैलि-नोवस्की के बीच में हैं। वस्तुतः अधिकांश बातों में अमरीकनों की स्थिति कृत्यवादियों से थोड़ी ही भिन्न थी। दो अतिशय प्रसारवादी सम्प्रदायों को पृथक् करनेवाली भिन्नताओं के बावजूद, वास्तविक भेद एक ओर अमरीकनों और कृत्यवादियों में था तथा दूसरी ओर सांस्कृतिक-ऐतिहासिक सम्प्रदाय और इलियट स्मिथ की परित्यक्त स्थिति में था।

२

अंग्रेज़ी प्रसारवादी सम्प्रदाय (Diffusionist school) का उत्थान व पतन मानवशास्त्रीय इतिहास की एक लघुजीवी घटना है। इस "सम्प्रदाय" का संस्थापक सर ग्रैफ्टन इलियट स्मिथ एक लब्धप्रतिष्ठ शरीररचनाशास्त्री था; मस्तिष्क पर उसके कार्य और पुरामानवशास्त्र के उसके अध्ययनों ने उसे बड़ी और उपयुक्त ख्याति दी थी। अपने जीवन में एक समय उसने मिस्र की ममियों के मस्तिष्कों का अध्ययन किया, इस गवेषणा के लिए उसे मिस्र जाना पड़ा, वहाँ वह मिस्री सभ्यता के गुण से बहुत प्रभावित हुआ। जैसा कि अन्य कइयों ने भी किया है, उसने यह देखना शुरू किया कि प्राचीन मिस्र की संस्कृति, जिसमें कि अनेक तत्त्व हैं, कहां तक संसार के अन्य भागों की संस्कृतियों के समान है। उसके साहसिक सिद्धान्त देश और काल के विचार का अतिक्रमण कर गये। उसने न केवल यही कल्पना की कि भूमध्यसागरीय बेसिन, अफ्रीका, निकटपूर्व और भारत के तुलनायोग्य सांस्कृतिक तत्त्वों का उद्गम स्थान मिस्र था, बल्कि यह भी कि इंडोनेशिया, पौलिनेशिया और अमरीकाओं में भी वह उसी प्रकार ग्रहण किये गये थे।

सांस्कृतिक इतिहास के सूर्य-पाषाण सिद्धान्त का जिस नाम से इस सम्प्रदाय

की यह पूर्वकल्पना प्रसिद्ध हुई, सबसे विस्तृत विवरण पैरी ने अपनी पुस्तक **'दि चिल्ड्रन आफ़ दि सन'** में दिया है। इसका शीर्षक गुणों के संकुल में से उस एक तत्त्व का संकेत करता है जिसे कि मिस्र से उत्पन्न और प्रसारित कल्पित किया गया। वह तत्त्व यह विश्वास था, कि शासक सूर्य से अवतरित होता है। इस गुणों के समुदाय के अन्य तत्त्व थे, ममीकरण, पिरैमिडों का निर्माण और स्वर्ण तथा मोतियों को अत्यधिक महत्त्व देना, ।

इलियट स्मिथ और उसके समर्थकों ने ग्रहण करने को सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रायः एकमात्र साधन माना है। उसके सिद्धान्त में मानव जाति की आविष्कारक क्षमता लगभग शून्य है और इस संभावना से कि संस्कृति के कुछ गुणों को स्वतंत्र रूप से आविष्कृत किया जा सकता है, वह स्पष्टतः इन्कार करता है। इस स्थिति के साथ बहुउद्गमों और बहुप्रसारों को भी अस्वीकार किया गया है। एकपातिता (Convergence) की संभावना का तो कोई ज़िक्र ही नहीं उठता। इलियट स्मिथ और पैरी की अधिकांश युक्ति न्यासों की ऐसी व्याख्या पर निर्भर है जिसे कि पिरैमिडों का उदाहरण देकर बताया जा सकता है। वस्तुतः मिस्री अर्थों में एक पिरैमिड कब पिरैमिड है? क्या एक पिरैमिड जो कि मैक्सिकी पिरैमिडों की भांति एक बुनियादी रचना है, जिस पर कि मंदिर बनाया जाता है, एक ऐसा सांस्कृतिक तथ्य है जो कि मृत राजा की स्मृति में और उसके शव को सदा के लिए रखने के लिए बनाये गये एक पिरैमिड की शक्ल की इमारत के समान है? एक बार सभी पिरैमिडों के उद्गम की एकता को मान कर, इस पूर्वकल्पना को अधिकाधिक कमज़ोर उदाहरणों पर लागू किया जाता है। पोलिनेशिया के पत्थर के चबूतरों, ओहियो घाटी के मिट्टी के धूहों को पिरैमिडों का अवशिष्ट या सीमांत रूप माना जाता है। मिस्री "सभ्यता" के अन्य तत्त्वों की भी इसी प्रकार व्याख्या की जाती है। आनुष्ठानिक प्रयोगों के लिए सुरक्षित रखी जानेवाली मृत अफ्रीकी राजा की जांघ की हड्डी इलियट स्मिथ के लिए मिस्री ममीकरण का प्रसार है। कोई भी एक बड़े पत्थर से बना स्मारक एक बृहत्-पाषाण स्मारक (Megalithic monument) है जोकि उसी स्थान से उत्पन्न हुआ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक समूह स्वयं निर्माण करने की अपेक्षा संस्कृति के अधिक तत्वों को ग्रहण करता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, जैसा कि प्रसारवादियों की मान्यता है, कि मानव जाति कम-से-कम आविष्कार करती है और अधिक-से-अधिक नकल करती है। इसके विपरीत, चूंकि हम ग्रहण करने की घटना को स्वीकार करते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि सांस्कृतिक परिवर्तन का एकमात्र साधन इसे ही माना जाय। मानव की आविष्कार-क्षमता की उपेक्षा और साथ ही देश और काल के कारकों को अस्वीकार कर मिस्री संस्कृति के विश्वव्यापी प्रसार की कल्पना के कारण अन्ततः सूर्य-पाषाण प्रसारवादी मत को त्याग दिया गया।

जर्मन-आस्ट्रियन संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय का दृष्टिकोण अधिक परिष्कृत

है। ग्रहण किये गये कल्पित तत्वों के मूल्य का निर्णय करने के लिए सावधानी से बनाये गये इसके मापदंड, स्रोत सामग्रियों के प्रयोग में सावधानी बरतने का इसका आग्रह, तथा जिस सावधानी से इसकी परिभाषायें बनाई गई हैं और इसके लिखित विवरणों की समृद्धि, विद्वत्ता की मांगों के अनुरूप हैं, इन्हीं कारणों से इसे विस्तृत स्वीकृति मिली है। इसके नेता फ़ादर शिमिट के मत में संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय का सिद्धान्त मूलतः जीवन की प्रकृति और मानव अनुभव की रहस्य-वादी धारणा पर आधारित है। इसे एक निश्चित चिन्तन आधार पर विकसित किया गया है और इसमें उस शब्दावलि का उपयोग किया गया है जो कि बुनि-यादी तौर से तर्कसंगत दृष्टिकोण और मानवशास्त्रीय शब्दावलि से भिन्न है। यह इस सम्प्रदाय के पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण पर कितनी छायी हुई है, इसे शिमिट की संस्कृति के उन विभिन्न स्तरों के अध्ययन करने की प्रविधियों की चर्चा में देखा जा सकता है, जिनमें कि यह सम्प्रदाय सब संस्कृतियों को बांटता है और जो कि अपने तत्त्वों के प्रसार द्वारा पृथ्वी पर आज विद्यमान संस्कृतियों को बनाने वाली मानी गई हैं। सभी जनवृत्तशास्त्रियों की भांति शिमिट "आदिकालीन जीवन" बिताने वालों के लिए, और उससे भी अधिक जो कि अतीत में उसे बिता चुके हैं, उक्त शब्द का जो अर्थ है, उसे समझने की आवश्यकता को स्वीकार करता है। वह कहता है कि इसे हम एकानुभूति (Empathy) के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से समझ सकते हैं, जिसके द्वारा कि गवेषक अपने से सम्बन्धित व्यक्ति की मानसिक अवस्था में अपने को रख सकता है।

जब कोई अच्छा क्षेत्रीय कार्यकर्ता अपने द्वारा अध्ययन किये जाने वाले पात्रों का विश्वास प्राप्त कर लेता है तब बहुत कुछ ऐसा ही होता है। हम कुछ हैरत के साथ शिमिट द्वारा[1] यह जानते हैं कि इससे विद्यार्थी उन पहली संस्कृतियों का पुनर्निर्माण कर सकता है जिनके प्रवासों ने उन सांस्कृतिक स्तरों को उत्पन्न किया जिनसे कि वर्तमान संस्कृतियों के सम्पर्कों के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए, यह माना गया है कि पिग्मी मानव के अनु-भव "आदिकालीन" अर्थात् प्राचीनतम (Primeval) स्तर को दर्शाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह जिस भांति आज विद्यमान हैं, उनके अध्ययन से आदिकालीन स्तर की अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक संरचना और मानव अनुभव के अन्य पहलुओं का उद्धार किया जा सकता है। परन्तु इन अर्थों में यह एकानुभूति नहीं, बल्कि कल्पना की उड़ान है जिसे कि शिमिट सांस्कृतिक प्रसार के तत्वों के निर्णय करने में साधन के रूप में प्रयोग करने के लिए कहता है।

संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय के पद्धतिशास्त्र और सामान्यतः मानवशास्त्र को ग्रैबनर की मुख्य देन एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह में सांस्कृतिक तत्वों के कल्पित प्रसार को आंकने के मापदंडों को पैना करना और उन्हें वस्तुगत

---

१. डब्ल्यू० शिमिट १९३९, पृ० २६३-५,।

अभिव्यक्ति प्रदान करना था। यह मानदंड जिन्हें कि उसने रूप और राशि का मानदंड कहा है, सांस्कृतिक संक्रमण के सभी अध्ययनों के लिए बुनियादी हैं। उनका अर्थ बहुत सरल है। जब दो भिन्न समूहों की संस्कृतियां सदृशतायें व्यक्त करती हैं, उनके एक ही स्रोत से निकलने की संभावना पर हमारा निर्णय इस पर निर्भर होगा कि वह संख्या में कितनी अधिक हैं और कितनी जटिल। जितनी अधिक सदृशतायें होंगी उतनी ही अधिक ग्रहण करने की संभावनायें होंगी, और यही बात एक निर्दिष्ट तथ्य की जटिलता के लिए ठीक है। उदाहरण के लिए यही कारण है कि, अनक्षर लोगों में ऐतिहासिक सम्पर्क के अध्ययन के लिए लोककथाओं का प्रभावपूर्ण उपयोग किया जा सकता है। यह स्मरणीय है कि एक कथा में स्वतंत्र परिवर्तनीय तत्त्व होते हैं, जिनमें से प्रत्येक पृथक् रूप से दूसरे स्थान पर जा सकता है। इसीलिए जब हम कथा जैसे एक जटिल सांस्कृतिक तत्त्व का विस्तृत प्रसार देखते हैं, तो यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि जिन सब स्थानों पर यह पहुंची है, वहां यह प्रसारित हुई होगी, स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं।

तथापि कुछ ऐसी सावधानी हैं जिन्हें बरतना ज़रूरी है, और जिनपर ग्रैबनर ने उचित ध्यान नहीं दिया। अमरीकी प्रसारवादियों की रचनाओं में यह सावधानियां प्रमुख हैं; और यह स्थान के पास पहुंच सकना और समय की उचित निकटता पर जोर देती हैं। ग्रैबनर का कहना था कि यदि संस्कृति के दो तत्वों को रूप और राशि के मानदंड के आधार पर एक-सा स्थापित किया जा सके, तो वह कहीं भी मिलें उनका एक ही स्रोत होना चाहिए। इसके अलावा उसने गुणों के "समुच्चयों" (Bundles) की खोज की जिनके आधार पर वह प्रसार को स्थापित कर सके। कठिनाई यह थी कि एक "समुच्चय" की मदों का एक-दूसरे से कोई कृत्यात्मक सम्बन्ध न था। एक शब्द में, वह एक इकाई के रूप में केवल विद्यार्थी के मन में विद्यमान थे।

एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। एंकरमन ने कांगो और पश्चिमी अफ्रीका की संस्कृतियों को निम्न गुणों के "संकुल" (Complex) के शब्दों में रखा, जो कि ग्रैबनर द्वारा ओशीनिया की पूर्वी पापुअन संस्कृति के लिए बनाये गये गुणों के संकुल के सदृश थे। ये थे: गुप्त सभायें, नक़ली चेहरे, नरभक्षण, बेंत और लकड़ी की ढालें, जाइलोफ़ोन, पैनपाइप, छाल के कपड़े, लकड़ी के ढोल, और तराशी हुई मानव आकृतियां इत्यादि। चूंकि वह तत्त्व दक्षिणी अमरीका की कई अन्य इंडियन संस्कृतियों में भी विद्यमान हैं, गुणों के इस संग्रह को एक ही सांस्कृतिक स्तर का बताया गया, जिससे कि ग्रैबनर के समर्थक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह एक ही ऐतिहासिक धारा के प्रसार का परिणाम हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसा "संकुल" मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्बद्ध गुणों का एक समूह है और एक संकुल के रूप में केवल बाहरी परिभाषा पर टिका हुआ है; संस्कृति में रहने वाले लोगों के लिए संकुल के रूप में इसका कोई अर्थ नहीं है। जैसा कि

सापिर ने इसे रखा : "पश्चिमी तट का मुड़ा हुआ पतवार अनिवार्यतः अपने मैलेनेशियन साथी को जोर से बुलाता हुआ नहीं सुनाई देता।"[२]

जनवृत्तशास्त्रीय न्यासों के प्रयोग की पद्धति में इन दोषों, मानवीय सांस्कृतिक अनुभव के आधारों के प्रति रहस्यवादी दृष्टिकोण और इसके निष्कर्षों के अत्यन्त काल्पनिक स्वरूप ने अनेक मानवशास्त्रियों को संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय की स्थिति को त्यागने को बाध्य किया। फिर भी समग्र रूप से इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में हम चाहे कोई भी मत बनायें, परन्तु इस समूह के लेखकों की रचनाओं में सांस्कृतिक सम्पर्कों को आंकने के स्पष्ट मानदंड इस देन को महत्त्व प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, अपने प्रारम्भिक प्रतिपादन के समय संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय द्वारा प्रसार पर ज़ोर दिया जाना, संस्कृति के अध्ययन में पहले विकासवादी और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया थी। ग्रैबनर और शिमिट के समृद्ध विवरण और इस "सम्प्रदाय" के अनेक सदस्यों द्वारा किये गये क्षेत्रीय अध्ययन, उदाहरण के लिए, टियरा डैल फ्यूगो में कौपर्स और गुसिंडे का कार्य, वह अतिरिक्त कारण हैं जिनसे इस समूह को उसके कट्टर विरोधियों में भी सम्मान मिला।

यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाने के लिए ऐतिहासिक विकास की नियमितता की कल्पना पर आधारित परिभाषा की स्पष्टता ही पर्याप्त नहीं है। संस्कृति-इतिहासकारों जैसा दृष्टिकोण अधिक-से-अधिक सांस्कृतिक गतिशास्त्र के "क्या ?" और "क्यों ?" प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। परन्तु किसी नवप्रवर्तन की स्वीकृति या अस्वीकृति के पीछे क्या कारण हैं, यह इस समूह के दायरे से भी उतने ही बाहर हैं जितने कि वह अंग्रेज़ी प्रसारवादियों के उदाहरण में थे। सांस्कृतिक परिवर्तन को समझने में उनका लक्ष्य पहला कदम है। संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय द्वारा उठाये गये इस पहले कदम के सम्बन्ध में मुश्किल से ही यह कहा जा सकता है कि इसने सांस्कृतिक कार्यकारण के विश्लेषण का वह आधार जुटाया है जो कि अन्ततः संस्कृति के स्वरूप और सांस्कृतिक परिवर्तन के किसी वैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य होना चाहिए।

३

फ्रैंज बोआस द्वारा शुरू किये गये प्रसार के अध्ययन परसंस्कृतीकरण (Acculturation) के विवेचन में एक पुल का काम करते हैं। बोआस ने बहुत पहले ही यह समझ लिया था कि वह बुनियादी प्रश्न जिससे कि संस्कृति के अध्ययन को निपटना है, उतना भिन्न लोगों के बीच सम्पर्क नहीं है जितना कि इस सम्पर्क के वह गत्यात्मक परिणाम हैं जो कि सांस्कृतिक परिवर्तन को बनाते हैं। वह "क्या ?" प्रश्न का उत्तर देने तक ही सम्बन्धित था, परन्तु वहींतक जहां तक कि उसके उत्तर प्रश्न "क्यों ?" में अन्तर्हित प्रक्रिया को समझने में

---

२. ई० सापिर, १६४६, पृ० ४२२।

मदद दे सकें। अतएव विवरणात्मक तथ्यों के उद्धार की अपेक्षा गतिशास्त्र पर ज़ोर अमरीकी प्रसारवादियों को अन्य देशों में उनके साथियों से उन्हें पृथक् करता है।

यदि हम बोआस की रचनाओं को पढ़ें, तो हम देख सकते हैं कि उसकी स्थिति किस प्रकार इलियट स्मिथ, पैरी, ग्रैबनर, शिमिट और अन्य कट्टर प्रसारवादियों से भिन्न है। उसने निम्न बातों पर ज़ोर दिया है:

१. प्रक्रिया के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए प्रसार का विवरणात्मक अध्ययन एक प्रारम्भिक तैयारी है।

२. प्रसार का अध्ययन आगमनात्मक (Inductive) होना चाहिए। अर्थात् संस्कृतियों के जिन संयुक्त गुणों (संस्कृति-संकुलों) को प्रसारित समझा जाता है, उन्हें विद्यार्थी द्वारा मनमाने तौर से वर्गीकृत किये जाने की अपेक्षा उनके आन्तरिक सम्बन्धों के अनुसार उन पर विचार करना चाहिए।

३. प्रसार के अध्ययन को विशेष से सामान्य की ओर बढ़ना चाहिए। गुणों के वितरणों को महाद्वीपों या अखिल विश्व में दिखाने से पहले सीमित क्षेत्रों में उनके वितरणों को चित्रित करना चाहिए।

४. उन गत्यात्मक प्रक्रियाओं के अध्ययन में, जिनकी कि प्रसार एक अभिव्यक्ति है, हमारा दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक होना चाहिए, और व्यक्ति तक पहुंचना चाहिए, जिससे कि सांस्कृतिक परिवर्तन की यथार्थता को समझा जा सके।

उग्र प्रसारवादी सम्प्रदायों के अनुयायियों ने इनमें से किसी बात के प्रति भी मौखिक सहानुभूति से अधिक और कुछ नहीं किया। उनकी रचनाओं का विवेचन करते हुए कई बार यह बताया जा चुका है कि उनकी गवेषणा में प्रसार के तथ्यों के परे कोई लक्ष्य देखना कठिन है। मानव के इस विश्वास के सामने कि मानव ने सब जगह संस्कृति के तत्वों का स्वतंत्र रूप से आविष्कार किया, ग्रहण करने के तथ्य को स्थापित करना महत्वपूर्ण था। किन्तु यह भी संतोषजनक नहीं कि हम एकदम दूसरी अति पर चले जायें और यह कहें कि एक-से तत्त्व कभी भी स्वतंत्र रूप से आविष्कृत नहीं हुए। इसलिए बोआस ने कहा, कि विभिन्न संस्कृतियों में सदृश गुणों की सूची अपने आप में कभी भी ऐतिहासिक सम्पर्क का पर्याप्त प्रमाण नहीं जुटा सकती। प्रसार का प्रमाण देने के लिए, सदृशताओं में समान रूप से सम्बन्धित सदृश गुणों को सम्मिलित करना होगा, और यह भी केवल एक सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत, जहां पर कि ग्रहण करने वालों और देने वालों के बीच आदान-प्रदान की कल्पना करना कठिन नहीं है।

बोआस और उसके मत से सहमत लोगों की दृष्टि में सबसे बड़ी बात ग्रहण करने की जड़ में विद्यमान मनोवैज्ञानिक कारकों को निरन्तर ध्यान में रखना है। उनका मत था कि यह अवश्य किया जाना चाहिए, वहां भी जहां कि इन कारकों का, अपने आप में स्वयं अध्ययन संभव नहीं जैसाकि अनक्षर लोगों में, जहां कि कोई ऐतिहासिक लेखे नहीं हैं। ऐसी संस्कृतियों का पहले पृथक् रूप से विश्लेषण कर, फिर ब्यौरेवार उनके संगठन और संरचना तथा साथ ही तत्त्वों की

तुलना करनी चाहिए। तभी ग्रहण करने वाली संस्कृति में पहले से ही विद्यमान प्रतिमानों के अन्तर्गत ग्रहण किये गये तत्वों को नये रूप देने, और नये गुणों की स्वीकृति या अस्वीकृति जैसे प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, निष्कर्षों को वहीं पर लागू होने योग्य माना जाता है जहां कि सीमित क्षेत्र के अनेक प्रदेशों के अन्वेषण उन्हें एक सामान्यीकरण के रूप में रखना उचित ठहराते हैं।

अनक्षर लोगों के इतिहास को प्रकट करने के लिए अमरीकी जातिशास्त्रियों की भांति किस प्रकार न्यासों के विश्लेषण का सीमित रूप में प्रयोग किया जा सकता है, इसका सबसे क्रमबद्ध प्रतिपादन संभवतः सापिर ने किया है। यह मान कर कि इन ग़ैर-ऐतिहासिक लोगों के सम्बन्ध में हमारा समस्त ज्ञान एक ही काल-स्तर पर संकलित न्यास हैं, वह इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है: "विशुद्ध विवरणात्मक तथ्यों के चकरानेवाले ढेर में हम किस प्रकार काल-क्रम (Chronology) का प्रवेश करा सकते हैं?" सापिर ने दो सीमिततायें बताई हैं: कि ऐतिहासिक पुनर्निर्माणों के काल-दृष्टिक्रम (Time Perspective) में इतिहास के निश्चित काल-क्रम को नहीं पाया जा सकता और हमें समूहों के बीच घटित सम्बन्धों के, न कि व्यक्तियों के जो कि इस प्रक्रिया के प्रभावशाली साधन थे, अध्ययन से संतुष्ट हो जाना चाहिए।

वह महत्त्वपूर्ण समस्या जिसका सामना करना पड़ता है उसे सापिर ने "एक सांस्कृतिक केन्द्र से निरंतर वितरण"[3] की व्याख्या की समस्या कहा है, और जो कि आयु-क्षेत्र (Age-area) पूर्वकल्पना के नाम से प्रसिद्ध है। विस्लर ने, जिसने कि इसका उत्तरी अमरीका के क़बीलों के ऐतिहासिक सम्बन्धों के विश्लेषण में प्रयोग किया है, इसका सबसे विस्तृत विवरण लिपिबद्ध किया है। उसने इस प्रकार सरलता से उसे व्यक्त किया है: "सीमित विस्तार के वितरण को नवप्रवर्तन (Innovation) होने का संदेह किया जा सकता है, जबकि विस्तृत विस्तारवाला पर्याप्त आयु का होगा।"[4]

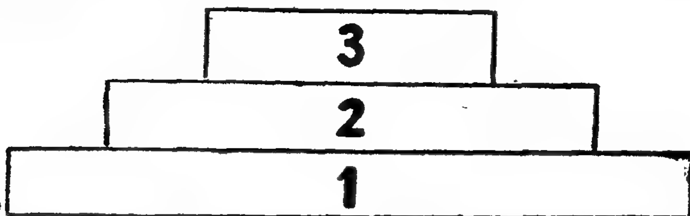
यह प्रस्थापना जिसे कि पुरातत्त्वशास्त्रीय और जनवृत्तशास्त्रीय वितरणों में लिपिबद्ध किया गया है, इसे निम्न रेखाचित्र से दर्शाया गया है:

हम यह मान लेते हैं कि यह तीन सम्बन्धित मिट्टी के बर्तनों के प्रकारों के पुरातत्त्वशास्त्रीय वितरणों को दर्शाता है। उस क्षेत्र के केन्द्र में जहाँ पर यह मिला है तीन स्तर निकले; दो प्रकार अधिक विस्तृत क्षेत्र में मिलेंगे, जब कि दोनों पूर्ववर्तियों में से प्रत्येक की तली में पाये जाने वाले प्रकार का वितरण और भी अधिक विस्तृत होगा। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार के बर्तन प्रदेश ३ में उत्पन्न हुए और वहां से २ में प्रसारित हुए। इसी बीच प्रदेश ३ के

---

३. ई० सापिर, १६४८, पृ० ४१०–१२।
४. सी० विज्लर, १६२६, पृ० १५।

लोग एक नये प्रकार को विकसित कर रहे थे जो कि बाद में प्रदेश २ में प्रसारित हो गया और इसने वहां के मूल प्रकार को हटा दिया, जो कि इस बीच



रेखाचित्र ५६—आयुक्षेत्र अवधारणा का आधार निर्देशक चित्रण

में प्रदेश १ में प्रसारित हो गया था। इसी समय केन्द्र के लोगों ने एक तीसरा प्रकार विकसित किया जिसे कि समस्त क्षेत्र में विकास समाप्त होने से पहले प्रसारित होने का समय न मिला।

यहां यह विचार कि प्रसार समकेन्द्रक रीति से (Concentrically) होता है, बुनियादी है और इसी पर इस सिद्धान्त की सबसे अधिक आलोचना हुई है। सापिर ने, जिसकी रचना कि विस्लर से पहली है, निरंतर वितरण के विचार के बारे में तीन सावधानियां बतायी हैं। वह कहता है: (१) एक की अपेक्षा दूसरी दिशा में विस्तार अधिक तेज़ हो सकता है, (२) ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पुराने रूप में केन्द्र में इतना संशोधन हो सकता है कि उद्गम का ठीक स्थान ही ग़लत निर्धारित किया जाय और (३) वितरण के क्षेत्र में होने वाले जनसंख्या के प्रवास ऐसा प्रभाव डाल सकते हैं जोकि "ग़लत व्याख्या किये गये प्रकार के सांस्कृतिक वितरण" को जन्म देते हैं।[५]

डिक्सन ने, जो कि आयु-क्षेत्र पूर्वकल्पना का सबसे कठोर समालोचक था, केवल विस्लर की बुनियादी मान्यताओं को ही चुनौती नहीं दी, बल्कि जिन न्यासों को चित्रित कर उसने वह निष्कर्ष निकाले थे उनकी सत्यता को भी चुनौती दी। डिक्सन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि गुण "असंतुलित और अनियमित रीति से और भिन्न दरों से" प्रसारित होते हैं, साथ ही वह यह भी घोषित करता है कि "उद्गम का क्षेत्र, गुण का केन्द्र, प्रायः वह मध्य बिन्दु नहीं होता जहां से कि विशेषतायें फैलती हैं, बल्कि यह मुख्यतः सीमान्त में विकसित होते हैं।" वह यह कहकर उपसंहार करता है कि एक सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत आयु-क्षेत्र की पूर्वकल्पना के सिद्धान्तों में कुछ सत्यता हो सकती है, किन्तु "जैसे ही... गुण अन्य वातावरण और भिन्न संस्कृति में चला जाता है, दोनों द्वारा प्रयुक्त संशोधन की विपुल और निरंतर शक्ति सक्रिय हो जाती है और वह अब तक सक्रिय सिद्धान्तों का अन्तिम और अवश्यंभावी विनाश लाती है।"[६]

---

५. ई० सापिर, १९४८, पृ० ४११–१२।

६. आर० बी० डिक्सन, १९२८ पृ० १४५–६।

विस्लर द्वारा प्रयुक्त अमरीकी इंडियनों के न्यासों की डिक्सन की कठोर आलोचना में उन उदाहरणों को भी जोड़ा जा सकता है जहां कि यह सिद्धान्त उन तथ्यों पर लागू नहीं होता जिनके सम्बन्ध में हमारे पास ऐतिहासिक लेखे मौजूद हैं। वालिस ने देखा कि "विस्लर का केन्द्रापमुखी (Centrifugal) प्रसार का सिद्धान्त पुरानी दुनिया के गुणों पर, जहां कि ऐतिहासिक साक्षी उपलब्ध है, लागू नहीं होता"। एक उदाहरण के रूप में "पुरानी दुनिया में संख्या चार और संख्या सात से संयुक्त प्रतीकवाद के सापेक्ष वितरण" के सम्बन्ध में वह बताता है कि रहस्यवादी संख्या के रूप में सात "सदियों से चार की अवधारणा की अपेक्षा अधिक विस्तार से प्रसारित रहा है। यद्यपि जहां तक ऐतिहासिक लेखे उपलब्ध हैं, उन क्षेत्रों में चार अधिक पुराना है।" इससे वालिस ने यह निष्कर्ष निकाला कि "पुराना गुण कम विस्तार से प्रसारित है और दोनों ही अवस्थाओं में उद्‌गम-स्थान वितरण-क्षेत्र का केन्द्र नहीं हैं।"[७] इसके बाद में हौडगन ने भी यह बताया कि ऐतिहासिक पुनर्निर्माणों में आयु-क्षेत्र सिद्धान्त को अत्यन्त सावधानी से बरतना चाहिए। हौडगन ने अपने "तिथियुक्त वितरणों" के अध्ययन में यह बताया कि किस प्रकार हवाई चक्की का वर्तमान यूरोपीय वितरण हुआ और किस प्रकार विभिन्न प्रविधियां वस्तुतः मध्यकालीन इंग्लैंड में प्रसारित हुईं। उसकी गवेषणा ने यह सिद्ध किया कि संस्कृति की इन मदों का फैलाव किसी भी प्रकार पूर्वकल्पना के अनुसार न था।[८] अन्य भी अनेक उदाहरण जिनकी कि इस "सिद्धान्त" पर विचार करते हुए उपेक्षा की गई है, उपस्थित किये जा सकते हैं। इस प्रकार विश्वव्यापी वितरण के कारण कुत्ते को बहुत समय से सबसे पुराना पालतू पशु माना गया है। किन्तु यह युक्ति इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि मुर्गी का भी, जिसे कि अपेक्षया हाल में ही पालतू बनाया गया है, विश्वव्यापी वितरण है।

क्या इस सब का यही अर्थ है कि अनक्षर लोगों के ऐतिहासिक सम्पर्कों और ग़ैरऐतिहासिक क्षेत्रों के ऐतिहासिक विकासों के पुनर्निर्माण के प्रयासों को छोड़ देना चाहिए? ऐसा निष्कर्ष उचित नहीं है। सब बातों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होगा कि यह प्रयास करना उपयोगी है, बशर्ते (१) **विश्लेषण के लिए चुना गया क्षेत्र ऐसा हो जिसकी ऐतिहासिक एकता मानी जा सके, और** (२) **ऐतिहासिक विकासों की संभावना, न कि उनके निश्चित तथ्य को लक्ष्य स्वीकार किया जाना चाहिए।**

४

वह प्रसारवादी, जिनकी अभिरुचि ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की अपेक्षा संस्कृति के गतिशास्त्र में थी, उनके दृष्टिकोण के भावात्मक तत्त्वों का विकास

---

७. डब्लू० डी० वालिस, १९३०, पृ० ७५–७६।

८. एम० टी० हौडगन, १९४२, पृ० ३५१-६८; १९५२।

परसंस्कृतीकरण (Acculturation) के अध्ययन में मिलता है। इस शब्द की परिभाषा और उसके कार्य के क्षेत्र को सीमित करने की समस्या, जिस पर कि इस शब्द को लागू किया जा सके, १९३५ई० के लगभग सामने आई। इस समय परसंस्कृतीकरण गवेषणा के मार्गदर्शन के लिए स्थापित समाज-विज्ञान गवेषणा परिषद् की समिति द्वारा तैयार किये गये स्मृतिपत्र में इसकी निम्न परिभाषा दी गई: "परसंस्कृतीकरण में उन घटनाओं का समावेश है जो कि भिन्न संस्कृतियों के व्यक्तियों के समूह के निरन्तर प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने से होती हैं और जिनके परिणामस्वरूप उनमें से एक या दोनों समूहों के मौलिक सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन घटित होते हैं।"[९]

इस परिभाषा के प्रकाशन के पांच ही वर्षों के अन्दर इसके तीन में से दो लेखकों ने इसमें संशोधन उपस्थित किये। एक ने संकेत किया कि "इस परिभाषा में उन घटनाओं की **"प्रकृति"** को स्पष्ट रूप से बताने का कोई प्रयास नहीं किया गया जिन्हें कि परसंस्कृतीकरण का अंश माना जायेगा।" यह बताया गया कि इस परिभाषा के अन्तर्गत यह निर्धारक हैं, "(क) वह विशेष परिस्थिति जिसमें घटनायें विद्यमान हैं, और (ख) वह घटनायें, जो कि विशेष परिस्थितियों का परिणाम दीखती हैं, उनके क्षेत्र को स्पष्ट रूप से सीमित न कर, उनका एक सुझाया हुआ परिसीमन।" "निरंतर प्रत्यक्ष सम्पर्क" वाक्यांश द्वारा लगाई गई सीमितताओं का भी निर्देश किया गया—"प्रत्यक्ष" सम्पर्क को अन्य सम्पर्कों से और अनिरंतर सम्बन्धों को "निरंतर" सम्बन्धों से पृथक् करने का।[१०]

दूसरी समालोचना "व्यक्तियों के समूह" वाक्यांश के प्रयोग के सम्बन्ध में थी।

"जहां कहीं भी संस्कृतियों के बीच सम्पर्क का ज़िक्र किया जाता है— यह माना जा सकता है कि कुछ मानवीय सम्पर्क अवश्य हुआ होगा, केवल उसी साधन से संस्कृति एक लोगों से दूसरे लोगों में या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में फैल सकती है। तथापि, जहां इस बात पर ज़ोर देना उचित है कि संस्कृति कोई ऐसी रहस्यवादी इकाई नहीं है जो कि बिना अपने मानव वाहकों के चल सके; वहां यह भी सही है कि "व्यक्तियों के समूह" कब सम्पर्क में हैं, यह जानना भी सरल नहीं है।"

इसे समझाने के लिए दक्षिणी सागरों के एक द्वीप टिकोपिया से एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहां पर "यूरोपीय संस्कृति के कुछ तत्त्व, विशेष कर भौतिक संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में, आदिवासी प्रतिमानों पर आक्रमण कर रहे हैं।" तब यह प्रश्न उठाया जाता है:

---

९. आर० रेडफील्ड, आर० लिंटन और एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३६, पृ० १४९-५०।

१०. आर० लिंटन, १९४० पृ० ४६४–५।

"क्या साल में एक या दो बार मिशन की नौका के आगमन और एक अकेले मिशनरी के कार्य को (जो कि एक-दूसरे द्वीप का देशवासी है और स्वयं यूरोपियन नहीं है) एक परसंस्कृतीकरण की शक्ति माना जायगा ? अवश्य ही यह व्यक्ति "व्यक्तियों का समहू" नहीं है, न ही यह स्थापित किया जा सकता है कि मिशन की नौका पर कभी-कभी आनेवाले लोगों के "आगमन" "निरंतर" सम्पर्क हैं।[११]

यह स्पष्ट है कि न तो सम्पर्क की अवधि न ही सम्पर्क की तीव्रता परसंस्कृतीकरण को सांस्कृतिक परिवर्तन की अन्य कार्य-प्रणालियों से पृथक् करने के उपयुक्त मानदंड हैं। हमारा सम्बन्ध मुख्यतः सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं से है और गौणतः उन परिस्थितियों के वर्गीकरण से है जिनमें कि परिवर्तन होता है। इस दृष्टिकोण से इसमें बहुत थोड़ा अन्तर है कि सांस्कृतिक संक्रमण के एक निर्दिष्ट उदाहरण को परसंस्कृतीकरण कहा जाय या प्रसार। जहां तक कि यह परिस्थितियां एक निर्दिष्ट उदाहरण में एक निर्दिष्ट नवप्रवर्तन के ग्रहण करने को प्रभावित करती हैं, केवल वहीं तक यह परिस्थितियां हमारे लिए महत्त्व की हैं। इसलिए हम पद्धतिशास्त्रीय विचार के अनुसार इन नामों का भेद करेंगे। बहुत वर्षों से प्रसार का अर्थ विद्यमान अनक्षर और इस अर्थ में ग़ैरऐतिहासिक संस्कृतियों की सदृशताओं और भिन्नताओं का विश्लेषण मान लिया गया है। लोगों के बीच हुए कल्पित सम्पर्कों का पुनर्निर्माण किया जाता है और ग्रहण किये गये तत्वों के संशोधनों का एक के बाद दूसरी संस्कृति में व्यक्त उनके भिन्न रूपों से अनुमान किया जाता है। इसके विपरीत, परसंस्कृतीकरण को मुख्यतः उन उदाहरणों पर लागू किया गया है जहां कि सांस्कृतिक तत्वों के संक्रमण को स्थान पर जाकर, या लेखबद्ध न्यासों या दोनों के प्रयोग से अधिक पूर्णता के साथ लिपिबद्ध किया जा सके। इसलिए संक्षेप में प्रसार **स्थापित सांस्कृतिक संक्रमण** (Achieved cultural transmission) **का अध्ययन** है जबकि परसंस्कृतीकरण **सांस्कृतिक संक्रमण की प्रक्रिया का अध्ययन** है।

यह प्रयोग वास्तविक पद्धतिशास्त्रीय भेद पर आधारित है, जिसमें कि अवलोकन और अनुमान का भेद प्रमुख है। इस दृष्टिकोण से प्रसार-अध्ययनों में यह मान लिया जाता है, कि चूंकि लोगों की संस्कृतियों का अध्ययन करते समय उनमें सदृशतायें देखी गई, अतः उनमें सम्पर्क घटित हुआ। इसलिए उन प्रक्रियाओं का पुनर्निर्माण जिनसे कि संक्रमण प्रभावकर हुआ प्राप्त सामग्रियों से होने वाले अनुमान पर आधारित होना चाहिए। विस्लर के अध्ययन, जिसने मैदानों और उनसे लगे हुए सांस्कृतिक क्षेत्रों में हिरण की खाल के जूतों के प्रतिमान को चित्रित किया, या हैलोवैल के समस्त उत्तरीय उत्तरी अमरीका और एशिया में रीछ-संस्कारवाद (Bear ceremonialism) की प्रादेशिक विभिन्नताओं के अध्ययन हमें यह

११. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३८ ए०, पृ० ११–१२।

बताते हैं कि किस प्रकार एक क़बीले से दूसरे क़बीले में जाने से निर्दिष्ट सांस्कृतिक तत्त्वों या तत्त्वों के संकुलों को सुधारा गया, या किस प्रकार एक के बाद दूसरे क़बीले ने एक निर्दिष्ट संकुल को ग्रहण कर उसमें विविध तत्त्व जोड़ दिये। फिर भी यह सब **कैसे** हुआ, यह **कब** हुआ, यह **कहां** से शुरू हुआ और यह परिवर्तन **किसके** द्वारा लाया गया, इन सब के उत्तर कल्पना पर आधारित हैं।

फिर भी परसंस्कृतीकरण के अन्वेषण में ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात होते हैं या प्राप्त किये जा सकते हैं। अधिकांश दशाओं में, परसंस्कृतीकरण की गवेषणा समकालीन अवधि के सम्पर्कों का अध्ययन करती है। इस प्रकार सम्पर्क से पहली अवस्थाओं को खोजा जा सकता है, सम्पर्क में आने वाले लोगों की सम्पर्क-पूर्व संस्कृतियों को जाना जा सकता है और संस्कृतियों की वर्तमान अवस्थाओं को लिपिबद्ध किया जा सकता है। कुछ उदाहरणों में विभिन्न तत्त्वों की स्वीकृति या अस्वीकृति को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्वों तक भी पहुंचा जा सकता है। जहां लिपिबद्ध करना आवश्यक है, वहां यह कार्य जनवृत्तशास्त्रीय और ऐतिहासिक सामग्रियों की **अंतःशास्त्रीय** (Cross cultural) गवेषणा से किया जाता है, जिसने एक विशेष प्रविधि को जन्म दिया है, जिसे जन-ऐतिहासिक (Ethno-historical) पद्धति कहा जाता है।

जहां पर विद्यार्थी ऐतिहासिक लोगों के अतीत सम्पर्कों को जानना चाहता है वहां लिपिबद्ध सामग्रियों के प्रयोग से परसंस्कृतीकरण की स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। इन सामग्रियों का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है क्योंकि जैसा कि हौडगन ने कहा है, "औपचारिक शैक्षणिक शास्त्रों की कठोर कृत्रिम सीमाओं ने परसंस्कृतीकरण-अध्ययन के क्षेत्र को अनुचित रूप से सीमित कर दिया है।" इस विद्वान् ने इंगलैंड में शीशा बनाने और कागज़ के प्रसार के अपने अध्ययन[१२] द्वारा यह दर्शाया है कि इन कृत्रिम सीमाओं को तोड़कर कितने उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं। उसने ग्रहण करने की तीन अवस्थायें—उद्घाटन (Exposure), स्थापना (Establishment) और विकिरण (Dissemination) बतलाई हैं। समकालीन लोगों के सम्पर्क के अध्ययनों में एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में इनके प्रयोग से महत्वपूर्ण परिणाम निकलने चाहिएं।

परन्तु व्यावहारिक रीति से प्रसार से परसंस्कृतीकरण को पृथक् करने से ही, जैसा कि यहां किया गया है "परसंस्कृतीकरण" शब्द के अर्थ की सीमा पूर्णतया निर्धारित नहीं हो जाती। विभिन्न विज्ञानों ने इसका भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। स्वयं मानवशास्त्र के साहित्य में इसके पर्याय रूप में प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। मनोवैज्ञानिकों, शिक्षकों और बाल-विकास के विशेषज्ञों ने प्रशिक्षण की उस प्रक्रिया को बताने के लिये, जिसके द्वारा बच्चा अपने समूह के जीवन का अभ्यस्त होता है, परसंस्कृतीकरण शब्द का प्रयोग किया है। यह स्पष्ट है कि इन अर्थों में यह शब्द

---

१२. एम० टी० हौडगन, १९४५ पृ० ४६६–६७।

संस्कृतीकरण (Enculturation) का पर्यायवाची होगा जिसका कि इन पृष्ठों में इस प्रक्रिया के वर्णन में प्रयोग किया गया है। जहां तक समझा जा सकता है, जिन्होंने परसंस्कृतीकरण शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया है उन्होंने इसके अर्थों को ठीक तरह निश्चित नहीं किया है। बाल-अध्ययनों के प्रतिवेदनों में पर-संस्कृतीकरण को कई अन्य शब्दों का भी अर्थ दिया जाता है और जहां तक प्रसंग से पता चलता है ऐसे अनेक निबन्ध मिलते हैं जिनमें **परसंस्कृतीकरण, समाजीकरण,** शिक्षा और प्रशिक्षण (Conditioning) को समानार्थक की भांति प्रयोग किया गया है।

जब कि विभिन्न विज्ञान एक शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं, उसके उचित-अनुचित प्रयोग का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब मूल्यांकन के प्रसंग में, किसी विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है, विशेषतः जहां गवेषणा तथाकथित उच्च या निम्न, सक्रिय या निष्क्रिय परम्पराओं के सम्पर्कों का अध्ययन करती है, इस पर ध्यान देना ज़रूरी है। किसी भी क्षेत्र के वैज्ञानिक अध्ययनों में इस प्रकार के मूल्यांकनों का प्रवेश तटस्थता को क्षीण कर देता है और इसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक विश्लेषण को कठिन बना देता है।

उदाहरण के लिए, हम मैलिनोवस्की के इस मत पर विचार करें कि अफ्रीकी संस्कृति-सम्पर्क का अध्ययन "एक उच्च, सक्रिय संस्कृति के एक सरल और अधिक निष्क्रिय संस्कृति पर संघात (Inpact)' का" अध्ययन है। इससे उत्पन्न परिस्थिति के अध्ययन के विषय में वह मानता है, "पश्चिमी सभ्यता के संघात और देशीय संस्कृतियों की उसके प्रति प्रतिक्रिया के रूप में संस्कृति परिवर्तन अवधारणा ही एकमात्र उपयोगी दृष्टिकोण है।"[१३] वह इस बात की उपेक्षा करता है कि अफ्रीकी संस्कृति-परिवर्तन में, चाहे वह दूसरे क़बीलों से या यूरोपिनों से ग्रहण किये गये हों, मूल निवासी भी अपना प्रभाव डालता है। यह स्थिति उन लोगों को अस्वीकार्य है जो यह मानते हैं कि सम्पर्क में आने वाले सभी लोग एक-दूसरे से ग्रहण करते हैं।

चूंकि मैलिनोवस्की की रचनाओं में अनक्षर लोगों के जीवन के मूल्यों पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बल दिया गया है और प्रत्येक संस्कृति को उसकी दिशा के अर्थों में अध्ययन करने की आवश्यकता बताई गई है, अतः उसके इस दृष्टिकोण का कारण संस्कृत्यभिमान में न ढूंढकर अन्यत्र ढूंढना चाहिये। कृत्यात्मक सिद्धान्त (Functionalist Theory) का मूलतः इतिहास-विरोधी दृष्टिकोण, जोकि अपेक्षया स्थिर दक्षिणी सागर की एक संस्कृति के क्षेत्रीय अध्ययन से प्राप्त किया गया था, इसका एक कारण कहा जा सकता है, और इसका दूसरा कारण मैलिनोवस्की का संस्कृति-सम्पर्क की घटना के अध्ययन का उद्देश्य अफ्रीकी औपनिवेशिक प्रशासन की व्यावहारिक समस्याओं को हल करना था।

---

१३. जी० **मैलिनोवस्की,** १९४५, पृ० १५, १७।

इनमें पहले कारण ने मैलिनोवस्की को संस्कृति में "शून्य-बिंदु" (Zero-point), वह बिंदु जिससे कि स्थिर जीवन रीति में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, उसकी अवधारणा को विकसित करने के लिए प्रेरित किया। यह विश्वास करना कठिन है कि उसने इस अवधारणा को केवल नष्ट करने के लिए ही विकसित नहीं किया चूंकि ऐसा कोई "बिन्दु" नहीं है जिस पर कि कोई संस्कृति स्थिर है। संस्कृति-सम्पर्क के अध्ययनों में एक निर्दिष्ट संस्कृति के इतिहास में एक अवधि ले ली जाती है, जोकि साधारणतया अन्वेषण किये जाने वाले सम्पर्क-विशेष से पहले की होती है और वह आधार-रेखा है जिससे कि परिवर्तन को पृथक् किया जाता है और इस प्रकार उस ढांचे को बनाया जाता है जिसके अन्तर्गत उत्पन्न गतिशील प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जा सके। सम्पर्क अध्ययनों से सम्बन्धित अन्य लोगों की भांति मैलिनोवस्की और उसके विद्यार्थी भी इस प्रविधि को अपनाने पर मजबूर हुए; यद्यपि उसके अनैतिहासिक दृष्टिकोण ने उसके लिये अफ्रीका में परिवर्तन को उसके उचित दृष्टिक्रम, सांस्कृतिक संक्रमण की दीर्घकालीन प्रक्रिया के सिर्फ एक पहलू के रूप में, रखना कठिन बना दिया।

मैलिनोवस्की की प्रशासकीय समस्याओं में अत्यधिक व्यस्तता ने उसे यूरोपीय संस्कृति के संघात के सम्मुख अफ्रीकी जीवन-रीतियों की कमजोरियों पर अत्यधिक जोर देने को बाध्य किया। उसके विद्यार्थियों की रचनाओं में, जिन्हें कि उसने स्वयं उद्धृत किया है, इसके प्रचुर प्रमाण हैं कि दबावों के बावजूद, अफ्रीकी संस्कृति इन हमलों का मुक़ाबला कर सकी। और इसी व्यस्तता के कारण उसने सम्पर्क के अन्तर्गत सांस्कृतिक तत्त्वों के पारस्परिक आदान-प्रदान की उपेक्षा की। यूरोपियों और अफ्रीकियों के सम्पर्क में इस आदान-प्रदान ने अफ्रीका में रहने वाले यूरोपियों के जीवन को यूरोपवासी यूरोपियों से बहुत भिन्न बना दिया, यह सैद्धान्तिक तथ्य कम व्यावहारिक महत्त्व का नहीं है।

मूल्यांकन को अभिव्यक्त करनेवाले जिन शब्दों पर हमने अभी विचार किया है उनसे अधिक स्वीकार्य शब्द संस्कृति-स्थानान्तरकरण, (Trans-culturation) है जो कि सर्वप्रथम १९४० में प्रकट हुआ। क्यूबन विद्वान् ओर्टिज़ ने इसके प्रयोग के यह कारण दिये हैं :

"मेरा मत है कि **संस्कृति-स्थानान्तरकरण** शब्द एक से दूसरी संस्कृति में संक्रमण की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं को बेहतर रूप से प्रकट करता है, क्योंकि इसमें केवल दूसरी संस्कृति ग्रहण करना ही, जोकि अंग्रेज़ी शब्द **अकल्चरेशन** (परसंस्कृतीकरण) में अन्तर्हित है, सम्मिलित नहीं है, प्रत्युत इस प्रक्रिया में पहली संस्कृति का नष्ट होना या उखड़ना भी सम्मिलित है, जिसे कि विसंस्कृतीकरण (Deculturation) परिभाषित किया जा सकता है। इसके अलावा इसमें नये सांस्कृतिक तत्त्वों के सृजन का विचार भी सम्मिलित है, जिसे कि नव-संस्कृतीकरण (Neoculturation) कहा जायेगा।"[14]

१४. एफ० ओर्टिज़, १९४७, पृ० १०२-३।

यद्यपि ओर्टिज ने परसंस्कृतीकरण के प्रयोग के संकेतों को ग़लत समझा है, फिर भी उसने इसे वह संस्कृत्यभिमानात्मक गुण नहीं दिया जो कि उसमें कभी न था। यदि मानवशास्त्र के साहित्य में "परसंस्कृतीकरण" शब्द इतना बद्धमूल न होता, तो "संस्कृति-स्थानान्तरकरण" शब्द भी उसी अवधारणा को समान रूप से व्यक्त कर सकता था। स्पेनिश में लिखने वाले कुछ मानवशास्त्रियों ने इसका प्रयोग किया है, किन्तु ब्राजील में पुर्तगाली **एकल्चरेशाओ** शब्द स्वीकृत है।

शब्दावली के अतिरिक्त, यह महत्त्वपूर्ण है कि परसंस्कृतीकरण, शब्द में यह अन्तर्हित नहीं है कि सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियों को "उच्चतर" या "अधिक प्रगतिशील" या अधिक "सभ्यता की अन्तर्वस्तु वाली" या गुणात्मक रीति से भिन्न रूप में पृथक् किया जाय। साक्षी यह दर्शाती है कि संस्कृति का संक्रमण जोकि सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, और परसंस्कृतीकरण जिसकी एक अभिव्यक्ति है, यह तब घटित होता है जबकि दो जनसमूहों के बीच ऐतिहासिक सम्पर्क हो।

५

जनसमूहों के बीच सम्पर्क के प्रकार बहुत भिन्न होते हैं। वह समस्त जनसंख्याओं के बीच या इन जनसंख्याओं के पर्याप्त भाग या छोटे समूहों या व्यक्तियों तक के सम्पर्क से उत्पन्न हो सकते हैं। जब एक समूह के प्रतिनिधि अन्य समहों के सामने अपनी संस्कृति का एक अंश प्रस्तुत करते हैं, तब ग्रहण किये जाने वाले तत्त्व स्पष्टतः उस प्रस्तुत अंश के ही होंगे। उदाहरण के लिए, जब दो अनक्षर समूहों के पुरुष कभी-कभी शिकार का पीछा करने के लिए आपस में मिलते हैं, तो कोई यह नहीं सोचेगा कि दोनों संस्कृतियों में स्त्रियों के क्षेत्र में इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ेगा। जहां पर कि आदिवासियों के सम्पर्क में आने वाले यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के प्रतिनिधि मिशनरी हैं, देशीय प्रोद्योगशास्त्र में अपेक्षया अल्प-परिवर्तन की आशा की जाती है।

सम्पर्कों को मैत्रीपूर्ण या शत्रुतापूर्ण रूप में भी वर्गीकृत करना होगा। शत्रुतापूर्ण सम्पर्क के अधिक नाटकीय उदाहरणों पर इतना ज़ोर दिया जाता है कि लोगों के बीच होनेवाले कम नाटकीय किन्तु कहीं अधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध आंख से ओझल हो जाते हैं। इस बाद के प्रकार के सम्पर्क के अध्ययन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने में लिंडग्रेन की रचना उल्लेखनीय है जिसमें उसने उत्तरी-पश्चिमी मंचूरिया के रेंडियर टुंगुस और कुछ रूसी कज्ज़ाकों के बीच "विरोधहीन संस्कृति सम्पर्क" का विश्लेषण किया है। उसने इस सम्पर्क की अवस्थाओं को दो प्रमुख तथ्यों के प्रसंग में रखा है।

"(१) मैंने दूसरे समूह या उसके सदस्य के प्रति समग्र या व्यक्तिगत रूप से किसी टुंगुस या क़ज्ज़ाक को भय, उपेक्षा या घृणा व्यक्त करते नहीं सुना। (२) समुदायों के बीच आपसी सम्बन्धों में कोई शक्ति के प्रयोग या उसकी धमकी की घटना नहीं सुनी गई।"[१५]

---

१५. ई० जे० लिंडग्रेन, १९३८, पृ० ६०७।

लोगों के बीच शत्रुतापूर्ण सम्पर्क में भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान अनुपस्थित नहीं रहता। यूरोपीय-अमरीकी लोगों और आदिवासियों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के न होते हुए भी सम्पर्क के फलस्वरूप परस्पर आदान-प्रदान हुआ है। बुशमैन की "क्लिक ध्वनियां" आज दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका के जुलू और अन्य बांटू-भाषी लोगों की भाषा का लक्षण बन गई हैं; यद्यपि बुशमैनों ने अनेक पीढ़ियों तक इनके ढोरों पर निरंतर हमले किये हैं। ऐसे उदाहरणों से यह सबक मिलता है कि किसी भी प्रकार के सम्पर्क से सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता है, मित्रता या शत्रुता का कारक अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है।

मूलतः ऐसे सम्पर्कों से जिनमें एक लोग दूसरे लोगों पर शासन करते हैं, परसंस्कृतीकरण-विरोधी (Contra acculturative) आन्दोलनों का जन्म होता है—जिन आन्दोलनों में लोग आदिकालीन जीवन-रीति के मूल्यों पर ज़ोर देते हैं और उन्हें दमन करने वाली शक्ति को उखाड़ने में असमर्थ होते हुए भी वह वस्तुतः या अपनी कल्पना के आवेश में उन रीतियों को पुनःस्थापित करने की ओर बढ़ते हैं। परसंस्कृतीकरण-विरोधी आन्दोलन का एक अत्यन्त सुलिपिबद्ध उदाहरण विलियम्स ने दिया है जिसने कि "वैलाला पागलपन" के उत्थान व पतन का विवरण दिया है। न्यू गिनी की पापुआ की खाड़ी में स्थित वैलाला शहर के नाम पर जहां कि यह आन्दोलन १९१९ ई० में उत्पन्न हुआ, उसने इसका यह नाम रखा।[16] यह पूजापद्धति (Cult) विदेशी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया से शुरू हुई और यह मृतों के शीघ्र पुनरागमन के सिद्धान्त पर आधारित थी। इसके अपने पैगम्बर थे और प्रेतात्मा का चढ़ना और भीषण नृत्य इसकी विशेषतायें थीं। यद्यपि यह श्वेतों की विरोधी थी और इसकी यह भविष्यवाणी थी कि जब पुराने दिन लौटेंगे, आक्रान्ताओं का नाश कर दिया जायेगा; तथापि इसके द्वारा प्रारम्भिक कालों के कुछ अनुष्ठान और पवित्र वस्तुयें नष्ट हो गई; और ईसाई और लौकिक यूरोपीय तत्वों ने उनका स्थान लिया। बारह वर्ष बाद यह पागलपन शांत हो गया था, पर वह अपने पीछे केवल यह परम्परा छोड़ गया कि पैग़म्बरों ने जिन चमत्कारों की भविष्यवाणी की थी वह वस्तुतः हो गये हैं।

तीन अन्य प्रकार के सम्पर्क भी द्रष्टव्य हैं। एक में समान या भिन्न जनसंख्या के आकार वाले समूहों में सम्पर्क होता है। दूसरे में समूह अपनी भौतिक या अभौतिक या दोनों तरह की संस्कृतियों की जटिलता में भिन्न होते हैं, या उनकी संस्कृतियां समान अंश में जटिल होती हैं। अन्त में हमें उन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जहाँ कि एक जीवन-रीति वाला समूह दूसरे समूह के आवास में आ जाता है, या जहां स्वागत करने वाले समूह का नयी संस्कृति से सम्पर्क एक नये आवास में होता है।

इन कारकों का महत्त्व स्पष्ट है, यद्यपि तीनों परिस्थितियों में से पहली,

---

१६. एफ० ई० विलियम्स, १९२३, १९३४।

जिसका सम्बन्ध जनसंख्या के आकार से है, वह शायद सबसे कम महत्त्व की सिद्ध हो। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां कि छोटे समूहों ने बड़े समूहों को प्रभावित किया है या जहां एक बड़ा समूह छोटे समूह को प्रभावित करने में असफल रहा है इससे इस कारक की महत्त्वहीनता साबित होती है। संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में असमान जटिलता का एक कारण जनसंख्या का आकार भी हो सकता है, और इन अर्थों में सम्बन्धित समूहों का आकार सम्पर्क की प्रक्रिया को, प्रभावित करने में एक कारक हो सकता है, यद्यपि वह भी गौणतः ही। सांस्कृतिक जटिलता की भूमिका को आंकने में यह बात सब से महत्त्वपूर्ण है कि यह अपने आप में उस प्रतिष्ठा के कारक को छोड़, जो कि विद्यमान हो सकता है, एक संस्कृति में अधिक जटिलता अनिवार्यतः उन्हें विशेष प्रभावित नहीं करती जिनकी परम्परा की पृष्ठभूमि सरल है। सरल की अपेक्षा जटिल संस्कृति ग्रहण करने के लिए अधिक चीज़ें प्रस्तुत करती है। किन्तु उन लोगों के लिए जिनकी जीवन-रीति की ताल भिन्न है यह समृद्धि चकराने वाली हो सकती है, या वह उसे अनदेखी ही छोड़ सकते हैं। पहली नज़र में संसार पर यूरोपीय प्रभुता का विस्तार इसका खंडन करता दीखता है, किन्तु विश्लेषण से पता चलता है कि ऐसा निष्कर्ष अपरिपक्व है। वस्तुतः यह संदेहास्पद है कि मोटे तौर से संसार के अधिवासियों ने यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति से अधिक लिया है या पाश्चात्य संसार ने उनसे अधिक ग्रहण किया है।

तीसरे प्रकार के सम्पर्क द्वारा प्रस्तुत समस्या और भी अधिक रोचक है। क्या वह लोग जो कि अन्यों के आवास में बस जाते हैं, वहां पाये जाने वाली संस्कृति से अधिक ग्रहण करते हैं, या निष्क्रमणार्थी समूह जिनमें जाकर बसता है उन्हें अपने संस्कृति का अधिक अंश देता है? दोनों ही प्रकार के आदान-प्रदान के उदाहरण दिये जा सकते हैं। सम्बन्धित लोगों और विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इनका संतुलन करना होगा। नीग्रो जो कि ब्राज़ील लाये गये, उन्होंने पुर्तगाली शासक संस्कृति को प्रभावित किया, जोकि स्वयं प्रवासी थे और उन पर इंडियन प्रभाव भी पड़ चुका था। इन विविध प्रभावों को आधुनिक ब्राज़ीली जीवन के ऐसे भिन्न पहलुओं में, जैसे कि भोजन बनाने के तरीके, सामाजिक संरचना, विभिन्न प्रकार के विश्वास, प्रचलित संगीतशैलियां और भाषा के प्रयोग में मिश्रित देखा जा सकता है। और यहां के अफ्रीकी लोग तो अफ्रीकी विश्वास और व्यवहार के बहुत-से अंशों को अभी तक संजोये हुए हैं।[१७] उत्तरी अमरीका में नीग्रोओं ने देने की अपेक्षा प्रबल यूरोपीय प्रतिमानों को कहीं अधिक ग्रहण किया है। जबरन निष्क्रमण का एक तीसरा उदाहरण हैटी से दिया जा सकता है जहां कि उसके भिन्न परिणाम हुए। यहां पहली दो सदियों तक फ्रेंच प्रभुता के बावजूद, किसानों के वर्तमान जीवन में फ्रेंच की अपेक्षा अफ्रीकी गुण अधिक सुरक्षित हैं और ऐसी कोई चीज़

---

१७. जी० फ्रेयरे, १९४६; ए० रामोस, १९४०; अध्याय १—८।

नहीं है जिसे वहां की मूल इंडियन प्रथाओं से सम्बन्धित बताया जा सके।

वह परिस्थितियां जिनमें कि परसंस्कृतीकरण घटित होता है, एक अर्थों में, बताये गये सम्पर्कों के प्रकारों का एक पहलू है। वह पहली परिस्थिति जिस पर विचार करना आवश्यक है यह है कि कहां पर संस्कृति के तत्त्वों को लोगों पर जबरन लादा गया है, या कहां उसे स्वेच्छा से स्वीकार किया गया है। दूसरी परिस्थिति वह है, जहां कि समूहों के बीच कोई सामाजिक या राजनैतिक असमता नहीं है। तीसरी परिस्थिति में तीन विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं, अर्थात् जहां राजनैतिक प्रभुता है पर सामाजिक नहीं, जहां प्रभुता राजनैतिक और सामाजिक दोनों हैं, और जहां बिना राजनैतिक प्रभुता के एक के ऊपर दूसरे समूह की सामाजिक श्रेष्ठता स्वीकार की जाती है। वस्तुतः यह संदेहास्पद है कि अनक्षर लोगों के सम्पर्क में, इस प्रकार के विचार महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ऐसी सब दशाओं में सम्पर्क में आने वाले पक्ष छोटे होते हैं और चूंकि प्रत्यक्ष सम्पर्क मुख्यतः पड़ौसी लोगों तक सीमित रहते हैं, अतः दूसरों से कम ही ग्रहण किया जाता है। यहां पर अत्यन्त भिन्न जीवन-रीतियों से आने वाले अनेक तत्त्वों को एकीकृत करने की अपेक्षा दूसरी संस्कृति की बारीकियां ले ली जाती हैं। बिना विरोध के सम्पर्कों के उदाहरण यह बताते हैं कि जहां प्रभुता नहीं है वहां संभवतः अधिक ग्रहण किया गया है।

संस्कृति-सम्पर्क के कुछ विद्यार्थियों ने परसंस्कृतीकरण की परिस्थितियों पर इस दृष्टिकोण से विचार किया है कि वह परिणत संस्कृतियों का उसके घटक भागों में विश्लेषण कर सकें और यह देख सकें कि कौन-से गुण ग्रहण किये गये हैं और कौन-से पुराने गुण बाक़ी रह गये हैं। अन्यों ने इस दृष्टिकोण की समालोचना की है, और जैसा कि फ़ोर्टिस ने कहा है, इसमें ग्रहण करने पर "यंत्रवत् विचार किया गया है और संस्कृति के तत्त्वों को घास के गट्ठों की भांति एक संस्कृति से खींच दूसरी संस्कृति में ले जाया गया है।"[१८] उनका कहना है कि मिश्रित उद्गम की संस्कृतियों को गुणों में तोड़ना एक जीवन-रीति की जीवंत वास्तविकता को निष्प्राण और निरर्थक भागों में बांटना है। उनके लिए संस्कृति-सम्पर्क का गणित कभी भी एक जोड़ने की प्रक्रिया नहीं है। ग्रहण किये गये तत्त्व को सदा ही सम्पर्क से पहले विद्यमान तत्त्वों के साथ आत्मसात् कर लिया जाता है। परिणामतः एक अनेक उद्गमों की संस्कृति उसमें योगदान करने वाली प्रत्येक परम्पराओं से भिन्न होती है। उनका कहना है, परसंस्कृतीकरण का गतिशास्त्र सृजनात्मक है। परसंस्कृतीकरण के परिणामों को उनके गुणों के उद्गम को ढूंढकर अध्ययन करना उसकी तस्वीर को विकृत करना और परिणामों को ग़लत प्रस्तुत करना है।

तथापि सांस्कृतिक गतिशास्त्र के किसी अन्य पहलू की भांति परसंस्कृतीकरण

---

१८. एम० फोर्टिस, १९३८, पृ० ६२।

के अध्ययनों में भी एक पद्धतिशास्त्रीय युक्ति के रूप में संस्कृतियों को उनके घटक तत्वों में विश्लेषण किया जाता है। सम्पूर्ण संस्कृतियों के रूप में सम्पर्कों के परिणामों के अध्ययन का आदर्श यद्यपि अनुसरणीय है, किन्तु इस दृष्टिकोण की मुख्य कठिनाई यह है कि इसे कार्यान्वित करने की व्यावहारिक पद्धतियों का निर्माण अभी बाक़ी है। इसके विपरीत संस्कृति-सम्पर्क के महत्त्वपूर्ण अध्ययन वस्तुत: वही हैं जहां कि एक पहलू, यहां तक कि एक गुण को, एक समय में लिया गया है, सम्भवत: इसलिए कि बाद में उसे परसंस्कृतीकरण के अनुभव के परिणामों के विस्तृत चित्रण में मिलाया जा सके।

पद्धति की इस नमनीयता का एक श्रेष्ठ उदाहरण पारसंस के मैक्सिकी समुदाय मिटला के अध्ययन में पाया जाता है। दो अपवादों को छोड़ कर जिनका यहां ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं, इन लोगों की जीवनरीति का विवरण जनवृत्तशास्त्रीय ग्रंथ की स्वीकृत श्रेणियों के अनुसार दिया गया है, जबकि पारसंस के संक्षेपवाले अध्याय में जिन संस्थाओं का विवरण दिया गया है, उन्हें इंडियन या स्पेनी स्रोतों के अनुसार बांट दिया गया है और दोनों सांस्कृतिक धाराओं से निकली प्रथाओं के मिश्रणों पर विचार किया गया है। कुछ "बुनियादी प्रश्नों" के, जैसे कि अध्ययन किये गये गुण क्यों जीवित रहे और क्यों कुछ ऐसे गुण जिनके विद्यमान होने की आशा थी नहीं पाये गये, "आंशिक उत्तरों" के उद्धरण यह दर्शाते हैं कि यह दृष्टिकोण कितना उपयोगी हो सकता है।

"गुणों को केवल इसलिए सुरक्षित रखा जा सकता है कि कोई भिन्न वस्तु अज्ञात है, दूसरे शब्दों में सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियों के कुछ भागों में बिल्कुल भी सम्पर्क नहीं होता।"

"चाहे आप किसी भी दृष्टि से देखें अन्तर्जातीय विवाह सांस्कृतिक विघटन या सांस्कृतिक सात्मीकरण (Assimilation) में एक स्पष्ट कारक है, विशेषकर जहां कि स्त्री प्रबल संस्कृति से आई हो।"

"प्रथा का अज्ञान, चाहे उसका कुछ भी कारण हो, प्रथा के लिए बड़ा संरक्षण है।"

..."एक पुरानी प्रथा...(जीवित रह सकती है)...चूंकि यह नई के अनुकूल है।"[१९]

कुछ ऐसी भी परिस्थितियां हैं जहां कि परसंस्कृतीकरण के परिवर्तन का अध्ययन केवल इसी प्रकार संभव है कि यह देखा जाय, कि आदान-प्रदान में पृथक् तत्वों का क्या हुआ। शू कहता है;

"दक्षिणी सागरों के चीनी निष्क्रमणार्थी जो कि स्वदेश लौट आते हैं, वह अपने देश की संस्कृति से कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं दर्शाते। किन्तु उन्होंने विदेशी संस्कृति की अनेक अकेली मदें ले लीं हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दक्षिणी

---

१९. ई० सी० पारसंस, १९३६, पृ० १२, ५११–१९।

सागरों के प्रवासियों ने नये विचार या नई जीवन-रीतियां ग्रहण कर ली हैं या कुछ "प्रगतिशील सुधारक" स्वदेश के समुदाय में उनका प्रचार कर रहे हैं। यह सुधारक संयुक्त परिवार के उन्मूलन, जीवन साथियों के स्वतंत्र चुनाव, अन्ध-विश्वासों के दमन और अन्य बातों पर ज़ोर देते हैं।"[२०]

स्पष्ट ही यहां अध्ययन की यह समस्या है कि चीनी समुदायों के परिवर्तन के इन केन्द्रों में जहां सुधार का प्रचार हो रहा है, विशेष तत्त्वों को किस प्रकार स्वीकार या अस्वीकार किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में समग्र रूप से परिवर्तित होती हुई संस्कृति का अध्ययन विशेष उपयोगी न होगा।

सारांश में, समग्र रूप से संस्कृतियों में परसंस्कृतीकरण का अध्ययन क्यों इतना कठिन है, इसका यह कारण है कि अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्कों में भी ग्रहण करने में चुनाव होता है। चुनाव का यह सिद्धान्त केवल परसंस्कृतीकरण की विवेचना के लिए ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन के किसी भी अध्ययन के लिए बुनियादी है। सांस्कृतिक चुनाव के स्वरूप व प्रक्रियाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने मानवशास्त्रियों को परिवर्तन की मानी हुई प्रक्रियाओं के काल्पनिक पुर्निर्माण से हटा कर वस्तुतः होने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण की ओर प्रेरित किया। चुनाव का सिद्धान्त यह समझने में कि समाज के अन्दर नवपरिवर्तन क्यों संस्कृति का अंग बन जाते हैं या त्याग दिये जाते हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि हमें यह बताने में कि क्यों एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति के लिये प्रस्तुत किये गये तत्वों को ग्रहण किया जाता है या त्यागा जाता है, या उन परसंस्कृतीकरण-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया जाता है जो कि सम्पर्क-पूर्व जीवनरीति की स्वीकृतियों का पुनरुद्धार करना चाहते हैं।

चुनाव से ही मात्रा में उस अत्यन्त भिन्नता का पता चलता है जिससे कि सम्पर्क में आने वाले लोग एक-दूसरे की संस्कृति के तत्वों को ग्रहण करते हैं। विविध प्रकार के ऐतिहासिक कारक नवप्रवर्तनों की स्वीकृति को सहज बनाते हैं या उनके प्रति प्रतिरोध को दृढ़ करते हैं। इस प्रकार विलेम्स ने दर्शाया है कि "अश्व संकुल" (Horse complex) जैसी कि उसने इसे संज्ञा दी है, दक्षिणी ब्राज़ील में बसे हुए जर्मनों द्वारा केवल इसलिए ही नहीं लिया गया कि ब्राज़ीली प्रादेशिक संस्कृतियों के सोपानक्रम (Hierarchy) में गाओचो (पशुपालक) संस्कृति का ऊंचा स्थान था, बल्कि इसलिए भी कि औसत जर्मन आप्रवासी सवारी के घोड़े के साथ कुछ सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़ता था। यह बाद की बात विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

"यह स्मरण रखना चाहिए कि जर्मन कृषिक-संस्कृतियों में.....सवारी के पशु के रूप में घोड़ा नहीं है.....सवारी का घोड़ा जर्मनी के ग्रामीण कुलीनतंत्र के एक विशेष सांस्कृतिक गुण का प्रतिनिधित्व करता था और अभी भी करता है।

---

२०. एफ० एल० के० शू १९४५, पृ० ५५।

यूरोप के अन्य स्थानों की भांति यहां पर बड़ा किसान.....अपने खेतिहर मज़दूरों के कार्यों का नियंत्रण घोड़े पर चढ़कर करता है जहांसे कि वह अपने आदेश देता है। भूमिहीन खेतिहर मज़दूर और छोटे ज़मींदार कभी भी सवारी के घोड़े नहीं रख पाते।"[२१]

इसके और घोड़े से संयुक्त प्रतिष्ठा के अन्य कारकों के परिणामस्वरूप ही यह ऐसा हुआ कि जहां ब्राज़ीली जर्मनों ने अपने साथ लाये हुए अनेक सांस्कृतिक तत्वों को जीवित रखा, वहां साथ ही उन्होंने दक्षिणी ब्राज़ील के अश्व-संकुल और उसके साथ ही इस पशु से सम्बन्धित विस्तृत पुर्तगाली शब्दावलि को भी ले लिया।

सम्पर्क द्वारा अल्पतम ग्रहण करने का एक उदाहरण ट्रिनिडाड द्वीप में पाया जाता है, जहां कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आप्रवासी भारतीय और नीग्रो साथ-साथ रह रहे हैं। भारत के आप्रवासी गिरमिटिया (Indentured) मज़दूरों के रूप में बागानों पर ला कर बसाये गये और आज ट्रिनिडाड में उनके वंशजों की एक लाख पचहत्तर हज़ार की बस्ती है। "वह अपनी भाषा बोलते हैं, भारतीय वेष-भूषा धारण करते हैं, सींचे हुए ज़मीन के टुकड़ों पर धान उगाते हैं, और वह भारत के जिस भाग से आये हैं उसकी जीवनरीति का अनुसरण करते हैं।" इसके विपरीत नीग्रोओं ने यूरोपियों के, जोकि द्वीप की जनसंख्या में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से प्रबल अल्पसंख्यक हैं, अनेक प्रतिमानों को ग्रहण कर लिया है। चार्ल्स किंग्सले के अनुसार जो कि १८७१ ई० में वहां मौजूद था, प्रारम्भ से ही नीग्रोओं ने भारत से "कुलियों" के आयात को एक आर्थिक खतरे के रूप में बुरा माना, भारतीयों ने नीग्रोओं को "जंगलियों" की तरह देखा। भारतीयों ने कुछ नीग्रो जादू ग्रहण किया, किन्तु ऐसा लगता है कि नीग्रोओं ने भारतीयों से कुछ भी स्वीकार नहीं किया।[२२]

इसलिए बाहरी दबाव के साथ या उसके बिना, सम्पर्क से अत्यल्प भी ग्रहण किया जा सकता है, या इससे अन्य लोगों की जीवनरीति को प्रायः पूर्णतया स्वीकार किया जा सकता है। किसी निर्दिष्ट अवस्था में संक्रमित किये जाने वाले संस्कृति के पहलू या नये सांस्कृतिक रूप के लिए पुरानी प्रथाओं की स्वीकृति का स्थानान्तरण उन विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम हैं जो कि चुनाव में अन्तर्हित मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं को प्रभावित करती हैं।

ग्रहण करने के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं को केवल अवधारणात्मक स्तर पर ही पृथक् किया जा सकता है। सभी लोग अपने से भिन्न संस्कृतियों के तत्वों के सम्पर्क में आते हैं, किन्तु एक निर्दिष्ट अवस्था में वह क्या स्वीकार करेंगे और क्या त्याग देंगे यह पूर्वविद्यमान संस्कृति और सम्पर्क की

---

२१. एमिलो विलेम्स, १९४४, पृ० १५६–७।

२२ एम० जे० और एफ० एस० हर्सकोवित्स, १९४७, पृ० १९–२०।

परिस्थिति से निर्धारित होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, बाद के जीवन का संस्कृतीकरण वह यंत्रप्रणाली है जिसके द्वारा परिवर्तन प्राप्त किया जाता है। एक समूह के प्रौढ़ सदस्य को यह निर्णय करना होगा कि क्या वह कोई नई चीज़ स्वीकार करेगा या नहीं, या यदि उसपर कोई चीज़ जबर्दस्ती लादी जाती है, तो उसे उन रीतियों को सुरक्षित रखने के लिए, जिन्हें कि उसे सही और उचित प्रकार का विश्वास और व्यवहार बताया गया है, विधियां निकालनी होंगी। जैसा कि हैलोवैल ने लिखा है: "व्यक्तियों द्वारा पुनःसमायोजन अन्य व्यक्तियों के चिंतन, अनुभूति या व्यवहार को प्रभावित कर सकता है और संभवतः समूह की जीवनरीति के पुनरनुकूलन का कारण बन सकता है।" उसने बताया है, कि परसंस्कृतीकरण गवेषणा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं में से एक है, जिसका कि अभी तक सबसे कम अध्ययन हुआ है, वह उन "चालकों (Drives) से जिन्होंने व्यक्तियों को पुनरनुकूलन के लिए प्रेरित किया है और यह चालक किस प्रकार पुरस्कृत होते हैं, इससे निकला है।"[२३]

सांस्कृतिक परिवर्तन के गतिशास्त्र को समझने में विद्यार्थी के लिए ऐतिहासिक गहराई कितनी महत्त्वपूर्ण हो सकती है इसे ऐसे अध्ययनों में देखा जा सकता है जैसे कि कीसिंग का, जिसमें कि उसने मेनोमिनी इंडियनों की वर्त्तमान जीवनरीति के प्रकाश में इन इंडियनों और श्वेतों के बीच तीन सदियों के प्रभावों को आंका है;[२४] या जिसमें ल्यूइस ने जन-इतिहास की प्रविधियों का प्रयोग कर ब्लैकफुट के एक समूह का, विशेषकर वह फर के व्यापार से किस प्रकार प्रभावित हुए, इसका एक ऐसा ही अध्ययन किया है;[२५] या जिसमें गोल्डफ्रैंक ने डकोटाओं के एक अन्य उपविभाग के सांस्कृतिक संरूपों और बुनियादी प्रेरक चालकों के परिवर्तन का अध्ययन किया है।[२६] यह और अन्य अनेक गवेषणायें जो कि "मिलावटी" (Adulterated) संस्कृतियों को अध्ययन की उचित वस्तु ही नहीं समझती, बल्कि इस खोज को अपना प्रधान लक्ष्य बना लेती हैं, कि किस भांति ऐसी संस्कृतियां उस अवस्था में पहुंचीं जिनमें कि वह देखी जाती हैं, यह सब मानवशास्त्रीय चिंतन में एक गंभीर दिशा परिवर्तन को व्यक्त करती हैं।

संक्षेप में, बाहरी सम्पर्क से "अछूती" और "विशुद्ध" (Pure) संस्कृतियों की खोज को प्रायः त्याग दिया गया है और अलिखित इतिहास के पुनर्निर्माणों के काल्पनिक स्वरूप को संभावना के अभ्यास के रूप में स्पष्टतः समझा जा चुका

---

२३. ए० आई० हैलोवैल, १९४५क, पृ० १७७, १८५।
२४. एफ़० कीसिंग, १९३९।
२५. ऑस्कर ल्यूइस, १९४२।
२६. ई० गोल्डफ्रैंक, १९४५।

है। सम्पर्क में आनेवाले लोगों की परिवर्तित होती हुई संस्कृतियों के ऐतिहासिक अभिलेखों और क्षेत्रीय अध्ययन के प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया है, कि चाहे हम उसका एक प्रक्रिया के रूप में या एक ही तत्त्व के विभिन्न रूपों के वितरण के प्रसंग में प्राप्त सांस्कृतिक तथ्यों के विश्लेषण द्वारा अध्ययन करें, सांस्कृतिक परिवर्तन एक अकेली समस्या है। सांस्कृतिक गतिशास्त्र की समस्या की इस एकता के स्थापित होने के बाद, अब हम संस्कृति के संगठन और मनोविज्ञान के कुछ पहलुओं की परीक्षा कर सकते हैं जो उसी समस्या के एक अंश के रूप में सांस्कृतिक स्थिरता और सांस्कृतिक परिवर्तन की यंत्ररचना पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

अध्याय छब्बीस

सांस्कृतिक केन्द्रबिंदु और पुनर्व्याख्या

सांस्कृतिक केन्द्रबिन्दु (Cultural Focus) प्रत्येक संस्कृति की संस्थाओं में कुछ पहलुओं में अन्यों की अपेक्षा अधिक भिन्नता और अधिक जटिलता की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है। जीवन के कुछ पहलुओं को विकसित करने की प्रवृत्ति इतनी द्रष्टव्य होती है कि कहने को अन्य पहलू इस प्रकारओझल हो जाते हैं कि मानव समाजों का अध्ययन करने वाले विज्ञानों की संकेतलिपि में इन केन्द्रबिंदु पहलुओं को प्रायः सम्पूर्ण संस्कृतियों की विशेषता बताने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

सांस्कृतिक केन्द्रबिंदु की पूर्वकल्पना संस्कृति के गतिशास्त्र को संस्कृति में परिवर्तन लाने में समर्थ उन एकमात्र साधनों से, अर्थात् उन व्यक्तियों से, जोकि उस समाज के सदस्य हैं जहां की जीवनरीति में परिवर्तन हो रहा है, संयुक्त करती है। व्यक्ति अपने व्यवहार के प्रेरक चालकों (Drives) की स्वीकृतियों, मूल्यों और लक्ष्यों को जो महत्त्व देते हैं, वह जो कुछ वे एक निर्दिष्ट समय पर करते हैं, उसे अर्थ प्रदान करता है। इसलिये यदि हमें एक निर्दिष्ट समय में एक संस्कृति के उपकरणों, संस्थाओं और विश्वास की संगठित प्रणालियों के परिवर्तनों को अधिक पूर्णता से समझना है और उसे, जो वह एक भिन्न समय में थी, उससे या उसके साथ एक ही सीमा के अन्तर्गत विद्यमान अन्य संस्कृतियों से पृथक् करना है, तो हमें इन बदलते हुए महत्त्वों और चालकों की ओर ध्यान देना होगा।

हम देख चुके हैं कि एक अत्यन्त स्थिर और अनुदार संस्कृति में भी, कोई एक व्यक्ति चाहे उसके सांस्कृतिक कार्यकलाप कितने भी विस्तृत क्यों न हों, अपने समूह की जीवनरीति के समस्त तत्त्वों को नहीं जानता।

"प्रत्येक संगीतज्ञ उस्ताद नहीं होता, न ही समस्त वाद्ययंत्रों पर उसका अधिकार होता है; और इसी प्रकार कोई एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को नियंत्रित नहीं करता न उसे उसके सम्पूर्ण साधनों का ही ज्ञान होता है, और कोई भी समूह एक समूह की हैसियत से प्रथाओं के सम्पूर्ण विधान के समस्त पहलुओं पर, उसके सदस्य जिनके वाहक हैं, बराबर ज़ोर नहीं देता।"[1]

अर्थात्, संस्कृतियों की वह भिन्नतायें जो हमें एक संस्कृति को उसकी उल्लेखनीय अभिरुचियों के अनुसार नाम देने की अनुमति देती हैं, इस तथ्य को बताती हैं कि एक निर्दिष्ट समय में एक समूह के सदस्यों की अभिरुचि अपनी

---

१. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९४५क, पृ० १६४।

संस्कृतियों के अन्य पहलुओं की अपेक्षा कुछ पहलुओं पर अधिक केन्द्रित होती है।

एक जनसमूह की निर्दिष्ट प्रथाओं के विधान को बनानेवाले विविध पहलुओं में से वह पहलू जिनका कि आधिपत्य होता है, उन्हें प्रायः बहुत कम ही स्वतःसिद्ध माना जाता है। अल्प अभिरुचि के तत्वों की तुलना में उनकी प्रायः चर्चा होगी और इस प्रकार वह अधिक समय तक चेतना के स्तर के निकटतम होंगे। वस्तुगत-रीति से विचार करने पर, संस्कृति के दृष्टिकोण से संस्कृति के यह पहलू अधिक-तम अंश में भिन्नता व्यक्त करेंगे। "एक जनसमूह की प्रबल अभिरुचि को उनकी संस्कृति का केन्द्रबिंदु समझा जा सकता है; कर्म या विश्वास का वह क्षेत्र जहां कि रूप की सबसे अधिक अभिन्नता विद्यमान है, मूल्यों की सर्वाधिक चर्चा सुनी जाती है, और संरचना में विस्तृततम भिन्नता देखी जा सकती है।"[२]

यदि हम इसका जरा आगे तक अनुसरण करें, तो सांस्कृतिक गतिशास्त्र के विश्लेषण में इन बातों की संगति स्पष्ट हो जायेगी। वह चीजें जोकि एक जनसमूह की संस्कृति को द्रष्टव्य रूप से पृथक् करती हैं—प्राद्योगशास्त्र (आज की यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति), अलौकिकवाद (मध्यकालीन यूरोप) या प्रतिष्ठा की प्राप्ति की ओर उन्मुख अर्थशास्त्र (मैलेनेशिया)—वह उनके जीवन पर भी शासन करती हैं। चूंकि यह विषय उनके लिए महत्त्वपूर्ण है, अतः लोग संस्कृति के इस पहलू के क्षेत्र में आनेवाले व्यक्तियों, घटनाओं और संभावनाओं पर बहुत अधिक सोचेंगे और बात करेंगे। इस अभिरुचि और उससे सम्बन्धित चर्चाओं के परिणामस्वरूप पर्याप्त बारम्बार पुनर्गठन की संभावनायें प्रकट होंगी जिससे कि किसी नई चीज़ के विरुद्ध प्रतिरोध कम होगा; जबकि जीवन के उस पहलू में, जिसे कि यों ही मान लिया जाता है, और जिस पर कभी चर्चा नहीं होती, परिवर्तन के सुझाव पर पर्याप्त विरोध होगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि रूप की अधिकतम जटिलता में व्यक्त, प्रथा में अधिकतम भिन्नता को संस्कृति के केन्द्रबिंदु पहलुओं में देखा जा सकता है और यह अन्तर्निहित या प्राप्त सांस्कृतिक परिवर्तन को दर्शाता है।

यह तथ्य कि लोगों की अभिरुचि अपनी संस्कृति के एक विशेष पहलू पर केन्द्रित होती है अनेक अध्ययनों के विवरणों से स्थापित हो चुका है। उनका अन्यों के विरुद्ध कुछ संस्थाओं पर बल देना स्वयं इस बात को दर्शाता है कि स्वयं समाज ही इस पर बल देता है। हम यहां उन निबन्धों का ज़िक्र नहीं कर रहे हैं जोकि एक निर्दिष्ट संस्कृति के एक विशेष पहलू तक ही सीमित हैं, प्रत्युत उनका, जिनमें सम्पूर्ण संस्कृति को प्रस्तुत किया गया है। इसके उदाहरण के रूप में हम भारत के टोडा लोगों को ले सकते हैं। अपनी अग्रणी रचना के आरम्भ में रिवर्स कहता है "टोडा पुरुषों का दैनिक जीवन मुख्यतः अपनी भैंसों की देखरेख और दूध-घी के कार्य में बीतता है।"[३]

---

२. वहीं, पृ० १६४-५।

३. डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, १९०६, पृ० ३१।

"डेअरी के दूध निकालने और मथने के कार्य टोडाओं के धार्मिक कर्मकांड का मुख्य भाग हैं। लोगों के जीवन प्रधानतः भैंसों के लिए अर्पित हैं और इनमें अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक पवित्र पशुओं की देखरेख बहुत-से अनुष्ठानों के साथ सम्बन्धित है। विशेषरूप से इस कार्य के लिए नियुक्त पुरुष जोकि टोडा पुरोहित वर्ग का निर्माण करते हैं, इन पवित्र पशुओं की सेवा करते हैं और इन पवित्र पशुओं के दूध को उन दुग्धशालाओं में मथा जाता है जिन्हें कि टोडा-मन्दिर माना जा सकता है, और वह लोग भी स्वयं ऐसा ही मानते हैं। दुग्धशाला के साधारण कार्य एक धार्मिक कर्मकांड बन गये हैं और भैंसों के जीवन में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना के साथ धार्मिक प्रकार के अनुष्ठान किये जाते हैं।"[४]

जीवन के सभी पहलुओं में भैंसें विद्यमान हैं। वह उनकी संस्कृति का आर्थिक आधार हैं। वह या उनका दूध, जन्म, बाल्यकाल, विवाह और मृत्यु, विशेष कर अंत्येष्टि के संस्कारों में, मुख्य भाग अदा करते हैं। ऐसा माना जाता है कि मनुष्यों की भांति देवताओं की दुग्धशालायें हैं और भैंसों के झुण्ड हैं। टोडाओं के पुराणों में भैंसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिवर्स के विवरण से पता चलता है कि निस्संदेह भैंसें और उन पर केन्द्रित धार्मिक संकुल टोडा पुरुषों और उससे कुछ कम अंश में स्त्रियों के जीवन को, जिनके जीवन में वह निरंतर कार्य करते हैं, एक दिशा और अर्थ प्रदान करते हैं। दुग्धशाला संस्कृति का केन्द्रबिंदु है, जहां कि यदि हमारी पूर्वकल्पना सत्य है, तो हमें सबसे अधिक भिन्नता की आशा करनी चाहिए। और वस्तुतः ऐसा ही पाया गया है; रिवर्स द्वारा "विभिन्न दुग्धशालाओं की कार्यप्रणाली की तुलना" से यह स्पष्ट है। वह कहता है "निम्नतम से उच्चतम श्रेणी की दुग्धशाला में कर्मकांड की सभी शाखाओं में अधिकाधिक सूक्ष्मता और जटिलता एक सबसे उल्लेखनीय लक्षण है।"[५] इसी प्रकार विविध श्रेणियों की विभिन्न दुग्धशालाओं की भैंसों के दूध की पवित्रता भी भिन्न अनुपात में है। विविध ग्रामों के विशेष अनुष्ठान हैं। वह समूह जिनमें कि, दो टोडा सिब बंटे हुए हैं अपनी दुग्धशाला के कर्मकांड की जटिलता के अंश के अनुसार पृथक् किये जाते हैं।

जैसा कि सदैव वैज्ञानिक कार्यप्रणाली में होता है, परीक्षित उदाहरण वह होता है जहां कि विशेष अवस्था प्रचलित स्थिति को बदलती है। यह हमारे लिए उन तत्त्वों के कार्य को जिनके कृत्य साधारण निर्विघ्न घटना के प्रवाह में छिप जाते हैं, समझना और मूल्यांकन करना संभव बनाता है। इसलिए इन अर्थों में इस पर विचार करना शिक्षाप्रद होगा कि जब एक टोडा सिब-ग्राम की दुग्धशालाओं के पवित्र स्थान को अंग्रेज़ों ने अपनी छावनी की परेड के मैदान के लिए ले लिया, तब उसका क्या हुआ। टोडा के इस अभागे समूह को अकेले उस पूजाविधि के विनाश

४. वहीं, पृ० ३८।
५. वहीं, पृ० २३२।

का अनुभव करना पड़ा जिसे कि "टोडा पूजा-विधि (Cult) का हृदय" कहा जाता है। वह अकेले ही उन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थानों पर जाने से वंचित कर दिये गये, जो कि एक सिब के लिए "एकमात्र अहस्तान्तरणीय और अपरिवर्तनीय थे।" यह उदाहरण इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि अन्य सिबों की प्रक्रिया में कोई विघ्न न पड़ा और इस प्रकार यह इस वक्तव्य की परीक्षा करता है कि "टोडा संस्कृति भैंसों की रक्षा और पूजा में इतनी अधिक एकीकृत और कसकर बंधी हुई है कि जबतक भैंस पूजा नहीं टूटती, अन्य प्रभाव कठिनाई से ही प्रवेश कर सकते हैं।"[६]

वह सिब जिसकी भूमि को सैनिक कार्य के लिए ले लिया गया था, वह नये स्थान पर भैंसें तो रख सके, किन्तु वह भैंस-पूजा से संयुक्त कर्मकांड को क़ायम न रख सके। इसी कारण यह वक्तव्य कि "केवल इस अकेली बस्ती ने ही आलू उगाने शुरू किये, और वह भैंस के साथ और ढोर भी पालते हैं" विशेष महत्त्व धारण कर लेता है। हमें बताया गया है, "अपने कर्मकांड की इस धुरी से वंचित हो, यह समूह भैंस-सेवा के उत्साह को खो चुका है और इसने भैंसों के गुण से पृथक् कई अन्य गुण ग्रहण कर लिये हैं।" इसके विपरीत, "अन्य टोडा सिब अपने कर्मकांड को कायम रखे हुए हैं, पुराने आर्थिक प्रतिमान को बनाये हुए हैं, विदेशी रीतियों से अप्रभावित हैं।"[७]

सांस्कृतिक केन्द्रबिंदु का एक अन्य उदाहरण पूर्वीय कैरोलाइंस के माइक्रोनेशियाई द्वीप पोनेप में बैसकौम के अध्ययन से दिया जा सकता है। इस द्वीप के अधिवासी स्पेन, जर्मनी, जापान, और संयुक्त राज्य चार विदेशी शक्तियों के नियंत्रण में रह चुके हैं। वह प्रधानतः कृषक हैं। याम के अतिरिक्त वह नारियल, जिससे कि गोला निकलता है, ब्रैड फ्रूट, टारो और केले उगाते हैं। वह सूअर पालते हैं और जंगली खाद्य संग्रह करते हैं, मछली भी उनके जीवनयापन में योग देती है। इन सब में आर्थिक दृष्टि से नारियल सबसे महत्त्वपूर्ण है—"वह पोनेप की व्यावसायिक अर्थ-व्यवस्था में कृषि की प्रधान फसल है।" यामों को भी जिन्हें कि "व्यवसायी अर्थ-व्यवस्था में कभी मुख्य स्थान नहीं मिला, किन्तु प्रतिष्ठा की अर्थ-व्यवस्था और जीवनयापन दोनों में उनका महत्त्व होने के कारण कृषि की प्रमुख फसल" माना जा सकता है।

अन्य सभी माइक्रोनेशियाई और पौलिनेशियाई द्वीपों की भांति यहां भी पद और प्रतिष्ठा इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्हें केन्द्रबिंदु माना जाना चाहिए और पोनेप में याम वह साधन हैं जो कि लोगों की पद-प्रतिष्ठा की व्यस्तता के प्रतीक है। इस प्रकार उन शासक शक्तियों के सम्पर्क के अन्तर्गत जिनकी अर्थ-व्यवस्था का आधार मुद्रा है, परसंस्कृतीकरण (Acculturation) की परिस्थिति में वहां,

---

६. डी० जी० मैन्डलबौम, १९४१, पृ० २२।

७. वहीं, पृ० २३।

प्रधान नक़द फसल के रूप में नारियल के आधिपत्य की आशा की जाती थी फिर भी नारियल की अपेक्षा याम ही कृषि की प्रमुख फ़सल है। जहां तक पोनेपियों की रुचि का सम्बन्ध है, केवल याम उगा कर ही एक मनुष्य अपनी पदोन्नति कर सकता है।

यह संकेत किया जा चुका है कि संस्कृति के केन्द्रबिंदु के बाहर पड़ने वाले तत्त्वों की अपेक्षा उसके अन्दर पाये जानेवाले तत्त्वों में भिन्नता का अधिक विस्तार और अधिक अन्तर्वस्तु मिलती है। पोनेपियाई न्यासों में इसका एक मोटा माप मिलता है। नारियलों की चौदह भिन्न स्थानीय किस्में मानी जाती हैं और उनके पृथक् नाम हैं, जबकि यामों की एक सौ छप्पन किस्में "लिखी गई हैं, जिनमें उनके आकार, शक्ल और रंग का, और अधिकांश किस्मों के लिए वह किस अवधि में द्वीप में आई, अर्थात् किस शासन के अन्तर्गत उनका आयात हुआ या वह विकसित हुई, विवरण दिया गया है।" पोनेप में उगाई जानेवाली "स्थानीय किस्मों की कुल संख्या संभवतः दो सौ से भी ऊपर है।" इन किस्मों को वनस्पतिशास्त्रीय दृष्टि से पहचानना कठिन है और इनकी ठीक संख्या पर पहुंचना भी दुष्कर है, इसका कारण याम उगाने के पीछे विद्यमान गोपनीयता है।

इस गोपनीयता का कारण प्रतिष्ठा की प्रतियोगिता है, "जोकि याम पर केन्द्रित पोनेपियों की प्रेरणाओं और कार्य के प्रति उनकी धारणाओं को समझने में बुनियादी कारक है।" यह इतनी प्रबल है कि अपने बग़ीचों में फले बड़े यामों को छूने की अपेक्षा परिवार भूखा रहना पसन्द करते हैं। जब विभागीय भोज होते हैं, इन बड़े यामों को प्रदर्शित किया जाता है। वह पुरुष जो बराबर सबसे बड़े याम लाता है, उसका न केवल सम्मान और साथियों द्वारा प्रशंसा होती है, बल्कि उसे विभागीय रिक्त पद के लिए चुना जाता है, या यदि उसके पास कोई पदवी है तो उसे उससे ऊंची पदवी दी जाती है।

याम उगाने के सम्बन्ध में व्याप्त गोपनीयता उस अमरीकी व्यापारी की अपने संगठन के प्राविधिक और वित्तीय व्यौरों के प्रति धारणा का स्मरण कराती है जहां बड़े पैमाने पर उत्पादन उसे प्रतिष्ठा देता और उसकी स्थिति को ऊंचा उठाता है। वह, जैसी कि कहावत है, इसपर रोष प्रकट करता है कि एक बाहरी आदमी "उसके कामों में झांके।" जहां तक यामों का सम्बन्ध है, पोनेप में, "एक पोनेपी खुलेआम उसके पास कितने नारियल के पेड़ या रुपये की रक़म है, कह सकता है, या उनके बारे में डींग भी मार सकता है, किन्तु उसने कितने और किस किस्म के याम लगाये हैं, इन प्रश्नों के उत्तर वह टाल देगा और प्राय: जानबूझकर झूठे देगा। वह इस सूचना को इसलिए छिपाता है कि वह इस आशा में है कि वह उन्हें एक भोज में प्रस्तुत कर सबको मात दे और आश्चर्य में डाल दे।" इससे भी अधिक, "दूसरे आदमी के याम पर नज़र डालना अशिष्ट है और यदि कोई ऐसा करते हुए पकड़ा जाय तो उसे चर्चा और उपहास से

लज्जित होना होगा।" पोनेपी, याम उत्पादक के रूप में कितने सफल हैं, यह आकार का जो मानदण्ड वह प्रयोग में लाते हैं उससे स्पष्ट है—अर्थात् एक याम के ले जाने में कितने आदमी लगते हैं। इसका महत्त्व इससे समझ में आता है कि दो सौ बीस पौंड वज़न का याम उगाया जा चुका है।

याम की खेती किस प्रकार इन लोगों को आकर्षित करती है इसके कुछ और संकेत भी दिये जा सकते हैं। बैसकौम का एक सूचनादाता एक सांस में याम की नब्बे स्थानीय किस्में गिना सका। अनेक पोनेपी उस आदमी का नाम बता सकते हैं जिसने कि सबले पहले याम की एक निर्दिष्ट किस्म लगाई और वह किस ज़िले और विभाग में रहता था। केलों के साथ इसकी भिन्नता द्रष्टव्य है। केले के कीड़ों ने केले की सब पुरानी स्थानीय किस्मों को नष्ट कर दिया और जापानी शासन की अवधि में नई किस्में चलाई गई। यद्यपि यह यहां पर बताई गई गवेषणा से कुछ ही समय पहले हुआ है, किन्तु उस आदमी का नाम जिसने कि उन्हें चलाया प्रायः भुला दिया गया है। एक बहुत बड़े कंद की तुलना में भी एक भोज में लाये गये याम की एक नई किस्म बड़ी सनसनी पैदा करती है और उसे प्रदर्शित करनेवाले आदमी को अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। वह उसे गुप्त-रीति से लगाता है ताकि जब वह उसे "उद्घाटित करे" तब, उसके पास अनेक चाहनेवाले लोगों को देने के लिए कलमें होंगी।[८]

२

यह उदाहरण यह दर्शाने के लिए दिये गये हैं कि संस्कृति के उस पहलू के रूप में जोकि लोगों की अभिरुचि का केन्द्रबिंदु है, सबसे अधिक भिन्नतायें मिलती हैं। यह भिन्नता यह संकेत करती है कि अन्य तत्त्वों की अपेक्षा केन्द्रबिंदु-वाला पहलू सबसे अधिक परिवर्तित हुआ है। अब हम उन अनेक संस्कृतियों में, जहां कि परसंस्कृतीकरण के परिणामस्वरूप इस प्रक्रिया को सक्रिय देखा जा सकता है, इसकी परीक्षा कर सकते हैं। इन अवस्थाओं में हम देखते हैं कि जहां संस्कृतियों में खुला सम्पर्क है, केन्द्रबिन्दु वह पहलू होगा जहां कि नये तत्त्वों का सबसे अधिक स्वागत है, दूसरी ओर उन परिस्थितियों में जहां पर एक जनसमूह का दूसरों पर आधिपत्य है और केन्द्रबिंदु में पड़नेवाली प्रथाओं के विरुद्ध दबाव डाला जाता है, वहां गुप्त रीतियों से उन्हें क़ायम रखा जाता है।

किस प्रकार मुक्त आदान-प्रदान के अन्तर्गत सांस्कृतिक केन्द्रबिंदु आदान (Borrowing) को प्रभावित करता है, इसके उदाहरण के लिए हम फिलस्तीन के अरबों की स्थानीय संस्कृति और वहां पर बसे यहूदी समूहों की यूरोपीय जीवन रीतियों के परस्पर प्रभाव का विवरण दे सकते हैं। पटाइ ने, जिसने कि इस परसंस्कृतीकरण[९] के विकास का विश्लेषण किया है, दर्शाया है कि कैसे

---

८. डब्ल्यू० आर० बैसकौम, १९४८।

९. आर० पटाइ, १९४७।

सर्वप्रथम बसनेवाले यहूदियों ने अपने आपको वस्त्रों, घर के प्रकारों और संस्कृति के अन्य पहलुओं में प्रचलित अरब प्रतिमानों के अनुकूल बनाया। प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप से बड़ी संख्या में आनेवाले लोगों ने क्रमशः पलड़े को पलट दिया जिससे फिलस्तीन एक यूरोपीय रूप धारण करने लगा। अब अनेक सामाजिक और आर्थिक कारणों से अरब यहूदियों से ग्रहण करने लगे।

पटाइ ने बताया है कि किस प्रकार कृषि, जोकि यहूदियों में केन्द्रबिंदु है, किन्तु अरबों में नहीं, उसके प्रति धारणाओं ने इन दो समूहों में संस्कृति के इस पहलू में अनुदारता या परिवर्तन के अंश को प्रभावित किया। अरब समाज में अरबी किसानों, **फेल्लाहिन** का निकृष्ट स्थान था। वह अपने पिताओं से अपनी हैसियत पाते थे, किन्तु खेतों की अपेक्षा शहरों के जीवन में उन्हें अधिक दिलचस्पी थी। ग्राम में रहनेवाले बहुत कुछ अपने पूर्वजों की भांति रहते रहे। **फेल्लाह** के कृषिकार्य में "अपने गुज़ारे के लिए अनिवार्य श्रम" निहित था, किन्तु जीवन के अन्य पहलुओं की तुलना में न तो उसमें किसी विचारधारा का उत्साह था, न ही उसमें वह दिलचस्पी थी।"[१०]

इसके विरुद्ध कृषि यहूदी अभिरुचि का केन्द्र थी और अभी भी है। "फिलस्तीन में किसान बनना शुरू से ही उच्चतम आदर्श है।" नये यहूदी गांवों में शहरों से आनेवाले और पहले से कृषि में प्रशिक्षण प्राप्त आप्रवासी सम्मिलित होते हैं। "दूसरी पीढ़ी के सदस्य बहुत कम ही गांव छोड़कर शहर में जाते हैं, प्रायः वह उल्टा ही मार्ग अपनाते हैं और अपने माता-पिता के शहरी घरों को छोड़ कृषि भूमि पर जाते हैं।" फिलस्तीन के यहूदियों के लिए एक नये गांव की स्थापना उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि पोनेपी के लिए याम की एक नई किस्म की सूचना। गांव की स्थापना के समय से ही उसका सदस्य होने से बड़ी प्रतिष्ठा मिलती है और अनेक युवा इस सम्मान से बहुत अनुप्रेरित होते हैं। इसके विपरीत, जब ग्राम-समुदाय का एक सदस्य उसे छोड़ता है इसे बुरा माना जाता है।

पश्चिमी अफ्रीकी संस्कृतियां और नई दुनिया में उनके वंशज इसका उदाहरण हैं कि किस प्रकार जबरन परसंस्कृतीकरण के नीचे मौलिक केन्द्रबिंदु को क़ायम रखा जाता है। इस अध्याय में जिन अनक्षर समूहों पर पहले विचार किया गया है, यह पश्चिमी अफ्रीकी समाज उनसे भिन्न हैं, और अनक्षर संसार में सबसे बड़े हैं। इनके प्रौद्योगिक साधन उन्नत हैं, इनकी अर्थव्यवस्थायें जटिल हैं, राजनैतिक प्रणालियां परिष्कृत हैं और उनकी सामाजिक संरचनायें सुसंगठित और सुशासित हैं। उनकी कला प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है, उनकी लोकवार्ता अपनी सूक्ष्मता के लिए द्रष्टव्य है, उनका संगीत यूरोपीय-अमरीकी संगीत शैली को नई दिशा प्रदान कर रहा है, जोकि अब अकेले स्वर पर बल देने की अपेक्षा ताल पर बल देने में व्यक्त हुआ है। फिर भी इन संस्कृतियों का केन्द्रबिंदु धर्म

---

१० वहीं, पृ० ३१।

और उसकी समस्त अभिव्यक्तियां—विश्वास-प्रणालियां, विश्व-कल्पना और कर्म-कांड हैं। यहां चिन्तन और सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रोत्साहन है और अत्यन्त भिन्न रूप मिलते हैं।

नई दुनिया में, धर्म का यह केन्द्रबिंदु अफ्रीकियों और उनके वंशजों के लिए हितकर सिद्ध हुआ है। संभवतः चूंकि विश्वास केन्द्रबिंदु था और इसलिए उसने परीक्षण और नवप्रवर्तनों की स्वीकृति को प्रोत्साहित किया, एक अनुकूलन प्राप्त किया गया जिसने अन्ततोगत्वा दासता की दुःखमय स्थिति पर विजय पायी। प्रायः किन्हीं भी अन्य लोगों के साथ, जिनकी संस्कृति को इतनी गहरी विशृंखलता का अनुभव करना पड़ा हो, ऐसा नहीं हुआ। जबकि उनका धर्म जीवन को अर्थ प्रदान करता था, उनका विश्वास किसी कट्टर सम्प्रदाय से बंधा हुआ नहीं था। पश्चिमी अफ्रीका में क़बायली देवताओं को खुलकर ग्रहण किया गया था और कोई कारण नहीं था कि नीग्रोओं को ब्रह्मांड की जिस ईसाई अवधारणा और उसपर शासन करनेवाली शक्तियों का सामना करना पड़ा, वह उन्हें भी उसी तरह अपनी विश्वास प्रणाली में स्थान न दे पाते।

नई दुनिया में अन्य लोगों के देवताओं को स्वीकार करने की इस इच्छा ने महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और संस्थात्मक अनुकूलनों को आवश्यक बनाया। वह अनुकूलन जिनमें कि यूरोपीय रूपों को लेकर अफ्रीकी विश्वास को क़ायम रखा गया, या जिनमें कि आदिवासी विश्वास में शासकों के विश्वास जोड़ दिये गये, आज भी नई दुनिया के नीग्रो समाजों में पाये जाते हैं। आदिकालीन धार्मिक प्रथा में यह परिवर्तन केवल इसलिए नहीं आये कि यूरोपीय देवताओं को श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त थी; इसे उन स्थानों में देखा जा सकता है जहां कि अफ्रीकी इंडियनों के सम्पर्क में आये, जैसे कि ब्राज़ील और गायना, क्यूबा और हैटी में; यहां पर इस तथ्य के बावजूद कि इन देशों में पूर्ण विकसित अफ्रीकी धार्मिक रूपों को क़ायम रखा गया है, नये देश पर शासन करनेवाली मूलवासी प्रेतात्माओं पर पूरा ध्यान दिया गया है। इसे ब्राज़ीली अफ्रीकनों की कैबोक्लो (इंडियन) पूजा विधि में, या डच गायना के बुश नीग्रोओं की "इंडियन प्रेतात्माओं" (**इंगि विन्टि**) में, या हैटी की **वोडुन** पूजा की "देशीय प्रेतात्माओं" (**लोआ क्रिओल**) में देखा जा सकता है।

दासता के नृशंस शासन के अन्तर्गत जीवित रहने की प्रक्रिया में अफ्रीकी धार्मिक रूपों में हुए परिवर्तन, और जिन्होंने कि जीवन के धार्मिक पहलुओं के बाहर भी अपेक्षाकृत कम मात्रा में अफ्रीकी प्रथाओं को क़ायम रहने दिया, हमें सांस्कृतिक परिवर्तन की एक दूसरी पूर्वस्थापना के निकट लाते हैं। इसका सम्बन्ध पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया से है जिसपर कि हम अब विचार करेंगे।

३

पुनर्व्याख्या (Reinterpretation) सांस्कृतिक परिवर्तन के सभी पहलुओं में पायी जाती है। इस प्रक्रिया के द्वारा नये तत्त्वों को पुराने अर्थ प्रदान किये जाते हैं या नये मूल्य पुराने रूपों के सांस्कृतिक महत्त्व को परिवर्तित कर देते हैं।

यह लेनेवाली संस्कृति में एक ग्रहण किये गये तत्त्व को एकीकृत करने के साथ ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के अन्दर भी कार्य करती है। किन्तु बादवाली प्रक्रिया में इस घटना का बहुत सरलता से अध्ययन किया जा सकता है।

मत-समन्वय या विभिन्न पंथों के एकीकरण का प्रयास (Syncretism) पुनर्व्याख्या का एक रूप है। नई दुनिया के नीग्रोओं द्वारा मूल अफ्रीकी संस्कृति के केन्द्रबिंदु पहलू धर्म में किये गये समझौतों से यह अत्यन्त स्पष्टता से दर्शाया जा सकता है। नई दुनिया के कैथलिक देशों में अफ्रीकी देवताओं और चर्च के संतों का मिलन यहां पर उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिए, हैटी में पश्चिमी अफ्रीकी डाहोमियों और योरूबियों के धूर्त लेगबा को सेंट एन्थोनी से मिला दिया गया है। इस संत को बहुरंगी चित्रों में दिखाया गया है। और भक्तगण इसे निर्धनों का संरक्षक मानते हैं, जबकि लेगबा को एक बूढ़ा आदमी कल्पित किया जाता है जोकि चीथड़े पहनकर घूमता है। एक और उदाहरण लें; डाहोमी इन्द्रधनुष-सर्प डम्बाला को सैंट पैट्रिक से मिला दिया गया है, और उसे अपनी परिचित भूमिका में सांपों के साथ चित्रित किया जाता है।

अन्य स्थानों से भी धर्म के विभिन्न पंथों के मेल के उदाहरण दिये जा सकते हैं। पश्चिमी अफ्रीका के हौसा लोगों में जहांकि मूलवासी विश्वास इस्लाम के सम्पर्क में आये हैं क़ाफ़िर **इस्कोकी** को क़ुरान के जिन्न से मिला दिया जाता है।[11] नई दुनिया में जहां कि अफ्रीकी लोग प्रोटेस्टैंट मत के सम्पर्क में आये, वहां कैथलिक मत की भांति वैयक्तिक देवताओं का कायम रखना असंभव था, चूंकि अन्य प्राणियों के साथ उन्हें नहीं मिलाया जा सकता था। अतः पुन-व्याख्याओं में होली घोस्ट की शक्ति और जोर्डन नदी के महत्त्व पर ज़ोर दिया गया, जो कि अफ्रीका की उन नदियों के समकक्ष थी जिन्हें कि अलौकिक जगत् में पहुंचने के लिए प्रेतात्माओं को पार करना पड़ता है। प्रेतात्मा के चढ़ने का अनुष्ठान होली घोस्ट द्वारा जारी रहा और बहते पानी में बपतिस्मा को दिये गये स्थान ने अफ्रीका में नदी और समुद्र पूजा के महत्त्व की पुनर्व्याख्या की। अपने संगठन में "शोक मनाने के स्थान" का कृत्य अफ्रीकी पूजा-समूहों के दीक्षा-अनुष्ठानों का कृत्य बन गया।

यह तथ्य कि नई दुनिया के अफ्रीकी धर्मों के केन्द्रबिन्दु पहलू में पुन-र्व्याख्या द्वारा मूल अफ्रीकी प्रथा के बड़े अंश को कायम रखा जा सका, इसका यह अर्थ नहीं कि इन संस्कृतियों के अन्य पहलुओं में अनेक पुनर्व्याख्यायें नहीं हुई। लम्बे-चौड़े अंत्येष्टि संस्कार करनेवाले "दफनानेवालों के दल," मृतों के स्थान और भूमिका की अवधारणायें, रिश्तेदारी नामावलि के रूप, स्त्रियों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति, शिष्ट व्यवहार की परम्परायें, लौजों का संगठन—यह नई दुनिया की नीग्रो संस्कृतियों के कुछ पहलुओं में से हैं जोकि अमरीका के

---

११. जे० ग्रीनबर्ग, १९४६, पृ० ६०–६१।

विभिन्न भागों में पुनर्व्याख्या होकर क़ायम हैं। सामाजिक संगठन के क्षेत्र में ये पुनर्व्याख्यायें इतनी गहरी हैं कि इन्होंने अफ्रीका की उस संस्कृति में, जिसमें पुरुषों की प्रभुता थी, स्त्रियों की प्रभुता ला दी है।[१२]

भाषा में भी पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण मिलता है। मोटे तौर पर सांस्कृतिक अर्थों में व्याख्या करने पर अधिकांश भाषाशास्त्रीय गवेषणा को इस घटना का अध्ययन कहा जा सकता है। इसे समझाने के लिए हिन्दू-यूरोपीय पुनर्व्याख्याओं के दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहां स्मरण दिलाया जा सकता है कि किस प्रकार नेपोलियन युद्धों में रूसी किसान फ्रेंच सैनिकों से बहुत अधिक डरते थे। मैत्री करने के इच्छुक फ्रेंच सैनिक बारम्बार **"बौन आमी"** (अच्छे मित्र) कहते घूमते थे। इसके कारण फ्रांसीसी **बौरनामीचेस्की** या "बोनामिस" नाम से प्रसिद्ध हो गये; रूसियों के लिए जिस शब्द का अर्थ "बदमाश" हो गया। यूरोप में "स्मोकिंग" शब्द प्रायः पुरुषों के डिनर कोट के लिए प्रयुक्त होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में औपचारिक भोजों में स्त्रियों के उपस्थित होने पर पुरुष धूम्रपान नहीं करते थे, जबकि केवल पुरुषों की दावतों में, जहांकि शाम के कपड़ों के बजाय डिनर कोट पहना जाता था—चूंकि उन्हें अंग्रेज़ी में **"स्मोकर्स"** कहते थे, धूम्रपान का नियम था। इसलिए फ्रांस में जब **आं स्मोकिंग** के लिए—अन्तिम अक्षर पर ज़ोर देकर—निमंत्रण दिया जाता है, तब उसका अर्थ होता है कि डिनर के कपड़े पहने जाएंगे।

मैक्सिको में यूकाटान के क्विनटाना प्रदेश के माया इंडियनों ने नई दुनिया के ईसाई नीग्रोओं और पश्चिमी अफ्रीका के मुसलमान हौसा की भांति अपने स्थानीय देवताओं और विविध पूजे जानेवाले प्राणियों को कैथोलिक कर्मकांड में मिला लिया है। इन माया लोगों में सूली (Cross) की भूमिका एकीकरण, के प्रयास का सबसे उल्लेखनीय पहलू है। विला लिखता है, "सूली इस समूह का सबसे पवित्र प्रतीक है। यह ईश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ का कार्य करती है, जहां कहीं भी सूली खड़ी है, ईश्वर की आंखें टिकी हुई हैं। परन्तु सूली ईश्वर से सीधी बात नहीं करती, बल्कि अपने पुत्र जीसस क्राइस्ट द्वारा, जिसे क्रास का जौन कहते हैं, बात करती है।" सूलियों में चमत्कार करने की शक्ति है, वह पवित्र हैं, उनपर पवित्र जल छिड़का जाता है, उन्हें सजाया जाता है और वस्त्र पहनाये जाते हैं। कुछ प्रकार की लकड़ियां जिनमें विशेष प्रबल शक्ति मानी जाती है, विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। सूलियों का एक सोपानक्रम है। घर की सूलियां, जिनका "सबसे निम्न स्थान और पवित्रता है," परिवार की रक्षा करती हैं, उस दशा को छोड़ जबकि एक परिवार की सूली को किसी चमत्कार करने के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है और तब यह चमत्कारयुक्त सूली एक तरह

---

१२. एम० जे० और एफ० एस० हर्सकोवित्स, १९४७। इस प्रक्रिया की चर्चा के लिए देखिये पृ० ५–१७।

से सार्वजनिक बन जाती है। इन साधारण रक्षक सूलियों के कोई पूजास्थल या मंदिर नहीं होते। गांव की सूलियों को अधिक शक्तियां प्राप्त हैं और कभी-कभी वह स्वयं कार्य कर सकती हैं। इनमें से सबसे अधिक पवित्र सूली का नाम ला सैंटिसिमा (पवित्रतम) है। इसकी अपनी वेदी, पूजा और भक्त होते हैं और इसके लिए सार्वजनिक-प्रार्थना की जाती हैं। "यह उप-क़बीले के नैतिक और धार्मिक संगठन की संरक्षिका और संकट और कष्ट में इसके लोगों की रक्षिका" बन गयी है।"[१३]

पुनर्व्याख्या की अवधारणा केवल सम्पर्क के अन्तर्गत सांस्कृतिक परिवर्तन तक ही सीमित नहीं है। उसका क्षेत्र विस्तृत है। संस्कृति का आन्तरिक विकास भी पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया से प्रभावित होता है, पूर्व-विद्यमान तत्वों की नई सांस्कृतिक दिशा में पुनर्व्याख्या की जाती है। उदाहरण के लिए, मूलतः फ्रेंच शब्द शोफर (*Chauffeur*) का अर्थ कोयला झोंकनेवाला था किन्तु मोटर के ड्राइवर के अर्थों में यह अब केवल फ्रेंच भाषा का ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं की शब्दावलि का भी एक सदस्य बन गया है। प्रारम्भिक अंग्रेज़ी में "फ़ैक्टरी" वह स्थान था जहां एक फैक्टर, व्यापारिक संस्थान का कारिन्दा अपना काम करता था। बाद में यह "मैनूफ़ैक्टरी" बन गया जहां माल बनाया जाता था। मैनूफैक्चर शब्द अभी भी विद्यमान है किन्तु फैक्टरी की पुनर्व्याख्या उस स्थान के रूप में हो गई है जहांकि एक व्यापारिक संस्थान बिक्री के लिए पक्का माल बनाता है।

पुनर्व्याख्या का सिद्धान्त संस्कृति के गतिशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ प्रस्थापनाओं को, जोकि मानवशास्त्रीय विचारधारा में सुस्थापित हैं, स्पष्टता प्रदान करता है। लिंटन ने सुझाया है कि "संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व में चार पृथक्, यद्यपि परस्पर अन्तःसम्बन्धित, प्रकार के गुण रहते हैं, अर्थात् उसका **रूप, अर्थ, प्रयोग** और **कृत्य** होता है।"[१४] इस प्रस्थापना के आधार पर बार्नेट ने बताया है कि जैसे-जैसे सांस्कृतिक तत्त्व बदलते हैं वैसे-वैसे इनमें से प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूप से बदल सकता है। पुराने रूप में नये अर्थ को पढ़ा जा सकता है या पहले कृत्य के क़ायम रहने के बावजूद एक नये सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है।[१५] इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्दावलि में, इन परिवर्तनों को सांस्कृतिक पुन-र्व्याख्यायें कहा जा सकता है, जिनमें नये रूपों में पुराने अर्थों को पढ़ा जाता है, या पुराने रूपों को नये अर्थ देकर क़ायम रखा जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि पुनर्व्याख्या की अवधारणा क्रोबर द्वारा प्रस्तुत "उद्दीपन-प्रसार" (Stimulus diffusion) की पूर्वकल्पना के लिए भी, महत्त्वपूर्ण है। इस

---

१३. एलफोंजो विला आर०, १९४५, पृ० ९७–९।

१४. आर० लिंटन, १९३६, पृ० ४०२।

१५. एच० जी० बार्नेट, १९४२।

श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाले अनेक सांस्कृतिक परिवर्तनों में पुनर्व्याख्या का सिद्धान्त बुनियादी है।

फेन्टन ने ईराक्वी इंडियनों में आत्महत्या के प्रतिमानों के अध्ययन में पुनर्व्याख्या का, एक अन्य उदाहरण दिया है और दर्शाया है कि किस प्रकार परिवर्तित परिस्थितियों में यह एक प्रथा के क़ायम रखने का यंत्र बन सकती है। यूरोपीय सम्पर्क के प्रारम्भिक दिनों में आत्महत्या के प्रति उन लोगों की धारणा परस्पर-विरोधी थी, किन्तु ईसाइयत के प्रभाव में इसकी निन्दा होने लगी। "दिये गये जीवन की एक निश्चित अवधारणा और मृतकों के देश से निष्कासन" ने इस धारणा को और भी कठोर बनाया था, इनमें से पहले विश्वास का बाहर-वालों ने प्रवेश कराया, बाद की अवधारणा देशीय विश्वासों का विकास थी। यद्यपि आत्मविनाश के प्रति धारणायें बदल गई हैं, फिर भी "बुनियादी आत्म-हत्या प्रतिमान" स्थिर रहे हैं। "आत्माओं के भाग्य के सम्बन्ध में वही प्रेरणायें, वही पद्धतियां और वही विश्वास विद्यमान हैं। पकड़े जाने और सताये जाने का खतरा युद्धों के साथ समाप्त हो गया और खूनी बदले का स्थान श्वेतों द्वारा लगाये हुए क़ानन ले रहे हैं। दायित्व बदल गया है किन्तु बचाव सर्वत्र प्रबल प्रेरणा है।" फेन्टन का निष्कर्ष है, "इसलिए प्रतिमान प्रथा के लिए सांस्कृतिक निरंतरता स्थापक का कार्य करता है, पूर्ववर्तियों ने पहले से ही व्यक्ति के लिए परिस्थिति को स्पष्ट कर दिया है और बुनियादी प्रतिमान के एकबार स्थापित हो जाने पर उसके ढांचे के अन्दर दूसरी चीज़ के आ जाने पर भी, क़ायम रहने की प्रवृत्ति है।"[१६] अर्थात् समय बीतने के साथ पहले प्रतिमान की पुन-र्व्याख्या की जाती है जिससे कि वह समग्ररूप से संस्कृति में होनेवाले परिवर्तन के साथ मेल खा सके।

४

सांस्कृतिक केन्द्रबिन्दु और पुनर्व्याख्या की अवधारणाओं का महत्त्व तब स्पष्ट होता है जबकि हम इस प्रश्न के प्रायः दिये जानेवाले उत्तर पर विचार करते हैं, "एक निर्दिष्ट लोग प्रस्तुत विचार या चीज़ों में से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार क्यों करते हैं?" प्रायः यह कहा जाता है कि उन तत्त्वों को जो कि संस्कृति के पहले प्रतिमानों से मेल खाते हैं स्वीकार किया जाता है, जो नहीं उन्हें अस्वीकार किया जाता है। कई बार इसका उत्तर सांस्कृतिक आधार के प्रसंग में दिया जाता है, जिसमें यह निहित है कि जब एक संस्कृति एक नवप्रवर्तन के लिए तैयार है, नवप्रवर्तन प्रकट होगा। यह स्मरण होगा कि आविष्कारों की स्वीकृति की समस्या का सांस्कृतिक निर्णायकवादी यही उत्तर देते हैं और प्रायः हमारी अपनी संस्कृति के ही अनेक स्वतंत्र आविष्कारों का हवाला देकर इसे बताया जाता है।

---

१६. डब्ल्यू० एन० फेन्टन, १६४१, पृ० १३४-६।

तथापि यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर अन्ततः होते हुए परिवर्तन के अध्ययन से आना चाहिए। वितरण के अध्ययनों से प्राप्त न्यासों को हमारी पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, किन्तु वैज्ञानिक अन्वेषण का साधन होने के रूप में पूर्वकल्पनायें स्वयं वस्तुतः होनेवाले परिवर्तनों के, चाहे वह आन्तरिक हों या सम्पर्क द्वारा प्रेरित, प्रत्यक्ष अवलोकन से उत्पन्न होनी चाहिए।

सांस्कृतिक नवप्रवर्तन प्रस्तुत होने पर एक जनसमूह द्वारा उसके चुनाव की भिन्नता की दर के प्रश्न का उत्तर देना अभी भी बाक़ी है। यह संदेहास्पद है कि, सिवाय सामान्य अर्थों में, बहुत वर्षों तक इसका उत्तर दिया भी जा सकता है कि नहीं। अधिकांश समाज-वैज्ञानिकों और व्यावहारिक समस्याओं से सम्बन्धित अनेक विद्यार्थियों का यही अन्तिम लक्ष्य है। जब कभी बाज़ार में एक नई चीज़ लाई जाती है, यह प्रश्न प्रस्तुत होता है। क्योंकि बाज़ार-सर्वेक्षण भी आंतरिक परिवर्तन की स्वीकृति या अस्वीकृति की समस्या के अध्ययन का एक प्रयास है। किसी भी विदेशी समाज में एक नये विचार या किसी नई प्रविधि या नई वस्तु का प्रवेश कराने के प्रयास में इस प्रश्न का सामना करना होगा।

यदि हमारे इन प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता, तथापि इसे परिष्कृत और स्पष्ट तो किया ही जा सकता है। इस अध्याय की चर्चा का यही उद्देश्य है। उन संस्कृतियों के अध्ययन से, जिनमें परिवर्तन की प्रक्रिया का अवलोकन किया गया है, प्राप्त **सांस्कृतिक केन्द्रबिंदु** और **पुनर्व्याख्या** की पूर्वकल्पनाओं का महत्त्व, जिन स्थितियों में वह अध्ययन की गई हैं, उनमें उनकी उपयोगिता को अतिक्रांत कर जाता है। यह अवधारणायें सांस्कृतिक परिवर्तन की बुनियादी समस्या के प्रति हमारे दृष्टिकोण को संशोधित करती हैं। "क्यों एक निर्दिष्ट लोग उन्हें दिये गये एक नये विचार या वस्तु को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार करते हैं?" इन प्रश्नों के उत्तर प्रायः संस्कृति के प्रसंग में ही दिये जाते हैं। केन्द्रबिन्दु और पुनर्व्याख्या के प्रसंग में इसके प्रतिपादन के लिए एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिक्रम अपेक्षित है। यह बात पुनः ज़ोर देकर कही जा सकती है कि यदि एक संभावित नवप्रवर्तन को लोगों द्वारा स्वीकार या अस्वीकार किये जाने की मूल भावनाओं और सांस्कृतिक पविर्तन की प्रक्रिया को वस्तुतः समझना है, तो यह दृष्टिकोण आवश्यक है।

अध्याय सत्ताईस

सांस्कृतिक भिन्नता की यंत्ररचना

हम देख चुके हैं कि व्यवहार में व्यक्तिगत भिन्नताओं को तभी जाना जा सकता है जबकि लोगों की जीवनरीति ज्ञात हो। यह समझने के लिए समय और अनुभव की ज़रूरत है कि मोटे तौर से एक विशेष समाज के सदस्यों को एक परिस्थिति में व्यवहार करने में कहां तक भिन्नतायें स्वीकृत हैं।

अजनबी संस्कृतियों में व्यक्तिगत भिन्नताओं को समझने की कठिनाइयों ने इस विचार को जन्म दिया था कि "आदिकालीन मानव" एक कठोर सांस्कृतिक सांचे में रहता है। इस सम्बन्ध में एक पहले अध्याय में दिये गये हरबर्ट स्पेंसर व अन्य लेखकों के उद्धरणों को स्मरण कराया जा सकता है, और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उन्नीसवीं शताब्दी के बाद तक भी मानवशास्त्रीय चिंतन पर यह अवधारणा हावी रही। तुलनात्मक पद्धति को प्रयोग में लानेवाले विद्यार्थियों ने यात्रियों, मिशनरियों और अन्यों के विवरणों से, जिन्होंने सामान्यीकृत प्रथाओं के अर्थों में लिखा, अपने निष्कर्ष निकाले और प्रारम्भिक क्षेत्रीय कार्यकर्ता प्रायः अपने द्वारा अध्ययन किये गये समाजों में व्यक्तियों की उपस्थिति से अनभिज्ञ थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिकांश प्रारम्भिक क्षेत्रीय कार्य का उद्देश्य प्रायः यूरोपीय अमरीकी सम्पर्क के अन्तर्गत, विघटन की प्रक्रिया से गुज़रती हुई संस्कृतियों का पुनरुद्धार था, जैसा कि अमरीकी इंडियनों के उदाहरण में है। यहां पर जीवित बचे हुए लोगों के संस्मरणों में, जिन्होंने सूचनादाता का कार्य किया, व्यक्तिगत भिन्नतायें लुप्त हो गई थीं।

प्रारम्भिक मानवशास्त्रीय रचनाओं में व्यक्तिगत भिन्नताओं की उपेक्षा का एक अन्य कारण यह भावना भी थी कि मानवशास्त्र को, जोकि प्रथाओं का विज्ञान है, उसे मनोविज्ञान से, वह शास्त्र जो कि व्यक्ति का अध्ययन करता है, पृथक् करना था। सापिर ने इस बात को अच्छी तरह प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार "इन अर्थों में मानवशास्त्र ने व्यवहार के उन पहलुओं पर ज़ोर दिया जो कि अपने आप में समाज से, विशेषकर धूमिल अतीत के समाजों या विदेश से आकर बसे समाजों से सम्बद्ध थे, जिनकी जीवनरीति अपने लोगों से इतनी भिन्न दीखती थी कि एक व्यक्ति, मोटे तौर से समाज के जीवन का एक सामान्य चित्र, निर्माण करने की आशा करता था और वह भी उसके विकास की बहुत प्राचीन अवस्था में ही।"[1]

---

१. ई० सापिर, १९३८, पृ० ७।

यह सच है कि सूचनादाताओं के नाम दिये जाते थे, किन्तु इस बात को बताने का बहुत ही कम प्रयास किया गया था कि किस प्रकार एक निर्दिष्ट बात पर उनके वक्तव्य भिन्न हो सकते थे। सापिर कहता है :

"मुझे याद है कि अपने विद्यार्थीकाल में जब मैंने जे० ओ० डोरसी के 'ओमाहा समाजशास्त्र' में इस प्रकार के वक्तव्य पढ़े, जैसे कि 'टू क्रोज़ इससे इन्कार करता है', मुझे खुश होने के बजाय एक धक्का लगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कि लेखक ने अपनी स्रोत सामग्रियों की ठीक तरह से परीक्षा नहीं की, और न ही इस प्रकार के न्यास दिये हैं जिन्हें कि हम सम्मानित मानव-शास्त्रियों की भांति ग्रहण कर सकें। यह ऐसा ही था जैसे कि लेखक ने अपना दायित्व पाठक के ऊपर डाल दिया है और यह आशा की है कि वह सांस्कृतिक अन्तर्दृष्टि से मिथ्या से सत्य को पृथक् कर सकेगा।"

किन्तु जैसा कि सापिर ने निर्देश किया है, डोरसी अपने समय से आगे था। वह इंडियनों को भलीभांति जानता था और उसने यह स्वीकार किया कि व्यक्तियों की हैसियत से वह अन्य किसी मानव समह की भांति अपने व्यवहारों और उस व्यवहार की व्याख्याओं में भिन्न थे। सापिर कहता है, "स्पष्ट ही एक अच्छा और प्रामाणिक इंडियन टू क्रोज़, उतने ही अच्छे और प्रामाणिक इंडियन द्वारा बतायी गयी प्रथा या धारणा या विश्वास की उपस्थिति से ही इन्कार कर सकता था।"[२]

हाल ही में ऐंशटन ने इस बात को बहुत स्पष्टता से एक अवतरण में प्रस्तुत किया है। वह कहता है,

"संस्कृति एकतत्त्वीय एकीकृत सम्पूर्ण नहीं है। स्पष्टतः एक केन्द्रीय प्रतिमान होता है जोकि एक निर्दिष्ट संस्कृति को उसकी सामान्य विशेषतायें प्रदान करता है और अन्य संस्कृतियों से उसे पृथक् करता है, किन्तु यह कोई कठोर प्रतिमान नहीं है, न ही यह सर्वाङ्गीण है। इसमें सब प्रकार की विच्युतियां (Deviations) और अपवाद हैं, जिनमें से कुछ व्यक्तिगत विचित्रता या पसन्द या काल, स्थान, या परिस्थिति के परिवर्तन के कारण और अन्य समुदाय के सम्पूर्ण विभागों में भिन्नताओं के कारण हैं।"[३]

इस स्थिति की सत्यता का एक प्रमाण रौवर्टस् के जमैका के नीग्रोओं के गीतों के अध्ययन की भिन्नताओं में मिलता है। उसने सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा दर्शाया है कि किस प्रकार एक ही गीत अपने स्वर और शब्दों में एक ही द्वीप के अलग-अलग ज़िलों में और अलग-अलग गायकों में पृथक् हैं। उसके न्यास "जौन क्रो" या ("क्याम क्रो") गीत की, जिसे कि उसने जमैका के उत्तरी पश्चिमी भाग में रिकार्ड किया, भिन्नताओं पर आधारित हैं। जौन क्रो गिद्ध

---

२. वहीं, पृ० ७–८।

३. एच० ऐंशटन, १९५२, पृ० ८।

है। यही अत्यधिक संभव है, कि उसे दिया गया यह नाम पश्चिमी अफ्रीका में इसी पक्षी के **थांकोरो** नाम का अंग्रेज़ी उल्था है। उसका दूसरा नाम संभवतः "कैरियन-क्रो" से निकला है जिसका कि जमैका के नीग्रोओं के ढंग पर उच्चारण होता है। इस गीत का मूल विषय अफ्रीका और नई दुनिया के नीग्रोओं में समान है। इसमें इस बदसूरत पक्षी के लालचीपन का उपहास किया गया है जोकि "मिसा राइट की गाय" से भोजन पाने की जल्दी में उड़ने के बजाय गिर जाता है और "अपने फेफड़े, या वायु को, जैसा कि इसकी व्याख्या की गई है, तोड़ बैठता है।"[४] लेखिका बताती है कि "इस छोटी-सी घटना से अनेक घटनाओं के सूत्र उत्पन्न हुए जिन्हें कि निस्संदेह अनेक भिन्न विवरणों में देखा जा सकता है।"

पास की बस्तियों में रिकार्ड किये गये इनमें से तीन गीतों में, उनके स्वर-ताल और पद्यों के अभिप्रायों में समानता के बावजूद, गौण भिन्नतायें देखी जा सकती हैं। अन्य गीत जिनमें विस्तृत विषमतायें मिलती हैं, दूर बसे हुए समुदायों से लिये गये हैं। इनसे पता चलता है कि किस प्रकार एक ही सांस्कृतिक मद की जिस प्रदेश में उसका अध्ययन किया जा रहा है, उसके विस्तार के साथ, उसकी भिन्नता की सीमायें भी निरंतर बढ़ती जाती हैं। हम यहां पर व्यक्तिगत भिन्नताओं पर विचार नहीं कर सकते। हमें बताया गया है कि प्रत्येक गायक द्वारा इस गीत को प्रायः बहुत कुछ एक ही तरह से गाया जाता है। किन्तु रौबर्टस् ने ऐसे उदाहरण भी दिये हैं जो यह दर्शाते हैं कि एक ही गायक जब एक निर्दिष्ट गीत को दोहराता है, उसमें भिन्नतायें मिलती हैं।

तब जनवृत्तशास्त्रीय "सत्य" कहां निहित है? यहां उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं जोकि हम पिछले पृष्ठों में सांस्कृतिक घटनाओं का वर्णन करते हुए सत्य को स्थापित करने की समस्या के सम्बन्ध में कह चुके हैं। हम यहां केवल इसी बात पर ज़ोर देंगे कि जातिशास्त्रीय सत्य स्थिर नहीं हैं, वह परिवर्तनीय हैं। इसलिए एक जनवृत्तशास्त्री को एक निर्दिष्ट विश्वास या एक निर्दिष्ट व्यवहार-रीति में **संस्कृति द्वारा स्वीकृत भिन्नताओं की सीमाओं** को जानना चाहिए।

इस सिद्धान्त को स्थापित करने के बाद इसके कुछ निहितार्थों को खोजना आवश्यक है। जैसा कि संस्कृति के क्षेत्र में गवेषणा और विश्लेषण का निर्देशन करनेवाले व बाहर से स्पष्ट दीखनेवाले अनेक सिद्धान्तों के विषय में सत्य है, एक सरल-सी बात की तह में पहुंचने में भी असंभावित जटिलतायें प्रकट होती हैं। उदाहरण के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय विद्यार्थी को **आदर्श** और **वास्तविक** व्यवहार का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए और किन्हीं भी लोगों की जीवनरीति का विवरण पढ़ते हुए उसे ध्यान में रखना चाहिए। यहां मुख्य कठिनाई यह है कि एक समाज के सदस्य अनिवार्यतः इसपर एकमत नहीं हैं कि आदर्श व्यवहार क्या है। एक ही समुदाय के विभिन्न सदस्य समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार के सम्बन्ध में विभिन्न

---

४. एच० एच० रौबर्टस् १९२५, पृ० १७८।

मत देते हैं, जबकि वास्तविक अवलोकन से व्यवहार में मोटी भिन्नतायें प्रकट होती हैं, जो स्वीकृत आदेशों की भिन्नता को प्रतिबिम्बित करती हैं।

जनवृत्तशास्त्रीय सत्य की यह खोज वास्तविक व्यवहार में प्राप्त विच्युतियों द्वारा किस प्रकार जटिल हो जाती है इसका एक उदाहरण इस समस्या को स्पष्ट करेगा और साथ ही यह बतायेगा कि कैसे उसका सामना किया जाय। हम ब्राज़ीली नीग्रोओं के अफ्रीकी विश्वास और कैथलिक मत के परसंस्कृतीकरणात्मक मिलनों के उदाहरण को ले सकते हैं। नई दुनिया के अन्य कैथलिक देशों की भांति यहां भी दासताकाल में जबरन धर्म परिवर्तन के परिणामस्वरूप पूर्वजों के अफ्रीकी विश्वासों के साथ ईसाइयत का मेल कराया गया है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इन अफ्रीकियों के वंशज अफ्रीकी देवताओं की पूजा के साथ-साथ कैथलिक मत का पालन करते हैं। समस्त कैथलिक देशों की भांति यहां लैंट का काल अत्यन्त महत्त्व का है और इसी प्रकार श्रोव मंगलवार (मर्डी ग्रास), जिसमें वार्षिक उत्सव की अन्तिम परिणति होती है। बाहिया के इस ब्राज़ीली नगर में अब प्रायः प्रत्येक ही नीग्रो या श्वेत, चाहे वह पूजा-सम्प्रदाय का सदस्य हो या नहीं, पूर्ण सद्भावना से कहेगा कि लैंट पूजा-संस्कारों के अध्ययन का समय नहीं है, चूंकि लैंट मनाने के लिए पूजा-घर बन्द हैं। इस खोज में प्रायः एकमत से यह भी बताया जाता है कि पवित्र शनिवार वह दिन है जबकि लैंट में बन्द हो जाने के बाद यह अफ्रीकी पूजा केन्द्र (Cult centres) लम्बे-चौड़े अनुष्ठानों के साथ पुनः खोले जाते हैं। कुछ लोग तो और भी अधिक निश्चित हो कहते हैं कि यह पूजा के अनुष्ठान ११ बजे प्रातः शुरू होते हैं जबकि ईस्टर से एक दिन पहले बाहिया के अनेक गिरजों के घंटे ईसा के पुनर्जागरण की सूचना देते हैं।

तथापि, अन्वेषण से पता चला कि वास्तविक व्यवहार में अनेक पूजा-केन्द्रों में लैंट के दिनों में भी अफ्रीकी देवताओं की पूजा जारी रहती है। १९४२ में एक भी ऐसा केन्द्र न था जिसने इस अवधि के प्रारम्भ में अपना कार्य स्थगित कर दिया हो। सभी पूजाघर पवित्र सप्ताह में बन्द थे और इन केन्द्रों में रहने-वाले लोग भी उस समय अन्यत्र चले गये, क्योंकि इस समय देवताओं के प्रयाण के कारण यह समय आध्यात्मिक संकट का समझा जाता है। और, पुनः सभी पूजा-केन्द्र ईस्टर के शनिवार को नहीं खुले। वास्तव में इन्हें खोलने के अनुष्ठानों को ईस्टर शनिवार के एक महीने या उससे भी अधिक बाद तक देखा जा सकता है। यह मुख्यतः पूजाघर के प्रधान पुजारी या शकुनशास्त्र (Divination) द्वारा व्यक्त देवताओं की इच्छाओं या अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, ऐसा विश्वास है कि जब पूजाघर बन्द रहते हैं, तब देवता अनुपस्थित रहते हैं और इस अवधि में वह "युद्ध में व्यस्त" माने जाते हैं। पूजाघर बन्द करने के अनुष्ठान का, जिसे **लोरोगन** कहते हैं, उद्देश्य इन

प्राणियों को अपने रास्ते पर तेजी से बढ़ने में सहायता देना है। इसमें देवता बुलाये जाते हैं, वह अपने भक्तों पर चढ़ जाते हैं और कुछ केन्द्रों में एक नृत्य का अभिनय होता है जिसमें सूक्ष्मता से एक नकली लड़ाई दिखाई जाती है जो इस बात का निर्णय करती है कि अगले वर्ष में कौन-सी प्रेतात्मायें केन्द्र पर "शासन करेंगी"। फिर देवता अपने भोजन के थैले कंधे में लटका विदा लेने के लिए केन्द्र के पूजास्थलों पर जाते हैं और तब पूजाघर में नृत्य समाप्त करते हैं, और जाने से पहले वह अपने प्रिय खाद्यों को दर्शकों में बाँट देते हैं।

यह **लोरोगन** अनुष्ठान का संक्षेप है जोकि तीन भिन्न सूचनादाताओं द्वारा दिये गये विवरणों के समान तत्वों तथा छः वास्तविक संस्कारों के अवलोकन से दिया गया है। प्रत्येक सूचनादाता ने पर्याप्त विस्तार से घटनाओं के क्रम को और इस अनुष्ठान के प्रत्येक तत्व को किये जाने के कारणों को बताया। किन्तु यह बहुत संभव है कि उनमें से प्रत्येक ही उस विशेष अनुष्ठान के बारे में सोच रहा था जोकि जिस पूजा केन्द्र से वह सम्बन्धित था, वहां मनाया जाता था। उदाहरण के लिए, कुछ समूहों में इस लड़ाई को स्त्री और पुरुष देवी-देवताओं के बीच लड़ाई बताया गया है जिससे यह निश्चय किया जा सके कि अगले साल कौन शासन करेगा, अन्यों ने इसे विभिन्न देवमालाओं के बीच लड़ाई कहा है। एक केन्द्र में उत्सव के समय जैसे ही ढोलों की ताल ध्वनि हुई, जो देवता पहले भक्त के पास आया, अर्थात् जो सबसे पहले उस पर चढ़ा, वही उस साल के लिए सर्वप्रधान देवता था। कभी-कभी एक सूचनादाता कहता है, "अपने केन्द्र में हम इसे इस भांति करते हैं, किन्तु अन्यों में वह ऐसा नहीं करते"; या जब उसके सामने दूसरे सूचनादाता का विरोधी वक्तव्य प्रस्तुत किया जाता है वह कन्धे उचकाकर कहता है, "शायद वह अपने घर में इस तरह करते हैं।"

कैथलिक संतों और अफ्रीकी देवताओं के एकीकरण या लैंट के सम्बन्ध में अफ्रीकी-बाहियाई पूजा व्यवहारों में वस्तुतः क्या "सत्य" है? यहां यह स्पष्ट है कि कोई एक सत्य नहीं है, यहां पर अनेक सत्य हैं। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि कुछ सीमायें हैं जिनके परे वक्तव्य सही नहीं है, किन्तु एक समान व्यवहार का आधार भी है जहां अल्पतम विच्युति है। यह तथ्य कि पवित्र सप्ताह में प्रायः सभी पूजाघर बन्द हो जाते हैं, एक ऐसा ही आधार तत्व है। **लोरोगन** अनुष्ठान की सामान्य रूपरेखा में दी गई समान मदें भी ऐसे ही अन्य तत्व हैं, किन्तु इस आधार की अनेक भिन्नतायें भी हैं और इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक की ही संस्कृतिशास्त्रीय सत्यता है। यह वैसा ही है जबकि अन्य संस्कृतियों में और पूर्णतः भिन्न क्षेत्र में एक व्यक्ति पूर्ण सद्भावना के साथ यह बताता है कि उसके समूह में पुरुष अपनी सासों से बचकर, और खास तौर से उनसे आमने-सामने बात न करके उनके प्रति सम्मान दिखाते हैं। बाद में एक से अधिक जनवृत्तशास्त्रियों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वही सूचनादाता अपनी सास से बात कर रहा है और वह कहता है कि यह एक विशेष अवस्था थी—एक बच्चा

बीमार था या उसकी पत्नी को सलाह की जरूरत थी जिसके लिए वह स्वयं न आ सकती थी।

दैनिक आचार में पथप्रदर्शन करने की भांति जनवृत्तशास्त्र में भी "परिस्थितियां व्यवहार को बदल देती हैं", यह एक अच्छा चालू नियम है। चूंकि परिस्थितियां ही व्यक्तिगत व्यवहार में उन भिन्नताओं को उत्पन्न करती हैं जोकि स्वीकृत आचार या संस्थाओं के स्वीकृत रूपों में विच्युतियों की अनुमति दे प्रतिमानित आदेशों की भिन्नता में प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रथा में स्वीकृत भिन्नता को जांचने की समस्या जनवृत्तशास्त्रीय सत्य के प्रश्न का सार है।

२

इस पुस्तक में पहले प्रस्तुत संस्कृति-प्रतिमान (Culture pattern) की अवधारणा में इस घटना को भिन्न व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमानों की एकमतता (Consensus) के रूप में परिभाषित किया गया था। यह भी बताया गया था कि उन चर्चाओं को छोड़ जिनमें कि प्रतिमानविशेष का विवरण या विश्लेषण हो सभी चर्चाओं में इस शब्द का बहुवचन में प्रयोग करना चाहिए। इस निष्कर्ष पर इसलिए पहुंचा गया था क्योंकि हमने देखा था कि अत्यन्त एकतत्वीय समूह में भी एक ही परिस्थिति का सामना करने के लिए संस्थागत भिन्न तत्त्व पाये जाते हैं। विभिन्न प्रतिमानों के समुच्चय इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक समाज उन उपसमूहों का एक योग है, जिनकी विशेष जीवनरीतियों को समग्ररूप से समूह की सामान्य स्वीकृतियों के अन्तर्गत पृथक् किया जाता है। यह तथ्य कि यह रेखायें, इन अर्थों में कि एक निर्दिष्ट व्यक्ति अनेक उपसमूहों का सदस्य है, एक-दूसरे को काटती हैं ; प्रतिमान घटना द्वारा प्रस्तुत समस्या को पेचीदा बना देता है। उसी समय यह भी बताया गया था कि इस जटिलता की स्वीकृति स्वयं संस्कृति के अध्ययन की कुछ समस्याओं को स्पष्ट कर देती है जोकि अन्यथा गंभीर कठिनाइयों को उपस्थित करती हैं।

इन समस्त भिन्नताओं के नीचे वह भिन्नतायें हैं जोकि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से, और माध्यमिक स्तर पर, एक परिवार को दूसरे परिवार से पृथक् करती हैं। इसीलिए एक प्रतिमान के स्वरूप पर, चाहे वह कितना ही विशेष या सूक्ष्म हो या विस्तृत हो, व्यवहार की **एकमतता** के रूप में ज़ोर दिया गया था। जितने अधिक व्यक्ति एक निर्दिष्ट परिस्थिति में एक समान रीति से, प्रतिक्रिया करते हैं—हूबहू एक-सी प्रतिक्रिया नहीं—उतना ही अधिक उस समाज में उस प्रतिमान का, जहां वह पाया जाता है, प्रभाव होता है। सांस्कृतिक व्यवहार की एकमतता इस प्रकार सांस्कृतिक भिन्नता (Variation) की दूसरी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार विचार करने पर संस्कृति विभिन्न व्यक्तिगत प्रतिमानों का योग बन जाती है जो अपनी समग्रता में इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि एक विशेष समाज के किसी सदस्य का व्यवहार किसी बाहरी व्यक्ति की अपेक्षा अपने साथी सदस्य के अधिक समान होगा।

लिंटन ने एक संस्कृति में पाये जाने वाले व्यवहार की सदृशता और भिन्नता की मात्रा में बताने के लिए कुछ उपयोगी अवधारणायें सुझायी हैं। इनमें से पहली को उसने "सार्वभौम" (Universals) कहा है; यह वह विश्वास और व्यवहार के रूप हैं जिनकी एक समाज के प्रत्येक सामान्य सदस्य से आशा की जाती है, जैसे कि भाषा, वस्त्रों या घरों के प्रकार, वह रीति जिससे कि समूह अपने सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था करता है। दूसरी श्रेणी "विशेषताओं" (Specialities) की है, जिसमें व्यवहार के वह विशिष्ट पहलू सम्मिलित हैं जो बड़े सामाजिक सम्पूर्ण में विशेष समूहों के सदस्यों के लक्षण हैं; ऐसी भिन्नतायें, जैसाकि हम निर्देश कर चुके हैं, स्त्री-पुरुषों या विभिन्न प्रकार के दस्तकारों के कार्यों को पृथक् करती हैं। इसके बाद "विकल्प" (Alternative) आते हैं, यह वह व्यवहार के रूप हैं जिन्हें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है, किन्तु यह वर्ग या पेशे या स्त्री-पुरुष की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। एक आदमी अपनी टोकरी को सजाने के लिए कोई एक या दूसरा रंग चुन सकता है, या अपनी बात को एक प्रकार के दूसरे प्रकार के शब्दों में व्यक्त कर सकता है, एक खेल को विभिन्न तरीकों से खेला जा सकता है। विभिन्न रीतियों का पालन कर विवाह को स्वीकार किया जा सकता है। अन्त में, हमारे पास "व्यक्तिगत विशेषतायें" (Individual peculiarities) बच जाती हैं; यह परीक्षणात्मक प्रकार के व्यवहार हैं जोकि व्यक्तिवादी की देन हैं। लिंटन इन्हें संस्कृति में नवप्रवर्तन का स्रोत मानता है। जैसा कि वह कहता है, जीवनरीति की प्रत्येक देन को किसी एक व्यक्ति ने प्रारम्भ किया होगा। प्रारम्भ में यह एक व्यक्तिगत विशेषता होती है, जो समाज के अन्य सदस्यों द्वारा उदारतापूर्वक स्वागत किये जाने पर बाद में सामान्य प्रयोग में आने लगती है।[५]

यदि हम लिंटन के क्रम पर भिन्नता की अवधारणा को लागू करें, तो हम देखते हैं कि भिन्नता के कई स्तर हैं जोकि इन श्रेणियों से असम्बन्धित नहीं हैं। इस प्रकार वह भिन्नतायें जो किसी समूह के प्रत्येक सदस्य के विश्वास और व्यवहार को एक-दूसरे से पृथक् करती हैं, एक अर्थों में लिंटन की योजना की "व्यक्तिगत विशेषतायें" हैं। तथापि एक संख्यात्मक अवधारणा के रूप में भिन्नता का यह अति सामान्य स्तर अति-विच्युतियों की अपेक्षा, जिनपर कि श्रेणी को बताते हुए लिंटन ने ज़ोर दिया है, समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार की सीमाओं को निर्धारित करता है। सांस्कृतिक भिन्नता के दृष्टिकोण से, यदि एक अति-विच्युति को स्वीकार किया जाता है, तो इससे एक संस्कृति में भिन्नता का विस्तार बढ़ जाता है। यदि वह नहीं "चल पाती", या उसका दमन कर दिया जाता है तो उसे उस नवप्रवर्तन (Innovation) की श्रेणी में रखा जायगा जोकि स्वीकृत व्यवहार से बहुत अधिक दूर चला गया है।

---

५. आर० लिंटन, १९३६, पृ० ४७२–५।

नवप्रवर्तन के बिना भी व्यक्तिगत भिन्नता विद्यमान हो सकती है। व्यक्ति का विशेष प्रकार का व्यवहार औसत प्रकार के जितना अधिक निकट होता है, अपने साथियों से वह उतना ही कम पृथक् होगा। किन्तु कोई भी दो व्यक्ति, वह भी जोकि अपनी संस्कृति में तनिक संदेह व्यक्त नहीं करते, ठीक एक-सा ही कार्य नहीं करते, या एक ही स्वीकृत विश्वास को हूबहू एक ही शब्दों में नहीं सोचते। सांस्कृतिक रूप और प्रक्रिया को समझने के लिए इस तथ्य को समझना उतना ही ज़रूरी है जितना कि व्यक्तिगत विशेषता की भूमिका को स्वीकार करना जोकि मान्य मान (Norm) से बहुत दूर होती है। अपनी समग्रता में यह अनुमोदित विच्युति सांस्कृतिक एकतत्वीयता या बहुतत्वीयता की सूचक है। यह स्वीकार करना कि ऐसी कोई संस्कृति नहीं है, जिसमें कि एक निर्दिष्ट स्थिति में एक समूह के सब सदस्य एक समान प्रक्रिया न करते हों, दूसरे शब्दों में यह कहना है कि अन्य पहलुओं की भाति संस्कृति में भिन्नता भी सार्वभौम है। इसका अर्थ है कि चाहे इसके विश्लेषण का यंत्र कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, संस्कृति के समस्त अध्ययनों में भिन्नता पर ध्यान देना चाहिए। संस्कृतियों में भिन्नता के तथ्य की स्वीकृति, इस प्रकार मानवशास्त्रीय विज्ञान के विकास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क़दम है।

३

संस्कृति में भिन्नता से सम्बन्वित अभी तक बतलाई गई बातों को निम्न प्रस्थापनाओं में संक्षिप्त किया जा सकता है।

१. संस्कृति एक जनसमूह के व्यवहार और उसमें अन्तर्हित स्वीकृतियों की अभिव्यक्ति है।

२. किन्हीं भी दो व्यक्तियों का व्यवहार और विश्वास हूबहू एकसा नहीं है, इसलिए इन्हें कठोरतया संरचनाबद्ध मानने की अपेक्षा परिवर्तनीय समझना और उसी भांति अध्ययन करना चाहिए।

३. एक निर्दिष्ट समय में एक निर्दिष्ट समाज के सदस्यों में पाये जाने-वाले व्यक्तिगत विश्वास और व्यवहार की भिन्नता का सम्पूर्ण विस्तार उस समाज की संस्कृति को परिभाषित करता है और यह इस सामाजिक सम्पूर्ण की छोटी इकाइयों की उपसंस्कृतियों के लिए भी सत्य है।

तथापि,

४. किसी भी समाज में विश्वास और व्यहार अस्तव्यस्त नहीं हैं, किन्तु वह स्थापित मान्य मानों के निकट परिवर्तित होते रहते हैं।

५. इन मान्य मानों को एक निर्दिष्ट समूह में अवलोकन किये गये विश्वासों और व्यवहार की रीतियों की एकमतताओं से आगमन पद्धति के द्वारा प्राप्त करना चाहिए; यह मिलकर संस्कृति के प्रतिमानों का निर्माण करते हैं।

अन्ततः,

६. अन्य बातें एक समान रहने पर, समूह जितना छोटा होगा उसके

विश्वास और व्यवहार के प्रतिमान उतने ही एकतत्त्वीय होंगे।

६. समग्ररूप से जनसंख्या में समान आकार के समूहों की तुलना में विशेषज्ञ समूहों द्वारा अपनी विशेषताओं के क्षेत्र में भिन्नता का अधिक विस्तार प्रदर्शित करने की आशा की जाती है।

संस्कृति के स्वरूप और उसके संगठन की समस्या के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण यद्यपि संख्याशास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु अन्तर्हित पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं के कारण इस पर गणितशास्त्रीय रूप में विचार नहीं हो सकता। जनवृत्तशास्त्रीय साहित्य और मानवशास्त्रीय सिद्धान्त की विवेचनाओं में **सांस्कृतिक एकतत्त्वीयता** (Cultural homogeneity) और **सांस्कृतिक बहुतत्त्वीयता** (Cultural heterogeneity) की समस्या के महत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। फिलहाल परिमाणात्मक विश्लेषण की पद्धतियों का प्रयोग संस्कृति के उन पहलुओं के अध्ययन में होना उचित है जो कि गणितशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किये जा सकते हैं, जैसे कि संगीत शैली, चित्रकला या लोगों के आर्थिक जीवन के कुछ तत्त्व। फिर भी विद्यार्थी को सदैव संख्याशास्त्रीय पद्धति के प्रयोग से प्राप्त निश्चितता की मिथ्या भावना से सावधान रहना चाहिए। संस्कृति में पर्याप्त ऐसे अंश हैं जिनका परिमाणात्मक विवरण उसमें पाये जानेवाले समूहों या उपसमूहों की भिन्नता के विस्तार का सजीव और महत्त्वपूर्ण चित्र दे सकता है। उदाहरण के लिए, यह जानने के लिए कि मैकेंज़ी बेसिन के क़बीलों की संस्कृतियां जावा की अपेक्षा अधिक एकतत्त्वीय हैं, गिनती करने की ज़रूरत नहीं है। किन्तु जैसा कि हम सांस्कृतिक नियमों की प्रकृति और पूर्वोक्ति (Prediction) की समस्या पर विचार करते हुए देखेंगे, यह आवश्यक है कि हम एकतत्त्वीयता में भी उनकी भिन्नताओं की अवधारणा कर सकें, जिसमें ऐसे समूहों के सदस्यों के जीवन को परिभाषित करनेवाले विश्वास और व्यवहार की अभिव्यक्ति में व्यक्त भिन्नता की भिन्न मात्रायें सम्मिलित हैं।

यह स्पष्ट होना चाहिए कि एक जनसमूह के विश्वास और व्यवहार में भिन्नताओं के योग के रूप में एक संस्कृति की अवधारणा सांस्कृतिक गतिशास्त्र की किसी भी समस्या पर विचार करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान के अनेक अन्य क्षेत्रों की भांति संस्कृति के अध्ययन में भी किसी एक श्रेणी की घटना की पृथक् इकाइयों के बीच देखी जानेवाली भिन्नताओं को परिवर्तन की एक प्राथमिक यंत्ररचना स्वीकार किया जाना चाहिए। संस्कृति की भिन्नता के विस्तार को बढ़ाने में अति-विच्युति की भूमिका का ज़िक्र किया जा चुका है। यह अपने आप में एक अन्य गतिशील प्रतिक्रिया पैदा कर सकता है और अन्य विच्युतियों को प्रोत्साहित करता है, जो स्वीकृत परम्परा की सीमाओं को आगे बढ़ा देती है। यह सांस्कृतिक मोड़ (Cultural drift) की प्रक्रिया का बुनियादी तत्त्व है, जिसपर हम शीघ्र ही विचार करेंगे।

परिवर्तन की प्रवृत्तियों को एक निर्दिष्ट समाज या विभिन्न समाजों में

नवप्रवर्तन के प्रति पायी जानेवाली भिन्न धारणाओं का परिणाम कहा जा सकता है। यह विचार संस्कृति की अवधारणा में अन्तर्हित है कि भिन्न सांस्कृतिक केन्द्रबिन्दु (Focus) के प्रसंग में उसकी दिशा अन्यों से भिन्न है। परिणामतः जब हम कहते हैं कि पश्चिमी अफ्रीकी संस्कृति का केन्द्रबिन्दु धर्म है, तब हम इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि अनुभव के अन्य पहलुओं की अपेक्षा लोगों का ध्यान इस पर अधिक केन्द्रित है और हम इस केन्द्रबिन्दु पहलू में परिवर्तन की प्रतिमानित गहणशीलता मानते हैं जोकि, उदाहरण के लिए, सामाजिक संगठन या प्रोद्योगशास्त्र में विद्यमान नहीं है । इसलिए जब हम कहते हैं कि संस्कृति का एक पहलू या एक सम्पूर्ण संस्कृति दूसरे की अपेक्षा अधिक "तरल" (Fluid) है, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि इसमें जिसे हम अनुदार कहते हैं उसकी अपेक्षा अधिक अंशों में भिन्नता की प्रतिमानित स्वीकृति प्रदर्शित होती है।

४

एक अवधारणा के रूप में **सांस्कृतिक मोड़** (Cultural drift) इस विचार का तर्कसंगत परिणाम है कि एक संस्कृति एक जनसमूह के विश्वासों और व्यवहार रीतियों की भिन्नताओं की एकमतता है। हम देख चुके हैं कि अवधारणा और आचार के मान्य मानों से विच्युतियों की उपस्थिति चाहे वह इतनी छोटी ही क्यों न हो कि उसे स्वीकार न किया जाय, एक संस्कृति को एक आन्तरिक गति देने में महत्त्वपूर्ण है, जोकि कालान्तर में अत्यन्त गंभीर प्रकार के परिवर्तनों में परिणत हो सकते हैं । तथापि इन विच्युतियों का एक सा गत्यात्मक महत्व नहीं है । यह इन अर्थों में एक प्रकार की आकस्मिक (Random) भिन्नतायें हैं, कि यह समस्त प्रकार के मान्य मानों से सब प्रकार की पृथक्कृत को दिखाती हैं। इनका गत्यात्मक महत्त्व तभी होता है जबकि वे इकट्ठी होने लगती हैं और इस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन को दिशा प्रदान करती हैं।

उदाहरण के रूप में हम यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति में पुरुषों द्वारा गले में बांधी जानेवाली कपड़े की पट्टियों के या जिन्हें टाई कहा जाता है, पहनने के अभ्यास को ले सकते हैं। यह मान्य मान है। इनमें से कुछ टाइयां अन्यों की अपेक्षा लम्बी होती हैं, कुछ को बो की तरह बांधा जाता है, अन्यों को खिसकनेवाली गांठ लगाकर। कुछ अन्यों की अपेक्षा अधिक भड़कीली होती हैं। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार की टाइया उचित समझी जाती हैं। एक सम्बन्धी की मृत्यु के शोक में सम्मिलित होनेवाला व्यक्ति खिसकनेवाली गांठ लगाकर काले रंग की टाई पहनेगा, रंग-बिरंगी या बो टाई नहीं। इसके विपरीत, औपचारिक वस्त्रों में पुरुष केवल बो टाई पहनेगा, यद्यपि अवसर की औपचारिकता की सीमा यह निर्देश करेगी, कि वो काली हो या सफ़ेद। यदि यह काली है, तो इसका शोक से कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि सफ़ेद की अपेक्षा यह कम औपचारिकता प्रदर्शित करती है।

हम अनेक सालों में फ़ैशन में बो टाइयों की ओर, प्रदर्शनीय तब्दीली देखते

हैं, गांठवाली टाइयों से फिर भी यह उतार-चढ़ाव टाई के प्रकार से सम्बन्धित हैं, न कि उनके पहनने के विस्तार से। यह भिन्नतायें रंग और रूप से सम्बन्धित थीं। इस एकमतता के पीछे एक क्रांतिकारी टाईविहीन मनुष्य था। यह तथ्य कि टाई पद से सम्बन्धित है यहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण था, चूंकि पैसेवाले और उच्च-पदस्थ व्यक्ति इस प्रतीक को त्यागने के लिए अनिच्छुक रहे हैं। फिर भी यह भी देखा जाने लगा कि गर्दन में कपड़े की इस फालतू तंग पट्टी को न बांधने से निम्न वर्ग के व्यक्ति, मज़दूर को कुछ आराम मिला।

कुछ ऊंची हैसियतवाले लोग भी इस विच्युति की ओर झुके। जैसे-जैसे अधिक लोगों ने ऐसा करना शुरू किया, विशेषकर गर्मियों में, वस्त्र निर्माताओं ने इस प्रवृत्ति पर ध्यान दिया और इस प्रकार की कमीज़ें बनानी शुरू कीं जोकि गले पर खुली या बन्द, और टाई या बिना टाई के पहनी जा सकें। "टाई विहीनता" की इस प्रवृत्ति का चाहे कुछ भी परिणाम हो—जोकि संयोग से एक अधिक विस्तृत वस्त्र-सुधार संकुल का अंश है, जिसमें कि अधिक चटकीले रंग और वस्त्रों में सामान्य अनौपचारिकता सम्मिलित है। यह इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि कैसे एक समय एक विच्युति अन्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति के इस गौण और संभवतः तुच्छ विवरण में हम **संचयात्मक भिन्नता** (Cumulative variation) की **प्रक्रिया** की अभिव्यक्ति, जिसे कि हम सांस्कृतिक मोड़ कहते हैं, देखते हैं।

"मोड़" (Drift) शब्द सापिर की भाषा-सम्बन्धी मोड़ की अवधारणा से लिया गया है जिसे कि उसने भाषा की अभिव्यक्ति में विभिन्नता के अपने अवलोकन से विकसित किया था। उसने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने बोलने की आदतों में कुछ विचित्रता प्रदर्शित करता है। फिर भी एक सामाजिक वर्ग या एक स्थानीय क्षेत्र में एक समान भाषा के बोलने वाले अन्य ऐसे ही समूहों की अपेक्षा "एक बंधे हुए, अपेक्षतया एकीकृत समूह" का निर्माण करते हैं। "व्यक्तिगत भिन्नतायें कुछ प्रधान सहमतियों से जैसे कि उच्चारण और शब्दावलि से, जो कि समग्ररूप से, एक समूह की दूसरे समूह की भाषा से मुकाबला करने पर स्पष्ट दिखाई देती हैं, या तो उसमें बह जाती हैं या आत्मसात हो जाती हैं।"[६]

यदि हम इसे समग्ररूप से संस्कृति की भिन्नता के अर्थ में रखें, तो हम कहेंगे कि एक समाज में एक उपसमूह या स्थानीय समुदाय के व्यक्तियों के विश्वास और व्यवहार की व्यक्तिगत भिन्नतायें उस एकमतता में विलीन हो जाती हैं जो कि दो समूहों की उपसंस्कृतियों के लक्षण हैं, और इस प्रकार विचार और आचार के विशेष प्रतिमानों के अर्थ में उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना सम्भव बनाते हैं। तथापि भाषा में, और बाक़ी संस्कृति में भी यह सब विचित्रतायें,

---

६. ई० सापिर, १९२१, पृ० १५७–५८।

मान्य मान से आकस्मिक विच्युतियां, एक-समान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। एक प्रक्रिया से परिवर्तन होता है जिससे कि स्थापित मान्य मान से कुछ विच्युतियां कुछ लोगों द्वारा ले ली जाती हैं और इस प्रकार एक प्रवृत्ति प्रारम्भ होती और जारी रहती है जो एक एक रुख बन जाती है।

मोड़ की अवधारणा जिसमें पूर्वविद्यमान प्रवृत्तियों के अनुकूल गौण भिन्नतायें इकट्ठी हो जाती हैं, सांस्कृतिक केन्द्रबिन्दु (Focus) के विचार से सम्बन्धित है। हमने यह पूर्वकल्पना प्रस्तुत की थी कि अन्य पहलुओं की अपेक्षा संस्कृति के केन्द्रबिन्दु पहलू में पड़नेवाली संस्थाओं में परिवर्तन की अधिक संभावनायें हैं। यदि हम मान लें कि परिवर्तन आकस्मिक नहीं हैं, बल्कि दिशा-सूचक हैं; तब संस्कृति के केन्द्रबिन्दु पहलू में भिन्नता का अधिक विस्तार, केवल जिस दिशा में संस्थायें जा रही हैं उस दिशा में विभिन्नताओं का निरंतर अधिक विस्तार ही नहीं करेगी, बल्कि अन्य पहलुओं की अपेक्षा अधिक निश्चित परिवर्तन भी लायेंगी। यदि एक निश्चित केन्द्रबिंदु पहलू वह है जिसने कि संस्कृति को उसकी "सुगंध" (Flavour) दी है, तब दीर्घकाल तक केन्द्रबिन्दु अभिरुचियों के संक्रमण के अर्थों में संस्कृतियों की प्रगति में उल्लेखनीय परिवर्तनों को इस प्रकार बताया जा सकता है कि मोड़ एक सरल एकमार्गी (Unilinear) घटना नहीं है। यह इस तथ्य को बताता है कि एक संस्कृति की विस्तृत धारा में अनेक लहरें हैं जिनमें से कभी कोई एक, कभी दूसरी अधिक तेज़ हो जाती हैं।

जब हम सांस्कृतिक परिवर्तन की पूर्वोक्ति की समस्या की चर्चा करेंगे तब यह स्पष्ट हो जायेगा कि सापिर की यह अवधारणा कितने अन्तर्निहित महत्त्व की है। यद्यपि अतीत की अभिव्यक्तियों से ही सांस्कृतिक मोड़ की घटना का अध्ययन किया जा सकता है, फिर भी इस अवधारणा से अपने संबोध को परिष्कृत कर स्थापित प्रगति के मोड़ के मार्ग का अनुसंधान सरल हो गया है। मुख्यतः यह संस्कृति के छोटे ब्यौरों के लिए किया जा सकता है, बड़े उप-विभागों या एक सम्पूर्ण संस्कृति के लिए नहीं। सापिर का अंग्रेज़ी भाषा में सर्व-नाम "Whom" (किसको) के स्थान पर "Who" (कौन) का प्रयोग इस मोड़ का एक उदाहरण है। "किसको तुमने देखा" यद्यपि यह सर्वथा "सही" है किन्तु बहुतों को जोकि इसके प्रयोग में असुविधा अनुभव करते हैं यह "अशुद्ध" प्रतीत होगा। वह बोलचाल की भाषा का प्रयोग "कौन तुमको देखा" ही पसंद करते हैं और उनकी पसंद उस मोड़ को बताती है जोकि इसे भविष्य का सही प्रयोग बनायेगी। यह दर्शाया गया है कि यह एक विस्तृत रुख का एक अंश है जिससे कि इस ब्यौरे में भविष्य की अंग्रेज़ी के विषय में उसी प्रकार पूर्वोक्ति संभव है; जैसे कि कुछ अन्य पहलुओं में "जल्दी से आओ" के स्थान पर "जल्दी आओ" के प्रयोग में इसमें भूत की प्रवृत्तियों को पृथक् कर, उन्हें वर्तमान प्रयोग में देख, भविष्य पर आरोपित किया जा सकता है।

१९३४–३५ में इगन ने उत्तरी फिलीपीन के टिंगुयन लोगों में सांस्कृतिक

परिवर्तन का एक क्षेत्रीय अध्ययन किया। उसने कोल[७] की प्रारम्भिक क्षेत्रीय गवेषणा का अनुसरण किया जिसमें कि बीस वर्ष पहिले टिंगुयन संस्कृति का विस्तृत विवरण दिया गया था। चूंकि टिंगुयनों के सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन में कई अत्यन्त जटिल तत्त्व थे, इसलिए इगन ने इनके पड़ोसियों की संस्कृति में हुए परिवर्तनों की तुलना में इन लोगों की संस्कृति के परिवर्तनों का अध्ययन किया। यह समान बुनियादी संस्कृतिवाले क़बीले इलोकानो, अपायाओ, बौनटौक, इफूगाओ और इगोरौट हैं। यह सब गांवों में रहते हैं और इनकी अर्थ-व्यवस्थायें धान की खेती पर आधारित हैं, किन्तु इस प्रतिमान में "पर्याप्त भिन्नतायें" देखी जाती हैं।[८]

जैसे ही एक व्यक्ति अन्दर के क़बीलों से तट की ओर या तट से अन्दर की ओर जाता है, उसे सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक संस्थाओं में एक नियमित परिवर्तन मिलता है, जिसके लिए इगन ने "सांस्कृतिक मोड़" शब्द का प्रयोग किया है। तट के निकट के क़बीले की अपेक्षा अन्दर के क़बीलों में ग्राम संगठन सरल है। रिश्तेदारी संरचनाओं में भी इफूगाओ की सिब प्रणाली से लेकर इलोकानो के यूरोपसम पारिवारिक रूपों में इसी प्रकार की दिशासूचक भिन्नता दीखती है। इसी प्रकार रिश्तेदारों के प्रति उत्तरदायित्व के विस्तार में धीरे-धीरे कमी होती जाती है, और उसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय बंधनों पर आधारित सामाजिक इकाइयों का महत्त्व बढ़ता जाता है। नियंत्रण की शक्ति इफूगाओ के पारिवारिक मुखिया के हाथ से निकल कर गांव के चौकीदार और मुखियाओं या परिषदों के हाथ में चली जाती है, जबकि "प्रथासम्मत क़ानून की जटिलता और विकास घट जाता है और अन्त में यह प्रायः समाप्त हो जाता है।" जैसे ही हम अन्दर से तट की ओर चलते हैं आर्थिक साधनों पर आधारित वर्गभेद अधिक स्पष्ट होते जाते हैं और प्रतिव्यक्ति सम्पत्ति बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे हम एक क़बीले से दूसरे क़बीले में जाते हैं विवाह की प्रथाओं की भिन्नताओं में भी ऐसी ही नियमितता देखी जाती है। इफूगाओ के अपेक्षया मुक्त चुनाव से लेकर टिंगुयन और इलोकनो के तय किये हुए विवाहों तक की भिन्नतयें मिलती हैं। जैसा कि आशा की जा सकती है, जिस सुविधा से छूट या तलाक़ मिलता है उसमें भी भिन्नताओं का और उनकी बारम्बारता का एक-सा ही क्रम दीखता है।

तो, सांस्कृतिक मोड़ के विषय में क्या कहेंगे ? टिंगुयनों में स्पेनी लोगों द्वारा सिर के शिकार के दमन का कल्पित उदाहरण द्रष्टव्य है। यह माना जाता है कि इसने पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र में व्यापार और अन्य सम्बन्धों

---

७. एफ० सी० कोल, १९२२।

८. सांस्कृतिक मोड़ पर यह और अन्य बाद के उद्धरण एफ़० इगन, १९४१, पृ० ११–१८ से लिये गये हैं।

को संभव बनाया। किन्तु इगन के अनुसार' "टिंगुयनों और उनके पड़ोसियों में परिस्थिति की सूक्ष्म जांच से यह संकेत मिलता है कि टिंगुयनों ने स्वयं ही सिर के शिकार को रोकने के लिए एक प्रभावकर यंत्ररचना विकसित की थी।" स्पेनी शासन के पहले इन लोगों ने अपने पड़ौसी गांव से केवल शान्ति कायम रखने का निश्चय ही नहीं किया, बल्कि समझौते भी किये गये और पूर्व की ओर पर्वतों में बसनेवाले लोगों के साथ अन्तर्जातीय विवाहों से उन्हें सुदृढ़ किया गया।

"मुखियाओं द्वारा इन्हें शक्ति से लागू किया गया और इससे एक विस्तृत क्षेत्र में व्यापार और यात्रा सम्भव हुए। इफूगाओ और बौनटौक क्षेत्रों में प्रस्तुत कठिनाइयों की तुलना में जिस सापेक्ष सुविधा से टिंगुयन क्षेत्र में सिरों के शिकार को बन्द किया जा सका, यह जितना स्पेनी अधिकारियों के प्रयासों का उतना ही स्थानीय एकीकरण के प्रकार में परिवर्तन का परिणाम था।"

सांस्कृतिक मोड़ की अवधारणा के अनुसार इससे यह अर्थ निकलता है कि जहां पर प्रबल राजनैतिक सत्ता की नीति पूर्वविद्यमान प्रवृत्ति से मेल खाती थी वहां सफलता प्राप्त करना कठिन नहीं था। इसके विपरीत, जहां ऐसी प्रवृत्ति स्थापित नहीं थी, वहां इसे प्राप्त करने में कहीं अधिक कठिनाइयां थीं। इन संस्कृतियों के अन्य पहलुओं में भी यह स्पष्ट है। "स्पेनियों ने व्यर्थ ही टिंगुयन को ईसाई बनाने का प्रयास किया और अमरीकियों ने निःशुल्क शिक्षा और सार्वभौम मताधिकार का प्रवेश कराकर उनकी वर्ग प्रणाली को तोड़ने की असफल कोशिश की।" स्पेनियों को सबसे अधिक सफलता तटीय क्षेत्र में और अमरीकनों को अन्दर के क्षेत्रों में मिली।

दोनों ही प्रदेशों में, इनमें से प्रत्येक अज्ञातरूप से पूर्वविद्यमान प्रथा के ऊपर निर्माण कर रहा था। उनकी सफलता या असफलता इस कारण थी कि वह प्रचलित प्रतिमान की पूर्वविद्यमान गति का उपयोग कर सके जो कि स्थापित मोड़ का परिणाम थी, या उन्हें संचयामत्क चालकों की अज्ञात किन्तु प्रबल शक्ति के प्रभाव का मुकाबला करना पड़ा। तट पर जहां कि वर्ग भेद बहुत पहले से विद्यमान थे, वहां स्पेनियों को अपने नये वर्ग को केवल उन सबके ऊपर स्थापित करन था और इस प्रकार पूर्वविद्यमान व्यवस्था जारी रही। दूसरी ओर, अन्दर क्षेत्र के लोगों के प्रजातंत्र ने इस नवप्रवर्तन का प्रतिरोध किया किन्तु वह सरलता से अमरीकियों के उन प्रयासों के प्रभाव में आ गये जोकि तटीय लोगों को स्वीकार न थे।

यहां हम स्थापित मोड़ और बाहरी दबावों की अन्तःक्रिया का सामना करते हैं। इसका अर्थ है कि हमें एक अतिरिक्त कारक को ध्यान में रखना होगा। इस कारक को हमने ऐतिहासिक संयोग कहा है। यहां इस अवधारणा की प्रकृति और महत्त्व पर विचार करना उपयोगी होगा। हम अपने उपर्युक्त विश्लेषण की सहायता से तब यह आंक सकेंगे कि किस प्रकार आकस्मिक घटनायें संस्कृतियों के विद्यमान मोड़ों को मज़बूत बनाता या उनके प्रभाव को क्षीण करती हैं।

५

ऐतिहासिक संयोग (Historical accident) वह शब्द है जिसे कि एक संस्कृति के अन्दर से या लोगों के सम्पर्क द्वारा उत्पन्न हठात् नवप्रवर्तन (Innovation) के लिए प्रयोग किया जाता है। यहां प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि "संयोग" शब्द के प्रयोग में कार्य-कारण की अनुपस्थिति अन्तर्हित नहीं है। जब सामान्यतः प्रत्याशित घटनाक्रम से बाहर कोई घटना होती है तब ऐसा कहने में आ जाता है। इस अर्थ में, जैसी कि कुछ लेखकों ने आशंका प्रकट की है, यह अवधारणा कार्य-कारण से शून्य नहीं है। बल्कि, यह कारकों की बहुलता को स्वीकार करती है, जोकि कारण बन सकते हैं, और यह स्वीकार करती है कि कोई भी कार्य-कारण क्रम आत्म-निर्भर नहीं है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि "संयोग" शब्द के साधारणतया स्वीकृत प्रयोग में इसका यह अर्थ है कि यह वह अपूर्व-ज्ञात घटना है, जिसके परिणाम अवांछनीय हैं। परन्तु संस्कृति के अध्ययन में इस शब्द का प्रयोग करते हुए यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि कोई मूल्यसूचक अर्थ इस शब्द के साथ नहीं जुड़ा है। संभावना की सीमा के बाहिर घटित अनेक ऐतिहासिक संयोगों ने लोगों को अधिक अच्छी तरह रहने और अधिक समायोजन स्थापित करने में समर्थ बनाया है। नई दुनिया की खोज के बाद यूरोप में लाये गये अनेक खाद्य पौधों को यूरोपीय लोगों की दृष्टि से, यहां तक कि उन मूल प्रेरणाओं की दृष्टि से भी जिन्होंने अमरीकाओं की खोज को संभव बनाया, सांस्कृतिक संयोगों का एक क्रम ही समझा जायेगा। यह कहना कठिन है कि इनके प्रभाव लाभदायक नहीं हुए। और यदि हम संस्कृति में होनेवाले असंभावित विकासों के परिणामों के लिए ऐतिहासिक संयोग शब्द का प्रयोग करें तो यह स्पष्ट होगा कि इन लाभकर घटनाओं की संख्या निरंतर बढ़ती ही जाती है।

जहां पर मानवशास्त्रीय ऐतिहासिक संयोग की अवधारणा का प्रयोग करते हैं, वहां इसका अर्थ संस्कृति में होने वाले उन हठात् व अप्रत्याशित परिवर्तनों से होता है जो कि बाहिर से प्रवेश कराये गये हैं। यह समझ सर्वथा आनेवाली बात है, चूंकि आन्तरिक परिवर्तनों की अपेक्षा इस प्रकार की घटनायें ऐतिहासिक संयोग की प्रकृति और परिणामों के स्पष्ट अधिक उदाहरण देती हैं। बाहरी प्रभावों द्वारा उठात् परिवर्तन को संस्कृति-सम्पर्क के उदाहरणों से अच्छी तरह समझाया जा सकता है, जहां कि लोगों द्वारा नये तत्वों की स्वीकृति विकास की दिशा को बदल देती है और उन्हें नया मार्ग देती है। इतिहास के आन्तरिक संयोग किसी एक निर्दिष्ट खोज या आविष्कार के अप्रत्याशित परिणामों में व्यक्त होते हैं। इनका अध्ययन करना कहीं अधिक कठिन है। और यह सही है, चाहे पूर्ववर्ती विकासों की शृंखला हमें किसी विशेष खोज या आविष्कार की ओर ले जाती हुई दिखाई दे या न दे।

किस प्रकार एक विदेशी संस्कृति का अप्रत्याशित संघात वह परिवर्तन

लाता है जिन्हें कि हम संयोग कहते हैं, इसका एक प्रायः दिया जानेवाला उदाहरण जापान का है और उसपर यहां विचार करने की ज़रूरत है। १८५२ में यहां कौमोडौर मैथ्यू सी० पैरी के आगमन ने यूरोपीय-अमरीकी भाषा में बाकी दुनिया के लिए जापान के "द्वार खोले" और अभी तक पृथक्कृत इस देश में नये विचारों और भौतिक वस्तुओं की एक बाढ़ ला दी । बा के सांस्कृतिक परिवर्तनों का ज़िक्र सिर्फ उनके महत्त्व को समझने के लिए किया जाता है।

यह समझना आवश्यक है कि इन प्रेरणाओं ने जापानी संस्कृति के सभी पहलुओं को एकसमान प्रभावित नहीं किया। कुछ को तो इसने इतना अधिक बदल दिया कि पुराने रूप त्याग दिये गये। प्रोद्योगशास्त्र, नगरीकरण और औद्योगीकरण के विषय में यह विशेषतः सत्य था। कुछ पहलुओं में, जैसे कि पारिवारिक संरचना की कुछ बुनियादी स्वीकृतियों, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और प्राद्योगशास्त्र के पहलुओं, धार्मिक जीवन और पदों की दिशा में, यदि परिवर्तन हुए भी तो वह बहुत कम थे। जो हुआ वह यह था कि प्रथम दीक्षा के बाद, अन्य संस्कृतियों से प्राप्त प्रेरणाओं ने जापानी संस्कृति के मार्ग को उन दिशाओं में बदल दिया जिसे कि जापान में कोई पहले से न जान सकता था, हालांकि इस देश के बाहर कुछ विद्वानों ने विश्व-इतिहास के ज्ञान के आधार पर भावी घटनाओं के क्रम की भविष्यवाणी भले ही की हो।

सम्पर्क के अप्रत्याशित परिणामों की अपेक्षा, जिन्हें कि सर्वत्र देखा जा सकता है, एक संस्कृति के भीतर होनेवाले इतिहास के संयोगों का विवरण देना कहीं अधिक कठिन है। इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में इन संयोग की घटनाओं को स्वीकार किया है, विशेषकर जहां पर कि एक शक्तिशाली व्यक्ति वह निर्णय करता है जो कि प्रायः जनसमूहों के जीवन को प्रभावित करते हैं और जिनके परिणाम पहले से न बताये जा सकते थे। इससे कुछ भिन्न प्रकार के वह अदृश्य परिणाम हैं जोकि एक खोज या आविष्कार से होते हैं, जिनका हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं।

उदाहरण के लिए, मोटर के आविष्कार पर विचार कीजिए। जैसा कि हम आविष्कार की प्रकृति की समस्या की चर्चा में देख चुके हैं, यह स्वयं उन गौण विकासों के लम्बे क्रम का योग माना जा सकता है जो कि मोटरकार की प्रारम्भिक अवस्था में "अश्वविहीन बग्घी" में परिणत हुआ। इस क्रम में रूप के वह परिवर्तन भी सम्मिलित होंगे जिन्होंने वायु-गतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार अश्वविहीन वाहन को तेज़ रफ्तार के अनुकूल बनाया होगा। अंग्रेज़ी में, मैं कार ड्राइव करता हूं, इसमें ड्राइव शब्द जो घोड़े के साथ प्रयुक्त होता था और अब भाषा की पिछड़न को सूचित करता है; यह कार चलाने वालों की उस अनिच्छा की भी व्यक्त करत है जिसमें वह इंजन को पीछे रखना स्वीकार नहीं करते, हालांकि सामने की अपेक्षा वह इसके लिए अधिक उचित स्थान है । तथापि इस प्रकार के तथ्यों से हमार सम्बन्ध नहीं है । यह दोनों, और मोटरकार के

औद्योगिक विकास के अन्य पहलू, घटनाओं के उस क्रम का अंश हैं जोकि यूरोपीय संस्कृति के इतिहास में एक नियमित क्रम, एक विशेष मशीन के आविष्कार से प्रारम्भ हुई प्रेरणाओं के तर्कसंगत कार्य को दर्शाता है। यदि संभावना के कारक को ध्यान में रखा जाय तो मोटर के सम्बन्ध में पूर्वोक्ति करना कठिन नहीं है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसी मोटरें भी जिनमें इंजन पीछे लगा हो, प्रचलित हो जायें।

मोटरकार के विकास में जो चीज़ें पहले से नहीं बताई जा सकती थी, वह प्रोद्योगशास्त्री के क्षेत्र से सर्वथा बाहर थी। शहर के बीच में लोगों का केन्द्रीकरण कम और अन्ततोगत्वा समाप्त हो गया। उसका स्थान उपबस्तियों और संयुक्त उपनगरों ने ले लिया, चूंकि मोटरकार द्वारा इस फासले को तय करना आसान हो गया। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन ने आक्रमण किया। लौकिकता की प्रक्रिया ने ज़ोर पकड़ा और स्त्री-पुरुषों को पूजा स्थानों के बजाय खेलों के मैदान में पहुंचा दिया। प्रतियोगी यातायात के साधनों पर इसका प्रभाव एक अन्य अनदेखा परिणाम था, क्योंकि थोड़े समय में, कम क़ीमत पर अपनी पसंद के रास्ते से यात्रा ने इसे आकर्षक बना दिया। परिणामतः रेलों को चलाना कठिन हो गया और उन्हें अपने व्यापार में इस अप्रत्याशित हमले का मुक़ाबला करने के लिए नये उपाय सोचने पड़े।

मोटरकार के आविष्कार के यह कुछ अधिक प्रत्यक्ष परिणाम थे। अनेक अन्य परिणाम भी दिये जा सकते हैं जिन्होंने पारिवारिक जीवन के नैतिक विधान को और नगरों के आन्तरिक संगठनों को प्रभावित किया। १६०० ई० में रहने वाले लोगों के दृष्टिकोण से यह परिवर्तन उतने ही अप्रत्याशित थे जितने कि १६०० से यूरोपीय संस्कृति के संघात के फलस्वरूप अफ्रीकी लोगों के जीवन में होनेवाले परिवर्तन। प्रस्तुत मानदंड के अनुसार, इन सबों को ऐतिहासिक संयोग समझना चाहिए। जहांतक ऐसी घटनाओं के परिणामों का सम्बन्ध है, उसमें इसका महत्त्व नहीं कि यह समाज के अन्दर से उत्पन्न हुआ य बाहर से आया। इनका प्रभाव उन मार्गों को बदल देना है जिन पर कि संस्कृति का विकास होता रहा है, जिससे कि एक स्थापित प्रवृत्ति, एक "मोड़" एक नई दिशा ले लेता है।

साक्षर की अपेक्षा अनक्षर समाजों में एक समूह के अन्दर होने वाली घटनाओं से उत्पन्न ऐतिहासिक संयोगों को लिपिबद्ध करना अवश्य ही अधिक कठिन है। आग की खोज या पशुओं का पालतूकरण ऐसी घटनायें रही होंगी जिन्हें ऐतिहासिक संयोग कहा जा सकता है, इसी प्रकार लोहा बनाने या पहिए या करघे की खोज थी। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में शकुन बताने के लिए पाली गई मुर्गी अनेक लोगों की अर्थव्यवस्था में खाद्य उत्पादन का एक प्रधान कारक बन गई। बारूद का आविष्कार जिसे चीन में आतिशबाज़ी में प्रयोग में लाया जाता था, पश्चिमी यूरोप में विनाश का साधन बन गया। एक समाज के अन्दर या प्रसार द्वारा, एक संस्कृति में स्वीकार की गई खोज, आविष्कार या आदान किया गया तत्त्व ऐसे

प्रभाव छोड़ सकता है जो कि संभावना की सीमा से बाहर लगते हैं। इस प्रकार यह घटनाओं के उस क्रम को प्रारम्भ करता है जिसे कि हम संयोगात्मक कहते हैं। इसलिए इन अर्थों में, इतिहास के संयोग वह प्रमुख कारक बन जाते हैं जिन्हें हमें संस्कृति की प्रकृति और प्रक्रिया को समझने में प्रयोग में लाना चाहिए।

६

यह समझने में कि संस्कृतियां कैसे विकसित होती हैं, विशेषकर जहां कि परिवर्तन के चुनावात्मक स्वरूप का सम्बन्ध है, सांस्कृतिक मोड़ तथा ऐतिहासिक संयोग की अवधारणायें हमें एक क़दम आगे ले जाती हैं। यदि हम परिवर्तन और चुनाव दोनों को जुटाने में भिन्नताओं के महत्त्व को स्वीकार करें, तब मोड़ को उस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति माना जाना चाहिए जिससे कि एक निर्दिष्ट समय में एक विशेष लोगों के लिए कुछ भिन्न परिवर्तनीय तत्व अन्यों की अपेक्षा अधिक महत्व धारण कर लेते हैं। यदि यही पूरी कहानी होती, तो संस्कृति का अध्ययन कहीं अधिक सरल कार्य होता। मोड़ के विश्लेषण को देने के बाद भावी वृद्धि को जितना वस्तुतः संभव है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक संभावनाओं की सीमित सीमा में दिखाया जा सकता।

ऐतिहासिक संयोग, चाहे वह भीतर से उत्पन्न हों या बाहर से, प्रक्रिया में विघ्न डाल देते हैं। फिर भी स्थापित मोड़ को परिवर्तन में एक निष्क्रिय तत्त्व नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि जहां गंभीर परिणाम उत्पन्न करनेवाले ऐतिहासिक संयोग घटित होते हैं, वहां भी विद्यमान चुनाव की प्रवृत्तियां अपना प्रभाव डालती हैं। विजय द्वारा जबरन लादे गये क्रांतिकारी परिवर्तनों का पुराने मूल्यों की नये रूपों के शब्दों में पुनर्व्याख्या कर मुक़ाबला किया जाता है, या यदि विजेता पहली प्रथाओं में अत्यधिक परिवर्तन लाना चाहते हैं तो पुराने रूपों को गुप्त रूप से जारी रखा जाता है।

मोड़, संस्कृति के केन्द्रबिन्दु पहलू में जिसकी उल्लेखनीय अभिव्यक्ति है, वह इस प्रकार आन्तरिक भिन्नताओं से उत्पन्न या समूह के बाहर से प्रवेश कराये गये नवप्रवर्तनों में से संस्कृति में लिये जानेवाले तत्त्वों को प्रभावित करता है। इसी प्रकार प्रवाह केन्द्रबिन्दु के साथ मोड़ इस बात की कैफ़ियत देता है कि प्रसारित तत्त्वों की उन्हें स्थापित प्रतिमानों के अनुकूल रूप और अर्थ देकर क्यों पुनर्व्याख्या की जाती है। अन्ततः यह दो अवधारणायें यह समझने में सहायता देती हैं कि किस प्रकार इतिहास की अप्रत्याशित घटनाओं को, चाहे उनका पहला धक्का उन्हें अनुभव करनेवाले लोगों के साहस को क्यों न तोड़ दे, अन्तोगत्वा पचा लिया जाता है।

संस्कृति के अध्ययन में इन अवधारणाओं का महत्त्व इन बातों का भी अतिक्रमण कर जाता है। मानवशास्त्रीय विज्ञान की बुनियादी कल्पनाओं पर इनका प्रभाव पड़ता है। यह न्यासों के संगठन और इतिहास में नियम और पूर्वोक्ति की समस्याओं से सम्बन्धित हैं, जिनकी कि हम अब चर्चा करेंगे।

अध्याय अट्ठाईस

संस्कृति में नियम और पूर्वोक्ति की समस्या

जब एक घटना का विवरण और नाम दे दिया जाता है, वैज्ञानिक प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण क़दम उठ जाता है, चूंकि इससे पहले कि न्यासों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सके वह पहचाने जाने और परिसीमित करने योग्य होने चाहिएं। तथापि अनुभव ने यह सिखाया है कि जैसे ही एक विवरण या एक परिभाषा एक स्थिति का वक्तव्य बन जाती है, वह विद्वानों की प्रधान व्यस्तता बन सकती है और इस प्रकार जिस उद्देश्य के लिए उसे बनाया गया था उसी को हानि पहुंचा सकती है। जब एक शब्दावलि की प्रणाली और परिभाषाओं के समुच्चय एक कट्टर सम्प्रदाय में बदल जाते हैं, तो वह वैज्ञानिक विश्लेषण में सहायक होने की अपेक्षा बाधक बन जाते हैं।

ख़तरे की सीमा को जानना कठिन नहीं है, जब परिभाषा में ठीक न बैठनेवाले उदाहरणों को "अपवाद" कहकर एक तरफ़ कर दिया जाता है, तब हम उसपर पहुंच जाते हैं। किन्तु विज्ञान की पद्धति में, जिसमें कि किस सीमा तक तथ्य पूर्वकल्पनाओं को सत्य सिद्ध करते हैं यह जानने के लिए स्थापनाओं की परीक्षा की जाती है, "अपवादों" के लिए कोई स्थान नहीं है। विज्ञान में अपवाद जटिल उदाहरण हैं और गवेषक कार्यकर्ता के लिए असली चुनौती हैं। यदि वह पर्याप्त अधिक हैं, तो वह पूर्वकल्पना को ग़लत सिद्ध करते हैं। यदि वह इतने अधिक नहीं हैं, तो उनका यह जानने के लिए विशेष सावधानी से अध्ययन करना चाहिए कि किस प्रकार तथ्यों के अनुसार पूर्वकल्पना को संशोधित किया जाय। प्रयोगशाला में नियंत्रकों (Controls) में तब तक इच्छानुसार हेरफेर किया जा सकता है जब तक कि इस प्रकार के विरुद्ध न्यासों की व्याख्या की जा सके। इसलिए "अपवाद" से निपटने की समस्या सुलभ यंत्रों के प्रयोग या नये यंत्रों के निकालने की प्राविधिक समस्या है जिनसे कि परीक्षण की अवस्थाओं में वांछित परिवर्तन किया जा सके। किन्तु इस प्रकार का परीक्षण उन विज्ञानों में असंभव है जहां कि प्रयोगशाला में न्यासों का हेरफेर नहीं किया जा सकता, जैसे कि संस्कृति के अध्ययन में।

जहां पर प्रयोगशाला के विज्ञानों के नियंत्रित परीक्षण नहीं हो सकते, वहां ऐतिहासिक नियंत्रणों की सहायता लेनी चाहिए। अर्थात्, विभिन्न प्रकार की स्थितियां ढूंढी जानी चाहिएं जहां कि भिन्न परिस्थितियां उन प्राप्त परिणामों के प्रसंग में, जिन्हें कि जांचे जाने योग्य ऐतिहासिक घटनाओं के भिन्न क्रमों में रखा जा सके, पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा को संभव बनाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है

कि संस्कृति के अध्ययन में विज्ञान की पद्धतियों को लागू करने में घटना की "नकारात्मक" (Negative) अभिव्यक्तियों को खोजना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, यदि हम टौटमवाद को समझना चाहते हैं, तो हमें केवल उसके विवरण, वर्गीकरण और विश्लेषण में ही, जैसा कि अनेक उदाहरणों में पाया जाता है, सावधानी ही नहीं बरतनी चाहिए, बल्कि यथासंभव सवधानी से उन संस्कृतियों का भी अध्ययन करना चाहिए जिनमें टौटमवाद विद्यमान नहीं है।

१९१० और १९२० के बीच की अवधि में यह विवाद का विषय था जिसे गोल्डनवीजर के विश्लेषण ने सुलझाया, और उस मोटे मापदंड को स्थापित किया जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की टौटमी घटनाओं को समझा जाना था। जिसने इस वादविवाद को जन्म दिया वह वर्गीकरण की परिचित समस्या थी। ऑस्ट्रेलियाइयों की प्रथाओं को टौटमवाद का मूल मापदंड माना जाने लगा था। किन्तु संसार के अन्य भागों में इस प्रकार के टौटमी रूपों के अनेक अपवाद पाये जाने लगे। तो यह "अपवाद" क्या थे? यह या तो विभिन्न प्रकार की घटनायें थीं या टौटमवाद की परिभाषा ग़लत थी। इस परिभाषा को विस्तृत किया गया, किन्तु इसने इस प्रश्न को नहीं सुलझाया, क्योंकि यद्यपि अनेक समूहों में टौटमी विश्वास हैं, पर वह सब समाजों में क्यों नहीं हैं, या जिन अनेक समाजों में यह विश्वास मिलते हैं वह इतनी भिन्नताओं से क्यों कार्य करते हैं। केवल उन भिन्न परिवेशवाले समाजों से जोकि भिन्न अंशों में समता रखनेवाली ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों में रहते हैं, जिनमें कि वह दोनों सम्मिलित हैं जहां कि टौटमवाद विद्यमान है और जहां कि वह विद्यमान नहीं हैं, प्राप्त न्यासों के सूक्ष्म विश्लेषण से ही मानव समाज में टौटमवाद के विकास और कार्य के बुनियादी प्रश्न के उत्तर दिये जा सकते हैं।

अनेक वर्षों तक भाषा के अध्ययन में वर्गीकरण की समस्या का प्रभुत्व रहा। भाषा के "अयोगा" (Isolating), "योगात्मक" (Agglutinative) और "श्लिष्ट" (Inflectional) जैसे नामकरण अभी भी जारी हैं, जिन पर हम अपनी भाषा-विज्ञान की चर्चा में विचार कर चुके हैं। जैसा कि देखा गया था, यह वर्गीकरण व्याकरण रूपों के प्रकार या संरचना की जटिलता या किसी अन्य अकेले मापदंड के आधार पर बनाये गये अन्व वर्गीकरणों की अपेक्षा अधिक संतोषजनक सिद्ध नहीं हुए। जैसा कि सापिर कहता है, इस प्रकार के वर्गीकरण "ज्ञात भाषाओं को इतना अपने आलिंगन में नहीं लेते जितना अधिक कि वह उन्हें एक तंग कठोर आसन पर जकड़ देते हैं।" उसने इसके चार कारण बताये हैं कि क्यों भाषाओं को वर्गीकृत करने के प्रयास असफल रहे। पहले तो वर्गीकरण का संतोषजनक आधार पाना अत्यन्त कठिन है। दूसरे, "थोड़ी संख्या में चुनी हुई भाषाओं से", चाहे वह लैटिन, अरबी, तुर्की, चीनी और "बाद में संभवत: एस्किमो या सीऊ" जैसी विविध हों, सामान्य निष्कर्ष निकालना "विनाश को निमंत्रण देना है।" तीसरे, "एक सरल सूत्र को पाने की उत्कट इच्छा" ने, जिसने

जैसा कि हम देख चुके हैं, शब्द संरचना को महत्त्व दिया, बोली के रूपों की विभिन्न अभिव्यक्तियों के अध्ययन करनेवालों को प्रेरित किया। अन्त में सापिर ने संस्कृत्यभिमान के पूर्वाग्रह का जिक्र किया है जिसने कि भाषा के विद्यार्थियों को अपने से पृथक् भाषाओं को निकृष्ट भाषा बताने और तदनुसार उनका वर्गीकरण करने दिया।[1] भाषा के अध्ययन में सहायता देसकनेवाले वर्गीकरण के प्रकारों के सम्बन्ध में सापिर के निष्कर्ष बहुत महत्त्व के हैं, चूंकि जैसा कि देखा जा चुका है इस संशोधित वर्गीकरण में निष्क्रिय रूपों की अपेक्षा गतिशास्त्र भाषा के वर्गीकरण को निर्धारित करता है।

एक अन्य उदाहरण लें। धर्म के क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्वास प्रणालियां "सर्वसजीवत्ववादी" (Animistic) या "एकेश्वरवादी", या "फैटिशवाद" से शासित हैं, हम ऐसा पढ़ने के अभ्यस्त हैं। परन्तु अनुभव ने हमें यह सिखाया है कि ऐसी सरलतायें समझने में सहायक होने की अपेक्षा बाधक हैं, चूंकि यह सभी लोगों के धार्मिक जीवन में परिलक्षित विश्व-कल्पना और कर्मकांड की विविधता को ढक देती हैं। सर्वसजीवत्ववादी विश्वास वस्तुतः बहुव्याप्त हैं, किन्तु जब हम एक जनसमूह को सर्वसजीवत्ववादी परिभाषित करते हैं, तो हमारा क्या तात्पर्य है? क्या इसका यह अर्थ है कि उनमें देवताओं की अवधारणा नहीं है? वह जादू का प्रयोग नहीं करते ? उन्हें ब्रह्मांड का संचालन करनेवाली अशरीरी शक्ति का कोई आभास नहीं है?

धर्म की घटना की परिभाषा करने में आनेवाली कठिनाइयों की हमारी पहली चर्चायें, हम इन प्रश्नों के क्या उत्तर दें, इसे स्पष्ट करती हैं। किसी धर्म को बताने के लिए यह श्रेणियां अत्यन्त सरल हैं; उनकी सत्यता केवल इतनी ही है कि वे कुछ प्रकार के विश्वास और व्यवहार को बताती हैं जिन्हें कि हम धार्मिक कहते हैं। किन्तु संस्कृति के इस पहलू में हम जिन समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं वह धार्मिक अनुभव की प्रकृति से और उस रीति से जिससे कि इसकी अनेक अभिव्यक्तियां अन्तःसम्बन्धित हैं, लोगों के समग्र जीवन में इसके कार्य से सम्बन्धित हैं। यह गत्यात्मक समस्यायें हैं जोकि कोरे वर्गीकरण के बाहर हैं। इन गत्यात्मक अर्थों में ही वस्तुतः "एक बड़ी सत्ता या शक्ति से तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रिया" के रूप में धर्म की परिभाषा की गई थी। वह रूप जिनमें कि यह प्रक्रिया अपने को संस्कृति के प्रत्येक अन्य पहलू की भांति व्यक्त करती है, विश्लेषण का आधार जुटाते हैं। पहला क़दम तो उनकी विविधता को कम करना और उन्हें एक प्रकार के क्रम में रखना है। किन्तु जैसा कि हमने संस्कृति के इस पहलू की जांच करते हुए देखा था, धार्मिक रूपों का वर्गीकरण केवल एक पहला क़दम है। प्रक्रिया रूप के परे है, और संस्कृति के अध्ययन

१. ई० सापिर, १६२१, पृ० १२६–३१।

के सभी पहलुओं की भांति यहां भी समझने की कुंजी विवरणों में नहीं, गतिशास्त्र में ढूंढी जानी चाहिए।

सांस्कृतिक घटनाओं के अन्य वर्गीकरण असंतोषजनक सिद्ध हुए हैं चूंकि वह संस्कृत्यभिमान से उत्पन्न हुए हैं और उसी के अनुसार बनाये गये हैं। एक ऐसे प्रकार को भाषा के वर्गीकरण के लिए प्रस्तुत किया गया है, जहां मूल्यों के पैमाने पर बोलियों की प्रणालियों को हिन्द-यूरोपीय रूपों से भिन्नता के आधार पर "उच्च" या "निम्न" श्रेणी में वर्गीकृत किया गया है। ऐसे वर्गीकरण वैज्ञानिक पद्धति की प्रस्थापना के विरुद्ध हैं जिनमें कि वर्गीकरण के आधार के रूप में मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों का निषेध है; और वे इसी कारण अस्वीकार्य हैं। वैज्ञानिक गवेषणा में "श्रेष्ठ" या "निकृष्ट" नामों को केवल विशिष्ट उद्देश्यों के अनुसार ही परिभाषित किया जा सकता है। एक रसायन अन्य रसायन की तुलना में निकृष्ट कहा जा सकता है चूंकि यह मारता है, जबकि दूसरा नहीं; किन्तु एक रसायन के रूप में अन्य किसी मिश्रण की भांति इसका विश्लेषण होना चाहिए, न कि अच्छे-बुरे का निर्णय। संस्कृति के क्षेत्र में जब तक एक सांस्कृतिक संस्था, एक भाषा-प्रणाली, या अन्य कोई मद उसे प्रयोग करनेवालों के जीवन में संतोषजनक रीति से कार्य करते हैं, तब तक संस्कृति के अध्ययन में एक उचित न्यास के रूप में उनकी स्थिति सुनिश्चित है। यह केवल विद्यार्थी के मन में ही "श्रेष्ठ" या "निकृष्ट" हो सकती हैं और अपने संस्कृतीकरण के अनुभव में उसके विचार-प्रतिमान अनिवार्यतः मूल्य-प्रणाली को प्रतिबिम्बित करेंगे।

२

अब तक की हमारी विवेचना से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :

१. न्यासों के अध्ययन में वर्गीकरण एक महत्त्वपूर्ण पहला क़दम है, किन्तु इसे अपने आप में लक्ष्य नहीं माना जा सकता।

२. न्यासों का वर्गीकरण करते समय भिन्नता के कारक को ध्यान में रखना चाहिए, जिससे कि बने हुए वर्गीकरणों में एक नमनीयता हो जो कि "प्ररूप" (Type) की अवधारणा पर आधारित वर्गीकरणों में नहीं होती।

३. एक जटिल घटना का केवल एकाकी मापदंड पर आधारित श्रेणियों में वर्गीकरण न्यासों को अत्यधिक सरल कर देना है और इस प्रकार बने हुए वर्गों की सत्यता को विकृत कर देना है।

४. मूल्य-निर्णयों के आधार पर वर्गीकरण करना उस मापदंड का प्रयोग करना है जो कि वैज्ञानिक विश्लेषण की उस परीक्षा के आगे, जिसमें कि सब तथ्यों को ध्यान में रखा जाता है, नहीं टिक सकेगा।

यह प्रस्थापनायें उन सीमाओं को बताती हैं जिनके अन्तर्गत न्यासों के स्वीकार्य वर्गीकरण किये जा सकते हैं। साथ ही वह हमें यह महत्त्वपूर्ण बात भी बताती हैं कि रूप (Forms) पर आधारित संस्कृति की सामग्रियों के वर्गीकरण **प्रक्रिया** को समझने में, अर्थात् गत्यात्मकता को समझने में एक क़दम है।

यह बात संस्कृति के अध्ययन में प्रस्तावित वर्गीकरण प्रणाली की एक अन्य विशेषता—उसके दो भिन्न दिशाओं में आकर्षण (Polarity) पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। अधिकांश वर्गीकरणों में अवधारणाओं को एक माप के दो पृथक् छोरों की भांति, जिनपर कि घटना की विभिन्न अभिव्यक्तियों को रखा जा सके, परस्पर विरोधी दिखाया जाता है। उन सब वर्गीकरण-प्रणालियों में जिनमें कि न्यासों को एक विकासवादी क्रम में रखने का प्रयास किया गया यह बुनियादी तत्त्व था। यह माना जाता था कि खाद्य-संचय, शिकार, पशुपालन, और कृषि का आर्थिक क्रम जीविका प्राप्त करने में सरल से जटिल पद्धतियों में परिवर्तन को दर्शाता है। टाइलर के लिए, एक शृंखला के दो छोरों की भांति सर्वसजीवत्व-वाद और एकेश्वरवाद एक-दूसरे से पृथक् थे, जिनके बीच में वह सब रूप जिन्हें वह प्राचीनतम और आधुनिकतम मानता था, निहित थे। जब मैलेनेशियाइयों में "माना" कहलानेवाली निर्वैयक्तिक शक्ति की अवधारणा पाई गई, उसे इस क्रम में प्राथमिकता दी गई, और "जीविवाद" (Animatism) का नाम दिया गया, चूंकि धर्म के विकास में इसे और भी प्रारम्भिक एक अवस्था का उदाहरण माना गया था। इसी श्रेणी में वह नैरंतर्य आता है जिसके सांस्कृतिक बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता यह दो ध्रुव हैं, या जोकि सांस्कृतिक "प्ररूपों" के दो छोरों को एपोलोनियन और डायोनिसियन की संज्ञा देता है।

यह **विचार प्ररूप** (Ideal type) के प्रश्न को प्रस्तुत करता है। क्या हमें न्यासों की वास्तविक अभिव्यक्तियों के वर्गीकरण को इस क्रम में रखना चाहिए जोकि सरल से जटिल की ओर या आन्तरिक से बाहरी दिशा की ओर, या बड़े से छोटे की ओर, या अन्य किन्हीं दो विरोधी श्रेणियों के आधार पर बनाये गये हों? विश्लेषण से पता चलता है कि ध्रुवीय छोरों के बीच रखे गये वर्गीकरण अधिकांश दशाओं में मूलतः विद्यार्थी द्वारा बनाई गई न्यासों की अवधारणाओं पर आधारित हैं। अधिकृत रूप से एक एकेश्वरवादी संस्कृति में भी अन्वेषण करने पर जीविवादी विश्वास, जादू में विश्वास और सर्वसजीवत्ववादी विश्वास भी मिल सकते हैं। उनकी प्रकृति और कार्य को समझने के लिए पहले क़दम के रूप में इन श्रेणियों के अनुसार न्यासों का पृथक्करण लाभकर है। किन्तु जहां यह सब मिलते हैं वहां संस्कृति को जीविवाद से लेकर एकेश्वरवाद तक एक पैमाने पर दिखाना अध्ययन की जानेवाली संस्कृति में न्यासों की दिशा और उनके आन्तरिक संबंधों का वर्णन करने की अपेक्षा विद्यार्थी की स्थिति को बतलाता है।

ध्रुवीय (Polar) अवधारणाओं के बीच क्रम को रखने का प्रधान आकर्षण उनका तार्किक स्वरूप है क्योंकि वे हमेशा तर्क पर आधारित हैं। परन्तु यदि यह उनकी शक्ति है, तो यही उनकी दुर्बलता भी है। जैसा कि पहले पृष्ठों में अनेक बार ज़ोर दिया गया है, प्रत्येक संस्कृति के ऐतिहासिक विकास का अपना एक तर्क है। इतिहास का तर्क विरोधों के बीच न्यासों को सुन्दरता से व्यवस्थित करना अस्वीकार नहीं करता,

जैसा कि इस प्रकार के वर्गीकरणों में पहले से मान लिया जाता है। ऐतिहासिक तर्क एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में, और एक इतिहास-धारा से दूसरी इतिहास-धारा में भिन्न है। यह एक आन्तरिक तर्क है जोकि केवल रूप को देखनेवाले द्रष्टा को भद्दा, यहां तक कि अतर्कसंगत दीख सकता है। संक्षेप में, यह प्रक्रिया का तर्क है जोकि भिन्नता के कारक के कारण अनेक रूपों में व्यक्त होता है। चूंकि हम यहां पुनः उस समस्या का सामना करते हैं जोकि संस्कृति के अध्ययन में नियम (Law) की प्रकृति को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है, अतः हम फ़िलहाल इसे छोड़ देते हैं और दो ध्रुवीय अवधारणाओं के बीच एक पैमाने पर सांस्कृतिक घटनाओं को रखने की वर्गीकरण की समस्या पर लौटते हैं।

हम इस प्रकार के एक अत्यन्त सावधानी से प्रस्तुत किये गये और अति श्रेष्ट लिपिबद्ध विवरण पर विचार करते हैं, जिसमें कि वर्गीकरण की एक समुचित प्रणाली के चारों मापदंडों को पूरा किया गया है; वह प्रणाली जो "लोक-समाज" (Folk-society) के विरुद्ध "आधुनिक नगरीय समाज" की अवधारणा को प्रस्तुत करती है। संस्कृतियों के इस वर्गीकरण को यूकटान में प्रत्यक्ष अन्वेषण से लिपिबद्ध किया गया। सावधानी के साथ क्षेत्रीय पद्धति के अनुसार गवेषणा की गई और इससे महत्त्वपूर्ण जनवृत्तशास्त्रीय न्यास प्राप्त हुए। प्रणाली को एक ढांचे के रूप में रखा गया जिसके अन्तर्गत गतिशास्त्र की समस्याओं पर विचार किया जा सके। यह सांस्कृतिक भिन्नता के तथ्य पर पूरा ध्यान देती है; यह किसी एक मापदंड पर भरोसा नहीं करती; इसमें किसी प्रकार के मूल्य निर्णय अन्तर्हित नहीं हैं। तथापि यह रूप के मापदंड पर आधारित है और भिन्न प्रकार के समाजों को ध्रुवीय अवधारणाओं के पैमाने के बीच में व्यवस्थित करती है। इस प्रकार यह ध्रुवीय प्ररूपों के अनुसार वर्गीकरण की समस्या के पहलू के विश्लेषण का, जिससे कि फिलहाल हम सम्बन्धित हैं, अच्छा अवसर प्रदान करती है।

इस समस्या को उस रचना में जिसमें कि इसकी पहली पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है,[2] निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है, "इस अन्वेषण का प्रधान उद्देश्य—एक ओर पृथक्कृत एकतत्वीय (Homogeneous) समाजों के स्वरूप की भिन्नताओं को, और दूसरी ओर चलिष्णु (Mobile), बहुतत्त्वीय (Heterogeneous) समाजों में, जहां तक कि इस प्रकार के समाज यूकटान में विद्यमान हैं, भिन्नताओं को परिभाषित करना है।" यह विवरण इस प्रदेश के चार समुदायों से लिया गया है, जैसे-जैसे हम नगर से उन क्षेत्रों की ओर बढ़ते हैं, जहां पर यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति का सबसे कम प्रवेश हुआ है, उनके आकार और जटिलता में परिवर्तन होता जाता है। समस्या के वक्तव्य को इन शब्दों में रखा गया है: "क्या इन चार समुदायों की कुछ भिन्नतायें इसका उदाहरण हैं कि जब एक

---

२. आर० रेडफील्ड, पृ० १७–१८।

पृथक्कृत एकतत्वीय समाज अन्य समाजों के सम्पर्क में आता है तब प्रायः क्या होता है ?"

लोक समाज के निम्न लक्षण बताये गये हैं : यह छोटा और पृथक्कृत है। अन्य समूहों से पृथक्करण के विरुद्ध इसके सदस्यों में संचार की आत्मीयता है। इसके सदस्य अपने शारीरिक प्ररूप और दैनिक व्यवहार-रीतियों में बहुत-कुछ एकसमान हैं, उनमें "एक होने की प्रबल भावना" है। लोक समाज में अधिक श्रम-विभाजन नहीं है, परन्तु यह आर्थिक दृष्टि से एक आत्म-निर्भर समूह है। यह "अपने आप में एक छोटा संसार" है। सबों के द्वारा जीवन की बुनियादी स्वीकृतियां समझी जाती हैं और स्वीकृत आचार की रीतियों की अल्पतम आलोचना की जाती है; अधिक अमूर्त चिंतन नहीं पाया जाता। सामाजिक संरचनायें खूब घनिष्ठ होती हैं और पारिवारिक सम्बन्धों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। कानून बहुत कम होते हैं, प्रथा का राज है। जीवन में पवित्रता (Sanctity) का गुण उल्लेखनीय है और वह भोजन या बरतनों जैसी सांस्कृतिक मदों तक विस्तीर्ण है, जिन्हें कि नागरिक संस्कृति में लौकिक (Secular) समझा जाता है। जादू लोक-मन की एक अन्य अभिव्यक्ति है। "लोकसमाज का मानव अमूर्त रूप में निश्चित या कार्य और कारण के अर्थों में परिभाषित सम्बन्धों की अपेक्षा व्यक्तिगत और उद्वेगात्मक मानसिक सम्बन्ध बनाता है।" अन्ततः, "व्यापारिक लाभ की प्रेरणा के लिए यहां कोई स्थान नहीं है.....यहां कोई मुद्रा नहीं है और किसी भी चीज़ को मूल्य के समान माप से नहीं मापा जाता।"[३]

अनेक अंशों में यह गुण उन लोगों के गुणों से मिलते हैं जिन्हें कि साहित्य में "आदिकालीन" (Primitive) या इस पुस्तक में "अनक्षर" (Non-literate) कहा गया है, विशेषकर जबकि लेखनकला के अभाव के साथ अनौद्योगिमीकरण और यंत्रीकरण के अभाव के कारक को भी जोड़ दिया जाय। तब विवाद का विषय क्या है? यह इस तथ्य में है कि एक मानवशास्त्रीय प्रकार की आशुलिपि में आदिकालीन या अनक्षर शब्दों को कुछ लोगों की एक अवस्था को बताने के लिए जोकि उन्हें औरों से पृथक् करती है, प्रयोग में लाया जाता है, इससे अधिक इसका कोई अर्थ नहीं है। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि क्यों कुछ लोगों के पास लेखनकला है और अन्यों के पास नहीं, किन्तु हम साक्षर समाजों से भिन्नता दर्शाने के लिए अनक्षर समाज की कोई आदर्श श्रेणी नहीं बनाते। संस्कृति को विस्तृत बनाने में हम लेखनकला के कार्य का ज़िक्र कर चुके हैं; किन्तु ऐसी ही जनसंख्या के आकार और विशेषीकरण से उसके सम्बन्ध की समस्या है, जोकि हम देख चुके हैं कि संस्कृतियों के बीच एक के बाद दूसरे पहलू में भिन्नताओं का एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

छोटे और बड़े साक्षर और अनक्षर समाज हैं जिनमें विशेषीकरण की

---

३. आर० रेडफील्ड, १९४७, पृ० २९६–३०६।

सीमाओं में बहुत अंतर है। जैसा कि रेडफील्ड ने वैज्ञानिक पद्धति की श्रेष्ठ परम्परा के अन्तर्गत स्वयं बताया है कि गौटेमाला में, जो देश कि अपेक्षतया यूकटान के समीप है, टैक्स ने दर्शाया है कि "एक स्थिर समाज छोटा और अपने विश्वासों और व्यवहारों में सरल और एकतत्त्वीय हो सकता है" पर साथ ही वहां "निर्वैयक्तिक सम्बन्ध, व्यक्ति के कार्यों को निर्देशित करनेवाली औपचारिक संस्थायें, क्षीण पारिवारिक संगठन, लौकिक जीवन, और किसी गंभीर विश्वास या सामाजिक हित के विचार की अपेक्षा व्यक्ति अधिक आर्थिक या व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से कार्य करनेवाले हो सकते हैं।"[4] यह भी द्रष्टव्य है कि लोक-समाज की चर्चाओं में अफ्रीकी न्यासों का कोई जिक्र नहीं है। पश्चिमी अफ्रीका में अनेक नगरीय समुदाय हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख (रेडफ़ील्ड के यूकटान के मेरीडा नगर के आकार के लगभग) से लेकर साढ़े तीन लाख तक है। इन जनसंख्याओं की जटिल विशेषीकृत अर्थव्यवस्थायें हैं जोकि, हम देख चुके हैं, मुद्रा के प्रयोग और लाभ कमाने की प्रेरणा की उपस्थिति को दर्शाती हैं। फिर भी इन नगरों में सम्बन्ध अन्य किसी "लोक-समाज" की भांति ही वैयक्तिक हैं और धर्म संस्कृति का केन्द्रबिन्दु पहलू है। संक्षेप में हमें यहां एक विरोध मिलता है,—अर्थात्, लोक-समाज की अवधारणा के अनुसार—नागरिक, पवित्र समुदाय का विरोध।

ऐसी अवधारणाओं से कार्य करनेवाले अधिकांश गवेषकों ने यह निर्देश किया है कि किसी घटना का विचार प्ररूप किसी एक विशेष उदाहरण में ठीक नहीं बैठता। जितने अधिक मापदंड होंगे, उतना ही अधिक उन्हें किसी निर्दिष्ट उदाहरण पर लागू करना कठिन होगा। यहां हमें पुनः यह निर्देश कर देना चाहिए कि इसका कारण ऐसी प्रणालियों में प्रक्रिया की अपेक्षा रूप पर आधारित श्रेणियों का प्रयोग है। "लोक-समाज" और "अनक्षर" लोगों की अवधारणा का असली भेद यही है। पहली वह श्रेणी है, जो कि न्यासों पर शासन करती है; दूसरी परीक्षणीय सामग्रियों की ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न विभिन्न परि-स्थितियों के प्रकाश में वर्णन करने का एक सुविधाजनक साधन है। हम पुनः इस बात पर जोर देंगे कि हमने यहां पर "लोक-समाज" के इस विशेष ध्रुवीय आदर्श रूप को इसलिए प्रयोग किया है क्योंकि यह वर्गीकरण के दृष्टिकोण का एक परिष्कृत और सावधानी से लिपिबद्ध उदाहरण है। अन्यों की भांति यह भी कठिनाइयां उत्पन्न करता है, यह केवल इस बात को पुष्ट करता है, कि वैज्ञानिक अध्ययन में वर्गीकरण को बहुत प्रमुख स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।

३

हम देख चुके हैं, कि संस्कृति को एक जैविक और जड़ घटना की तरह अध्ययन क्यों नहीं किया जा सकता, इसका एक कारण प्रयोगशाला के नियंत्रणों को

---

४. एस० टैक्स, १९३६, पृ० ४६७।

प्रयोग में लाने की कठिनाइयां है। यह केवल संस्कृति के अध्ययन के लिए ही सही नहीं हैं। ज्योतिषशास्त्री या ऐतिहासिक भूगर्भशास्त्री भी उन न्यासों का अध्ययन करता है जिनमें हेरफ़ेर नहीं किया जा सकता। जिस भांति एक मानव समाज को एक प्रयोगशाला में नहीं ले जाया जा सकता, उसी भांति एक तारे या पर्वत को प्रयोगशाला में नहीं ले जाया जा सकता। ऐसे विज्ञानों में उन ऐतिहासिक नियंत्रकों का सहारा लेना पड़ता है जोकि सम्बन्धित घटनाओं के क्रमों में व्यक्त होते हैं। संस्कृति की अपेक्षा ज्योतिषशास्त्र और भूगर्भशास्त्र में यह क्रम अधिक नियमित हैं। किन्तु यह अन्तर किस्म का नहीं, मात्रा का है, ठीक उसी भांति जिस भांति कि ऐतिहासिक नियंत्रकों और भौतिकशास्त्री या प्राणिशास्त्री द्वारा प्रयोगशाला में प्रयुक्त नियंत्रकों में पुनः—किस्म का नहीं, मात्रा का ही—और अधिक अन्तर है।

संस्कृति के विद्यार्थी और प्रयोगशाला के अन्वेषक में यह अन्तर नहीं है कि इनमें से पहला एक प्रकार का इतिहासकार है और प्रयोगशाला में कार्य करने-वाला विद्यार्थी वैज्ञानिक है। बल्कि संस्कृति के विद्यार्थी की प्रयोगशाला अपेक्षाकृत ऐतिहासिक है। समस्त संसार में ऐतिहासिक घटनायें वह स्थितियां जुटाती हैं, जिन्हें कि मानवशास्त्री अपनी पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा में उसी प्रकार प्रयोग में लाता है जिस प्रकार कि रसायनशास्त्री अपनी प्रयोग-नलिकाओं या भौतिकशास्त्री अपनी तुलाओं को प्रयोग में लाता है, या जिस प्रकार भूगर्भशास्त्री पृथ्वी के विकास के तथ्यों को जानने के लिए चट्टानों के पुराने स्तरों की परीक्षा करता है। यह सच है कि अन्य वैज्ञानिकों की तुलना में मानवशास्त्री को कहीं अधिक भिन्नताओं से, और ऐसी भिन्नताओं से जिनपर बहुत कम नियंत्रण हो सकता है, निपटना पड़ता है। चाहे वह भोंडी ही क्यों न हों, वह ऐतिहासिक परिस्थितियां जिनमें कि कम-से-कम कुछ भिन्न कारक लगभग स्थिर रहते हैं, नियंत्रकों का कार्य करती हैं। जिस सीमा तक यह ऐतिहासिक नियंत्रण परिवर्तनशील कारकों की संख्या को घटाते हैं, उस सीमा तक वह अन्य किसी वैज्ञानिक की भांति मानवशास्त्री को इतिहास की परिस्थितियों को अपने काम के न्यासों के अन्वेषण में प्रयुक्त करने की अनुमति देते हैं।

मानवशास्त्रीय सिद्धान्त की चर्चाओं में विज्ञान और इतिहास के भेद की बहुत समय से विवेचना होती रही है जिसने मुख्यतः इस प्रश्न का रूप धारण किया है कि क्या मानवशास्त्र एक ऐतिहासिक शास्त्र है या वैज्ञानिक। इस प्रकार की प्रस्थापना से तत्काल यह समस्या खड़ी होती है कि क्या मानवशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य मानव संस्कृति और विशेष संस्कृतियों के विकास की कहानी का पुनरुद्धार है, या गवेषणा का उद्देश्य रूप, संरचना और अंतःसम्बन्धों के उन विस्तृत सिद्धान्तों का उद्घाटन करना है जोकि संस्कृति के समुचित "नियमों" (Laws) को प्रस्तुत कर सकें।

जिस अंश तक यह दो दृष्टिकोण परस्पर न मिलनेवाले विकल्प या एक

ही उद्देश्य के भिन्न पहलू समझे गये हैं, यह भिन्न समयों में और विभिन्न विद्वानों में पृथक्-पृथक् रहे हैं। १८९६ में बोआस ने इस बात को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया :

"ऐतिहासिक पद्धति के तात्कालिक परिणाम....विभिन्न क़बीलों की संस्कृतियों के इतिहास रहे हैं, जोकि अध्ययन का विषय थीं। मैं उन मानवशास्त्रियों से पूर्णतः सहमत हूं जो यह कहते हैं कि हमारे विज्ञान का यह अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि सामान्य नियम, यद्यपि ऐसे विवरण में अन्तर्हित हैं, तथापि वह किस भांति पृथक् संस्कृतियों में व्यक्त होते हैं इसकी तुलना के बग़ैर उन्हें न तो स्पष्टता से रखा जा सकता है और न ही उनके सापेक्ष महत्त्व को समझा जा सकता है। किन्तु मैं इस बात पर ज़ोर देता हूं कि स्वस्थ प्रगति के लिए इस पद्धति का प्रयोग अनिवार्य शर्त है.....जब हम एक संस्कृति के इतिहास को स्पष्ट कर लेते हैं और उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले वातावरण और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं के प्रभावों को समझ लेते हैं, हम एक क़दम आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि तब हम यह अन्वेषण कर सकते हैं कि किस सीमा तक यही कारण अन्य संस्कृतियों के विकास में कार्य कर रहे थे।"[५]

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इतिहास बनाम विज्ञान की समस्या पर भिन्न प्रकार से विचार किया है। वह कहता है "विज्ञान शब्द का इस अर्थ में प्रयोग कर कि यह निश्चित ज्ञान का संचय है, हम दो प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन या दो प्रकार की पद्धति का भेद कर सकते हैं। इनमें से एक ऐतिहासिक है। अन्य पद्धति या अध्ययन के प्रकार को मैं आगमनात्मक (Inductive) कहना उचित समझता हूं। किन्तु इस बात की गुंजाइश है कि इस शब्द को ग़लत समझा जाय। इसलिए मैं इसे सामान्यीकरण (Generalisation) की पद्धति कहूंगा।" उसने सुझाया है कि मानवशास्त्र में व्यवहारतः दो उपविज्ञान सम्मिलित समझे जाने चाहिएं। इनमें से एक को वह "जातिशास्त्र" (Ethnology) और दूसरे को "तुलनात्मक समाजशास्त्र" कहता है। वह कहता है, इनमें से पहला "लोगों के सम्बन्धों से निपटता है" और "सामान्यीकरण का विज्ञान न होकर ऐतिहासिक है।" "यह सच है कि अपने ऐतिहासिक पुनर्निर्माणों को बनाने में संस्कृतिशास्त्री प्रायः कुछ सामान्यीकरणों की कल्पना कर लेते हैं, किन्तु नियमानुसार उन्हें किसी आगमनात्मक अध्ययन पर आधारित करने का बहुत कम प्रयत्न किया जाता है, या किया ही नहीं जाता। सामान्यीकरण वह प्रस्थापनायें हैं जिनसे कि विषय शुरू होता है, यह वह निष्कर्ष नहीं है जिन्हें कि वह किये जानेवाले अन्वेषणों से प्राप्त करना चाहता है।" दूसरी ओर, तुलनात्मक समाजशास्त्र एक "विज्ञान है जोकि मानव के सामाजिक जीवन की घटनाओं और उन सब चीज़ों पर, जिन्हें कि हम संस्कृति या सभ्यता में शामिल करते हैं, प्राकृतिक विज्ञानों की सामान्यीकरण की पद्धति को प्रयोग में लाता है।"[६]

---

५. एफ़० बोआस, १९४०, पृ० २७८–७९।
६. ए० आर० रैडक्लिफ़-ब्राउन, १९३२, पृ० १४३–४४।

पिछली विवेचना से यह स्पष्ट है कि यह प्रश्न कि मानवशास्त्र इतिहास है या विज्ञान, हमारे सामने दो परस्पर पृथक् विकल्प नहीं रखता। इसलिए हमारा कार्य पद्धतियों और प्राप्त परिणामों के अनुसार दोनों ही संभावनाओं को आंकना है, बजाय इसके कि मापके किसी एक छोर को पकड़ा जाय जोकि एक ओर विवरण है और दूसरी ओर सामान्यीकरण।

हम एक समस्या पर विचार कर देख सकते हैं कि किस प्रकार इतिहास की प्रयोगशाला के साधनों का प्रयोग कर सामान्यीकरणों की खोज में ऐतिहासिक नियंत्रकों का प्रयोग किया जा सकता है। यह अफ्रीका और नई दुनिया के विभिन्न भागों में नीग्रो समाजों की जीवनरीति से सम्बन्धित है, जहांकि ऐतिहासिक सम्बन्धों को जाना जा सकता है। विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र इसकी "प्रयोगशाला" है और इसका काल तीन से चार शताब्दी तक लम्बा है। इसमें सहारा के दक्षिण में अफ्रीका के पश्चिमी भाग, कांगो बेसिन के पश्चिमी भाग, उत्तरी अमरीका के पूर्वीय तट की पट्टी, संयुक्त राज्य का अधिकांश दक्षिणी पूर्वी भाग, वैस्ट इंडीज़, केन्द्रीय अमरीका और अधिकांश दक्षिणी अमरीका सम्मिलित हैं।

ऊपर गिनाये गये अफ्रीका के क्षेत्रों से बड़ी संख्या में नीग्रो नई दुनिया में लाये गये जहां उन्होंने अपनी दासता की अवस्था की संभावनाओं के अनुसार अपने जीवन को बनाया। इस प्रक्रिया में वह निष्क्रिय साधन न थे, किन्तु समायोजन स्थापित करने में उन पर लगाये गये प्रतिबंध विशेष प्रकार के थे जिन्होंने उन पर अधिक विशिष्ट और कठोर बंधन लगाये जो कि प्रायः लोगों के बीच सम्पर्कों में नहीं मिलते। इस प्रकार हमारे पास वह पहला "नियंत्रक" है जोकि हमें विज्ञान की पद्धति के अनुसार बाद के सांस्कृतिक परिवर्तनों के अधिक सही विश्लेषण की अनुमति देता है।

अफ्रीका की संस्कृतियां जिनसे कि नीग्रो आये थे, अन्य किसी क्षेत्र की संस्कृतियों की भांति विभिन्न अंशों में एक-दूसरे से पृथक् हैं। ब्योरे की भिन्नता के बावजूद, कुछ ऐसे मोटे प्रतिमान हैं जिनमें वह पर्याप्त समान हैं। इनमें से कुछ विशिष्ट अफ्रीकी संस्कृतियों की नई दुनिया के कुछ देशों पर कुछ कारणों से प्रभुता हो गई, जिन कारणों को पृथक् किया जा सकता है, और उनका विश्लेषण किया जा सकता है। अब भी वहां पर उनकी प्रथाओं के ऐसे अंश क़ायम हैं जिन्हें कि पहचाना जा सकता है। अन्यत्र, विशेषतः जहां कि क़बायली रूढ़ियों को क़ायम रखना अधिकाधिक कठिन हो गया, अन्तःस्थित प्रतिमान सामने आये। ऐसी अवस्थाओं में सामान्यीकृत तत्त्व अफ्रीकी प्रबल समूहों के प्रतिमानों से इस सूक्ष्म रीति से घुलमिल गये कि अत्यन्त सावधानी से छानबीन करने पर ही उनके ऐतिहासिक उद्गमों को प्रकट किया जा सकता है। यह सब होते हुए भी, एक अफ्रीकी आधार-रेखा देखी जा सकती है जिससे कि सांस्कृतिक परिवर्तन की मात्रा, दिशा और प्रकार को दिखाया जा सकता है।

नई दुनिया में नीग्रो समाजों के अफ्रीकी अवशेषों में, नई दुनिया के एक

निर्दिष्ट क्षेत्र में नीग्रो जिस यूरोपीय समूह के सम्पर्क में आये उसके प्रबल सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक प्रतिमानों के अनुसार भिन्नतायें पायी जाती हैं। ब्राज़ील में यह पुर्तगाली संस्कृति थी; बाकी दक्षिणी अमरीका, केन्द्रीय अमरीका और क्यूबा में स्पेनी; हैटी और ऐंटील्स के अन्य द्वीपों और लुइसियाना में फ्रैंच जीवनरीति; इन सभी का धर्म प्रधानतः कैथलिक था। अधिकांश संयुक्त राज्य और वैस्ट इंडीज़ में अंग्रेज़ों की प्रभुता थी। वर्जिन द्वीपों में डेन परम्परायें, वैस्ट इंडीज़ के कुछ भागों और डच गायना में नीदरलैंड की संस्कृति व्याप्त थी। बाद के यह सभी देश प्रधानतः प्रोटेस्टैंट धर्म के अनुयायी हैं। प्रत्येक समूह की, चाहे वह कैथलिक हो या प्रोटेस्टैंट, नीग्रोओं के प्रति अपनी विशिष्ट धारणायें थीं। यद्यपि आर्थिक स्थिति मुख्यतः बागानों की प्रणाली पर आधारित थी, फिर भी सदा ऐसा न था। केवल कुशल नीग्रो दस्तकार ही सर्वत्र उच्चवर्ग के सदस्य न थे, बल्कि दक्षिणी अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में नीग्रो बागानों पर बिल्कुल भी कार्य न करते थे, बल्कि उनका आयात खानों में काम कराने के लिए किया जाता था।

इस गवेषणा का बुनियादी यंत्र एक ऐतिहासिक और जातिशास्त्रीय अन्वेषण का एकीकृत कार्यक्रम था। सबसे पहले अपने विश्लेषण के लिए अफ्रीकी संस्कृति की आधार-रेखा को स्थापित करना था। यह दो प्रकार से किया गया। नई दुनिया के नीग्रोओं की संस्कृति के अध्ययनों ने अफ्रीका के कुछ प्रदेशों की ओर संकेत किया, चूंकि उनमें भी वही या उसी प्रकार की संस्थायें, परम्परायें, तथा स्थानों, व्यक्तियों और देवताओं के नाम मिले जोकि अफ्रीका के कुछ क़बीलों में मिलते हैं। अफ्रीका के इन प्रदेशों की क्षेत्रीय गवेषणाओं ने अन्य न्यास जुटाये जिससे कि नई दुनिया में अभीतक उपेक्षित अफ्रीकी तत्व प्रकाश में आये। इसी समय दासों के व्यापार से सम्बन्धित ऐतिहासिक अभिलेखों और दासता के काल में नई दुनिया के सम्बन्ध में यात्रियों द्वारा लिखे गये अपने अनुभवों के वृत्तान्तों से उन सम्बन्धों की ऐतिहासिक सत्यता को सिद्ध करना संभव हुआ जोकि अफ्रीका और नई दुनिया के नीग्रो समुदायों की जातिवृत्तशास्त्रीय खोजों की तुलना से प्रकट हुए थे। इन अभिलेखों में नई दुनिया में आनेवाले यूरोपियों की जीवन-रीति के ठोस ऐतिहासिक विवरण भी पाये गये। उनकी प्रथाओं, और विशेषकर बागानों के जीवन के विवरणों के यह अभिलेख, नई दुनिया के परिवेश में उन समायोजनों की, जोकि आज स्थापित हो चुके हैं, प्रारम्भिक अवस्था के स्वरूप और यंत्ररचना को समझने में पर्याप्त अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

उस आधार-रेखा के स्थापित हो जाने पर जिससे कि सांस्कृतिक परिवर्तन को दिखाया जाना है, अगला क़दम वर्गीकरण की किसी विस्तृत योजना के अनुसार सामग्रियों का संगठन था। उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार समस्या के ऐतिहासिक ढांचे के प्रसंग में नई दुनिया की नीग्रो संस्कृति की सामग्रियों के वर्गीकरण की योजना बनाई गई, अर्थात् अफ्रीकी तत्वों की घनता का एक माप

नई दुनिया में अफ्रीकी तत्वों की घनता (Intensity) का माप[७]

(प्रत्येक समूह के लिए उसके अवशिष्टों (Retentions) की अधिकतम मात्रा को बताया गया है)

	प्रौद्योगिकी-शास्त्र	आर्थिक जीवन	सामाजिक	गैर-रिश्तेदारी संस्थायें	धर्म	जादू	कला	लोक-वार्ता	संगीत	भाषा
गायना (बुश)	ख	ख	क	क	क	क	ख	क	क	ख
गायना (परामरीबो)	ग	ग	ख	ग	क	क	यं	क	क	ग
हैटी (कृषक)	ग	ख	ख	ग	क	ख	घ	क	क	ग
हैटी (नागरिक)	यं	घ	ग	ग	ख	ख	यं	क	क	ग
ब्राज़ील (बाहिया)	घ	घ	ख	घ	क	क	ख	क	क	क
ब्राज़ील (पोर्टो एलिग्रे)	यं	यं	ग	घ	क	क	यं	?	क	ग
ब्राज़ील (उत्तरी नागरिक)	यं	घ	ग	यं	क	ख	यं	घ	क	ख
ब्राज़ील-(उत्तरी-ग्राम्य)	ग	ग	ख	यं	ग	ख	यं	ख	ख	घ
जमैका (मैरुन्स)	ग	ग	ख	ख	ख	क	यं	क	क	ग
जमैका (मोरांट.बे)	यं	ग	ख	ख	क	क	यं	क	क	क
जमैका (अन्य)	यं	घ	घ	घ	ग	ख	यं	क	ख	ग
ट्रिनिडाड (टोको)	यं	घ	ग	ग	ग	ख*	यं	ख	ख	घ
ट्रिनिडाड (स्पेन का बंदरगाह)	यं	घ	ग	ख	क	क	यं	ख	क	ग
क्यूबा	यं	घ	ग	ख	क	क	ख	ख	क	क
होंडूरास (ब्लैक कारिब)	ग	ग	ग	ग	ग	क	यं	ख	?	यं
वर्जिन द्वीप	यं	घ	ग	घ	यं	ग	?	ख	?	घ
गुला द्वीप	ग	ग	ग	घ	ग	ख	यं	क	ख	ख
संयुक्त राज्य (ग्राम्य दक्षिण)	घ	यं	ग	घ	ग	ग	यं	ग	ख	यं
संयुक्त राज्य (उत्तरी)	यं	यं	ग	घ	ग	ग	यं	घ	ख	यं

क अत्यन्त अफ्रीकी घ अत्यल्प अफ्रीकी ख पर्याप्त अफ्रीकी यं अफ्रीकी प्रथा का चिह्न या अनुपस्थिति ग कुछ-कुछ अफ्रीकी ? कोई सूचना नहीं

* इस संस्कृति में कारिब इंडियन तत्व प्रबल है।

७. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९४५ बी, पृ० १४।

स्थिर किया गया, जिस पर कि एक-एक देश को लेकर अधिकतम अफ्रीकी से अल्पतम—अर्थात् अधिकतम यूरोपीय न्यासों को रखा गया। सामान्यतः यह स्वीकार किया गया कि नई दुनिया के विश्लेषण में अमरीकी इंडियन तत्वों को भी ध्यान में रखना चाहिए, किन्तु वह सीमित उदाहरणों में ही महत्त्वपूर्ण पाये गये।

पिछली तालिका में दिखाया गया न्यासों का वर्गीकरण उन काम चलाऊ पूर्वकल्पनाओं और पद्धतिशास्त्रीय विधियों को दर्शाता है जिनसे कि यह बना है। यह तथ्य कि अवशिष्ट (Retention) की मात्रा को सम्पूर्ण संस्कृतियों की अपेक्षा संस्कृति के पहलू से दिया गया है, सांस्कृतिक तत्त्वों की परिवर्तनीयता की स्वीकृति को केवल रूप में ही नहीं, बल्कि एक निर्दिष्ट ऐतिहासिक स्थिति में, वह जिस सीमा तक परिवर्तित हो सकते हैं, उसको भी बताता है। यह वह पूर्वकल्पना थी जिस पर कि सांस्कृतिक केन्द्रबिन्दु (Focus) और सांस्कृतिक मोड़ (Drift) की समस्या की चर्चा करते हुए विचार किया गया था। यह स्वयं इस कल्पना पर आधारित थी कि संस्कृति को संबंधित किन्तु स्वतंत्र परिवर्तनीय कारकों के रूप में, जिन्हें कि हम पहलू कहते हैं, अध्ययन किया जा सकता है। इस तालिका में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि नई दुनिया की स्थानीय भिन्नताओं को ध्यान में रखना चाहिए और बड़े प्रदेशों को उनके उपक्षेत्रों के अनुसार समझना चाहिए। यह संस्कृति के प्रति परिस्थितिशास्त्रीय (Ecological) दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है जिसे कि अनेक वितरण के अध्ययनों में कार्यान्वित किया गया है। इन्होंने स्थानीय भिन्न तत्व की महत्ता को स्थापित किया है, जिससे कि अवधारणात्मक वृहत्तर इकाइयां बनाई जाती हैं। अन्ततः और संभवतः इनमें सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह तालिका अफ्रीकी तत्वों की घनता के माप को वहीं तक दर्शाती है जहां तक कि **अवशिष्ट की अधिकतम मात्रा** का संबंध है। यह संस्कृति में व्यक्तिगत भिन्नता की पूर्वकल्पना की स्वीकृति से निकली है।

नई दुनिया में नीग्रो परसंस्कृतीकरण (Acculturation) की विशेष समस्या की विस्तृत विवेचना की जो रूपरेखा हमने दी है, वह हमें एक ऐसी पद्धति देती प्रतीत होती है जिससे कि स्वीकृत प्रस्थापनाओं की परीक्षा की जा सके और ऐसी नई पूर्वकल्पनायें बनाई जा सकें जिनके आधार पर आगे अन्वेषण हो सके। समस्या की रूपरेखा जिस प्रकार यहां दी गई है, मुख्यतः सांस्कृतिक उत्पत्ति-स्थान से संबंधित है, जहां के बुनियादी प्रतिमानों से अवलोकित सांस्कृतिक भिन्नतायें उत्पन्न हुईं। इस प्रकार प्राप्त न्यास भावी अध्ययन का आधार तैयार करते हैं जिसमें कि भिन्न व्यवहार प्रतिमानों के विश्लेषण में नये स्थिर तत्वों (Constants) को अन्य नियंत्रकों के रूप में और नई दुनिया के नीग्रो समाजों में पायी जानेवाली व्यक्तिगत भिन्नता की भिन्न मात्राओं के अनुसार प्रयोग किया जा सकता है। और इसी तरह ऐतिहासिक दृष्टि से संबंधित संस्कृतियों के जोड़ों का अन्यत्र भी अध्ययन

किया जा सकता है[८], जिससे कि ऐतिहासिक संस्कृति-क्रम में पायी जानेवाली इन स्थितियों में गत्यात्मक प्रक्रियाओं की तुलनात्मकता और उनसे निकाले गये सामान्यीकरणों की परीक्षा की जा सके।

सांस्कृतिक परिवर्तन की यंत्ररचनाओं के विश्लेषण में प्रयुक्त ढांचे और अफ्रीकी और नई दुनिया की नीग्रो संस्कृतियों के परस्पर संबंध में इनकी नये सांस्कृतिक रूपों में अभिव्यक्तियों को प्रयोग में लाकर संसार में अन्यत्र "प्रयोग-शाला" की स्थितियां तैयार की जा सकती हैं। जेसप-उत्तरी-प्रशान्त-खोज-दल ने केवल उत्तरी प्रशान्त की सीमा पर स्थित संस्कृतियों के परस्पर ऐतिहासिक संबंध का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु उसका यह भी उद्देश्य था "कि वह यह समझे कि इस क्षेत्र के समान तत्व जब वह एक लोगों से दूसरे लोगों के पास गये किस प्रकार बदल गये थे"। मैदानी सूर्य-नृत्य के अध्ययन में सीमित क्षेत्र में रहनेवाले क़बीलों को, जिनके बीच प्रसार की कल्पना की जा सकती थी, लिया गया था जिससे कि सांस्कृतिक तत्वों में होने वाली भिन्नता का विश्लेषण किया जा सके। यहां पर बुनियादी पूर्वकल्पना यह थी कि परीक्षणीय घटना एक ही ऐतिहासिक धारा से निकली थी।

बाद के परसंस्कृतीकरण के अध्ययनों को ऐतिहासिक संबंधों की कल्पना की अपेक्षा उनकी निश्चितता से किया जा सका, इसका यही अर्थ है कि निकाले गये निष्कर्षों को ऐतिहासिक तथ्य पर अधिक सुरक्षा से आधारित किया जा सकता था। चार संबंधित समुदायों की सांस्कृतिक भिन्नताओं का रेडफ़ील्ड का अध्ययन, यद्यपि संस्कृति के आदर्श वर्गीकरणों को स्थापित करने के अर्थों में कल्पित किया गया था, किन्तु उसे भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इगन का फ़िलीपाइन अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से संबंधित समूहों के क्रम से संयुक्त था। इसी प्रकार का दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका के पोंडों का हंटर का विश्लेषण है जिसमें कि इन लोगों में खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों और नगर में रहनेवालों के जीवन के तुलनात्मक अध्ययन हैं।[९] व्यक्तित्व और संस्कृति के सम्बन्ध के अपने विश्लेषण में हैलोवैल ने अलगोनकी और संबंधित पड़ौसी जनसमूहों में अन्तर्हित सदृशताओं को आंकने के लिए जाति-इतिहास (Ethnohistory) के साथ आरोपणात्मक (Projective) मनोवैज्ञानिक प्रविधियों का प्रयोग किया है।[१०]

यह महत्त्वपूर्ण है कि संस्कृतियों के उन अधिकांश अध्ययनों में जहां कि ऐतिहासिक कारक नियंत्रण में हैं, प्राप्त सामान्यीकरण (Generalisation) गत्यात्मक प्रकार के हैं। उन्हें पुरानी तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग से प्राप्त उन

---

८. जैसे कि उदाहरण के लिए नई दुनिया में स्पेनी संस्कृति और हिस्पानो-अमरीकी संस्कृतियों के संबंध में ओ० एम० फोस्टर, १९५१ का दृष्टिकोण।

९. एम० हंटर, १९३६।

१०. ए० आई० हैलोवैल, १९४७, पृ० १९५–२२५।

सामान्यीकरणों से पृथक् करना आवश्यक है, जिनमें कि सांस्कृतिक तत्वों या संबंधों की समानताओं का, इस बात का विचार किये बिना कि वह समान ऐतिहासिक शक्तिकी क्रिया से उद्भूत हुए हैं या नहीं, अध्ययन किया जाता था। ऐसे प्रारंभिक सामान्यीकरण प्रधानतः सांस्कृतिक रूपों से संबंधित हैं।

इस प्रकार के सामान्यीकरणों ने ही मानवशास्त्री को अन्तःसांस्कृतिक न्यासों के प्रसंग में अपने साथी समाज-वैज्ञानिकों के निष्कर्षों पर बारम्बार आपत्ति प्रकट करने का अप्रिय कार्य सुपुर्द किया है। अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा अन्तःसांस्कृतिक सामग्रियों के प्रयोग ने "मानव प्रकृति" से संबंधित सिद्धान्तों के विनाश को निकट ला दिया। यह माना जाता था कि "मानव प्रकृति" मनुष्य में वह गिरगिट की तरह चंचल शक्ति थी जो कि उसे मुनाफ़ा कमाने, या एक-विवाही होने या बहुविवाही प्रवृत्ति रखने, या अपने रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने, या कोई अन्य ऐसा कार्य करने के लिए, जोकि यूरोपीय-अमरीकी समाज के विद्यार्थियों को स्पष्टतः बुनियादी लगने थे, प्रेरित करती थी। किन्तु मानवशास्त्री इस प्रकार शुरू कर, "परन्तु कमचटका में...", या सैनेगल या ईक्वेडर या पुका-पुका में—आगे उदाहरण देता जायेगा कि यहां पर उसी "मानव प्रकृति" से प्रेरित हो स्त्री और पुरुष मुनाफ़े से दूर रहते थे, या बहुविवाही थे, या एक-विवाही थे या अपनी स्थिति से संतुष्ट प्रतीत होते थे। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक सापेक्षवाद का दर्शन जोकि अधिकांश मानवशास्त्रीय चिंतन और सामान्यतः समाज-विज्ञान पर छा गया है, "मानव-प्रकृति" के खंडनों से प्रारम्भ हुआ जोकि सांस्कृतिक मानवशास्त्र के साहित्य की विशेषता थी।

४

यदि मानव इतिहास में घटनाओं का वास्तविक मार्ग केवल एक संभव विकास को दर्शाता है, तब क्या हम किसी प्रस्थापना में विकल्पों को इस प्रकार सम्मिलित कर सकते हैं जिससे कि संस्कृति का अध्ययन वैज्ञानिक गवेषणा के लक्ष्य, पूर्वोक्ति (Prediction) को पा सके? इस प्रश्न के अनेक परस्पर-विरोधी उत्तर दिये गये हैं। यह आग्रह किया गया है कि संस्कृति में अभी तक देखे जानेवाली नियमिततायें उन समान्यीकरणों के विकास को उचित ठहराती हैं जोकि पूर्वोक्ति की दशा में पहला क़दम हैं। दूसरी ओर प्रत्येक संस्कृति के अद्वितीय ऐतिहासिक स्वरूप और इस निष्कर्ष पर ज़ोर दिया गया है कि प्रथाओं की विविधता में नियमितता को खोजना एक असंभव कार्य है।

फिर भी यह विरोध, जोकि संस्कृति के इतिहास में विज्ञान बनाम इतिहास की समस्या को दूसरे शब्दों में रखता है, क्या वस्तुतः विकल्पों का एक सही वक्तव्य है? विज्ञान के विरुद्ध इतिहास के दृष्टान्त में हम देख चुके हैं कि वहां कोई विरोध नहीं हैं, और अपने सामान्यीकरण को विकसित करने में वैज्ञानिक ऐतिहासिक क्रमों से सहायता ले सकता है; यह तथ्य इस कठिनाई के अन्य संभव समाधानों की ओर संकेत करता है। यह देखा गया था कि न्यासों के

विश्लेषण में वर्गीकरण एक आवश्यक क़दम है और जबतक न्यासों के वर्ग तथ्यों से पुष्ट हैं और उनसे आगे नहीं जाते, वह सामग्रियों को स्पष्ट करने और भावी विश्लेषण के मार्ग को तैयार करने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इतिहास उस प्रयोगशाला को जुटाता है जिसमें संस्कृति का वैज्ञानिक कार्य करता है और इन साधनों के उपयोग से संस्कृति की प्रकृति और प्रक्रियाओं में बुनियादी अन्तर्दृष्टि मिलती है।

जब हम प्रत्येक संस्कृति की अद्वितीयता पर ज़ोर देते हैं, तब उससे उत्पन्न बाहरी विरोधाभास के समाधान को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है: **सांस्कृतिक रूप ऐतिहासिक घटनाओं के अद्वितीय क्रमों की अभिव्यक्तियां हैं, किन्तु वह उन अन्तर्हित प्रक्रियाओं के परिणाम हैं जो कि मानवीय अनुभव में स्थिर तत्त्वों को व्यक्त करती हैं।** इसका अर्थ है कि संस्कृति के "नियम" प्रक्रिया के वक्तव्य (Statements) हैं। उनके परिणाम अत्यन्त विविध रूपों में व्यक्त होते हैं। वे वहीं तक एक समान हैं जहां तक कि वे एक समान प्रक्रियाओं के अन्तिम परिणामों को दर्शाते हैं।[११] इसलिए हम कह सकते हैं कि जनसमूहों में सम्पर्क होने पर एक-दूसरे से आदान (Borrowing) किया जाता है। किन्तु एक निर्दिष्ट उदाहरण में क्या ग्रहण किया जायेगा—भौतिक वस्तुयें या विचार, प्रोद्योगशास्त्र या धर्म—और किस मात्रा में, यह पृथक् उदाहरणों में भिन्न होगा। हम इससे भी आगे जा सकते हैं। केन्द्रबिन्दु (Focus) और पुनर्व्याख्या (Reinterpretation) जैसी अवधारणाओं से सहायता लेकर हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि, एक विशेष दशा में ग्रहण करने का कार्य चुनावात्मक होगा और एक जनसमूह द्वारा दूसरे से लिये गये तत्त्व नये रूप धारण करेंगे जोकि पूर्वविद्यमान सांस्कृतिक उत्पत्ति-स्थान से निर्धारित होंगे।

यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि गतिशास्त्र की समस्यायें सम्पर्क में आनेवाली संस्कृतियों का ही एकांत क्षेत्र नहीं हैं। उन्हें इतिहास की एक निर्दिष्ट अवधि में विश्लेषण की गई एक ही संस्कृति के भीतर और साथ ही संस्कृतियों के सम्पर्क के परिणामों की या उन कारकों की, जिन्होंने कि एक निर्दिष्ट ऐतिहासिक धारा में पड़नेवाली संस्कृतियों में अवशिष्ट छोड़ने और उनकी पुनर्व्याख्याओं में भाग लिया है, गवेषणा की सहायता से अध्ययन किया जा सकता है। एक संस्कृति की संस्थाओं के बीच अन्तःसम्बन्ध, और वह रीति जिससे कि वह संस्कृति की समग्रता को प्रभावित करते हैं, जड़, निश्चित या स्थिर नहीं हैं। अन्तःसम्बन्ध भी उतने ही गत्यात्मक हैं जितने कि बाह्य सम्बन्ध। संस्कृति की प्रकृति व प्रक्रियाओं को समझने के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई दृष्टिकोण नहीं जितना कि यह विश्लेषण कि किस प्रकार संस्कृति में एक तत्त्व

---

११. स्वप्नों के बहुसंस्कृति-व्यापी विश्लेषण में इस सिद्धान्त के प्रयोग के लिए देखिए, डी० इगन, १९५२, पृ० ४७९–८०।

अपने स्वरूप से ही अन्य तत्त्वों को, जिनसे वह संबंधित है, प्रभावित करता है।

मानवशास्त्रियों की गवेषणाओं का निर्माण करनेवाले नियमों की संख्या वस्तुतः पर्याप्त है। उनमें से अनेक तो इतने बुनियादी हैं कि उन्हें प्रायः स्वतः-सिद्ध मान लिया जाता है। संस्कृति सीखी जाती है और यह जन्मजात नहीं है, यह ऐसा ही एक "नियम" है। यह तथ्य कि संस्कृति सीखी जाती है, सांस्कृतिक आदान (Borrowing) के सामान्यीकरण की ओर ले जाता है, जिसने कि अपने सहायक संशोधनों के साथ संस्कृति के अध्ययनों में इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसी सिद्धान्त से यह पूर्वकल्पना निकली है कि संस्कृतीकरण (Enculturation) वह विधि है जिससे कि सांस्कृतिक स्थिरता प्राप्त होती है और परिवर्तन होते हैं। संस्कृति अपने प्रोद्योगशास्त्र के रूपों के अनुसार प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होती है, या अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, एक जनसमूह द्वारा अपने गुज़ारे के लायक़ आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन से उत्पन्न बचत की वृद्धि के साथ विशेषीकरण में भी वृद्धि होती है, यह भी ऐसे अन्य सामान्यीकरण हैं। जब हम यह कहते हैं कि रिश्तेदारी की संरचना रक्त या अन्य प्रकार से निकट संबंधियों के व्यवहार को प्रभावित करती है, या धर्म विश्व-कल्पना का प्रतिबिम्ब है—या कि मानव अपने ही रूप में देवताओं को देखता है—या कि लोकवार्ता एक शैक्षणिक विधि का कार्य करती है, तो हम पुनः उन सामान्यीकरणों को स्थापित करते हैं जोकि संस्कृति के प्रति हमारे दृष्टिकोण, और किस प्रकार मानव प्राणी उससे प्रभावित होते हैं, इसके प्रति हमारी अवधारणाओं का निदर्शन करते हैं।[१२]

एक बार भिन्नता के तथ्य को पूरी तरह ध्यान में ले लेने के बाद, सांस्कृतिक रूप के विस्तार और साथ ही प्रक्रिया की नियमितता का समाधान सरल हो जाता है। यह संस्कृति की घटनाओं को, चाहे उनकी कोई भी अभिव्यक्तियां हों, समस्त विज्ञानों की स्थापित पद्धतिशास्त्रीय कार्यप्रणालियों द्वारा परीक्षा के लिए प्रस्तुत करता है। यहां तक कि ऐतिहासिक संयोग जैसी अवधारणा भी संस्कृति के विद्यार्थी द्वारा प्रयुक्त हथियारों में अपना एक स्थान बना लेती है। चूंकि इस दृष्टिकोण से एक परम्परा के विकास का मार्ग बदलनेवाली आकस्मिक घटना एक संयोगमात्र नहीं है। यह इस तथ्य की ही दूसरी अभिव्यक्ति है कि किन्हीं भी लोगों का अनुभव हूबहू दोहराया नहीं जाता, अर्थात् इतिहास का मार्ग बदलता रहता है, जैसा कि एक के बाद दूसरे समूह की जीवनरीति से प्रकट होता है।

जिस प्रकार हम स्वीकृत सामान्यीकरणों के अनुसार, जोकि वास्तव में संख्या में उनसे कहीं अधिक हैं जिन्हें कि हम स्पष्टतया प्रकट करते हैं, संस्कृति का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्ति (Prediction) में भी, जैसा कि प्रायः समझा जाता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सीमातक सफलता मिली है।

१२. इस दृष्टिकोण की समालोचना के लिए देखिये, डी० बिडने, १९५३, बी०, पृ० २७५–६।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण एक समाज में व्यवहार की नियमितता की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। जिस सीमा तक यह नियमितता विद्यमान है उस सीमा तक सफल पूर्वोक्ति की जा सकती है। इसलिए यह सामान्यीकरण कि सीखने की प्रक्रिया द्वारा बढ़ता हुआ मानव शरीर एक ऐसा प्राणी बन जाता है जिसका व्यवहार उसकी संस्कृति के स्वीकृत प्रतिमानों के अत्यंत अनुकूल होता है, हमें इस दूसरे सामान्यीकरण को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है कि हम इन प्रतिमानों के अनुसार जीवन बिताने के अभ्यस्त व्यक्ति के व्यवहार की पूर्वोक्ति कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि व्यवहार के प्रत्येक ब्यौरे की पूर्वोक्ति की जा सकती है; संभावना और तज्जनित भिन्नता को सदा ध्यान में रखना चाहिए। हम न केवल यह बता सकते हैं कि एक निर्दिष्ट पारिवारिक परिस्थिति में एक आस्ट्रेलियाई आदिवासी, एक क्रो इंडियन या कांगो बेसिन के एक मुशोंगो, या पश्चिमी संसार के एक नगर के बैंकर की प्रक्रियायें भिन्न होंगी, बल्कि उसका क्या व्यवहार होगा इसकी भी हम एक अपेक्षाकृत संकीर्ण सीमा में पूर्वोक्ति कर सकते हैं।

जिस अंशतक पर्याप्त सही पूर्वोक्ति की संभावना की जा सकती है, वह जैसे-जैसे हम उन परिस्थितियों में प्रवेश करते हैं जहां कि बहुसंस्कृति-व्यापी (Cross-cultural) कारक कार्य करते हैं, पर्याप्त कम हो जाती है। किन्तु यहां पर भी कामचलाऊ प्रस्थापनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट है कि सम्पर्क करनेवाली दो संस्कृतियों में आदान (Borrowing) उन संबंधित संस्कृतियों की संस्थाओं और तत्त्वों की भिन्नता द्वारा वर्णित रूपों की सीमा के बाहर न जायेगा। इसके अतिरिक्त, कुछ सत्यता के साथ यह पूर्वोक्ति करना संभव होगा कि कहां पर यह दोनों संस्कृतियां एक-दूसरे के आगे झुकेंगी और कहां पर वह परिवर्तन का सबसे अधिक विरोध करेंगी। इन पूर्वोक्तियों की सत्यता की सफलता बहुत-कुछ इसपर निर्भर है कि अध्ययन की जानेवाली स्थिति का हमारा ज्ञान न केवल वहीं तक जहांतक कि संबंधित संस्कृतियों के बाह्य रूप का संबंध है, बल्कि इनकी आन्तरिक स्वीकृतियों के सम्बन्ध में भी, कितना सही है।

अभी कुछ समय तक, निस्संदेह विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रण की अपेक्षा संस्कृतियों के अन्दर सांस्कृतिक परिवर्तन की पूर्वोक्ति अधिक सफल होगी। पूर्वोक्ति की क्षमता तभी अधिक होगी जबकि हम संभावना की मात्रा को यहां तक बढ़ाने में सफल होंगे कि एक निर्दिष्ट प्रक्रिया एक विशेष परिस्थिति के ढांचे में कार्य करते हुए अन्य रूपों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट रूपों में परिणत होगी। किन्तु अन्ततः विद्यार्थी द्वारा देखे गये रूप भी सदा परिवर्तनशील होंगे। इसलिए वैज्ञानिक का यह कार्य है कि वह संस्कृति के रूप के नीचे प्रक्रिया की जांच करे। इस उद्देश्य के लिए उसे अनेक अद्वितीय ऐतिहासिक क्रमों द्वारा प्रस्तुत प्रयोगशाला की स्थितियों का उन समान्यीकरणों की प्रस्थापना और परीक्षा में उपयोग करनी चाहिए जो एक प्रक्रिया के रूप में संस्कृति की उन नियमितताओं को प्रकट करते हैं जोकि उसे वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय बनाती हैं।

खण्ड पांच

उपसंहार

अध्याय उनतीस

विश्व समाज में मानवशास्त्र

अभी हालतक मानवशास्त्रियों ने जिन समस्याओं का अध्ययन किया वह दैनिक जीवन से दूर थीं। सांस्कृतिक विकासवाद या प्रसार या सांस्कृतिक विचित्रताओं के विवरण में सैद्धान्तिक व्यस्तता का, फैलती हुई संस्कृतियों और सम्पर्क में आनेवाली संस्कृतियों से उत्पन्न उन विरोध और समायोजन की समस्याओं के साथ जो सबका ध्यान आकृष्ट कर रही थीं, संगति बैठाना मुश्किल था। मानवशास्त्रियों की केवल "अछूती" जीवनरीतियों के अध्ययन की इच्छा और परिणामतः उनके आस-पास होनेवाले सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रति उनकी उदासीनता ने उनके कार्य को एक ऐसी विशेषता प्रदान की जोकि निश्चित और प्राकृतिक विज्ञानों की प्रयोगशालाओं के अन्वेषण से भिन्न न थी।

यह विज्ञान का विशुद्धतम रूप था। वह व्यक्ति जोकि अनक्षर मानव का अध्ययन करते थे और अन्य वह व्यक्ति जिनका उनसे दैनिक व्यवहार था, उनके बीच केवल सम्पर्क का ही अभाव नहीं था बल्कि वह एक-दूसरे से बचते थे। आदिवासी लोगों के बारे में सरकारी नीतियां यद्यपि प्रायः अत्यन्त सद्भावना से, परन्तु उन मानवशास्त्रियों से जोकि यह बता सकते थे कि एक निर्दिष्ट नीति के क्या प्रभाव होंगे, सलाह लिये बिना निर्धारित होती थीं। दूसरी ओर, मानवशास्त्री, जोकि अकेले ही वह व्यक्ति थे, जो आदिवासियों के लिए कुछ कह सकते थे, मौन रहे। मानव-सभ्यता के बुनियादी सिद्धांतों की उनकी खोज ने उन्हें सार्वजनिक वादविवाद के होहल्ले से दूर रखा, यद्यपि एक व्यक्ति की हैसियत से वह उन कार्य प्रणालियों के प्रभावों से रुष्ट हो सकते थे जोकि उनके परिचित आदिवासियों का नैतिक पतन कर रही थीं।

समय बीतने के साथ यह अधिकाधिक समझा जाने लगा कि व्यावहारिक नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए आदिवासी प्रथाओं का ज्ञान और आदिवासी जीवन की स्वीकृतियों की अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। परोक्ष शासन, औपनिवेशिक प्रशासन की एक विधि, जिसमें एक औपनिवेशिक अधिकारी के निरीक्षण में तात्कालिक क़बायली समस्याओं को क़बायली शासकों के हाथ में दे दिया जाता था, उसके संचालन के लिए आदिवासी क़ानून, आदिवासी भूमि-व्यवस्था के नियमों, आदिवासी राजनैतिक संस्थाओं और आदिवासी सामाजिक संरचनाओं का ज्ञान आवश्यक था, जोकि मानवशास्त्रीय दृष्टि से अप्रशिक्षित राजनैतिक अधिकारी को प्राप्त न था। पहले ऐसे अधिकारी कुछ विशेष प्रशिक्षण की अवधि के बाद सरकारी मानवशास्त्री प्रमाणित कर दिये जाते थे और आर० एस० रैटरे,

सी० के० मीक और पी० ए० टैलबौट जैसे लोगों को गोल्ड कोस्ट और नाइजीरिया के लोगों या एफ़० ई० विलियम्स को न्यू गिनी के लोगों के अध्ययन का सुयोग मिला। बाद में पूर्वी अफ्रीका में सी० ई० मिचेल ने अफ्रीका पत्रिका में एक लेखमाला निकालने के बाद जिसमें कि उसने मैलिनोवस्की के साथ इस समस्या पर बहस की, व्यावहारिक मानवशास्त्र के उपयोग के लिए एक प्रशिक्षित मानवशास्त्री और एक राजनैतिक अधिकारी की टोली बनाने का परीक्षण किया।

इसी प्रकार संयुक्त राज्य में १९३३ के बाद इंडियन आफिस की नीति के कार्यक्रम में सामान्यतः अमरीकी जीवन के सामाजिक-आर्थिक उत्पत्ति स्थानों के साथ इंडियन समाजों के एकीकरण में इंडियन क़बायली प्रतिमानों को सम्मान दिया गया और उन सूचनाओं की आवश्यकता अनुभव की गई जोकि पहले अध्ययनों में न थीं और इससे नई प्रकार की गवेषणाओं का सूत्रपात हुआ। उन स्थापित पद्धतियों की, जिनसे कि मानवशास्त्री सांस्कृतिक रूप की तह में विद्यमान सांस्कृतिक स्वीकृति में प्रवेश करते थे, उन नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायता ली गई जोकि इंडियनों की समस्याओं को इंडियनों के हाथ में देना चाहती थीं। यह अध्ययन अधिकाधिक संख्या में पेशेवर मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये, जोकि या तो इंडियन सर्विस में आ गये या विभिन्न अवधियों तक उसमें सलाहकारों या गवेषणा-विशेषज्ञों की तरह कार्य करते रहे। उन्होंने आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों, जोकि प्रशासकों की प्रमुख दिलचस्पी के विषय थे, तथा धर्म, कला, मूल्य प्रणालियों और व्यक्तित्व-संरचनाओं के क्षेत्रों और साथ ही शिक्षा और सामाजिक नियंत्रण की अन्य रीतियों के आदिवासी प्रतिमानों का अध्ययन किया।

यह दृष्टिकोण अमरीकाओं में फैल गया। मैक्सिको, केन्द्रीय अमरीका और दक्षिणी अमरीका में विशाल इंडियन जनसंख्याओं के जीवन को प्रभावित करनेवाले विभागों के अध्यक्ष सरकारी अफ़सरों ने बहुसंस्कृति-व्यापी अध्ययन में प्रशिक्षण और विशेषज्ञों के प्रयोग की नीति को अपनाया। मैक्सिको में अमरीका के देशीय लोगों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने और जिन देशों में वह रहते हैं उनके सम्पूर्ण जीवन से इनको एकीकृत करने की प्रविधियों में कुशल बनाने के उद्देश्य से एक केन्द्र स्थापित किया गया। इस आन्दोलन ने केवल वैज्ञानिक खोजों और प्रशासन में समन्वय स्थापित करने की ही चेष्टा नहीं की, बल्कि इसने उसमें आदिवासियों की भी सम्मिलित करने का क़दम उठाया। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य में इंडियनों को रिज़र्वेशन सुपरिटेंडेंटों के पद पर नियुक्त किया गया। लैटिन अमरीका में भी इंडियनों से संबंधित सरकारी विभागों में इंडियनों की संख्या बढ़ गई।

संयुक्त राज्य में मानवशास्त्रीय अवधारणाओं, प्रविधियों और दृष्टिकोणों का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग इंडियनों की समस्याओं को सुलझाने तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि यह युक्ति दी गई कि मानवशास्त्रीय पद्धतियों को

बहुसंख्यक साक्षर समूहों की समस्या पर भी लागू किया जा सकता है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के व्यावसायिक प्रशासन के स्नातकोत्तर विभाग में मानवशास्त्र के सम्मिलित किये जाने से उद्योग में व्यक्तिगत संबंधों की समस्याओं के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। १९४१ में व्यावहारिक मानवशास्त्र सभा स्थापित हुई, जिसका उद्देश्य "मानवप्राणियों के पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित करनेवाले सिद्धान्तों के वैज्ञानिक अन्वेषण और व्यावहारिक समस्याओं में इन सिद्धान्तों के विस्तत प्रयोग को प्रोत्साहित करना था।"

इन व्यावहारिक मानवशास्त्रियों द्वारा अध्ययन की गई समस्यायें विद्यार्थियों द्वारा समाज-मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, कार्यकर्ता गवेषणा और संबंधित क्षेत्रों में की गई गवेषणाओं से भिन्न नहीं हैं। इसका अपने आप में इसके अतिरिक्त और कोई महत्त्व नहीं है, कि यह सामाजिक समस्याओं के प्रति इस दृष्टिकोण की दिलचस्पी पर बल देता है, और जिसका अभिप्राय सीखे हुए मानव व्यवहार के सम्पूर्ण विस्तार के अन्तर्गत अन्य सांस्कृतिक घटनाओं को पृथक् कर देना है। यह युक्ति दी जा सकती है कि एक ही संस्कृति में किये गये अध्ययनों में बहुत-कुछ स्वतःसिद्ध मान लिया जाता है, जिसे कि अन्य संस्कृतियों में स्पष्ट रूप से व्यक्त करना पड़ता है। इस प्रकार के अध्ययनों में यह खतरा है कि मानवशास्त्रीय योजनाओं के रूप में बहुसंस्कृति-व्यापी (Cross-cultural) गवेषणा से सीखी हुई पद्धतियां और अवधारणायें हमारे समाज की समस्याओं की जटिलता में ओझल न हो जायें। न ही हम इन खतरों की उपेक्षा कर सकते हैं कि एक उद्योग में अन्तर्वैयक्तिक संबंधों का अध्ययन करनेवाला मानवशास्त्री उन आर्थिक दबावों को देखने से चूक सकता है जिन्हें कि समग्ररूप में उद्योगों का अध्ययन करनेवाले प्राथमिक समझते हैं।

उपरोक्त दिशाओं में व्यावहारिक मानवशास्त्र के विकास को विश्व महायुद्ध की परिस्थितियों से उत्तेजना मिली। युद्ध से पहले के तनावयुक्त वर्षों में १९३० के दशक में धुरी राष्ट्र औपनिवेशिक स्थिति में मानवशास्त्रीय प्रविधियों के प्रयोग की संभावनाओं के प्रति जागरूक थे और उन देशीय लोगों के ऊपर, जोकि उनके शासन के नीचे आ सकते थे उन्हें प्रयोग में लाने के लिए तैयार थे। इसलिए उन्होंने भावी औपनिवेशिक शासकों के प्रशिक्षण के लिए केन्द्र स्थापित किये, जिनमें कि जातिशास्त्र (Ethonology) और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को प्रमुख स्थान दिया गया। नात्सी राजनैतिक विचारधारा के नस्लवादी मतों ने शारीरिक मानवशास्त्रियों को सार्वजनिक वादविवाद के क्षेत्र में ला पटका, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था।

इन सभी मामलों में मानवशास्त्रीय विज्ञान का प्रयोग किया गया, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, किन्तु उसके साथ यह भी तथ्य है कि सर्वत्र ही अधिकांश मानवशास्त्री अपने विज्ञान की इन विकृतियों के विरुद्ध लड़े और अनेकों को तो इसके लिए अपनी स्वाधीनता और जीवन तक गंवाना पड़ा। शक्ति का नियंत्रण करनेवाले विज्ञान की खोजों का किन कामों में उपयोग करते हैं, दुर्भाग्य से यह

वैज्ञानिकों के नियंत्रण के बाहर है। प्रकाशित होने पर वैज्ञानिकों की खोजें एक सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। इन खोजों के दुरुपयोग का, जैसाकि यहां पर मानवशास्त्र का हुआ, या भौतिक वैज्ञानिकों के कार्य का प्रयोग रचनात्मक उद्देश्यों की अपेक्षा विनाश के लिए होता है, किस प्रकार निराकरण किया जाय, यह हमारे समाज की प्रमुख समस्या है। हम यहां पर केवल इतना ही देख सकते हैं कि अन्य विज्ञानों की अपेक्षा यह मानवशास्त्र पर कम लागू नहीं होता।

धुरी राष्ट्रों की विरोधी शक्तियों के सामने युद्ध शुरू होने पर वह समस्यायें आईं, जिन्हें कि यदि मानवशास्त्रियों का सक्रिय सहयोग लिया जाता, तो वही सुलझा सकते थे। विशेषकर संयुक्त राज्य में, जहां कि विभिन्न जीवनरीति वाले लोगों से बड़े पैमाने पर सम्पर्क का अनुभव अपेक्षया कम था, यह आवश्यक था कि इन संघर्षों को घटाने के लिए विशेषज्ञों की सहायता ली जाती। विजय ने विभिन्न संस्कृतिवाले लोगों का, जिनकी परम्पराओं का अनादर नहीं किया जा सकता था, शासन करने की आवश्यकता उत्पन्न की। प्रशासनिक अधिकारियों को अपने से भिन्न प्रथाओं का, जिनके विषय में शायद उन्होंने कभी सुना भी न था, आदर करने के लिए प्रशिक्षित करना आवश्यक था। मानवशास्त्रीय भाषाविदों से, उन लोगों के लिए जिन्होंने अपनी भाषा छोड़ कभी दूसरी भाषा न बोली थी, विदेशी भाषा को सीखने की पद्धतियां बनाने के लिए सहायता ली गई। युद्ध से अप्रभावित दक्षिणी और केन्द्रीय अमरीका जैसे उष्ण कटिबंध के देशों के स्थानीय लोगों को, सामान्य पूर्ति साधनों के कट जाने पर कच्चा माल जुटाने के लिए काम करने को तैयार करना था। स्वदेश में अपने लोगों को अनभ्यस्त खाद्य पदार्थों के अनुकूल बनाने की समस्या थी, जिसका सामना किया गया। यह इस प्रकार की समस्या थी जिसे कि इस पुस्तक में पुनःसंस्कृतीकरण (Re-enculturation) कहा गया है।

भावी युद्धों के निवारण के लिए किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण को स्थापित करने की तीव्र आवश्यकता ने व्यावहारिक कार्यों में मानवशास्त्रियों को भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। परन्तु इस भाग लेने की अनेक कठिनाइयां हैं और वह जितने प्रश्नों का समाधान करती हैं उनसे कहीं अधिक प्रश्नों को उठाती हैं। इसलिए हम यह आंकने के लिए कि एक विश्व-समाज के निर्माण में मानवशास्त्र क्या योगदान दे सकता है, इनमें से कुछ प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं।

२

अधिकांश निश्चित और प्राकृतिक विज्ञानों में वज्ञानिक के इस समाजिक दायित्व की अनुभूति ने कि उसकी खोजों का दुरुपयोग न हो, विद्यमान संरचना में जिसका आधार बुनियादी गवेषणा और अध्यापन है, एक तीसरी मंजिल और जोड़ दी; इसकी दूसरी मंजिल में इंजिनियरी के अर्थ में, व्यावहारिक समस्याओं के सुलझाने में वैज्ञानिक अन्वेषण के निष्कर्ष का प्रयोग निहित है। अन्य वैज्ञानिकों के साथ मानवशास्त्री भी इस नये सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक हुए हैं। किन्तु

उनके लिए प्रारम्भिक वर्षों में दूसरी मंज़िल विद्यमान न थी; और वह बाद में उसी प्रकार उनके द्वारा बनायी गयी बुनियादी गवेषणा की एक-मंज़िली संरचना में जुड़ गयी। इसका अर्थ है कि इस अध्याय में उठाये गये प्रश्न एक विशेष रूप धारण कर लेते हैं और उन विवादास्पद मुद्दों की बहस में जोकि इनके कारण उपस्थित हुए हैं, उन बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है जिन्हें कि अन्य विज्ञानों में स्वतःसिद्ध मान लिया जाता है।

जहांतक कि मानवशास्त्र का मानव और उसके कार्यों के संबंध में उसके बुनियादी योगदान का संबंध है, पद्धति और सिद्धान्तों के प्रश्नों को छोड़ विशेष वादविवाद नहीं है। वह सभी जोकि विज्ञान की बुनियादी प्रस्थापनाओं को स्वीकार करते हैं, और प्राकृतिक जगत् तथा मानव अनुभव के समस्त पहलुओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता अनुभव करते हैं, इसे स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। मानवशास्त्रियों ने अधिक जनसमूहों का अध्ययन नहीं किया या अपनी गवेषणाओं में और अधिक विविध संस्कृतियों और उनके अध्ययन में अन्तर्हित समस्याओं को अपने अध्ययन में नहीं लिया, इसका कारण इन समस्याओं के अध्ययन की आवश्यकताओं को अनुभव न करना न था, बल्कि उपलब्ध कार्यकर्ताओं की कमी थी। किन्तु इस दिशा में मानवशास्त्रियों के प्रयास प्रभावकर सिद्ध हुए हैं, यह इससे स्पष्ट है कि इस विज्ञान के साधन निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। मानवशास्त्रीय विज्ञान के सभी पहलुओं में इसे देखा जा सकता है। प्राप्त न्यासों में वृद्धि हुई है, पद्धतियां परिष्कृत हुई हैं और आवश्यक गवेषणाओं के लिए मानवशास्त्रियों की संख्या निरंतर बढ़ी है। संसार के शिक्षा-केन्द्रों और संग्रहालयों में यह मौन प्रक्रिया जारी है। नई संस्कृतियों की खोज हो रही है, नई समस्याओं का अध्ययन किया जा रहा है और मानवशास्त्र की बुनियादी अवधारणाओं में विद्यार्थियों का प्रशिक्षण इन्हें अधिक ज्ञात बनाता जा रहा है और मानवशास्त्र को एक पेशे के रूप में चुनने वाले व्यक्तियों को मानवशास्त्रीय पद्धति और सिद्धान्त के अधिक गहन अध्ययन के लिए प्रेरित कर रहा है।

यह दोहराना आवश्यक है कि यह बुनियादी है। किन्तु यह प्रश्न कि मानवशास्त्र को व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग में लाया जाय या नहीं और इसकी खोजों के प्रयोग को किस प्रकार नियंत्रित किया जाय, अधिक चर्चा के विषय रहे हैं। मानवशास्त्र को प्रयोग में लाने की समस्या इस तथ्य से और भी जटिल हो गई है, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, कि मानवशास्त्रियों के सामने यह प्रश्न पहली बार विशुद्ध बनाम व्यावहारिक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्राकृतिक और निश्चित विज्ञानों में यह एक साधारण-सी बात है। प्राणिशास्त्री उस चिकित्सक का कार्य नहीं करता जोकि उसकी प्रयोगशाला की खोजों से लाभ उठाता है। पुलों का निर्माता भौतिक-शास्त्रियों के कार्य का उपयोग करता है, किन्तु वह उनकी गवेषणाओं को करने का प्रयास नहीं करता। मानवशास्त्रियों ने बुनियादी गवेषणाओं और व्यावहारिक

मानवशास्त्र को साथ-साथ करने की कोशिश की है, जिसने न केवल श्रम-विभाजन के सम्बन्ध में बल्कि मानवशास्त्रीय विज्ञान के बुनियादी मूल्यों, अन्तिम लक्ष्यों और आचारशास्त्र के संबंध में भी भ्रम उत्पन्न किया है।

व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में मानवशास्त्रीय देनें पविभिन्न रूप धारण कर सकती हैं। एक सरकारी संगठन के सदस्य की हैसियत से मानवशास्त्री तात्कालिक समस्याओं के समाधान के लिए सलाह दे सकते हैं। देशीय भूमि-व्यवस्था के नियम, या पद के विशेषाधिकारों, या धार्मिक प्रथाओं का उनके द्वारा विश्लेषण किया जा सकता है जिससे कि एक प्रशासक किसी निर्णय पर पहुंचने में परिस्थिति की जटिलताओं को बेहतर तरीके से समझ सके। नीति के उन बड़े प्रश्नों पर, जिनका क्षेत्र अधिक विस्तृत है, मानवशास्त्री ही साक्षियां जुटा सकते हैं, जैसे कि किन अंशों तक एक विश्वव्यापी आर्थिक और राजनैतिक प्रणाली में विविध संस्कृतियों को इस प्रकार एकीकृत किया जा सकता है जिससे कि जब ऐसी संस्कृतियां जिनकी दिशायें सर्वथा भिन्न हैं एक-दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में आवें, उनमें कम-से-कम संघर्ष हो। इनमें सबसे अधिक विस्तृत स्तर पर, उस अन्तःसांस्कृतिक गवेषणा से अति निकटतया संबंधित जोकि मानवशास्त्र के बुनियादी न्यास जुटाती है, सांस्कृतिक रूपों और गतिशास्त्र के उन सामान्य सिद्धान्तों की खोज है जिनके ज्ञान के बिना विभिन्न लोगों में विश्वव्यापी समायोजन प्राप्त करना असंभव है।

इन सबमें मानवशास्त्री को एक मानवशास्त्री की हैसियत से नहीं किन्तु एक नागरिक की हैसियत से विभिन्न लक्ष्यों को आंकना होगा। ऐसे बहुत कम मानवशास्त्री हैं जोकि ऐसे सरकारी विभागों के साथ काम करते हैं जिनका यह विश्वास न हो कि, इस प्रकार वह उस संघर्ष और नैतिक पतन को कम कर सकते हैं जोकि प्रायः यूरोपीय-अमरीकी शासन के नीचे देशीय लोगों के इतिहास की विशेषता रहा है। वह मानवशास्त्री जो यह अनुभव करते हैं कि ऐसी प्रणाली में मानवशास्त्र के लिए कोई स्थान नहीं है, उन तात्कालिक प्रभावशाली रोगनाशक समाधानों की ओर संकेत करते हैं जिन्होंने दिशा-परिवर्तन का स्थान ले लिया है। उनका मत है कि बिना इन समाधानों के देशीय लोग जो अपने भाग्य निर्णय की स्वाधीनता खो चुके हैं अपनी प्रतिष्ठा और योग्यता का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। इस मत के माननेवालों का कहना है कि ऐतिहासिक कारकों, विशेषकर आर्थिक श्रेणी के कारकों के परिणामस्वरूप, वह अपनी भूमि गंवा चुके हैं, उन्हें अपने श्रम के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक नहीं मिलता और स्वाधीन लोगों को जिस पतन की अवस्था में पहुंचा दिया गया है, उसे किन्हीं भी विशेषज्ञों की सलाहें नहीं बदल सकतीं। उदाहरण के लिए, वे अमरीकी सीमा के विस्तार का उल्लेख करते हैं जिसमें कि निर्ममता से इंडियन जनसंख्या के बड़े भाग का विनाश कर दिया गया और बाकी क़बालियों को भीख मांगने के लिए छोड़ दिया गया।

दूसरी ओर जहां आदिवासी या देशीय लोगों और अल्पसंख्यक समूहों के

प्रति नीतियां उन उद्देश्यों का समर्थन करती हैं जिनमें मानवशास्त्री विश्वास कर सकता है, वहां यह समझा जा सकता है कि वह केवल तभी नहीं जबकि प्रशासकीय विभाग उससे सलाह मांगें, बल्कि यों भी अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान से लाभान्वित करे। इस प्रकार जबकि संयुक्त-राज्य में इंडियन ब्यूरो ने इंडियनों के नैतिक साहस को तोड़ने की अपनी पुरानी नीति को त्याग दिया और पूर्वविद्यमान प्रतिमानों के अनुसार उन्हें आर्थिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता प्रदान कर इन लोगों को अमरीकी जीवन से एकीकृत करने की नीति अपनाई, तो मानवशास्त्रियों ने उसे सहायता दी। इसी प्रकार ऐसे ही उद्देश्यों की ओर उन्मुख मैक्सिकी सरकार की नीतियों को भी ऐसा ही मानवशास्त्रीय सहयोग मिला।

जो दलित समूह या देशज लोग पराधीन हैं उनके कष्टों और कठिनाइयों को मानवशास्त्री ही सबसे अच्छी तरह समझ सकता है। वह इन कष्टों और इन कठिनाइयों को उन परिस्थितियों में रहनेवाले लोगों के दृष्टिकोण से देख सकता है। वह आदिवासियों की समस्या को किसी भी प्रतिभाशाली प्रशासक से बेहतर समझता है। जहां कहीं भी वह यह देखता है कि वह आदिवासियों को मानवीय अधिकार दिलवाने में सहायता दे सकता है, वह ऐसे अवसर का स्वागत करता है। आदिवासी लोगों के साथ अपने कार्य द्वारा विशेषरूप से संबंधित होने के कारण उसका झुकाव एक मानव प्राणी की हैसियत से किधर होगा, यह सरलता से जाना जा सकता है। वह उनका मित्र है और जहां संभव है, उन स्थानों में जहां कि कोई उनकी आवाज़ सुननेवाला नहीं है, वह उनका प्रवक्ता है।

व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में मानवशास्त्रियों के योगदान के संबंध में एक अन्य आपत्ति पर भी विचार किया जाना चाहिए। यह स्वयं मानवशास्त्र के लिए प्रायोगिक या व्यावहारिक मानवशास्त्र के विकास के महत्त्व से संबंधित है। क्या मानवशास्त्रियों द्वारा उन कार्यों को करना जोकि व्यावहारिक मानवशास्त्र के सुपुर्द हैं, उन्हें संस्कृति के स्वरूप और कार्यों की समस्याओं के अध्ययन से, जोकि मानवशास्त्रीय अध्ययन का प्रथम दायित्व है, दूर नहीं ले जाएगा? इवांस-प्रिचर्ड ने, जिसने कि औपनिवेशिक प्रशासन में मानवशास्त्रियों की नियुक्ति का समर्थन किया है, व्यावहारिक मानवशास्त्रीय विज्ञान की तुलना में विशुद्ध विज्ञान के सापेक्ष स्थान के संबंध में कोई संदेह प्रकट नहीं किया।

"किस प्रकार मानवशास्त्री अपने ज्ञान का, या दूसरे शब्दों में, अपने समय का सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है? मैं सुझाव दूंगा कि वह उन्हीं उद्देश्यों के लिए, जिनके लिए यह ज्ञान संकलित किया गया था, अर्थात् वैज्ञानिक समस्याओं के समाधान के लिए, इसका सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है।...अपने वैज्ञानिक क्षेत्र में मानवशास्त्री गवेषणा से प्राप्त ज्ञान को मानवशास्त्रीय समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग में लायेगा, और हो सकता है कि उनका कोई व्यावहारिक महत्त्व न हो। यह माना जा सकता है कि एक मानवशास्त्री के लिए

व्यावहारिक समस्याओं का अन्वेषण प्रशंसनीय है। संभवतः यह है, किन्तु यदि वह ऐसा करता है, तो उसे जानना चाहिए कि वह तब मानवशास्त्रीय क्षेत्र में कार्य नहीं कर रहा है।"[1]

इस विषय की अन्य चर्चा इस प्रकार है:

"प्रशासन और विज्ञान दोनों ही यह मानते हैं कि जितना अधिक ज्ञान उपलब्ध होगा, उतना ही श्रेष्ठ उसका उपयोग हो सकेगा। विज्ञान अधिक विशेष से अधिक सामान्य निकले हुए निष्कर्षों का एक क्रम है, वह यह मानकर कि एक प्रस्थापना जितनी अधिक सामान्य होगी वह उतनी ही अधिक सब घटनाओं को ध्यान में रखेगी और उतनी ही अधिक सत्य होगी, अधिक-से-अधिक सामान्य होने का प्रयास करता है।...उदाहरण के लिए, यदि कोई एक निर्दिष्ट इंडियन क़बीले के लिए मानवशास्त्रीय ज्ञान का प्रयोग करना चाहता है, तो विज्ञान यह बतायेगा कि उस क़बीले से सम्बन्वित ज्ञान, समस्त इंडियनों से संबंधित ज्ञान या मानव-प्रकृति या समाज से संबंधित सामान्यीकरणों की अपेक्षा कम महत्त्व- पूर्ण है...यह एक भ्रम है कि...मानवशास्त्री मुख्यतः उसी समुदाय से संबंधित है जिसका कि वह अध्ययन कर रहा है। विशेष और आदर्श रूप में, ऐसा नहीं है। वह समस्त समुदायों और सामान्यतः संस्कृति और समाज को समझने के लिए उस समुदाय का अध्ययन करता है।"[2]

एक शब्द में, मानवशास्त्री को एक वैज्ञानिक की हैसियत से अपने न्यासों के प्रति वह निरासक्ति होनी चाहिए जो कि सत्य की वैज्ञानिक खोज का लक्षण है। इस खोज में उसे यह अनुभव करना चाहिए, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, कि,

"सत्य की खोज सबसे पहली चीज़ है। हमारा पालन करनेवाले समाज के ऋण का भुगतान दीर्घकालीन होना चाहिए, और वह संस्कृति के स्वरूप और प्रक्रिया को समझने की दिशा में हमारे बुनियादी योगदान, और उसके द्वारा अपनी कुछ बुनियादी समस्याओं के समाधान के रूप में होना चाहिए।"[3]

३

मानवशास्त्र की सबसे बड़ी देन को इस दृष्टिकोण से समझा जाना चाहिए। यदि विश्व-समाज को जात्यभिमानों के, जिन्हें कि हम राष्ट्रवाद कहते हैं, संघर्ष से बाहर निकलना है, तो यह केवल "जीवित रहो और जीवित रहने दो" तथा अत्यन्त भिन्न जीवन रीतियों में पाये जानेवाले मूल्यों को स्वीकार करने की उत्सुकता के आधार पर ही संभव है।[4] निश्चितता से, यद्यपि कभी-कभी धीरे-

१. ई० ई० इवांस-प्रिचर्ड, १९४६, पृ० ९३।

२. एस० टैक्स, १९४५, पृ० २६–७, २८।

३. एम० जे० हर्सकोवित्स, १९३६, पृ० २२२।

४. मिलाइये, अमरीकन एंथ्रोपोलोजिकल एसोसियेशन, १९४७ द्वारा संयुक्त राज्य संघ को "मानव अधिकारों पर दिया गया वक्तव्य।"

धीरे, मानवशास्त्र इस स्थिति की ओर बढ़ा है। सांस्कृतिक भिन्नता का तथ्य, व्यवहार की भिन्न रीतियों में समान मूल्यों की अभिव्यक्ति की उपस्थिति, प्रत्येक जनसमूह का अपनी जीवनरीति से अनुराग; मानव जीवन के यह और अन्य अनेक पहलू सहिष्णुता और मेल का प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार शारीरिक मानवशास्त्रियों ने नस्ली श्रेष्ठता की अवधारणा के विरुद्ध निरंतर संघर्ष किया है उसी प्रकार सांस्कृतिक मानवशास्त्र ने भी अपने न्यासों में गुप्त या व्यक्त रीति से समस्त मानव संस्कृतियों की मूल प्रतिष्ठा को लिपिबद्ध किया है।

विश्व-व्यापी स्तर की समस्याओं को, जैसे कि विश्व की आर्थिक व्यवस्था में अनौद्योगिक लोगों के एकीकरण की आवश्यकता को, बहुसंस्कृति-व्यापी विश्लेषण के प्रसंग में सुलझाना चाहिए। एक अनौद्योगिक क़बायली समूह को इसलिए जीवन-यापन में निकम्मा कहना चूंकि उनकी रीतियां उन लोगों से भिन्न हैं जो दुनिया पर शासन कर रहे हैं, उस असंतोष को भड़काना है जोकि केवल भावी रक्तपात से ही शांत हो सकता है। मानवशास्त्री यह दर्शाने की स्थिति में हैं कि किस प्रकार एक जनसमूह, चाहे वह निष्क्रिय और शक्तिहीन ही क्यों न पड़ा रहे, विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है। वह स्पष्टता से देख सकते हैं कि किस शीघ्रता से प्रथायें छिप जाती हैं या, यदि नहीं, तो किस प्रकार उन लोगों का जो अपने गहरे और स्वीकृत मूल्यों और लक्ष्यों पर आक्रमण होने से असहाय अवस्था में नैराश्य का अनुभव करते हैं नैतिक पतन हो जाता है।

१९३० के दशक में जब फ़ासिस्ट शक्तियों ने प्रजातंत्र पर आक्रमण किया, तब इसका प्रायः एक प्रयोगशाला का अध्ययन प्रस्तुत हुआ था। यह कहा गया था कि प्रजातंत्र पुराना पड़ गया है और पतनोन्मुख है। इस सिद्धान्त को कि व्यक्ति सर्वोच्च है, राज्य नागरिक का सेवक है, मिथ्या और विकृत घोषित किया गया। इसके बजाय यह कहा गया कि व्यक्ति राज्य के लिए है, जिसे कि उन व्यक्तित्वों की स्वाधीनता का सम्मान करने की ज़रूरत नहीं, जोकि उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते। इस प्रकार प्रजातंत्रीय समाज के मूल आधारों पर उच्च-स्वर से और व्यंगपूर्वक प्रहार किया गया और शक्ति के प्रयोग की चुनौती दी गई। शस्त्रों से खूब सुसज्जित हो तानाशाही शक्तियों ने निरंतर दृढ़ निश्चय से और तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से ढुलमुल प्रजातंत्रों की ओर अपने क्षेत्र का विस्तार किया।

अब यह प्रजातंत्र का सार है कि प्रजातंत्र मूलतः एक शान्तिपूर्ण जीवन-रीति है; युद्ध की प्रशंसा नहीं की जाती, बल्कि उससे घृणा की जाती है और जबतक कि आत्मरक्षा की स्थिति न आ जाय, उससे बचना चाहिए। ऐसे विश्व में जहां शस्त्रास्त्रों से पूर्णतया सुसज्जित राष्ट्रों का घोषित उद्देश्य शान्ति नहीं बल्कि युद्ध था, और उनकी सरकार प्रणालियां उस विनाश के लिए सन्नद्ध थीं, जोकि प्रजातंत्र के आदर्श के विरुद्ध है, वहां प्रजातंत्र का दर्शन कैसे जीवित रह सकता था? स्वीकृत मूल्यों के प्रसंग में यह प्रश्न सुलझनेवाला न था, जोकि

उचित मार्ग का निर्धारण करने में अनिश्चितता के रूप में व्यक्त हुआ। शान्तिवाद और अहस्तक्षेप से संबंधित विवादों ने सर्वथा भिन्न दृष्टिकोणोंवाले व्यक्तियों को उन लोगों के विरुद्ध एक पंक्ति में खड़ा कर दिया जिनके कि वह सामान्यतः विरुद्ध न होते। केवल युद्ध के प्रारम्भ और विश्वास को शक्ति की कसौटी पर रखने के निश्चय ने वातावरण को शुद्ध किया और लाखों लोगों के संदेह को दूर किया।

इस उदाहरण में, प्रतिगामी तत्त्वों के पास इस संकट का मुक़ाबला करने की पर्याप्त शक्ति थी। तीर-कमान, से तोप का मुक़ाबला करनेवाले आदिवासियों के पास आधिपत्य स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई मार्ग न था। किन्तु मानवशास्त्री के लिए, जो कि लोगों की जीवनरीति का अध्ययन, उन्हें व्यतीत करनेवालों के दृष्टिकोण से करता है, विशुद्ध विज्ञान से हटने की जरूरत नहीं जबकि वह विश्व शान्ति के लिए उन खतरों का निर्देश करता है जोकि दमन किये गये क्रोध और उन उठते हुए देशीय राष्ट्रवादों की शक्ति में अन्तर्हित हैं जो लोगों की संस्कृतियों के पतन और दमन की प्रतिक्रिया हैं। अपने से भिन्न संस्कृतियों के वैज्ञानिक विद्यार्थी की हैसियत से उसकी यह देन है कि वह एक विश्व-समाज में प्रत्येक जनसमूह के लिए सांस्कृतिक स्वाधीनता का समर्थन करता है। यह बताना उसका कार्य है कि एक समाज के लिए विचित्र प्रथायें दूसरे के लिए मूल्यवान् हो सकती हैं, या उसे इस तथ्य के महत्त्व पर जोर देना चाहिए कि सांस्कृतिक भिन्नतायें सांस्कृतिक हीनता का चिह्न नहीं हैं। यह स्वीकार करते हुए भी कि इतिहास की प्रक्रियाओं को बदला नहीं जा सकता, वह अपने न्यासों से उन मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक यंत्ररचनाओं को दर्शा सकता है जिनके कारण प्रत्येक जनसमूह के लिए अपनी संस्कृति का अनुराग अवश्यंभावी है और वह राजनीतिज्ञों को यह स्पष्ट कर सकता है कि सांस्कृतिक स्वाधीनता और विश्व की आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था में मेल कराना संभव है।

मानवशास्त्र इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक और महत्त्वपूर्ण देन दे सकता है। यह उद्धरण जो इस पुस्तक के प्रारंभ में भूतकाल के सम्बन्ध में दिया गया था, वर्तमान व भविष्यत् काल के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार सत्य है, "मानव की इस अनन्त खोज में कि उसे कैसा होना चाहिए, प्रत्येक नया क़दम मानव जैसा कि वह है, उसके सम्बन्ध में प्राप्त नये तथ्यों के प्रति सिद्धान्त का का प्रत्युत्तर है।.....इस बीच में एक के बाद दूसरे विचारकों के वह स्वप्न और उड़ानें—वह स्वप्न और उड़ानें भी जिन्होंने कि राष्ट्रों को आन्दोलित किया और क्रांतियों का सूत्रपात किया, जब उनके ज्ञान से संगति खो बैठीं, मनुष्यों की बुद्धि ने उनका त्याग कर दिया।" निस्संदेह मानवशास्त्रियों द्वारा संचित मानव और उसके कार्यों के ज्ञान ने मानव जीवनयापन की रीतियों के मूल्यों के विषय में हमारे विचारों को निरंतर संशोधित करने और नीतियों को नई दिशा प्रदान करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए बाध्य किया है।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद जो कि गुप्त या प्रकट रूप में एक विश्व समाज के चिंतन पर हावी है, उक्त उद्धरण में व्यक्त दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। यह दर्शन उन तथ्यों पर आधारित है जोकि संस्कृतियों के बीच विद्यमान मूल सदृशताओं पर बल देते हैं, और जिनकी कि सांस्कृतिक भिन्नताओं के मुकाबले में निरंतर उपेक्षा की गई है। यह तथ्य दर्शाते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ मूल्य हैं, और कुछ संयम हैं, जिनकी कि चाहे वह हम से भिन्न क्यों न हों, उपेक्षा नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक सापेक्षवाद निरपेक्ष मूल्यों की जात्यभिमानी अवधारणाओं के विरुद्ध मानव अनुभव के सार्वभौम तत्त्वों पर ज़ोर देता है, साथ ही वह उन संयमों को भी नहीं त्यागता जोकि आचारशास्त्र की प्रत्येक प्रणाली उसके अनुसार रहनेवालों पर लगाती है। यह स्वीकार करना कि संस्कृतियों की भांति सत्य, न्याय और सौन्दर्य की भी अनेक अभिव्यक्तियां हैं, यह सहिष्णुता को व्यक्त करता है, अराजकता को नहीं। मानव अपनी एकता और विविधता में क्या है इस सम्बन्ध में ज्ञात तथ्यों के प्रकाश में मानवशास्त्र की महानतम देन के रूप में यह स्थिति उसे इस दिशा में एक क़दम आगे बढ़ाती है कि उसे कैसा होना चाहिए।

सहायक साहित्य सूची
श्रौर
पारिभाषिक पर्याय
तथा
विषयानुक्रमणिका

सहायक साहित्य-सूची

उद्धृत साहित्य

निम्न सूची में उन पुस्तकों और निबंधों के नाम सम्मिलित हैं जिन्हें कि वस्तुत: पिछले पृष्ठों में उद्धृत किया गया है। प्रत्येक मद के लिए लेखक का नाम, प्रकाशन की तिथि, पुस्तक या प्रबंध का शीर्षक और प्रकाशन का स्थान दिया गया है। जहां पर कि एक लेखक द्वारा ही वर्ष में प्रकाशित एक से अधिक शीर्षक सम्मिलित हैं, वहां उन मदों को वर्ष के बाद दिये गये अक्षर से बताया गया है, जैसे कि "1942 a", "1942 b" और इसी प्रकार।

ACKERKNECHT, ERWIN H., 1942: "Primitive Medicine and Culture Pattern." *Bulletin of the History of Medicine*, Vol. XII, pp. 545-74.

ALLEE, W. C., 1938: *The Social Life of Animals*. New York.

AMERICAN ANTHROPOLOGICAL ASSOCIATION, Executive Board, 1947: "Statement on Human Rights." *American Anthropologist*, Vol. XLIX, pp. 539-43.

ASCH, SOLOMON E., 1952: *Social Psychology*. New York.

ASHTON, HUGH, 1952: *The Basuto*. London.

BACON, ELIZABETH, 1946: "A Preliminary Attempt to Determine the Culture Areas of Asia." *Southwsetern Journal of Anthropology*, Vol. II, pp. 117-32.

BACON, ELIZABETH and HUDSON, A. E., 1945: "Asia (Ethnology)." *Encyclopaedia Britannica*, Vol. II, pp. 523-5.

BALFOUR, H., 1895: *The Evolution of Decorative Art*. London.

BARBOUR, GEORGE H., 1949: "Ape or Man? An Incomplete Chapter of Human Ancestry from South Africa." *Ohio Journal of Science*, Vol. XLIX (reprinted in *Yearbook of Physical Anthropology*, 1949, New York, pp. 117-33).

BARNETT, H. G., 1942: "Invention and Culture Change." *American Anthropologist*, Vol. XLIV, pp. 14-30.

1953: *Innovation: the Basis of Cultural Change*. New York.

BARTLETT, F. C., 1937: "Psychological Methods and Anthropological Problems." *Africa*, Vol. X, pp. 401-20.

BARTON, R. F., 1919: "Ifugao Law." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XV, No. 1, pp. 1-186.

1922: "Ifugao Economics." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XV, No. 5, pp. 385-446.

BASCOM, W. R., 1939: "The Legacy of an Unknown Nigerian Donatello." *London Illustrated News*, Vol. CIV, pp. 592-4.

1948: "Ponape Prestige Economy." *Southwestern Journal of Anthropology*, Vol. IV, pp. 211-21.

BEALS, R. L., 1946: "Cheran: a Sierra Tarascan Village." Smithsonian Institution, Institute of Social Anthropology, *Publication* No. 2.

BENEDICT, R., 1923: "The Concept of the Guardian Spirit in North America." American Anthropological Association, *Memoir* No. 29.

1934: *Patterns of Culture*. Boston and New York.

1938: "Continuities and Discontinuities in Cultural Conditioning." *Psychiatry*, Vol. I, pp. 161-7.

BIDNEY, D., 1953a: "The Concept of Value in Modern Anthropology," in *Anthropology Today* (A. L. Kroeber, ed.), pp. 682-99. Chicago.
1935b: *Theoretical Anthropology*, New York.

BLACKWOOD, B., 1935: *Both Sides of Buka Passage*. Oxford.

BLEEK, D. F., 1929: "Bushman Folklore." *Africa*, Vol. II, pp. 302-12.

BLOOMFIELD, L., 1933: *Language*. New York.

BOAS, F., 1897: "The Social Organization and Secret Societies of the Kwakiutl Indians." U.S. National Museum, *Report for 1895*, pp. 311-738.
1898: "The Northwestern Tribes of Canada, Twelfth and Final Report." British Association for the Advancement of Science, *Proceedings*, pp. 40-61.
1909-10: "Tsimshian Mythology." Bureau of American Ethnology, *31st Annual Report*, pp. 27-1,037.
1911: "Introduction." *Handbook of American Indian Languages* (Bureau of American Ethnology, *Bulletin* No. 40), Part 1, pp. 5-83.
1914: "Mythology and Folk-tales of the North American Indians." *Journal of American Folklore*, Vol. XXVII, pp. 374-410 (reprinted in *Race, Language, and Culture*, pp. 451-90).
1916: "On the Variety of Lines of Descent Represented in a Population." *American Anthropologist*, Vol. XVIII, pp. 1-9.
1927: *Primitive Art*. Oslo.
1936: "Die Individualitat primitiver Kulturen," in *Reine und Angewandte Soziologie* (volume in honor of F. Tonnies). Leipzig.
1938: (ed.), *General Anthropology*. New York.
1940: *Race, Language, and Culture*. New York.

BOYD, W. C., 1950: *Genetics and the Races of Man: an Introduction to Modern Physical Anthropology*. Boston.

BUCK, P. H. (Te Rangi Hiroa), 1934. "Mangaian Society." Bernice P. Bishop Museum, *Bulletin* No. 122.
1938: "Ethnology of Mangareva." Bernice P. Bishop Museum, *Bulletin* No. 157.

BUNZEL, R., 1929: *The Pueblo Potter*. New York.

BURKITT, MILES C., 1933. *The Old Stone Age*. New York and Cambridge.

CAMERON, NORMAN, 1938: "Functional Immaturity in the Symbolization of Scientifically Trained Adults." *Journal of Psychology*, Vol. VI, pp. 161-75.

CARPENTER, C. R., 1934: "A Field Study of the Behavior and Social Relations of Howling Monkeys." *Comparative Psychology, Monographs*, Vol. X, No. 2 (No. 48).

CARTER, ISABEL GORDON, 1928: "Reduction of Variability in an Inbred Population," *American Journal of Physical Anthropology*, Vol. XI, pp. 457-77.

CASSIRER, E., 1944: *An Essay on Man*. New Haven.

CHILDE, V. G., 1946: *What Happened in History*. New York.

CODRINGTON, R. H., 1891: *The Melanesians: Studies in their Anthropology and Folk-Lore*. Oxford.

COLE. F. C., 1922: "The Tinguian." Field Museum of Natural History, *Publication* No. 209, *Anthropological Series*, Vol. XIV, No. 2.

COLE, G. D. H., 1933: Introduction to K. Marx, *Capital*, pp. xi-xxix (Everyman's Library), London.

COON, CARLTON S., 1942: "Have the Jews a Racial Identity?" In *Jews in a Gentile World*, Graeber, Isacque and Britt, Steuart H., eds., New York.

COUNTS, EARL W., 1950: *This Is Race: an Anthology Selected from the International Literature on the Races of Man*. New York.

COX, MARIAN ROALFE, 1892: *Cinderella*. Publications of the Folk-lore Society, Vol. XXXI. London.

DAVIDSON, L. J., 1943: "Moron Stories." *Southern Folklore Quarterly*, Vol. VII, pp. 101-4.

DEACON, A. B., 1934: *Malekula: a Vanishing People in the New Hebrides*. London.

DE LAGUNA, G. A., 1927: *Speech: Its Function and Development*. New Haven.

DIGBY, ADRIAN, 1938: "The Machines of Primitive People." *Man*, Vol. XXXVIII, 50, pp. 57-8.

DIXON, ROLAND B., 1916 : *Oceanic Mythology* (*The Mythology of All Races*, Vol. IX). Boston.
1928: *The Building of Cultures*. New York.

DOBZHANSKY, T., 1944 : "On Species and Races of Living and Fossil Man." *American Journal of Physical Anthropology*, Vol. II (n.s.), pp. 251-65.

DRIBERG, J. H., 1930 : *People of the Small Arrow*. New York.

DRIVER, H. E., and KROEBER, A. L., 1932 : 'Quantiative Expression of Cultural Relationships." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XXXI, No. 4, pp. 211-56.

DRUCKER, PHILIP, 1939: "Rank, Wealth, and Kinship in Northwest Coast Society." *American Anthropologist*, Vol. XLI, pp. 55-65.

DU BOIS, C., 1936 : "The Wealth Concept as an Integrative Factor in Tolowa-Tututni Culture," in *Essays in Anthropology Presented to A. L. Kroeber*, pp. 49-65. Berkeley.
1944 : *The People of Alor*. Minneapolis.

DUNDAS, C., 1913 : "History of Kitui." *Journal of the Royal Anthropological Institute*, Vol. XLIII, pp. 480-549.

DURKHEIM, E., 1915 : *The Elementary Forms of the Religious Life*. London.

DYK, W. (ed.), 1938: *Son of Old Man Hat*. New York.

EGGAN, DOROTHY. 1949 : "The Significance of Dreams for Anthropological Research." *American Anthropologist*, Vol. LI, pp. 177-98.
1952: "The Manifest Content of Dreams: a Challenge to Social Science." *American Anthropologist*, Vol. LIV, pp. 469-85.

EGGAN, FRED, 1941: "Some Aspects of Culture Change in the Northern Philippines." *American Anthropologist*, Vol. XLIII, pp. 11-18.
1950: *Social Organization of the Western Pueblos*. Chicago.

EINSTEIN, CARL, 1920: *Negerplastik*. Munich.

EVANS-PRITCHARD, E. E., 1937: *Witchcraft, Oracles, and Magic among the Azande*. Oxford.
1940: *The Nuer*. Oxford.
1946: "Applied Anthropology." *Africa*, Vol. XVI, pp. 92-8.

FENTON, WILLIAM N., 1941: "Iroquois Suicide: A Study in the Stability of a Culture Pattern." *Anthropological Papers*, No. 14 (Smithsonian Institution, Bureau of American Ethnology, *Bulletin* No. 128), pp. 80-137.

FIRTH. RAYMOND, 1939: *Primitive Polynesian Economy*. London.
1951: *Elements of Social Organization*. London.

FIRTH, ROSEMARY, 1943: "Housekeeping among Malay Peasants." University of London, *Monographs on Social Anthropology*, No. 7.

FORDE, C. D., 1934: *Habitat, Society, and Economy: a Geographical Introduction to Anthropology*. London.
1937: "Land and Labour in a Cross River Village, Southern Nigeria." *Geographical Journal*, Vol. XC, pp. 24-51.

FORTES, M., 1938: "Culture-Contact as a Dynamic Process." International Institute of African Languages and Cultures, *Memorandum* No. XV, pp. 60-91.
———and S. L., 1936: "Food in the Domestic Economy of tbe Tallensi." *Africa*, Vol. IX, pp. 237-76.
———and EVANS-PRITCHARD, E. E. (eds.), 1940: *African Political Systems*. London.

FORTUNE, R. F., 1939: "Arapesh Warfare." *American Anthropologist*, Vol. XLI pp. 22-41.

FOSTER, G. M., 1951: "Report on an Ethnological Reconaissance of Spain." *American Anthropologist*, Vol. LIII, pp. 311-25.

FRAZER, SIR J. G., 1910: *Totemism and Exogamy* (4 vols.). London.
1935: *The Golden Bough: the Magic Art and the Evolution of Kings* (2 vols.) (3d ed.). New York.

FREYRE, G., 1946: *The Masters and the Slaves*. New York.

GALLOWAY, ALEXANDER, 1937: "Man in the Light of Recent Discoveries." *South African Journal of Science*, Vol. XXXIV, pp. 59-120.
GARROD, DOROTHY A. E., 1938: "The Upper Palaeolithic in the Light of Recent Discovery." *Proceedings of the Prehistoric Society*, Vol. IV, pp. 1-26.
GATES, R. RUGGLES, 1944: "Phylogeny and Classification of Hominids and Anthropoids." *American Journal of Physical Anthropology*, Vol. II (n.s.), pp. 279-92.
GAYTON, A. H., 1946: "Culture-Environment Integration: External References in Yokuts Life." *Southwestern Journal of Anthropology*, Vol. II, pp. 252-68.
GLUCKMAN, MAX, 1943: "Essays on Lozi Land and Royal Property." Rhodes-Livingstone Institute, *Papers*, No. 10.
GOLDENWEISER, A. A., 1910: "Totemism: an Analytical Study." *Journal of American Folklore*, Vol. XXIII, pp. 179-293 (reprinted in Goldenweiser, 1933, pp. 213-332).
1922: *Early Civilization*. New York.
1933: *History, Psychology. and Culture*. New York.
GOLDFRANK, E., 1945: "Changing Configurations in the Social Organization of a Blackfoot Tribe during the Reserve Period." American Ethnological Society, *Monographs*, No. VIII.
GOODWIN, G., 1942: *The Social Organization of the Western Apache*. Chicago.
GREENBERG, J., 1946: "The Influence of Islam on a Sudanese Religion." American Ethnological Society, *Monographs*, Vol. X.
GREGORY, W. K., 1929: *Our Face from Fish to Man*.

HADDON, A. C., 1894: *The Decorative Art of British New Guinea*. Dublin.
1914: *Evolution in Art* (new ed.). London and New York.
1925: *The Races of Man and Their Distribution*. New York.
HALLOWELL, A. I., 1942: *The Role of Conjuring in Saulteaux Society*. Philadelphia.
1945a: "Sociopsychological Aspects of Acculturation," in *The Science of Man the World Crisis* (R. Linton, ed.), pp. 171-200. New York.
1945b: "The Rorschach Technique in the Study of Personality and Culture." *American Anthropologist*, Vol. XLVII, pp. 195-210.
1947: "Some Psychological Characteristics of the Northeastern Indians." Peabody Foundation for Archaeology, *Papers*, Vol. III, pp. 195-225.
1951: "Cultural Factors in the Structuralization of Perception," in *Social Psychology at the Crossroads* (John H. Rohrer and Muzafer Sherif, eds.), pp. 164-95. New York.
HAMBLY, W. D., 1937: "Source Book for African Anthropology." Field Museum of Natural History, *Publications*, Nos. 394 and 396, *Anthropology Series*, Vol. XXVI (2 parts).
HARRIS, J. S., 1944: "Some Aspects of the Economics of Sixteen Ibo Individuals," *Africa*, Vol. XIV, pp. 302-35.
HARRISON, H. S., 1925: "The Evolution of the Domestic Arts." *Handbook of the Horniman Museum*, Part 1 (2d ed.). London.
1926: "Inventions: Obtrusive, Directional, and Independent." *Man*, Vol. XXVI, 74, pp. 117-21.
HERSKOVITS, F. S., 1934: "Dahomean Songs." *Poetry*, Vol. XLV, pp. 75-7.
1935: "Dahomean Songs for the Dead." *The New Republic*, Vol. LXXXIV, No. 103, p. 95.
HERSKOVITS, M. J., 1924: "A Preliminary Consideration of the Culture Areas of Africa." *American Anthropologist*, Vol. XXVI, pp. 50-63.
1926: "The Cattle Complex in East Africa." *American Anthropologist*, Vol. XXVIII, pp. 230-72, 361-80, 494-528, 633-64.
1928: *The American Negro: a Study in Racial Crossing*. New York.
1930: "The Culture Areas of Africa." *Africa*, Vol. III, pp. 59-77.
1934: "Freudian Mechanisms in Primitive Negro Psychology," in *Essays Presented to C. G. Seligman*, pp. 75-84. London.
1936: "Applied Anthropology and the American Anthropologists." *Science*, Vol. LXXXIII, pp. 215-22.
1938a: *Acculturation: the Study of Culture Contact*. New York.
1938b: *Dahomey: an Ancient West African Kingdom* (2 vols.) New York.

1945a: "The Processes of Cultural Change," in *The Science of Man in the World Crisis* (R. Linton, ed.), pp, 143-70. New York.
1945b: "Problem, Method, and Theory in Afroamerican Studies." *Afroamerica*, Vol. I, pp. 5-24.
1945c: *Backgrounds of African Art*. Denver.
1946: "Folklore after a Hundred Years: a Problem in Redefinition." *Journal of American Folklore*, Vol. LIX, pp. 89-100.
1949: "Who are the Jews?" in *The Jews, Their History, Culture, and Religion* (L. Finkelstein, ed.), Vol. II, pp. 1,151-71. New York.
1950: "The Hypothetical Situation: a Technique in field Research." *Southwestern Journal of Anthropology*, Vol. VI, pp. 32-40.
1951: "Tender and Tough-Minded Anthropology and the Study of Values in Culture." *Southwestern Jaurnal of Anthropology*, Vol. VII, pp. 22-31.
1952: *Economic Anthropology*. New York.

HERSKOVITS, M. J. and F. S., 1934: *Rebel Destiny: among the Bush Negroes of Dutch Guiana*. New York.
1936: *Suriname Folklore*. New York.
1947: *Trinidad Village*. New York.

HERZOG, G , 1938: "Music in the Thinking of the American Indian." *Peabody Bulletin*, May, pp 1-5.

HILL, W. W., 1939: "Stability in Culture and Pattern." *American Anthropologist*, Vol. XLI, pp. 258-60.

HODGEN, M. T., 1936: *The Doctrine of Survivals*. London.
1942: "Geographical Distribution as a Criterion of Age." *American Anthropologist*, Vol. XLIV, pp. 345-68.
1945: "Glass and Paper: an Historical Study of Acculturation." *Southwestern Journal of Anthropology*, Vol. I, pp. 466-97.
1952: "Change and History." *Viking Fund Publications in Anthropology*, No. 18.

HOEBEL, E.A., 1940: "The Political Organization and Law-Ways of the Comanche Indians." American Anthropological Association, *Memoir* No. 54.
1946: "Law and Anthropology." *Virginia Law Review*, Vol. XXXII, pp.835-54.

HOGBIN, H. I., 1937-38: "Social Advancement in Guadalcanal." *Oceania*, Vol. VIII, pp. 289-305.
1938-9: "Tillage and Collection: a New Guinea Economy." *Oceania*, Vol. IX, pp. 127-51, 286-325.
1946-7: "A New Guinea Childhood: from Weaning till the Eighth Year in Wogeo." *Oceania*, Vol. XVI, pp. 275-96.

HOIJER, HARRY, 1944: "Peoples and Cultures of the Southwest Pacific," in *The Southwest Pacific and the War*, pp. 31-68. Berkeley and Los Angeles.

HOLMES, W.H., 1886: "Origin and Development of Form and Ornament in Ceramic Art." Bureau of American Ethnology, *4th Annual Report*, pp.443-65.

HOOTON, E.A., 1946: *Up from the Ape* (rev. ed.). New York.

HSU, FRANCIS L.K., 1945 : "Influence of South-Seas Emigration on Certain Chinese Provinces." *Far Eastern Quarterly*, Vol. V, pp. 47-59.
1953: *Americans and Chinese: Two Ways of Life*. New York.

HUNTER, M., 1936: *Reaction to Conquest*. London.

JENKS, A.E., 1900: "The Wild Rice Gatherers of the Upper Lakes." Bureau of American Ethnology, *19th Annual Report*, pp. 1,019-1,137.

KARDINER, A., 1944: "Elaboration" of "The Problem", in *Alor*, by C. Du Bois, pp. 6-13.

KEESING, F., 1939: "The Menomini Indians of Wisconsin." American Philosophical Society, *Memoirs*, Vol. X.

KLIMEX, S., 1935: "Culture Element Distributions: I. The Structure of California Indian Cultures." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XXXVII, Nol. 1, pp. 1-70.

KLUCKHOHN, C., 1941: "Patterning as Exemplified in Navaho Culture.", in *Language, Culture and Personality: Essays in Memory of Edward Sapir*, pp. 109-30, Menasha (Wis.).

KOHLER, W., 1925: *The Mentality of Apes*. New York.

KOENIGSWALD, G.H.R. VON, 1952: "*Gigantopithecus blacki* von Koenigswald, a Giant Fossil Hominid from the Pleistocene of Modern China." American Museum of Natural History, *Anthropological Papers*, Vol. XLIII, Part 4, pp. 295-325.

KROEBER, A.L., 1923: *Anthropology*, New York.
1936: "Culture Element Distributions: III. Area and Climax." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XXXVII, No. 3, pp. 101-16.
1939: 'Cultural and Natural Areas of Native North America." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XLVIII, pp. 1-242.
1940: "Stimulus Diffusion." *American Anthropologist*, Vol. XLII, pp. 1-20.
1952: *The Nature of Culture*. Chicago.
1953: *Anthropology Today: An Encyclopaedic Inventory*. "Prepared under the Chairmanship of A.L. Kroeber." Chicago.

KROEBER, A.L. and KLUCKHOHN, CLYDE, 1952: "Culture: a Critical Review of Concepts and Definitions." Peabody Museum of American Archaeology and Ethnology, Harvard University, *Papers*, Vol. XLVII, No. 1, pp. 1-223.

KROGMAN, W.M., 1945: "The Concept of Race", in *The Science of Man in the World Crisis* (R. Linton, ed.) pp. 38-62. New York.

KROPOTKIN, P., 1916: *Mutual Aid: A Factor of Evolution*. New York.

KUO, Z.Y., 1930: "The Genesis of the Cat's Response to the Rat." *Journal of Comparative Psychology*, Vo. XI, pp. 1-30.

LANG, ANDREW, 1887: *Myth, Ritual and Religion*. London.

LEAKEY, L.S.B., 1934: *Adam's Ancestors*. New York.

LEVY-BRUHL, LUCIEN, 1923: *Primitive Mentality*. New York.
1926: *How Natives Think*. London.
1949: *Les Carnets de Lucien Levy-Bruhl*. Paris.

LEWIS, OSCAR, 1942: "The Effects of White Contact upon Blackfoot Culture, with Special Reference to the Role of the Fur Trade." American Ethnological Society, *Monographs*, No. VI.
1951: *Life in a Mexican Village : Tepoztlan Revisited*. Urbana (Ill.)

LI AN-CHE, 1937: "Zuni: Some Observations and Queries." *American Anthropologist*, Vol. XXXIX, pp. 62-76.

LINDBLOM, K. G. (ed.), 1926—: *Smarre Meddelanden*. Stockholm, Statens Ethnografiska Museum.

LINDGREN, E. J., 1938: "An Example of Culture Contact without Conflict: Reindeer Tungus and Cossacks of Northwestern Manchuria." *American Anthropologist*, Vol. XL, pp. 605-62.

LINTON, R., 1924: "Totemism in the A.E.F." *American Anthropologist*, Vol. XXVI, pp. 296-300.
1928: "Culture Areas of Madagascar." *American Anthropologist*, Vol. XXX, pp. 363-90.
1936: *The Study of Man*. New York.
1940: (ed.), *Acculuturation in Seven American Indian Tribes*. New York.
1945: *The Cultural Background of Personality*. New York.
1957: *Tree of Culture*, New York.

LLEWELLYN, K. N. and HOEBEL, E.A., 1941: *The Cheyenne Way*. Norman (Okla.).

LOWIE, R.H., 1920: *Primitive Society*. New York.

LUNDBORG, H. and LINDERS, F.J., 1926: *The Racial Characteristics of the Swedish Nation*. Stockholm.

LUOMALA, KATHERINE, 1946: "Polynesian Literature", in *Encyclopedia of Literature* (J.T. Shipley, ed.) pp. 772-89.

LYND, ROBERT S. and HELEN M., 1929: *Middletown: a Study in Contemporary American Culture*. New York.

MACCURDY, G. G., 1924: *Human Origins* (2 vols.). New York.

MAINE, SIR H. S., 1888: *Lectures on the Early History on Institutions*. New York.
1890: *Popular Government*. London.

MALINOWSKI, B., 1922: *Argonauts of the Western Pacific* (2 vols.). London.
1926: "Anthropology." *Encyclopaedia Britannica*, Supplementary Vol. I to 13th edition, pp. 131-42.
1927: *The Father in Primitive Psychology*. New York.
1944: *A Scientific Theory of Culture, and Other Essays*. Chapel Hill (N.C.).
1945: *The Dynamics of Culture Change*. New Haven.

MANDELBAUM, D. G., 1936: "Friendship in North America." *Man*, Vol. XXXVI, 272, pp. 205-6.
1939: "Agricultural Ceremonies among Three Tribes of Travancore." *Ethnos*, Vol. IV, pp. 114-28.
1941: "Culture Change among the Nilghiri Tribes." *American Anthropologist*, Vol. XLIII, pp. 19-26.

MARETT, R. R., 1912: *Anthropology*. London.
1914: *The Threshold of Religion*. New York.

MARTIN, PAUL S., QUIMBY GEORGE I., and COLLIER, DONALD, 1947: *Indians before Columbus*. Chicago.

MARTIN, R., 1928: *Lehrbuch der Anthropologie* (3 vols.). Jena.

MASON, OTIS T., 1895: *The Origins of Invention*. London and New York.

MAUSS, MARCEL, 1923-24: "Essai sur le Don, forme archaique de l'echange." *L'Annee sociologique* (n.s.), Vol. I, pp. 30-186.

MCGREGOR, J.H., 1938: "Human Origins and Early Man," in *General Anthropology* (F. Boas, ed.), New York, pp. 24-94.

MEAD, MARGARET, 1939: *From the South Seas*. New York.

METRAUX, A., 1946a: "Ethnography of the Chaco." *Handbook of South American Indians* (Bureau of American Ethnology, *Bulletin* No. 143), Vol. I, pp. 197-370.
1946b: "South American Indian Literature." *Encyclopedia of Literature* (J.T. Shipley, ed.) pp. 851-63.

MILLAR, N.E. and DOLLARD, J., 1941: *Social Learning and Imitation*. New Haven.

MOFOLO, THOMAS, 1931: *Chaka: an Historical Romance*. London.

MONTAGU, M.F. ASHLEY, 1945: *An Introduction to Physical Anthropology*. Spring field (Ill.).

MORANT, G.M., 1939: *The Races of Central Europe*. London.

MORANT, G. M., and others, 1938: "Report on the Swanscombe Skull." *Journa of the Royal Anthropological Institute*, Vol. LXVIII, pp. 17-98.

MORGAN, L.H., *Ancient Society*. Chicago, n.d.

MORTON, DUDLEY, J., 1927: "Human Origin: Correlation of Previous Studies of Primate Feet and Posture with other Morphologic Evidence." *American Journal of Physical Anthropology*, Vol. X, pp. 173-203.

MOVIUS, HALLAM L., JR., 1942: *The Irish Stone Age*. Cambridge.
1944: "Early Man and Pleistocene Stratigraphy in Southern and Eastern Asia." Peabody Museum of American Archaeology and Ethnology, Harvard University, *Papers*, Vol. XIX, No. 3.

MURDOCK, G. P., 1945: "The Common Denominator of Cultures," in *The Science of Man in the World Crisis* (R. Linton, ed.) pp. 123-42. New York.

MURDOCK, G. P., and others, 1945: "Outline of Cultural Materials." *Yale Anthropological Studies*, Vol. II (2d ed.)

MYERS, SIR J. L., 1916: "The Influence of Anthropology on the Course of Political Science." University of California, *Publications in History*, Vol. IV, No. 1.

NADEL, S. F., 1942a: *A Black Byzantium: the Kingdom of Nupe in Nigeria*. London.
1942b: "The Hill Tribes of Kadero." *Sudan Notes and Records*, Vol. XXV, pp. 37-79.
1945: "Notes on Beni Amer Society." *Sudan Notes and Records*, Vol. XXVI, pp. 1-44.
1951: *The Foundations of Social Anthropology*. London.

NORDENSKIOLD, E., 1919: "An Ethno-Geographical Analysis of the Material Culture of Two Indian Tribes in the Gran Chaco." *Comparative Ethnographic Studies*, I. Goteburg.

NUMELIN, RAGNAR, 1950 : *The Beginnings of Diplomacy: A Sociological Study of Intertribal and International Relations*. London and Copenhagen.

O'NEALE, L. M., 1932: "Yurok-Karok Basket Weavers." University of California, *Publications in American Archeology and Ethnology*, Vol. XXXII, No. 1, pp. 1-182.

OPLER, M. E., 1938: "Personality and Culture: a Methodological Suggestion for the Study of their Interrelations." *Psychiatry*, Vol. I, pp. 217-20.

1941: *An Apache Life-Way*. Chicago.

1945: "Themes as Dynamic Forces in Culture." *American Journal of Sociology*, Vol. LI, pp. 198-206.

ORTIZ, F., 1947: *Cuban Counterpoint: Tobacco and Sugar*. New York.

OSGOOD, CORNELIUS, 1940: "Ingalik Material Culture." Yale University, *Publications in Anthropology*, No. 22. New Haven.

PARSONS, E. C., 1918 : "Nativity Myth at Laguna and Zuni." *Journal of American Folklore*, Vol. XXXI, pp. 256-63.

1936: *Mitla: Town of the Souls*. Chicago.

1939: *Pueblo Indian Religion* (2 vols.). Chicago.

PATAI, RAPHAEL, 1947: "On Culture Contact and its Working in Modern Palestine." American Anthropological Association, *Memoir* No. 67.

PETTITT, GEORGE A., 1946: "Primitive Education in North America." University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*, Vol. XLIII, pp. 1-182.

RADCLIFFE-BROWN, A. R., 1931: "The Social Organization of Australian Tribes." *Oceania Monographs*, No. 1.

1932: "The Present Position of Anthropological Studies." British Association for the Advancement of Science, *Report of the Centenary Meeting*, pp. 140-71, London.

1940: Preface to *African Political Systems* (M. Fortes and E.E. Evans-Pritchard, eds.), London.

RAMOS, A., 1940: *O Negro Brasileiro* (2d ed., rev.). Sao Paulo.

RATTRAY, R.S., 1923: *Ashanti*. London.

1929: *Ashanti Law and Constitution*. Oxford.

RAUM, O. F., 1940: *Chaga Childhood*. London.

RAY, VERNE F., 1942: "Culture Element Distributions: XXII. Plateau." *Anthropological Records*, Vo. VIII, No. 2, pp. 99-257.

REDFIELD, R., 1941: *The Folk Culture of Yucatan*. Chicago.

1947: "The Folk Society." *American Journal of Sociology*, Vo. LII, pp. 293-308.

1953: *The Primitive World and Its Transformations*. Ithaca (N.Y.).

REDFIELD, R., LINTON, R., and HERSKOVITS, M.J., 1936: "Memorandum on the Study of Acculturation." *American Anthropologist*, Vol. XXXVIII, pp. 149-52.

REISNER, G. A., 1923: *Excavations at Kerma*. ("Harvard African Studies", Vols. V and VI). Cambridge (Mass.).

RICHARDS, A.I., 1939: *Land, Labour and Diet in Northern Rhodesia*. London.

RIVERS, W.H.R., 1906: *The Todas*. London.

1910 : "The Genealogical Method of Anthropological Inquiry." *The Sociological Review*, Vol. III, pp. 1-12.

ROBERTS, H. H., 1925: "A Study of Folk Song Variants Based on Field Work in Jamaica." *Journal of American Folklore*, Vol. XXXVIII, pp. 148-216.

ROSCOE, J., 1911: *The Baganda*. London.

ROWE, JOHN H., 1953: "Technical Aids in Anthropology: a Historical Survey", in *Anthropology Today* (A. L. Kroeber, ed.), pp. 895-940. Chicago.

ROYAL ANTHROPOLOGICAL INSTITUTE, 1951: *Notes and Queries on Anthropology* (6th ed.). London.

SAIT, EDWARD M., 1938: *Political Institutions: A Preface*. New York.

SAPIR, E., 1921: *Language*. New York.

1938: "Why Cultural Anthropology Needs the Psychiatrist." *Psychiatry*, Vol. I, pp. 7-12.

1949: *Selected Writings of Edward Sapir*, in *Language, Culture and Personality* (D. Mandelbaum, ed.), Berkeley.

SAPIR, E. and SWADESH, M., 1939: *Nootka Texts.* ("William Dwight Linguistic Series," Linguistic Society of America.) Philadelphia.
SCHAPERA, I. 1930: *The Khoisan Peoples of South Africa.* London.
1940: *Married Life in an African Tribe.* London.
SCHJELDERUP-EBBE, T., 1935: "Social Behavior of Birds", in *A Handbook of Social Psychology* (C. Murchison, ed.) pp. 947-72, Worcester (Mass.).
SCHMIDT, W., 1931: *The Origin and Growth of Religion.* New York.
1939: *The Cultural Historical Method of Ethnology* (S.A. Sieber, tr.). New York.
SCHNEIRLA, T.C., 1946 : "Problems in the Biopsychology of Social Organization." *Journal of Abnormal and Social Psychology*, Vol. XLI, pp. 385-402.
SCHULTZ, A., 1936: "Characters Common to Higher Primates and Characters Specific for Man." *Quarterly Review of Biology*, Vol. XI, pp.259-83, 425-55.
SHERIF, M., 1936: *The Psychology of Social Norms.* New York.
SKINNER, H. D., 1921: "Culture Areas in New Zealand." *Journal of the Polynesian Society*, Vol. XXX, pp. 71-8.
SMITH, J. RUSSELL, 1925: *North America.* New York.
SMITH, M. W., 1940: *The Puyallup-Nisqually.* New York.
SPECK, F. G., 1914: "The Double-Curve Motive in Northeastern Algonkian Art." Canadian Geological Survey, *Memoir* No. 42, *Anthropological Series*, No. 1, Ottawa.
1935: *Naskapi.* Norman (Okla.).
SPENCER, HERBERT, 1896: *The Principles of Sociology* (3d ed.). New York.
STAYT, H.A., 1931: *The Bavenda.* London.
STERN, B. J., 1927: *Social Factors in Medical Progress.* New York.
STEWARD, JULIAN, 1947: "American Culture History in the Light of South America." *Southwestern Journal of Anthropology*, Vol. III.
STEWART, OMAR C., 1942: "Culture Element Distributions: XVIII. Ute-Southern Paiute." *Anthropological Records*, Vol. VI, No. 4, pp. 231-360.
STURTEVANT, E. H., 1947: *An Introduction to Linguistic Science.* New Haven.
SULLIVAN, LOUIS R., 1928: *Essentials of Anthropometry: a Handbook for Explorers and Museum Collectors* (revised by H.L. Shapiro), New York.

TAX, S., 1939: "Culture and Civilization in Guatemalan Societies." *Scientific Monthly*, Vol. XLVIII, pp. 463-7.
1945: "Anthropology and Administration", *America Indigena*, Vol. V, pp. 21-33.
1953: "Penny Capitalism: a Guatemalan Indian Economy." Smithsonian Institution, Institute of Social Anthropology, *Publication* No. 16.
TEGGART, F.J., 1941: *Theory and Processes of History.* Berkeley.
THIEME, FREDERICK P., 1952: "The Population as a Unit of Study." *American Anthropologist*, Vol. LIV, pp. 504-9.
THOMPSON, STITH, 1929: *Tales of the North American Indians.* Cambridge (Mass.).
1932-6: *Motif-Index of Folk-Literature* (F F Communications Nos. 106-9, 116-17; "Indiana University Studies", Vols. XIX-XXIII).
TOYNBEE, A.J., 1934-9: *A Study of History* (6 vols.). London.
TREMEARNE, A. J. N., 1912: "Notes on the Kagoro and other Nigerian Head-Hunters." *Journal of the Royal Anthropological Institute*, Vol. XLIII, pp. 136-99.
TSCHOPIK, H., JR., 1946: "The Aymara." *Handbook of South American Indians* (Bureau of American Ethnology, *Bulletin* No. 143). Vol. 2, pp. 501-73.
TURNEY-HIGH, H. H., 1942: "The Practice of Primitive Warfare." University of Montana, *Publications in Social Science*, No. 2.
TYLOR, SIR E. B., 1874: *Primitive Culture* (2 vols.) (1st American, from the 2nd English ed.). New York.
1889: "On a Method of Investigating the Development of Institutions..." *Journal of the Royal Anthropological Institute*, Vol. XVIII, pp. 245-69.

UNITED NATIONS EDUCATIONAL, SCIENTIFIC AND CULTURAL ORGANIZATION (UNESCO), 1952: *The Race Concept: Results of an Inquiry.* Paris.

VAN GENNEP, A., 1920: *La Formation des legendes.* Paris.
VEBLEN, THORSTEIN, 1915: *The Theory of the Leisure Class.* New York.

VILLA R., ALFONSO, 1945: *The Maya of East Central Quintana Roo* (Carnegie Institution of Washington, *Publication* No. 559). Washington.
VIVAS, ELISEO, 1950: *The Moral Life and the Ethical Life*. Chicago.
VOEGELIN, ERMINIE, W., 1942: "Culture Element Distributions : XX. Northeast California." *Anthropological Records*, Vol. VII, No. 2, pp. 47-251.
1946: "North American Native Literature," in *Encyclopedia of Literature* (J.T. Shipley, ed.), pp. 706-21. New York.

WAGLEY, C., 1941: "Economics of a Guatemalan Village." American Anthropological Association, *Memoir* No. 58.
WALLIS, W.D., 1930: *Culture and Progress*. New York.
WATKINS, M.H., 1943: "The West African 'Bush' School." *American Journal of Sociology*, Vol. XLVIII, pp. 666-74.
WEIDENREICH, F., 1943: "The Skull of Sinanthropus Pekinensis." *Palaeontologica Sinica*, new series D, No. 10, whole series 127.
1945: "The Puzzle of Pithecanthropus," in *Science and Scientists in the Netherlands Indies*. New York, pp. 380-90.
WEINER, J.S., OAKLEY, K.P., and CLARK, W.E. LE GROS, 1953: "The Solution of the Piltdown Problem." *Bulletin of the British Museum (Natural History): Geology*, Vol. II, No. 3, pp. 141-.6.
WERNER, A., 1930: *Structure and Relationship of African Languages*. London.
WHITE, L., 1946: "Kroeber's Configurations of Culture Growth." *American Anthropologist*, Vol. XLVIII, pp. 78-93.
1949: *The Science of Culture: A Study of Man and Civilization*. New York.
WHITING, J. W. M., 1941: *Becoming a Kwoma*. New Haven.
WILLEMS, EMILIO, 1944: "Acculturation and the Horse Complex among German-Brazilians." *American Anthropologist*, Vol. XLVI, pp. 153-61.
WILLIAMS, F.E., 1923: "The Vailala Madness and the Destruction of Native Ceremonies in the Gulf Division." Territory of Papua, *Anthropological Report* No. 4, Port Moresby.
1930: "*Orokaiva Society*. London.
1934: "The Vailala Madness in Retrospect," in *Essays in Honour of C.G. Seligman*, pp. 369-79. London.
1936: *Papuans of the Trans-Fly*.. London.
WINGERT, PAUL S., 1950: *The Sculpture of Negro Africa*. New York.
WISSLER, C., 1922: *The American Indian* (2d ed.) New York.
1923: *Man and Culture*. New York.
1926: *The Relation of Nature to Man in Aboriginal America*. New York.

YERKES, R. M. and A.W., 1935: "Social Behavior in Infra-human Primates," in *Handbook of Social Psychology* (C. Murchison, ed.), pp. 973-1033. Worcester (Mass.).
YOSELOFF, T. and STUCKEY, L. (eds.), 1944: *The Merry Adventures of Till Eulenspiegel*. New York.

ZEUNER, F. E., 1944: "Review of the Chronology of the Paleolithic Period." *Conference on the Problems and Prospects of European Archaeology* (University of London, Institute of Archaeology, *Occasional Papers*, No. 6) pp. 14-19.
ZUCKERMAN, S., 1932: *The Social Life of Monkeys and Apes*. New York.

२. चुनी हुई साहित्य-सूची

यह सूची तीन भागों में है। पहले भाग में उन मानवशास्त्रीय पत्रिकाओं के नाम दिये गये हैं जिनमें कि पूर्णतः या अंशतः अंग्रेजी के लेख प्रकाशित होते हैं। ये महत्त्वपूर्ण हैं चूंकि ऐसी ही पत्रिकाओं में नई खोजों की घोषणाएं, सिद्धांतों के विवेचन और पुस्तकों की समीक्षाएं मिलती हैं। दूसरे भाग में पृथक् अमरीकन और अंग्रेजी अध्ययन की सूची है जिनमें कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए अधिकांश सामग्री, विशेषरूप से वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए आवश्यक क्षेत्रीय कार्य के ब्यौरेवार प्रतिवेदन सम्मिलित हैं। अंत में अंग्रेजी में उपलब्ध मानवशास्त्रीय साहित्य से अध्ययन करने के लिए एक प्रस्तावित सूची दी गई है। जो इस विषय पर अधिक अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तकें एक अच्छा काम-चलाऊ पुस्तकालय समझी जा सकती हैं। इनमें से कुछ नाम पहली सूची में भी हैं, चूंकि वह इस पुस्तक में उद्धृत किये गये हैं; अन्य भी ग्रन्थ हैं जिनका प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु फिर भी उन्हें किसी ऐसी सूची में स्थान मिलना जरूरी है।

अंत में भारत पर उपलब्ध अद्यतन मानवशास्त्रीय साहित्य की एक उपयोगी सूची वर्तमान अनुवादक रघुराज गुप्त ने संकलित की है, जो भारतीय पाठकों के लिये विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

I. Periodicals

Journal of the Royal Anthropological Institute (1872)
Folklore (1878)
American Anthropologist (1888)
Journal of American Folklore (1888)
Journal of the Polynesian Society (1892)
Journal de la Societe des Americanistes (1895)
Man (1900)
Anthropos (1906)
International Journal of American Linguistics (1917)
American Journal of Physical Anthropology (1918)
Sudan Notes and Records (1918)
Man in India (1921)
Africa (1928)
Anthropological Quarterly (formerly *Primitive Man*) (1928)
Human Biology (1929)
Oceania (1930)
American Antiquity (1935)
Ethnos (1936)
Applied Anthropology (1941)
America Indigena (1941)
African Studies (1942)
Acta Americana (1943)
Southwestern Journal of Anthropology (1945)
Eastern Antropologist (1945)

Word (1945)
African Abstracts (1950)

II. Monograph Series

American Ahthropological Association, *Memoirs*
American Folklore Society, *Memoirs*
American Ethlnological Society, *Monographs*
American Museum of Natural History, New York, *Anthropological Papers*
Bernice P. Bishop Museum, Honolulu, *Bulletins* and *Memoirs*
Columbia University, *Contributions to Anthropology*
Chicago Natural History Museum, *Fieldiana, Anthropology* (earlier entitled *Anthropological Series*, Field Museum of Natural History)
International Congress of Americanists, *Proceedings*
International Congress of the Anthropolitical and Ethnological Sciences, *Reports*
London School of Economics, *Monographs on Social Anthropology*
Peabody Museum of American Archaeology and Ethnology, Harvard University, *Papers*
Philadelphia Anthropological Society, *Publications*
Public Museum of the City of Milwaukee, *Bulletins*
Rhodes-Livingstone Institute, *Papers*
Royal Anthropological Institute, London, *Occasional Papers*
Smithsonian Institution, Bureau of American Ethnology, *Annual Reports and Bulletins*
University of California, *Publications in American Archaeology and Ethnology*
University of California, *Anthropolotical Records*
University of London, *Monographs on Social Anthropology*
University of Washington, *Publications in Anthropology*
Viking Fund, *Publications in Anthropology*
Viking Fund, *Yearbook of Physical Anthropology*
Yale University, *Anthropological Studies*
Yale University, *Publications in Anthropology*

III. Books and Monographs

1. General Works

BEALS, RALPH L. and HOIJER, HARRY, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1953
BIDNEY, D., *Theoretical Anthropology*, New York, 1953
BOAS, F., *Race, Language, and Culture*, New York, 1940.
——— (ed.), *General Anthropology*, New York, 1938
EVANS-PRITCHARD, E.E., *Social Anthropology*, London, 1951
GILLIN, JOHN, *The Ways of Men*, New York, 1948
GOLDENWEISER, A.A., *Early Civilization*. New York, 1922
HADDON, A. C., *History of Anthropology*, London, 1919.
HOEBEL, E. A., *Man in the Primitive World*, New York, 1949
KROEBER, A.L., *Anthropology* (2nd edition), New York, 1948
———, *The Nature of Culture*, Chicago, 1952
——— (ed.), *Anthropology Today: an Encyclopedic Inventory*, Chicago, 1953
LABARRE, W., *The Human Animal*, Chicago, 1954.
LINTON, R., *The Study of Man*, New York, 1936
——— (ed.), *The Science of Man in the World Crisis*, New York, 1945
LOWIE, R.H., *The History of Ethnological Theory*, New York, 1937
MAJUMDAR, D.N., and MADAN, T.N., 1958. *Aa Introducion to Sacial Anthropology*, 1958
MARETT, R. R., *Anthropology*, London, 1912
MURDOCK, G.P., *Our Primitive Contemporaries*, New York, 1934
REDFIELD, R., *The Primitive World and Its Transformations*, Ithaca (N.Y.)., 1953
TITIEV, M., *The Science of Man*, New York 1954
TYLOR, SIR E. B., *Anthropology*, New York, 1881
WHITE, LESLIE A., *The Science of Culture*, New York, 1949
WISSLER, C., *Man and Culture*, New York, 1923

2. Biological Backgrounds

ALLEE, W.C., *The Social Life of Animals*, New York, 1938
HOOTON, E.A., *Up from the Ape* (2d ed.), New York, 1946
HOWELLS, W.W., *Mankind So Far*, New York, 1944
KOHLER, W., *The Mentality of Apes*, New York, 1925
WEIDENREICH, F., *Apes, Giants, and Men*, Chicago, 1946
ZUCKERMAN, S., *The Social Life of Apes and Monkeys*, New York, 1932

3. Prehistory (Old World and New)

BURKITT, M.C., *The Old Stone Age*, New York, 1933
CHILDE, V.G., *The Dawn of European Civilization*, New York, 1939
COLE, F.C. and DEUEL, T., *Rediscovering Illinois*, Chicago, 1937
HOWELLS, W. W., *Back of History*, Garden City (N.Y.), 1954
MACCURDY, G.G., *Human Origins* (2 vols.), New York, 1924
MARTIN, PAUL S., QUIMBY, GEORGE I., and COLLIER, DONALD, *Indians Before Columbus*, Chicago, 1947
SHETRONE, H.C., *The Mound Builders*, New York, 1930

4. Race and Physical Type

BARZUN, JACQUES, *Race: a Study in Modern Superstition*, New York, 1937
BOAS, F., *The Mind of Primitive Man* (2nd ed.), New York, 1938
BOYD, W. C., *Genetics and the Races of Man: an Introduction to Modern Physical Anthropology*, Boston, 1950
COUNTS, EARL W., *This is Race: an Anthology Selected from the International Literature on the Races of Man*, New York, 1950
DUNN, L.C., and DOBZHANSKY, T., *Heredity, Race and Society*, New York, 1946
HADDON, A.C., *The Races of Man and Their Distribution*, New York, 1925
KLINEBERG, OTTO, *Race Differences*, New York, 1935
MONTAGU, M. F. ASHLEY, *Man's Most Dangerous Myth: the Fallacy of Race* (2d ed.), New York, 1925

5. Linguistics

BLOOMFIELD, L., *Language*, New York, 1933
HALL, ROBERT A., *Leave your Language Alone*, Ithaca (N.Y.), 1950
SAPIR, E., *Language*, New York, 1921
STURTEVANT, E.H., *An Introduction to Linguistic Science*, New Haven, 1947

6. The Ordering of Society

EGGAN, FRED, *Social Organization of the Western Pueblos*, Chicago, 1950
EVANS-PRITCHARD, E. E., *Kinship and Marriage among the Nuer*, Oxford, 1951
FIRTH, RAYMOND, *Primitive Polynesian Economy*, London, 1939
FORDE, C. D., *Habitat, Society and Economy: a Geographical Introduction to Anthropology*, London, 1934
FORTES, M. and EVANS-PRITCHARD, E. E., *African Political Systems*, London, 1940
HERSKOVITS, M.J., *Economic Anthropology*, New York, 1952
LLEWELLYN, K. N., and HOEBEL, E.A., *The Cheyenne Way*, Norman, Okla., 1941
LOWIE, R.H., *Primitive Society*, New York, 1920
MURDOCK, G.P., *Social Structure*, New York, 1949
NADEL, S.F., *The Foundations of Social Anthropology*, London, 1951
RADCLIFFE-BROWN, H. R. and FORDE, C.D. (eds.), *African Systems of Kinship and Marriage*, London, 1950
RATTRAY, R. S., *Ashanti Law and Constitution*, Oxford, 1929
RICHARDS, A. I., *Land, Labour and Diet in Northern Rhodesia*, London, 1939
RIVERS, W.H.R., *Kinship and Social Organization*, London, 1914
SCHAPERA, I., *A Handbook of Tswana Law and Custom*, London, 1939

7. The Individual in His Culture

DENNIS, W., *The Hopi Child*, New York, 1940
DU BOIS, C., *The People of Alor*, Minneapolis, 1944
DYK, W. (ed.), *Son of Old Man Hat*, New York, 1938
HONIGMANN, JOHN J., *Culture and Personality*, New York, 1954
HSU, FRANCIS L.K., *Americans and Chinese: Two Ways of Life*, New York, 1953
KARDINER, A., *The Individual and His Society*, New York, 1939
KLUCKHOHN, C. and MURRAY, H.A., *Personality in Nature, Society and Culture* (2d ed.), New York, 1953
LEIGHTON, DOROTHEA and KLUCKHOHN, CLYDE, *Children of the People*, Cambridge, Mass.. 1947
MALINOWSKI, B., *Sex and Repression in Savage Society*, London, 1927
OPLER, M.E., *An Apache Life-Way*, Chicago, 1941
RAUM, O.F., *Chaga Childhood*, London, 1940
SACHS, WULF, *Black Hamlet*, London, 1937; New York, 1947

8. Religion

EVANS-PRITCHARD, E.E., *Wtichcraft, Oracles, and Magic among the Azande*, Oxford, 1937
FORDE, C.D. (ed.), *African Worlds*, London, 1954
HOWELLS, W.W., *The Heathens: Primitive Man and his Religions*, New York, 1948
LEVY-BRUHL, LUCIEN, *The "Soul" of the Primitive*, New York, 1941
LOWIE, R.H., *Primitive Religion*, New York, 1924
MARETT, R.R., *The Theshold of Religion*, New York, 1914
PARSONS, E.C., *Pueblo Indian Religion* (2 vols.), Chicago, 1939
RADIN, PAUL, *Primitive Man as Philosopher*, New York, 1927
RIVERS, W.H.R., *Medicine, Magic and Religion*, London, 1924
UNDERHILL, RUTH, *Papago Indian Religion*, New York, 1946

9. The Arts

BOAS, F., *Primitive Art*, Oslo, 1927
DIXON, ROLAND B., *Oceanic Mythology*, Boston, 1916
LANG, ANDREW, *Myth, Ritual, and Religion* (2 vols.), New York, 1887
LEACH, MARIA, *Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend* (2 vols), New York, 1949, 1950
SHIPLEY, JOSEPH (ed.), *Encyclopedia of Literature* (vols), New York, 1946
THOMPSON, STITH, *Tales of the North American Indians*, Cambridge (Mass.), 1929
———, *The Folktale*, New York, 1946
TRACEY, HUGH, *Chopi Musicians*, London, 1948
WERNER, ALICE, *Myths and Legends of the Bantu*, London, 1933
WILLIAMS, F.E., *Drama of Orokolo*, Oxford, 1940
WINGERT, PAUL S., *The Sculpture of Negro Arfrica*, New York, 1950
———and LINTON, R., *Arts of the South Seas*, New York, 1946

10. Cultural Dynamics—Evolution, Diffusion, Acculturation

BARNETT, H.G., *Innovation: the Basis of Cultural Change*, New York, 1953
DIXON, R.B., *The Building of Cultures*, New York, 1928
GOLDENWEISER, A. A., *History, Psychology and Culture*, New York, 1933
HERSKOVITS, M.J., *Acculturation: the Study of Culture Contact*, New York, 1938
———, *The Myth of the Negro Past*, New York, 1941
KROEBER, A.L., *Configurations of Culture Growth*, Berkeley, 1944
LINTON, R. (ed.), *Acculturation in Seven American Indian Tribes*, New York, 1940
MALINOWSKI, B., *The Dynamics of Culture Change*, New Haven, 1945
MORGAN, L.H., *Ancient Society*, Chicago, n.d.
PARSONS, E.C., *Mitla: Town of the Souls*, Chicago, 1936
PERRY, W.J., *Children of the Sun*, London, 1923
REDFIELD, R., *The Folk Culture of Yucatan*, Chicago, 1941
SCHMIDT, W., *The Cultural Historical Method of Ethnology* (S.A. Sieber, tr.), New York, 1939

SUNDKLER, BERGT G.M., *Bantu Prophets in South Africa,* London, 1948
TEGGART, F.J., *Theory and Processes of History*, Berkeley, 1941
WISSLER, C., *The American Indian* (2nd ed.), New York, 1923

11. Descriptive Works

A. *North and South America*

BIRKET-SMITH, K., *The Eskimos*, London, 1936
JENNESS, DIAMOND, *People of the Twilight*, New York, 1928
KLUCKHOHN, C. and LEIGHTON D. *The Navaho*, Cambridge (Mass.), 1946
LOWIE, R.H., *The Crow Indians*, New York, 1945
MCILWRAITH, T.F., *The Bella Coola Indians* (2 vols.), Toronto, 1948
MEANS, P.A., *Ancient Civilizations of the Andes*, New York, 1931
MORLEY, S.G., *The Ancient Maya*, Stanford (Cal.), 1946
SMITH, M.W., *The Puyallup-Nisqually*, New York, 1940
SPECK, F.G., *Naskapi*, Norman (Okla.), 1935
STEWARD, JULIAN (ed.), *Handbook of South American Indians* (*Bulletin* No. 143, Bureau of American Ethnology), Vols. 1-6, 1946-50
VALLIANT, GEORGE C., *Aztecs of Mexico*, New York, 1944
WISDOM, C., *The Chorti Indians of Guatemala*, Chicago, 1943

B. *Africa*

ASHTON, HUGH, *The Basuto*, London 1952
COLSON, E. and GLUCKMAN, M., *Seven Tribes of British Central Africa*, London, 1951
EVANS-PRITCHARD, E.E., *The Neur*, Oxford, 1940
FORTES, M., *The Dynamics of Clanship Among the Tallensi*, London, 1945
———, *The Web of Kinship Among the Tallensi*, London, 1949
HERSKOVITS, M.J., *Dahomey: an Ancient West African Kindgom* (2 vols.), New York, 1935
KABERRY, PHYLLIS M., *Women of the Grasslands*, London, 1952
NADEL, S.F., *A Black Byzantium : the Kingdom of Nupe in Nigeria*, London, 1942
RICHARDS, A. I., *Land, Labour and Diet in Northern Rhodesia*, London, 1939
ROSCOE, J., *The Baganda*, London, 1911
SCHAPERA, I., *The Khoisan Peoples of South Africa*, London, 1930
STAYT, H.A., *The Bavenda*, London, 1931

C. *Oceania and Australia*

BLACKWOOD, B., *Both Sides of Buka Passage*, Oxford, 1935
FIRTH, RAYMOND, *We, the Tikopia*, New York, 1936
KABERRY, PHYLLIS, *Aboriginal Woman*, London, 1939
MALINOWSKI, B., *Argonauts of the Western Pacific* (2 vols.), London, 1922
OLIVER, DOUGLAS, L., *The Pacific Islands*, Cambridge (Mass.), 1951
SPENCER, B. and GILLEN, F.J., *The Arunta*, London, 1927
WILLIAMS, F.E., *Papuans of the Trans-Fly*, London, 1936
WILLIAMSON, R.W., *Social and Political Systems of Central Polynesia* (3 vols.,) Cambridge (England), 1924
———, *Religious and Cosmic Beliefs of Central Polynesia* (2 vols.), Cambridge (England), 1933

D. *Asia*

BARTON, R.F., *The Kalingas*, Chicago, 1949
BOGORAS, W., *The Chuckchee* (3 vols.), New York, 1904-09
COLE, F.C., *The Peoples of Malaysia*, New York, 1945
HSU, FRANCIS L.K., *Under the Ancestors' Shadow*, New York, 1948
SELIGMAN, C.G and B.Z., *The Veddas*, Cambridge (England), 1911

E. *India*

Races, Prehistory, anthropometry

SARKAR, S.S., *The Aboriginal Races of India*, 1954
DE TERRA, H., and PATTERSON, T., *Studies on the Ice Age in India and Associated Cultures*, 1939
GUHA, B.S., *The Census Report of India*, 1931, *Report*, vol. I, part 3, 1935
1940: *The Racial Elements in Indian Population.*
KEITH, A., "The Bayana and Sialkot Crania, "*Journal of Anthropological Society of Bombay*, vol. IX, no. 6
MAHLANOBIS, P.C., MAJUMDAR, D.N., and RAO, C.R., "Report on the Anthropometric Survey of the U.P., 1941", *Sankhya*, vol. IX, 1949
MAJUMDAR, D.N., *Race Realities in Cultural Gujrat*, 1950
1942. "The Blood groups of the Criminal Tribes of U.P." *Science and Culture.*
1943: "Blood Groups of Tribes and Castes of U.P.", *Journal of Asiatic Society of Bengal* vol. IX.
MAJUMDAR, D.N., and RAO, C.R., *Racial Elelments in Bengal*, 1959
MALONE, R.H. and LAHIRI, M.N., "The Distribution of the Blood Groups in Certain Races and Castes of India," *Journal of Medical Research*, vol. XVI, 1929
RISLEY, H.H., *The People of India*, 1915
SANKALIA, H.D., *Investigations into Prehistoric Archaeology of Gujarat*, 1946
WHEELER, R.E.M., "Harappa: The Defence and Cemetery," *Ancient India*, No. 3 (147)
ZEUNER, F.E., *Prehistory in India*, 1951
ZUCKERMAN, S., "The Adichanallur Skulls", *Bulletin of the Madras Government Museum*, N.S., 2:1, 1-24

Tribal Life

AIYAPPAN, A., *Anthropology of the Nayadis*, 1937
BISWAS, P.C., *The Santhal*, 1958
BOSE, N., *Essays in Anthropology*, 1957
DAS, T.C., *The Purums*, 1955
DAS, T. C. and CHATTERJI, A.N., *The Hos of Seraikela*, 1927
DATTA-MAJUNDAR, N., *The Santal, A Study in Culture Change*, 1956
DUBE, S.C., The Kamars 1949
FUCH, S., *The Gond and Bhumia of Eastern Mandla*, 1960
HUTTON, J.H., *The Sema Nagas*, 1921
1921: *The Angami Nagas*
1951: *The Sons of the Hari*
ELWIN, V., *The Aboriginals*, 1941
1945: *Loss of Nerves*
1939: *The Baiga*
1947: *The Muria and their Ghotul*
1951: *Bondo Highlander*
1954: *Religion of an Indian Tribe*
1953: *Myths of Middle India*
1958: *A New Philosophy for the NEFA*
1959: *The Art of the NEFA*
FURER-HAIMENDORF, C., VON, *The Chenchus*, 1943
1946: Tribal Hyderabad
1947: *The Naked Nagas of Assam*
1959: *Himalayan Barbary, Life Among the Nagas*
GRIGSON, W.V., *The Maria Gonds of Bastar*, 1938
GURDON, P.R.T., *The Khasis*, 1914
HODSON, T.C., *The Naga Tribes of Manipur*, 1911
MAJUMDAR, D.N., *Fortunes of Primitive Tribes*, 1944
1950: *The Affairs of a Tribe*
MILLS, J.P., *The Lhota Nagas*, 1922
NAIK, T.B., *The Bhil*, 1956
RIVERS, W.H.R., *The Todas*, 1906

ROY, S.C., *Oraons of Chota Nagpur*, 1916
SAVE, T.N., *The Warlis*, 1957
SHAH, P.G., *The Dublas*, 1958
SHAKESPEARE, J., *The Lushai Kuki Clans*, 1912

Rural Studies, Social Organisation and Religion

BADEN,POWELL, *Village Communities in India*, 1929
BAILEY, F.G., *Caste and Economic Frontier*, 1958
DUBE, S.C., *Indian Village*, 1955
DAWSON, J., *Classical Dictionary of Hindu Mythology, Religion, History and Literature.*
GRIERSON, G., *Bihar Peasant Life* 1885
IBBETSON, D. C. J., Punjab Castes, 1916
KAPADIA, K.M., *Marriage and Family in India*, 1953
LEECH, E., (ed.) *Aspects of Castes in South India, Ceylone & Pakistan*, 1960
LEWIS, OSCAR, *Village Life in Northern India*, 1958
MAJUMDAR, D.N., *Caste and Communication in an Indian Village*, 1958
MARRIOT, M., (ed.) *Village India*, 1955
MAYER, A.C., *Caste and Kinship in Central India*, 1960
1954: *Social Change in Malabar*
OPLER, M.E., 'Village Life in North India', *Patterns of Modern Living*, 1950
PRABHU, P.N., *Hindu Social Institutions*, 1960
RUSSEL, R.V. and HIRALAL : *Castes of Central Provinces of India*, 1916.
SRINIVAS, M.N., et. al., *India's Villages*, 1956
1960 : *Caste in Modern India and other Essays*
1954 : *Religion and Society among the Coorgs of South India*
SCHWEITZER, A., *Indian Thought and its Development*, 1931
THOONTHI, N.A., *Vaishnawas of Gujrat*, 1945
UNDERHILL, M.M., *The Hindu Religious Year*, 1921
WHITEHEAD, H., *The Village Gods of South India*, 2d. ed., 1921
WISER, W.H., *The Hindu Jajmani System*, 2d.ed., 1957
WEBER, M., *Religion of India*, 1960
ZIMMER, H., *Philosophies of India*, 1957

Arts and Crafts

ARCHER, W.G., *The Blue Grove: the Poetry of the Uraons*, 1947
1960: *Indian Miniatures*
1947: *The Vertical Man: A Study in the Primitive Art*
1947: *Indian Sculpture*
1956: *Indian Paintings*
ATIENNE, G. *Inde Sacree*, 1955
FREDRIC, L., *Indian Temples and Sculpture*, 1958
FOUCHET, M.P., *The Erotic Sculpture of India*, 1959
LE MAY, *The Culture of South East Asia: Heritage of India*, 1951
MUKERJI, A., *Indian Primitive Art*, 1959
1958: *Indian Folk Toys*
MUSEUM OF MODERN ART, *Textile and Ornaments of India*, 1959
UNESCO, *India Painting from Ajanta Caves*, 1959
ZIMMER, H., *Art of Indian Asia*, (2 Vols.) 1955

अंग्रेजी हिन्दी पारिभाषिक पर्याय विषयानुक्रमणिका सहित

